ॐ

ब्रह्मसूत्र
शाङ्करभाष्य-रत्नप्रभा
भाषानुवाद सहित

पं० श्रीचण्डीप्रसादशुक्ल, प्रिंसिपल जो० म० गोयनका-संस्कृतमहाविद्यालय,

तथा

पं० श्रीकृष्णपन्त शास्त्री साहित्याचार्य

द्वारा

सम्पादित

प्रकाशनस्थान—

अच्युतग्रन्थमाला-कार्यालय,

काशी ।

महर्षिश्रीवेदव्यासप्रणीतं

ब्रह्मसूत्रम्

तच्च

परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमच्छङ्करभगवत्पूज्यपादविरचित-

शारीरकमीमांसाभाष्येण,

श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमद्गोपालसरस्वतीपूज्यपादशिष्य-

श्रीरामानन्दभगवत्पादविरचित रत्नप्रभया

तथा

यतिवर श्रीभोलेबाबाविरचितेन भाष्यरत्नप्रभाभाषानुवादेन च

समलङ्कृतम्

प्रथमोऽध्यायः

संवत्

१९९१

च्युत

१ } संरक्षक—गौरीशङ्करगोयनका-समर्पित निधि, काशी {अङ्क ७

श्रावण पूर्णिमा

१९९१

अच्युत

वार्षिक मूल्य—६)

एक प्रति का—॥)

सम्पादक—

पं० चण्डीप्रसाद शुक्ल, प्रिंसिपल जो० म० गोयनका संस्कृत महाविद्यालय,

स० सम्पादक तथा प्रकाशक—

पं० श्रीकृष्ण पन्त साहित्याचार्य, अच्युत-ग्रन्थमाला-कार्यालय,
ललिताघाट काशी।

मुद्रक—द० ल० निघोजकर, श्रीलक्ष्मीनारायण प्रेस, काशी।

अच्युत

विषय-सूची

[अनुकृत्यधिकरण पृ० ६४०–६४९]

ॐ सह नाववतु । सह नौ भुनक्तु । सह वीर्यं करवावहै ।
तेजस्वि नावधीतमस्तु मा विद्विषावहै ॥

अच्युत

तन्वन् श्रीश्रुतिसिद्धसन्मतमहाग्रन्थप्रकाशप्रथाम्,
ब्रह्माद्वैतसमिद्धशङ्करगिरां माधुर्य्यमुद्भावयन् ।
अज्ञानान्धतमिस्त्ररुद्धनयनान् दिव्यां दृशं लम्भयन्,
भक्तिज्ञानपथे स्थितो विजयतामाकल्पमेषोऽच्युतः ॥

वर्ष १ } काशी, श्रावण पूर्णिमा १९९१ { अङ्क ७

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा
भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः ।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवांसस्तनूभि-
र्व्यशेम देवहितं यदायुः ॥

आत्मषट्कम्

मनोबुद्ध्यहङ्कारचित्तानि नाहं न च श्रोत्रजिह्वे न च घ्राणनेत्रे ।
न च व्योमभूमिर्न तेजो न वायुश्चिदानन्दरूपः शिवोऽहं शिवोऽहम् ॥१॥

न च प्राणसंज्ञो न पञ्चानिला मे न वा सप्तधातुर्न वा पञ्चकोशः ।
न वाक्पाणिपादौ न चोपस्थपायू चिदानन्दरूपः शिवोऽहं शिवोऽहम् ॥२॥

न मे द्वेषरागौ न मे लोभमोहौ मदो नैव मे नैव मात्सर्यभावः ।
न धर्मो न चार्थो न कामो न मोक्षश्चिदानन्दरूपः शिवोऽहं शिवोऽहम् ॥३॥

न पुण्यं न पापं न सौख्यं न दुःखं न मन्त्रो न तीर्थं न वेदा न यज्ञाः ।
अहं भोजनं नैव भोज्यं न भोक्ता चिदानन्दरूपः शिवोऽहं शिवोऽहम् ॥४॥

न मे मृत्युशङ्का न मे जातिभेदः पिता नैव मे नैव माता न जन्म ।
न बन्धुर्न मित्रं गुरुर्नैव शिष्यश्चिदानन्दरूपः शिवोऽहं शिवोऽहम् ॥५॥

अहं निर्विकल्पो निराकाररूपो विभुर्व्याप्य सर्वत्र सर्वेन्द्रियाणि ।
सदा मे समत्वं न मुक्तिर्न बन्धश्चिदानन्दरूपः शिवोऽहं शिवोऽहम् ॥६॥

—श्रीशंकराचार्यः
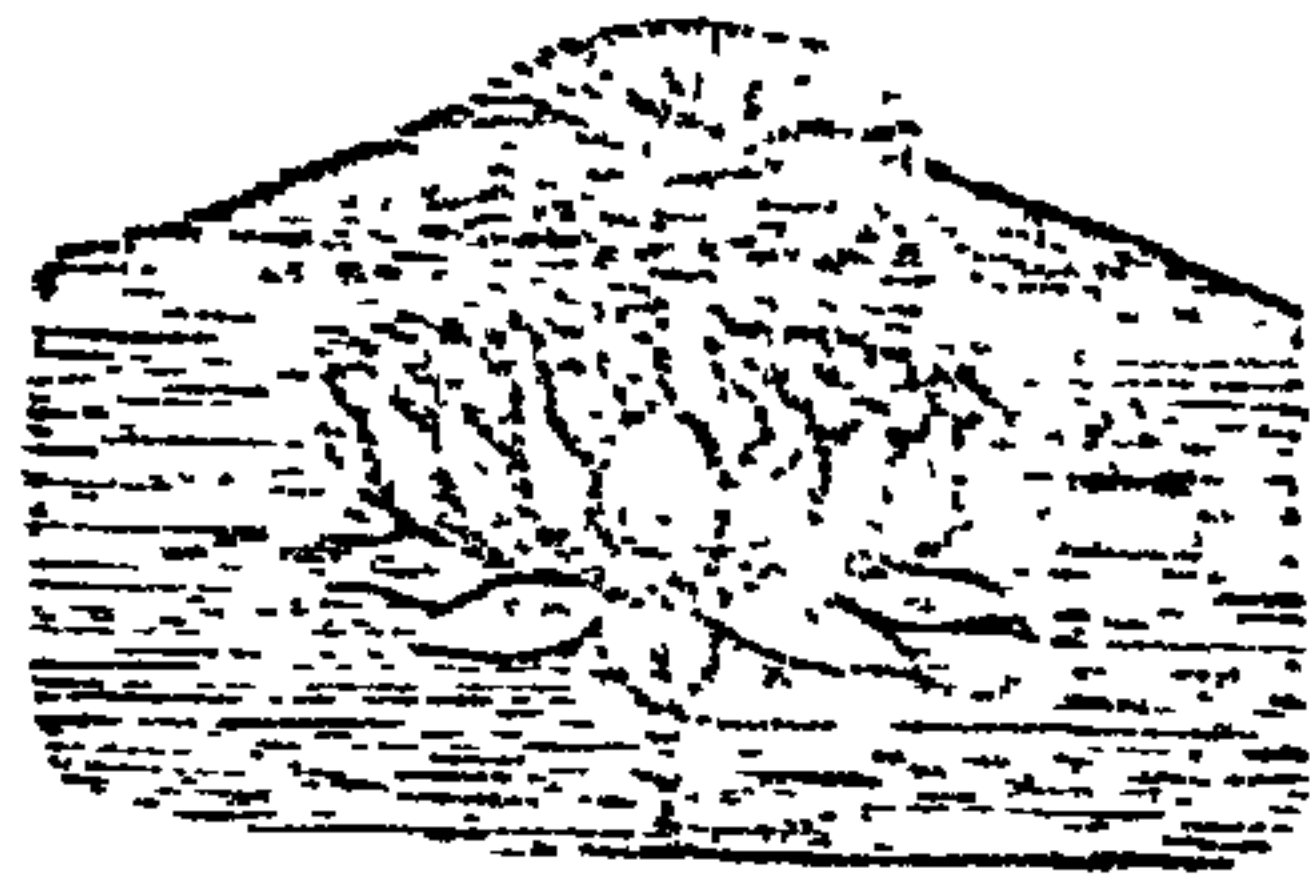
भाष्य

इति सामयसुखनिराकरणेन ब्रह्मैव सुखं भूमानं दर्शयति। 'यो वै भूमा तदमृतम्' इत्यमृतत्वमपीह श्रूयमाणं परमकारणं गमयति, विकाराणाममृतत्वस्याऽऽपेक्षिकत्वात्, 'अतोऽन्यदार्तम्' (बृ० ३।४।२) इति च श्रुत्यन्तरात्। तथा च सत्यत्वं स्वमहिमप्रतिष्ठितत्वं सर्वगतत्वं सर्वात्मत्वमिति चैते धर्माः श्रूयमाणाः परमात्मन्येवोपपद्यन्ते, नाऽन्यत्र। तस्माद् भूमा परमात्मेति सिद्धम् ॥ ९ ॥

भाष्यका अनुवाद

भूमा ही सुख है) इस प्रकार सामय सुखके निराकरणसे ब्रह्म ही सुखरूप भूमा है, ऐसा [श्रुति] दिखलाती है। 'यो वै भूमा०' (निश्चय जो भूमा है, वह अमृत है) इस श्रुतिमें प्रतिपादित अमृतत्व भी परम कारणका ज्ञान कराता है, क्योंकि विकारका अमृतत्व किसीकी अपेक्षासे होता है क्योंकि 'अतोऽन्य०' (इससे अन्य नश्वर है) ऐसी दूसरी श्रुति है। इस प्रकार श्रुतिप्रतिपादित सत्यत्व, अपनी महिमामें प्रतिष्ठा, सर्वगतत्व और सर्वात्मत्व ये धर्म परमात्मामें ही उपपन्न होते हैं, दूसरेमें उपपन्न नहीं होते। इससे सिद्ध हुआ कि भूमा परमात्मा ही है ॥९॥

रत्नप्रभा

तत्सहितं सामयम्। आर्तम्—नश्वरम्। "स एवाधस्तात् स उपरिष्टात्" [छा० ७।२५।१] इति सर्वगतत्वम्, "स एवेदं सर्वम्" [छा० ७।२५।१] इति सर्वात्मत्वं च श्रुतम्। तस्माद् भूमाध्यायो निर्गुणे समन्वित इति सिद्धम् ॥९॥ (२) ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

अर्थात् नाश आदि दोष, उन दोषोंसे जो युक्त हो वह सामय कहलाता है। आर्त—विनाशी, नश्वर। 'स एवाध०' (वह नीचे है और वही ऊपर है) इस प्रकार आत्माका सर्वगतत्व और 'स एवेदं०' (वही यह सब है) से सर्वात्मत्व श्रुतिप्रतिपादित है। इससे सिद्ध हुआ कि भूमाध्याय निर्गुण ब्रह्ममें समन्वित है ॥ ९ ॥
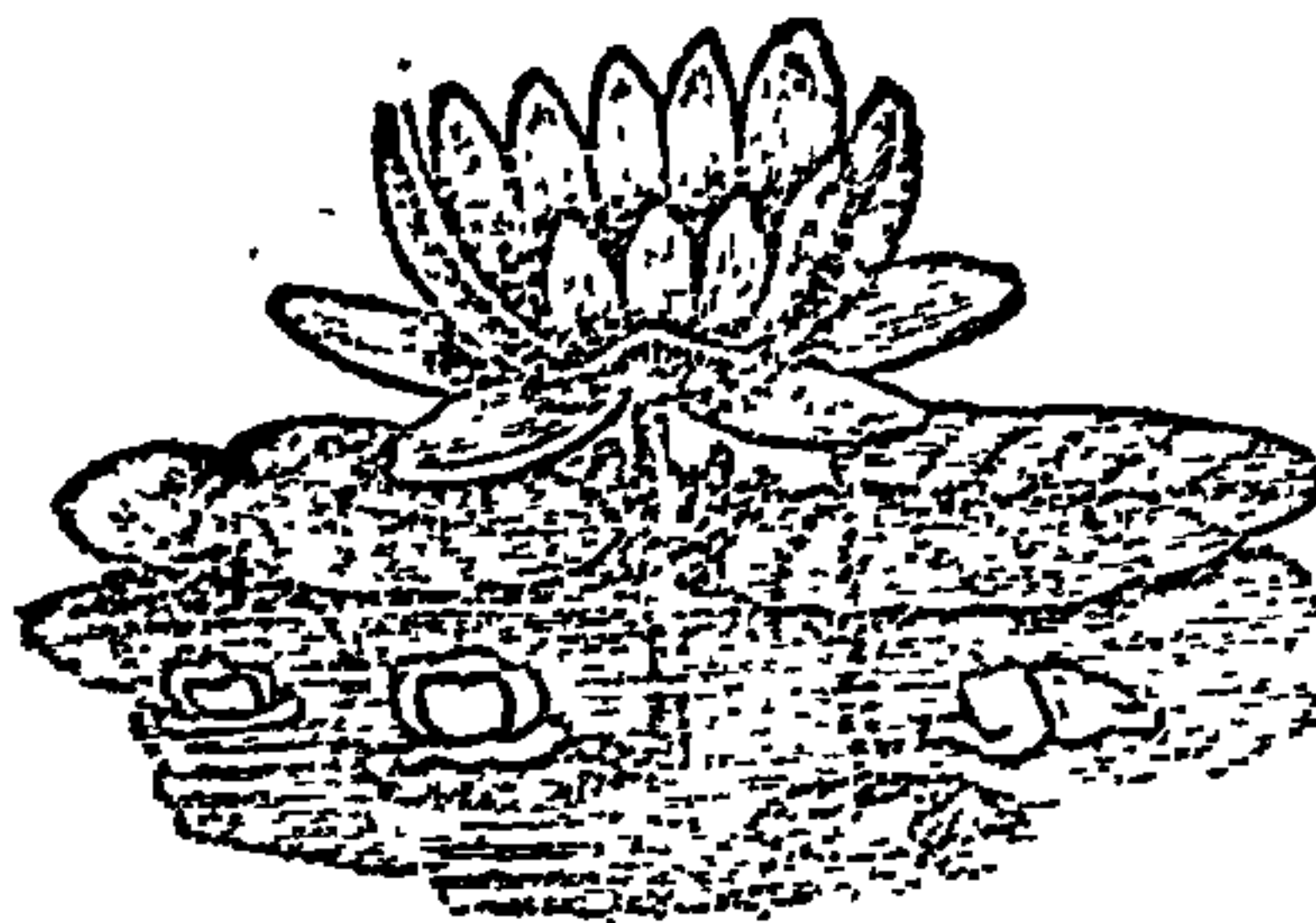
[३ अक्षराधिकरण सू० १०-१२]

अक्षरं प्रणवः किं वा ब्रह्म लोकेऽक्षराभिधा ।
वर्णे प्रसिद्धा तेनाऽत्र प्रणवः स्यादुपास्तये ॥१॥
अव्याकृताधारतोक्तेः सर्वधर्मनिषेधतः ।
शासनाद् द्रष्टृतादेश्च ब्रह्मैवाऽक्षरमुच्यते* ॥२॥

[अधिकरणसार]

सन्देह—'एतद्वै तदक्षरं गार्गि ब्राह्मणा अभिवदन्त्यस्थूलमनण्वह्रस्वम्' इत्यादि वाक्यमें पठित 'अक्षर' पद ओंकारका वाचक है अथवा ब्रह्मका ?

पूर्वपक्ष—लोकमें 'अक्षर' पद वर्ण—ओंकारमें प्रसिद्ध है, इससे ज्ञात होता है कि उक्त वाक्यमें 'अक्षर' से ओंकार ही उपास्यरूपसे कहा गया है ।

सिद्धान्त—'अक्षर' अव्याकृत—आकाशका आधार, सब धर्मोंसे शून्य, सकल जगत्का शासक एवं द्रष्टा कहा गया है, इससे प्रतीत होता है कि अक्षर ब्रह्मका ही वाचक है ।

---

* निष्कर्ष यह है कि बृहदारण्यकके पांचवे अध्यायमें गार्गीके प्रति याज्ञवल्क्यने कहा है—'एतद्वै तदक्षरम्०' अर्थात् हे गार्गि ! यह वही अक्षर है जिसे ब्राह्मण न स्थूल कहते है, न सूक्ष्म कहते है और न ह्रस्व । यहां पर सन्देह होता है कि उक्त श्रुतिमें पठित अक्षरशब्द ओंकारका प्रतिपादन करता है अथवा ब्रह्मका ?

पूर्वपक्षी कहता है कि अक्षरशब्दसे ओंकारका ही बोध होता है, क्योंकि 'येनाक्षरसमाम्नाय-मधिगम्य महेश्वरात्' इत्यादि स्थलोंमें अक्षरशब्दकी वर्णमें ही प्रसिद्धि देखी जाती है और यहांपर ओंकार उपास्यरूपसे कहा गया है ।

सिद्धान्ती कहते हैं—अक्षरशब्द ब्रह्मका ही वाचक है, क्योंकि 'एतस्मिन्नक्षरे गार्गि आकाश ओतश्च' (हे गार्गि ! इस अक्षरमें आकाश—अव्याकृत ओत-प्रोत है) इस श्रुतिमें अक्षर' आकाश-शब्दवाच्य अव्याकृतका आधार कहा गया है । ओंकार—वर्ण उसका आधार नहीं हो सकता । 'अस्थूलमनण्वह्रस्वम्' श्रुतिसे अक्षरमें सांसारिक सब धर्मोंका निषेध किया गया है, 'एतस्यैवाक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठतः' (हे गार्गि ! सूर्य और चन्द्रमा उसी अक्षरके शासन—आज्ञामें विशेषरूपसे स्थित रहते हैं) इस तरह सारे जगत्के ऊपर शासन करनेवाला भी वही अक्षर कहा गया है एवं 'तद्वा एतदक्षरं गार्ग्यदृष्टं द्रष्टृ अश्रुतं श्रोतृ' (हे गार्गि ! वह अक्षर द्रष्टा है, किन्तु उसे कोई देख नहीं पाता, वह श्रोता है परन्तु उसे कोई सुन नहीं पाता) इत्यादि श्रुति से वह द्रष्टा, श्रोता और प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे पर कहा गया है । यदि अक्षरको ओंकारका वाचक मानें, तो उसमें पूर्वोक्त कोई भी धर्म संगत नहीं होगा । इससे सिद्ध हुआ कि ब्रह्म ही अक्षर है ।

अक्षरमम्बरान्तधृतेः ॥ १० ॥

पदच्छेद—अक्षरम्, अम्बरान्तधृतेः ।

पदार्थोक्ति—अक्षरम्—'एतद्वै तदक्षरं गार्गि' इति श्रुत्युक्तमक्षरं [ब्रह्मैव, कुतः] अम्बरान्तधृतेः—पृथिव्यादेराकाशान्तस्य विकारजातस्य धारणात् ।

भाषार्थ—'एतद्वै तदक्षरं०' (हे गार्गि ! यह वही अक्षर है, जो न स्थूल है, न अणु है) इस श्रुतिमें उक्त अक्षर ब्रह्म ही है, क्योंकि वही पृथिवीसे लेकर आकाशतक सब विकारोंको धारण करता है ।

भाष्य

'कस्मिन्नु खल्वाकाश ओतश्च प्रोतश्चेति । स होवाचैतद्वै तदक्षरं गार्गि ब्राह्मणा अभिवदन्त्यस्थूलमनणु' (बृ० ३।८।७,८) इत्यादि श्रूयते । तत्र संशयः—किमक्षरशब्देन वर्ण उच्यते किं वा परमेश्वर इति ।

भाष्यका अनुवाद

'कस्मिन्नु खल्वाकाश०' (गार्गी पूछती है—आकाश किसमें ओत-प्रोत है ? याज्ञवल्क्य उत्तर देते हैं, हे गार्गि ! जिसे तू पूछती है, उसीको ब्रह्मवेत्ता अक्षर कहते हैं, वह न स्थूल है, न सूक्ष्म है) इत्यादि श्रुति है । यहांपर संशय होता है कि अक्षरशब्दसे वर्णका कथन है या परमेश्वरका ?

रत्नप्रभा

अक्षरमम्बरान्तधृतेः । बृहदारण्यकं पठति—कस्मिन्निति । "यद् भूतं च भवच्च भविष्यच्च" [बृ० ३।८।३] तत् सर्वं कस्मिन् ओतमिति गार्ग्या पृष्टेन मुनिना याज्ञवल्क्येन अव्याकृताकाशः कार्यमात्राश्रय उक्तः । आकाशः कस्मिन् ओत इति द्वितीयप्रश्ने सः मुनिरुवाच । तत्—अव्याकृतस्याऽधिकरणम्, एतदक्षरम्—अस्थूलादिरूपमित्यर्थः । उभयत्र अक्षरशब्दप्रयोगात् संशयः । यथा

रत्नप्रभाका अनुवाद

"कस्मिन्नु" इत्यादि बृहदारण्यकवाक्यको उद्धृत करते हैं। जो भूत, वर्तमान और भविष्यत् पदार्थ हैं, वे सब किसमें ओत-आश्रित हैं, गार्गीके इस प्रश्नके उत्तरमें याज्ञवल्क्यने कहा कि सब कार्योंके आश्रय, अव्याकृत—आकाशमें वे सब आश्रित हैं । फिर गार्गीने प्रश्न किया कि अव्याकृतसंज्ञक आकाश किसमें आश्रित है ? इसपर याज्ञवल्क्य कहते हैं कि हे गार्गि ! अव्याकृत—आकाशका अधिकरण वह अक्षर है, जो न स्थूल है; न सूक्ष्म है । वर्ण और परमात्मा दोनोंमें

भाष्य

तत्राऽक्षरसमाम्नाय इत्यादावक्षरशब्दस्य वर्णे प्रसिद्धत्वात्, प्रसिद्ध्यतिक्रमस्य चाऽयुक्तत्वात्, 'ॐकार एवेदं सर्वम्' (छा० २।२३।३) इत्यादौ च श्रुत्यन्तरे वर्णस्याऽप्युपास्यत्वेन सर्वात्मकत्वावधारणात्, वर्ण एवाऽक्षरशब्द इति ।

एवं प्राप्त उच्यते—पर एवाऽऽत्माऽक्षरशब्दवाच्यः । कस्मात् ?

भाष्यका अनुवाद

पूर्वपक्षी—'अक्षरसमाम्नाय' इत्यादिमें अक्षरशब्द वर्णमें प्रसिद्ध है. प्रसिद्धिका उल्लंघन करना ठीक नहीं है और 'ओंकार एवेदं०' यह सब ओंकार ही है) इत्यादि अन्य श्रुतियोंमें वर्ण उपास्य कहा गया है, इससे प्रतीत होता है कि वह सर्वात्मक है, इसलिए अक्षरशब्द वर्णवाचक ही है ।

सिद्धान्ती—ऐसा प्राप्त होनेपर कहते हैं—परमात्मा ही अक्षर शब्दवाच्य

रत्नप्रभा

सत्यशब्दो ब्रह्मणि रूढ इति ब्रह्म भूमा इत्युक्तम्, तथा अक्षरशब्दो वर्णे रूढ इति दृष्टान्तेन पूर्वपक्षः । तत्र ओङ्कारोपास्तिः फलम्, सिद्धान्ते निर्गुणब्रह्मधीरिति विवेकः । ननु न क्षरतीति—अचलत्वानाशित्वयोगाद् ब्रह्मण्यपि अक्षरशब्दो मुख्य इत्यत आह—प्रसिद्ध्यतिक्रमस्येति । "रूढिर्योगमपहरति" इति न्यायादित्यर्थः । वर्णस्य—ओङ्कारस्य सर्वाश्रयत्वं कथमित्याशङ्क्य ध्यानार्थमिदम्, यथा श्रुत्यन्तरे सर्वात्मत्वमित्याह—ॐकार इति । प्रश्नप्रतिवचनाभ्याम् आकाशान्तजगदाधारत्वे तात्पर्यनिश्चयात् न ध्यानार्थता, अतः तल्लिङ्गबलाद् रूढि

रत्नप्रभाका अनुवाद

अक्षरशब्दके प्रयोगसे संशय होता है । जैसे सत्यशब्दके ब्रह्ममें रूढ़ होनेके कारण भूमा ब्रह्म है, यह कहा गया है, उसी प्रकार अक्षरशब्दके वर्णमें रूढ़ होनेसे प्रकृतमें वर्ण ही अक्षरपदवाच्य है, इस प्रकार दृष्टान्तसे पूर्वपक्ष करते हैं । पूर्वपक्षमें ओंकारकी उपासना फल है, सिद्धान्तमें निर्गुण ब्रह्मका ज्ञान फल है, ऐसा समझना चाहिए । यदि कोई कहे कि 'न क्षरति' (जो न विचलित होता है और न नष्ट होता है) इस प्रकार अचलत्व और अविनाशित्वके योगसे अक्षर शब्दका ब्रह्म भी मुख्य अर्थ हो सकता है, इसपर कहते हैं—"प्रसिद्ध्यतिक्रमस्य" इत्यादिसे । क्योंकि 'रूढिर्योग०' (रूढ़ि योगसे बलवती है) ऐसा न्याय है । ओंकार वर्ण सर्वाश्रय कैसे हो सकता है यह आशङ्का करके "ओंकारः" इत्यादिसे कहते हैं कि ध्यानके लिए जैसे दूसरी श्रुतिमें सर्वात्मत्व कहा गया है, वैसे ही यहां भी सर्वाश्रयत्व कहा गया है । प्रश्न और प्रतिवचनसे ब्रह्ममें आकाशान्त जगत्के आधारत्वका तात्पर्यनिश्चय होता है, इससे प्रतीत होता है कि ओंकारमें सर्वाश्रयत्व ध्यानके लिए नहीं है, अतः तात्पर्यनिश्चयरूप लिङ्गके

भाष्य

अम्बरान्तधृतेः—पृथिव्यादेराकाशान्तस्य विकारजातस्य धारणात्। तत्र हि पृथिव्यादेः समस्तविकारजातस्य कालत्रयविभक्तस्य 'आकाश एव तदोतं च प्रोतं च' इत्याकाशे प्रतिष्ठितत्वमुक्त्वा 'कस्मिन्नु खल्वाकाश ओतश्च प्रोतश्च' इत्यनेन प्रश्नेनेदमक्षरमवतारितम्। तथा चोपसंहृतम्—एतस्मिन्नु खल्वक्षरे गार्ग्याकाश ओतश्च प्रोतश्च' इति। न चेयमम्बरान्तधृतिर्ब्रह्मणोऽन्यत्र सम्भवति। यदपि—'ॐकार एवेदं सर्वम्' इति, तदपि ब्रह्मप्रतिपत्तिसाधनत्वात् स्तुत्यर्थं द्रष्टव्यम्। तस्मान्न क्षरत्यश्नुते चेति नित्यत्वव्यापित्वाभ्यामक्षरं परमेव ब्रह्म ॥ १० ॥

स्यादेतत् कार्यस्य चेत् कारणाधीनत्वमम्बरान्तधृतिरभ्युपगम्यते, प्रधानकारणवादिनोऽपीयमुपपद्यते, कथमम्बरान्तधृतेर्ब्रह्मत्वप्रतिपत्तिरिति, अत उत्तरं पठति—

भाष्यका अनुवाद

है, क्योंकि वह आकाशपर्यन्तको धारण करता है अर्थात् पृथिवीसे लेकर आकाश-तक सब विकारसमूहको धारण करता है। तीन कालोंमें विभक्त हुए पृथिवी आदि समस्त विकारसमूहको 'आकाश एव०' (आकाशमें ही वह ओत-प्रोत है) इससे आकाशमें प्रतिष्ठित कहकर 'कस्मिन्नु खल्वाकाश०' (आकाश किसमें ओत-प्रोत है) इस प्रश्नसे इस अक्षरका उपनिषद्में अवतरण किया है और 'एतस्मिन्नु०' (हे गार्गि! इस अक्षरमें आकाश ओत-प्रोत है) इस प्रकार उपसंहार किया है। इस आकाशपर्यन्तको धारण करना ब्रह्मको छोड़कर दूसरेमें संभव नहीं है। 'ओंकार एवेदं०' (ओंकार ही यह सब है) यह कथन भी ओम् ब्रह्मज्ञानका साधन है, इसलिए उसकी स्तुतिके लिए है, ऐसा तात्पर्य है। इसलिए 'न क्षरत्यश्नुते' (नष्ट नहीं होता और सर्वव्यापक है) इस व्युत्पत्तिसे निश्चित होता है कि नित्य और व्यापक होनेके कारण अक्षर परब्रह्म ही है ॥१०॥

कारणके अधीन कार्यका रहना ही यदि अम्बरान्त धृतिका (आकाशान्त-धारणका) अर्थ है यह स्वीकार किया जाय, तो प्रधानकारणवादियोंके प्रधानमें भी अम्बरान्तधृति उपपन्न हो सकती है। आकाशान्तधारणसे अक्षर ब्रह्म ही है, यह कैसे समझा जाय? इस शंकाका समाधान करते हैं—

रत्नप्रभा

बाधित्वा योगवृत्तिः ग्राह्या इति सिद्धान्तयति—एवमित्यादिना ॥ १० ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

बलसे रूढिका बाध करके योगवृत्तिका ग्रहण करना ही ठीक है, ऐसा सिद्धान्त करते हैं—"एवम्" इत्यादिसे ॥१०॥

सा च प्रशासनात् ॥ ११ ॥

पदच्छेद—सा, च, प्रशासनात् ।

पदार्थोक्ति—सा च–अम्बरान्तधृतिश्च [परमेश्वरस्यैव कर्म नाऽचेतनस्य, कुतः] प्रशासनात्—'एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि ! सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठतः' इत्यादिना प्रशासनश्रवणात् ।

भाषार्थ—आकाशान्त पदार्थोंका धारण करना तो परमेश्वरका ही कर्म है, अचेतन प्रधान आदिका नहीं, क्योंकि 'एतस्य वा'० (इसी अक्षर परमात्माके प्रशासन—आज्ञामें सूर्य और चन्द्रमा विशेषरूपसे स्थित रहते हैं) इत्यादि श्रुतिमें प्रशासनका कथन है ।

भाष्य

सा चाऽम्बरान्तधृतिः परमेश्वरस्यैव कर्म । कस्मात् ? प्रशासनात् । प्रशासनं हीह श्रूयते–'एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठतः' (बृ० ३।८।९) इत्यादि । प्रशासनं च पारमेश्वरं कर्म,

भाष्यका अनुवाद

यह आकाशपर्यन्तका धारण करना परमेश्वरका ही कर्म है । किससे ? प्रशासनसे । क्योंकि 'एतस्य वा अक्षरस्य०' (हे गार्गि ! इस अक्षरके अनुशासनमें सूर्य और चन्द्रमा रहते हैं और वही उनका धारण करता है) इत्यादि प्रशासनकी श्रुति है । प्रशासन परमेश्वरका कर्म है । अचेतन शासक नहीं हो

रत्नप्रभा

आकाशं भूतं कृत्वा शङ्कते—स्यादेतदिति । चेतनकर्तृकशिक्षाया अत्र श्रुतेः मैवमित्याह—सा चेति । सूत्रं व्याचष्टे—सा चेति । चकार आकाशस्य भूतत्वनिरासार्थः । भूताकाशस्य कार्यान्तःपातिनः श्रुतसर्वकार्याश्रयत्वायोगाद्

रत्नप्रभाका अनुवाद

आकाशको भूताकाश मानकर शङ्का करते हैं—"स्यादेतत्" इत्यादिसे । श्रुतिमें उक्त शिक्षाका कर्ता चेतन है, इसलिए अचेतन प्रधानमें अम्बरान्तधृति संभव नहीं है, यह कहते हैं—"सा च" इत्यादिसे । सूत्रका व्याख्यान करते हैं—"सा च" इत्यादिसे । सूत्रस्थ चकारका तात्पर्य यह है कि 'आकाशपदसे भूताकाशका ग्रहण नहीं करना चाहिए', क्योंकि कार्यवर्गके भीतर रहनेवाला भूताकाश श्रुतिके कथनानुसार सब कार्योंका आश्रय नहीं हो सकता, इसलिए

भाष्य

नाऽचेतनस्य प्रधानस्य प्रशासनं संभवति । नह्यचेतनानां घटादिकारणानां मृदादीनां घटादिविषयं प्रशासनमस्ति ॥ ११ ॥

भाष्यका अनुवाद

सकता, क्योंकि घट आदिके कारण अचेतन मृत्तिका आदि घट आदिके शासक नहीं देखे जाते ॥११॥

रत्नप्रभा

अव्याकृतम्—अज्ञानमेव आकाशः प्रधानशब्दित इति तदाश्रयत्वाच्च अक्षरं न प्रधानमित्यर्थः । विधृतौ—विषयत्वेन धृतौ ॥११॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

प्रधानसंज्ञक अव्याकृत अज्ञान ही आकाश है। उसका आश्रय होनेसे अक्षर प्रधान नहीं है, ऐसा अर्थ है। "विधृतौ" अर्थात् विषयरूपसे धारण किये गये ॥११॥

अन्यभावव्यावृत्तेश्च ॥ १२ ॥

पदच्छेद—अन्यभावव्यावृत्तेः, च ।

पदार्थोक्ति—अन्यभावव्यावृत्तेः—प्रधानादिधर्मभूताचेतनत्वरहितत्वात्, च—अपि [न अक्षरं प्रधानादि, किन्तु ब्रह्मैव] ।

भाषार्थ—अक्षरमें प्रधान आदिका धर्म अचेतनत्व नहीं है । इससे भी अक्षर प्रधान आदि नहीं है, किन्तु ब्रह्म ही है ।

भाष्य

अन्यभावव्यावृत्तेश्च कारणाद् ब्रह्मैवाऽक्षरशब्दवाच्यम्, तस्यैवाऽम्बरान्तधृतिः कर्म, नाऽन्यस्य कस्यचित् । किमिदमन्यभावव्यावृत्तेरिति ? अन्यस्य भावोऽन्यभावस्तस्माद् व्यावृत्तिरन्यभावव्यावृत्तिरिति तस्याः ।

भाष्यका अनुवाद

अन्यभावव्यावृत्तिरूप कारणसे भी ब्रह्म ही अक्षरशब्दवाच्य है । आकाशान्त धारण उसीका कर्म है, दूसरेका नहीं । यह अन्यभावव्यावृत्ति क्या है ? अन्यका भाव अन्यभाव है, उससे जो भेद है, उसे अन्यभावव्यावृत्ति

भाष्य

एतदुक्तं भवति—यदन्यद्ब्रह्मणोऽक्षरशब्दवाच्यमिहाऽऽशङ्क्यते तद्भावादिदमम्बरान्तविधारणमक्षरं व्यावर्तयति श्रुतिः—'तद्वा एतदक्षरं गार्ग्यदृष्टं द्रष्टृश्रुतं श्रोत्रमतं मन्त्रविज्ञातं विज्ञातृ' (बृ० ३।८।११) इति। तत्राऽदृष्टत्वादिव्यपदेशः प्रधानस्याऽपि संभवति, द्रष्टृत्वादिव्यपदेशस्तु न संभवत्यचेतनत्वात्। तथा 'नान्यदतोऽस्ति द्रष्टृ नान्यदतोऽस्ति श्रोतृ नान्यदतोऽस्ति मन्तृ नान्यदतोऽस्ति विज्ञातृ' इत्यात्मभेदप्रतिषेधात्। न शारीरस्याऽप्युपाधिमतोऽक्षरशब्दवाच्यत्वम्, 'अचक्षुष्कमश्रोत्रमवागमनः'

भाष्यका अनुवाद

कहते हैं। तात्पर्य यह है कि अक्षरशब्द ब्रह्मसे अन्य अर्थ—प्रधानमें प्रयुक्त है, ऐसी जो यहां आशङ्का की जाती है, श्रुति उसके—प्रधानके स्वरूपसे उस आकाशान्तका धारण करनेवाले अक्षरमें भेद दिखलाती है—'तद्वा एतदक्षरं गार्ग्यदृष्टं०' (हे गार्गि ! वह अक्षर किसीसे भी दृष्ट नहीं है परन्तु स्वयं द्रष्टा है, किसीसे श्रुत नहीं है किन्तु स्वयं श्रोता है, उसका कोई मनन नहीं कर सका परन्तु स्वयं मननकर्ता है और किसीसे विज्ञात नहीं है परन्तु स्वयं विज्ञाता है) इनमें अदृष्टत्व आदि धर्म प्रधानमें भी संभव हैं, परन्तु द्रष्टृत्व आदि धर्म उसमें संभव नहीं हैं, क्योंकि वह अचेतन है। उसी प्रकार 'नान्यदतोऽस्ति द्रष्टृ०' (उससे अन्य द्रष्टा नहीं है, उससे अन्य श्रोता नहीं है, उससे अन्य मननकर्ता नहीं है और उससे अन्य विज्ञाता नहीं है) यह श्रुति आत्मासे भिन्न वस्तुका प्रतिषेध करती है, इसलिए उपाधियुक्त जीव भी अक्षरशब्दवाच्य नहीं है, क्योंकि 'अचक्षुष्क०' (उसके आंख नहीं है, श्रोत्र नहीं है, वाणी नहीं है और

रत्नप्रभा

प्रश्नपूर्वकं सूत्रं व्याकरोति—**किमिदमिति**। घटत्वाद् व्यावृत्तिरिति भ्रान्तिं निरस्यति—**एतदिति**। अम्बरान्तस्य आधारम् अक्षरं श्रुतिरचेतनत्वात् व्यावर्तयतीत्यर्थः। जीवनिरासपरत्वेनाऽपि सूत्रं योजयति—**तथेति**। अन्यभावः—भेदः, तन्निषेधादिति सूत्रार्थः। तर्हि शोधितो जीव एव अक्षरं न पर इत्यत आह—

रत्नप्रभाका अनुवाद

प्रश्नपूर्वक सूत्रका विवरण करते हैं—"किमिदम्" इत्यादिसे। अन्यभावव्यावृत्तिपदका 'घटत्वसे व्यावृत्ति' यह भी अर्थ हो सकता है, इस भ्रान्तिका निराकरण करते हैं—"एतद्" इत्यादिसे। श्रुति आकाशान्तके धारण करनेवाले अक्षरमें अचेतनसे भेद दिखलाती है, यह तात्पर्य है। जीवनिरास पक्षमें भी सूत्रकी योजना करते हैं—"तथा" इत्यादिसे। अन्यभाव अर्थात् भेद, उसके निषेधसे, यह सूत्रका अर्थ है। तब शोधित जीव ही अक्षर है, परमात्मा

भाष्य

(बृ० ३।८।८) इति चोपाधिमत्ताप्रतिषेधात् । नहि निरुपाधिकः शारीरो नाम भवति । तस्मात् परमेव ब्रह्म अक्षरमिति निश्चयः ॥ १२ ॥

भाष्यका अनुवाद

मन नहीं है) इस प्रकार अक्षरमें उपाधिका प्रतिषेध किया है । उपाधिके विना जीवत्व संभव नहीं है । इससे निश्चित होता है कि अक्षरशब्दवाच्य परब्रह्म ही है ॥ १२ ॥

रत्नप्रभा

नहीति । शोधिते जीवत्वं नास्तीत्यर्थः । तस्माद् गार्गिब्राह्मणं निर्गुणाक्षरे समन्वितमिति सिद्धम् ॥१२॥ (३) ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

नहीं, इसपर कहते हैं—"नहि" इत्यादि । शोधितमें जीवत्व ही नहीं है अर्थात् जीव उपाधिरहित नहीं है और जो शोधित—निरुपाधिक है, वह जीव नहीं है । इससे सिद्ध हुआ कि गार्गिब्राह्मण निर्गुण अक्षरमें समन्वित है ॥१२॥

[४ ईक्षतिकर्मव्यपदेशाधिकरण सू० १३]

त्रिमात्रप्रणवे ध्येयमपरं ब्रह्म वा परम् ।
ब्रह्मलोकफलोक्त्यादेरपरं ब्रह्म गम्यते ॥१॥

ईक्षितव्यो जीवघनात्परस्तत्प्रत्यभिज्ञया ।
भवेद्ध्येयं परं ब्रह्म क्रममुक्तिः फलिष्यति* ॥२॥

[अधिकरणसार]

सन्देह—'यः पुनरेतं त्रिमात्रेणोमित्येतेनैवाक्षरेण परं पुरुषमभिध्यायीत' इस श्रुतिमें उक्त तीन मात्रावाले ओंकारका अपरब्रह्मरूपसे ध्यान करना चाहिए या परब्रह्मरूपसे ?

पूर्वपक्ष—ब्रह्मलोकगमनरूप सीमित फलके कथनसे प्रतीत होता है कि यहाँपर अपर ब्रह्म ध्येय है ।

सिद्धान्त—वाक्यके अन्तमें सर्वोत्कृष्ट विराट्रूप हिरण्यगर्भसे भी उत्कृष्ट साक्षात्करणीय कहा गया है, पर और पुरुष शब्दोंसे उसीकी प्रत्यभिज्ञा होती है । ब्रह्मध्यानका ब्रह्मलोकप्राप्तिमात्र फल नहीं है, किन्तु अन्तमें मुक्ति होती है। इससे सिद्ध हुआ कि ब्रह्म ही ध्येय है ।

---

* तात्पर्य यह कि प्रश्नोपनिषद्में वाक्य है—'यः पुनरेतं त्रिमात्रेणोमित्येतेनैवाक्षरेण परं पुरुषमभिध्यायीत' अर्थात् जो इस तीन मात्रावाले ओंकारका परपुरुषरूपसे ध्यान करता है। यहांपर सन्देह होता है कि इस वाक्यमें ध्येयरूपसे जो कहा गया है, वह अपर ब्रह्म—हिरण्यगर्भ है अथवा पर ब्रह्म ?

पूर्व पक्षी कहता है कि उक्त वाक्यमें अपर ब्रह्म ध्येय कहा गया है, क्योंकि 'स सामभिरुन्नीयते ब्रह्मलोकम्' (वह—उपासक सामद्वारा ब्रह्मलोकमें पहुँचाया जाता है) इस श्रुतिमें उपासकके प्रति ब्रह्मलोकप्राप्तिरूप फल कहा गया है। परब्रह्मका ध्यान परमपुरुषार्थरूप है, उसका फल केवल ब्रह्मलोकप्राप्ति हो यह सम्भव नहीं है । और श्रुतिमें उक्त 'पर' विशेषण भी अपर ब्रह्ममें संगत हो सकता है, क्योंकि वह औरोंकी अपेक्षा पर है ।

सिद्धान्ती कहते हैं—यहां परब्रह्म ही ध्येय है, क्योंकि जो साक्षात्करणीय कहा गया है, उसीकी ध्येयरूपसे प्रत्यभिज्ञा होती है । वाक्यके अन्तमें कहा गया है—'स एतस्माज्जीवघनात्परात्परं पुरिशयं पुरुषमीक्षते' इसका अर्थ है कि जो उपासक उपासनाद्वारा ब्रह्मलोकमें पहुँचता है, वह विराट्रूप—जीवसमष्टिरूप सबसे उत्कृष्ट हिरण्यगर्भसे भी उत्कृष्ट और सबके घट २में वास करनेवाले परमात्माको देखता है । इससे प्रतीत होता है कि वाक्यके अन्तमें जो परमात्मा साक्षात्करणीय कहा गया है, वाक्यके आरम्भमें उसीका ध्येयरूपसे कथन है । पर और पुरुष शब्दोंसे उसीकी प्रत्यभिज्ञा होती है । केवल ब्रह्मलोकप्राप्तिमात्र ही उसका फल नहीं है, क्योंकि उसके अनन्तर क्रममुक्तिकी संभावना है । इससे सिद्ध हुआ कि ब्रह्म ही ध्येय है ।

ईक्षतिकर्मव्यपदेशात् सः ॥ १३ ॥

पदच्छेद—ईक्षतिकर्मव्यपदेशात्, सः ।

पदार्थोक्ति—सः—'यः पुनरेतं त्रिमात्रेणोमित्येतेनैवाक्षरेण परं पुरुषमभिध्यायीत' इति श्रुतौ ध्येयत्वेनोपदिष्टः [परमात्मैव, नापरं ब्रह्म, कुतः] ईक्षतिकर्मव्यपदेशात्—'परात् परं पुरिशयं पुरुषमीक्षते' इति वाक्यशेषे ध्येयस्य दर्शनविषयत्वेन व्यपदेशात् [कल्पितस्य दर्शनविषयत्वासम्भवात्] ।

भाषार्थ—'यः पुनरेतं०' (जो तीन मात्रावाले ओंकारका परपुरुषरूपसे ध्यान करता है) इस श्रुतिमें ध्येयरूपसे उपदिष्ट पर ब्रह्म ही है, अपर ब्रह्म नहीं है, क्योंकि 'परात् परं०' (परसे पर, शरीरप्रविष्ट पुरुषको देखता है) इस वाक्यशेषमें ध्येय दर्शनविषय कहा गया है, कल्पित पदार्थ दृष्टिगोचर नहीं हो सकता है ।

भाष्य

'एतद्वै सत्यकाम परं चापरं च ब्रह्म यदोङ्कारस्तस्माद्विद्वानेतेनैवायतनेनैकतरमन्वेति' इति प्रकृत्य श्रूयते—'यः पुनरेतं त्रिमात्रेणोमित्येतेनै-

भाष्यका अनुवाद

'एतद्वै सत्यकाम०' (हे सत्यकाम ! जो ओंकार है, वह पर और अपर ब्रह्म है, इसलिए विद्वान् इसी ओंकारध्यानरूप प्राप्तिसाधनसे दोनोंमेंसे एकको प्राप्त करता है) इस तरह उपक्रम करके श्रुति कहती है—'यः पुनरेतं०' (तीन

रत्नप्रभा

ईक्षतिकर्मव्यपदेशात् सः । प्रश्नोपनिषदमुदाहरति—एतदिति । पिप्पलादो गुरुः सत्यकामेन पृष्टो ब्रूते—हे सत्यकाम ! परम्—निर्गुणम्, अपरम्—सगुणं च ब्रह्म एतदेव योऽयमोङ्कारः । स हि प्रतिमेव विष्णोस्तस्य प्रतीकः, तस्मात् प्रणवं ब्रह्मात्मना विद्वान् एतेनैव ओङ्कारध्यानेन, आयतनेन—प्राप्तिसाधनेन

रत्नप्रभाका अनुवाद

"एतद्" इत्यादिसे प्रश्नोपनिषद्के वाक्यको उद्धृत करते हैं । गुरु पिप्पलाद सत्यकामके प्रश्नका उत्तर देते हैं—हे सत्यकाम ! पर अर्थात् निर्गुण और अपर अर्थात् सगुण ब्रह्म वही है जो कि यह ओंकार है, क्योंकि ओंकार विष्णुकी प्रतिमाके समान पर ब्रह्मका प्रतीक है, इसलिए ओंकारको ब्रह्मस्वरूपसे जाननेवाला इसी ओंकारध्यानरूप आयतन—प्राप्तिसाधन द्वारा

भाष्य

वाक्षरेण परं पुरुषमभिध्यायीत[1]' (प्र० ५।२,५) इति। किमस्मिन् वाक्ये परं ब्रह्माभिध्यातव्यमुपदिश्यते, आहोस्विदपरमिति। एतेनैवाऽऽयतनेन परमपरं वैकतरमन्वेतीति प्रकृतत्वात् संशयः।

भाष्यका अनुवाद

मात्रावाले इसी अक्षरका जो परपुरुषरूपसे ध्यान करता है)। क्या इस वाक्यमें परब्रह्मका ध्येयरूपसे उपदेश किया गया है अथवा अपर ब्रह्मका? यहांपर प्रकरण यह है कि इसी प्राप्तिसाधनद्वारा पर और अपर दोनोंमेंसे एक ब्रह्मको प्राप्त करता है, इसलिए संशय होता है।

रत्नप्रभा

यथाध्यानं परमपरं वा अन्वेति—प्राप्नोतीति प्रकृत्य मध्ये एकमात्रद्विमात्रोङ्कारयोः ध्यानमुक्त्वा ब्रवीति—यः पुनरिति। इत्थम्भावे तृतीया, ब्रह्मोङ्कारयोरभेदोपक्रमात्। यो ह्यकारादिमात्रात्रये एकस्या मात्राया अकारस्य ऋष्यादिकं जाग्रदादिविभूतिं च जानाति, तेन सम्यग् ज्ञाता एका मात्रा यस्य ओङ्कारस्य स एकमात्रः। एवं मात्राद्वयस्य सम्यग्विभूतिज्ञाने द्विमात्रः तथा त्रिमात्रः। तमोङ्कारं पुरुषं योऽभिध्यायीत, स ॐकारविभूतित्वेन ध्यातैः सामभिः सूर्यद्वारा ब्रह्मलोकं गत्वा परमात्मानं पुरुषम् ईक्षते इत्यर्थः। संशयं तद्बीजं चाऽऽह—किमित्यादिना। अस्मिन्—त्रिमात्रवाक्ये इत्यर्थः। पूर्वत्र पूर्व-

रत्नप्रभाका अनुवाद

ध्यानानुसार पर या अपर ब्रह्मको प्राप्त होता है। इस प्रकार ओंकारके प्रकरणमें एकमात्र और द्विमात्र ओंकारके ध्यानका वर्णन करते हैं—"यः पुनः" इत्यादिसे। तृतीया इत्थम्भाव अर्थात् अभेदमें है, क्योंकि आरम्भमें ब्रह्म और ओंकारका अभेद दर्शाया गया है। जो अकार आदि तीन मात्राओंमें अकाररूप एक मात्राके ऋषि आदि और जाग्रद् आदि विभूतियोंको जानता है, उसके द्वारा जिसकी एक मात्रा अच्छे प्रकार जानी गई वह एक मात्रावाला ओंकार कहलाता है। इसी प्रकार जिसकी दो मात्राएँ विभूति आदिके ज्ञानपूर्वक भली भाँति जानी गई वह द्विमात्रक ओंकार कहलाता है, इसी प्रकार त्रिमात्रकको भी जानना चाहिए। जो तीन मात्रावाले ओंकारका परमपुरुषरूपसे ध्यान करता है, वह ओंकारकी विभूतिरूपसे ध्यान किये हुए सामसे सूर्यद्वारा ब्रह्मलोकमें जाकर परम पुरुषको देखता है, ऐसा अर्थ है। संशय और संशयके हेतुको कहते हैं—"किम्" इत्यादिसे। इस वाक्यमें—त्रिमात्रवाक्यमें। पूर्व अधि-

[1] यहां 'लिङ्' लट्के अर्थमें है।

भाष्य

तत्राऽपरमिदं ब्रह्मेति प्राप्तम्। कस्मात्? 'स तेजसि सूर्ये सम्पन्नः' 'स सामभिरुन्नीयते ब्रह्मलोकम्' इति च तद्विदो देशपरिच्छिन्नस्य फलस्योच्यमानत्वात्। नहि परब्रह्मविद् देशपरिच्छिन्नं फलमश्नुवीतेति युक्तम्,

भाष्यका अनुवाद

पूर्वपक्षी—ऐसा संशय होनेपर प्रतीत होता है कि यह ओंकार अपर ब्रह्म है। किससे? 'स तेजसि०' (उपासक सूर्यलोकमें पहुंचता है) और 'स सामभि०' (वहांसे वह सामद्वारा ब्रह्मलोकमें पहुँचाया जाता है) इस प्रकार ओंकारको जाननेवालेके लिए सूर्यलोक और ब्रह्मलोकगमनरूप सीमित फल कहा गया है, इसलिए [ओंकार अपर ब्रह्म है]। पर ब्रह्मको जाननेवाला

रत्नप्रभा

पक्षत्वेन उक्ते ओंकारे बुद्धिस्थं ध्यातव्यं निश्चीयते इति प्रसंगसंगतिः। यद्वा, पूर्वत्र वर्णे रूढस्य अक्षरशब्दस्य लिङ्गाद् ब्रह्मणि वृत्तिरुक्ता, तद्वदत्राऽपि ब्रह्मलोकप्राप्तिलिङ्गात् परशब्दस्य हिरण्यगर्भे वृत्तिरिति दृष्टान्तेन पूर्वपक्षयति—तत्रापरमिति। कार्यपरब्रह्मणोः उपास्तिः उभयत्र फलम्। सः—उपासकः। सूर्ये सम्पन्नः—प्रविष्टः। ननु वसुदान ईश्वर इति ध्यानाद् "विन्दते वसु" (बृ० ४।४।२४) इति अल्पमपि फलं ब्रह्मोपासकस्य श्रुतमित्यत आह—नहीति। अन्यत्र तथात्वेऽपि अत्र परवित् परम् अपरविदपरमन्वेतीति उपक्रमात् परविदोऽपरप्राप्तिरयुक्ता, उपक्रमविरोधात्। न चाऽत्र परप्राप्तिरेवोक्तेति वाच्यम्, परस्य सर्वगतत्वात् अत्रैव प्राप्तिसम्भवेन सूर्यद्वारा गतिवैयर्थ्यात्। तस्माद्

रत्नप्रभाका अनुवाद

करणमें पूर्वपक्षरूपसे उक्त ओंकारमें बुद्धिस्थ परमात्माका ध्यान करना चाहिए, ऐसा इस अधिकरणमें निश्चय होता है, अतः इसकी पूर्व अधिकरणके साथ प्रसंगसंगति है। अथवा पूर्व अधिकरणमें अक्षरशब्द वर्णमें रूढ था, तो भी जगदायतनत्वरूप लिंगसे योगवृत्तिका आश्रय करके उसकी ब्रह्ममें वृत्ति कही थी, उसी प्रकार यहां देशपरिच्छिन्नफलश्रुतिरूप लिंगसे परशब्दकी हिरण्यगर्भमें वृत्ति है, इस प्रकार दृष्टान्तसे पूर्वपक्ष करते हैं—"तत्रापरम्" इत्यादिसे। पूर्वपक्षमें कार्यब्रह्मकी उपासना और सिद्धान्तमें पर ब्रह्मकी उपासना फल है। 'सः'—उपासक सूर्यमें सपन्न अर्थात् सूर्यलोकमें पहुंचता है। यदि कोई शंका करे कि ईश्वर ऐश्वर्य देनेवाला है, ऐसी भावनासे उपासना करनेवालेके लिए 'विन्दते०' (धन पाता है) इस प्रकार धनप्राप्तिरूप अल्प फल कहा गया है, इसपर कहते हैं—"नहि" इत्यादि। दूसरे स्थलोंमें भले ही ऐसा हो, किन्तु यहां तो परको जाननेवाला परको प्राप्त होता है, अपरको जाननेवाला अपरको प्राप्त होता है, ऐसा उपक्रम है, अतः परवेत्ता अपरको प्राप्त होता है, यह कहना अयुक्त है, क्योंकि ऐसा

भाष्य

सर्वगतत्वात् परस्य ब्रह्मणः । नन्वपरब्रह्मपरिग्रहे परं पुरुषमिति विशेषणं नोपपद्यते । नैष दोषः, पिण्डापेक्षया प्राणस्य परत्वोपपत्तेः ।

इत्येवं प्राप्तेऽभिधीयते—परमेव ब्रह्मेहाभिध्यातव्यमुपदिश्यते । कस्मात्? ईक्षतिकर्मव्यपदेशात् । ईक्षतिर्दर्शनम्, दर्शनव्याप्यमीक्षतिकर्म, ईक्षतिकर्मत्वेनाऽस्याऽभिध्यातव्यस्य पुरुषस्य वाक्यशेषे व्यपदेशो भवति—'स एतस्माज्जीवघनात् परात्परं पुरिशयं पुरुषमीक्षते' इति । तत्राऽभिध्यायतेर-

भाष्यका अनुवाद

देशपरिच्छिन्न फलका भोग करे यह युक्त नहीं है, क्योंकि पर ब्रह्म सर्वव्यापक है । यदि अपर ब्रह्मका ग्रहण करें तो 'परं पुरुषम्' यह विशेषण संगत नहीं होगा? यह दोष नहीं है, क्योंकि पिण्डकी अपेक्षासे प्राण भी पर है, इस प्रकार उपर्युक्त विशेषण संगत हो सकता है ।

सिद्धान्ती—ऐसा प्राप्त होनेपर कहते हैं—पर ब्रह्मका ही यहां ध्येयरूपसे उपदेश किया गया है, क्योंकि वह ईक्षणका कर्म कहा गया है । ईक्षति अर्थात् दर्शन । ईक्षतिकर्म अर्थात् दर्शनविषय है । इस ध्येय पुरुषका वाक्यशेषमें दर्शनविषयरूपसे व्यपदेश है—'स एतस्माजीव०' (उपासक इस जीवघन—हिरण्यगर्भरूप परसे पर, शरीरमें प्रविष्ट हुए पुरुष—परमात्माको देखता है) ।

रत्नप्रभा

उपक्रमानुगृहीतात् अपरप्राप्तिरूपात् लिङ्गात् परं पुरुषमिति परश्रुतिः बाध्या इत्यर्थः । परश्रुतेः गतिं पृच्छति—नन्विति । पिण्डः—स्थूलो विराट् । तदपेक्षया सूत्रस्य परत्वमिति समाध्यर्थः । सूत्रे सशब्द ईश्वरपर इति प्रतिज्ञातत्वेन तं व्याचष्टे—परमेवेति । सः—उपासक एतस्माद्—हिरण्यगर्भात् परं पुरुषं ब्रह्म अहमितीक्षते इत्यर्थः । ननु ईक्षणविषयोऽपि अपरोऽस्तु तत्राह—तत्राऽभिध्यायतेरिति ।

रत्नप्रभाका अनुवाद

माननेपर उपक्रमसे विरोध होगा । यहांपर ब्रह्मकी प्राप्ति ही कही गई है, ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि पर ब्रह्म सर्वगत होनेके कारण यहीं प्राप्त है, तो सूर्यद्वारा गमन व्यर्थ है । अतः उपक्रमसे अनुगृहीत अपरप्राप्तिरूप लिंगसे 'परं पुरुषं' यह परश्रुति बाध्य है, ऐसा अर्थ है । परश्रुतिकी गति पूछते हैं—"ननु" इत्यादिसे । पिण्ड—स्थूलदेह—विराट्, उसकी अपेक्षा सूत्रात्मा पर है, ऐसा समाधानका आशय है । सूत्रमें 'सः' शब्द ईश्वरपरक है, ऐसी प्रतिज्ञा की गई है, उसकी व्याख्या करते हैं—"परमेव" इत्यादिसे । श्रुतिका अर्थ यह है कि "उपासक इस हिरण्यगर्भसे पर पुरुषको 'मैं ब्रह्म हूँ' इस प्रकार देखता है । यदि कोई शंका करे कि ईक्षणका कर्म—विषय अपर ब्रह्म क्यों नहीं

भाष्य

तथाभूतमपि वस्तु कर्म भवति, मनोरथकल्पितस्याऽप्यभिध्यायतिकर्मत्वात्। ईक्षतेस्तु तथाभूतमेव वस्तु लोके कर्म दृष्टमित्यतः परमात्मैवायं सम्यग्दर्शनविषयभूत ईक्षतिकर्मत्वेन व्यपदिष्ट इति गम्यते। स एव चेह परपुरुषशब्दाभ्यामभिध्यातव्यः प्रत्यभिज्ञायते।

नन्वभिध्याने परः पुरुष उक्तः, ईक्षणे तु परात्परः, कथमितर इतरत्र प्रत्यभिज्ञायत इति। अत्रोच्यते—परपुरुषशब्दौ तावदुभयत्र साधारणौ। न

भाष्यका अनुवाद

अतथाभूत—कल्पित वस्तु भी ध्यानविषय होती है, क्योंकि मनोरथसे कल्पित वस्तुका भी ध्यान किया जाता है, परन्तु ईक्षणका कर्म सत्य पदार्थ ही होता है, यह लोकमें प्रसिद्ध है। इसलिए प्रतीत होता है कि साक्षात्करणीय परमात्मा ही दर्शनकर्मरूपसे कहा गया है। और वही यहां 'पर' और 'पुरुष' शब्दोंसे ध्येय कहा गया है।

परन्तु अभिध्यानमें पर पुरुष कहा गया है और दर्शनमें परसे पर कहा गया है, ऐसी अवस्थामें एककी अन्यत्र प्रत्यभिज्ञा कैसे हो सकेगी? इसपर कहते हैं—पर और पुरुष शब्द दोनों वाक्योंमें समान हैं। यहां 'जीवघन' शब्दसे

रत्नप्रभा

ननु ईक्षणं प्रमात्वात् विषयसत्यतामपेक्षते इति भवतु सत्यः पर ईक्षणीयः, ध्यातव्यस्तु असत्योऽपरः किं न स्यादित्यत आह—स एवेति। श्रुतिभ्यां प्रत्यभिज्ञानात् स एवाऽयमिति सौत्रः सशब्दो व्याख्यातः। अत्रैवं सूत्रयोजना—ओँकारे यो ध्येयः सः पर एव आत्मा, वाक्यशेषे ईक्षणीयत्वोक्तेः, अत्र च श्रुतिप्रत्यभिज्ञानात् स एवाऽयमिति। ननु शब्दभेदान्न प्रत्यभिज्ञा इति शङ्कते—नन्विति। परात्पर इति शब्दभेदम् अङ्गीकृत्य श्रुतिभ्याम् उक्तप्रत्यभिज्ञाया अविरोधमाह—

रत्नप्रभाका अनुवाद

है, इसपर कहते हैं—"तत्राभिध्यायतेः" इत्यादिसे। कोई कहे कि ईक्षण प्रमा होनेसे सत्य विषयकी अपेक्षा रखता है, इसलिए सत्य परब्रह्म ईक्षणका विषय हो, असत्य अपर ब्रह्म ध्यानका विषय क्यों नहीं है? इसपर कहते हैं—"स एव" इत्यादि। श्रुतियोंसे प्रत्यभिज्ञा होती है, इसलिए वह यही है, इस प्रकार सूत्रके 'सः' शब्दका व्याख्यान किया है। यहां सूत्रकी योजना ऐसी करनी चाहिए—ओंकारमें जो ध्येय है, वह परमात्मा ही है, क्योंकि वाक्यशेषमें वही साक्षात्करणीय कहा गया है और यहां श्रुतियोंसे प्रत्यभिज्ञा होती है, अतः वह यह है। शब्दभेदसे प्रत्यभिज्ञा नहीं होती है, ऐसी शंका करते हैं—"ननु" इत्यादिसे। 'परः' और 'परात्परः' शब्दोंमें भेदका अंगीकार करके श्रुतियोंसे कही हुई प्रत्यभिज्ञाका अविरोध कहते

भाष्य

चाऽत्र जीवघनशब्देन प्रकृतोऽभिध्यातव्यः परः पुरुषः परामृश्यते, येन तस्मात् परात्परोऽयमीक्षितव्यः पुरुषोऽन्यः स्यात् । कस्तर्हि जीवघन इति उच्यते ? घनो मूर्तिः, जीवलक्षणो घनो जीवघनः, सैन्धवखिल्यवद् यः परमात्मनो जीवरूपः खिल्यभावः उपाधिकृतः परश्च विषये-न्द्रियेभ्यः सोऽत्र जीवघन इति । अपर आह—'स सामभिरुन्नीयते ब्रह्मलो-

भाष्यका अनुवाद

प्रकृत ध्येय पर पुरुषका परामर्श नहीं होता, जिससे कि उस परसे पर—यह ईक्षणीय पुरुष भिन्न हो । तब जीवघन कौन है ? कहते हैं—घन अर्थात् मूर्ति । जीवलक्षण घन जीवघन । लवणपिण्डके समान परमात्माका उपाधिसे किया हुआ जीवरूप अल्पभाव जो विषय और इन्द्रियोंसे पर है, वही यहां जीवघन कहलाता है । दूसरा कहता है—'स सामभिरु०' (वह सामद्वारा ब्रह्मलोकमें पहुँचाया जाता

रत्नप्रभा

अत्रेति । ननु एतस्मात् जीवघनात् परात् इत्येतत्पदेन उपक्रान्तध्यातव्यपरा-मर्शात् ईक्षणीयः परात्मा ध्येयात् अन्य इत्यत आह—न चाऽत्रेति । ध्यानस्य तत्फलेक्षणस्य च लोके समानविषयत्वाद् ध्येय एव ईक्षणीयः । एवं चोपक्रमो-पसंहारयोः एकवाक्यता भवतीति भावः । "स सामभिरुन्नीयते ब्रह्मलोकं स एतस्माज्जीवघनाद्" [प्र० ५ । ५] इत्येतत्पदेन सन्निहिततरो ब्रह्मलोकस्वामी परामृश्यते इति प्रश्नपूर्वकं व्याचष्टे—कस्तर्हीत्यादिना । "मूर्तौ घनः" [पा० सू० ३।३।७७] इति सूत्रादिति भावः । सैन्धवखिल्यः—लवणपिण्डः, खिल्यवत् अल्पो भावः परिच्छेदो यस्य सः खिल्यभावः । एतत्पदेन ब्रह्मलोको

रत्नप्रभाका अनुवाद

है—"अत्र" इत्यादिसे । यदि कोई कहे कि 'एतस्माज्जीवघनात्परात्' इसमें 'एतत्' पदसे उपक्रान्त ध्येय पदार्थका परामर्श होता है, अतः साक्षात्करणीय परमात्मा ध्येयसे भिन्न है, इसपर कहते हैं-"न चात्र" इत्यादि । आशय यह है कि ध्यान और ध्यानके फल ईक्षणका विषय लोकमें समान होता है, इसलिए जो ध्यानका विषय है वही ईक्षणका विषय है । इसी प्रकार उपक्रम और उपसंहारकी एकवाक्यता होती है । 'स सामभिः०' इसमें एतत्पदसे निकटवर्ती जीवघन, ब्रह्मलोकस्वामीका परामर्श होता है, ऐसा प्रश्नपूर्वक व्याख्यान करते हैं—"कस्तर्हि" इत्यादिसे । 'मूर्तौ घनः' इस सूत्रसे घनका अर्थ मूर्ति समझना चाहिए । सैन्धव-खिल्य—लवणपिण्ड । पिण्डके समान अल्पभाव—परिमाण है जिसका वह खिल्यभाव कहलाता है । अथवा 'एतत्' पदसे ब्रह्मलोकका परामर्श होता है, ऐसा कहते हैं—"अपरः"

भाष्य

कम्' इत्यतीतानन्तरवाक्यनिर्दिष्टो यो ब्रह्मलोकः परश्च लोकान्तरेभ्यः सोऽत्र जीवघन इत्युच्यते। जीवानां हि सर्वेषां करणपरिवृतानां सर्वकरणात्मनि हिरण्यगर्भे ब्रह्मलोकनिवासिनि संघातोपपत्तेर्भवति ब्रह्मलोको जीवघनः। तस्मात् परो यः पुरुषः परमात्मेक्षणकर्मभूतः स एवाऽभिध्यानेऽपि कर्मभूत इति गम्यते। परं पुरुषमिति च विशेषणं परमात्मपरिग्रह एवाऽवकल्पते। परो हि पुरुषः परमात्मैव भवति यस्मात् परं किंचिदन्यन्नास्ति, 'पुरुषान्न परं किंचित्सा काष्ठा सा परा गतिः' इति च श्रुत्यन्तरात्। 'परं चापरं च ब्रह्म यदोङ्कारः' इति च विभज्याऽनन्तर-

भाष्यका अनुवाद

है) इस अव्यवहित पूर्ववाक्यसे निर्दिष्ट ब्रह्मलोक जो अन्य लोकोंसे पर है, वही यहां जीवघन कहलाता है। ब्रह्मलोकनिवासी सर्वेन्द्रियात्मक हिरण्यगर्भ इन्द्रियोंसे घिरे हुए सभी जीवोंका समष्टिरूप है, इसलिए ब्रह्मलोक जीवघन है। उससे पर जो परमात्मा दर्शनक्रियाका कर्म है, वही अभिध्यानक्रियाका भी कर्म है, ऐसा जाना जाता है। और 'परं पुरुषम्' (पर पुरुष) यह विशेषण परमात्माका ग्रहण करनेसे ही संगत होता है, क्योंकि पर पुरुष परमात्मा ही है, जिससे पर कुछ नहीं है, 'पुरुषान्न परं० (पुरुषसे पर कुछ नहीं है वह परम अवधि है, वह परम गति है) ऐसी दूसरी श्रुति है। 'परं चापरं च०' (जो ओंकार है,

---

रत्नप्रभा

वा परामृश्यत इत्याह—अपर इति। जीवघनशब्दस्य ब्रह्मलोके लक्षणां दर्शयति—जीवानां हीति। व्यष्टिकरणाभिमानिनां जीवानां घनः संघातो यस्मिन् सर्वकरणाभिमानिनि स जीवघनः तत्स्वामिकत्वात् परम्परासम्बन्धेन लोको लक्ष्य इत्यर्थः। तस्मात् परः—सर्वलोकातीतः शुद्ध इत्यर्थः। परपुरुषशब्दस्य परमात्मनि मुख्यत्वाच्च स एव ध्येय इत्याह—परमिति। यस्मात् परं नाऽपरमस्ति किंचित्स एव मुख्यः परः, न तु पिण्डात् परः सूत्रात्मेत्यर्थः। किंच,

रत्नप्रभाका अनुवाद

इत्यादिसे। जीवघनशब्दकी ब्रह्मलोकमें लक्षणा दिखलाते हैं—"जीवानां हि" इत्यादिसे। व्यष्टिरूप इन्द्रियोंके अभिमानी जीवोंके घन अर्थात् संघात सब इन्द्रियोंके अभिमानी जिस हिरण्यगर्भमें हैं, वह जीवघन है और ब्रह्मलोकका स्वामी होनेसे परम्परासंबन्धसे लोक लक्ष्यार्थ है। उससे पर—सब लोकोंसे अतीत अर्थात् शुद्ध। पर पुरुषशब्दका परमात्मा ही मुख्य अर्थ है, इसलिए वही ध्येय है, ऐसा कहते हैं—"परम्" इत्यादिसे। तात्पर्य यह कि जिससे पर दूसरा कोई न हो, वही मुख्य पर है, पिण्डसे पर जो सूत्रात्मा है, वह पर नहीं

भाष्य

मोङ्कारेण परं पुरुषमभिध्यातव्यं ब्रुवन् परमेव ब्रह्म परं पुरुषं गमयति। 'यथा पादोदरस्त्वचा विनिर्मुच्यते एवं ह वै स पाप्मना विनिर्मुच्यते' इति पाप्मविनिर्मोकफलवचनं परमात्मानमिहाभिध्यातव्यं सूचयति। अथ यदुक्तम्—परमात्माभिध्यायिनो न देशपरिच्छिन्नं फलं युज्यत इति। अत्रोच्यते—त्रिमात्रेणोङ्कारेणाऽऽलम्बनेन परमात्मानमभिध्यायतः फलं ब्रह्मलोकप्राप्तिः क्रमेण च सम्यग्दर्शनोत्पत्तिरिति क्रममुक्त्यभिप्रायमेतत् भविष्यतीत्यदोषः ॥ १३ ॥

भाष्यका अनुवाद

वह पर और अपर ब्रह्म है) ऐसा विभाग करके ओंकारद्वारा पर पुरुषका अभिध्यान करना चाहिए, ऐसा कहती हुई श्रुति पर ब्रह्मको ही पर पुरुष कहती है। 'यथा पादोदरस्त्वचा०' (जैसे सर्प केंचुलसे विनिर्मुक्त होता है, इसी प्रकार वह पापसे छुटकारा पा जाता है), इस प्रकार पापसे विनिर्मुक्तिरूप फलका कथन यहां परमात्मा ध्येय है ऐसा सूचित करता है। परमात्माका ध्यान करनेवालेके लिए देशपरिच्छिन्न फल युक्त नहीं है, यह जो पीछे कहा गया है, उसपर कहते हैं—तीन मात्रावाले ओंकाररूप आलम्बनसे परमात्माका अभिध्यान करनेवालेको ब्रह्मलोकप्राप्ति और क्रमसे सम्यग्दर्शनकी उत्पत्ति फल मिलता है, ऐसा क्रममुक्तिमें यहां अभिप्राय है, इसलिए कोई दोष नहीं है ॥ १३ ॥

रत्नप्रभा

परशब्देन उपक्रमे निश्चितं परं ब्रह्मैवाऽत्र वाक्यशेषे ध्यातव्यमित्याह—परं चापरं चेति। पापनिवृत्तिलिङ्गाच्च इत्याह—यथेति। पादोदरः—सर्पः। ॐकारे परब्रह्मोपासनया सूर्यद्वारा ब्रह्मलोकं गत्वा परब्रह्म ईक्षित्वा तदेव शान्तम् अभयं परं प्राप्नोतीति अविरोधमाह—अत्रोच्यते इति। एवम् एकवाक्यतासमर्थनप्रकरणानुगृहीतपरपुरुषश्रुतिभ्यां परब्रह्मप्रत्यभिज्ञया ब्रह्मलोकप्राप्तिलिङ्गं बाधित्वा वाक्यं प्रणवध्येये ब्रह्मणि समन्वितमिति सिद्धम् ॥ १३ ॥ (४) ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

है। और पर शब्दसे उपक्रममें निश्चित हुआ पर ब्रह्म ही वाक्यशेषमें ध्यातव्य है, ऐसा कहते हैं—"परं चापरं च" इत्यादिसे। पापनिवृत्तिरूप लिंगसे भी वाक्यशेषमें पर ब्रह्म ही ध्यातव्य है ऐसा कहते है—"यथा" इत्यादिसे। पादोदर—सर्प। ओंकारमें पर ब्रह्मकी उपासनासे सूर्य द्वारा ब्रह्मलोकमें जाकर, पर ब्रह्मका दर्शन करके उसी शान्त अभय परको प्राप्त करता है, ऐसा अविरोध दिखलाते हैं—"अत्रोच्यते" इत्यादिसे। इस तरह जिसमें एकवाक्यताका समर्थन है, उस प्रकरणसे अनुगृहीत पर और पुरुषशब्दकी श्रुति—श्रवण द्वारा पर ब्रह्मकी प्रत्यभिज्ञा होनेसे ब्रह्मलोकप्राप्तिरूप लिंगका बाध करके वाक्यका प्रणवध्येय ब्रह्ममें समन्वय सिद्ध हुआ ॥१३॥

[५ दहराधिकरण सू० १४-२१]

दहरः को वियज्जीवो ब्रह्म वाऽऽकाशशब्दतः ।
वियत्स्यादथवाऽल्पत्वश्रुतेर्जीवो भविष्यति ॥ १ ॥
बाह्याकाशोपमानेन द्युभूम्यादिसमाहितेः ।
आत्मापहतपाप्मत्वात्सेतुत्वाच्च परेश्वरः* ॥ २ ॥

[अधिकरणसार]

सन्देह—'अथ यदिदमस्मिन् ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म' इस श्रुतिमें उक्त दहर भूताकाश है या जीव है अथवा ब्रह्म है ?

पूर्वपक्ष—दहर भूताकाश हो सकता है, क्योंकि श्रुतिमें 'आकाश' शब्द पढ़ा गया है और आकाशशब्द भूताकाशमें रूढ़ है। अथवा परिच्छिन्न जीव दहर हो सकता है, क्योंकि श्रुतिमें वह अल्प कहा गया है।

सिद्धान्त—बाह्य आकाशके साथ उपमा देने, द्यु, भू आदिका आधार कहने, आत्मत्व, पापराहित्य आदि धर्मोंसे एवं लोकमर्यादाका संस्थापक होनेसे दहर परमेश्वर ही है।

---

* तात्पर्य यह कि छान्दोग्य उपनिषद्के आठवें अध्यायमें श्रुति है—'यदिदमस्मिन् ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशस्तस्मिन्यदन्तस्तदन्वेष्टव्यम् तद्वाव विजिज्ञासितव्यम्' अर्थात् इस ब्रह्मपुरमें जो छोटा-सा हृदयकमलरूप गृह है, उसमें छोटा-सा आकाश है, उसके मध्यमें जो है, उसका अन्वेषण करना चाहिए और विशेषरूपसे जिज्ञासा करनी चाहिए। ब्रह्मकी उपलब्धिका स्थान होनेसे शरीर ब्रह्मपुर कहलाता है, उसमें हृदयकमलरूप छोटा घर है, उस घरमें छोटा-सा आकाश है। उक्त आकाशमें सन्देह होता है कि वह भूताकाश है या जीव है अथवा ब्रह्म है ?

पूर्वपक्षी कहता है कि वह भूताकाश ही है, क्योंकि आकाश शब्द भूताकाशमें रूढ़ है। अथवा दहरशब्दसे उक्त आकाशमें अल्पताके कथनसे वह परिच्छिन्न जीव हो सकता है, ब्रह्म तो कदापि नहीं हो सकता।

सिद्धान्ती कहते हैं कि ब्रह्म ही आकाशशब्दवाच्य है क्योंकि "यावान् वा अयमाकाशस्तावानेषोऽन्तर्हृदय आकाशः" (जितना बड़ा यह बाह्य आकाश है उतना ही बड़ा भीतरका आकाश है) इस श्रुतिमें प्रसिद्ध बाह्य आकाशसे उसकी उपमा दी गई है। आकाशको ही आकाशसे उपमा दी जाय यह संभव नहीं है। परिच्छिन्न (छोटे-से) जीवको भी विशालतम आकाशसे उपमा नहीं दी जा सकती। जो यह कहते हो कि आकाश शब्द भूताकाशमें रूढ़ है, उक्त लौकिक रूढ़िका श्रुतिप्रसिद्धिसे परिहार हो जाता है। और दूसरी बात यह भी है कि "उभे अस्मिन् द्यावापृथिवी अन्तरेव समाहिते" इत्यादि श्रुतिद्वारा दहराकाश द्यु, पृथिवी आदि सकल जगत्का आधार कहा गया है, "अथैष आत्मापहतपाप्मा" इत्यादि श्रुतिसे उसमें आत्मत्व और पापराहित्य धर्म कहे गये हैं और "य आत्मा सेतुर्विधृतिः" इत्यादि श्रुतिद्वारा वह जगत्की मर्यादाको तहस-नहस न होने देनेके लिए धारणकर्ता सेतु कहा गया है। उक्त हेतुओंसे प्रतीत होता है कि दहराकाश परमात्मा ही है।

दहर उत्तरेभ्यः ॥ १४ ॥

पदच्छेद—दहरः, उत्तरेभ्यः ।

पदार्थोक्ति—दहरः—'अथ यदिदमस्मिन् ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशः' इत्यादिश्रुतौ प्रतीयमानो दहराकाशः [परमात्मैव, कुतः] उत्तरेभ्यः—वाक्यशेषगतेभ्य आकाशोपमानत्वद्यावापृथिव्यधिष्ठानत्वात्मत्वापहतपाप्मत्वादिहेतुभ्यः ।

भाषार्थ—'अथ यदिदमस्मिन्०' (इस ब्रह्मपुर—शरीरमें स्थित अल्प हृदयकमलके अन्दर जो दहराकाश है) इत्यादि श्रुतिमें प्रतीत होनेवाला दहराकाश परमात्मा ही है, क्योंकि वाक्यशेषमें आकाशका उपमेय होना, द्युलोक और पृथिवीका अधिष्ठान होना, आत्मा होना और सकलपापशून्य होना आदि ब्रह्मके लिङ्ग हैं ।

भाष्य

'अथ यदिदमस्मिन् ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशस्तस्मिन् यदन्तस्तदन्वेष्टव्यं तद्वाव विजिज्ञासितव्यम्' (छा० ८।१।१)

भाष्यका अनुवाद

'अथ यदिदमस्मिन् ब्रह्मपुरे०' (इस ब्रह्मपुर–शरीरमें जो अल्प हृदयकमलरूप घर है, उसमें अल्प अन्तराकाश है, उस आकाशमें जो है उसकी खोज करनी चाहिए, उसका ही विशेष ज्ञान प्राप्त करना चाहिए) श्रुतिमें

रत्नप्रभा

दहर उत्तरेभ्यः । छान्दोग्यम् उदाहरति—अथेति । भूमविद्यानन्तरं दहरविद्याप्रारम्भार्थोऽथशब्दः । ब्रह्मणोऽभिव्यक्तिस्थानत्वाद् ब्रह्मपुरं शरीरम् । अस्मिन् यत् प्रसिद्धं दहरम् अल्पं हृत्पद्मं तस्मिन् हृदये यद् अन्तराकाशशब्दितं ब्रह्म तद् अन्वेष्टव्यम्—विचार्य ज्ञेयम् इत्यर्थः । अत्र आकाशो जिज्ञास्यः

रत्नप्रभाका अनुवाद

छान्दोग्यवाक्यको उद्धृत करते हैं—"अथ" इत्यादिसे । अथशब्द भूमविद्याके बाद दहरविद्याके आरम्भको सूचित करता है । ब्रह्मकी अभिव्यक्तिका स्थान होनेके कारण शरीर ब्रह्मपुर है । इसमें जो प्रसिद्ध अल्प हृदयकमल है, उस हृदयमें जो अन्तराकाशनामक ब्रह्म है, उसका विचारपूर्वक ज्ञान प्राप्त करना चाहिए, ऐसा श्रुतिका अर्थ है । यहां पहले

भाष्य

इत्यादिवाक्यं समाम्नायते। तत्र योऽयं दहरे हृदयपुण्डरीके दहर आकाशः श्रुतः, स किं भूताकाशोऽथ विज्ञानात्माऽऽथवा परमात्मेति संशय्यते। कुतः संशयः? आकाशब्रह्मपुरशब्दाभ्याम्। आकाशशब्दो ह्ययं भूताकाशे परस्मिंश्च ब्रह्मणि प्रयुज्यमानो दृश्यते। तत्र किं भूताकाश एव दहरः स्यात्, किं वा पर इति संशयः। तथा ब्रह्मपुरमिति किं जीवोऽत्र ब्रह्मनामा तस्येदं पुरं शरीरं ब्रह्मपुरम्, अथवा परस्यैव ब्रह्मणः पुरं ब्रह्मपुरमिति। तत्र जीवस्य परस्य वाऽन्यतरस्य पुरस्वामिनो दहराकाशत्वे संशयः।

तत्राऽऽकाशशब्दस्य भूताकाशे रूढत्वाद् भूताकाश एव दहर-

भाष्यका अनुवाद

इत्यादि वाक्य है। यहांपर अल्प हृदयकमलमें जो यह अल्प आकाश कहा गया है, वह क्या भूताकाश है या विज्ञानात्मा है अथवा परमात्मा है, ऐसा संशय होता है। संशय क्यों होता है? इससे कि श्रुतिमें आकाश और ब्रह्मपुर शब्द कहे गये हैं। आकाशशब्दका भूताकाश और परब्रह्ममें प्रयोग देखा जाता है। इससे संशय होता है कि दहर भूताकाश है या परब्रह्म। उसी प्रकार 'ब्रह्मपुर' में ब्रह्म जीववाचक है, उसका पुर होनेसे यह शरीर ब्रह्मपुर कहलाता है या परब्रह्मका पुर होनेसे ब्रह्मपुर है। ऐसा संशय होता है। उक्त संशय होनेपर यह संशय होता है कि जीव और परब्रह्ममेंसे कौन दहराकाश है?

रत्नप्रभा

तदन्तःस्थं वेति प्रथमं संशयः कल्प्यः। तत्र यदि आकाशः, तदा संशयद्वयम्। तत्र आकाशशब्दादेकं संशयम् उक्त्वा ब्रह्मपुरशब्दात् संशयान्तरमाह—**तथा ब्रह्मपुरमितीति**। अत्र—शब्दे। जीवस्य ब्रह्मणो वा पुरमिति संशयः। तत्र तस्मिन् संशये सतीति योजना। परपुरुषशब्दस्य ब्रह्मणि मुख्यत्वाद् ब्रह्म ध्येयम् इत्युक्तम्, तथेहापि आकाशपदस्य भूताकाशे रूढत्वाद् भूताकाशो ध्येय इति

रत्नप्रभाका अनुवाद

इस संशयकी कल्पना करनी चाहिए कि दहराकाश जिज्ञास्य है या उसके भीतर रहनेवाला अन्य पदार्थ जिज्ञास्य है। यदि आकाश जिज्ञास्य हो तब दो संशय उपस्थित होते हैं। उनमें आकाशशब्दसे एक संशय कहकर ब्रह्मपुरशब्दसे दूसरा संशय कहते हैं—"तथा ब्रह्मपुरमिति" इत्यादिसे। 'यहाँ'—ब्रह्मपुरशब्दमें जीवका पुर या ब्रह्मका पुर ऐसा संशय होता है। 'तत्र'—उस संशयके होनेपर, ऐसी योजना करनी चाहिए। परपुरुषशब्द ब्रह्ममें रूढ होनेके कारण ब्रह्म ही ध्येय है, ऐसा पूर्वाधिकरणमें कहा गया है, उसी प्रकार यहां भी आकाश पद भूताकाशमें रूढ

भाष्य

शब्द इति प्राप्तम्। तस्य च दहरायतनापेक्षया दहरत्वम्। 'यावान्वा अयमाकाशस्तावानेषोऽन्तर्हृदय आकाशः,' इति च बाह्याभ्यन्तरभावकृतभेदस्योपमानोपमेयभावः द्यावापृथिव्यादि च तस्मिन्नन्तः समाहितम्,

भाष्यका अनुवाद

पूर्वपक्षी—आकाशशब्द भूताकाशमें रूढ़ है, अतः दहरशब्द भूताकाशका ही वाचक है, ऐसा प्राप्त होता है। उसका स्थान अल्प होनेसे वह दहर कहलाता है। 'यावान् वा०' (जितना भूताकाश है, उतना ही हृदयके भीतर यह दहराकाश है) इस प्रकार बाह्य और आभ्यन्तर भेदकी कल्पनासे भेद मानकर उपमानोपमेयभाव

रत्नप्रभा

दृष्टान्तेन पूर्वपक्षयति—तत्राकाशेत्यादिना। दहरवाक्यस्य अनन्तरप्रजापतिवाक्यस्य च सगुणे निर्गुणे च समन्वयोक्तेः श्रुत्यादिसंगतयः। पूर्वपक्षे भूताकाशाद्युपास्तिः, सिद्धान्ते सगुणब्रह्मोपास्त्या निर्गुणधीरिति फलभेदः। न च "आकाशस्तल्लिङ्गाद्" (१।१।२२) इत्यनेन अस्य पुनरुक्तता शङ्कनीया। अत्र "तस्मिन्यदन्तस्तदन्वेष्टव्यम्" (छा० ८।१।१) इत्याकाशान्तःस्थस्याऽन्वेष्टव्यत्वादिलिङ्गान्वयेन दहराकाशस्य ब्रह्मत्वे स्पष्टलिङ्गाभावात्। ननु भूताकाशस्याऽल्पत्वं कथम्? एकस्य उपमानत्वम् उपमेयत्वं च कथम्? "उभे अस्मिन् द्यावापृथिवी अन्तरेव समाहिते उभावग्निश्च वायुश्च" (छा० ८।१।३) इत्यादिना श्रुतसर्वाश्रयत्वं च कथम्? इत्याशङ्क्य क्रमेण परिहरति—तस्येत्यादिना। हृदयापेक्षया अल्पत्वम्, ध्यानार्थं कल्पितभेदात् सादृश्यम्, स्वत एकत्वात् सर्वा-

रत्नप्रभाका अनुवाद

है, अतः भूताकाश ही ध्येय है, इस प्रकार दृष्टान्तसे पूर्वपक्ष करते हैं—"तत्राकाश" इत्यादिसे। दहरवाक्यका सगुण ब्रह्ममें और अनन्तर कथित प्रजापतिवाक्यका निर्गुण ब्रह्ममें समन्वय किया गया है, अतः इस अधिकरणकी श्रुति आदिके साथ संगतियाँ हैं। पूर्वपक्षमें भूताकाश आदिकी उपासना फल है, सिद्धान्तमें सगुण ब्रह्मकी उपासनासे निर्गुण ब्रह्मका ज्ञान फल है। 'आकाशस्तल्लिङ्गात्' इस सूत्रसे गतार्थ होनेके कारण यह सूत्र पुनरुक्त है, ऐसी शंका नहीं करनी चाहिए, क्योंकि यहाँ 'तस्मिन् यदन्त०' (उसमें जो भीतर है, उसका अन्वेषण करना चाहिए) इस प्रकार आकाशके भीतर रहनेवालेका अन्वेष्टव्यत्व आदि लिंगोंके साथ अन्वय होनेसे दहर ब्रह्म ही है, इसमें स्पष्ट लिंग नहीं है। परन्तु भूताकाश अल्प किस प्रकार है? 'उभे अस्मिन् द्यावापृथिवी०' (इसमें स्वर्ग और पृथिवी दोनों अन्दर ही रहते हैं एवं अग्नि और वायु दोनों अन्दर रहते हैं) इस तरह आकाश सबका आश्रय किस प्रकार है? ऐसी आशंका करके क्रमशः उसका परिहार करते हैं "तस्य" इत्यादिसे। तात्पर्य यह कि हृदयरूप आश्रयकी अपेक्षासे वह अल्प है, ध्यानके लिए भेदकी कल्पना की गई है, अतः सादृश्य है

भाष्य

अवकाशात्मनाऽऽकाशस्यैकत्वात् । अथवा जीवो दहर इति प्राप्तम्, ब्रह्मपुरशब्दात् । जीवस्य हीदं पुरं सच्छरीरं ब्रह्मपुरमित्युच्यते, तस्य स्वकर्मणोपार्जितत्वात् । भक्त्या च तस्य ब्रह्मशब्दवाच्यत्वम् । नहि परस्य ब्रह्मणः शरीरेण स्वस्वामिभावः सम्बन्धोऽस्ति । तत्र पुरस्वामिनः पुरैकदेशेऽवस्थानं दृष्टम्, यथा राज्ञः । मनउपाधिकश्च जीवः, मनश्च प्रायेण हृदये प्रतिष्ठितमित्यतो जीवस्यैवेदं हृदयेऽन्तरवस्थानं स्यात् । दहरत्वमपि तस्यैव आराग्रोपमितत्वादवकल्पते । आकाशोपमितत्वादि च ब्रह्माभेदविवक्षया भवि-

भाष्यका अनुवाद

है और आकाश और पृथिवी आदि उसमें स्थित हैं, क्योंकि अवकाशस्वरूप होनेसे आकाश एक है। अथवा जीव दहर है, ऐसा प्राप्त होता है, क्योंकि ब्रह्मपुरशब्द है। जीवका शरीर होनेसे शरीर ब्रह्मपुर कहलाता है, क्योंकि जीव उसे अपने कर्मसे प्राप्त करता है और गौणीवृत्तिसे जीव ब्रह्मशब्दवाच्य है। परब्रह्मका शरीरके साथ स्वस्वामिभावसम्बन्ध नहीं है। व्यवहारमें देखा जाता है कि नगरका स्वामी नगरके एक भागमें रहता है, जैसे राजा राजधानीके एक भाग राजगृहमें रहता है। मन जीवकी उपाधि है और मन प्रायः हृदयमें रहता है, इसलिए जीवकी ही हृदयमें स्थिति हो सकती है। दहरत्व भी उसीमें घटता

रत्नप्रभा

श्रयत्वमित्यर्थः । ननु "एष आत्मा" इत्यात्मशब्दो भूते न युक्त इत्यरुचेराह— अथवेति । भक्त्येति । चैतन्यगुणयोगेन इत्यर्थः । मुख्यं ब्रह्म गृह्यतामित्यत आह—नहीति । अस्तु पुरस्वामी जीवः, हृदयस्थाकाशस्तु ब्रह्म इत्यत आह— तत्रेति । पुरस्वामिन एव तदन्तःस्थत्वसम्भवात् न अन्यापेक्षा इत्यर्थः । व्यापिनोऽन्तःस्थत्वं कथमित्यत आह—मन इति । आकाशपदेन दहरमनुकृष्य उक्तो-

रत्नप्रभाका अनुवाद

और आकाश स्वयं एक होनेसे सबका आश्रय है। परन्तु 'एष आत्मा' इसमें आत्मशब्द भूताकाशमें संगत नहीं हो सकता, इस अरुचिसे कहते हैं—"अथवा" इत्यादि । "भक्त्या"— चैतन्यरूप गुणके सबन्धसे । यदि कोई कहे कि मुख्य ब्रह्मका ग्रहण करो, इसपर कहते हैं—"नहि" इत्यादि । यदि कोई शंका करे कि पुरस्वामी जीव हो, हृदयस्थ आकाश तो ब्रह्म है, इसपर कहते हैं—"तत्र" इत्यादि । अर्थात् पुरस्वामीका पुरमें रहना संभव है, उससे अन्यकी अपेक्षा नहीं है। जीवात्मा तो व्यापक है, वह हृदयके भीतर कैसे रह सकता है, इस शङ्कापर कहते हैं—"मन" इत्यादि । आकाशपदसे दहरकी अनुवृत्ति करके कथित

भाष्य

ष्यति। न चाऽत्र दहरस्याऽऽकाशस्याऽन्वेष्टव्यत्वं विजिज्ञासितव्यत्वं च श्रूयते, 'तस्मिन् यदन्तः' इति परविषयत्वेनोपादानादिति।

अत उत्तरं ब्रूमः—परमेश्वर एवाऽत्र दहराकाशो भवितुमर्हति न

भाष्यका अनुवाद

है, क्योंकि आरके अग्रसे उसकी उपमा दी गई है। आकाशके साथ उसकी उपमा तो ब्रह्मके साथ अभेदकी विवक्षासे होगी। श्रुतिमें दहराकाश अन्वेषण-योग्य है और विशेषरूपसे जिज्ञासा करने योग्य है, ऐसा नहीं कहा गया है, किन्तु 'तस्मिन्०' (उसमें जो है) इस प्रकार आभ्यन्तर वस्तुके आधाररूपसे दहराकाशका ग्रहण किया गया है।

सिद्धान्ती—ऐसा प्राप्त होनेपर हम कहते हैं—यहां परमेश्वर ही दहराकाश

रत्नप्रभा

पमादिकं ब्रह्माभेदविवक्षया भविष्यतीत्याह—आकाशेति। ननु जीवस्य आकाश-पदार्थत्वम् अयुक्तमित्याशङ्क्य तर्हि भूताकाश एव दहरोऽस्तु तस्मिन् अन्तःस्थं किंचिद् ध्येयमिति पक्षान्तरमाह—न चात्रेति। परम्-अन्तःस्थं वस्तु, तद्विशेषण-त्वेन—आधारत्वेन दहराकाशस्य तच्छब्देन उपादानादित्यर्थः। यद्वा, अन्वेष्य-त्वादिलिङ्गाद् दहरस्य ब्रह्मत्वनिश्चयाद् "आकाशस्तल्लिङ्गाद्" (१।१।२२) इत्यनेन गतार्थत्वमिति शङ्काऽत्र निरसनीया। अन्वेष्यत्वादेः परविशेषणत्वेन ग्रहणात् दहरस्य ब्रह्मत्वे लिङ्गं नास्तीत्यर्थः।

अपहतपाप्मत्वादिलिङ्गोपेतात्मश्रुत्या केवलाकाशश्रुतिः बाध्या इति सिद्धान्त-यति—परमेश्वर इत्यादिना। आकाशस्य आक्षेपपूर्वकमिति सम्बन्धः।

रत्नप्रभाका अनुवाद

उपमा आदि ब्रह्मके साथ अभेदकी विवक्षासे हो सकते हैं ऐसा कहते हैं—"आकाश" इत्यादिसे परन्तु जीव आकाशशब्दका अर्थ नहीं हो सकता है, ऐसी आशङ्का करके तब भूताकाश ही दहर हो उसके अन्दर रहनेवाला कोई ध्येय है, ऐसा पक्षान्तर कहते हैं—"न चात्र" इत्यादिसे। [परविशेषणत्वेनोपादानात्-] पर अर्थात् भीतर रहनेवाला जो पदार्थ, उसके विशेषणरूपसे-आधाररूपसे दहराकाशका 'तत्' शब्दसे ग्रहण होनेके कारण। अथवा अन्वेष्यत्व आदि लिङ्गोंसे दहर ब्रह्म है, यह निश्चय होनेके कारण 'आकाश०' सूत्रसे यह सूत्र गतार्थ है यह शङ्का यहाँ निरसनीय है, अतः 'परविशेषणत्वेनोपादानात्' इसका अर्थ यह है कि अन्वेष्यत्व आदिका अन्यके विशेषणरूपसे ग्रहण होता है इससे 'दहर ब्रह्म है' इसमें कोई लिङ्ग नहीं है।

पापराहित्य आदि लिङ्गोंसे युक्त आत्मश्रुतिसे केवल आकाशश्रुतिका बाध करना योग्य है, ऐसा सिद्धान्त करते हैं—"परमेश्वरः" इत्यादिसे। 'आकाशस्य' का 'आक्षेपपूर्वकम्' के साथ

भाष्य

भूताकाशो जीवो वा। कस्मात्? उत्तरेभ्यो वाक्यशेषगतेभ्यो हेतुभ्यः। तथाहि—अन्वेष्टव्यतयाऽभिहितस्य दहरस्याऽऽकाशस्य 'तं चेद् ब्रूयुः' इत्युपक्रम्य 'किं तदत्र विद्यते यदन्वेष्टव्यं यद्वाव विजिज्ञासितव्यम्' इत्येवमाक्षेपपूर्वकं प्रतिसमाधानवचनं भवति। 'स ब्रूयाद्यावान् वा अयमाकाशस्तावानेषोऽन्तर्हृदय आकाश उभे अस्मिन् द्यावापृथिवी अन्तरेव समाहिते' (छा० ८।१।३) इत्यादि। तत्र पुण्डरीकदहरत्वेन प्राप्तदहरत्वस्याऽऽकाशस्य प्रसिद्धाकाशौपम्येन दहरत्वं निवर्तयन् भूताकाशत्वं दहरस्याऽऽकाशस्य निव-

भाष्यका अनुवाद

है, भूताकाश या जीव दहराकाश नहीं है, क्योंकि वाक्यशेषमें कहे गये हेतुओंसे यही प्रतीत होता है। अन्वेष्टव्यरूपसे कहे हुए दहराकाशका 'तं चेद् ब्रूयुः' (आचार्यसे शिष्य यदि कहें) ऐसा उपक्रम करके 'किं तदत्र विद्यते०' (यहां वह क्या है जो अन्वेषण करने योग्य है और विशेषरूपसे जिज्ञासा करने योग्य है) इस प्रकार आक्षेपपूर्वक समाधान करते हैं—'स ब्रूयाद्यावान् वा०' (वह कहे कि जितना बड़ा यह बाह्य आकाश है, उतना ही हृदयमें यह आभ्यन्तर आकाश है, स्वर्ग और पृथिवी दोनों उसके अन्दर स्थित हैं)। इस वाक्यसे प्रतीत होता है कि कमलके अल्पत्वसे जिसको अल्पत्व प्राप्त हुआ है, उस आकाशकी प्रसिद्ध आकाशके साथ उपमा देकर उसके अल्पत्वकी निवृत्ति करते हुए आचार्य दहराकाशमें

रत्नप्रभा

तम्—आचार्यं प्रति यदि ब्रूयुः हृदयमेव तावदल्पम् तत्रत्याकाशोऽल्पतरः, किं तदत्र अल्पे विद्यते, यद् विचार्य ज्ञेयम् इति, तदा स आचार्यो ब्रूयाद् आकाशस्य अल्पतानिवृत्तिम् इत्यर्थः। वाक्यस्य तात्पर्यमाह—**तत्रेति**। निवर्तयति आचार्य इति शेषः। ननु आकाशशब्देन रूढ्या भूताकाशस्य भानात् कथं तन्निवृत्तिः इत्याशङ्क्याऽऽह—यद्यपीति। ननु "रामरावण-

रत्नप्रभाका अनुवाद

सम्बन्ध है। यदि आचार्यसे शिष्य पूछें कि पहले तो हृदय ही छोटा है, उसमें रहनेवाला आकाश उससे भी छोटा है, उस आकाशमें कौन-सा तत्त्व है, जिसका विचारपूर्वक ज्ञान प्राप्त करना चाहिए? तब आचार्य आकाशकी अल्पताकी निवृत्ति करें अर्थात् आकाश अल्प नहीं है, ऐसा कहें। वाक्यका तात्पर्य कहते हैं—"तत्र" इत्यादिसे। 'निवर्तयति'के पहले 'आचार्यः' इतना शेष समझना चाहिये। यदि कोई कहे कि आकाशशब्दकी भूताकाशमें प्रसिद्धि है, अतः उससे भूताकाशका ही भान होता है, तो दहराकाशमें भूताकाश-

भाष्य

र्तयतीति गम्यते। यद्यप्याकाशशब्दो भूताकाशे रूढः, तथापि तेनैव तस्योपमा नोपपद्यत इति भूताकाशशङ्का निवर्तिता भवति।

नन्वेकस्याऽप्याकाशस्य बाह्याभ्यन्तरत्वकल्पितेन भेदेनोपमानोपमेय-भावः सम्भवतीत्युक्तम्। नैवं सम्भवति। अगतिका हीयं गतिः, यत्काल्प-

भाष्यका अनुवाद

भूताकाशत्वकी भी निवृत्ति करते हैं। यद्यपि आकाशशब्द भूताकाशमें रूढ है, तो भी उसीके साथ उसकी उपमा नहीं बन सकती है, इससे दहर भूताकाश है, इस शंकाकी निवृत्ति होती है।

एक ही आकाशके बाह्य और आभ्यन्तर भेदकी कल्पनासे भेद मानकर उपमानोपमेयभाव हो सकता है, ऐसा जो पूर्वपक्षीने कहा है, वह संभव नहीं

रत्नप्रभा

योर्युद्धं रामरावणयोरिव" इत्यभेदेऽप्युपमा दृष्टा इति चेत्, न, अभेदे सादृश्यस्य अनन्वयेन युद्धस्य निरुपमत्वे तात्पर्यात् अयमनन्वयालंकार इति काव्यविदः।

पूर्वोक्तम् अनूद्य निरस्यति—नन्वित्यादिना। "सीताश्लिष्ट इवाऽऽभाति कोदण्डप्रभया युतः" इत्यादौ प्रभायोगसीताश्लेषरूपविशेषणभेदाद् भेदाश्रयणम् एकस्यैव श्रीरामस्य उपमानोपमेयभावसिद्ध्यर्थम् अगत्या कृतमिति अनुदाहरणं द्रष्टव्यम्। नैवमत्राऽऽश्रयणं युक्तम्, वाक्यस्य अल्पत्वनिवृत्तिपरत्वेन गतिसद्भावात्। किञ्च, हार्दाकाशस्याऽऽन्तरत्वात्यागे अल्पत्वेन व्यापकबाह्याकाशसादृश्यं न युक्तमित्याह—

रत्नप्रभाका अनुवाद

त्वकी निवृत्ति कैसे हो सकती है ऐसी आशङ्का करके कहते हैं—"यद्यपि" इत्यादि। परन्तु 'रामरावण०' (राम और रावणका युद्ध राम और रावणके युद्धके सदृश है) इस प्रकार अभेदमें—उपमान और उपमेयभाव देखा गया है, यह शङ्का युक्त नहीं है, क्योंकि अभेदमें सादृश्यका अन्वय न होनेसे युद्धकी निरुपमतामें तात्पर्य है, अतः उसे काव्यवेत्ता अनन्वय अलङ्कार कहते हैं।

पूर्वोक्त विषयका अनुवाद करके निरास करते हैं—"ननु" इत्यादिसे। 'सीताश्लिष्ट इवा०' (धनुषकी प्रभासे युक्त राम सीतासे आलिङ्गित जैसे मालूम पड़ते हैं) इत्यादिमें प्रभायोग और सीताश्लेषरूप विशेषणोंके भेदसे एक ही श्रीराममें उपमानोपमेयभाव सिद्ध करनेके लिए अगत्या भेद माना गया है, यह उदाहरण ठीक नहीं है। इस प्रकार यहाँ भेद मानना ठीक नहीं है, क्योंकि आकाशमें अल्पत्वकी निवृत्ति करनसे वाक्य सार्थक है। और हृदयस्थ आकाशके आन्तरत्वका त्याग नहीं हो सकता, इसलिए वह अल्प है और अल्प होनेसे व्यापक

भाष्य

निकभेदाश्रयणम् । अपि च कल्पयित्वाऽपि भेदमुपमानोपमेयभावं वर्णयतः परिच्छिन्नत्वादभ्यन्तराकाशस्य न बाह्याकाशपरिमाणत्वमुपपद्येत ।

ननु परमेश्वरस्याऽपि 'ज्यायानाकाशात्' (श० ब्रा० १०।६।३।२) इति श्रुत्यन्तरान्नैवाऽऽकाशपरिमाणत्वमुपपद्यते । नैष दोषः । पुण्डरीकवेष्टनप्राप्तदहरत्वनिवृत्तिपरत्वाद्वाक्यस्य न तावत्त्वप्रतिपादनपरत्वम् । उभयप्रतिपादने हि वाक्यं भिद्येत । न च कल्पितभेदे पुण्डरीकवेष्टिते आकाशैकदेशे द्यावापृथिव्यादीनामन्तःसमाधानमुपपद्यते । 'एष आत्मापहतपाप्मा

भाष्यका अनुवाद

है, क्योंकि काल्पनिक भेद उपायान्तरके अभावमें ही माना जाता है । और दूसरी बात यह भी है कि भेदकी कल्पना करके उपमानोपमेयभावका वर्णन करनेवालेके मतमें आभ्यन्तर आकाश परिच्छिन्न होनेसे बाह्य आकाशके बराबर नहीं हो सकेगा ।

परन्तु 'ज्यायानाकाशात्' (आकाशसे बड़ा) इत्यादि दूसरी श्रुतिसे परमेश्वरका भी आकाशके परिमाणके बराबर परिमाण नहीं हो सकता है । यह दोष नहीं है, क्योंकि यह वाक्य पुण्डरीकके वेष्टनसे प्राप्त हुए अल्पत्वकी केवल निवृत्तिही करता है, भूताकाशके बराबर परिमाणका प्रतिपादन नहीं करता । दोनोंके प्रतिपादनमें वाक्यभेद हो जायगा । और काल्पनिक भेदवाले पुण्डरीकसे वेष्टित आकाशके एकदेशमें स्वर्ग, पृथिवी आदिका रहना नहीं घटता । 'एष आत्मा-

रत्नप्रभा

अपि चेति । आन्तरत्वत्यागे तु अत्यन्ताभेदात् न सादृश्यमिति भावः ।

ननु हार्दाकाशस्य अल्पत्वनिवृत्तौ तावत्त्वे च तात्पर्यं किं न स्यादित्यत आह—उभयेति । अतोऽल्पत्वनिवृत्तावेव तात्पर्यमिति भावः । एवम् आकाशोपमितत्वाद् दहराकाशो न भूतमिति उक्तम् । सर्वाश्रयत्वादिलिङ्गेभ्यश्च तथेत्याह—न चेत्या-

रत्नप्रभाका अनुवाद

बाह्य आकाशके साथ उसका सादृश्य ठीक नहीं है, ऐसा कहते हैं—"अपि च" इत्यादिसे हृदयस्थ आकाशके आन्तरत्वका त्याग करनेपर दोनों आकाशोंमें अत्यन्त अभेद होनेसे सादृश्य ही नहीं बन सकता, ऐसा तात्पर्य है ।

यदि कोई शङ्का करे कि हृदयस्थ आकाशके अल्पत्वकी निवृत्ति और भूताकाशके बराबर परिमाण, इन दोनोंमें वाक्यका तात्पर्य क्यों न हो ? इसपर कहते हैं—"उभये" इत्यादि । इसलिए अल्पत्वनिवृत्तिमें ही तात्पर्य है, ऐसा अर्थ है । इस प्रकार बाह्य आकाशके सदृश होनेके कारण दहराकाश भूताकाश नहीं है, ऐसा कहा गया । अब सर्वाश्रयत्व आदि लिङ्गोंसे

भाष्य

विजरो विमृत्युर्विशोको विजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसंकल्पः' इति चाऽऽत्मत्वापहतपाप्मत्वादयश्च गुणा न भूताकाशे सम्भवन्ति। यद्यप्यात्मशब्दो जीवे सम्भवति तथापीतरेभ्यः कारणेभ्यो जीवाशङ्कापि निवर्तिता भवति। नह्युपाधिपरिच्छिन्नस्याऽऽराग्रोपमितस्य जीवस्य पुण्डरीकवेष्टनकृतं दहरत्वं शक्यं निवर्तयितुम्। ब्रह्माभेदविवक्षया जीवस्य सर्वगतत्वादि विवक्ष्येतेति चेत्? यदात्मतया जीवस्य सर्वगतत्वादि विवक्ष्येत, तस्यैव ब्रह्मणः साक्षात् सर्वगतत्वादि विवक्ष्यतामिति युक्तम्। यदप्युक्तम्—ब्रह्मपुरमिति जीवेन पुरस्योपलक्षितत्वाद्राज्ञ इव जीवस्यैवेदं पुरस्वामिनः पुरैकदेशवर्तित्वमस्तु इति—अत्र ब्रूमः परस्यैवेदं ब्रह्मणः पुरं सत् शरीरं ब्रह्मपुरमित्युच्यते,

भाष्यका अनुवाद

पहतपाप्मा०' (यह आत्मा है, पापसे विमुक्त, जरा, मरण और शोकसे रहित, भूख और प्याससे मुक्त, सत्यकाम और सत्य संकल्प है) इस प्रकार आत्मत्व, पापराहित्य आदि गुण भूताकाशमें नहीं रह सकते। यद्यपि आत्मशब्दका जीवमें प्रयोग हो सकता है, तो भी दूसरे कारणोंसे जीवविषयक आशंका की भी निवृत्ति हो जाती है। उपाधिसे परिच्छिन्न और आरके अग्रभावसे उपमित जीवमें पुण्डरीकके वेष्टनसे प्राप्त हुए अल्पत्वकी निवृत्ति नहीं की जा सकती। ब्रह्मके साथ अभेदकी विवक्षासे जीवके सर्वगतत्व आदि धर्मोंकी विवक्षा होगी, ऐसा यदि कहो, तो ब्रह्मके साथ ऐक्य मानकर जीवके सर्वगतत्व आदि धर्मोंकी विवक्षा करनेसे यही ठीक है कि साक्षात् ब्रह्मके सर्वगतत्व आदि धर्मोंकी विवक्षा करो। 'ब्रह्मपुर'में जीवसे पुरका संबन्ध होनेसे राजाके समान पुरस्वामी जीवका ही पुरके एक भागमें रहना संभव है, ऐसा जो कहा है, उसपर कहते हैं—यह

रत्नप्रभा

दिना। विगता जिघत्सा—जग्धुमिच्छा यस्य सोऽयं विजिघत्सः—बुभुक्षाशून्य इत्यर्थः। प्रथमश्रुतब्रह्मशब्देन तत्सापेक्षचरमश्रुतषष्ठीविभक्त्यर्थः सम्बन्धो नेयः, न तु ब्रह्मणः पुरमिति षष्ठ्यर्थः स्वस्वामिभावो ग्राह्यः, 'निरपेक्षेण तत्सापेक्षं बाध्यम्' इति

रत्नप्रभाका अनुवाद

भी दहराकाश भूताकाश नहीं है, ऐसा कहते हैं—"न च" इत्यादिसे। 'विजिघत्सः'—जिसको खानेकी इच्छा नहीं है अर्थात् बुभुक्षाशून्य। 'ब्रह्मणः पुरम्' इसमें प्रथमश्रुत निरपेक्ष ब्रह्मशब्दके अनुसार ब्रह्मशब्दकी अपेक्षा रखनेवाली अनन्तरश्रुत षष्ठीविभक्तिका अर्थ संबन्धसामान्य लेना चाहिए न कि स्वस्वामिभावरूप विशेषसम्बन्ध, क्योंकि निरपेक्षसे सापेक्षका

(१) दहराकाश।

भाष्य

ब्रह्मशब्दस्य तस्मिन् मुख्यत्वात्। तस्याऽप्यस्ति पुरेणाऽनेन सम्बन्धः, उपलब्ध्यधिष्ठानत्वात्। 'स एतस्माज्जीवघनात् परात्परं पुरिशयं पुरुषमीक्षते' (प्र० ५।५) 'स वा अयं पुरुषः सर्वासु पूर्षु पुरिशयः' (बृ० २।५।१८) इत्यादिश्रुतिभ्यः। अथवा जीवपुर एवाऽस्मिन् ब्रह्म संनिहितमुपलक्ष्यते यथा शालग्रामे विष्णुः सन्निहित इति तद्वत्। 'तद्यथेह कर्मचितो लोकः क्षीयत एवमेवाऽमुत्र पुण्यचितो लोकः क्षीयते' (छा० ८।१।६)

भाष्यका अनुवाद

शरीर परब्रह्मका ही पुर होनेसे ब्रह्मपुर कहलाता है, क्योंकि ब्रह्मशब्दका परब्रह्मही मुख्य अर्थ है। उसका भी इस पुरके साथ संबन्ध है, क्योंकि उसकी उपलब्धिका यह स्थान है, कारण कि 'स एतस्माज्जीवघनात्०' (उपासक इस पर हिरण्यगर्भसे भी पर उत्कृष्ट और शरीरमें प्रविष्ट हुए परमात्माको देखता है) और 'स वा अयं०' (वह पुरुष सब शरीरोंमें वर्तमान हृदयमें रहनेके कारण पुरुष कहलाता है) इत्यादि श्रुतियाँ हैं। जैसे शालग्राममें विष्णु संनिहित हैं, वैसे इस जीवपुरमें ही ब्रह्म संनिहित है, ऐसा उपलक्षित होता है। 'तद्यथेह कर्मचितो०' (यहां जैसे कर्मसे सम्पादित फल क्षीण हो जाता है, उसी प्रकार परलोकमें पुण्यसे उपार्जित फल

रत्नप्रभा

न्यायाद् इत्याह—अत्र ब्रूम इति। शरीरस्य ब्रह्मणा तदुपलब्धिस्थानत्वरूपे सम्बन्धे मानम् आह—स इति। पूर्षु शरीरेषु, पुरि हृदये शय इति पुरुषः इत्यन्वयः। ननु ब्रह्मशब्दस्य जीवेऽपि अन्नादिना शरीरवृद्धिहेतौ मुख्यत्वात् न षष्ठ्यर्थः कथंचित् नेय इत्यत आह—अथवेति। बृंहयति देहमिति ब्रह्म—जीवः, तत्स्वामिके पुरे हृदयं ब्रह्मवेश्म भवतु, राजपुरे मैत्रसद्मवदित्यर्थः। अनन्तफल-

रत्नप्रभाका अनुवाद

बाध होता है यह न्याय है, ऐसा कहते हैं—"अत्र ब्रूमः" इत्यादिसे। शरीर ब्रह्मकी उपलब्धिका स्थान है, इसलिए शरीरका ब्रह्मके साथ संबन्ध है, इसमें प्रमाण कहते हैं—"स" इत्यादिसे। 'पूर्षु'—शरीरोंमें, 'पुरिशयः'—हृदयमें रहनेवाला पुरुष कहलाता है, ऐसा अन्वय है। यदि कोई कहे कि जीव भी अन्न आदिसे शरीरकी वृद्धि करता है, इसलिए ब्रह्मशब्दका मुख्य अर्थ जीव भी हो सकता है, अतः षष्ठीका अर्थ अपनी मनमानीसे नहीं करना चाहिए, इसपर कहते हैं—"अथवा" इत्यादि। 'बृंहयति०' जो देहकी वृद्धि करता है, वह ब्रह्म अर्थात् जीव है, वह जिस पुरका स्वामी है, उसमें हृदय ब्रह्मगृह हो सकता है, जैसे कि राजाके नगरमें मैत्रका घर होता है। 'अनन्त फलरूप लिङ्गसे भी दहर परमात्मा है, ऐसा

भाष्य

इति च कर्मणामन्तवत्फलत्वमुक्त्वा 'अथ य इहात्मानमनुविद्य व्रजन्त्येतांश्च सत्यान्कामांस्तेषां सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति' इति प्रकृतदहराकाशविज्ञानस्याऽनन्तफलत्वं वदन् परमात्मत्वमस्य सूचयति । यदप्येतदुक्तम्—न दहरस्याऽऽकाशस्याऽन्वेष्टव्यत्वं विजिज्ञासितव्यत्वं च श्रुतम्, परविशेषणत्वेनोपादानात् इति । अत्र ब्रूमः—यद्याकाशो नाऽन्वेष्टव्यत्वेनोक्तः स्यात् 'यावान्वा अयमाकाशस्तावानेषोऽन्तर्हृदय आकाशः' इत्याद्याकाशस्वरूपप्रदर्शनं नोपपद्येत ।

भाष्यका अनुवाद

क्षीण हो जाता है) इस प्रकार कर्मोंका फल नश्वर बतलाकर 'अथ य इहात्मानं०' (जो यहां आत्माका और इन सत्य कामोंका आचार्यके उपदेशानुसार ध्यानसे अनुभव कर परलोकमें जाते हैं, उनका सब लोकोंमें स्वेच्छाविहार होता है) इस प्रकार प्रकृत दहराकाशके विज्ञानका फल अनन्त कहकर श्रुति दहर परमात्मा ही है, ऐसा सूचित करती है । दहराकाश अन्वेषण करने और विशेषरूपसे जिज्ञासा करने योग्य है, ऐसा श्रुतिमें नहीं कहा गया है, क्योंकि परके विशेषणरूपसे उसका ग्रहण किया गया है, ऐसा जो पीछे कहा है, उसपर कहते हैं । यदि आकाश अन्वेष्टव्यरूपसे न कहा गया होता, तो 'यावान् वा०' (जितना बड़ा यह बाह्य आकाश है, उतनाही हृदयके भीतर यह दहराकाश है) इत्यादि आकाशके स्वरूपका प्रदर्शन उपयोगी न होता ।

रत्नप्रभा

लिङ्गादपि दहरः परमात्मा इत्याह—तद्यथेति । अथ—कर्मफलाद् वैराग्यानन्तरम् इह—जीवद्दशायाम् आत्मानं दहरं तदाश्रितांश्च सत्यकामादिगुणान् आचार्योपदेशम् अनुविद्य—ध्यानेनाऽनुभूय ये परलोकं गच्छन्ति, तेषां सर्वलोकेषु अनन्तमैश्वर्यं स्वेच्छया संचलनादिकं भवति इत्यर्थः । दहरे उक्तलिङ्गानि अन्यथासिद्धानि तेषां तदन्तःस्थगुणत्वाद् इत्युक्तं स्मारयित्वा दूषयति—यदपीत्यादिना ।

रत्नप्रभाका अनुवाद

कहते हैं—"तद्यथा" इत्यादिसे । 'अथ'—कर्मफलसे वैराग्य होनेके अनन्तर, 'इह'—जीवद्दशामें आत्मा—दहरका और उसके आश्रित सत्यकाम आदि गुणोंका आचार्यके उपदेशानुसार ध्यानसे अनुभव करके जो परलोक जाते हैं, उनको सब लोकोंमें अनन्त ऐश्वर्य प्राप्त होता है और वे स्वेच्छासे सर्वत्र विचरण करते हैं, ऐसा अर्थ है । अन्वेष्यत्व आदि लिङ्ग दहरमें लागू नहीं हो सकते हैं, क्योंकि वे दहरमें रहनेवालेके गुण हैं, ऐसा जो कहा गया है, उनका स्मरण कराकर दूषण देते हैं—"यदपि" इत्यादिसे ।

भाष्य

नन्वेतदप्यन्तर्वर्तिवस्तुसद्भावप्रदर्शनायैव प्रदर्श्यते 'तं चेद् ब्रूयुर्यदिदमस्मिन् ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशः किं तदत्र विद्यते यदन्वेष्टव्यं यद्वाव विजिज्ञासितव्यम्' इत्याक्षिप्य परिहारावसर आकाशौपम्योपक्रमेण द्यावापृथिव्यादीनामन्तःसमाहितत्वदर्शनात् । नैतदेवम् । एवं हि सति यदन्तःसमाहितं द्यावापृथिव्यादि तदन्वेष्टव्यं विजिज्ञासितव्यं चोक्तं स्यात् तत्र वाक्यशेषो नोपपद्येत । 'अस्मिन् कामाः समाहिताः, एष आत्माऽपहतपाप्मा' इति हि प्रकृतं द्यावापृथिव्यादिसमा-

भाष्यका अनुवाद

परन्तु यह भी अन्दर रहनेवाली वस्तुके सद्भावप्रदर्शनके लिए ही दिखलाया गया है, क्योंकि 'तं चेद् ब्रूयुर्यदिदमस्मिन्०' (यदि शिष्य आचार्यसे पूछें कि इस ब्रह्मपुरमें जो अल्प पुण्डरीकवेश्म है, उसमें अल्प अन्तराकाश है, उसमें वह क्या है कि जो अन्वेषण करने योग्य हैं और विशेषरूपसे जिज्ञासा करने योग्य है) ऐसा आक्षेप करके परिहार करते समय उपक्रममें आकाशकी उपमा देकर स्वर्ग, पृथिवी आदि उसमें स्थित हैं, ऐसा दिखलाया है। नहीं, ऐसा नहीं है। यदि ऐसा होता, तो स्वर्ग पृथिवी आदि जो अन्दर स्थित हैं, उनका अन्वेषण करना चाहिए और विशेषरूपसे जिज्ञासा करनी चाहिए, ऐसा अर्थ होता। ऐसी स्थितिमें वाक्यशेष संगत नहीं होगा। 'अस्मिन् कामाः०' (इसमें अभिलाषाएँ अन्तर्हित हैं) 'एष आत्मा०' (यह आत्मा पापविमुक्त है) इस

रत्नप्रभा

उत्तरत्र आकाशस्वरूपप्रतिपादनान्यथानुपपत्त्या पूर्वं तस्याऽन्वेष्यत्वादिकमित्यत्राऽन्यथोपपत्तिं शङ्कते—नन्विति । एतद् आकाशस्वरूपमाक्षेपबीजमाकाशस्याऽल्पत्वमुपमया निरस्याऽन्तःस्थवस्तूक्तेः तदन्तःस्थमेव ध्येयमित्यर्थः । तर्हि जगदेव ध्येयं स्याद् इत्याह—नैतदेवमिति । अस्तु को दोषः, तत्राह—

रत्नप्रभाका अनुवाद

आगे आकाशके स्वरूपका प्रतिपादन किया है, वह आकाशको ज्ञेय कहनसे ही उपपन्न होता है अन्यथा उपपन्न नहीं होता, इस कारण पहले आकाशको अन्वेष्य कहना चाहिए, इस विषयमें उस प्रतिपादनकी अन्यथा भी उपपत्ति हो सकती है, ऐसी शङ्का करते हैं—"ननु" इत्यादिसे। 'यह'—आकाशस्वरूप। तात्पर्य यह कि आक्षेपके कारणभूत आकाशके अल्पत्वका सादृश्य-प्रदर्शनपूर्वक निरसन करके आकाशके अन्दर रहनेवाला पदार्थ कहा गया है, अतः वह अन्तःस्थ ही ध्येय है। तब जगत् ही ध्येय होगा, ऐसा

भाष्य

धानाधारमाकाशमाकृष्य 'अथ य इहात्मानमनुविद्य व्रजन्त्येतांश्च सत्यान् कामान्' इति समुच्चयार्थेन चशब्देनाऽऽत्मानं कामाधारमाश्रितांश्च कामान् विज्ञेयान् वाक्यशेषो दर्शयति। तस्माद्वाक्योपक्रमेऽपि दहर एवाऽऽकाशो हृदयपुण्डरीकाधिष्ठानः सहान्तःस्थैः समाहितैः पृथिव्यादिभिः सत्यैश्च कामैर्विज्ञेय उक्त इति गम्यते। स चोक्तेभ्यो हेतुभ्यः परमेश्वर इति स्थितम् ॥ १४ ॥

भाष्यका अनुवाद

प्रकार प्रकृत स्वर्ग, पृथिवी आदि जिसमें स्थित हैं, उस आकाशकी अनुवृत्ति करके 'अथ य इहात्मान०' (यहां जो आत्माका और इन सत्य कामोंका आचार्यके उपदेशानुसार ध्यानसे अनुभव करके परलोकमें जाते हैं) इस प्रकार वाक्यशेष समुच्चयवाचक 'च' शब्दसे कामोंके आधार आत्माको और उसके आश्रित कामोंको विज्ञेयरूपसे दिखलाता है। इससे प्रतीत होता है कि वाक्यके उपक्रममें भी हृदयकमल जिसका अधिष्ठान है, वह दहराकाश ही अन्दर रहनेवाले पृथिवी आदिके साथ और सत्य कामोंके साथ विज्ञेयरूपसे कहा गया है। उक्त हेतुओंसे सिद्ध होता है कि दहराकाश परमेश्वर ही है ॥१४॥

रत्नप्रभा

तत्रेति। सर्वनामभ्यां दहराकाशमाकृष्यात्मत्वादिगुणानुक्त्वा गुणैस्सह तस्यैव ध्येयत्वं वाक्यशेषो ब्रूते, तद्विरोध इत्यर्थः। "तस्मिन्यदन्तः" (छा० ८।१।१) इति तत्पदेन व्यवहितमपि हृदयं योग्यतया ग्राह्यमित्याह—तस्मादिति। यद्वा, आकाशः तस्मिन् यदन्तस्तदुभयमन्वेष्टव्यमिति योजनां सूचयति—सहान्तःस्थैरिति ॥ १४ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

कहते हैं—"नैतदेवम्" इत्यादिसे। ऐसा हो, क्या दोष है, इसपर कहते हैं—"तत्र" इत्यादि। तात्पर्य यह कि सर्वनामोंसे ('अस्मिन्' और 'एषः' इन सर्वनामोंसे) दहराकाशकी अनुवृत्ति करके आत्मत्व आदि गुणोंको कहकर गुणोंके साथ वही ध्येय है, ऐसा वाक्यशेष कहता है, उससे विरोध होगा। 'तस्मिन् यदन्तः' इसमें 'तद्' शब्दसे यद्यपि हृदय व्यवहित है, तो भी उसीका योग्यतासे ग्रहण करना चाहिए, ऐसा कहते हैं—"तस्माद्" इत्यादिसे। अथवा आकाश और उसके अन्दर जो है, उन दोनोंका अन्वेषण करना चाहिए, इस योजनाको सूचित करते हैं—"सहान्तःस्थैः" इत्यादिसे ॥ १४ ॥

गतिशब्दाभ्यां तथाहि दृष्टं लिङ्गं च ॥ १५ ॥

पदच्छेद—गतिशब्दाभ्याम्, तथाहि, दृष्टम्, लिङ्गम्, च ।

पदार्थोक्ति—गतिशब्दाभ्यां—'इमाः सर्वाः प्रजा अहरहर्गच्छन्त्य एतं ब्रह्मलोकं न विन्दन्ति' इति दहरवाक्यशेषोक्तप्रत्यहगमनब्रह्मलोकशब्दाभ्यां [प्रतीयते दहरः ब्रह्मैवेति, किञ्च] तथाहि दृष्टम्—'सता सोम्य तदा सम्पन्नो भवति' इति दृष्टं श्रुत्यन्तरे । लिङ्गं च—प्रत्यहं हिरण्यगर्भलोकगमनासम्भवाद् ब्रह्मैव लोक इति सामानाधिकरण्यपरिग्रहे अहरहर्गमनं निषादस्थपतिन्यायश्च हेतुः ।

भाषार्थ—इमाः सर्वाः प्रजाः' (ये सब जीव इस हृदयाकाशरूप ब्रह्मलोकमें प्रतिदिन जाते हैं, परन्तु उसको जानते नहीं हैं) इस दहरवाक्यके शेषमें कथित प्रति दिन गमन और ब्रह्मलोकशब्दसे मालूम होता है कि दहर ब्रह्म ही है । और 'सता सोम्य०' (हे शुभदर्शन ! सुषुप्तिकालमें जीव ब्रह्ममें संपन्न हो जाता है) इस प्रकार अन्य श्रुति भी जीवगम्यको ब्रह्म कहती है । 'ब्रह्मलोक' पदमें 'ब्रह्मका लोक' ऐसा षष्ठीसमास नहीं है, किन्तु 'ब्रह्म ही लोक' ऐसा सामानाधिकरण्य ही है, क्योंकि प्रतिदिन गमन श्रुतिमें प्रतिपादित है, हिरण्यगर्भके लोकमें जीव प्रतिदिन नहीं जा सकता । और निषादस्थपतिन्यायसे भी सिद्ध होता है कि 'ब्रह्मलोक' पदमें सामानाधिकरण्य है ।

भाष्य

दहरः परमेश्वर उत्तरेभ्यो हेतुभ्य इत्युक्तम् । त एवोत्तरे हेतव इदानीं प्रपञ्च्यन्ते । इतश्च परमेश्वर एव दहरः, यस्माद् दहरवाक्यशेषे परमेश्वरस्यैव प्रतिपादकौ गतिशब्दौ भवतः—'इमाः सर्वाः प्रजा अहर-

भाष्यका अनुवाद

वाक्यशेषगत हेतुओंसे दहर परमेश्वर ही है, ऐसा कहा गया है। अब उन्हीं हेतुओंका विस्तारपूर्वक वर्णन किया जाता है । इससे भी दहर परमेश्वर ही है, क्योंकि वाक्यशेषमें उक्त गति और शब्द परमेश्वरके ही प्रतिपादक हैं—

रत्नप्रभा

दहराकाशस्य ब्रह्मत्वे हेत्वन्तरमाह—**गतीति** । प्रजा जीवा एतं हृदयस्थं

रत्नप्रभाका अनुवाद

दहराकाश ब्रह्म ही है इस विषयमें दूसरे हेतु दर्शाते हैं—"गति" इत्यादिसे । स्वापकालमें

भाष्य

हर्गच्छन्त्य एतं ब्रह्मलोकं न विन्दन्ति' (छा० ८।३।२) इति। तत्र प्रकृतं दहरं ब्रह्मलोकशब्देनाऽभिधाय तद्विषया गतिः प्रजाशब्दवाच्यानां जीवानामभिधीयमाना दहरस्य ब्रह्मतां गमयति। तथाह्यहरहर्जीवानां सुषुप्तावस्थायां ब्रह्मविषयं गमनं दृष्टं श्रुत्यन्तरे—'सता सोम्य तदा सम्पन्नो भवति' (छा० ६।८।१) इत्येवमादौ। लोकेऽपि किल गाढं सुषुप्तमाचक्षते—'ब्रह्मीभूतो ब्रह्मतां गतः' इति। तथा ब्रह्मलोकशब्दोऽपि प्रकृते दहरे प्रयुज्यमानो जीवभूताकाशशङ्कां निवर्तयन् ब्रह्मतामस्य गमयति।

भाष्यका अनुवाद

'इमाः सर्वाः प्रजा०' (ये सब प्रजाएँ इस हृदयाकाशसंज्ञक ब्रह्मलोकमें सुषुप्तिकालमें प्रतिदिन जाती हैं, किन्तु उसको जानती नहीं हैं)। इसमें प्रकृत दहरका ब्रह्मलोकशब्दसे अभिधान कर उसमें प्रजाशब्दवाच्य जीवोंकी जो गति कही गई है, वह 'दहर ब्रह्म है' ऐसी प्रतीति कराती है, क्योंकि प्रतिदिन सुषुप्ति अवस्थामें जीवोंका ब्रह्ममें जाना दूसरी श्रुतिमें देखा जाता है—'सता सोम्य०' (हे सोम्य ! जब जीव सोता है, तब ब्रह्मके साथ एकीभूत होता है) इत्यादि। व्यवहारमें भी गाढ़ सुप्त पुरुष ब्रह्मीभूत, ब्रह्मताको प्राप्त हुआ कहा जाता है। उसी प्रकार प्रकृत दहरमें प्रयुक्त हुआ ब्रह्मलोकशब्द भी दहरमें जीव और

रत्नप्रभा

दहरं ब्रह्मस्वरूपं लोकम् अहरहः प्रत्यहं स्वापे गच्छन्त्यः तदात्मना स्थिता अप्यनृताज्ञानेनाऽऽवृताः तं न जानन्ति, अतः पुनरुत्तिष्ठन्ति इत्यर्थः। नन्वेतत्पदपरामृष्टदहरस्य स्वापे जीवगम्यत्वेऽपि ब्रह्मत्वे किमायातमित्याशङ्क्य तथाहि दृष्टमिति व्याचष्टे—**तथाहीति**। लोकेऽपि दृष्टमित्यर्थान्तरमाह—**लोकेऽपीति**। गतिलिङ्गं व्याख्याय शब्दं व्याचष्टे—**तथेति**। जीवभूताकाशयोः ब्रह्मलोकशब्दस्य

रत्नप्रभाका अनुवाद

यद्यपि सब जीव हृदयकमलके अन्दर रहनेवाले दहराकाशसंज्ञक ब्रह्मरूप लोकको प्राप्त होकर तद्रूप हो जाते हैं, तो भी अनादि अविद्यारूप अन्धकारसे आवृत होनेके कारण उसको कोई नहीं जान पाते, इससे पुनः जागते हैं, यह श्रुतिका अर्थ है। 'एतं ब्रह्मलोकम्' में 'एतत्' पदसे परामृष्ट दहरमें स्वापकालमें जीव जावें, किन्तु इस कथनसे 'वह ब्रह्म है' यह कैसे सिद्ध हुआ ऐसी शङ्का करके सूत्रगत 'तथाहि दृष्टम्' का व्याख्यान करते हैं—"तथाहि" इत्यादिसे। 'तथाहि दृष्टम्' का लोकमें भी देखा गया है, ऐसा दूसरा अर्थ करते हैं—"लोकेऽपि" इत्यादिसे। गतिरूप लिङ्गकी व्याख्या करके शब्दकी व्याख्या करते हैं—"तथा" इत्यादिसे। तात्पर्य यह कि जीव और भूताकाशमें

भाष्य

ननु कमलासनलोकमपि ब्रह्मलोकशब्दो गमयेत्, गमयेद्यदि ब्रह्मणो लोक

भाष्यका अनुवाद

भूताकाशकी आशङ्काको निवृत्त करके 'दहर ब्रह्म है' ऐसी अवगति कराता है। परन्तु ब्रह्मलोकशब्द तो हिरण्यगर्भलोककी भी अवगति कराता है। हां, अवश्य

रत्नप्रभा

अप्रसिद्धेरिति भावः। ब्रह्मणि अपि तस्य अप्रसिद्धिं शङ्कते—नन्विति। निषाद-स्थपतिन्यायेन समाधत्ते—गमयेदिति। षष्ठे चिन्तितम् "स्थपतिर्निषादः

रत्नप्रभाका अनुवाद

ब्रह्मलोकशब्दका प्रयोग प्रसिद्ध न होनेके कारण जीव और भूताकाश दहर नहीं हैं। ब्रह्ममें भी ब्रह्मलोकशब्द अप्रसिद्ध है, ऐसी शङ्का करते हैं—"नन्नु" इत्यादिसे। निषादस्थपतिन्यायसे इसका समाधान करते हैं—"गमयेद्" इत्यादिसे। मीमांसादर्शनके छठे अध्यायमें इसका विचार किया गया है—'स्थपतिर्निषादः०' (स्थपति निषाद है, क्योंकि निषादशब्दकी शक्ति निषादमें

(१) वास्तुप्रकरणमें रौद्रेष्टिका विधान है, जिससे रुद्र सन्तुष्ट होकर प्रजाओंको शान्ति देता है। उसमें कहा है—'एतया निषादस्थपतिं याजयेत्' (निषादस्थपतिसे रौद्रेष्टि करानी चाहिए)। इस वाक्यमें संशय होता है कि निषादस्थपति कौन है? यज्ञमें अधिकृत त्रैवर्णिकोंमेंसे कोई है अथवा उनसे भिन्न निषाद है?

पूर्वपक्षी कहता है कि त्रैवर्णिकोंमेंसे अन्यतम है, क्योंकि विद्वत्ता और अग्नि होनेके कारण वह समर्थ है। अतः 'निषादस्थपति' शब्दसे 'निषादोंका स्थपति' इस षष्ठी समासद्वारा त्रैवर्णिकका ही ग्रहण करना चाहिए। स्थपति—स्वामी।

सिद्धान्ती कहते हैं कि स्थपति निषाद ही है, क्योंकि निषादशब्द निषादमें शक्त है। 'निषादों-का स्थपति' यह अर्थ तो लक्षणासे करना पड़ता है। शक्ति और लक्षणामेंसे जब शक्तिसे अर्थ उपपन्न हो रहा है तब लक्षणासे अर्थ करना ठीक नहीं है। यदि कोई कहे कि 'निषाद' शब्दका अर्थ निषाद ही है, षष्ठीका अर्थ संबन्ध है, अतः 'निषाद' पदकी लक्षणाकी आवश्यकता नहीं है, यह कथन युक्त नहीं है, क्योंकि षष्ठीका श्रवण नहीं है। यदि कोई कहे कि यहां षष्ठीका लोप हुआ है, लोपसामर्थ्यसे अर्थका ज्ञान होता है। ठीक है, अर्थका ज्ञान तो होता है, परन्तु लोपसामर्थ्यसे नहीं होता है, किन्तु 'निषाद' शब्दकी लक्षणासे होता है। और यह पहले ही कह दिया है कि लक्षणासे अर्थ करना ठीक नहीं है। समानाधिकरण समास तो बलवान् है, क्योंकि किसी पदकी लक्षणा नहीं करनी पड़ती है। 'निषादस्थपति' में जो द्वितीयाविभक्ति है, वह निषाद और स्थपति, इन दोनों पदोंसे सबन्ध रखती है। इससे निषादाभिन्न स्थपतिसे याग कराना चाहिए, यह अर्थ होता है। अतः निषाद ही स्थपति है। और रौद्रेष्टिमें दक्षिणाप्रकरणमें कहा है 'कूटं दाक्षिणा' (दक्षिणारूपमें लोहमुद्गर देना चाहिए) लोहमुद्गर निषादोंका उपकारक पदार्थ है, यह उन्हींके पास रहता है, त्रैवर्णिकोंके पास उसके रहनेकी आवश्यकता नहीं है। इससे भी सिद्ध होता है कि निषाद ही रौद्रेष्टिमें अधिकारी माना गया है। यह निषादस्थपतिन्याय कहलाता है।

भाष्य

इति षष्ठीसमासवृत्त्या व्युत्पाद्येत। सामानाधिकरण्यवृत्त्या तु व्युत्पाद्यमानो ब्रह्मैव लोको ब्रह्मलोक इति परमेव ब्रह्म गमयिष्यति। एतदेव चाऽहरहर्ब्रह्मलोकगमनं दृष्टं ब्रह्मलोकशब्दस्य सामानाधिकरण्यवृत्तिपरिग्रहे लिङ्गम्। नह्यहरहरिमाः प्रजाः कार्यब्रह्मलोकं सत्यलोकाख्यं गच्छन्तीति शक्यं कल्पयितुम् ॥ १५ ॥

भाष्यका अनुवाद

करा सकता है, यदि 'ब्रह्मका लोक' इस प्रकार षष्ठीसमाससे यह शब्द व्युत्पन्न किया जाय। किन्तु 'ब्रह्मरूप जो लोक वह ब्रह्मलोक है' इस प्रकार सामानाधिकरण्यव्युत्पत्तिसे व्युत्पन्न हुआ ब्रह्मलोकशब्द परब्रह्मका ही बोध कराता है। प्रतिदिन ब्रह्मलोक गमन ही ब्रह्मलोकशब्दकी सामानाधिकरण्यव्युत्पत्ति माननेमें हेतु है। प्रतिदिन ये जीव सत्यलोकसंज्ञक कार्यब्रह्मलोकमें जाते हैं, ऐसी कल्पना नहीं की जा सकती ॥ १५ ॥

रत्नप्रभा

स्याच्छब्दसामर्थ्यात्" (जै० सू० ६।१।५१) रौद्रीमिष्टिं विधाय एतया निषादस्थपतिं याजयेदिति आम्नायते। तत्र निषादानां स्थपतिः स्वामी इति षष्ठीसमासेन त्रैवर्णिको ग्राह्यः, अग्निविद्यादिसामर्थ्यात्। न तु निषादश्चासौ स्थपतिरिति कर्मधारयेण निषादो ग्राह्यः, असामर्थ्यादिति प्राप्ते सिद्धान्तः—निषाद एव स्थपतिः स्यात्, निषादशब्दस्य निषादे शक्तत्वात्। तस्य अश्रुतषष्ठ्यर्थसम्बन्धलक्षकत्वकल्पनायोगात् श्रुतद्वितीयाविभक्तेः पूर्वपदसम्बन्धकल्पनायां लाघवात्, अतो निषादस्य इष्टिसामर्थ्यमात्रं कल्प्यमिति। तद्वद् ब्रह्मलोकशब्दे कर्मधारय इत्यर्थः। कर्मधारये लिङ्गं चास्तीति व्याचष्टे—एतदेवेति। सूत्रे चकार उक्तन्यायसमुच्चार्थः ॥ १५ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

है) इस सूत्रमें। रुद्रदेवताक इष्टि करके 'एतया निषाद०' (इससे निषादस्थपतिको यज्ञ करावे) ऐसी श्रुति है। इसमें 'निषादानां०' अर्थात् निषादोंका स्वामी ऐसा षष्ठीसमास मानकर त्रैवर्णिकका ग्रहण करना चाहिए, क्योंकि उसमें अग्नि, विद्या आदि सामर्थ्य है, परन्तु निषादरूप स्थपति-यह अर्थ नहीं मानना चाहिए, क्योंकि उसमें सामर्थ्य नहीं है ऐसा प्राप्त होनेपर सिद्धान्त किया है कि निषादरूप स्थपतिका ही ग्रहण करना चाहिए क्योंकि निषादशब्द निषादरूप अर्थमें रूढ़ है। जो षष्ठीविभक्ति अश्रुत है, उसके अर्थ-संबन्धका 'निषाद' पद लक्षक है, यह कल्पना ठीक नहीं है। जो द्वितीयाविभक्ति श्रुत है, उसका पूर्वपदके साथ संबन्ध माननेमें लाघव है। इसलिए इष्टिमें निषादके अधिकारमात्रकी कल्पना करनी ठीक है। उसी प्रकार ब्रह्मलोकशब्दमें कर्मधारय है और कर्मधारयसमास माननेमें हेतु भी है ऐसा कहते हैं—"एतदेव" इत्यादिसे। सूत्रगत चकार उक्त (निषादस्थपति) न्यायका समुच्चायक है ॥ १५ ॥

धृतेश्च महिम्नोऽस्यास्मिन्नुपलब्धेः ॥ १६ ॥

पदच्छेद—धृतेः, च, महिम्नः, अस्य, अस्मिन्, उपलब्धेः ।

पदार्थोक्ति—धृतेश्च—'अथ य आत्मा स सेतुर्विधृतिः' इति श्रुताया धृतेरपि हेतोः दहराकाशः परमात्मैव, अस्य महिम्नः—अस्य च सर्वलोक-विधारणलक्षणमहिम्नः, अस्मिन्—परमात्मनि, उपलब्धेः—'एष भूतपाल एष सेतुर्विधरणः' इत्यादिश्रुत्यन्तरेऽप्युपलब्धेः [अत्र धृतिः परमात्मन एव] ।

भाषार्थ—'अथ य आत्मा०' (उक्तलक्षण जो आत्मा है, वह सेतु है, सबका धारण करनेवाला है) इत्यादि श्रुतिमें उक्त धृतिरूप कारणसे भी प्रतीत होता है कि दहर परमात्मा ही है । सब लोकोंको धारण करना, यह महिमा 'एष भूतपालः०' (यह परमात्मा भूतोंका पालक है, सेतु है, सबको धारण करनेवाला है) इत्यादि दूसरी श्रुतिसे भी परमात्मामें ही है, ऐसा मालूम होता है, अतः यहां-पर भी धृति परमात्माकी ही है ।

भाष्य

धृतेश्च हेतोः परमेश्वर एवाऽयं दहरः । कथम् ? 'दहरोऽस्मिन्नन्तरा-काशः' इति हि प्रकृत्याऽऽकाशौपम्यपूर्वकं तस्मिन् सर्वसमाधानमुक्त्वा तस्मिन्नेव चाऽऽत्मशब्दं प्रयुज्याऽपहतपाप्मत्वादिगुणयोगं चोपदिश्य

भाष्यका अनुवाद

धृतिरूप हेतुसे भी दहर परमेश्वर ही है, क्योंकि 'दहरोऽस्मिन्न०' (इसमें दहर अन्तराकाश है) इस तरह आरम्भ करके आकाशके साथ सादृश्य दिखा-कर, उसमें सब वस्तुएँ प्रतिष्ठित हैं, यह कहकर, उसीमें आत्मशब्दका प्रयोग करके,

---

रत्नप्रभा

सर्वजगद्धारणलिङ्गाच्च दहरः पर इत्याह—धृतेरिति । ननु अथशब्दाद् दहरप्रकरणं विच्छिद्य श्रुता धृतिर्न दहरलिङ्गमिति शङ्कते—कथमिति । य आत्मेति

रत्नप्रभाका अनुवाद

सर्वजगत्धारणकर्तृत्वरूप लिङ्गसे भी दहर परमात्मा ही है, ऐसा कहते हैं—"धृतेः" इत्यादिसे । परन्तु श्रुतिमें 'अथ' शब्दसे सूचित दहरप्रकरणकी समाप्तिके बाद जो धृति कही गई है, वह 'दहर परमात्मा है' इस विषयमें लिङ्ग नहीं हो सकती है, ऐसी शङ्का करते हैं—"कथम्" से । 'य आत्मा' इस प्रकार प्रकृतकी ही अनुवृत्ति की गई है, इसलिए 'अथ' शब्द

भाष्य

तमेवाऽनतिवृत्तप्रकरणं निर्दिशति—'अथ य आत्मा स सेतुर्विधृतिरेषां लोकानामसम्भेदाय' (छा० ८।४।१) इति । तत्र विधृतिरित्यात्मशब्द-सामानाधिकरण्याद् विधारयिता उच्यते, क्तिचः कर्तरि स्मरणात् । यथो-दकसन्तानस्य विधारयिता लोके सेतुः क्षेत्रसम्पदामसम्भेदाय, एवमयमा त्मैषामध्यात्मादिभेदभिन्नानां लोकानां वर्णाश्रमादीनां च विधारयिता सेतुरसम्भेदायाऽसंकरायेति । एवमिह प्रकृते दहरे विधरणलक्षणं महि-

भाष्यका अनुवाद

पापराहित्य आदि गुणोंका संबन्ध दिखाकर प्रकरण समाप्त होनेके पहले उसीका अथ य आत्मा०' (जो आत्मा है, वह सेतु है, इन लोकोंकी मर्यादाका साङ्कर्य न हो, इसलिए सबका विधारक है) इस प्रकार श्रुति निर्देश करती है । उसीमें विधृतिशब्दका आत्मशब्दके साथ सामानाधिकरण्य होनेसे 'विधारण करने-वाला' ऐसा अर्थ है, क्योंकि 'क्तिच्' प्रत्ययका कर्ताके अर्थमें विधान है । जैसे उदकसन्तान[1]का विधारण करनेवाला सेतु लोकमें क्षेत्रसंपत्तिका मिश्रण न होनेके लिए है, उसी प्रकार यह आत्मा अध्यात्म आदि भेदसे भिन्न लोकोंका और वर्ण, आश्रम आदिका विधारण करनेवाला सेतु असम्भेदके लिए—सङ्कर न होनेके लिए है । इस प्रकार यहां प्रकृत दहरमें विधारणरूप महिमा श्रुति दिखलाती है

रत्नप्रभा

प्रकृतापकर्षादथशब्दो दहरस्य धृतिगुणविधिप्रारम्भार्थ इत्याह—दहरोऽस्मिन्नि-त्यादिना । श्रुतौ विधृतिशब्दः कर्तृवाचित्वात् क्तिजन्तः । सूत्रे तु महिम-शब्दसामानाधिकरण्याद् धृतिशब्दः क्तिन्नन्तो विधारणं ब्रूते । "स्त्रियां क्तिन्" (पा०सू०३।३।९४) इति भावे क्तिनो विधानादिति विभागः । सेतुः असङ्करहेतुः, विधृतिस्तु स्थितिहेतुरित्यपौनरुक्त्यमाह—यथोदकेति । सूत्रं योजयति—

रत्नप्रभाका अनुवाद

दहरमें धृतिरूप गुणविधानका प्रारम्भवाचक है, ऐसा कहते हैं—"दहरोऽस्मिन्" इत्यादिसे । श्रुतिमें 'विधृति' शब्द कर्तृवाचक है, इसलिए 'क्तिच्' प्रत्ययान्त है । सूत्रमें तो 'महिम' शब्दके साथ सामानाधिकरण्य होनेसे 'धृति' शब्द 'क्तिन्' प्रत्ययान्त है और विधारण-वाचक है, क्योंकि 'स्त्रियां क्तिन्' इससे भावमें 'क्तिन्' प्रत्ययका विधान है । सेतु असङ्करका कारण अर्थात् मिश्रण न हो, उसमें कारण है और विधृति स्थितिका हेतु है, इस प्रकार पुनरुक्ति नहीं है,

(१) जलका अविच्छिन्न प्रवाह ।

भाष्य

मानं दर्शयति। अयं च महिमा परमेश्वर एव श्रुत्यन्तरादुपलभ्यते, 'एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठतः' इत्यादेः। तथाऽन्यत्राऽपि निश्चिते परमेश्वरवाक्ये श्रूयते—'एष सर्वेश्वर एष भूताधिपतिरेष भूतपाल एष सेतुर्विधरण एषां लोकानामसम्भेदाय' इति। एवं धृतेश्च हेतोः परमेश्वर एवाऽयं दहरः॥ १६॥

भाष्यका अनुवाद

और यह महिमा 'एतस्य वा अक्षरस्य०' (हे गार्गि! इसी अक्षरकी आज्ञामें सूर्य और चन्द्रमा हैं, उनका यही विधारक है) इत्यादि दूसरी श्रुतिसे परमेश्वरमें ही उपलब्ध होती है। इसी प्रकार दूसरे स्थलपर 'एष सर्वेश्वर एष०' (यही सर्वेश्वर है, भूतोंका पालक है, सेतु है, इन लोकोंकी मर्यादाका संकर न हो, इसलिए विधारक है) इत्यादि असन्दिग्ध परमेश्वरवाक्यमें सुना जाता है। इस प्रकार सिद्ध हुआ कि धृतिरूप हेतुसे दहर परमेश्वर ही है॥ १६॥

रत्नप्रभा

एवमिहेति। धृतेश्च दहरः परः अस्य धृतिरूपस्य नियमनस्य च महिम्नः अस्मिन् परमात्मन्येव श्रुत्यन्तरे उपलब्धेरिति सूत्रार्थः। धृतेश्चेति चकारात् सेतुपदोक्त-नियामकत्वलिङ्गं ग्राह्यम्। तत्र नियमने श्रुत्यन्तरोपलब्धिमाह—इतरेति। धृतौ तामाह—तथेति॥ १६॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

ऐसा कहते हैं—"यथोदक" इत्यादिसे। सूत्रकी योजना करते हैं—"एवमिह" इत्यादिसे। धृतिसे दहर परमात्मा है, क्योंकि यह धृतिरूप नियमन जो महिमा है उसकी इस परमात्मामें ही दूसरी श्रुतिमें उपलब्धि है ऐसा सूत्रार्थ है। 'धृतेश्च' में चकारसे सेतुपदसे उक्त नियाम-कत्वरूप लिङ्गका भी ग्रहण करना चाहिए। इस नियमनके लिए दूसरी श्रुति है, ऐसा कहते हैं—"एतस्य" इत्यादिसे। धृतिमें अन्य श्रुति कहते हैं—"तथा" इत्यादिसे॥१६॥

प्रसिद्धेश्च ॥ १७ ॥

पदच्छेद—प्रसिद्धेः, च ।

पदार्थोक्ति—प्रसिद्धेः—'आकाशो वै नाम नामरूपयोर्निर्वहिता' इत्यादि-श्रुतौ आकाशशब्दस्य परमात्मन्येव प्रसिद्धेः, च—अपि [दहराकाशः परमात्मैव] ।

भाषार्थ—'आकाशो वै०' (प्रसिद्ध आकाश ही नाम और रूपका निर्माण करनेवाला है) इत्यादि श्रुतिमें आकाशशब्द परमात्मामें ही रूढ़ है, इससे भी प्रतीत होता है, कि दहराकाश परमात्मा ही है ।

भाष्य

इतश्च परमेश्वर एव 'दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशः' इत्युच्यते । यत्कारण-माकाशशब्दः परमेश्वरे प्रसिद्धः । आकाशो वै नाम नामरूपयोर्निर्व-हिता' (छा० ८।१४।१), 'सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्याकाशादेव समुत्प-द्यन्ते' (छा० १।९।१) इत्यादिप्रयोगदर्शनात् । जीवे तु न क्वचिदाकाश-शब्दः प्रयुज्यमानो दृश्यते । भूताकाशस्तु सत्यामप्याकाशशब्दप्रसिद्धा-वुपमानोपमेयभावाद्यसम्भवान्न ग्रहीतव्य इत्युक्तम् ॥ १७ ॥

भाष्यका अनुवाद

वक्ष्यमाण हेतुसे भी 'दहरोऽस्मि०' इस वाक्यमें परमेश्वर ही कहा गया है, क्योंकि 'आकाशो वै नाम०' (श्रुतियोंमें आकाशनामसे प्रसिद्ध आत्मा नाम और रूपका निर्माण करनेवाला है) 'सर्वाणि ह वा०' (ये सब भूत आकाशसे ही उत्पन्न होते हैं) इत्यादि प्रयोगोंको देखनेसे मालूम होता है कि आकाशशब्द परमेश्वरका वाचक है । जीवके लिए तो आकाशशब्दका प्रयोग किसी स्थलपर भी देखनेमें नहीं आता । यद्यपि भूताकाशमें आकाशशब्दकी प्रसिद्धि है, तो भी उपमानोपमेयभाव आदिके असामञ्जस्यसे उसका ग्रहण करना उचित नहीं है, ऐसा पीछे (१४ वें सूत्रमें) कहा गया है ॥ १७ ॥

रत्नप्रभा

प्रसिद्धेश्च । आ समन्तात् काशते दीप्यत इति स्वयंज्योतिषि ब्रह्मण्या-काशशब्दस्य विभुत्वगुणतो वा प्रसिद्धिः प्रयोगप्राचुर्यम् ॥ १७ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

चारों ओर जो प्रकाशित होता है, वह आकाश है, इस व्युत्पत्तिसे अथवा विभुत्वगुणसे स्वयंज्योति ब्रह्ममें आकाशशब्दकी प्रसिद्धि—प्रयोगबाहुल्य है ॥ १७ ॥

इतरपरामर्शात् स इति चेन्नासम्भवात् ॥ १८ ॥

पदच्छेद—इतरपरामर्शात्, सः, इति, चेत्, न, असम्भवात्।

पदार्थोक्ति—इतरपरामर्शात्—'एष सम्प्रसादः' इति सम्प्रसादशब्देन अस्मिन् प्रकरणे इतरस्य—जीवस्य परामर्शात्, सः—जीवः [दहराकाशः] इति चेत्, न, असम्भवात्—आकाशोपमेयत्वापहतपाप्मत्वादिधर्माणां जीवेऽसम्भवात्।

भाषार्थ—'एष सम्प्रसादः' इस प्रकार इस प्रकरणमें सम्प्रसादशब्दसे जीवका परामर्श होता है, इसलिए जीव दहराकाश है, यह कथन युक्त नहीं है, क्योंकि आकाशका उपमेय होना, पापरहित होना आदि धर्म जीवमें सम्भव नहीं हैं।

—०—

भाष्य

यदि वाक्यशेषबलेन दहर इति परमेश्वरः परिगृह्येताऽस्ति हीतरस्याऽपि जीवस्य वाक्यशेषे परामर्शः—'अथ य एष सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरात् समुत्थाय परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाऽभिनिष्पद्यत एष आत्मेति होवाच' (छा० ८।३।४) इति। अत्र हि सम्प्रसादशब्दः श्रुत्यन्तरे सुषुप्ता-

भाष्यका अनुवाद

वाक्यशेषके बलसे यदि यह स्वीकार किया जाय कि दहरशब्दसे परमेश्वरका ग्रहण है तो 'अथ य एष सम्प्रसादो०' (जो यह जीव इस शरीरसे उठकर पर ज्योति प्राप्त करके अपने स्वरूपसे अभिव्यक्त होता है, वह आत्मा है, ऐसा प्रजापतिने कहा है) इस वाक्यशेषमें दूसरेका अर्थात् जीवका भी परामर्श होता है।

रत्नप्रभा

यदि "एष आत्माऽपहतपाप्मा" (छा० ८।१।५) इत्यादिवाक्यशेषबलेन दहरः परः, तर्हि जीवोऽपीत्याशङ्क्य निषेधति—इतरेति। जीवस्याऽपि वाक्यशेषमाह—अथेति। दहरोक्त्यनन्तरं मुक्तोपसृप्यं शुद्धं ब्रह्म उच्यते। य एष सम्प्रसादः—

रत्नप्रभाका अनुवाद

'एष आत्मा०' (यह आत्मा है, पापविमुक्त है) इत्यादि वाक्यशेषके बलसे यदि दहर परमात्मा है, तो जीव भी है, ऐसी आशङ्का करके निषेध करते हैं—"इतर" इत्यादिसे। जीवके प्रतिपादक वाक्यशेषको दिखलाते हैं—"अथ" इत्यादिसे। दहरके कथनके अनन्तर मुक्तोंसे गम्य शुद्ध ब्रह्म कहा गया है। जो यह सम्प्रसाद—जीव है, वह इस

भाष्य

वस्थायां दृष्टत्वात् तदवस्थावन्तं जीवं शक्नोत्युपस्थापयितुम्, नार्थान्तरम्। तथा शरीरव्यपाश्रयस्यैव जीवस्य शरीरात् समुत्थानं सम्भवति। यथाऽऽकाशव्यपाश्रयाणां वाय्वादीनामाकाशात् समुत्थानं तद्वत्। यथा चाऽदृष्टोऽपि लोके परमेश्वरविषय आकाशशब्दः परमेश्वरधर्मसमभिव्याहारात्

भाष्यका अनुवाद

दूसरी श्रुतिमें सम्प्रसादशब्दका सुषुप्ति-अवस्थारूप अर्थमें प्रयोग है, इसलिए वह यहां उस अवस्थावाले जीवको ही जता सकता है, दूसरेको नहीं जता सकता। जैसे आकाशमें रहनेवाले वायु आदिका आकाशसे निकलना सम्भव है, उसी प्रकार शरीरमें रहनेवाले जीवका शरीरसे उठना सम्भव है। जैसे लोकव्यवहारमें आकाशशब्दका परमेश्वरमें प्रयोग न दिखाई देने पर भी 'आकाशो

रत्नप्रभा

जीवः, अस्मात्—कार्यकरणसंघातात् सम्यग् उत्थाय—आत्मानं तस्माद् विविच्य विविक्तम् आत्मानं स्वेन ब्रह्मरूपेण अभिनिष्पद्य—साक्षात्कृत्य तदेव प्रत्यक् परं ज्योतिः उपसम्पद्यते—प्राप्नोतीति व्याख्येयम्। यथा मुखं व्यादाय स्वपितीति वाक्यं सुप्त्वा मुखं व्यादत्ते इति व्याख्यायते तद्वत्। ज्योतिषोऽनात्मत्वं निरस्यति—एष इति। "सम्प्रसादे रत्वा चरित्वा" (बृ० ४।३।४५) इति श्रुत्यन्तरम्। अवस्थावदुत्थानमपि जीवस्य लिङ्गमित्याह—तथेति। तदाश्रितस्य तस्मात् समुत्थाने दृष्टान्तः—यथेति। ननु क्वाऽपि आकाशशब्दो जीवे न दृष्ट इत्याशङ्क्य उक्तावस्थोत्थानलिङ्गबलात् कल्प्य इत्याह—यथा चेति।

रत्नप्रभाका अनुवाद

देहेन्द्रिय समूहसे समुत्थान करके—उससे आत्माका विवेक करके विविक्त आत्माका स्वरूपसे—ब्रह्मरूपसे साक्षात्कार करके उसी प्रत्यक् पर ज्योतिको प्राप्त करता है, ऐसी श्रुतिकी व्याख्या समझनी चाहिए। जैसे 'मुखं व्यादाय०' इस वाक्यका अर्थ—'सोकर मुख खोलता है'—किया जाता है, वैसे ही 'परं ज्योतिरुपसम्पद्य०' का अर्थ—अपने रूपका साक्षात्कार करके पर ज्योति प्राप्त करता है—करना चाहिए। ज्योति अनात्मा है, इस शङ्काका निरसन करते हैं—"एष" इत्यादिसे। 'सम्प्रसादे रत्वा०' (सुषुप्त्यवस्थामें रमणकर, चलकर) इत्यादि दूसरी श्रुति है। सम्प्रसाद अवस्था जैसे जीवका लिङ्ग है, वैसे उत्थान भी जीवका लिङ्ग है, ऐसा कहते हैं—"तथा" इत्यादिसे। जो जिसके आश्रित रहता है, वह उससे उठता है, इसमें दृष्टान्त देते हैं—"यथा" इत्यादिसे। परन्तु किसी भी स्थलपर आकाशशब्द जीवमें प्रयुक्त नहीं देखा गया, ऐसी आशङ्का करके ऊपर कही गई अवस्था और उत्थानरूप लिङ्गसे इस अर्थकी कल्पना करनी चाहिए, ऐसा कहते हैं—"यथा च" इत्यादिसे।

भाष्य

'आकाशो वै नाम नामरूपयोर्निर्वहिता' इत्येवमादौ परमेश्वरविषयोऽभ्युपगत एवं जीवविषयोऽपि भविष्यति। तस्मादितरपरामर्शात् 'दहरोऽस्मिन्नन्तराकाश' इत्यत्र स एव जीव उच्यत इति चेत्।

नैतदेवं स्यात्। कस्मात्? असम्भवात्। नहि जीवो बुद्ध्याद्युपाधिपरिच्छेदाभिमानी सन्नाकाशेनोपमीयेत। न चोपाधिधर्मानभिमन्यमानस्याऽपहतपाप्मत्वादयो धर्माः सम्भवन्ति। प्रपञ्चितं चैतत् प्रथमसूत्रे। अतिरेकाशङ्कापरिहारायाऽत्र तु पुनरुपन्यस्तम्। पठिष्यति चोपरिष्टात् 'अन्यार्थश्च परामर्शः' (ब्र० १।३।२०) इति ॥ १८ ॥

भाष्यका अनुवाद

वै नाम०' (श्रुतियोंमें आकाशनामसे प्रसिद्ध आत्मा नाम और रूपका निर्माण करनेवाला है) इत्यादिमें परमेश्वरके धर्मका निर्देश होनेके कारण आकाशशब्द परमेश्वरवाचक माना जाता है, उसी प्रकार जीवका वाचक भी माना जा सकता है, इसलिए अन्यके अर्थात् जीवके परामर्शसे 'दहरोऽस्मि०' वाक्यमें जीव ही कहा गया है।

यह कथन ठीक नहीं है। किससे? असम्भवसे। क्योंकि बुद्धि आदि उपाधियोंके अभिमानी जीवको आकाशकी उपमा नहीं दी जा सकती और उपाधिगत धर्मोंके अभिमानीमें पापराहित्य आदि धर्म सम्भव नहीं हैं। इस अधिकरणके प्रथम सूत्रमें इसका विस्तारसे वर्णन किया जा चुका है, यहां तो वक्ष्यमाण अधिक शङ्काके परिहारके लिए इसका पुनः उपन्यास किया है और आगे 'अन्यार्थश्च०' सूत्रमें जीवपरामर्शका प्रयोजन कहेंगे ॥ १८ ॥

रत्नप्रभा

नियामकाभावाद् जीवो दहरः किं न स्यादिति प्राप्ते नियामकमाह—**नैतदित्यादिना**। दहरे श्रुतधर्माणामसम्भवाद् न जीवो दहर इत्यर्थः। तर्हि पुनरुक्तिः, तत्राह—**अतिरेकेति**। उत्तराच्चेत्यधिकाशङ्कानिरासार्थमित्यर्थः। का तर्हि जीवपरामर्शस्य गतिः, तत्राह—**पठिष्यतीति**। जीवस्य स्वापस्थानभूतब्रह्मज्ञानार्थोऽयं परामर्श इति वक्ष्यते॥ १८॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

यदि कोई नियामक ही नहीं तो दहरका अर्थ जीव क्यों न हो, ऐसा प्राप्त होनेपर नियामकका प्रतिपादन करते हैं—"नैतद्" इत्यादिसे। श्रुतिप्रतिपादित दहरके धर्मोंका जीवमें संभव न होनेसे जीव दहर नहीं है, यह अर्थ है। तब पुनरुक्ति है, इसपर कहते हैं—"अतिरेक" इत्यादि। तात्पर्य यह कि 'उत्तराच्चे०' इस सूत्रसे कही जानेवाली अधिक शङ्काका निरास करनेके लिए है। तब जीवका जो परामर्श है, उसकी क्या गति होगी? इसपर कहते हैं—"पठिष्यति" इत्यादि। जीवके स्वापस्थानभूत ब्रह्मके ज्ञानके लिए यह परामर्श है, ऐसा कहेंगे ॥ १८ ॥

उत्तराच्चेदाविर्भूतस्वरूपस्तु ॥ १९ ॥

पदच्छेद—उत्तराद्, चेद्, आविर्भूतस्वरूपः, तु ।

पदार्थोक्ति—उत्तराद्—'य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यते' इत्याद्युत्तरप्रजापतिवाक्याद् [जीवेऽपहतपाप्मत्वादिधर्मोक्तेः जीव एव दहराकाश इति] चेत्, तु—नैतदेवम् [यतः] आविर्भूतस्वरूपः—आविर्भूतपरमार्थस्वरूपः [जीव एव तत्र विवक्षितः, न तु जीवत्वविशिष्टः, अतः जीवो न दहरः किन्तु ब्रह्मैव] ।

भाषार्थ—'य एषोऽक्षिणि०' (यह जो आँखमें पुरुष दीखता है, वह आत्मा है) इत्यादि अग्रिम प्रजापतिवाक्यसे जीवमें अपहतपाप्मत्व आदि धर्म कहे गये हैं, अतः जीव ही दहराकाश है, ऐसा यदि कोई कहे, तो यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि उस वाक्यमें परमार्थस्वरूप—ब्रह्मभूत जीव ही विवक्षित है, जीवत्वधर्मविशिष्ट जीव विवक्षित नहीं है, अतः जीव दहराकाश नहीं है, किन्तु ब्रह्म ही दहराकाश है ।

---

१. वैयासिकन्यायमाला, ब्रह्मविद्याभरण आदिको देखनेसे प्रतीत होता है कि इस सूत्रसे पृथक् अधिकरण आरम्भ होता है, किन्तु भाष्य एवं रत्नप्रभाके अनुसार पृथक् अधिकरणकी प्रतीति नहीं होती । इसलिए पृथक् अधिकरण न देकर पाठकोंके अवगमनके लिए टिप्पणीरूपसे अधिकरणसार आदिका निर्देश किया जाता है—

[उत्तराधिकरण]

यः प्रजापतिविद्यायां स किं जीवोऽथवेश्वरः ।
जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तोक्तेस्तद्वान् जीव इहोचितः ॥१॥
आत्माऽपहतपाप्मेति प्रक्रम्यान्ते स उत्तमः ।
पुमानित्युक्त ईशोऽत्र जाग्रदाद्यवबुद्धये ॥२॥

[अधिकरणसार]

सन्देह—प्रजापतिविद्यामें उक्त पुरुष जीव है अथवा ईश्वर ?

पूर्वपक्ष—जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति अवस्थाएँ कही गई हैं, अतः उन अवस्थाओंसे युक्त जीवका ही उक्त विद्यामें प्रतिपादन है ।

सिद्धान्त—श्रुतिमें 'य आत्माऽपहतपाप्मा' ऐसे ब्रह्मका उपक्रम करके 'स उत्तमः पुरुषः' इस प्रकार उपसंहारमें भी परमात्माका कथन है, अतः वह पुरुष परमेश्वर ही है । जाग्रत् आदि अवस्थाओंका उपदेश परमेश्वरके बोधके लिए ही है ।

भाष्य

इतरपरामर्शाद् या जीवाशङ्का जाता साऽसम्भवान्निराकृता । अथेदानीं मृतस्येवाऽमृतसेकात् पुनः समुत्थानं जीवाशङ्कायाः क्रियते उत्तरस्मात् प्राजापत्याद्वाक्यात् । तत्र हि 'य आत्माऽपहतपाप्मा' इत्यपहतपाप्मत्वा-

भाष्यका अनुवाद

अन्यके परामर्शसे जो जीवकी आशङ्का उत्पन्न हुई थी, उसका परिहार जीवमें पापराहित्य आदि धर्मोंके असम्भवसे किया जा चुका है। अब अमृत छिड़कनेसे जैसे मरा हुआ जी जाता है, वैसे ही अनन्तरोक्त प्रजापतिवाक्यसे जीवकी शङ्काका पुनः उत्थान करते हैं। क्योंकि वहां 'य आत्मा०' (जो आत्मा है

रत्नप्रभा

असम्भवादिति हेतोः असिद्धिमाशङ्क्य परिहरति—उत्तराच्चेदिति । निराकृताया जीवाशङ्कायाः प्रजापतिवाक्यबलात् पुनः समुत्थानं क्रियते । तत्र जीवस्यैव

रत्नप्रभाका अनुवाद

पूर्व सूत्रमें असम्भवरूप हेतु कहा गया है, वह असम्भवरूप हेतु असिद्ध है ऐसी शङ्का करके उसका परिहार करते हैं—"उत्तराच्चेत्" इत्यादिसे। पूर्वमें निराकृत जीवकी शङ्काका प्रजापतिवाक्यके बलसे पुनः उत्थान किया जाता है। प्रजापतिवाक्यमें पापराहित्य आदि

अर्थात् दहरविद्याके अनन्तर उक्त प्रजापति विद्यामें इन्द्र, विरोचन और प्रजापतिके संवादमें "य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यते एष आत्मेति होवाच" ऐसी श्रुति है। श्रुतिका अर्थ है कि यह जो आँखमें पुरुष दीखता है, वह आत्मा है, ऐसा प्रजापतिने कहा। उक्त श्रुतिमें प्रतिपादित पुरुष जीव है अथवा परमेश्वर? यह सन्देह होनेपर पूर्वपक्षी कहता है कि 'अक्षिणि पुरुषः' (आँखमें जो पुरुष है) इस प्रकार जाग्रदवस्थाका 'य एष स्वप्ने महीयमानश्चरति' (यह जो स्वप्नमें वासनामय विषयोंसे पूज्यमान विचरता है) इस प्रकार स्वप्नावस्थाका 'सुप्तः समस्तः सम्प्रसन्नः स्वप्नं न विजानाति' (जब पुरुष गाढ निद्रामें सोता है, उसकी सब इन्द्रियाँ अपना अपना व्यापार त्याग देती हैं, प्रसन्न रहता है, स्वप्नको नहीं देखता है) इस प्रकार सुषुप्ति अवस्थाका उपन्यास है, अतः उक्त वाक्य उन अवस्थाओंसे विशिष्ट जीवका ही प्रतिपादन करता है।

सिद्धान्ती कहता है कि यहाँ ईश्वरका ही ग्रहण करना चाहिए, क्योंकि 'य आत्माऽपहतपाप्मा विजरो विमृत्युः' (जो आत्मा पापरहित, जराशून्य, मरणरहित है) इस प्रकार उपक्रममें परमात्मा को कहकर 'स उत्तमः पुरुषः' (वह श्रेष्ठ पुरुष है) इस प्रकार उपसंहारमें भी परमात्माका ही प्रतिपादन किया है। जाग्रद् आदि अवस्थाओंका उपन्यास तो शाखाचन्द्रन्यायसे परमात्माके बोधके लिए ही है। इसलिए अक्षिपुरुष परमात्मा ही है।

भाष्य

द्विगुणकमात्मानमन्वेष्टव्यं विजिज्ञासितव्यं च प्रतिज्ञाय 'य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यत एष आत्मा' (छा० ८।७।४) इति ब्रुवन्नक्षिस्थं द्रष्टारं जीवमात्मानं निर्दिशति । 'एतं त्वेव ते भूयोऽनुव्याख्यास्यामि' (छा०८।९।३) इति च तमेव पुनः पुनः परामृश्य 'य एष स्वप्ने महीयमानश्चरत्येष आत्मा' (छा० ८।१०।१) इति, 'तद्यत्रैतत् सुप्तः समस्तः सम्प्रसन्नः स्वप्नं न वि-

भाष्यका अनुवाद

पापविमुक्त है) इस वाक्यसे पापराहित्य आदि धर्मवाला आत्मा अन्वेषणयोग्य है, विशेषरूपसे जिज्ञासायोग्य है, ऐसी प्रतिज्ञा करके 'य एषोऽक्षिणि०' (आँखमें जो यह पुरुष दीखता है, वह आत्मा है) ऐसा कहते हुए प्रजापति आँखमें रहनेवाले द्रष्टा जीवका आत्मरूपसे निर्देश करते हैं । 'एतं त्वेव ते०' (इस आत्माको ही मैं तुमसे फिर कहता हूँ) इस प्रकार उसीका बारंबार परामर्श करके 'य एष स्वप्ने०' (स्वप्नमें जो यह वासनामय विषयसे पूज्यमान विचरता है, यह आत्मा है) 'तद्यत्रैतत्सुप्तः०' (सुषुप्ति अवस्थामें पूर्वोक्त जो पुरुष गाढ़ निद्रामें सोया रहता है, जिसकी सब इन्द्रियाँ अस्त रहती हैं, कलुषता नष्ट हो गई रहती है,

रत्नप्रभा

अपहतपाप्मत्वादिग्रहणेन असम्भवासिद्धेरित्यर्थः । कथं तत्र जीवोक्तिः, तत्राह— तत्रेत्यादिना । यद्यप्युपक्रमे जीवशब्दो नास्ति, तथापि अपहतपाप्मत्वादिगुणकमात्मानम् उपक्रम्य तस्य जाग्रदाद्यवस्थात्रयोपन्यासाद् अवस्थालिङ्गेन जीवनिश्चयात् तस्यैव ते गुणाः सम्भवन्तीति समुदायार्थः । इन्द्रं प्रजापतिः ब्रूते–य एष इति । प्राधान्याद् अक्षिग्रहणम् सर्वैरिन्द्रियैर्विषयदर्शनरूपजाग्रदवस्थापन्नमित्याह—द्रष्टारमिति । महीयमानः वासनामयैर्विषयैः पूज्यमान इति स्वप्नपर्याये, तद्यत्रेति सुषुप्तिपर्याये च जीवमेव प्रजापतिः व्याचष्टे इत्यन्वयः। यत्र काले तत्—एतत् स्वपनं

रत्नप्रभाका अनुवाद

जीवके ही धर्म कहे गये हैं, अतः असम्भव सिद्ध नहीं होता, यह शङ्काका अर्थ है। ये धर्म जीवके किस प्रकार कहे गये हैं, इसपर कहते हैं—"तत्र" इत्यादि । यद्यपि उपक्रममें जीवशब्द नहीं है, तो भी पापराहित्य आदि गुणोंसे युक्त आत्माका उपक्रम करके जाग्रदादि तीन अवस्थाओंका उपन्यास किया है, इसलिए अवस्थारूप लिङ्गसे जीवका निश्चय होता है, उसके ही पापराहित्य आदि गुण हो सकते हैं, यह तात्पर्य है। इन्द्रसे प्रजापति कहते हैं— "य एष०" इत्यादि । प्रधान इन्द्रिय होनेके कारण श्रुतिमें अक्षिका ग्रहण है। "द्रष्टारम्" से भाष्यकार यह दिखलाते हैं कि जिस अवस्थामें सब इन्द्रियां अपने अपने विषयका ग्रहण करती हैं, उस जाग्रदवस्थाको प्राप्त हुए जीवका श्रुतिमें कथन है। महीयमानः—वासनामय

भाष्य

जानात्येष आत्मा' इति च जीवमेवाऽवस्थान्तरगतं व्याचष्टे। तस्यैव चाऽपहतपाप्मत्वादि दर्शयति—'एतदमृतमभयमेतद् ब्रह्म' इति। 'नाह खल्वयमेवं सम्प्रत्यात्मानं जानात्ययमहमस्मीति नो एवेमानि भूतानि' (छा० ८।११।१, २) इति च सुषुप्तावस्थायां दोषमुपलभ्य 'एतं त्वेव ते

भाष्यका अनुवाद

स्वप्नको नहीं जानता वह यह आत्मा है) इस प्रकार अन्य अवस्थाको प्राप्त हुए जीवका ही व्याख्यान करते हैं, 'एतदमृत०' (यह अमृत है, यह अभय है, यह ब्रह्म है) इस प्रकार उसीको पाप आदिसे रहित बताते हैं। 'नाह खल्वयमेवं०' (निश्चय यह सुषुप्ति अवस्थामें 'यह मैं हूँ' इस प्रकार न आत्माको जानता है और न प्राणियोंको ही जानता है) इस प्रकार सुषुप्ति अवस्थामें दोष देखकर

रत्नप्रभा

यथा स्यात्तथा सुप्तः सम्यग् अस्तो निरस्तः करणग्रामो यस्य स समस्तः, अत एव उपसंहृतकरणत्वात् तत्कृतकालुष्यहीनः—संप्रसन्नः, स्वप्नं प्रपञ्चम् अज्ञानमात्रत्वेन विलापयति, अतोऽज्ञानसत्त्वाद् मुक्ताद् विलक्षणः प्राज्ञ एषः स्वचैतन्येन कारण-शरीरसाक्षी तस्य साक्ष्यस्य सत्तास्फूर्तिप्रदत्वात् आत्मेत्यर्थः। चतुर्थपर्याये ब्रह्मोक्तेः तस्यैव अपहतपाप्मत्वादिगुणा इत्याशङ्क्य तस्याऽपि पर्यायस्य जीवपरत्वमि-त्याह—नाहेति। अहेति—निपातः खेदार्थे। खिद्यमानो हि इन्द्र उवाच न खलु सुप्तः पुमान् अयं सम्प्रति सुषुप्त्यवस्थायाम् अयं देवदत्तोऽहमिति एवम् आत्मानं जानाति, नो एव—नैव इमानि भूतानि जानाति, किन्तु विनाशमेव प्राप्तो

रत्नप्रभाका अनुवाद

विषयोंसे पूज्यमान इस प्रकार स्वप्न पर्यायमें और 'तद्यत्र' इस प्रकार सुषुप्ति पर्यायमें जीवका ही प्रजापति उपदेश करते हैं, ऐसा अन्वय है। जब पुरुष गाढ़ निद्रामें रहता है तब उसकी सब इन्द्रियाँ अपने व्यापारसे सर्वथा रहित हो जाती हैं, इन्द्रियोंके व्यापारशून्य होनेके कारण ही विषयके सम्पर्कसे होनेवाली कलुषतासे रहित--संप्रसन्न होता है और स्वप्नरूप प्रपञ्चका अज्ञान-मात्रमें लय करता है, इसलिए अज्ञान होनेके कारण मुक्तसे विलक्षण यह प्राज्ञ स्वरूपभूत चैतन्यसे कारणदेहका साक्षी है और साक्ष्यको सत्ता और स्फूर्ति देनेके कारण आत्मा कहलाता है—यह श्रुतिका अर्थ है। चतुर्थ पर्यायमें ब्रह्म कहा गया है, इसलिए उसीके पापराहित्य आदि गुण हैं, ऐसी आशङ्का करके वह पर्याय भी जीवका ही प्रतिपादन करता है, ऐसा कहते हैं—"नाह" इत्यादिसे। 'अह' खेदसूचक निपात है। खिन्न होकर इन्द्र कहता है—निश्चय सुप्त पुरुष सुषुप्ति अवस्थामें 'मैं देवदत्त हूँ' इस प्रकार अपनेको नहीं जानता इसी प्रकार इन भूतोंको भी नहीं जानता, किन्तु विनाशको ही प्राप्त होता है। मैं इसमें कुछ भोग्य

भाष्य

भूयोऽनुव्याख्यास्यामि नो एवाऽन्यत्रैतस्मात्' इति चोपक्रम्य शरीरसम्बन्ध-निन्दापूर्वकम् 'एष सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरात् समुत्थाय परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाऽभिनिष्पद्यते स उत्तमः पुरुषः' इति जीवमेव शरीरात् समुत्थित-मुत्तमं पुरुषं दर्शयति। तस्मादस्ति सम्भवो जीवे पारमेश्वराणां धर्मा-णाम्। अतः 'दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशः' इति जीव एवोक्त इति चेत् कश्चिद् ब्रूयात्।

तं प्रति ब्रूयात्—'आविर्भूतस्वरूपस्तु' इति। तुशब्दः पूर्वपक्षव्या-

भाष्यका अनुवाद

'एतं त्वेव ते भूयो०' (इसीको ही मैं तुमसे फिर कहता हूँ, इससे अन्यको नहीं) ऐसा उपक्रम करके शरीरसंबन्धकी निन्दापूर्वक 'एष सम्प्रसादो०' (यह जीव इस शरीरसे उठकर पर ज्योति प्राप्त कर अपने स्वरूपसे अभिव्यक्त होता है) इस प्रकार शरीरसे उत्थित जीव ही उत्तम पुरुषरूपसे दिखलाया गया है। इसलिए जीवमें परमेश्वरके धर्मोंका संभव है। इस कारण 'दहरो०' इससे जीव ही कहा गया है, ऐसा यदि कोई कहे।

तो उससे कहना चाहिए कि 'आविर्भूत०'। इस सूत्र में 'तु' शब्द पूर्वपक्षकी

रत्नप्रभा

भवति। नाहमत्र भोग्यं पश्यामि इति दोषमुपलभ्य पुनः प्रजापतिम् उपससाद। तं दोषं श्रुत्वा प्रजापतिराह—एतमिति। एतस्मात् प्रकृतादात्मनः अन्यत्र अन्यं न व्याख्यास्यामीति उपक्रम्य "मघवन्मर्त्यं वा इदं शरीरम्" (छा० ८।१२।१) इति निन्दापूर्वकं जीवमेव दर्शयतीत्यर्थः। तस्मात्—प्रजापतिवाक्यात्। अतः—अस-म्भवासिद्धेः।

सिद्धान्तयति—तं प्रतीति। अवस्थात्रयात् शोधनेन आविर्भूतत्वम्—शोधितत्वम्

रत्नप्रभाका अनुवाद

नहीं देखता। इस प्रकार दोष जानकर इन्द्र फिर प्रजापतिके पास शिष्यरूपसे गया। उन दोषों-को सुनकर प्रजापतिने कहा—"एतम्" इत्यादि। आशय यह है कि इस प्रकृत आत्मासे अन्यका मैं व्याख्यान नहीं करता हूँ, ऐसा उपक्रम करके 'मघवन् मर्त्य०' (हे इन्द्र! यह शरीर नश्वर है) इस तरह निन्दापूर्वक जीवको ही दिखलाते हैं। 'तस्मात्'—प्रजापतिके वाक्यसे। 'अतः'—असम्भवके सिद्ध न होनेसे।

सिद्धान्त कहते हैं—"तं प्रति" इत्यादिसे। तीनों अवस्थाओंसे शोधित होनेके कारण आविर्भूत अर्थात् वाक्यसे उत्पन्न हुई वृत्तिसे अभिव्यक्त हुआ अर्थ। ज्ञानसे जीवत्वकी

भाष्य

वृत्त्यर्थः। नोत्तरस्मादपि वाक्यादिह जीवस्याऽऽशङ्का सम्भवतीत्यर्थः। कस्मात्? यतस्तत्राऽप्याविर्भूतस्वरूपो जीवो विवक्ष्यते। आविर्भूतं स्वरूपमस्येत्याविर्भूतस्वरूपः। भूतपूर्वगत्या जीववचनम्।

एतदुक्तं भवति—'य एषोऽक्षिणि' इत्यक्षिलक्षितं द्रष्टारं निर्दिश्योदशरावब्राह्मणेनैनं शरीरात्मताया व्युत्थाप्य 'एतं त्वेव ते' इति पुनः पुन-

भाष्यका अनुवाद

व्यावृत्तिके लिए है। अर्थात् उत्तरवाक्यसे भी यहां जीवकी आशङ्का नहीं हो सकती। क्योंकि उसमें भी आविर्भूतस्वरूप जीवकी विवक्षा है। जिसका स्वरूप आविर्भूत हुआ है, वह आविर्भूतस्वरूप कहलाता है। भूतपूर्व जीवत्वकी अपेक्षासे यह कथन है।

तात्पर्य यह है कि 'य एषोऽक्षिणि' इस प्रकार आँखसे उपलक्षित द्रष्टाका निर्देश कर उदशरावब्राह्मणद्वारा शरीरसे इस जीवको अलग करके 'एतं त्वेव

रत्नप्रभा

अर्थस्य वाक्योत्थवृत्त्यभिव्यक्तत्वमित्यर्थः। तर्हि सूत्रे पुँल्लिङ्गेन जीवोक्तिः कथम्? ज्ञानेन जीवत्वस्य निवृत्तत्वादित्यत आह—भूतपूर्वेति। ज्ञानात् पूर्वमविद्यातत्कार्यप्रतिबिम्बितस्वरूपं जीवत्वम् अभूदिति कृत्वा ज्ञानानन्तरं ब्रह्मरूपोऽपि जीवनाम्ना उच्यते इत्यर्थः॥

विश्वतैजसप्राज्ञतुरीयपर्यायचतुष्टयात्मकप्रजापतिवाक्यस्य तात्पर्यमाह—एतदिति। जन्मनाशवत्त्वात् प्रतिबिम्बवत् बिम्बदेहो नात्मा इति ज्ञापनार्थं प्रजापतिः इन्द्रविरोचनौ प्रत्युवाच—"उदशरावे आत्मानमवेक्ष्य यदात्मनो न विजानीथस्तन्मे प्रब्रूतम्" (छा० ८।८।१) इत्यादिब्राह्मणेन इत्याह—उदशरावेति। उदकपूर्णे शरावे प्रतिबिम्बितमात्मानम् देहं दृष्ट्वा स्वस्य अज्ञातं यत्तत् मह्यं वाच्यमिति उक्त-

रत्नप्रभाका अनुवाद

निवृत्ति तो हो ही गई, तब सूत्रमें पुँल्लिङ्गसे जीवका निर्देश कैसे किया गया? इसपर कहते हैं—"भूतपूर्व" इत्यादि। आशय यह है कि ज्ञान होनेसे पहले अविद्या और उसके कार्यमें प्रतिबिम्बितस्वरूप जीवत्व था, इसलिए ज्ञान होनेके बाद ब्रह्मरूप होनेपर भी वह जीव कहलाता है।

विश्व, तैजस, प्राज्ञ और तुरीय बोधक चार पर्यायरूप प्रजापतिके वाक्यका तात्पर्य कहते हैं—'एतद्' इत्यादिसे। जन्म-मरणशील होनेके कारण प्रतिबिम्बके समान बिम्ब देह भी आत्मा नहीं है। यह समझानेके लिए प्रजापतिने 'उदशरावे' इत्यादि ब्राह्मणसे इन्द्र और विरोचनके प्रति कहा, ऐसा कहते हैं—"उदशराव" इत्यादिसे। उदकपूर्ण

भाष्य

स्तमेव व्याख्येयत्वेनाऽऽकृष्य स्वप्नसुषुप्तोपन्यासक्रमेण 'परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाऽभिनिष्पद्यते' इति यदस्य पारमार्थिकं स्वरूपं परं ब्रह्म तद्रूपतयैनं जीवं व्याचष्टे न जैवेन रूपेण। यत्परं ज्योतिरुपसम्पत्तव्यं श्रुतं तत्परं ब्रह्म, तच्चाऽपहतपाप्मत्वादिधर्मकम्, तदेव च जीवस्य पारमार्थिकं स्वरूपम् 'तत्त्वमसि' इत्यादिशास्त्रेभ्यः, नेतरदुपाधिकल्पितम्।

भाष्यका अनुवाद

ते०' (इसको ही तुमसे फिर कहता हूँ) इस तरह वारंवार उसीका व्याख्यायोग्यरूपसे ग्रहण करके स्वप्न और सुषुप्तिके उपन्यासके क्रमसे 'परं ज्योतिरुपसंपद्य०' इस प्रकार जीवका पारमार्थिक स्वरूप जो परब्रह्म है, उस रूपसे इस जीवका व्याख्यान करते हैं, जीवके रूपसे नहीं करते। प्राप्त करने योग्य जो परज्योति श्रुतिप्रतिपादित है, वह परब्रह्म है। वह पापशून्यत्व आदि धर्मवाला है और वह जीवका 'तत्त्वमसि' इत्यादि शास्त्रोंसे ज्ञात होनेवाला पारमार्थिक स्वरूप है, इससे भिन्न उपाधिकल्पित स्वरूप पारमार्थिक नहीं है।

रत्नप्रभा

श्रुत्यर्थः। व्युत्थाप्य—विचाल्य। अभिनिष्पद्यते इत्यत्र एतदुक्तं भवतीति सम्बन्धः। किमुक्तमित्यत आह—यदस्येति। जीवत्वरूपेण जीवं न व्याचष्टे लोकसिद्धत्वात्, किन्तु तमनूद्य परस्परव्यभिचारिणीभ्योऽवस्थाभ्यो विविच्य ब्रह्मस्वरूपं बोधयति। अतो यद् ब्रह्म तदेव अपहतपाप्मत्वादिधर्मकं न जीव इत्युक्तं भवति, शोधितस्य ब्रह्माभेदेन तद्धर्मोक्तेरित्यर्थः। एवमवस्थोपन्यासस्य विवेकार्थत्वात् न जीवलिङ्गत्वम्, एतदमृतमभयमेतद् ब्रह्म इति लिङ्गोपेतश्रुतिविरोधादिति मन्तव्यम्। ननु जीवत्वब्रह्मत्वविरुद्धधर्मवतोः कथमभेदः, तत्राह—तदेवेति। अन्वयव्यतिरेकाभ्यां जीव-

रत्नप्रभाका अनुवाद

शरावमें प्रतिविम्बित देहको देखकर उसमें तुमको जो न जान पड़े वह मुझसे कहना, ऐसा श्रुतिका अर्थ है। 'व्युत्थाप्य'—अलग कर। 'एतदुक्तं भवति' का 'अभिनिष्पद्यते इति'—यहांपर संवन्ध है। क्या कहा गया है ? यह कहते हैं—"यदस्य" इत्यादिसे। प्रजापति जीवत्वरूपसे जीवका व्याख्यान नहीं करते हैं, क्योंकि वह लोकसिद्ध है, किन्तु उसका अनुवाद करके परस्पर विलक्षण अवस्थाओंसे विवेचन करके ब्रह्मस्वरूपका बोध कराते हैं, इसलिए जो ब्रह्म है, वही अपहतपाप्मत्व आदि धर्मवाला है, जीव नहीं है, ऐसा तात्पर्य है। जीवका शोधित स्वरूप ब्रह्मसे भिन्न नहीं है, इसलिए पापराहित्य आदि धर्म जीवके कहे गये हैं। इस प्रकार अवस्थाओंका उपन्यास ब्रह्मस्वरूपका बोध करानेके लिए है, इसलिए वे जीवप्रतिपादक नहीं हैं, क्योंकि ब्रह्मलिङ्गयुक्त 'एतदमृत०'

भाष्य

यावदेव हि स्थाणाविव पुरुषबुद्धिं द्वैतलक्षणामविद्यां निवर्तयन् कूटस्थनित्यदृक्स्वरूपमात्मानमहं ब्रह्मास्मीति न प्रतिपद्यते तावज्जीवस्य जीवत्वम्। यदा तु देहेन्द्रियमनोबुद्धिसङ्घाताद् व्युत्थाप्य श्रुत्या प्रतिबोध्यते—नासि त्वं देहेन्द्रियमनोबुद्धिसङ्घातः, नापि संसारी, किं तर्हि? तद्यत्सत्यं स आत्मा चैतन्यमात्रस्वरूपस्तत्त्वमसीति। तदा कूटस्थनित्यदृक्स्वरूपमात्मानं प्रतिबुध्याऽस्माच्छरीराद्यभिमानात् समुत्तिष्ठन् स एव कूटस्थनित्यदृक्स्वरूप आत्मा भवति। 'स यो ह वै तत्परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' (मु० ३।२।८) इत्यादिश्रुतिभ्यः। तदेव चाऽस्य पारमार्थिकं स्वरूपं येन शरीरात् समुत्थाय स्वेन रूपेणाऽभिनिष्पद्यते।

भाष्यका अनुवाद

जब तक स्थाणुमें पुरुषबुद्धिके समान द्वैतलक्षण अविद्याकी निवृत्ति करके कूटस्थ और नित्यज्ञानस्वरूप आत्माको 'मैं ब्रह्म हूँ' इस प्रकार नहीं जान लेता, तभी तक जीवका जीवत्व है। परन्तु जब देह, इन्द्रिय, मन और बुद्धिके संघातसे अलग करके तू देह, इन्द्रिय, मन और बुद्धिका संघात नहीं है, तू संसारी नहीं है, किन्तु जो सत्य, चैतन्यमात्रस्वरूप आत्मा है, वह तू है, इस प्रकार श्रुतिद्वारा बोधित होता है, तब कूटस्थ और नित्यज्ञानस्वरूप आत्माको जानकर, शरीर आदिके अभिमानको छोड़कर वही कूटस्थ और नित्यज्ञानस्वरूप आत्मा हो जाता है, क्योंकि 'स यो ह वै०' (जो उस परम ब्रह्मको जानता है, वह निस्सन्देह ब्रह्म ही हो जाता है) इत्यादि श्रुतियां हैं। शरीरसे अलग होकर जो अपना स्वरूप प्राप्त करता है, वही उसका पारमार्थिक स्वरूप है।

रत्नप्रभा

त्वस्याऽविद्याकल्पितत्वादविरोध इति मत्वा दृष्टान्तेन अन्वयमाह—यावदिति। व्यतिरेकमाह—यदेति। अविद्यायां सत्यां जीवत्वं वाक्योत्थप्रबोधात् तन्निवृत्तौ तन्निवृत्तिरित्याविद्यकं तदित्यर्थः। संसारित्वस्य कल्पितत्वे सिद्धं निगमयति—तदेव चाऽस्येति।

रत्नप्रभाका अनुवाद

इत्यादि श्रुतिसे विरोध होगा। परन्तु जीवत्व और ब्रह्मत्वरूप विरुद्ध धर्मवाले दो पदार्थोंका अभेद किस प्रकार हो सकता है, इसपर कहते हैं—"तदेव" इत्यादि। अन्वय और व्यतिरेकसे प्रतीत होता है कि जीवत्व अविद्याकल्पित है, इसलिए विरोध नहीं है, ऐसा मानकर दृष्टान्तकथनपूर्वक अन्वय कहते हैं—"यावद्" इत्यादिसे। व्यतिरेक कहते हैं—"यदा" इत्यादिसे। जब तक अविद्या रहती है तभी तक ही जीवत्व रहता है और श्रुतिवाक्योंसे ज्ञान होनेपर जब अविद्या निवृत्त हो जाती है, तब जीवत्व भी निवृत्त हो जाता है, इसलिए जीवत्व

भाष्य

कथं पुनः स्वं च रूपं स्वेनैव च निष्पद्यत इति संभवति कूटस्थनित्यस्य। सुवर्णादीनां तु द्रव्यान्तरसंपर्कादभिभूतस्वरूपाणामनभिव्यक्तासाधारणविशेषाणां क्षारप्रक्षेपादिभिः शोध्यमानानां स्वरूपेणाभिनिष्पत्तिः स्यात्। तथा नक्षत्रादीनामहन्यभिभूतप्रकाशानामभिभावकवियोगे रात्रौ स्वरूपेणाऽभिनिष्पत्तिः स्यात्। न तु तथाऽऽत्मचैतन्यज्योतिषो नित्यस्य केनचिदभिभवः संभवत्यसंसर्गित्वाद् व्योम्न इव, दृष्टविरोधाच्च। दृष्टिश्रुतिमति-

भाष्यका अनुवाद

परन्तु अपने ही रूपको आप ही प्राप्त करना कूटस्थ नित्यमें किस प्रकार संभव है? अन्य द्रव्यके संसर्गसे जिनके स्वरूपका अभिभव हो गया है अर्थात् जिनका असाधारण विशेषगुण अभिव्यक्त नहीं है, उन सुवर्ण आदिकी तो खार आदिसे शोधनद्वारा अपने स्वरूपसे अभिव्यक्ति होती है। इसी प्रकार दिनमें जिनके प्रकाशका अभिभव हो जाता है, उन नक्षत्र आदिकी, रात्रिमें अभिभव करनेवालेके अभावमें, स्वरूपसे अभिव्यक्ति होती है, परन्तु आत्मचैतन्यरूप नित्य ज्योतिका इस प्रकार किसीसे अभिभव नहीं हो सकता है, क्योंकि आकाशकी

रत्नप्रभा

समुत्थाय परं ज्योतिरुपसंपद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते" [छा० ८।१२।२] इति श्रुतिं व्याख्यातुमाक्षिपति—कथं पुनरित्यादिना। कूटस्थनित्यस्य स्वं रूपम् इत्यन्वयः। मलसङ्गिनो हि क्रियया मलनाशादभिव्यक्तिः, न तु कूटस्थस्य असंगिन इत्याह—सुवर्णेति। द्रव्यान्तरम्—पार्थिवो मलः। अभिभूतेति अस्य व्याख्यानम्-अनभिव्यक्तेति। असाधारणः—भास्वरत्वादिः। अभिभावकः—सौरालोकः। जीवस्वरूपस्य अभिभवे बाधकमाह—दृष्टेति। "विज्ञानघन एव" [बृ०२।४।१२]

रत्नप्रभाका अनुवाद

अविद्याजन्य है। जीवत्वके कल्पित सिद्ध होनेपर जो निष्कर्ष निकला उसका निगमन कहते हैं—"तदेव चाऽस्य" इत्यादिसे।

"समुत्थाय परं०" इस श्रुतिका व्याख्यान करनेके लिए आक्षेप करते हैं—"कथं पुनः" इत्यादिसे। 'कूटस्थ नित्यस्य' का 'स्वं रूपं' के साथ अन्वय है। संस्कारसे मलनाश होनेपर मलिन वस्तुकी अभिव्यक्ति होती है, परन्तु असंग कूटस्थ नित्य वस्तुकी अभिव्यक्ति किस प्रकार होगी, ऐसा कहते हैं—"सुवर्ण" इत्यादिसे। 'अन्य द्रव्य'—पीतल आदि। 'अनभिव्यक्त' इत्यादि 'अभिभूतस्वरूपाणाम्' का व्याख्यान है। असाधारण—भास्वरत्व आदि। अभिभव करने वाला—सूर्यका तेज आदि। जीवके स्वरूपका अभिभव माननेमें बाधक कहते हैं—"दृष्ट" इत्यादिसे।

भाष्य

विज्ञातयो हि जीवस्य स्वरूपम्। तच्च शरीरादसमुत्थितस्याऽपि जीवस्य सदा निष्पन्नमेव दृश्यते। सर्वो हि जीवः पश्यन् शृण्वन् मन्वानो विजानन् व्यवहरत्यन्यथा व्यवहारानुपपत्तेः। तच्चेच्छरीरात् समुत्थितस्य निष्पद्येत, प्राक्समुत्थानाद् दृष्टो व्यवहारो विरुध्येत। अतः किमात्मकमिदं शरीरात समुत्थानम्, किमात्मिका वा स्वरूपेणाऽभिनिष्पत्तिरिति।

भाष्यका अनुवाद

तरह वह संसर्गरहित है और प्रत्यक्षविरोध भी है। क्योंकि दर्शन, श्रवण, मनन और विज्ञान ये जीवके स्वरूप हैं। शरीराभिमानी जीवमें भी ये सदा देखे जाते हैं, कारण कि सभी जीव देखते, सुनते, विचार करते और समझते हुए ही व्यवहार करते हैं, अन्यथा व्यवहार ही नहीं हो सकता। उक्त स्वरूप यदि शरीराभिमान छोड़नेके बाद निष्पन्न होता हो, तो समुत्थानसे पहले देखा गया व्यवहार विरुद्ध हो जायगा, इसलिए इस शरीरसे समुत्थानका स्वरूप क्या है और स्वरूपसे अभिव्यक्तिका स्वरूप क्या है ?

रत्नप्रभा

इति श्रुत्या चिन्मात्रस्तावदात्मा, तच्चैतन्यं चक्षुरादिजन्यवृत्तिव्यक्तं दृष्ट्यादिपद-वाच्यं सद् व्यवहाराङ्गं जीवस्य स्वरूपं भवतीति तस्य अभिभूतत्वे दृष्टो व्यवहारो विरुध्येत। हेत्वभावाद् व्यवहारो न स्यादित्यर्थः। अज्ञस्याऽपि स्वरूपं वृत्तिषु व्यक्तम् इत्यङ्गीकार्यम्, व्यवहारदर्शनादित्याह—तच्चेति। अन्यथेत्युक्तं स्फुटयति—तच्चेदिति। स्वरूपं चेद् ज्ञानिन एव व्यज्येत ज्ञानात् पूर्वं व्यवहारोच्छित्तिरित्यर्थः। अतः—सदैव व्यक्तस्वरूपत्वाद् इत्यर्थः।

रत्नप्रभाका अनुवाद

'विज्ञान०' इस श्रुतिसे प्रतीत होता है कि आत्मा चिन्मात्र है, वह चैतन्य चक्षु आदि जन्य वृत्तिमें व्यक्त होता है और दृष्टि आदि पदसे वाच्य होकर व्यवहारका अङ्ग एवं जीवका स्वरूप होता है, इसलिए जीवके दृष्टि आदि स्वरूपका अभिभव हो जायगा तो जो व्यवहार प्रत्यक्ष दिखाई देता है, उसका बाध हो जायगा। अर्थात् हेतुके अभावसे व्यवहार ही न होगा। अज्ञ पुरुषका भी स्वरूप वृत्तिमें व्यक्त होता है, यह अङ्गीकार करना चाहिए, क्योंकि उसका व्यवहार देखनेमें आता है, ऐसा कहते हैं—"तच्च" इत्यादिसे। अन्यथा इत्यादिसे कथित विषयको ही स्पष्ट करते हैं—"तच्चेद्" इत्यादिसे। यदि ज्ञान होनेके बाद ही जीवका स्वरूप अभिव्यक्त हो तो ज्ञान होनेसे पहलेका व्यवहार उच्छिन्न हो जायगा, ऐसा अर्थ है। 'अतः'—सर्वदा जीवके व्यक्तस्वरूप होनेके कारण।

भाष्य

अत्रोच्यते—प्राग्विवेकविज्ञानोत्पत्तेः शरीरेन्द्रियमनोबुद्धिविषयवेदनोपाधिभिरविविक्तमिव जीवस्य दृष्ट्यादिज्योतिःस्वरूपं भवति। यथा शुद्धस्य स्फटिकस्य स्वाच्छ्यं शौक्ल्यं च स्वरूपं प्राग्विवेकग्रहणाद् रक्तनीलाद्युपाधिभिरविविक्तमिव भवति। प्रमाणजनितविवेकग्रहणात् तु पराचीनः स्फटिकः स्वाच्छ्येन शौक्ल्येन च स्वेन रूपेणाऽभिनिष्पद्यत इत्युच्यते प्रागपि तथैव सन्; तथा देहाद्युपाध्यविविक्तस्यैव सतो जीवस्य श्रुतिकृतं

भाष्यका अनुवाद

इसपर कहते हैं—जैसे शुद्ध स्फटिककी स्वच्छता और शुक्ल रूप विवेकज्ञान होनेके पूर्व रक्त, नील आदि उपाधियोंसे संसृष्ट-सा होता है, उसी प्रकार विवेकज्ञानकी उत्पत्तिके पूर्व शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, विषय, वेदनारूपी उपाधियोंसे जीवका दर्शन आदि ज्योतिःस्वरूप संसृष्ट-सा होता है। यद्यपि पूर्वमें भी स्फटिक वैसा ही था तो भी प्रमाण आदिसे उत्पन्न हुए विवेकज्ञानके अनन्तर वही स्फटिक अपने स्वच्छ और शुक्लरूपसे प्रकट हुआ कहलाता है, उसी प्रकार देह आदि उपाधियोंसे संसृष्ट जीवका भी श्रुतियोंसे उत्पन्न हुआ विवेकज्ञान ही

रत्नप्रभा

सदा वृत्तिषु व्यक्तस्य वस्तुतोऽसंगस्य आत्मन आविद्यकदेहाद्यविवेकरूपस्य मलसंगस्य सत्त्वात् तद्विवेकापेक्षया समुत्थानादिश्रुतिरित्युत्तरमाह—अत्रेति। वेदना—हर्षशोकादिः। अविविक्तमिव इति तादात्म्यस्य संगस्य कल्पितत्वमुक्तम्। तत्र कल्पितसंगे दृष्टान्तः—यथेति। श्रुतिकृतमिति। त्वंपदार्थश्रुत्या "योऽयं विज्ञान-

रत्नप्रभाका अनुवाद

यद्यपि वस्तुतः असङ्ग आत्मा सदा चक्षु आदिजन्य वृत्तियोंमें व्यक्त है, तो भी अविद्यासे उत्पन्न देहादि-अभेदज्ञानरूप मलका संबन्ध होनेके कारण देह आदिसे आत्माके विवेककी अपेक्षासे समुत्थानश्रुति है ऐसा उत्तर कहते हैं—"अत्र" इत्यादिसे। 'वेदना'—हर्ष, शोक आदि। 'अविविक्तमिव' से कहा गया है कि तादात्म्य संबन्ध कल्पित है। कल्पित संबन्धका दृष्टान्त देते हैं—"यथा" इत्यादिसे। "श्रुतिकृतम्"। अर्थात् 'योऽयं विज्ञान०' इत्यादि

---

(१) उत्तरका अभिप्राय यह है—उपनिषदोंका पूर्वापर संबन्ध देखनेसे ज्ञात होता है कि शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, अप्रपंच ब्रह्म एक है, उससे भिन्न सब उसका विवर्त है जैसे कि रज्जुका विवर्त सर्प है। ब्रह्म ही अविद्याकल्पित देह, इन्द्रिय आदि उपाधियोंसे संसृष्ट-सा प्रतीत होकर जीव कहलाता है। उपाधि-संसृष्ट होनेके कारण जीवमें अपहतपाप्मत्व आदि धर्म नहीं हैं। वही जीव निरुपाधिक होनेपर पापराहित्य आदि धर्मोंसे युक्त होता है, क्योंकि निरुपाधिक जीव ही ब्रह्म है। निरुपाधिक होना ही उसकी स्वरूपाभिव्यक्ति है।

भाष्य

विवेकविज्ञानं शरीरात् समुत्थानम्, विवेकविज्ञानफलं स्वरूपेणाऽभिनिष्पत्तिः केवलात्मस्वरूपावगतिः। तथा विवेकाविवेकमात्रेणैवाऽऽत्मनोऽशरीरत्वं सशरीरत्वं च मन्त्रवर्णात् 'अशरीरं शरीरेषु' (का० १।२।२२) इति, 'शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते' (गी० १३।३१) इति च सशरीरत्वाशरीरत्वविशेषाभावस्मरणात्। तस्माद् विवेकविज्ञानाभावादनाविर्भूतस्वरूपः सन् विवेकविज्ञानादाविर्भूत-

भाष्यका अनुवाद

शरीरसे समुत्थान है और इस विवेकज्ञानका फल—आत्मस्वरूपका साक्षात्कार होना ही स्वरूपाभिव्यक्ति है। इसी प्रकार विवेक और अविवेकसे ही आत्मा अशरीर और सशरीर है, क्योंकि 'अशरीरं०' और 'शरीरस्थोऽपि०' (हे कौन्तेय! वह शरीरस्थ है तो भी वह न कुछ करता है, न किसी कर्मसे लिप्त होता है) इन श्रुति और स्मृतियोंसे सशरीरत्व और अशरीरत्वमें कोई विशेष—भेद देखनेमें नहीं आता। इसलिए विवेकज्ञानके अभावसे अनभिव्यक्त स्वरूप हो-

रत्नप्रभा

मयः प्राणेषु" (बृ० ४।४।२२) इत्याद्यया सिद्धमित्यर्थः। प्राणादिभिन्नशुद्धत्वम्पदार्थज्ञानस्य वाक्यार्थसाक्षात्कारः फलमित्याह---केवलेति। सशरीरत्वस्य सत्यत्वात् समुत्थानम्--उत्क्रान्तिरिति व्याख्येयम्, न विवेक इत्याशङ्क्याऽऽह---तथा विवेकेति। उक्तश्रुत्यनुसारेणेत्यर्थः। "शरीरेष्वशरीरम् अवस्थितम्" इति श्रुतेः अविवेकमात्रकल्पितं सशरीरत्वम्, अतो विवेक एव समुत्थानमित्यर्थः। ननु स्वकर्मार्जिते शरीरे भोगस्य अपरिहार्यत्वात् कथं जीवत एव स्वरूपाविर्भाव इत्यत आह---शरीरस्थोऽपीति। अशरीरवत् शरीरस्थस्याऽपि बन्धाभावस्मृतेः जीवतो मुक्तिर्युक्ता इत्यर्थः। अविरुद्धे श्रुत्यर्थे सूत्रशेषो युक्त इत्याह- तस्मादिति।

रत्नप्रभाका अनुवाद

त्वंपदार्थश्रुतिसे सिद्ध। प्राणादिसे भिन्न शुद्ध त्वंपदार्थके ज्ञानका फल वाक्यार्थका साक्षात्कार है, ऐसा कहते हैं—"केवल" इत्यादिसे। सशरीरत्व सत्य है, इसलिए समुत्थानका अर्थ करना चाहिए—उत्क्रान्ति अर्थात् शरीरसे निकलना, उसका विवेक अर्थ नहीं करना चाहिए, ऐसी आशङ्का करके कहते हैं—"तथा विवेक" इत्यादिसे। 'तथा'—उक्तश्रुतिके अनुसार। 'शरीरेष्व०' (अशरीर आत्मा शरीरोंमें अवस्थित है) इस प्रकार श्रुतिमें कहे जानेके कारण सशरीरत्व केवल अविवेकसे कल्पित है, इसलिए विवेक ही समुत्थान है। परन्तु स्वकर्मसे सम्पादित देहमें दुःख आदिका भोग अनिवार्य है, इसलिए जीते जी स्वरूपका आविर्भाव किस प्रकार हो सकता है, इसपर कहते हैं—"शरीरस्थोऽपि" इत्यादि। स्मृति अशरीरके समान शरीरस्थमें भी बन्धनाभावका प्रतिपादन करती है, इसलिए जीते जी मुक्त होनेमें कोई विरोध नहीं है। श्रुत्यर्थके अविरुद्ध सिद्ध होनेपर

भाष्य

स्वरूप इत्युच्यते। न त्वन्यादृशावाविर्भावानाविर्भावौ स्वरूपस्य सम्भवतः स्वरूपत्वादेव। एवं मिथ्याज्ञानकृत एव जीवपरमेश्वरयोर्भेदो न वस्तुकृतः, व्योमवदसङ्गत्वाविशेषात्। कुतश्चैतदेवं प्रतिपत्तव्यम्। यतो 'य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यते' इत्युपदिश्य 'एतदमृतमभयमेतद्ब्रह्म' इत्युपदिशति। योऽक्षिणि

भाष्यका अनुवाद

कर जीव विवेकज्ञानसे अभिव्यक्तस्वरूप कहलाता है। अन्य प्रकारसे स्वरूपकी अभिव्यक्ति और अनभिव्यक्ति नहीं हो सकती, क्योंकि वह स्वरूप है। इसी प्रकार जीव और परमेश्वरका भेद मिथ्याज्ञानजन्य ही है, वास्तविक नहीं है, क्योंकि आत्मा आकाशके समान असङ्ग है। परन्तु यह कैसे जाना जाय? इससे

रत्नप्रभा

अन्यादृशौ सत्यावित्यर्थः। ज्ञानाज्ञानकृतौ आविर्भावतिरोभावाविति स्थिते भेदोऽप्यंशांशित्वकृतो निरस्त इत्याह—एवमिति। अंशादिशून्यत्वम् असंगत्वम्। आत्मा द्रव्यत्वव्याप्यजातिशून्यः, विभुत्वात् व्योमवत् इति आत्मैक्यसिद्धेः भेदो मिथ्या इत्यर्थः। प्रजापतिवाक्याच्च भेदो मिथ्या इति आकांक्षापूर्वकमाह—कुतश्चेत्यादिना। एतद्—भेदस्य सत्यत्वम्, एवम्—नास्तीति, कुत इत्यन्वयः।

रत्नप्रभाका अनुवाद

सूत्रशेष संगत है, ऐसा कहते हैं—"तस्माद्" इत्यादिसे। 'अन्यादृश'—सत्य। आविर्भाव और तिरोभाव ज्ञान और अज्ञानसे होते हैं यह सिद्ध होनेपर अंशत्व और अंशित्वसे कल्पित भेदका भी निरास होता है, ऐसा कहते हैं—"एवम्" इत्यादिसे। अंश आदिसे रहित होना ही आत्माका असंगत्व है। आकाशके समान विभु होनेके कारण आत्मा द्रव्यत्वव्याप्यजातिरहित है, इस अनुमानसे आत्माका ऐक्य सिद्ध होता है, अतः भेद मिथ्या है, ऐसा तात्पर्य है। "कुतश्च" इत्यादिसे आकांक्षापूर्वक यह कहते हैं कि प्रजापतिवाक्यसे भी भेद मिथ्या है। भेद सत्य नहीं है, ऐसा क्यों मानना चाहिए, ऐसा

(१) नैयायिकोंके मतमें नौ द्रव्य हैं—पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश, काल, दिक्, आत्मा और मन। इन नवोंमें रहनेवाली जाति द्रव्यत्व कहलाती है। पृथिवी आदि प्रत्येकमें रहनेवाली पृथिवीत्व, जलत्व आदि जातियाँ द्रव्यत्वव्याप्यजातियाँ हैं, क्योंकि द्रव्यत्वकी अपेक्षा अल्पदेशमें रहती हैं। नैयायिक आकाश, काल, दिक्, और आत्माको विभु मानते हैं। इनमें आकाश, काल, और दिक्को एक एक ही मानते हैं, किन्तु आत्माओंको तो अनेक मानते हैं। आकाश आदि तीन अखण्ड हैं, अतः उनमें रहनेवाले आकाशत्व आदि धर्मों को जाति नहीं मानते हैं। अतः वेदान्ती नैयायिकोंके मतके अनुसार ही आत्माको द्रव्य मानकर अनुमान द्वारा उसमें द्रव्यत्वव्याप्यजातिके संभवका निराकरण करते हैं अर्थात् इस अनुमानसे आत्मा एक ही है, अनेक नहीं, ऐसा सिद्ध करते हैं।

भाष्य

प्रसिद्धो द्रष्टा द्रष्टृत्वेन विभाव्यते सोऽमृताभयलक्षणाद् ब्रह्मणोऽन्यश्चेत् स्यात् ततोऽमृताभयब्रह्मसामानाधिकरण्यं न स्यात्। नाऽपि प्रतिच्छायात्माऽयमक्षिलक्षितो निर्दिश्यते, प्रजापतेर्मृषावादित्वप्रसङ्गात्। तथा द्वितीयेऽपि पर्याये 'य एष स्वप्ने महीयमानश्चरति' इति न प्रथमपर्यायनिर्दिष्टादक्षिपुरुषाद् द्रष्टुरन्यो निर्दिष्टः, 'एतं त्वेव ते भूयोऽनुव्याख्यास्यामि' इत्युपक्रमात्। किञ्च, अहमद्य स्वप्ने हस्तिनमद्राक्षं नेदानीं तं पश्यामीति दृष्टमेव प्रतिबुद्धः प्रत्या-

भाष्यका अनुवाद

कि 'य एषोऽक्षिणि०' (आँखमें यह जो पुरुष दीखता है) ऐसा उपदेश करके 'एतदमृत०' (यह अमृत है, अभय है, यह ब्रह्म है) ऐसा उपदेश किया है। आँखमें जो प्रसिद्ध द्रष्टा द्रष्टारूपसे बताया जाता है, यदि वह अमृत और अभयस्वरूप ब्रह्मसे अन्य हो, तो अमृत और अभयरूप ब्रह्मके साथ उसका सामानाधिकरण्य न होगा। उसी प्रकार आँखमें लक्षित छायात्माका भी निर्देश नहीं है, क्योंकि प्रजापति असत्यवादी हो जायँगे। इसी प्रकार 'य एष महीय०' (स्वप्नमें जो यह वासनामय विषयोंसे पूज्यमान विचरता है) इस द्वितीय पर्यायमें भी प्रथम पर्यायमें निर्दिष्ट अक्षिस्थ पुरुषरूप द्रष्टासे भिन्न द्रष्टाका निर्देश नहीं है, क्योंकि 'एतं त्वेव ते०' (इसीको मैं तुमसे फिर कहता हूँ) ऐसा उपक्रम है। और आज मैंने स्वप्नमें हाथी देखा था, किन्तु अब उसको मैं नहीं देख रहा हूँ, इस प्रकार देखे हुएका ही जागकर निषेध करता

रत्नप्रभा

छायायां ब्रह्मदृष्टिपरम् इदं वाक्यम्, न अभेदपरम् इत्यत आह—नाऽपीति। यस्य ज्ञानात् कृतकृत्यता सर्वकामप्राप्तिः, तम् आत्मानम् अन्विच्छाव इति प्रवृत्तयोः इन्द्रविरोचनयोः यद्यनात्मच्छायां प्रजापतिः ब्रूयात् तदा मृषावादी स्यादित्यर्थः। प्रथमवद् द्वितीयादिपर्याये व्यावृत्तासु अवस्थासु अनुस्यूतात्मा ब्रह्मत्वेनोक्त इत्याह—तथेति। अवस्थाभेदेऽपि अनुस्यूतौ युक्तिमाह—

रत्नप्रभाका अनुवाद

अन्वय है। यह वाक्य तो छायामें ब्रह्मदृष्टिका उपदेश करता है, अभेदका प्रतिपादन नहीं करता, इस शङ्कापर कहते हैं—"नाऽपि" इत्यादि। जिसके ज्ञानसे कृतार्थता और सब कामनाओंकी प्राप्ति होती है, उस आत्माकी खोज करनी चाहिए, इस अभिप्रायसे प्रवृत्त हुए इन्द्र और विरोचनके प्रति यदि प्रजापति आत्माके बदले अनात्मारूप छायाका उपदेश करें, तो असत्यवादी हो जायँगे। प्रथम पर्यायके समान द्वितीय आदि पर्यायोंमें भी भिन्न भिन्न अवस्थाओंमें अनुस्यूत आत्मा ब्रह्म कहा गया है, ऐसा कहते हैं—"तथा" इत्यादिसे। अवस्थाभेद होनेपर

भाष्य

चष्टे। द्रष्टारं तु तमेव प्रत्यभिजानाति—य एवाऽहं स्वप्नमद्राक्षं स एवाऽहं जागरितं पश्यामि—इति। तथा तृतीयेऽपि पर्याये 'नाह खल्वयमेवं संप्रत्यात्मानं जानात्ययमहमस्मीति नो एवेमानि भूतानि' इति सुषुप्तावस्थायां विशेषविज्ञानाभावमेव दर्शयति न विज्ञातारं प्रतिषेधति। यत्तु तत्र 'विनाशमेवापीतो भवति' इति, तदपि विशेषविज्ञानविनाशाभिप्रायमेव, न विज्ञातृविनाशाभिप्रायम्, 'नहि विज्ञातुर्विज्ञातेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वात्' (बृ० ४।३।३०) इति श्रुत्यन्तरात्। तथा चतुर्थेऽपि पर्याये 'एतं त्वेव ते भूयोऽनुव्याख्यास्यामि नो एवान्यत्रैतस्मात्' इत्युपक्रम्य 'मघवन्

भाष्यका अनुवाद

है। द्रष्टा तो वही है, क्योंकि जिस मैंने स्वप्न देखा था, वही मैं जागरण देख रहा हूँ, ऐसी उसे प्रतीति होती है। इसी प्रकार तीसरे पर्यायमें 'नाह खल्वयमेवं०' (निस्सन्देह यह खेदका विषय है कि 'यह मैं हूँ' इस प्रकार न यह आत्माको जानता है और न इन प्राणियोंको ही जानता है) इस तरह श्रुति सुषुप्त अवस्थामें विशेष विज्ञानका अभाव दिखलाती है, विज्ञाताका प्रतिषेध नहीं करती। उसमें 'विनाशमेवा०' (वह विनाशको ही प्राप्त होता है) यह जो कहा गया है, उसका अभिप्राय विशेषविज्ञानके विनाशमें है, विज्ञाताके विनाशमें नहीं है, क्योंकि 'नहि विज्ञातुर्विज्ञाते०' (विज्ञाताकी विज्ञानशक्तिका कभी नाश नहीं होता, क्योंकि वह अविनाशी है) यह दूसरी श्रुति है। इसी प्रकार चौथे पर्यायमें भी 'एतं त्वेव ते०' (इसीको मैं तुमसे फिर कहता हूँ,

रत्नप्रभा

किंचेति। सुषुप्तौ ज्ञातुर्व्यावृत्तिम् आशङ्क्याऽऽह—तथा तृतीय इति। सुषुप्तौ निर्विकल्पज्ञानरूप आत्मा अस्ति इत्यत्र बृहदारण्यकश्रुतिमाह—नहीति। बुद्धेः साक्षिणो नाशो नास्ति, नाशकाभावाद् इत्यर्थः। एवम् अवस्थाभिः असङ्गत्वेन उक्त आत्मैव तुरीयेऽपि ब्रह्मत्वेन उक्त इत्याह—तथेति।

रत्नप्रभाका अनुवाद

भी अवस्थाओंमें अनुस्यूत एक ही है, इस विषयमें युक्ति दिखलाते हैं—"किञ्च" इत्यादिसे। सुषुप्तिमें ज्ञाता भिन्न है, ऐसी आशङ्का करके कहते हैं—"तथा तृतीय" इत्यादिसे। सुषुप्तिमें निर्विकल्पकज्ञानरूप आत्मा है, इस विषयमें प्रमाणरूप बृहदारण्यक श्रुति उद्धृत करते हैं—"नहि" इत्यादिसे। साक्षीकी विज्ञानशक्तिका विनाश नहीं होता, क्योंकि उसका कोई बाधक नहीं है। इस प्रकार अवस्थाओं द्वारा असङ्गरूपसे वर्णित आत्माका ही चौथे पर्यायमें ब्रह्मरूपसे वर्णन किया गया है ऐसा कहते हैं—"तथा" इत्यादिसे।

भाष्य

मर्त्यं वा इदं शरीरम्' इत्यादिना प्रपञ्चेन शरीराद्युपाधिसम्बन्धप्रत्याख्यानेन सम्प्रसादशब्दोदितं जीवं 'स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते' इति ब्रह्मस्वरूपापन्नं दर्शयन्न परस्माद् ब्रह्मणोऽमृताभयस्वरूपादन्यं जीवं दर्शयति।

केचित्तु परमात्मविवक्षायाम् 'एतं त्वेव ते' इति जीवाकर्षणमन्याय्यं मन्यमाना एतमेव वाक्योपक्रमसूचितमपहतपाप्मत्वादिगुणकमात्मानं ते भूयोऽनुव्याख्यास्यामीति कल्पयन्ति। तेषामेतमिति संनिहितावलम्बिनी सर्वनामश्रुतिर्विप्रकृष्येत। भूयःश्रुतिश्चोपरुध्येत, पर्यायान्तराभिहितस्य

भाष्यका अनुवाद

इससे अन्यको नहीं) ऐसा उपक्रम करके 'मघवन् मर्त्यं०' (हे इन्द्र ! यह शरीर निश्चय मरणशील है) इत्यादिसे विस्तारपूर्वक शरीर आदि उपाधियोंके सम्बन्धका निषेध करके 'सम्प्रसाद' शब्दसे निर्दिष्ट जीवमें 'स्वेन रूपेणा०' (अपने स्वरूपसे अभिव्यक्त होता है) इससे ब्रह्मस्वरूपप्राप्ति कहकर प्रजापति अमृत और अभयस्वरूप परब्रह्मसे जीव अन्य नहीं है, ऐसा दिखलाते हैं।

कई एक आचार्य तो परमात्माकी विवक्षामें 'एतं त्वेव०' इससे जीवकी अनुवृत्ति करना अनुचित समझकर वाक्यके उपक्रममें दिखाये गये पापविमुक्तत्व आदि गुणवाले इसी आत्माको मैं तुमसे वारंवार कहता हूँ, ऐसी अर्थकी कल्पना करते हैं। उनके मतमें सन्निहितका बोध करानेवाला 'एतं०' सर्वनाम दूरान्वित हो जायगा। और 'भूयः' श्रवणका बाध भी होगा, क्योंकि एक पर्यायमें

रत्नप्रभा

श्रुतेरेकदेशिव्याख्यां दूषयति—केचित्त्विति। जीवपरयोर्भेदाद् इति भावः। श्रुतिबाधाद् मैवमित्याह—तेषामिति। सन्निहितो जीव एव सर्वनामार्थ इत्यर्थः। उक्तस्य पुनरुक्तौ भूय इति युज्यते। तव तु उपक्रान्तपरमात्मनश्चतुर्थ एवोक्तेः तद्बाध इत्याह—भूय इति। लोकसिद्धजीवानुवादेन ब्रह्मत्वं बोध्यत इति

रत्नप्रभाका अनुवाद

एकदेशी द्वारा किये गये श्रुतिके व्याख्यानको दूषित करते हैं—"केचित्तु" इत्यादिसे। जीव ईश्वर भिन्न भिन्न हैं, इसलिए जीवकी अनुवृत्ति करना उचित नहीं है, यह एक-देशीका मत है। सर्वनामश्रुतिका बाध होता है, इसलिए वह व्याख्यान ठीक नहीं है, ऐसा कहते हैं—"तेषाम्" इत्यादिसे। संनिहित जीव ही सर्वनामका अर्थ है। दूसरी बात यह भी है कि जब उक्तकी ही पुनरुक्ति होती है तभी 'भूयः' पदका प्रयोग किया जाता है। तुम्हारे—एकदेशीके मतमें तो उपक्रान्त परमात्माका चतुर्थ पर्यायमें ही कथन है, अतः उसका ('भूयः' श्रुतिका) बाध होता है, ऐसा कहते हैं—"भूयः" इत्यादिसे।

भाष्य

पर्यायान्तरेणाऽनभिधीयमानत्वात्। 'एतं त्वेव ते' इति च प्रतिज्ञाय प्राक् चतुर्थात् पर्यायादन्यमन्यं व्याचक्षाणस्य प्रजापतेः प्रतारकत्वं प्रसज्येत। तस्माद्यदविद्याप्रत्युपस्थापितमपारमार्थिकं जैवं रूपं कर्तृत्वभोक्तृत्वरागद्वेषादिदोषकलुषितमनेकानर्थयोगि तद्विलयनेन तद्विपरीतमपहतपाप्मत्वादिगुणकं पारमेश्वरं स्वरूपं विद्यया प्रतिपाद्यते, सर्पादिविलयनेनेव रज्ज्वादीन्।

अपरे तु वादिनः पारमार्थिकमेव जैवं रूपमिति मन्यन्तेऽस्मदीयाश्च केचित्। तेषां सर्वेषामात्मैकत्वसम्यग्दर्शनप्रतिपक्षभूतानां प्रतिषेधायेदं शारीरकमारब्धम्। एक एव परमेश्वरः कूटस्थनित्यो विज्ञानधातुरविद्यया

भाष्यका अनुवाद

जिसका कथन है, उसका दूसरे पर्यायमें कथन नहीं रहा। और 'एतं त्वेव ते' ऐसी प्रतिज्ञा करके चतुर्थ पर्यायके पूर्वतक अन्यान्य पदार्थोंका व्याख्यान करनेवाले प्रजापति प्रतारक हो जायँगे। इसलिए जैसे सर्पके बाधसे रस्सीके पारमार्थिक स्वरूपका प्रतिपादन होता है, उसी प्रकार अविद्याजन्य कर्तृत्व, भोक्तृत्व, राग, द्वेष आदि दोषोंसे मलिन और अनेक अनर्थोंसे युक्त जीवके अपारमार्थिक स्वरूपका बाध करके विद्या उससे विपरीत पापराहित्य आदि गुणवाले परमेश्वरके स्वरूपका प्रतिपादन करती है।

परन्तु दूसरे वादी और हमारे पक्षके भी कुछ लोग जीवका रूप पारमार्थिक है, ऐसा मानते हैं। आत्मा एक है इस बातको न माननेवाले उन सभी वादियोंके निराकरणके लिए इस शारीरक शास्त्रका आरम्भ किया गया है। जिसमें

रत्नप्रभा

स्वमतमुपसंहरति—तस्मादिति। व्याख्यानान्तरासम्भवादित्यर्थः। विलयनं—शोधनम् विद्यया—महावाक्येन इति यावद्।

ये तु संसारं सत्यम् इच्छन्ति, तेषाम् इदं शारीरकमेव उत्तरम् इत्याह—अपरे त्वित्यादिना। शारीरकस्य अर्थं संक्षेपेण उपदिशति—एक एवेति।

रत्नप्रभाका अनुवाद

लोकसिद्ध जीवका अनुवाद करके उसीका ब्रह्मरूपसे बोध होता है—इस अपने मतका उपसंहार करते हैं—"तस्माद्" इत्यादिसे। 'तस्मात्' अर्थात् अन्य व्याख्यानोंके सम्भव न होनेसे। विलयनसे—शोधनसे। विद्यासे—महावाक्यसे।

जो संसारको सत्य मानते हैं, उनके लिए यह शारीरक ही उत्तर है ऐसा कहते हैं—"अपरे तु" इत्यादिसे। शारीरक (शास्त्र) का अर्थ संक्षेपसे दिखलाते हैं—"एक एव"

भाष्य

मायया मायाविवदनेकधा विभाव्यते नान्यो विज्ञानधातुरस्तीति । यत्त्विदं परमेश्वरवाक्ये जीवमाशङ्क्य प्रतिषेधति सूत्रकारः—'नासम्भवात्' (ब्र० १।३।१८) इत्यादिना । तत्राऽयमभिप्रायः—नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावे कूटस्थनित्ये एकस्मिन्नसङ्गे परमात्मनि तद्विपरीतं जैवं रूपं व्योम्नीव तलमलादि परिकल्पितम् । तदात्मैकत्वप्रतिपादनपरैर्वाक्यैर्न्यायोपेतैर्द्वैतवादप्रतिषेधैश्चाऽपनेष्यामीति परमात्मनो जीवादन्यत्वं द्रढयति । जीवस्य तु न पर-

भाष्यका अनुवाद

परमेश्वर एक ही है, वह कूटस्थ नित्य है, विज्ञानस्वरूप है, किन्तु ऐन्द्रजालिकके समान मायासे अनेक प्रकारका प्रतीत होता है, उससे अन्य विज्ञानरूप कोई वस्तु नहीं है, ऐसा प्रतिपादन किया गया है। परमेश्वरवाक्यमें जीवकी आशङ्का करके सूत्रकार 'नासम्भवात्' इत्यादिसे जो प्रतिषेध करते हैं, इसका अभिप्राय यह है कि—नित्य, शुद्ध, बुद्ध और मुक्तस्वरूप कूटस्थ नित्य, एक, असंग परमात्मामें उससे विपरीत जीवरूप, आकाशमें भूतलकी मलिनता आदिके समान, परिकल्पित है। न्यायसे युक्त आत्माका एकत्व प्रतिपादन करनेवाले और द्वैतका प्रतिषेध करनेवाले वाक्यों द्वारा उसको दूर करूँगा, इस आशयसे परमात्माका जीवसे

रत्नप्रभा

अविद्यामाययोः भेदं निरसितुं सामानाधिकरण्यम् । आवरणविक्षेपशक्तिरूपशब्दप्रवृत्तिनिमित्तभेदात् सहप्रयोगः, ब्रह्मैव अविद्यया संसरति, न ततोऽन्यो जीव इति शारीरकार्थः इत्यर्थः । तर्हि सूत्रकारः किमिति भेदं ब्रूते ? तत्राऽऽह—यत्त्विति । परमात्मनोऽसंसारित्वसिद्ध्यर्थं जीवाद् भेदं द्रढयति । तस्य असंसारित्वनिश्चयाभावे तदभेदोक्तावपि जीवस्य संसारित्वानपायाद् इत्यर्थः । अधिष्ठानस्य कल्पिताद् भेदेऽपि कल्पितस्य अधिष्ठानान्न पृथक् सत्त्वमि-

रत्नप्रभाका अनुवाद

इत्यादिसे। अविद्या और मायामें किसीको भेदप्रतीति न हो, इसलिए दोनोंका सामानाधिकरण्य दिखलाया है। शब्दप्रवृत्तिके निमित्तभूत आवरणशक्ति और विक्षेपशक्तिके भेदसे दोनोंका एक साथ प्रयोग किया गया है। ब्रह्म ही अविद्यासे संसारी होता है। जीव उससे अन्य कोई वस्तु नहीं है, ऐसा शारीरक शास्त्रका प्रतिपाद्य अर्थ है। तब सूत्रकार दोनोंमें भेद कैसे दिखलाते हैं ? इसपर कहते हैं—"यत्तु" इत्यादि। परमात्मामें असंसारित्वकी सिद्धिके लिए वह जीवसे भिन्न कहा गया है। परमात्मा असंसारी है जब तक ऐसा निश्चय नहीं हो जाय, तब तक उससे जीव अभिन्न है ऐसा कहनेसे भी

भाष्य

सादन्यत्वं प्रतिपिपादयिषति किन्त्वनुवदत्येवाऽविद्याकल्पितं लोकप्रसिद्धं जीवभेदम्। एवं हि स्वाभाविककर्तृत्वभोक्तृत्वानुवादेन प्रवृत्ताः कर्मविधयो न विरुध्यन्त इति मन्यते। प्रतिपाद्यं तु शास्त्रार्थमात्मैकत्वमेव दर्शयति—'शास्त्रदृष्ट्या तूपदेशो वामदेववत्' (ब्र० १।१।३०) इत्यादिना। वर्णितश्चाऽस्माभिर्विद्वदविद्वद्भेदेन कर्मविधिविरोधपरिहारः ॥१९॥

भाष्यका अनुवाद

भेद दृढ़ करते हैं। जीवका परमात्मासे भेदप्रतिपादन करना नहीं चाहते, किन्तु अविद्यासे कल्पित लोकप्रसिद्ध जीवभेदका केवल अनुवाद करते हैं। इस प्रकार स्वाभाविक कर्तृत्व और भोक्तृत्वका अनुवाद करनेसे प्रवृत्त हुई कर्मविधियाँ विरुद्ध नहीं होतीं ऐसा मानते हैं। आत्माका एकत्वरूप जो शास्त्रार्थ–शास्त्र प्रतिपाद्य है, उसका सूत्रकार 'शास्त्रदृष्ट्या तूपदेशो वामदेववत्' इत्यादिसे प्रतिपादन करते हैं, हमने विद्वान् और अविद्वान्के भेदसे कर्मविधिके विरोधके परिहारका वर्णन किया है ॥ १९ ॥

रत्नप्रभा

त्याह—जीवस्य त्विति। कल्पितभेदानुवादस्य फलमाह—एवं हीति। सूत्रेषु अभेदो नोक्त इति भ्रान्तिं निरस्यति—प्रतिपाद्यमिति। "आत्मेति तूपगच्छन्ति ग्राहयन्ति च" (ब्र० ४।१।३) इत्यादिसूत्राणि आदिपदार्थः। ननु अद्वैतस्य शास्त्रार्थत्वे द्वैतापेक्षविधिविरोधः, तत्राऽऽह—वर्णितश्चेति। अद्वैतमजानतः कल्पितद्वैताश्रया विधयो न विदुष इति सर्वम् उपपन्नमित्यर्थः ॥१९॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

जीवका संसारित्व नहीं मिट सकता। अधिष्ठानका कल्पित पदार्थसे भेद है, तो भी कल्पितका अधिष्ठानसे पृथक् अस्तित्व नहीं है, ऐसा कहते हैं—"जीवस्य तु" इत्यादिसे। कल्पित भेदके अनुवादका फल कहते हैं—"एवं हि" इत्यादिसे। सूत्रोंमें अभेद नहीं कहा गया है, इस भ्रान्तिका निराकरण करते हैं—"प्रतिपाद्यम्" इत्यादिसे। आदिपदसे 'आत्मेति तूप०' इत्यादि सूत्रोंका ग्रहण करना चाहिए। यदि कोई कहे कि अद्वैत ही यदि शास्त्रतात्पर्यविषय हो, तो द्वैतकी अपेक्षासे होनेवाली विधिका विरोध होगा, इसपर कहते हैं—"वर्णितश्च" इत्यादि। अद्वैतको न जाननेवालेके लिए ही कल्पित द्वैतकी अपेक्षा रखनेवाली विधियाँ हैं, विद्वान्के लिए नहीं हैं, इस प्रकार सब उपपन्न होता है ॥ १९ ॥

अन्यार्थश्च परामर्शः ॥२०॥

पदच्छेद—अन्यार्थः, च, परामर्शः ।

पदार्थोक्ति—परामर्शश्च—'सम्प्रसादः' इति जीवपरामर्शस्तु, अन्यार्थः—परमात्मप्रतिपादनपरः [न जीवप्रतिपादनपरः] ।

भाषार्थ—श्रुतिमें 'सम्प्रसाद' शब्दसे जो जीवका परामर्श किया है, वह परमात्मप्रतिपादनपरक है अर्थात् परमात्माका प्रतिपादक है, जीवका प्रतिपादक नहीं है ।

भाष्य

अथ यो दहरवाक्यशेषे जीवपरामर्शो दर्शितः—'अथ य एष सम्प्रसादः' (छा० ८।३।४) इत्यादिः, स दहरे परमेश्वरे व्याख्यायमाने न जीवोपासनोपदेशो न प्रकृतविशेषोपदेश इत्यनर्थकत्वं प्राप्नोतीति । अत आह—अन्यार्थः । अयं जीवपरामर्शो न जीवस्वरूपपर्यवसायी, किं तर्हि ?

भाष्यका अनुवाद

अब जो दहरवाक्यके शेषमें 'अथ य एष०' इत्यादिसे जीवका परामर्श दिखलाया गया है, वह—यदि दहर परमेश्वर है ऐसा मानें, तो जीवकी उपासनाका उपदेश न करने और प्रकृत दहराकाशरूप विशेषका भी उपदेश न करनेके कारण—अनर्थक हो जायगा। इसलिए कहते हैं कि जीवका परामर्श अन्यार्थ है, जीवके स्वरूपमें इसका पर्यवसान नहीं होता; किन्तु

रत्नप्रभा

एवं प्रजापतिवाक्ये जीवानुवादेन ब्रह्मण एवाऽपहतपाप्मत्वाद्युक्तेः जीवे तदसम्भावाद् न जीवो दहर इत्युक्तम्, तर्हि जीवपरामर्शस्य का गतिरित्यत आह—अन्यार्थश्चेति । सूत्रं व्याचष्टे—अथेत्यादिना । प्रकृते दहरे विशेषो गुणः

रत्नप्रभाका अनुवाद

इस प्रकार प्रजापतिवाक्यमें जीवके अनुवादसे ब्रह्मके ही पापराहित्य आदि धर्म कहे गये हैं और जीवमें इन धर्मोंका असम्भव है, इसलिए जीव दहर नहीं है, ऐसा कहा है। तब दहरवाक्यशेषमें जो जीवपरामर्श किया गया है, उसकी क्या गति होगी ? इसपर कहते हैं—"अन्यार्थश्च" इत्यादि । प्रकृत दहरके विशेष—गुणका भी उपदेश नहीं है । दहरवाक्यशेषरूप

भाष्य

परमेश्वरस्वरूपपर्यवसायी। कथम्? सम्प्रसादशब्दोदितो जीवो जागरितव्यवहारे देहेन्द्रियपञ्जराध्यक्षो भूत्वा तद्वासनानिर्मितांश्च स्वप्नान्नाडीचरोऽनुभूय श्रान्तः शरणं प्रेप्सुरुभयरूपादपि शरीराभिमानात् समुत्थाय सुषुप्तावस्थायां परं ज्योतिराकाशशब्दितं परं ब्रह्मोपसम्पद्य विशेषविज्ञानवत्त्वं च परित्यज्य स्वेन रूपेणाऽभिनिष्पद्यते। यदस्योपसम्पत्तव्यं परं ज्योतिः येन स्वेन रूपेणाऽयमभिनिष्पद्यते, स एष आत्माऽपहतपाप्मत्वादिगुणः उपास्य इत्येवमर्थोऽयं जीवपरामर्शः परमेश्वरवादिनोऽप्युपपद्यते ॥२०॥

भाष्यका अनुवाद

परमेश्वरके स्वरूपमें पर्यवसान होता है। किस प्रकार? 'संप्रसाद' शब्दसे उक्त जीव जाग्रदवस्थामें देह और इन्द्रियोंके पंजरका अध्यक्ष होकर, नाड़ीमें जाकर, उसकी वासनाओंसे उत्पन्न हुए स्वप्नका अनुभव करके जब थक जाता है, तब विश्राम-स्थान प्राप्त करनेकी इच्छासे दोनों तरहके[1] शरीराभिमानसे उठकर सुषुप्त अवस्थामें परज्योति आकाशशब्दसे उक्त परब्रह्मको प्राप्त कर, विशेष विज्ञानवत्त्वका परित्याग करके अपने स्वरूपसे अभिव्यक्त होता है। जो इसके प्राप्त करनेके योग्य परम ज्योति है और जिस पारमार्थिक स्वरूपसे अभिव्यक्त होता है, वह आत्मा अपहतपाप्मत्व आदि गुणवाला उपास्य है; इस आशयसे कथित जीवका परामर्श परमेश्वरवादीके मतमें भी उपपन्न होता है ॥२०॥

रत्नप्रभा

तदुपदेशोऽपि नेत्यर्थः। तत्र दहरवाक्यशेषरूपं सम्प्रसादवाक्यम् आशङ्कापूर्वकं दहरब्रह्मपरत्वेन व्याचष्टे— कथमित्यादिना ॥ २० ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

जो सम्प्रसादवाक्य है, उसका "कथम्" इत्यादिसे आशंकापूर्वक व्याख्यान करते हैं कि वह वाक्य दहरब्रह्मका प्रतिपादक है ॥ २० ॥

---

(१) सूक्ष्मशरीराभिमान और स्थूलशरीराभिमान, इस प्रकार शरीराभिमान दो तरहका है अथवा तादात्म्याभिमान और सम्बन्धाभिमान, इस रूपसे शरीराभिमान दो तरहका है। इस अभिमानका त्याग करना ही शरीराभिमानसे उठना है।

अल्पश्रुतेरिति चेत्तदुक्तम् ॥२१॥

पदच्छेद—अल्पश्रुतेः, इति, चेत्, तत्, उक्तम् ।

पदार्थोक्ति—अल्पश्रुतेः—'दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशः' इत्यल्पत्वश्रवणात् [न दहरः परमात्मा, किन्तु जीव एव] इति चेत्, तदुक्तम्—तत्—तत्र उक्तम् समाधानम् अर्भकौकस्त्वादित्यत्र [अतः दहराकाशः परमात्मैव] ।

भाषार्थ—'दहरोऽस्मि०' (इस हृदयमें अल्प अन्तराकाश है) इस वाक्यमें आकाश दहर—अल्प कहा गया है, अतः दहर परमात्मा नहीं है, किन्तु जीव ही है, ऐसा यदि कोई कहे तो यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि इसका समाधान 'अर्भकौकस्त्वात्०' (ब्र० १।२।७) सूत्रमें कहा गया है, इस कारण दहराकाश परमात्मा ही है।

भाष्य

यदप्युक्तम्—'दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशः' इत्याकाशस्याऽल्पत्वं श्रूयमाणं परमेश्वरे नोपपद्यते, जीवस्य त्वाराग्रोपमितस्याऽल्पत्वमवकल्पत इति, तस्य परिहारो वक्तव्यः । उक्तो ह्यस्य परिहारः—परमेश्वरस्याऽऽपेक्षिकमल्पत्वमवकल्पत इति, 'अर्भकौकस्त्वात्तद्व्यपदेशाच्च नेति चेन्न निचाय्यत्वादेवं व्योमवच्च' (ब्र०१।२।७) इत्यत्र । स एवेह परिहारोऽनुसन्धातव्य इति सूचयति । श्रुत्यैव चेदमल्पत्वं प्रत्युक्तं प्रसिद्धेनाऽऽकाशेनोपमिमानया 'यावान्वा अयमाकाशस्तावानेषोऽन्तर्हृदय आकाशः' इति ॥ २१ ॥

भाष्यका अनुवाद

'दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशः' इस प्रकार आकाश के विषयमें श्रुतिद्वारा प्रतिपादित अल्पत्व परमेश्वरमें उपपन्न नहीं होता किन्तु आरके अग्र भागके सदृश जीवमें तो अल्पत्व उपपन्न होता है, ऐसा जो पीछे कहा गया है, उसका परिहार करना चाहिए। इसका परिहार 'अर्भकौकस्त्वात्तद्०' इस सूत्रमें कहा गया है कि परमेश्वरका अल्पत्व अपेक्षाकृत है, उसी परिहारका अनुसन्धान यहां भी करना चाहिए, ऐसा सूत्रकार सूचित करते हैं। और 'यावान् वा अयमाका०' (जितना बड़ा यह बाह्य आकाश है, उतना ही यह आकाश हृदयमें है) यह श्रुति ही प्रसिद्ध आकाश से उपमा देकर अल्पत्वका निरास करती है ॥२१॥

रत्नप्रभा

उपास्यत्वाद् अल्पत्वम् उक्तमिति व्याख्याय श्रुत्या निरस्तमित्यर्थान्तरमाह—श्रुत्यैव चेदमिति । एवं दहरवाक्यं प्रजापतिवाक्यं च सगुणे निर्गुणे च समन्वितमिति सिद्धम् ॥ २१ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

उपास्य होनेके कारण दहराकाश अल्प है, ऐसा व्याख्यान करके श्रुतिने अल्पत्वका निरसन किया है, ऐसा अन्य अर्थ कहते हैं—"श्रुत्यैव चेदम्" इत्यादिसे । इस प्रकार दहरवाक्य और प्रजापतिवाक्यका क्रमशः सगुण और निर्गुणमें समन्वय सिद्ध हुआ ॥ २१ ॥

[६ अनुकृत्यधिकरण सू० २२-२३]

न तत्र सूर्यो भातीति तेजोऽन्तरसुतापि चित् ।
तेजोऽभिभावकत्वेन तेजोन्तरमिदं महत् ॥१॥
चित्स्यात्सूर्याद्यभास्यत्वात् तादृक् तेजोऽप्रसिद्धितः ।
सर्वस्मात्पुरतो भानात्तद्भासा चान्यभासनात्* ॥२॥

[अधिकरणसार]

सन्देह—'न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकम्' इत्यादि श्रुतिमें प्रतिपादित जगद्भासक सूर्य आदिसे अतिरिक्त कोई दृष्टिगोचर तेजस्वी पदार्थ है अथवा चेतनरूप ब्रह्म ?

पूर्वपक्ष—सूर्य आदि तेजका अभिभावक होनेके कारण वह सूर्य आदिसे अतिरिक्त कोई विपुल तेज ही हो सकता है ।

सिद्धान्त—सूर्य आदिसे भास्य न होने, सूर्य आदिको अभिभूत करनेवाले किसी दूसरे तेजके प्रसिद्ध न होने, सबसे पहले भान होने एवं अपनी भासे अन्य सबको भासित करनेके कारण उक्त श्रुतिमें कथित जगद्भासक चैतन्यरूप ब्रह्म ही है ।

---

* निष्कर्ष यह कि मुण्डकोपनिषद्की श्रुति है कि 'न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः । तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ॥' 'अर्थात् पूर्व प्रस्तुत सब ज्योतियोंकी ज्योतिके सामने सूर्य आदिका प्रकाश फीका पड़ जाता है। इतना ही नहीं किन्तु सूर्य आदि सब ज्योतियोंके भासक उस अलौकिक पदार्थके पहले भासित होनेपर ही सारा जगत् भासित होता है। जगत् अपनी प्रकाशमान दशामें अपने स्वतन्त्र प्रकाशसे प्रकाशित नहीं होता, बल्कि उसी सर्वभासक पदार्थकी भासे ही प्रकाशित होता है ।' यहांपर सन्देह होता है कि उक्त वाक्यमें प्रतिपादित जगद्भासक, सूर्य आदिके समान दृष्टिगोचर होनेवाला कोई अतिरिक्त तेज है, या चैतन्यरूप ब्रह्म है ?

पूर्व पक्षी कहता है कि वह अन्य तेज ही है, क्योंकि वह सूर्य आदिके तेजको अभिभूत करनेवाला कहा गया है, सूर्यके सामने दीपकी तरह बड़े तेजके ही सामने छोटा तेज अभिभूत होता है । इससे प्रतीत होता है कि सूर्य आदिको अभिभूत करनेवाला सूर्य आदिसे अधिक कोई अतिरिक्त तेज ही है ।

सिद्धान्ती कहते हैं कि जो पदार्थ सूर्य आदिसे अभास्य कहा गया है वह चैतन्यरूप ब्रह्म ही है, क्योंकि प्रथम तो सूर्य आदिका अभिभावक कोई विपुल तेज प्रसिद्ध ही नहीं है, दूसरे 'तमेव भान्तमनुभाति' के अनुसार सबसे पहले भासना चैतन्यरूप ब्रह्मका ही धर्म है, तीसरे प्रकाश और अप्रकाशरूप सारे जगत्का भासक होना भी चैतन्यका ही धर्म है। इससे सिद्ध हुआ कि उक्त वाक्यमें चैतन्यरूप ब्रह्म ही कहा गया है ।

अनुकृतेस्तस्य च ॥२२॥

पदच्छेद—अनुकृतेः, तस्य, च ।

पदार्थोक्ति—अनुकृतेः—['न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकम्' इत्यादि-मन्त्रे प्रतीयमानं वस्तु न तेजोविशेषः, किन्तु ब्रह्मैव, कुतः] सर्वपदार्थानां तत्तेजोऽनुकरणात्, तस्य च—ब्रह्मणो भासैव सर्वेषां भास्यत्वावगमात् ।

भाषार्थ—'न तत्र सूर्यो०, (न उसको सूर्य प्रकाशित कर सकता है, न चन्द्रमा, नक्षत्र, बिजुली आदि ही प्रकाशित कर सकते हैं, इस अग्निकी तो कथा ही क्या है अर्थात् अग्नि भी उसे प्रकाशित नहीं कर सकती है । ये सब उसीके प्रकाशका अनुकरण करते हैं, उसीके प्रकाशसे यह सारा जगत् प्रकाशित होता है) इत्यादि स्थलमें प्रतीयमान वस्तु कोई तेजोविशेष नहीं है, किन्तु ब्रह्म ही है, क्योंकि श्रुतिमें कहा है कि उसके प्रकाशका ही सब अनुकरण करते हैं, और श्रुतिसे यह भी प्रतीत होता है कि ब्रह्मके प्रकाशसे ही सारा जगत् प्रकाशित होता है ।

—o—

भाष्य

'न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः ।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ॥'

भाष्यका अनुवाद

न तत्र सूर्यो भाति०' (उस स्वात्मभूत ब्रह्मको न सूर्य, चन्द्रमा तथा तारे प्रकाशित कर सकते हैं और न बिजुलियां ही प्रकाशित कर सकती हैं, अग्निकी तो कथा ही क्या है ? उसी परमेश्वरके प्रकाशित होनेके अनन्तर सब प्रकाशित होते हैं, उसके प्रकाशसे यह सारा जगत् प्रकाशित होता है) ऐसी श्रुति है । उक्त

रत्नप्रभा

अनुकृतेस्तस्य च। मुण्डकवाक्यम् उदाहरति—न तत्रेति । तस्मिन् ब्रह्मणि विषये न भाति, तं न भासयति इति यावत् । यदा चण्डभास्करादिर्न भासयति, तदा अल्पदीप्तेः अग्नेः का कथा इत्याह—कुत इति । किञ्च, सर्वस्य सूर्यादेः

रत्नप्रभाका अनुवाद

"न तत्र" इत्यादि मुण्डकवाक्यको उद्धृत करते हैं। सूर्य उस ब्रह्ममें नहीं प्रकाशता अर्थात् सूर्य ब्रह्मको प्रकाशित नहीं कर सकता। जब प्रचण्ड भास्कर आदि ब्रह्मको प्रकाशित नहीं कर सकते, तो जिसका प्रकाश बहुत थोड़ा है, वह अग्नि उसे कैसे प्रकाशित कर सकेगी,

भाष्य

(मु० २।२।१०) इति समामनन्ति। तत्र यं भान्तमनुभाति सर्वं यस्य च भासा सर्वमिदं विभाति, स किं तेजोधातुः कश्चिदुत प्राज्ञ आत्मेति विचिकित्सायां तेजोधातुरिति तावत् प्राप्तम्। कुतः? तेजोधातूनामेव सूर्या-

भाष्यका अनुवाद

वाक्यमें जिसके प्रकाशित होनेसे ये सब सूर्य, चन्द्र आदि चमकते हैं और जिसके प्रकाशसे यह सारा जगत् प्रकाशित होता है, उसके विषयमें सन्देह होता है कि क्या वह कोई तेजस्वी पदार्थ है अथवा परमात्मा है?

पूर्वपक्षी—वह तेजस्वी पदार्थ है, क्योंकि सूर्य आदि तेजस्वी पदार्थोंके ही

रत्नप्रभा

तद्भास्यत्वाद् न तद्भासकत्वमित्याह—तमेवेति। अनुगमनवद् अनुभानं स्वगत-भानकृतमिति शङ्कां निरस्यति—तस्येति। तत्रेति सप्तम्याः सति विषये च साधारण्यात् संशयमाह—तत्रेति। पूर्वत्र आत्मश्रुत्यादिबलाद् आकाशशब्दस्य रूढित्यागाद् ईश्वरे वृत्तिराश्रिता, तथा इहाऽपि सतिसप्तमीबलाद् वर्तमानार्थत्यागेन यस्मिन् सति सूर्यादयो न भास्यन्ति, स तेजोविशेष उपास्य इति भविष्यदर्थे वृत्तिराश्रयणीया। अधुना भासमाने सूर्यादौ न भातीति विरोधाद् इति दृष्टान्तेन पूर्वपक्षयति—तेजोधातुरिति। तेजोध्यानं निर्गुणस्वयंज्योतिरात्मज्ञानमिति उभयत्र फलम्। तेजोधातुत्वे लिङ्गमाह—तेजोधातूनामेवेति। यत्तेजसोऽभिभावकं

रत्नप्रभाका अनुवाद

ऐसा श्रुति कहती है—"कुतः" इत्यादिसे। और "तमेव" इत्यादिसे कहती है—सूर्य आदि सब पदार्थोंका भासक ब्रह्म है, इसलिए उसका भासक कोई नहीं है। जैसे कोई अपनी गतिसे अनुगमन करता है, उसी प्रकार स्वगत भान—प्रकाशसे अनुभान करता है, ऐसी आशङ्काको दूर करनेके लिए श्रुति कहती है—"तस्य" इत्यादि। 'तत्र' यह सप्तमी सतिसप्तमी और विषयसप्तमी दोनों हो सकती है, अतः सन्देह करते हैं—"तत्र" इत्यादिसे। पूर्व अधिकरणमें आत्मश्रुति आदिके बलसे रूढ़िका त्याग करके आकाशशब्द ईश्वरवाचक माना गया है, उसी प्रकार यहां भी सतिसप्तमीके बलसे वर्तमानरूप अर्थका परित्याग करके जिसकी सत्तामें सूर्य आदि प्रकाशित नहीं होंगे, वह तेजोविशेष उपासनायोग्य है, इस प्रकार भविष्यदर्थमें वृत्तिका आश्रयण करना चाहिए, क्योंकि जिस वर्तमान समयमें सूर्य आदि प्रकाशमान हैं उस समय 'नहीं भासते हैं' यह कहना विरुद्ध है, इस प्रकार दृष्टान्तसे पूर्वपक्ष करते हैं—"तेजोधातु" इत्यादिसे। पूर्वपक्षमें तेजोविशेषका ध्यान फल है और सिद्धान्तमें निर्गुण स्वयंज्योति आत्माका ज्ञान फल है। तेजोधातुको स्वीकार करनेमें हेतु देते हैं—"तेजोधातूनामेव"

भाष्य

दीनां भानप्रतिषेधात्। तेजःस्वभावकं हि चन्द्रतारकादि तेजःस्वभावक एव सूर्ये भासमानेऽहनि न भासत इति प्रसिद्धम्, तथा सह सूर्येण सर्वमिदं चन्द्रतारकादि यस्मिन्न भासते, सोऽपि तेजःस्वभाव एव कश्चिदित्यवगम्यते। अनुभानमपि तेजःस्वभावक एवोपपद्यते, समानस्वभावकेष्वनुकारदर्शनात्, गच्छन्तमनुगच्छतीतिवत्। तस्मात् तेजोधातुः कश्चित्।

इत्येवं प्राप्ते ब्रूमः—प्राज्ञ एवाऽयमात्मा भवितुमर्हति। कस्मात्? अनु-

भाष्यका अनुवाद

भानका प्रतिषेध किया है। दिनमें जब कि तेजस्वी सूर्य प्रकाशमान रहता है, तब तेजःस्वभाववाले चन्द्र, तारे आदि नहीं चमकते हैं, यह प्रसिद्ध है। उसी प्रकार सूर्यके साथ चन्द्र, तारे आदि ये सब जिसके सामने फीके पड़ जाते हैं, वह भी तेजःस्वभाव ही है, ऐसा समझा जाता है। अनुभान भी तभी संगत होता है, जब कि तेज जिसका स्वभाव है, ऐसा कोई पदार्थ हो, क्योंकि समान स्वभाववालेमें ही अनुकरण दिखाई देता है, जैसे कि 'जाते हुएके पीछे जाता है' इसमें स्पष्ट है। इससे प्रतीत होता है कि वह कोई एक तेजस्वी पदार्थ ही है।

सिद्धान्ती—ऐसा प्राप्त होनेपर कहते हैं—वह परमात्मा ही है, क्योंकि

रत्नप्रभा

तत्तेज इति व्याप्तिमाह—तेजःस्वभावकमिति। यस्मिन् सति यन्न भाति तदनु तद् भातीति विरुद्धमित्यत आह—अनुभानमपीति। ततो निकृष्टभानं विवक्षितमिति भावः।

मुख्यसम्भवे विवक्षानुपपत्तेः मुख्यानुभानलिङ्गात् सर्वभासकः परमात्मा स्वप्रकाशकोऽत्र ग्राह्य इति सिद्धान्तमाह—प्राज्ञ इति। प्राज्ञत्वम्—स्वप्रकाशकत्वं भासक-

रत्नप्रभाका अनुवाद

जो तेजका अभिभावक है, वह तेज है, ऐसी व्याप्ति कहते हैं—"तेजःस्वभावकम्" इत्यादिसे। जिसके रहते जो प्रकाश नहीं करता वह उस तेजःपदार्थके पीछे प्रकाश करे यह विरुद्ध है, इसपर कहते हैं—"अनुभानमपि" इत्यादि। अर्थात् उस अतितेजस्वी पदार्थके भानकी अपेक्षा निकृष्ट भान विवक्षित है।

मुख्य अनुभानका सम्भव होने पर गौण निकृष्ट भानकी विविक्षा अनुपपन्न है, इसलिए मुख्य अनुभानलिङ्गसे सर्वभासक और स्वप्रकाश परमात्मा ही यहाँ ग्राह्य है, ऐसा सिद्धान्त करते हैं—"प्राज्ञ एव" इत्यादिसे। प्राज्ञ–स्वप्रकाशक। आत्मा स्वप्रकाशक है, यह दिखलानेके

भाष्य

कृतेः। अनुकरणमनुकृतिः। यदेतत् 'तमेव भान्तमनुभाति सर्वम्' इत्यनुभानम्, तत् प्राज्ञपरिग्रहेऽवकल्पते। 'भारूपः सत्यसङ्कल्पः' (छा० ३।१४।२) इति हि प्राज्ञमात्मानमामनन्ति, न तु तेजोधातुं कञ्चित् सूर्यादयोऽनुभान्तीति प्रसिद्धम्। समत्वाच्च तेजोधातूनां सूर्यादीनां न तेजोधातुमन्यं प्रत्यपेक्षाऽस्ति यं भान्तमनुभायुः। नहि प्रदीपः प्रदीपान्तरमनुभाति। यदप्युक्तम्—समानस्वभावकेष्वनुकारो दृश्यत—इति। नाऽयमेकान्तो नियमः, भिन्नस्वभावकेष्वपि ह्यनुकारो दृश्यते, यथा सुतप्तोऽयःपिण्डोऽग्न्य-

भाष्यका अनुवाद

अनुकृति कही गई है। अनुकृति अर्थात् अनुकरण। 'तमेव भान्त०' यह अनुभान परमात्माके ग्रहण करनेपर ही संगत हो सकता है। 'भारूपः०' (दीप्ति—चैतन्य लक्षण जिसका स्वरूप है और जिसका संकल्प सत्य है) इत्यादि श्रुतिमें परमात्मा स्वयंप्रकाशस्वरूप और सत्यसंकल्प कहा गया है और किसी तेजस्वीके प्रकाशके अनन्तर सूर्य आदि का चमकना प्रसिद्ध नहीं है। सूर्य आदि तेजस्वी पदार्थ सब समान हैं अतः उनको अन्य तेजस्वीकी अपेक्षा नहीं है कि जिसके चमकने पर वे चमकें। प्रदीप किसी अन्य प्रदीपके प्रकाशके अनन्तर नहीं प्रकाशता। और पीछे यह जो कहा गया है कि जिनका स्वभाव समान है, उनमें अनुकरण दिखाई देता है, ऐसा कोई एकान्तिक—अटल नियम नहीं है, क्योंकि भिन्न स्वभाववालोंमें भी

रत्नप्रभा

त्वार्थमुक्तम्, तत्र श्रुतिमाह—भारूप इति। मानाभावाच्च तेजोधातुर्न ग्राह्य इत्याह—न त्विति। किञ्च, सूर्यादयः तेजोऽन्तरभानमनु न भान्ति, तेजस्त्वात् प्रदीपवदित्याह—समत्वाच्चेति। योऽयम् अनुकरोति स तज्जातीय इति नियमो नाऽस्तीत्याह—नायमेकान्त इति। पौनरुक्त्यम् आशङ्क्य उक्तानुवादपूर्वकं

रत्नप्रभाका अनुवाद

लिए प्राज्ञशब्द कहा है। उसकी पुष्टिके लिए प्रमाणरूपसे श्रुति उद्धृत करते हैं—"भारूपः" इत्यादि। प्रमाणके अभावसे भी तेजोधातुका ग्रहण नहीं करना चाहिए, ऐसा कहते हैं—"न तु" इत्यादिसे। और सूर्य आदि पदार्थ तेज होनेके कारण प्रदीपके समान दूसरे तेजके प्रकाशसे नहीं प्रकाशते, ऐसा कहते हैं—"समत्वाच्च" इत्यादिसे। जो जिसका अनुकरण करता है, वह उसी जातिका हो, यह नियम नहीं है, ऐसा कहते हैं—"नायमेकान्तः" इत्यादिसे

भाष्य

नुकृतिरग्निं दहन्तमनुदहति, भौमं वा रजो वायुं वहन्तमनुवहतीति । अनुकृतेरित्यनुभानमसूसूचत् । तस्य चेति चतुर्थं पादमस्य श्लोकस्य सूचयति। 'तस्य भासा सर्वमिदं विभाति' इति तद्धेतुकं भानं सूर्यादेरुच्यमानं प्राज्ञमात्मानं गमयति । 'तद्देवा ज्योतिषां ज्योतिरायुर्होपासतेऽमृतम्' (बृ० ४।४।१६) इति हि प्राज्ञमात्मानमामनन्ति । तेजोन्तरेण तु सूर्यादितेजो विभातीत्यप्रसिद्धं विरुद्धं च, तेजोन्तरेण तेजोन्तरस्य प्रतिघातात् ।

भाष्यका अनुवाद

अनुकरण देखनेमें आता है, जैसे कि भली भांति तपा हुआ लोहे का गोला अग्निका अनुकरण करता है अर्थात् जलते हुए अग्निके पीछे जलता है अथवा पृथिवीकी रज बहते हुए वायुके पीछे चलती हैं । 'अनुकृतेः' यह सूत्रभाग अनुभानको सूचित करता है। 'तस्य च' यह सूत्रभाग उक्त श्लोकके चौथे पादको सूचित करता है । 'तस्य भासा०' (उसके प्रकाशसे यह सब प्रकाशित होता है) इस प्रकार तत्कृत जो सूर्य आदिका प्रकाश श्रुतिमें कहा गया है, वह भी परमात्माकी अवगति कराता है । 'तद्देवा ज्योतिषां०' (वह ज्योतियोंका ज्योति जो अमृत है, उसकी देव आयुरूपसे उपासना करते हैं) इस प्रकार श्रुति परमात्माको कहती है । सूर्य आदि तेज अन्य तेजसे प्रकाशित होते हैं, यह अप्रसिद्ध है और विरुद्ध भी है, क्योंकि एक तेज दूसरे तेजका प्रतिघात करता

रत्नप्रभा

सूत्रोक्तं हेत्वन्तरं व्याचष्टे—अनुकृतेरितीति । तमेव भान्तमिति एवकारोक्तं तद्भानं विना सर्वस्य पृथग्भानाभावरूपमनुभानमनुकृतेरित्यनेन उक्तम् । तस्य चेति सर्वभासकत्वमुक्तमित्यपौनरुक्त्यमित्यर्थः । आत्मनः सूर्यादिभासकत्वं श्रुत्यन्तरप्रसिद्धमविरुद्धं चेत्याह—तद्देवा इति । सर्वशब्दः प्रकृतसूर्यादिवाचकत्वेन

रत्नप्रभाका अनुवाद

पुनरुक्तिकी आशंका करके पूर्व कथितका अनुवादपूर्वक सूत्रमें कहा हुआ दूसरा हेतु कहते हैं—"अनुकृतेरिति" इत्यादिसे । 'तमेव०' इसमें एवकारसे सूचित उसके प्रकाशके विना सबका पृथक् पृथक् प्रकाशाभावरूप अनुभान 'अनुकृतेः' इस सूत्रभागसे कहा गया है और 'तस्य च' इस सूत्रभागसे 'वह सर्वभासक है' ऐसा कहा है, इसलिए पुनरुक्ति नहीं है, यह तात्पर्य है । आत्मा सूर्य आदिका भासक है, यह अन्य श्रुतिमें प्रसिद्ध है और अविरुद्ध भी है, ऐसा कहते हैं—"तद्देवाः" इत्यादिसे । 'सर्वमिदं०' में 'सर्व' शब्द प्रकृत सूर्य आदिका वाचक है, ऐसा व्याख्यान किया गया है, अब उसकी असंकुचित वृत्ति मानकर अर्थान्तर

भाष्य

अथवा न सूर्यादीनामेव श्लोकपरिपठितानामिदं तद्धेतुकं विभानमुच्यते। किं तर्हि ? 'सर्वमिदम्' इत्यविशेषश्रुतेः सर्वस्यैवाऽस्य नामरूपक्रियाकारकफलजातस्य याऽभिव्यक्तिः, सा ब्रह्मज्योतिःसत्तानिमित्ता। यथा सूर्यादिज्योतिःसत्तानिमित्ता सर्वस्य रूपजातस्याऽभिव्यक्तिः तद्वत्। 'न तत्र सूर्यो भाति' इति च तत्रशब्दमाहरन् प्रकृतग्रहणं दर्शयति। प्रकृतं च ब्रह्म 'यस्मिन् द्यौः पृथिवी चान्तरिक्षमोतम्' (मु०२।२।५) इत्यादिना। अनन्तरं च

'हिरण्मये परे कोशे विरजं ब्रह्म निष्कलम्।
तच्छुभ्रं ज्योतिषां ज्योतिस्तद्यदात्मविदो विदुः ॥' इति ॥

भाष्यका अनुवाद

है अर्थात् अभिभावक है। अथवा श्लोकमें पढ़े हुए सूर्य आदि ही उससे प्रकाशित नहीं होते, किन्तु जैसे सूर्यज्योतिसे ही सब रूपसमुदायकी अभिव्यक्ति होती है, वैसे ही 'सर्वमिदम्' इस साधारण श्रुतिसे नाम, रूप, क्रिया, कारक और फलसमुदायकी अभिव्यक्ति ब्रह्म ज्योति की सत्ता से ही होती है। 'न तत्र०' इसमें 'तत्र' शब्दका कथन करती हुई श्रुति प्रकृतका ग्रहण दिखलाती है और 'यस्मिन् द्यौः०' (जिसमें द्युलोक, पृथिवी और अन्तरिक्ष कल्पित हैं) इत्यादिसे ब्रह्म ही प्रकृत है, और तदन्तर 'हिरण्मये परे कोशे० (जिसको आत्मवेत्ता जानते हैं, वह ज्योतिर्मय आनन्दमय श्रेष्ठ कोशमें स्थित अविद्यादि दोषवर्जित निरवयव ब्रह्म है, वह शुद्ध एवं ज्योतियोंका ज्योति है)

रत्नप्रभा

व्याख्यातः, सम्प्रति तस्याऽसंकुचद्वृत्तितां मत्वाऽर्थान्तरमाह—अथवेति। तत्रेति सर्वनामश्रुत्या प्रकृतं ब्रह्म ग्राह्यमित्याह—न तत्र सूर्य इति। किञ्च, स्पष्टब्रह्मपरपूर्वमन्त्राकाङ्क्षापूरकत्वाद् अयं मन्त्रो ब्रह्मपर इत्याह—अनन्तरं चेति। हिरण्मये ज्योतिर्मये, अन्नमयाद्यपेक्षया परे कोशे—आनन्दमयाख्ये पुच्छशब्दितं ब्रह्म

रत्नप्रभाका अनुवाद

कहते हैं—"अथवा" इत्यादिसे। 'तत्र' इस सर्वनामसे प्रकृत ब्रह्म ग्राह्य है, ऐसा कहते हैं—"न तत्र सूर्यः" इत्यादिसे। और पूर्व मंत्रमें ब्रह्म स्पष्टतया प्रतीत होता है और यह मंत्र उस मन्त्रकी आकांक्षा पूरी करता है, इसलिए यह भी ब्रह्मपरक है, ऐसा कहते हैं—"अनन्तरं च" इत्यादिसे। हिरण्मय अर्थात् ज्योतिर्मय, पर अर्थात् अन्नमय आदि कोशोंसे पर जो आनन्दमय कोश है, उसमें 'ब्रह्म पुच्छ०' ऐसा जो पुच्छशब्दप्रतिपाद्य ब्रह्म है, वह विरज है अर्थात् आगन्तुक मलसे शून्य है, निष्कल अर्थात् निरवयव है और शुभ्र अर्थात्

भाष्य

कथं तज्ज्योतिषां ज्योतिरित्यत इदमुत्थितम्—'न तत्र सूर्यो भाति' इति। यदप्युक्तम्—सूर्यादीनां तेजसां भानप्रतिषेधस्तेजोधातावेवाऽन्यस्मिन्नवकल्पते सूर्य इवेतरेषाम् इति। तत्र तु स एव तेजोधातुरन्यो न सम्भवतीत्युपपादितम्। ब्रह्मण्यपि चैषां भानप्रतिषेधोऽवकल्पते, यतो यदुपलभ्यते तत् सर्वं ब्रह्मणैव ज्योतिषोपलभ्यते, ब्रह्म तु नाऽन्येन ज्योतिषोपलभ्यते स्वयंज्योतिःस्वरूपत्वात्, येन सूर्यादयस्तस्मिन् भायुः।

भाष्यका अनुवाद

इस श्रुतिसे ब्रह्म ही कहा गया है। वह ज्योतियोंका ज्योति किस प्रकार है? इस शंकाके उत्तरमें 'न तत्र०' इत्यादि मंत्र कहा गया है। सूर्यमें अन्य तेजोंके प्रतिषेधके समान सूर्य आदि तेजोंके प्रकाशका प्रतिषेध तभी बन सकता है जब कि कोई अन्य तेजस्वी पदार्थ हो, ऐसा जो पीछे कहा गया है, उसके उत्तरमें वह ब्रह्मही तेज है उससे अन्यका सम्भव नहीं है, ऐसा उपपादन किया जा चुका है। ब्रह्ममें भी इन तेजोंके प्रकाशका प्रतिषेध संभव है, क्योंकि जो उपलब्ध होता है, वह सब ब्रह्मरूप ज्योति द्वारा ही उपलब्ध होता है। यदि ब्रह्म अन्यभास्य होता तो सूर्य आदि उसके भासक हो सकते, किन्तु ब्रह्म अन्य ज्योतिसे उपलब्ध नहीं होता, क्योंकि

रत्नप्रभा

विरजम्—आगन्तुकमलशून्यम्, निष्कलम्—निरवयवम्, शुभ्रम्—नैसर्गिकमलशून्यं सूर्यादिसाक्षिभूतं ब्रह्मवित्प्रसिद्धमित्यर्थः। सतिसप्तमीपक्षमनुवदति—यदपीति। सूर्याद्यभिभावकतेजोधातौ प्रामाणिके तस्येह ग्रहणशङ्का स्यात् न तत्र प्रमाणमस्ति इत्याह—तत्रेति। सिद्धान्ते तत्रेति वाक्यार्थः कथमित्याशङ्क्याह—ब्रह्मण्यपीति। सतिसप्तमीपक्षे न भातीति श्रुतं वर्तमानत्वं त्यक्त्वा तस्मिन् सति न भास्यन्ति

रत्नप्रभाका अनुवाद

स्वाभाविक मलसे शून्य है, ज्योतियोंका अर्थात् सूर्य आदिका ज्योति—साक्षिभूत है एवं ब्रह्मवेत्ताओंमें प्रसिद्ध है, यह श्रुतिका अर्थ है। सतिसप्तमीपक्षका अनुवाद करते हैं—"यदपि" इत्यादिसे। सूर्य आदिका अभिभव करनेवाला कोई तेजोधातु प्रमाणसे सिद्ध हो तो उसका ग्रहण करें या न करें, ऐसा विचार हो, परन्तु उस तेजोधातुके अस्तित्वमें ही प्रमाण नहीं है, ऐसा कहते हैं—"तत्र" इत्यादिसे। सिद्धान्तमें 'तत्र' इत्यादि वाक्यका क्या अर्थ है, ऐसी आशंका करके कहते हैं—"ब्रह्मण्यपि" इत्यादि। सतिसप्तमीपक्षमें 'न भाति' ऐसा जो वर्तमान काल श्रुत है, उसका त्याग करके 'तस्मिन्०' वह हो तो प्रकाश नहीं करेंगे, ऐसे अश्रुत

भाष्य

ब्रह्म ह्यन्यद् व्यनक्ति, न तु ब्रह्म अन्येन व्यज्यते 'आत्मनैवायं ज्योतिषास्ते' (बृ० ४।३।६) 'अगृह्यो नहि गृह्यते' (बृ० ४।२।४) इत्यादिश्रुतिभ्यः ॥ २२ ॥

भाष्यका अनुवाद

वह स्वयंज्योतिःस्वरूप है। ब्रह्म अन्य पदार्थोंको व्यक्त करता है, परन्तु अन्यसे व्यक्त नहीं होता, क्योंकि 'आत्मनैवायं०' (आत्मरूप ज्योतिसे ही यह प्रकाशित है) 'अगृह्यो नहि०, (यह अगृह्य है, क्योंकि ग्रहण नहीं किया जा सकता) इत्यादि श्रुतियाँ हैं ॥ २२ ॥

रत्नप्रभा

इति अश्रुतभविष्यत्त्वं कल्पनीयं प्रत्यक्षविरोधनिरासाय, विषयसप्तमीपक्षे तु न भासयति इत्यश्रुतणिजध्याहारमात्रं कल्प्यम्, न श्रुतत्याग इति लाघवम्, अतो ब्रह्मणि विषये सूर्यादेर्भासकत्वनिषेधेन ब्रह्मभास्यत्वमुच्यते इत्यर्थः। येनाऽन्यभास्यत्वेन हेतुना सूर्यादयस्तस्मिन् ब्रह्मणि विषये भासकाः स्युः, तथा तु ब्रह्म अन्येन न उपलभ्यते स्वप्रकाशत्वादिति योजना। उक्तमेव श्रुत्यन्तरेण द्रढयति—ब्रह्मेति। स्वप्रकाशत्वे अन्याभास्यत्वे च श्रुतिद्वयम्। ग्रहणायोग्यत्वाद् अग्राह्य इत्यर्थः ॥२२॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

भविष्यत् कालकी कल्पना करनी पड़ेगी, क्योंकि इस कल्पनासे ही प्रत्यक्ष विरोधका अर्थात् जो विरोध प्रत्यक्ष है कि प्रत्यक्ष प्रकाशित होनेवाला सूर्य 'नहीं प्रकाशता है' इस कथनका निरास होगा। और विषयसप्तमीपक्षमें तो 'न भासयति' प्रकाश नहीं करता' ऐसे अश्रुत 'णिच्' के अध्याहारकी ही कल्पना करनी पड़ेगी, और श्रुतका त्याग नहीं है, ऐसा लाघव है, इसीलए ब्रह्मके विषयमें सूर्य आदिके भासकत्वके निषेधसे वे ब्रह्मसे भास्य हैं, ऐसा कहा गया, यह अर्थ है। यदि ब्रह्म अन्यभास्य होता तो सूर्य आदि उसके भासक होते, ब्रह्म तो अन्यभास्य नहीं है, क्योंकि स्वप्रकाश है, ऐसी योजना करनी चाहिए। उक्त अर्थको ही अन्य श्रुतिसे दृढ़ करते हैं—"ब्रह्म" इत्यादिसे। ब्रह्म स्वप्रकाशक है और अन्यसे भास्य नहीं है, इस विषयमें दो श्रुतियाँ हैं। ब्रह्म ग्रहण करने योग्य नहीं है, इसलिए अग्राह्य है, यह श्रुतिका अर्थ है ॥२२॥

अपि च स्मर्यते ॥ २३ ॥

पदच्छेद—अपि, च, स्मर्यते ।

पदार्थोक्ति—अपि च—किञ्च, स्मर्यते—इदं रूपम्—'न तद् भासयते सूर्यो' 'यदादित्यगतं तेजो' इत्यादिभगवद्गीतास्वपि ब्रह्मण एव स्मर्यते ।

भाषार्थ—और 'न तद्भासयते०' (न उसको सूर्य प्रकाशित करता है, न चन्द्रमा और न अग्नि) 'यदादित्य०' (आदित्यमें रहनेवाला जो तेज है, वही इस सारे जगत्को प्रकाशित करता है) इत्यादि भगवद्गीतामें भी यह पूर्वोक्त रूप ब्रह्मका ही कहा गया है ।

भाष्य

अपि चेदृग्रूपत्वं प्राज्ञस्यैवाऽऽत्मनः स्मर्यते भगवद्गीतासु—
'न तद् भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः ।
यद् गत्वा न निवर्तन्ते तद् धाम परमं मम ॥ (गी० १५।६) इति,
'यदादित्यगतं तेजो जगद् भासयतेऽखिलम् ।
यच्चन्द्रमसि यच्चाऽग्नौ तत् तेजो विद्धि मामकम् ॥' (गी० १५।१२)
इति च ॥ २३ ॥

भाष्यका अनुवाद

और भगवद्गीतामें भी ऐसा स्वरूप परमात्माका ही कहा गया है 'न तद्भासयते सूर्यो न०' (उसको न सूर्य और चन्द्रमा प्रकाशित करते हैं और न अग्नि ही प्रकाशित करती है, जिसको प्राप्त करके पुरुष पीछे नहीं लौटता, वह मेरा परम धाम है) और 'यदादित्यगतं०' (आदित्यगत जो तेज सम्पूर्ण जगत्को प्रकाशमान करता है और जो तेज चन्द्रमामें है और जो अग्निमें है वह तेज मेरा ही जानो) ॥२३॥

रत्नप्रभा

णिजध्याहारपक्षे स्मृतिबलमप्यस्ति इत्याह—अपि चेति । सूत्रं व्याचष्टे—अपि चेति । अभास्यत्वे सर्वभासकत्वे च श्लोकद्वयं द्रष्टव्यम् । तस्माद् अनुमानमन्त्रो ब्रह्मणि समन्वित इति सिद्धम् ॥ २३ ॥ (७) ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

"अपि च" इत्यादिसे कहते हैं कि 'णिच्' के अध्याहार पक्षमें स्मृतिका भी बल है। सूत्रका व्याख्यान करते हैं—"अपि च" इत्यादिसे। ब्रह्म अन्यभास्य नहीं है और सर्वभासक है, इन दो विषयोंमें दो श्लोक हैं। इससे अनुभानमंत्रका ब्रह्ममें समन्वय सिद्ध हुआ ॥२३॥

[७ प्रमिताधिकरण सू० २४-२५]

अङ्गुष्ठमात्रो जीवः स्यादीशो वाऽल्पप्रमाणतः ।
देहमध्ये स्थितेश्चैव जीवो भवितुमर्हति ॥१॥
भूतभव्येशता जीवे नास्त्यतोऽसाविहेश्वरः ।
स्थितिप्रमाणे ईशेऽपि स्तो हृद्यस्योपलब्धितः* ॥२॥

[अधिकरणसार]

सन्देह—'अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो मध्य आत्मनि तिष्ठति' इस श्रुतिमें उक्त अङ्गुष्ठमात्र पुरुष जीव है अथवा ईश्वर ?

पूर्वपक्ष—अँगूठेके बराबर अल्प प्रमाण होने एवं देहके मध्यमें रहनेके कारण उक्त पुरुष जीव ही हो सकता है ।

सिद्धान्त—जीव भूत और भविष्यत् जगत्का शासक नहीं हो सकता, इसलिए वह ईश्वर ही है । हृदयमें ईश्वरकी उपलब्धि होती है, अतः हृदयमें रहना, अँगूठेके बराबर होना ईश्वरमें भी संभव है । इसलिए उक्त वाक्यमें ईश्वर ही कहा गया है ।

---

* निष्कर्ष यह है कि कठोपनिषत्की चौथी वल्लीमें—"अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो मध्य आत्मनि तिष्ठति। ईशानो भूतभव्यस्य न ततो विजुगुप्सते ॥" यह श्रुति है । इसका अर्थ है कि अँगूठेके बराबर पुरुष देहके मध्यमें रहता है, वह भूत और भविष्यत्का स्वामी है, उसके ज्ञात होनेके बाद जीव अपना रक्षण करना नहीं चाहता, क्योंकि वह अभयको प्राप्त हो जाता है । यहांपर सन्देह होता है कि अङ्गुष्ठमात्र जो पुरुष कहा गया है, वह जीव है अथवा ईश्वर ?

पूर्वपक्षी कहता है कि उक्त अङ्गुष्ठमात्र पुरुष जीव ही है, क्योंकि अँगूठेके बराबर अल्प प्रमाण एवं देहके मध्यमें स्थिति जीवकी ही हो सकती है ।

सिद्धान्ती कहते हैं कि अङ्गुष्ठमात्र परमात्मा ही है, क्योंकि 'ईशानो भूतभव्यस्य' से श्रुति उसे भूत और भविष्यत् रूप सारे जगत्का नियन्ता कहती है । जीव तो स्वयं नियम्य है, अतः उसमें जगन्नियन्तृत्व सम्भव नहीं है । अँगूठेके बराबर अल्प परिमाण तथा देहके मध्यमें स्थिति ईश्वरमें भी संभव है । ईश्वरकी अल्प हृदयकमलमें उपलब्धि होती है, अतः अल्प परिमाण और देहमध्यमें अवस्थितिका यहां संकीर्तन है । इससे सिद्ध हुआ कि अङ्गुष्ठमात्र परमेश्वर ही है ।

शब्दादेव प्रमितः ॥ २४ ॥

पदच्छेद—शब्दाद्, एव, प्रमितः ।

पदार्थोक्ति—प्रमितः—'अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो ज्योतिरिवाधूमकः । ईशानो भूतभव्यस्य' इति प्रमितवाक्यप्रतिपाद्यः [जीवाभिन्नः परमात्मैव, कुतः] शब्दादेव—श्रुतौ ईशानशब्दसत्त्वादेव ।

भाषार्थ—'अङ्गुष्ठमात्रः०' (अङ्गुष्ठमात्र पुरुष जो धूमरहित ज्योतिके समान है, वह भूत एवं भविष्यत्का शासक है) इत्यादि प्रमितवाक्यसे प्रतिपाद्य अङ्गुष्ठमात्र जीवसे अभिन्न परमात्मा ही है, क्योंकि श्रुतिमें 'ईशान' शब्द आया है। ईशान—सबका शासक परमात्मा ही है ।

भाष्य

'अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो मध्य आत्मनि तिष्ठति' इति श्रूयते । तथा 'अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो ज्योतिरिवाधूमकः । ईशानो भूतभव्यस्य स एवाद्य स

भाष्यका अनुवाद

'अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो०' (अँगूठेके बराबर पुरुष देहके मध्यमें रहता है) और अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो ज्योति०' (अँगूठेके बराबर पुरुष धूमरहित ज्योति-सा है, भूत और भविष्यत्का स्वामी है, वही आज है, वही कल रहेगा, यही वह

रत्नप्रभा

शब्दादेव प्रमितः । काठकवाक्यं पठति—अङ्गुष्ठेति । पुरुषः पूर्णोऽपि आत्मनि देहे मध्ये अङ्गुष्ठमात्रे हृदये तिष्ठति इत्यङ्गुष्ठमात्र इत्युच्यते । तस्यैव परमात्मत्ववादिवाक्यान्तरमाह—तथेति । अधूमकमिति पठनीयम् । योऽङ्गुष्ठमात्रो जीवः, स वस्तुतो निर्धूमज्योतिर्वत् निर्मलप्रकाशरूप इति त्वमर्थं संशोध्य तस्य ब्रह्मत्वमाह—ईशान इति । तस्य अद्वितीयत्वमाह—स एवेति । कालत्रयेऽ-

रत्नप्रभाका अनुवाद

काठकवाक्यको उद्धृत करते हैं—"अङ्गुष्ठ" इत्यादिसे । पुरुष अर्थात् व्यापक भी देहके मध्यभागमें अँगूठेके बराबर हृदयमें रहता है, इसलिए अङ्गुष्ठमात्र कहलाता है । उसीका परमात्मरूपसे प्रतिपादन करनेवाला दूसरा वाक्य कहते हैं—"तथा" इत्यादिसे । 'ज्योतिः' पद नपुंसकलिङ्ग है, अतः 'अधूमकः' के स्थानमें 'अधूमकम्' पढ़ना चाहिए । अँगूठेके बराबर जो जीव है, वह वस्तुतः धूमरहित ज्योतिके समान निर्मल प्रकाशरूप है, इस प्रकार त्वंपदार्थका शोधन करके वह ब्रह्म है, ऐसा कहते हैं—"ईशानः" इत्यादिसे । वह अद्वितीय है, ऐसा

भाष्य

उ श्व एतद्वै तत्' (का० २।४।१३) इति च। तत्र योऽयमङ्गुष्ठमात्रः पुरुषः श्रूयते स किं विज्ञानात्मा किं वा परमात्मेति संशयः। तत्र परिमाणोपदेशात् तावद् विज्ञानात्मेति प्राप्तम्। नह्यनन्तायामविस्तारस्य परमात्मनोऽङ्गुष्ठपरिमाणत्वमुपपद्यते। विज्ञानात्मनस्तूपाधिमत्त्वात् सम्भवति कयाचित् कल्पनयाऽङ्गुष्ठमात्रत्वम्। स्मृतेश्च—

भाष्यका अनुवाद

नचिकेताके प्रश्नका विषय ब्रह्म है) ये दो श्रुतियाँ हैं। उन श्रुतियोंमें जो अङ्गुष्ठमात्र पुरुष कहा गया है, वह विज्ञानात्मा—जीव है या परमात्मा है? ऐसा संशय होता है।

पूर्वपक्षी—उक्त वाक्यमें परिमाणके कथनसे प्रतीत होता है कि वह विज्ञानात्मा है। क्योंकि जिसके दीर्घत्व और विस्तारकी इयत्ता नहीं है, वह परमात्मा अँगूठेके बराबर हो, यह युक्त नहीं है। सोपाधिक होनेसे विज्ञानात्मा तो किसी न किसी प्रकार अँगूठेके बराबर हो सकता है। और

रत्नप्रभा

पि स एवाऽस्ति नाऽन्यत् किञ्चित्, यत् नचिकेतसा पृष्टं ब्रह्म, तत् एतदेवेत्यर्थः। परिमाणेशानशब्दाभ्यां संशयमाह—तत्रेति। यथा अनुभानादिलिङ्गात् णिजध्याहारेण सूर्याद्यगोचरो ब्रह्म इति उक्तम्, तथा प्रथमश्रुतपरिमाणलिङ्गात् जीवप्रतीतौ 'ईशानोऽस्मि इति ध्यायेत्' इति विध्यध्याहारेण ध्यानपरं वाक्यमिति पूर्वपक्षयति—तत्र परिमाणेति। पूर्वपक्षे ब्रह्मदृष्ट्या जीवोपास्तिः, सिद्धान्ते तु प्रत्यग्ब्रह्मैक्यज्ञानं फलमिति मन्तव्यम्। आयामः—दैर्घ्यम्, विस्तारः—महत्वम् इति भेदः। कयाचिदिति। अङ्गुष्ठमात्रहृदयस्य विज्ञानशब्दितबुद्ध्यभेदाध्यासकल्पनया इत्यर्थः।

रत्नप्रभाका अनुवाद

कहते हैं—"स एव" इत्यादिसे। अर्थात् वर्तमान कालमें वही है, भविष्यत्कालमें वही रहेगा और भूतकालमें वही था, उससे अन्य कोई नहीं है, नचिकेताने 'अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मात्' इत्यादिसे जो ब्रह्म पूछा है, वह यही है। परिमाणकथन और ईशानशब्दप्रयोगसे संशय कहते हैं—"तत्र" इत्यादिसे। पूर्व अधिकरणमें अनुभान आदि लिङ्गोंसे विषयसप्तमी मानकर 'णिच्' का अध्याहार करके ब्रह्म सूर्य आदिके अगोचर है, ऐसा प्रतिपादन किया है, उसी प्रकार यहाँ भी प्रथम श्रुत परिमाणलिङ्गसे जीवकी प्रतीति करके 'ईशानो०' ('मैं नियन्ता हूँ' ऐसा ध्यान करे) इस प्रकार विधिका अध्याहार करके इस वाक्यको ध्यानपरक समझना चाहिए, ऐसा पूर्वपक्ष करते हैं—"तत्र परिमाण" इत्यादिसे। पूर्वपक्षमें ब्रह्मदृष्टिसे जीवकी उपासना फल है और सिद्धान्तमें प्रत्यगात्मा और ब्रह्मका ऐक्यज्ञान फल है। 'आयाम' अर्थात् लम्बाई और 'विस्तार' अर्थात् महत्त्व। "कयाचिद्" इत्यादि। अर्थात् अङ्गुष्ठमात्र हृदयके साथ विज्ञान-

भाष्य

'अथ सत्यवतः कायात् पाशबद्धं वशं गतम् ।
अङ्गुष्ठमात्रं पुरुषं निश्चकर्ष यमो बलात् ॥'

(म० भा० ३।२९७।१७) इति । नहि परमेश्वरो बलाद् यमेन निष्क्रष्टुं शक्यः, तेन तत्र संसार्यङ्गुष्ठमात्रो निश्चितः स एवेहाऽपीति ।

एवं प्राप्ते ब्रूमः—परमात्मैवाऽयमङ्गुष्ठमात्रपरिमितः पुरुषो भवितुमर्हति । कस्मात्, शब्दात्—'ईशानो भूतभव्यस्य' इति । नह्यन्यः परमेश्वराद् भूतभव्यस्य निरङ्कुशमीशिता । 'एतद्वै तत्' इति च प्रकृतं

भाष्यका अनुवाद

'अथ सत्यवतः०' (इसके बाद यमने सत्यवान्‌के शरीरसे अपने पाशोंसे बँधे हुए और कर्मवशीभूत अङ्गुष्ठमात्र पुरुषको बलपूर्वक खींच लिया) यह स्मृति भी है। परमेश्वर यमसे बलपूर्वक कदापि नहीं खींचा जा सकता, इसलिए स्मृतिमें जीव ही अँगूठेके बराबर कहा गया है, वही यहां भी अङ्गुष्ठमात्र कहा गया है ।

सिद्धान्ती—ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं । यहां अङ्गुष्ठमात्र परिमाण पुरुष परमात्मा ही है। किससे ? 'ईशानो०' (भूत और भव्यका स्वामी) इस श्रुतिसे भूत और भव्यका निरङ्कुश नियन्ता परमेश्वरसे अन्य नहीं हो सकता।

रत्नप्रभा

स्मृतिसंवादादपि अङ्गुष्ठमात्रो जीव इत्याह—स्मृतेश्चेति । अथ–मरणानन्तरम्, यमपाशैर्बद्धम्, कर्मवशं प्राप्तमित्यर्थः। तत्राऽपि ईश्वरः किं न स्यादित्यत आह—न हीति । "प्रभवति संयमने ममापि विष्णुः" इति यमस्य ईश्वरनियम्यत्वस्मरणादिति भावः ।

भूतभव्यस्य इति उपपदात् साधकात् बाधकाभावाच्च ईशान इतीशत्वशब्दात् निरङ्कुशमीशिता भाति इति श्रुत्या लिङ्गं बाध्यमिति सिद्धान्तयति–परमात्मैवेति।

रत्नप्रभाका अनुवाद

शब्दप्रतिपादित बुद्धिके अभेदाध्यासकी कल्पनासे । स्मृतिके संवादसे भी अङ्गुष्ठमात्र जीव है, ऐसा कहते हैं—"स्मृतेश्च" इत्यादिसे । अथ—मरनेके अनन्तर, पाशबद्धम्—यमपाशोंसे बँधा हुआ, वशं गतम्—कर्मोंके अधीन । इस स्मृतिमें भी ईश्वर ही कहा गया है, ऐसा क्यों न माना जाय, इसपर कहते हैं—"नहि" इत्यादि । 'प्रभवति०' (विष्णु मुझे भी नियममें रखनेकी शक्ति रखते हैं) इस स्मृतिसे ज्ञात होता है कि यम ईश्वरसे नियम्य है, इसलिए यहाँ ईश्वर प्रतिपाद्य नहीं है ।

'भूतभव्यस्य' इस उपपदसे 'ईशानः' इस श्रुतिमें 'ईश' शब्दसे और कोई बाधक न होनेसे निरङ्कुश शासक प्रतीत होता है, इसलिए श्रुतिसे लिङ्गका बाध होता है, ऐसा सिद्धान्त

भाष्य

पृष्टमिहाऽनुसन्दधाति । एतद्वै तद्यत् पृष्टं ब्रह्मेत्यर्थः । पृष्टं चेह ब्रह्म—
'अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मादन्यत्रास्मात् कृताकृतात् ।
अन्यत्र भूताच्च भव्याच्च यत्तत्पश्यसि तद्वद" (का० १।२।१४) इति ।
शब्दादेवेत्यभिधानश्रुतेरेवेशान इति परमेश्वरोऽवगम्यत इत्यर्थः ॥२४॥
कथं पुनः सर्वगतस्य परमात्मनः परिमाणोपदेश इत्यत्र ब्रूमः—

भाष्यका अनुवाद

'एतद्वै०' (यही वह है) इस प्रकार प्रकृत पूछे हुएका ही यहां श्रुति अनुसन्धान करती है। जो ब्रह्म पूछा गया है, वह यही है, ऐसा अर्थ है। और यहां 'अन्यत्र धर्मा०' (धर्मसे अन्य, अधर्मसे अन्य, कार्य और कारणसे अन्य एवं भूत, भविष्यत् तथा वर्तमानसे भिन्न जिसको आप देखते हो, उसे कहो) इस प्रकार ब्रह्म पूछा गया है। शब्दसे ही अर्थात् 'ईशानः' इस अभिधान श्रुतिसे ही यह परमेश्वर है ऐसा ज्ञात होता है ॥ २४ ॥

सर्वत्र व्याप्त परमेश्वरके परिमाणका उपदेश कैसे करते हैं ? इसपर सूत्रसे उत्तर कहते हैं—

रत्नप्रभा

प्रकरणाच्च ब्रह्मपरमिदं वाक्यमित्याह—एतदिति। शब्दः—वाक्यं लिङ्गाद् दुर्बलमित्याशङ्क्याऽऽह—शब्दादिति ॥ २४ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

करते हैं—"परमात्मैव" इत्यादिसे । प्रकरणसे भी यह वाक्य ब्रह्मपरक ही है, ऐसा कहते हैं—"एतद्" इत्यादिसे । शब्द अर्थात् वाक्य लिङ्गसे दुर्बल है, यह आशङ्का करके कहते हैं—"शब्दात्" इत्यादि ॥२४॥

हृद्यपेक्षया तु मनुष्याधिकारत्वात् ॥ २५ ॥

पदच्छेद—हृदि, अपेक्षया, तु, मनुष्याधिकारत्वात् ।

पदार्थोक्ति—मनुष्याधिकारत्वात्—शास्त्रस्य मनुष्याधिकारत्वात्, हृद्यपेक्षया—मनुष्याणां हृदयस्य अङ्गुष्ठमात्रत्वात् तदपेक्षया [परमात्मनोऽङ्गुष्ठमात्रत्वमुक्तम्] ।

भाषार्थ—शास्त्रमें मनुष्य ही अधिकृत हैं, मनुष्योंका हृदय अँगूठेके बराबर है, उस हृदयमें रहनेके कारण उसकी अपेक्षासे परमेश्वर अङ्गुष्ठमात्र कहा गया है ।

भाष्य

सर्वगतस्याऽपि परमात्मनो हृदयेऽवस्थानमपेक्ष्याऽङ्गुष्ठमात्रत्वमिदमुच्यते आकाशस्येव वंशपर्वापेक्षमरत्निमात्रत्वम् । नह्यञ्जसाऽतिमात्रस्यैव परमात्मनोऽङ्गुष्ठमात्रत्वमुपपद्यते । न चाऽन्यः परमात्मन इह ग्रहणमर्हतीशानशब्दादिभ्य इत्युक्तम् ।

ननु प्रतिप्राणिभेदं हृदयानामनवस्थितत्वात् तदपेक्षमप्यङ्गुष्ठमात्रत्वं नोपपद्यत इत्यत उत्तरमुच्यते—मनुष्याधिकारत्वादिति । शास्त्रं ह्यविशेषप्रवृत्तमपि मनुष्यानेवाऽधिकरोति, शक्तत्वात्, अर्थित्वात्, अपर्युदस्तत्वात्,

भाष्यका अनुवाद

जैसे बांसके पर्वमें रहनेके कारण आकाश अरत्नि—हाथभरका कहलाता है, वैसे ही हृदयमें रहनेके कारण सर्वव्यापक परमेश्वर अङ्गुष्ठपरिमाण कहा जाता है। क्योंकि परिमाणातीत परमेश्वर वस्तुतः अङ्गुष्ठपरिमाण नहीं हो सकता है और ईशानशब्द आदि कारणोंके सद्भावसे परमेश्वरसे अन्यका ग्रहण भी यहां नहीं किया जा सकता, ऐसा पीछे कह चुके हैं।

परन्तु प्रत्येक प्राणीका भिन्न भिन्न परिमाणवाला हृदय होता है एक-सा नहीं होता, अतः उसकी अपेक्षासे भी परमात्माका अङ्गुष्ठपरिमाण युक्त नहीं है, इसके उत्तरमें कहते हैं—'मनुष्याधिकारत्वात्'। यद्यपि शास्त्र सामान्यरीतिसे प्रवृत्त है, तो भी अपनेमें त्रैवर्णिकोंका ही अधिकार बतलाता है, क्योंकि वे समर्थ हैं, कामना विशेषसे युक्त हैं, श्रुत्युक्त कर्मके अनुष्ठानमें निषिद्ध नहीं हैं

रत्नप्रभा

हृद्यपेक्षया तु मनुष्याधिकारत्वात्—करः सकनिष्ठिकः—अरत्निः। मुख्याङ्गुष्ठमात्रो जीवो गृह्यतां किं गौणग्रहणेन इत्यत आह—न चान्य इति। सति सम्भवे मुख्यग्रहो न्याय्यः। अत्र तु श्रुतिविरोधादसम्भव इति गौणग्रह इत्यर्थः।

मनुष्यानेवेति। त्रैवर्णिकानेव इत्यर्थः। शक्तत्वादिति अनेन पश्वादीनां देवानाम् ऋषीणां च अधिकारो वारितः। तत्र पश्वादीनां शास्त्रार्थज्ञानादिसामग्र्य-

रत्नप्रभाका अनुवाद

कनिष्ठिकासे सहित कर अरत्नि अर्थात् कुहनीसे लेकर छिगुनी अँगुलीके सिरे तक। तब अङ्गुष्ठमात्रका मुख्यार्थ जीवका ग्रहण करो, गौण ईश्वरका ग्रहण क्यों करते हो? इसपर कहते हैं—"न चान्यः" इत्यादि। सम्भव हो तो मुख्यका ग्रहण करना उचित ही है, किन्तु यहाँ तो श्रुतिविरोधसे मुख्य अर्थका ग्रहण नहीं किया जा सकता, इसलिए गौणका ग्रहण किया है।

"मनुष्यानेव"—त्रैवर्णिकोंका ही अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यका ही। 'शक्तत्वात्'

भाष्य

उपनयनादिशास्त्राच्चेति वर्णितमेतदधिकारलक्षणे (जै० ६।१)। मनुष्याणां

भाष्यका अनुवाद

और उपनयन आदि शास्त्र उन्हींसे संबन्ध रखते हैं, ऐसा अधिकारके लक्षणमें

रत्नप्रभा

भावात् कर्मणि अशक्तिः। इन्द्रादेः स्वदेवताके कर्मणि स्वोद्देशेन द्रव्यत्यागायोगाद् अशक्तिः। ऋषीणामार्षेयवरणे ऋष्यन्तराभावाद् अशक्तिः। आर्थित्वादिति अनेन निष्कामानां मुमुक्षूणां स्थावराणां चाऽधिकारो वारितः। तत्र मुमुक्षूणां शुद्ध्यर्थित्वे नित्यादिषु अधिकारो न काम्येषु। शुद्धचित्तानां मोक्षार्थित्वे श्रवणादिषु व्यञ्जकेषु अधिकारो, न कर्मसु इति मन्तव्यम्। शूद्रस्य अधिकारं निरस्यति—अपर्युदस्तत्वादिति। "शूद्रो यज्ञेऽनवक्लृप्तः" (तै० सं० ७।१।१।६) इति पर्युदासात्, "उपनयीत" "तमध्यापयीत" इति शास्त्राच्च न शूद्रस्य वैदिके कर्मणि अधिकारः। तस्य एकजातित्वस्मृतेः उपनयनप्रयुक्तद्विजातित्वाभावेन वेदाध्ययनाभावात्। अत्र अपेक्षितो न्यायः षष्ठाध्याये वर्णित इत्याह—वर्णितमिति। "स्वर्गकामो यजेत" इत्यादिशास्त्रस्य अविशेषेण सर्वान् फलार्थिनः प्रति प्रवृत्तत्वात्

रत्नप्रभाका अनुवाद

इस शब्दसे पशु आदिका, देवताओं और ऋषियोंका अधिकार नहीं है, ऐसा सूचित किया है। इनमें पशु आदिमें शास्त्रार्थज्ञान आदि सामग्री नहीं है, इसलिए कर्म करनेमें वे असमर्थ हैं। यज्ञ आदि कर्म देवताओंके उद्देशसे होते हैं और अपने उद्देशसे द्रव्यत्याग—होम नहीं हो सकता, इसलिए देवता भी कर्म करनेमें असमर्थ हैं। आर्षेय ऋषियोंके वरणमें तथाभूत अन्य ऋषियोंके न होनेसे ऋषि कर्मानुष्ठानमें असमर्थ हैं। 'अर्थित्वात्' इस शब्दसे सूचित होता है कि कामनारहित मुमुक्षुओं और स्थावरोंका कर्मानुष्ठानमें अधिकार नहीं है। इनमें मुमुक्षु यदि चित्तशुद्धि चाहते हों तो उनका नित्य, नैमित्तिक कर्मोंमें अधिकार है, काम्य कर्ममें नहीं है। जिनका चित्त शुद्ध है, यदि वे मोक्ष चाहते हैं, तो उनका मोक्षके अभिव्यञ्जक श्रवण आदिमें अधिकार है, कर्ममें नहीं है, ऐसा समझना चाहिए। "अपर्युदस्तत्वात्" इससे शूद्रोंका शास्त्रमें अधिकारका अभाव सूचित करते हैं। 'शूद्रो यज्ञे०' (शूद्र यज्ञके योग्य नहीं है) ऐसा निषेध होनेसे और 'उपनयीत' 'तमध्यापयीत' (उसका उपनयन करे और अध्यापन करे) इस शास्त्रसे शूद्रका वैदिक कर्ममें अधिकार नहीं है। क्योंकि शूद्र द्विज नहीं है, स्मृतिमें कहा है कि वह एकजाति है, इसलिए उपनयनप्रयुक्त द्विजातित्वके अभावसे उसको वेदाध्ययनका अधिकार नहीं है। यहाँ जिस न्यायकी अपेक्षा है, उसका पूर्वमीमांसाके छठे अध्यायमें वर्णन है, ऐसा कहते हैं—"वर्णितम्" इत्यादिसे। तात्पर्य यह कि 'स्वर्गकामो०' (स्वर्गकी कामनावाला यज्ञ करे) इत्यादि शास्त्र सामान्य रीतिसे सभी सुखाभिलाषियोंके प्रति प्रवृत्त होता है और

भाष्य

च नियतपरिमाणः कायः, औचित्येन नियतपरिमाणमेव चैषामङ्गुष्ठमात्रं हृदयम्। अतो मनुष्याधिकारत्वाच्छास्त्रस्य मनुष्यहृदयावस्थानापेक्षमङ्गुष्ठमात्रत्वमुपपन्नं परमात्मनः। यदप्युक्तम्—परिमाणोपदेशात् स्मृतेश्च संसार्येवाऽयमङ्गुष्ठमात्रः प्रत्येतव्य इति, तत्प्रत्युच्यते—'स आत्मा

भाष्यका अनुवाद

जैमिनिने वर्णन किया है। मनुष्योंके शरीरका परिमाण निश्चित है, इसलिए उनके हृदयका भी परिमाण निश्चित—अङ्गुष्ठमात्र होना चाहिए। इससे सिद्ध हुआ कि शास्त्रमें मनुष्योंका अधिकार होनेसे मनुष्यके हृदयमें रहनेके कारण परमात्मा अङ्गुष्ठमात्र है। परिमाणके उपदेशसे और स्मृतिसे यह अङ्गुष्ठमात्र जीव ही है, ऐसा जो पीछे कहा गया है, उसका निराकरण करते हैं—'स आत्मा०' (वह

रत्नप्रभा

प्राणिमात्रस्य सुखार्थित्वाच्च फलार्थे कर्मणि पश्वादीनामपि अधिकार इत्याशङ्क्य उक्तरीत्या तेषां शक्तत्वाद्यभावात् स्वर्गकामपदं मनुष्यपरतया संकोच्य मनुष्याधिकारत्वे स्थापिते चातुर्वर्ण्याधिकारित्वमाशङ्क्य "वसन्ते ब्राह्मणोऽग्नीनादधीत ग्रीष्मे राजन्यः शरदि वैश्यः" इति त्रयाणामेवाऽग्निसम्बन्धश्रवणात् तेषामेवाऽधिकार इति वर्णितमित्यर्थः। अस्तु प्रस्तुते किमायातम्, तत्राह—मनुष्याणाञ्चेति। प्रायेण सप्तवितस्तिपरिमितो मनुष्यदेह इत्यर्थः। एवमङ्गुष्ठशब्दः हृत्परिमाणवाचकः तत्रस्थं ब्रह्म लक्षयतीति उक्तम्। सम्प्रति तच्छब्देनाऽङ्गुष्ठमात्रं जीवमनूद्य अयमीशान इति ब्रह्माभेदो बोध्य इति वक्तुमुक्तम् अनुवदति—यदपीति।

रत्नप्रभाका अनुवाद

प्राणिमात्र सुखकी इच्छा करते हैं, अतः फलके लिए निर्दिष्ट कर्ममें पशु आदिका भी अधिकार है, ऐसी आशङ्का करके पूर्वोक्तानुसार उनकी कर्मानुष्ठानमें सामर्थ्य आदि न होनेके कारण 'स्वर्गकाम' पद मनुष्यपरक है, ऐसा अर्थसंकोच करके केवल मनुष्यका अधिकार स्थापित करनेपर उक्त अधिकार चारों वर्णोंपर लागू होता है, ऐसी आशङ्का करके 'वसन्ते ब्राह्मणो०' (वसन्तमें ब्राह्मण, ग्रीष्ममें क्षत्रिय और शरद्में वैश्य अग्नियोंका आधान करे) इस प्रकार तीन ही वर्णोंका अग्निसंबन्ध श्रुतिनिर्दिष्ट होनेके कारण उनका ही शास्त्रमें अधिकार है, ऐसा वर्णन किया है। अस्तु, इससे प्रस्तुतमें क्या लाभ हुआ, इसपर कहते हैं—"मनुष्याणां च" इत्यादि। अर्थात् प्रायः मनुष्यशरीर सात वालिश्तका होता है। इस प्रकार हृदयके परिमाणका वाचक अङ्गुष्ठशब्द हृदयमें रहनेवाले ब्रह्मका लक्षक है, ऐसा कहा है। अब उस शब्दसे अङ्गुष्ठमात्र जीवका अनुवाद करके 'अयमीशानः' (यह नियन्ता है) इस प्रकार उसका ब्रह्मसे अभेद जतानेके लिए पूर्वोक्तका अनुवाद करते हैं—"यदपि" इत्यादिसे। प्रतिपाद्य

भाष्य

तत्त्वमसि' इत्यादिवत् संसारिण एव सतोऽङ्गुष्ठमात्रस्य ब्रह्मत्वमिदमुपदिश्यत इति। द्विरूपा हि वेदान्तवाक्यानां प्रवृत्तिः—क्वचित् परमात्मस्वरूपनिरूपणपरा, क्वचिद् विज्ञानात्मनः परमात्मैकत्वोपदेशपरा। तदत्र विज्ञानात्मनः परमात्मनैकत्वमुपदिश्यते, नाऽङ्गुष्ठमात्रत्वं कस्यचित्। एतमेवार्थं परेण स्फुटीकरिष्यति—'अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा सदा जनानां हृदये संनिविष्टः। तं स्वाच्छरीरात् प्रवृहेन्मुञ्जादिवेषीकां धैर्येण तं विद्याच्छुक्रममृतम्॥' (का० २।६।१७) इति॥ २५॥

भाष्यका अनुवाद

आत्मा है, वह तू है) इत्यादिके समान यह अङ्गुष्ठमात्र संसारी ही परमात्मा यहांपर कहा गया है, क्योंकि वेदान्तवाक्य दो प्रकारसे प्रवृत्त हैं, कहींपर परमात्माके स्वरूपका निरूपण करते हैं और कहींपर विज्ञानात्मा परमात्मासे अभिन्न है, ऐसा उपदेश करते हैं। यहां विज्ञानात्माका परमात्मासे अभेद दिखलाया है, किसीमें अङ्गुष्ठमात्र परिमाणका उपदेश नहीं है। इसी अर्थको 'अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो०' (अँगूठेके बराबर अन्तरात्मा पुरुष लोगोंके हृदयमें सदा संनिविष्ट है, जैसे मूँजसे भूआ—रूई को पृथक् करते हैं, उसी प्रकार धैर्यसे अन्तरात्माको अपने शरीरसे पृथक् करे। उसको शुद्ध और अविनाशी जाने) इस उत्तरवाक्यसे स्पष्ट करेंगे॥२५॥

रत्नप्रभा

प्रतिपाद्याभेदविरोधाद् अनुवाद्याङ्गुष्ठमात्रत्वं बाध्यम्, तात्पर्यार्थस्य बलवत्त्वाद् इत्याह—तदिति। क्वचिद्—अस्थूलमित्यादौ। क्वचित्—तत्त्वमसीत्यादौ। एकत्वार्थे वाक्यशेषमनुकूलयति—एतमिति। श्रुतिः यमो वा कर्ता द्रष्टव्यः। तम्—जीवम्, प्रवृहेत्—पृथक् कुर्यात्, धैर्येण बलवदिन्द्रियनिग्रहादिना, तम्—विविक्तमात्मानम्, शुक्रम्—स्वप्रकाशम्, अमृतम्—कूटस्थं ब्रह्म जानीयादित्यर्थः। तस्मात् कठवाक्यं प्रत्यग्ब्रह्मणि ज्ञेये समन्वितमिति सिद्धम्॥ २५॥ (७)

रत्नप्रभाका अनुवाद

परमात्माके साथ अभेदके विरोधसे अनुवाद्य जीवका अङ्गुष्ठपरिमाण बाध्य है, क्योंकि तात्पर्य बलवान् है, ऐसा कहते हैं—"तद्" इत्यादिसे। 'कहींपर'—'अस्थूलम्' इत्यादि स्थलमें। 'कहींपर'—तत्त्वमसि इत्यादिमें। जीव ब्रह्मसे अभिन्न है, इस विषयमें वाक्यशेष भी अनुकूल है, ऐसा कहते हैं—"एतम्" इत्यादिसे। श्रुतिवाक्य या यमको स्फुटीकरणका कर्त्ता समझना चाहिए। 'तम्'—जीवको, 'प्रवृहेत्'—पृथक् करे। 'धैर्येण'—बलवान् इन्द्रियोंके निग्रह आदिसे। 'तम्'—पृथक् कृत आत्माको 'शुक्रम्'—स्वप्रकाश, 'अमृतम्'—कूटस्थ ब्रह्म समझना चाहिए। इसलिए काठकवाक्यका समन्वय ज्ञेय ब्रह्ममें सिद्ध हुआ॥२५॥

[८ देवताधिकरण सू० २६—३३]

नाधिक्रियन्ते विद्यायां देवाः किंवाऽधिकारिणः ।
विदेहत्वेन सामर्थ्यहानेर्नैषामधिक्रिया ॥१॥
अविरुद्धार्थवादादिमन्त्रादेर्देहसत्त्वतः ।
अर्थित्वादेश्च सौलभ्याद् देवाद्या अधिकारिणः* ॥२॥

[अधिकरणसार]

सन्देह—ब्रह्मविद्यामें देवताओंका अधिकार है या नहीं ?

पूर्वपक्ष—शरीर और सामर्थ्य आदिके न होनेके कारण उनका ब्रह्मविद्यामें अधिकार नहीं है ।

सिद्धान्त—प्रमाणान्तरसे अविरुद्ध अर्थवाद आदि और मंत्र आदिसे ज्ञात होता है कि देवताओंका शरीर है और देवता आदिमें अर्थित्व भी सुलभ है, अतः उनका ब्रह्मविद्यामें अधिकार है ।

---

* निष्कर्ष यह है कि बृहदारण्यकमें 'तद्यो यो देवानां प्रत्यबुध्यत स एव तदभवत्, तथर्षीणाम्' यह श्रुति है । उसका अर्थ है—देवताओंमेंसे एवं ऋषियोंमेंसे जिस जिसने ब्रह्मको जान लिया, वह ब्रह्म ही हो गया ।

यहाँपर पूर्वपक्षी कहता है कि देवता और ऋषियोंको ब्रह्मविद्यामें अधिकार नहीं है, क्योंकि 'अर्थी समर्थो विद्वान्शास्त्रेणापर्युदस्तोऽधिक्रियते' इस प्रकार कथित अधिकारके कारण—अर्थित्व, सामर्थ्य, विद्वत्ता और शास्त्रसे अनिषिद्ध होना अशरीर देवताओंमें संभव नहीं है । यह नहीं कह सकते कि मंत्र, अर्थवाद आदिसे देवताओंका सशरीरत्व जाननेमें आता है, क्योंकि विधिके साथ एकवाक्यताको प्राप्त हुए मंत्र आदिका स्वार्थमें तात्पर्य नहीं हो सकता ।

सिद्धान्ती कहते हैं कि अर्थवाद, तीन प्रकारका है—गुणवाद, अनुवाद और भूतार्थवाद ।

"विरोधे गुणवादः स्यादनुवादोऽवधारिते ।
भूतार्थवादस्तद्धानादर्थवादस्त्रिधा मतः ॥"

'आदित्यो यूपः' (सूर्य यूप—यज्ञस्तम्भ है) 'यजमानः प्रस्तरः' (यजमान प्रस्तर–कुशमुष्टि है) इत्यादि अर्थवादोंमें प्रत्यक्ष विरोध है, क्योंकि स्तम्भ आदित्य नहीं हो सकता और कुशमुष्टि यजमान नहीं हो सकती, अतः आदित्य आदि शब्दसे आदित्य आदिके समान यागका निर्वाह करणरूप गुण लक्षित होता है, इसलिए ये गुणवाद हैं । 'अग्निर्हिमस्य भेषजम्' (अग्नि जाड़ेकी ओषधि है) 'वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता' (वायु शीघ्र जानेवाला देवता है) इत्यादि अर्थवादोंमें प्रत्यक्ष आदि अन्य प्रमाणोंसे सिद्ध अर्थका अनुवाद है, अतः ये अनुवाद हैं । उक्त गुणवाद और अनुवादका स्वार्थमें तात्पर्य भले ही न हो किन्तु 'इन्द्रो वृत्राय वज्रमुदयच्छत्' (इन्द्रने वृत्रासुरको वज्रसे मारा) इत्यादि प्रत्यक्ष आदि प्रमाणान्तरसे अविरुद्ध एवं प्रत्यक्ष आदिसे ज्ञायमान अर्थका अनुवाद न करनेवाले भूतार्थवादोंके स्वतः प्रामाण्य एवं स्वार्थमें तात्पर्यका कोई निराकरण नहीं कर सकता । भूतार्थवाद

तदुपर्यपि बादरायणः सम्भवात् ॥ २६ ॥

पदच्छेद—तदुपरि, अपि, बादरायणः, सम्भवात् ।

पदार्थोक्ति—तदुपर्यपि—मनुष्यादुपरिष्टाद् ये देवादयस्तेषामपि, सम्भवात्—अर्थित्वसामर्थ्याद्यधिकारकारणसम्भवात् [ब्रह्मविद्यायामधिकारोऽस्तीति] बादरायणः [आचार्यो मनुते] ।

भाषार्थ—मनुष्यसे श्रेष्ठ देवता आदिमें अर्थित्व, सामर्थ्य आदि अधिकारके कारण हैं, अतः वे भी ब्रह्मविद्यामें अधिकारी हैं, ऐसा बादरायण आचार्य मानते हैं ।

—— ० ——

भाष्य

अङ्गुष्ठमात्रश्रुतिर्मनुष्यहृदयापेक्षा, मनुष्याधिकारत्वाच्छास्त्रस्येत्युक्तम्,

भाष्यका अनुवाद

अङ्गुष्ठमात्र श्रुति मनुष्यके हृदयके साथ संबन्ध रखती है, क्योंकि शास्त्रका

रत्नप्रभा

शास्त्रस्य मनुष्याधिकारत्वे देवादीनां ब्रह्मविद्यायामपि अनधिकारः स्यादित्याशङ्क्याऽऽह—तदुपर्यपि बादरायणः सम्भवादिति । ननु समन्वयाध्याये अधिकारचिन्ता न सङ्गता इत्यत आह—अङ्गुष्ठेति । स्मृतस्य उपेक्षानर्हत्वं प्रसङ्गः ।

रत्नप्रभाका अनुवाद

शास्त्रमें यदि मनुष्योंका ही अधिकार हो तो देवता आदिका ब्रह्मविद्यामें भी अधिकार नहीं होगा, ऐसी आशङ्का करके कहते हैं—"तदुपर्यपि बादरायणः सम्भवात्" । यदि कोई कहे कि देव और ऋषियोंका ब्रह्मविद्यामें अधिकार है या नहीं, यह विचार समन्वयाध्यायमें असङ्गत है,

---

पदैकवाक्यतासे स्वार्थमें अवान्तर तात्पर्यका प्रतिपादन करके वाक्यैकवाक्यतासे विधिमें महातात्पर्यका प्रतिपादन करते हैं । मंत्रोंमें भी इसी न्यायकी योजना करनी चाहिए । इस प्रकार मंत्र और अर्थवादोंसे देवता आदि सशरीर हैं यह सिद्ध होने पर वेदान्तश्रवण आदिमें उनकी सामर्थ्य सुलभ ही है । ऐश्वर्य नश्वर एवं सातिशय है, यह ज्ञान होनेके कारण मोक्ष एवं उसके साधन ब्रह्मविद्यामें उनकी कामना हो सकती है । उनके उपनयन, वेदाध्ययन आदि न होनेपर भी वेदका स्वतः भान होनेके कारण उनमें विद्वत्ता भी है । इसलिए विद्यामें देवताओंका अधिकार किसीसे नहीं रोका जा सकता । यद्यपि अन्य आदित्य आदि देवताओंके न होने एवं आदित्यत्वादिप्राप्तिरूप विद्याफलके सिद्ध होनेके कारण आदित्य आदि देवताओंका आदित्यादिध्यानामिश्रित सगुणब्रह्मोपासनामें अधिकार न हो, तो भी निर्गुणब्रह्मविद्यामें उनका अधिकार माननेमें कोई दोष नहीं है, इससे सिद्ध हुआ कि ब्रह्मविद्यामें देवताओंका अधिकार है ।

भाष्य

तत्प्रसङ्गेनेदमुच्यते । बाढं मनुष्यानधिकरोति शास्त्रम्, न तु मनुष्यानेवेतीह ब्रह्मज्ञाने नियमोऽस्ति, तेषां मनुष्याणामुपरिष्टाद् ये देवादयस्तानप्यधिकरोति शास्त्रमिति बादरायण आचार्यो मन्यते । कस्मात् ? सम्भवात् । सम्भवति हि तेषामप्यर्थित्वाद्यधिकारकारणम् । तत्राऽर्थित्वं तावन्मोक्ष-

भाष्यका अनुवाद

अधिकारी मनुष्य है, ऐसा पीछे कहा है, उसीके सिलसिलेमें यह कहा जाता है । अवश्य मनुष्य शास्त्रका अधिकारी है, परन्तु ब्रह्मज्ञानमें मनुष्य ही अधिकारी है, ऐसा नियम नहीं है । बादरायण आचार्यका मत है कि उनसे अर्थात् मनुष्यों-से श्रेष्ठ देवता आदि भी शास्त्रके अधिकारी हैं । किससे ? सम्भवसे । अधिकारके कारण कामना आदिका उनमें भी संभव है । उन कारणोंमें मोक्षार्थी होना देवता

रत्नप्रभा

अत्र मनुष्याधिकारत्वोक्त्या स्मृतानां देवादीनां वेदान्तश्रवणादौ अधिकारोऽस्ति न वा इति सन्देहे भोगासक्तानां वैराग्याद्यसम्भवात् नेति प्राप्ते सिद्धान्तमाह— बाढमिति । एवमधिकारविचारात्मकाधिकरणद्वयस्य प्रासङ्गिकी सङ्गतिः । अत्र पूर्वपक्षे देवादीनां ज्ञानानधिकाराद् देवत्वप्राप्तिद्वारा क्रममुक्तिफलासु दहराद्युपासनासु क्रममुक्त्यर्थिनां मनुष्याणाम् अप्रवृत्तिः फलम्, सिद्धान्ते तु प्रवृत्तिः । उपासनाभिः देवत्वं प्राप्तानां श्रवणादिना ज्ञानाद् मुक्तिसम्भवादिति सफलोऽयं विचारः । ननु भोगासक्तानां तेषां मोक्षार्थित्वाभावात् न अधिकार इत्यत आह— अर्थित्वं तावदिति । विकारत्वेन अनृतविषयसुखस्य क्षयासूयादिदोषदृष्ट्या निर-

रत्नप्रभाका अनुवाद

इसपर कहते हैं—"अङ्गुष्ठ" इत्यादि । स्मृतिपथारूढ़ विषयकी उपेक्षा न करना प्रसङ्ग है । यहां मनुष्यका अधिकार कहा है, इसलिए स्मृतिपथारूढ़ देवता आदिका वेदान्तश्रवण आदिमें अधिकार है या नहीं, ऐसा सन्देह होनेपर वे भोगासक्त हैं, अतः उनमें वैराग्य आदि साधन सम्पत्तियोंका संभव नहीं है, इसलिए वे श्रवण आदिके अधिकारी नहीं हैं, ऐसा प्राप्त होनेपर सिद्धान्त कहते हैं—"बाढम्" इत्यादिसे । इस प्रकार दोनों अधिकरणोंमें अधिकारका विचार होनेसे इस अधिकरणकी पूर्व अधिकरणके साथ प्रसङ्ग संगति है । यहां पूर्वपक्षमें देवता आदिके ज्ञानमें अनधिकारी होनेके कारण देवत्वप्राप्ति द्वारा क्रममुक्तिके साधन दहर आदि उपासनाओंमें क्रममुक्तिकी अपेक्षा करनेवाले मनुष्योंकी अप्रवृत्ति फल है, सिद्धान्तमें तो उनमें प्रवृत्ति फल है । उपासनासे देवत्वको प्राप्त हुए लोगोंको श्रवण आदिसे ज्ञानद्वारा मुक्ति हो सकती है, इसलिए यह विचार (देवताओंका ज्ञानमें अधिकार है या नहीं यह विचार) सार्थक है । यदि कोई शङ्का करे कि विविध विचित्र आनन्दभोगमें आसक्त देवताओंमें वैराग्य न होनेसे मोक्षकी इच्छा

भाष्य

विषयं देवादीनामपि सम्भवति विकारविषयविभूत्यनित्यत्वालोचनादिनिमित्तम्। तथा सामर्थ्यमपि तेषां सम्भवति, मन्त्रार्थवादेतिहासपुराणलोकेभ्यो विग्रहवत्त्वाद्यवगमात्। न च तेषां कश्चित् प्रतिषेधोऽस्ति। न चोपनयनादिशास्त्रेणैषामधिकारो निवर्त्येत, उपनयनस्य वेदाध्ययनार्थत्वात्,

भाष्यका अनुवाद

आदिमें भी संभव है। देवताओंको यह ज्ञान होता है कि हमारा ऐश्वर्य परिणामशील एवं अनित्य है, इससे वे भी मोक्षार्थी हो सकते हैं। उसी प्रकार सामर्थ्य भी उनमें संभव है, क्योंकि मंत्र, अर्थवाद, इतिहास, पुराण और लोकानुभवसे अवगति होती है कि वे शरीरी हैं। और उनके लिए किसी कर्ममें निषेध नहीं है। और उपनयन शास्त्रसे उनका अधिकार निवृत्त नहीं होता, क्योंकि उपनयन वेदाध्ययनके

रत्नप्रभा

तिशयसुखमोक्षार्थित्वं सत्त्वप्रकृतीनां देवानां सम्भवतीत्यर्थः। ननु इन्द्राय स्वाहा इत्यादौ चतुर्थ्यन्तशब्दातिरिक्ता विग्रहवती देवता नास्ति, शब्दस्य च असामर्थ्यात् न अधिकार इत्यत्र आह—**तथेति**। आर्थित्ववद् इत्यर्थः। अपर्युदस्तत्वमाह—**न च तेषामिति**। "शूद्रो यज्ञेऽनवक्लृप्तः" (तै० सं० ७।१।१।६) इतिवद् देवादीनां विद्याधिकारनिषेधो नास्तीत्यर्थः। ननु विग्रहवत्त्वेन दृष्टसामर्थ्ये सत्यपि उपनयनाभावात् शास्त्रीयसामर्थ्यं नास्तीत्यत आह—**न चेति**। जन्मान्तराध्ययनबलात् स्वयमेव प्रतिभाताः स्मृताः वेदाः येषां ते तथा तद्भावादित्यर्थः।

रत्नप्रभाका अनुवाद

नहीं हो सकती, इसलिए उनका ब्रह्मविद्यामें अधिकार नहीं है, इसपर कहते हैं—"अर्थित्वं तावद्" इत्यादिसे। अनृत—मिथ्याभूत विषयसुखमें विकार होनेसे क्षय, ईर्ष्या आदि दोष देखकर निरतिशयसुखरूप मोक्षमें सत्त्वप्रकृतिवाले देवताओंकी भी कामना हो सकती है। यदि कोई कहे कि 'इन्द्राय स्वाहा' इत्यादि चतुर्थ्यन्त शब्दसे भिन्न कोई शरीरवाला देवता प्रतीत नहीं होता है, शब्दमें तो ज्ञानके साधनके अनुष्ठानकी सामर्थ्य नहीं है, अतः इन्द्र आदि देवताओंको अधिकार नहीं है, इसपर कहते हैं "तथा" इत्यादि। 'तथा'—अर्थित्वके समान। पर्युदासका अभाव कहते हैं—"न च तेषाम्" इत्यादिसे। 'शूद्रो यज्ञेऽनवक्लृप्तः' इसमें जैसे शूद्रका कर्ममें निषेध कहा गया है; वैसे देवता आदिके अधिकारका निषेध नहीं है। यदि कोई शङ्का करे कि शरीरी होनेके कारण यद्यपि देवताओंमें ज्ञानसम्पादन करनेकी सामर्थ्य है, तो भी उपनयन न होनेसे उनमें शास्त्रीयसामर्थ्य नहीं है इसपर कहते हैं—"न च" इत्यादि। अन्य जन्मके अध्ययनके बलसे उन्हें वेदका स्मरण स्वयं ही हो जाता है। बालक आदिमें

भाष्य

तेषां च स्वयंप्रतिभातवेदत्वात्। अपि च एषां विद्याग्रहणार्थं ब्रह्मचर्यादि दर्शयति—'एकशतं ह वै वर्षाणि मघवान् प्रजापतौ ब्रह्मचर्यमुवास' (छा० ८।११।३), 'भृगुर्वै वारुणिः वरुणं पितरमुपससार अधीहि भगवो ब्रह्म' (तै० ३।१) इत्यादि। यदपि कर्मस्वनधिकारकारणमुक्तम्—'न देवानां देवतान्तराभावात्' इति, 'न ऋषीणामार्षेयान्तराभावात्' (जै० ६।१।६,७) इति, न तद्विद्यास्वस्ति नहीन्द्रादीनां विद्यास्वधिक्रियमाणानामिन्द्राद्युद्देशेन

भाष्यका अनुवाद

लिए है और उनको वेदका प्रकाश स्वयं ही होता है। और 'एकशतं ह०' (एक सौ एक वर्ष तक इन्द्र प्रजापतिके पास ब्रह्मचर्यपूर्वक रहा), 'भृगुर्वै वारुणिः०' (वरुणका पुत्र भृगु अपने पिता वरुणके पास गया और उसने कहा कि हे भगवन्! मुझे ब्रह्मज्ञानका उपदेश कीजिए) इत्यादि श्रुतिवाक्यसे प्रतीत होता है कि विद्याग्रहणके लिए देवता आदि भी ब्रह्मचर्य आदि धारण करते हैं। 'न देवानां०' (देवताओंका कर्ममें अधिकार नहीं है, क्योंकि अन्य देवताओंका अभाव है) और 'न ऋषीणा०' (ऋषियोंका कर्ममें अधिकार नहीं है, क्योंकि दूसरा ऋषि-

रत्नप्रभा

बालादिषु प्रविष्टपिशाचादीनां वेदोद्घोषदर्शनात्। देवयोनीनां जन्मान्तरस्मरणम् अस्तीति स्मृतवेदान्तानामर्थविचारो युक्त इत्यर्थः। देवानां ऋषीणां च विद्याधिकारे कारणम् अर्थित्वादिकम् उक्त्वा श्रौतं गुरुकुलवासादिलिङ्गम् आह—अपि चेति। ननु ब्रह्मविद्या देवादीन् न अधिकरोति, वेदार्थत्वाद्, अग्निहोत्रवद् इत्यत आह—यदपीति। देवानां कर्मसु नाऽधिकारः देवतान्तराणाम् उद्देश्यानाम् अभावादिति प्रथमसूत्रार्थः। ऋषीणाम् अनधिकारः ऋष्यन्तराभावात् ऋषियुक्ते कर्मणि अशक्तेरिति द्वितीयसूत्रार्थः। असामर्थ्यम् उपाधिरिति परिहरति—

रत्नप्रभाका अनुवाद

प्रविष्ट हुए पिशाचादि द्वारा वेदका उद्घोष देखा जाता है, इसलिए देवता आदिको अन्य जन्मका स्मरण है, इसलिए स्मरण किए हुए वेदान्तोंका अर्थविचार युक्त है, ऐसा अर्थ है। देवों और ऋषियोंके विद्याधिकारमें कामना आदिको कारण कह कर गुरुकुलवास आदि श्रुतिमें कहे हुए लिंग कहते हैं—"अपि च" इत्यादिसे। यदि कोई कहे कि अग्निहोत्रके समान वेदार्थ होनेके कारण ब्रह्मविद्यामें देवादिका अधिकार नहीं है, इसपर कहते हैं—"यदपि" इत्यादि। देवताओंका कर्म्ममें अधिकार नहीं है, क्योंकि जिनके उद्देश्यसे देवता कर्म करें, ऐसे अन्य देवता हैं ही नहीं, ऐसा प्रथम सूत्रका अर्थ है। ऋषियोंको कर्ममें अधिकार नहीं है क्योंकि अन्य ऋषियोंके न होनेसे ऋषियुक्त कर्ममें उनकी शक्ति नहीं है यह दूसरे सूत्रका

भाष्य

किञ्चित्कृत्यमस्ति, न च भृग्वादीनां भृग्वादिसगोत्रतया। तस्माद्देवादीनामपि विद्यास्वधिकारः केन वार्यते। देवाद्यधिकारेऽप्यङ्गुष्ठमात्रश्रुतिः स्वाङ्गुष्ठापेक्षया न विरुध्यते ॥ २६ ॥

भाष्यका अनुवाद

समूह नहीं है) इत्यादिसे जो देवता आदिका कर्ममें अनधिकारका हेतु कहा है, वह विद्यामें नहीं है। वस्तुतः विद्याओंमें अधिकृत इन्द्र आदिका कोई भी कृत्य इन्द्र आदिके उद्देशसे नहीं है और भृगु आदि ऋषियोंका भी कोई कृत्य भृगु आदिके सगोत्रके उद्देशसे नहीं है। इस कारण देवताओंका भी विद्याओंमें अधिकार कौन रोक सकता है? देवता आदिके अधिकारमें भी अङ्गुष्ठमात्र श्रुति उनके अङ्गुष्ठकी अपेक्षा रखती है, अतः विरुद्ध नहीं है ॥२६॥

रत्नप्रभा

न तदिति। असामर्थ्यरूपं कारणमित्यर्थः। नहि अस्ति, येन असामर्थ्यं स्यादिति शेषः। "तद्यो यो देवानां प्रत्यबुध्यत स एव तदभवत्, तथर्षीणाम्" इति वाक्यबाधोऽपि अनुमानस्य द्रष्टव्यः। ननु देवादीन् प्रति अङ्गुष्ठमात्रश्रुतिः कथम्? तेषां महादेहत्वेन हृदयस्य अस्मदङ्गुष्ठमात्रत्वाभावात्। अतः श्रुतिषु तेषां नाधिकार इत्यत आह—देवाद्यधिकारेऽपीति ॥ २६ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

अर्थ है। असामर्थ्य उपाधि है, इस प्रकार शङ्काका परिहार करते हैं—"न तद्" इत्यादिसे। 'तद्'—असामर्थ्यरूप कारण। 'नहि······अस्ति' के बाद 'येनासामर्थ्यं स्यात्' (जिससे उनमें असामर्थ्य हो) इतना शेष समझना चाहिए 'तद्यो यो देवानां०' (देव, ऋषि और मनुष्योंमें जिस जिसने यह जान लिया कि 'मैं ब्रह्म हूँ' वह ब्रह्म ही हो गया) इस वाक्यसे पूर्वोक्त अनुमानका बाध भी होता है, यह समझना चाहिए। यदि कोई कहे कि अङ्गुष्ठमात्र श्रुति देवताओंके पक्षमें किस प्रकार संगत होगी? क्योंकि उनके विपुलकाय होनेके कारण हमारे अँगूठेके बराबर उनका हृदय नहीं है, इसलिए श्रुतिमें उनका अधिकार नहीं है, इसपर कहते हैं—"देवाद्यधिकारेऽपि" इत्यादि ॥ २६ ॥

(१) 'ब्रह्मविद्या देवादीन्नाधिकरोति, वेदार्थत्वात्, अग्निहोत्रवत्' इस अनुमानमें 'असामर्थ्य' उपाधि है, क्योंकि वह साध्यका व्यापक तथा साधनका अव्यापक है, देवादि जहां जहां (कर्म आदिमें) अनधिकृत हैं, वहां वह अनधिकार असामर्थ्यरूप कारणसे ही है, इस प्रकार असामर्थ्य साध्यका व्यापक है। वेदार्थत्वरूप हेतु ब्रह्मज्ञानमें भी है, वहां देव आदिका असामर्थ्य नहीं है, क्योंकि श्रुतिसे ज्ञात होता है कि देव आदिको भी ब्रह्मज्ञान होता है, और वे मुक्त हो जाते हैं, इस प्रकार साधनका अव्यापक है। अतः उक्त अनुमान उपाधिग्रस्त होनेके कारण ब्रह्मज्ञानमें देवता आदिका अनधिकार सिद्ध नहीं कर सकता है।

विरोधः कर्मणीति चेन्नानेकप्रतिपत्तेर्दर्शनात् ॥२७॥

पदच्छेद—विरोधः, कर्मणि, इति, चेत्, न, अनेकप्रतिपत्तेः, दर्शनात्।

पदार्थोक्ति—कर्मणि विरोधः—[इन्द्रादीनां विग्रहवत्त्वे एकस्य शरीरस्याऽनेकत्र कर्मणि युगपत्सन्निधानासम्भवात्] कर्मणि विरोधः प्रसज्येत, इति चेत्, न, अनेकप्रतिपत्तेः—एकस्याऽप्यनेकशरीराणां युगपत् प्राप्तेः, दर्शनात्—'स एकधा भवति त्रिधा भवति' इत्यादिश्रुतौ दर्शनात्। [अथवा] अनेकप्रतिपत्तेः—अनेकत्र कर्मणि एकस्याऽङ्गभावस्य दर्शनात्, [इन्द्रादीनामपि अनेकत्र हविर्ग्रहणमुपपद्यते]।

भाषार्थ—इन्द्र आदि देवताओंके भी यदि शरीर हों तो एक शरीर अनेक स्थलोंमें होनेवाले कर्ममें एक ही समय उपस्थित नहीं हो सकता, इसलिए कर्ममें विरोध होगा अर्थात् यज्ञ आदि कर्मानुष्ठान असम्भव हो जायगा, ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि 'स एकधा०' (वह एक प्रकारका होता है, तीन प्रकारका होता है पाँच प्रकारका होता है) इत्यादि श्रुतिमें एक ही समय एकका ही अनेक शरीरोंका ग्रहण करना देखा जाता है। अथवा अनेक कर्मोंमें एक ही पदार्थका अङ्ग होना लोकमें देखा जाता है, अतः इन्द्र आदिका भी अनेक स्थलोंमें हवि ग्रहण करना उपपन्न होता है।

भाष्य

स्यादेतत्, यदि विग्रहवत्त्वाद्यभ्युपगमेन देवादीनां विद्यास्वधिकारो

भाष्यका अनुवाद

ऐसा होता परन्तु हो नहीं सकता है, क्योंकि यदि शरीरवत्त्व आदि स्वीकार कर

रत्नप्रभा

ननु मन्त्रादीनां प्रतीयमानविग्रहवत्त्वे तात्पर्यं कल्पयित्वा देवादीनामधिकार उक्तः, स च अयुक्तः, अन्यपराणां तेषां प्रत्यक्षादिविरोधेन स्वार्थे तात्पर्यकल्पनानुपपत्तेरिति आक्षिप्य सूत्रचतुष्टयेन परिहरति—**विरोधः कर्मणीत्यादिना**।

रत्नप्रभाका अनुवाद

सशरीर देवताओंमें मंत्र आदिके तात्पर्यकी कल्पना कर ब्रह्मविद्यामें देवता आदिका अधिकार कहा गया है, वह ठीक नहीं है, क्योंकि प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंसे विरोध होनेके कारण उन मंत्रोंको अन्यार्थपरक मानना पड़ेगा, अतः स्वार्थमें उनके तात्पर्यकी कल्पना नहीं हो

भाष्य

वर्ण्येत विग्रहवत्त्वादृत्विगादिवदिन्द्रादीनामपि स्वरूपसंनिधानेन कर्माङ्ग-भावोऽभ्युपगम्येत, तदा च विरोधः कर्मणि स्यात्, नहीन्द्रादीनां स्वरूपसंनि-धानेन यागेऽङ्गभावो दृश्यते, न च सम्भवति, बहुषु यागेषु युगपदेकस्ये-

भाष्यका अनुवाद

देवता आदिका विद्यामें अधिकार कहा जाय तो शरीरी होनेसे ऋत्विक् आदिके समान इन्द्र आदिका भी स्वरूपके संनिधानसे कर्ममें अङ्गभाव स्वीकार करना पड़ेगा, तब कर्ममें विरोध होगा। क्योंकि यागमें स्वरूपके संनिधानसे इन्द्र आदि-का अंगभाव देखनेमें नहीं आता है। और हो भी नहीं सकता, क्योंकि बहुतसे यागोंमें एक ही समय एक इन्द्रकी स्वरूपसे उपस्थिति हो नहीं सकती है, ऐसा

रत्नप्रभा

वर्ण्येत तर्हीति शेषः। स्वरूपम्—विग्रहः। अभ्युपगमे प्रत्यक्षेण देवता दृश्येत, न च दृश्यते, अतो योग्यानुपलब्ध्या देवताया विग्रहवत्त्या अभावात् सम्प्रदानकारकाभावेन कर्मनिष्पत्तिः न स्यादित्याह—तदा चेति। विग्रहस्य अङ्गत्वम् अनुपलब्धि-बाधितम्, युक्त्या च न सम्भवतीत्याह—न चेति। तस्माद् अर्थोपहितशब्द एव

रत्नप्रभाका अनुवाद

सकेगी, ऐसा आक्षेप करके "विरोधः कर्मणि" इत्यादि चार सूत्रोंसे उसका परिहार करते हैं। 'वर्ण्येत' के बाद 'तर्हि' (तो) यह शेष समझना चाहिए। स्वरूप अर्थात् शरीर। ऐसा स्वीकार करनेपर देवताओंका प्रत्यक्ष दर्शन होना चाहिए, किन्तु होता नहीं, इसलिए योग्यानुपलब्धि रूप प्रमाणसे प्रतीत होता है कि देवता शरीरयुक्त नहीं हैं, अतः सम्प्रदानकारकके न होनेके कारण कर्मकी निष्पत्ति नहीं हो सकेगी, ऐसा कहते हैं—"तदा च" इत्यादिसे। शरीरका यागमें अंग होना अनुपलब्धि प्रमाणसे बाधित है और युक्तिसे भी संभव नहीं है, ऐसा कहते हैं—"न च" इत्यादिसे। इसलिए अर्थोपहित शब्द ही देवता है, अचेतन होनेके कारण विद्यामें उसका अधिकार नहीं है, यह शङ्काका अर्थ है।

(१) वेदान्तियोंके माने हुए छः प्रमाणोंमें अनुपलब्धि एक प्रमाण है। प्रमाण वह कहलाता है जो प्रमा–यथार्थानुभवका करण–असाधारण कारण हो। ज्ञानरूप कारणसे अजन्य, अभावके अनुभवका करण अनुपलब्धि है, इसलिए वह प्रमाण है। अनुपलब्धि प्रमाणसे अतीन्द्रिय धर्म, अधर्म आदिका अभाव गृहीत नहीं होता है, इसलिए योग्य अनुपलब्धि ही अभावानुभवमें कारण है। इससे यही कहा गया कि घट आदिके ज्ञानका अभाव घटाभावानुभवमें कारण है। पुष्कल आलोक आदिसे युक्त भूतलमें यदि यहां घट होता तो उपलब्ध होता, उपलब्ध नहीं होता है, इसलिए नहीं है, इस प्रकार आपादन आदिसे जो घटाभावका ज्ञान होता है, वह योग्य अनुपलब्धि प्रमाणसे होता है।

भाष्य

न्द्रस्य स्वरूपसंनिधानानुपपत्तेरिति चेत्; नाऽयमस्ति विरोधः। कस्मात्? अनेकप्रतिपत्तेः। एकस्याऽपि देवतात्मनो युगपदनेकस्वरूपप्रतिपत्तिः सम्भवति। कथमेतदवगम्यते? दर्शनात्। तथाहि—'कति देवाः' इत्युपक्रम्य 'त्रयश्च त्री च शता त्रयश्च त्री च सहस्रा' इति निरुच्य 'कतमे ते' इत्यस्यां पृच्छायाम् 'महिमान एवैषामेते त्रयस्त्रिंशत्त्वेव देवाः' (बृ० ३।९।१,२) इति ब्रुवती श्रुतिरेकैकस्य

भाष्यका अनुवाद

कोई आक्षेप करे, तो यह आक्षेप नहीं हो सकता। किससे? अनेक प्रतिपत्ति होनेसे। एक ही समयमें एक ही देवता अनेक स्वरूप धारण कर सकता है। यह कैसे समझा जाय? इससे कि श्रुतिमें देखा जाता है। क्योंकि 'कति देवाः' (देवता कितने हैं) ऐसा उपक्रम करके 'त्रयश्च त्री च०' (तीन सौ तीन और तीन हजार तीन अर्थात् तीन हजार तीन सौ छः हैं) ऐसा निर्वचन करके 'कतमे०' (वे कौन हैं) ऐसा प्रश्न उपस्थित होने पर 'महिमान एवैषा०' (ये इनकी महिमा ही हैं, देवता कुल तैंतीस ही हैं) यह कहती हुई श्रुति एक

रत्नप्रभा

देवता तस्या अचेतनत्वात् न विद्याधिकार इति शङ्कार्थः। परिहरति—नायमिति। एकस्याऽपि देवस्य योगबलाद् अनेकदेहप्राप्तिः श्रुतिस्मृतिदर्शनात् सम्भवति, अतो न कर्मणि विरोध इति व्याचष्टे—कस्मादित्यादिना। वैश्वदेवशस्त्रे शस्यमानदेवाः कति इति शाकल्येन पृष्टो याज्ञवल्क्यो निविदा त्रयश्च इत्यादिरूपया उत्तरं ददौ। निविन्नाम शस्यमानदेवसंख्यावाचकः शब्दः। षडधिकानि त्रीणि शतानि त्रीणि सहस्राणीति संख्योक्तौ संख्येयस्वरूपप्रश्ने महिमानो विभूतयः-सर्वे देवाः, एषाम् त्रयस्त्रिंशद्देवानाम्। अतः अष्टौ वसवः,

रत्नप्रभाका अनुवाद

शङ्काका निराकरण करते हैं—"नायम्" इत्यादिसे। श्रुति और स्मृतिको देखनेसे प्रतीत होता है कि एक ही देवता योगबलसे अनेक देह धारणकर सकता है, इसलिए कर्ममें विरोध नहीं है, ऐसा व्याख्यान करते हैं—"कस्माद्" इत्यादिसे। वैश्वदेवशस्त्रमें कितने देवताओंकी स्तुति की गई है, जब शाकल्यने याज्ञवल्क्यसे इस प्रकार पूछा, तब याज्ञवल्क्यने 'त्रयश्च' इत्यादि निविद्से उत्तर दिया। शस्यमान देवताओंकी संख्याका वाचक मंत्रपद 'निविद्' कहलाता है। तीन हजार तीन सौ-छः, याज्ञवल्क्यके यह संख्या कहनेपर संख्येय देवताओंके स्वरूपके विषयमें शाकल्यने फिर प्रश्न किया कि वे कौन हैं? याज्ञवल्क्यने उसका उत्तर दिया कि इन

भाष्य

देवतात्मनो युगपदनेकरूपतां दर्शयति। तथा त्रयस्त्रिंशतोऽपि षडाद्यन्तर्भावक्रमेण 'कतम एको देवः' इति 'प्राणः' इति, प्राणैकरूपतां देवानां दर्शयन्ती तस्यैवैकस्य प्राणस्य युगपदनेकरूपतां दर्शयति। तथा स्मृतिरपि—

भाष्यका अनुवाद

ही देवतात्माके एक ही समयमें अनेक रूप दिखलाती है। उसी प्रकार उन तैंतीस देवोंका क्रमशः छः, तीन, दो और एक में अन्तर्भाव दिखलाकर 'कतम एको०' (वह एक देव कौन है ? प्राण है) इस प्रकार देवताओंका प्राणरूप एक स्वरूपको दिखलाती हुई श्रुति उसी एक प्राणमें एक ही समयमें अनेक स्वरूप दिखलाती

रत्नप्रभा

एकादश रुद्राः, द्वादश आदित्याः, इन्द्रः प्रजापतिश्च इति त्रयस्त्रिंशद्देवाः, तेऽपि षण्णाम् अग्निपृथिवीवाय्वन्तरिक्षादित्यदिवां महिमानः, तेऽपि षट्सु देवेषु अन्तर्भवन्ति। षट् देवास्त्रिषु लोकेषु, त्रयश्च द्वयोः अन्नप्राणयोः, द्वौ च एकस्मिन् प्राणे हिरण्यगर्भे, अन्तर्भवत इति दर्शितम् इत्यर्थः। त्रयस्त्रिंशतोऽपि देवानामिति सम्बन्धः। दर्शनं श्रौतं व्याख्याय स्मार्तं व्याचष्टे—तथा स्मृतिरिति। बलं योगसिद्धिम्।

रत्नप्रभाका अनुवाद

तैंतीस देवताओंकी ये सब देवता विभूति हैं। इसलिए ८ वसु, ११ रुद्र, १२ आदित्य, १ इन्द्र और १ प्रजापति ये तैंतीस देवता हैं। ये तैंतीस देवता अग्नि, पृथिवी, वायु, आन्तरिक्ष, आदित्य और दिव इन छः की विभूतियां हैं, अतः छः हीमें सब अन्तर्भूत होते हैं। इन छः देवताओंका तीनमें—पृथिवी, अन्तरिक्ष और दिव—में अन्तर्भाव होता है। ये तीन अन्न प्राण इन दोमें अन्तर्भूत होते हैं और वे दो एक प्राण—हिरण्यगर्भमें अन्तर्भूत होते हैं, इस प्रकार दिखलाया गया है। 'त्रयस्त्रिंशतोऽपि' का 'देवानां' के साथ संबन्ध है। श्रौतदर्शनकका व्याख्यान करके स्मार्त दर्शनका व्याख्यान करते हैं—"तथा स्मृतिः" इत्यादिसे। बल—योगसिद्धि। अणिमा,

(१) अग्नि, पृथिवी, वायु, अन्तरिक्ष, आदित्य, दिव चन्द्रमा और नक्षत्र आठ वसु हैं। ये प्राणियोंके कर्मफलके सहारे कार्यकारणरूप संघातमें परिणाम पाकर जगत् बसाते हैं, इसलिए वसु कहलाते हैं। पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ और मन ये ११ रुद्र हैं, ये मरणकालमें शरीरसे उत्क्रमण करते हुए प्राणियोंको रुलाते हैं, अतः रुद्र कहलाते हैं। संवत्सरके अवयव १२ मास द्वादश आदित्य हैं। ये बारंबार परिवर्तन करते हुए प्राणियोंकी आयु और कर्मफलके उपभोगको ले लेते हैं, अतः आदित्य कहलाते हैं। अशनि वज्र ही इन्द्र है। यह इन्द्रका बल है, परम शक्ति है, उससे वह सब प्राणियोंका शासन करता है, इसलिए अशनि इन्द्र है, यज्ञ प्रजापति है। यज्ञका साधन और यज्ञरूप पशु प्रजापति हैं।

भाष्य

'आत्मनो वै शरीराणि बहूनि भरतर्षभ ।
योगी कुर्याद्बलं प्राप्य तैश्च सर्वैर्महीं चरेत् ॥
प्राप्नुयाद्विषयान् कैश्चित् कैश्चिदुग्रं तपश्चरेत् ।
संक्षिपेच्च पुनस्तानि सूर्यो रश्मिगणानिव ॥'

इत्येवंजातीयका प्राप्ताणिमाद्यैश्वर्याणां योगिनामपि युगपदनेकशरीर-योगं दर्शयति । किमु वक्तव्यमाजानसिद्धानां देवानाम् । अनेकरूपप्रति-पत्तिसम्भवाच्चैकैका देवता बहुभी रूपैरात्मानं प्रविभज्य बहुषु यागेषु

भाष्यका अनुवाद

है । इसी प्रकार 'आत्मनो वै०' (हे भरतपुङ्गव ! योगी योगमहिमासे अपने अनेक शरीर धारण कर सकता है और उन सबसे पृथिवीपर कुछ शरीरोंसे विच-रण कर सकता है, कुछसे विषयभोग प्राप्त कर सकता है और कुछसे उग्र तप कर सकता है और फिर जैसे सूर्य अपनी किरणोंको समेट लेता है वैसे उन शरीरोंको समेट सकता है इत्यादि स्मृति भी जिन्होंने अणिमा आदि ऐश्वर्य प्राप्त किये हैं, उन योगियोंका भी एक ही समयमें अनेक शरीरोंसे संबन्ध दिखलाती है, तो जन्मसे सिद्ध देवताओंके विषयमें कहना ही क्या है ? अनेक रूप धारण कर सकनेके कारण प्रत्येक देवता बहुत रूपोंमें विभक्त होकर एक

रत्नप्रभा

"अणिमा महिमा चैव लघिमा प्राप्तिरीशिता । प्राकाम्यं च वशित्वं च यत्रकामाव-सायिता" ॥ (मार्कण्डेयपु०) इति अष्टैश्वर्याणि । क्षणेन अणुः महान् लघुः गुरुश्च भवति योगी । अङ्गुल्या चन्द्रस्पर्शः—प्राप्तिः । ईशिता—सृष्टिशक्तिः । प्राकाम्यम्—इच्छानभिघातः । वशित्वं—नियमनशक्तिः । सङ्कल्पमात्राद् इष्टलाभः—यत्रकामावसायिता इति भेदः । आजानसिद्धानाम्—जन्मना सिद्धानाम् इत्यर्थः । फलितमाह—अनेकेति । अनेकेषु कर्मसु एकस्य प्रतिपत्तिः अङ्गभावः ।

रत्नप्रभाका अनुवाद

महिमा, लघिमा, प्राप्ति, ईशत्व, प्राकाम्य, वशित्व और यत्रकामावसायिता—आठ ऐश्वर्य हैं । योगी क्षणभरमें सूक्ष्म, महान्, हलका और भारी हो जाता है । प्राप्ति—अँगुलीसे चन्द्रका स्पर्श । ईशता—सृष्टि करनेकी शक्ति । प्राकाम्य—इच्छाका व्याघात न होना अर्थात् कहींपर भी इच्छाका कुण्ठित न होना । वशित्व—नियमनशक्ति । यत्रकामावसायिता—सङ्कल्पमात्रसे इष्टकी प्राप्ति । 'जन्मसे सिद्ध'—जन्मसे जिन्होंने सिद्धि प्राप्तकी है । फलित कहते हैं—"अनेक" इत्यादिसे । अनेक कर्मोंमें एककी प्रतिपत्ति—अङ्गभाव ।

भाष्य

युगपदङ्गभावं गच्छति, परैश्च न दृश्यतेऽन्तर्धानादिक्रियाशक्तियोगादित्युपपद्यते।

अनेकप्रतिपत्तेर्दर्शनादित्यस्याऽपरा व्याख्या–विग्रहवतामपि कर्माङ्गभावचोदनास्वनेका प्रतिपत्तिर्दृश्यते। क्वचिदेकोऽपि विग्रहवाननेकत्र युगपदङ्गभावं न गच्छति, यथा बहुभिर्भोजयद्भिर्नैको ब्राह्मणो युगपद् भोज्यते। क्वचिच्चैकोऽपि विग्रहवाननेकत्र युगपदङ्गभावं गच्छति, यथा बहुभिर्नमस्कुर्वाणैरेको ब्राह्मणो युगपन्नमस्क्रियते। तद्वदिहोद्देशपरित्यागात्मकत्वाद् यागस्य विग्रहवतीमप्येकां देवतामुद्दिश्य बहवः स्वं स्वं द्रव्यं युगपत् परित्यक्ष्यन्तीति विग्रहवत्त्वेऽपि देवानां न किञ्चित्कर्मणि विरुध्यते ॥२७॥

भाष्यका अनुवाद

ही समय बहुत यागोंका अंग होसकता है और अन्तर्धान आदि सामर्थ्यसे अन्य पुरुष उसे नहीं देख सकते। इसलिए देवताओंका विद्यामें अधिकार युक्त है।

'अनेकप्रतिपत्तेर्दर्शनात्' इसकी दूसरी व्याख्या—शरीरियोंकी भी कर्मके अंग बनानेमें भिन्न भिन्न प्रतिप्रत्तियां दिखाई देती हैं। कहींपर एक ही शरीरी अनेक स्थलोंपर एकही समयमें अंग नहीं बन सकता है जैसे कि भोजन करानेवाले बहुत मनुष्यों से एक ही समयमें एक ही ब्राह्मण नहीं खिलाया जा सकता। कहीं पर एक ही समय नमस्कार करनेवाले बहुत मनुष्यों से एक ही ब्राह्मण नमस्कृत होता है। उसी प्रकार यहां यागके उद्देशपरित्यागात्मक होनेसे अर्थात् देवताके उद्देशसे द्रव्यका त्याग करना, यही यागका स्वरूप होनेके कारण एक ही शरीरी देवताके उद्देशसे बहुत लोग अपने अपने द्रव्यका एक ही समय त्याग कर सकेंगे, इसलिए देवताओंके शरीरी होनेपर भी कर्ममें कुछ विरोध नहीं है ॥२७॥

रत्नप्रभा

तस्य लोके दर्शनाद् इति वक्तुं व्यतिरेकमाह—क्वचिदेक इति। प्रकृतोपयुक्तमन्वयदृष्टान्तमाह—क्वचिच्चेति ॥ २७ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

यह बात व्यवहारमें देखी जाती है, ऐसा कहनेके लिए व्यतिरेक दिखाते है—"क्वचिदेक" इत्यादिसे प्रस्तुत विषयमें उपयुक्त अन्वय दृष्टान्त कहते हैं—"क्वचिद्" इत्यादिसे ॥२७॥

अच्युतके उद्देश्य और नियम

उद्देश्य—

सनातन-धर्मकी उन्नति करनेवाले उत्तमोत्तम प्राचीन संस्कृत-ग्रन्थोंका भाषानुवाद प्रकाशित कर जनतामें ज्ञान और भक्तिका प्रचार करना इसका उद्देश्य है।

प्रबन्ध-सम्बन्धी नियम—

(१) 'अच्युत' प्रतिमास पूर्णिमाको प्रकाशित होता है।

(२) इसका वार्षिक मूल्य भारत के लिये ६) रु० और विदेशके लिये ८) रु० है। एक संख्याका मूल्य ॥) है।

(३) ग्राहकोंको मनीआर्डरद्वारा रुपये भेजनेमें सुविधा होगी। वी० पी० द्वारा मंगानेसे रजिस्टरीका व्यय उनके जिम्मे अधिक पड़ जायगा।

(४) मनीआर्डरसे रुपये भेजनेवाले ग्राहक महाशयोंको कूपनपर रुपयोंकी तादाद, रुपये भेजनेका मतलब, अपना पूरा पता, नये ग्राहकोंको 'नये ग्राहक' और पुराने ग्राहकोंको अपना ग्राहक-नम्बर स्पष्ट अक्षरोंमें लिख देना चाहिये।

(५) उत्तरके लिये जवाबी पोस्टकार्ड या टिकट भेजना चाहिये।

(६) जिन महाशयोंको अपना पता बदलवाना हो, उन्हें कार्यालयको पता बदलवानेके विषयमें पत्र लिखते समय अपना पुराना पता तथा ग्राहक-नम्बर लिखना नहीं भूलना चाहिये।

व्यवस्थापक

अच्युत-ग्रन्थमाला-कार्यालय,

ललिताघाट, बनारस।

Regd. No. A. 2426

विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परासुव ।
यद्भद्रं तन्न आसुव ॥

Cover printed at the Indian Press, Ltd.,
Benares

वर्ष १ } संरक्षक—गौरीशङ्करगोयनका-समर्पित निधि, काशी { अङ्क ८

भाद्रपद पूर्णिमा

१९९१

अच्युत

वार्षिक मूल्य—६)

एक प्रति का—॥)

सम्पादक—

पं० चण्डीप्रसाद शुक्ल, प्रिंसिपल जो० म० गोयनका संस्कृत महाविद्यालय,

स० सम्पादक तथा प्रकाशक—

पं० श्रीकृष्ण पन्त साहित्याचार्य, अच्युत-ग्रन्थमाला-कार्यालय,
ललिताघाट काशी।

मुद्रक—द० ल० निघोजकर, श्रीलक्ष्मीनारायण प्रेस, काशी।

अच्युत

विषय-सूची

ॐ सह नाववतु । सह नौ भुनक्तु । सह वीर्यं करवावहै ।
तेजस्वि नावधीतमस्तु मा विद्विषावहै ॥

तन्वन् श्रीश्रुतिसिद्धसन्मतमहाग्रन्थप्रकाशप्रथाम्,
ब्रह्माद्वैतसमिद्धशङ्करगिरां माधुर्य्यमुद्भावयन् ।
अज्ञानान्धतमिस्ररुद्धनयनान् दिव्यां दृशं लम्भयन्,
भक्तिज्ञानपथे स्थितो विजयतामाकल्पमेषोऽच्युतः ॥

वर्ष १ } काशी, भाद्र पूर्णिमा १९९१ { अङ्क ८

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा
भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः ।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवांसस्तनूभि-
र्व्यशेम देवहितं यदायुः ॥

धन्याष्टकम्—

तज्ज्ञानं प्रशमकरं यदिन्द्रियाणां तज्ज्ञेयं यदुपनिषत्सु निश्चितार्थम् ।
ते धन्या भुवि परमार्थनिश्चितेहाः शेषास्तु भ्रमनिलये परिभ्रमन्तः ॥१॥

आदौ विजित्य विषयान् मदमोहरागद्वेषादिशत्रुगणमाहृतयोगराज्याः ।
ज्ञात्वा मतं समनुभूय परात्मविद्याकान्तासुखं वनगृहे विचरन्ति धन्याः ॥२॥

त्यक्त्वा गृहे रतिमधोगतिहेतुभूतामात्मेच्छयोपनिषदर्थरसं पिवन्तः ।
वीतस्पृहा विषयभोगपदे विरक्ता धन्याश्चरन्ति विजनेषु विरक्तसंगाः ॥३॥

त्यक्त्वा ममाहमिति वन्धकरे पदे द्वे मानावमानसदृशा समदर्शिनश्च ।
कर्तारमन्यमवगम्य तदर्पितानि कुर्वन्ति कर्मपरिपाकफलानि धन्याः ॥४॥

त्यक्त्वैषणात्रयमवेक्षितमोक्षमार्गा भैक्षामृतेन परिकल्पितदेहयात्राः ।
ज्योतिः परात्परतरं परमात्मसंज्ञं धन्या द्विजा रहसि हृद्यवलोकयन्ति ॥५॥

नासन्न सन्न सदसन्न महन्न चाणु न स्त्री पुमान् न च नपुंसकमेकवीजम् ।
यैर्ब्रह्म तत् समनुपासितमेकचित्तैर्धन्या विरेजुरितरे भवपाशवद्धाः ॥६॥

अज्ञानपङ्कपरिमग्नमपेतसारं दुःखालयं मरणजन्मजरावसक्तम् ।
संसारवन्धनमनित्यमवेक्ष्य धन्या ज्ञानासिना तदवशीर्य विनिश्चयन्ति ॥७॥

शान्तैरनन्यमतिभिः मधुरस्वभावैरेकत्वनिश्चितमनोभिरपेतमोहैः ।
साकं वनेषु विदितात्मपदस्वरूपं तद्वस्तु सम्यगनिशं विमृशन्ति धन्याः ॥८॥

—श्रीशंकराचार्यः
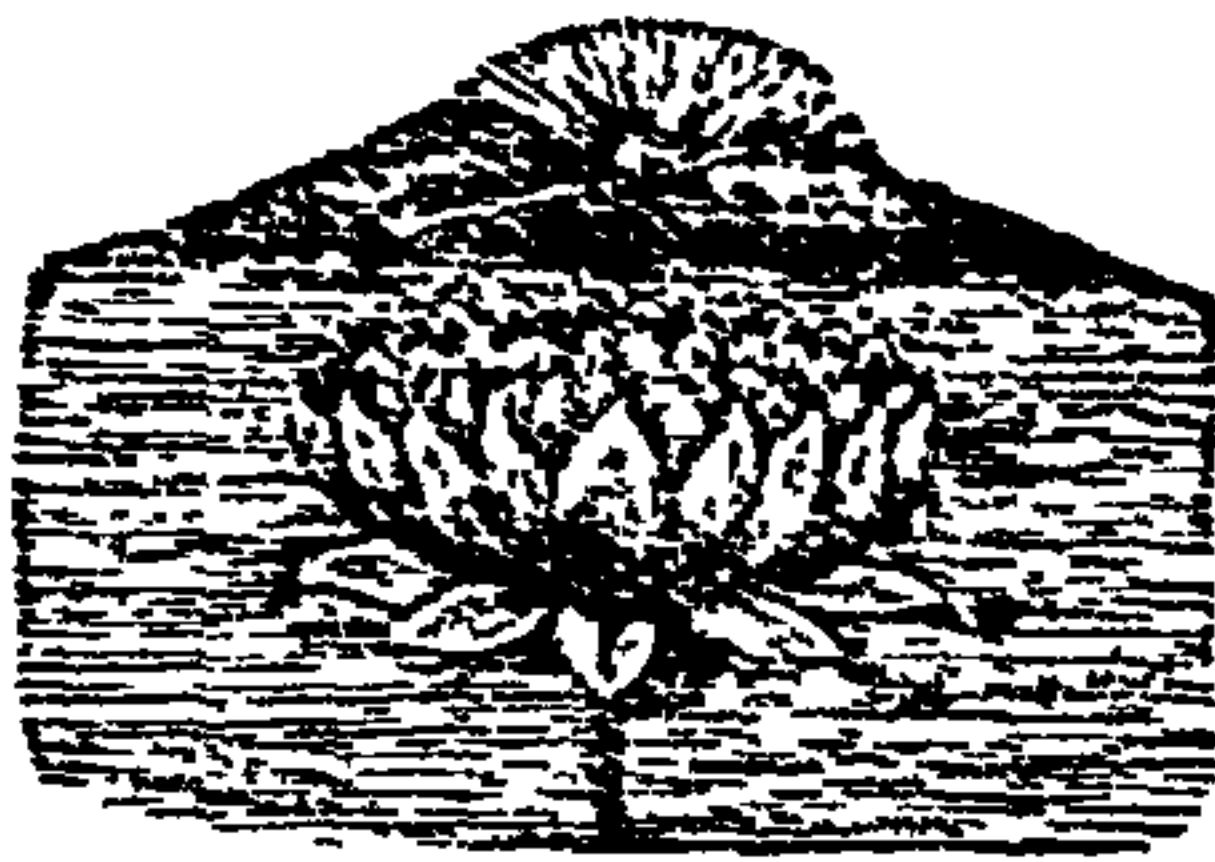
शब्द इति चेन्नातः प्रभवात् प्रत्यक्षानुमानाभ्याम् ॥२८॥

पदच्छेद—शब्दे, इति, चेत्, न, अतः, प्रभवात्, प्रत्यक्षानुमानाभ्याम् ।

पदार्थोक्ति—शब्दे—वेदवाक्ये [विरोधः] इति चेत्, न, अतः—वैदिकशब्दात् [एव] प्रभवात्—देवादिजगत उत्पत्तेः, [तच्च] प्रत्यक्षानुमानाभ्याम्—'एत इति वै प्रजापतिर्देवानसृजत' 'वेदशब्देभ्य एवादौ' इत्यादिश्रुतिस्मृतिभ्याम् [अवगम्यते] ।

भाषार्थ—वेदवाक्यमें विरोध होगा यह कथन भी युक्त नहीं है, क्योंकि वेदशब्दसे ही देवता आदि जगत्की उत्पत्ति होती है । यह बात 'एत इति वै०' ('एते' इस पदसे देवताओंका स्मरण करके प्रजापतिने देवताओंको उत्पन्न किया), 'वेदशब्देभ्य०' (सृष्टिके आदिमें महेश्वरने वेदशब्दोंसे ही भूतोंके नाम, रूप और कर्मोंका अनुष्ठान आदि उत्पन्न किये) इत्यादि श्रुति और स्मृतियोंसे जानी जाती है ।

भाष्य

मा नाम विग्रहवत्त्वे देवादीनामभ्युपगम्यमाने कर्मणि कश्चिद्विरोधः प्रसञ्जि, शब्दे तु विरोधः प्रसज्येत । कथम् ? औत्पत्तिकं हि शब्दस्याऽ-

भाष्यका अनुवाद

देवता आदिका शरीर स्वीकार करनेसे कर्ममें भले ही कुछ विरोध न आवे, परन्तु शब्दमें विरोध होगा ही । क्योंकि अर्थके साथ शब्दका औत्पत्तिक—

रत्नप्रभा

कर्मण्यविरोधमङ्गीकृत्य शब्दप्रामाण्यविरोधमाशङ्क्य परिहरति—शब्द इति चेदिति । मा प्रसञ्जि प्रसक्तो मा भूत् नामेत्यर्थः । औत्पत्तिकसूत्रे शब्दार्थयोः अनाद्योः सम्बन्धस्य अनादित्वाद् वेदस्य स्वार्थे मानान्तरानपेक्षत्वेन प्रामाण्यमुक्तम् , इदानीम् अनित्यविग्रहव्यक्त्यभ्युपगमे तत्सम्बन्धस्याऽपि अनित्यत्वाद् मानान्तरेण

रत्नप्रभाका अनुवाद

कर्ममें विरोध नहीं है, ऐसा अङ्गीकार करके पूर्वपक्षी शब्दप्रामाण्यमें विरोध है, ऐसी शङ्का करता है, "शब्द इति चेद्" इत्यादिसे सूत्रकार उसका परिहार करते हैं । 'मा प्रसञ्जि'—भले ही प्रसक्ति न हो । 'औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन सम्बन्धस्तस्य ज्ञानमुपदेशोऽव्यतिरेकश्चार्थेऽनुपलब्धे तत् प्रमाणं बादरायणस्यानपेक्षत्वात्' (अग्निहोत्रं जुहुयात्' इत्यादि वैदिक शब्दका अर्थके साथ वाच्यवाचकभावरूप संबन्ध स्वाभाविक—नित्य है, इससे—सम्बन्धके नित्य होनेसे धर्म्मके ज्ञान—ज्ञानका करण उपदेश-वेद प्रत्यक्षादि प्रमाणके अगोचर अर्थमें—धर्म्ममें अव्यतिरेक—अव्यभिचारी है । इससे प्रत्यक्षादिकी अपेक्षा न होनेसे वैदिक शब्द धर्म्ममें प्रमाण है यह बादरायण आचार्य्यका मत है) अनादि शब्द और अर्थका सम्बन्ध भी अनादि है, इसलिए वेदको अपने अर्थका बोध करानेके लिए अन्य प्रमाणकी अपेक्षा नहीं है, अतः वेदमें

भाष्य

र्थेन सम्बन्धमाश्रित्य 'अनपेक्षत्वात्' इति वेदस्य प्रामाण्यं स्थापितम्। इदानीं तु विग्रहवती देवताऽभ्युपगम्यमाना यद्यप्यैश्वर्ययोगाद् युगपदनेककर्मसम्बन्धीनि हवींषि भुञ्जीत, तथापि विग्रहयोगादस्मदादिवद् जननमरणवती सेति नित्यस्य शब्दस्य नित्येनाऽर्थेन नित्ये सम्बन्धे प्रतीयमाने यद्वैदिके शब्दे प्रामाण्यं स्थितं तस्य विरोधः स्यादिति चेत्। नाऽयमप्यस्ति विरोधः। कस्मात्? अतः प्रभवात्। अत एव हि वैदिकाच्छब्दाद् देवादिकं जगत् प्रभवति। ननु 'जन्माद्यस्य

भाष्यका अनुवाद

स्वाभाविक अर्थात् नित्य संबन्ध मानकर 'अनपेक्षत्वात्' इस हेतुसे वेदके प्रामाण्यका स्थापन किया है। यद्यपि देव शरीरी हैं, ऐसा स्वीकार करनेसे ऐश्वर्ययोगसे वे एक ही समय अनेक कर्मोंके साथ संबन्ध रखनेवाले हविषोंका ग्रहण कर सकते हैं, तो भी शरीरके साथ सम्बन्ध होनेसे हम लोगोंके समान वे जन्म और मरणवाले हो जायँगे, इसलिए नित्य शब्दका नित्य अर्थके साथ नित्य संबन्ध प्रतीयमान होनेसे वैदिक शब्दोंमें जो प्रामाण्य था, उसका अब विरोध हो जायगा, ऐसा यदि कोई कहे तो यह विरोध भी नहीं है। किससे? इससे उत्पन्न होनेसे। इससे ही अर्थात् वैदिक शब्दसे ही देव आदि जगत् उत्पन्न होता है। किन्तु 'जन्माद्यस्य०'

रत्नप्रभा

व्यक्तिं ज्ञात्वा शब्दस्य संकेतः पुंसा कर्तव्य इति मानान्तरापेक्षत्वात् प्रामाण्यस्य विरोधः स्यादित्याह—कथमित्यादिना। किं शब्दानाम् अनित्यतया सम्बन्धस्य कार्यत्वम् आपाद्यते—उत अर्थानाम् अनित्यतया, नाऽऽद्य इत्याह—नाऽयमपीति। कर्मणि अविरोधवदिति अपेः अर्थः। देवादिव्यक्तिहेतुत्वेन प्रागेव शब्दानां सत्त्वात् नाऽनित्यत्वमिति भावः।

रत्नप्रभाका अनुवाद

प्रामाण्य है, ऐसा इस औत्पत्तिक सूत्रसे सिद्ध किया गया है, देवताओंका अनित्य शरीर स्वीकार करनेसे उनके साथ शब्दका संबन्ध भी अनित्य होगा, अतः अन्य प्रमाणसे शरीरका ज्ञान प्राप्त करके पुरुषको शब्दोंका संकेत करना पड़ेगा, इस प्रकार वेदको अन्य प्रमाणकी अपेक्षा होनेके कारण उक्त वेदप्रामाण्य अब विरुद्ध हो जायगा, ऐसा कहते हैं—"कथम्" इत्यादिसे। शब्द और अर्थके संबन्धमें अनित्यता शब्दके अनित्य होनेसे होती है अथवा अर्थके अनित्य होनेसे? पहला पक्ष ठीक नहीं है, ऐसा कहते हैं—"नाऽयमपि" इत्यादिसे। 'अपि' अर्थात् कर्ममें अविरोधके समान। आशय यह कि देवता आदि व्यक्तियाँ शब्दसे उत्पन्न होती हैं, अतः सृष्टिसे पहले शब्दोंके रहनेके कारण वे अनित्य नहीं हैं।

भाष्य

यतः' (ब्र० १।१।२) इत्यत्र ब्रह्मप्रभवत्वं जगतोऽवधारितम्, कथमिह शब्दप्रभवत्वमुच्यते। अपि च यदि नाम वैदिकाच्छब्दादस्य प्रभवोऽभ्युपगतः, कथमेतावता विरोधः शब्दे परिहृतः, यावता वसवो रुद्रा आदित्या विश्वेदेवा मरुत इत्येतेऽर्था अनित्या एवोत्पत्तिमत्त्वात्, तदनित्यत्वे च तद्वाचिनां वैदिकानां वस्वादिशब्दानामनित्यत्वं केन निवार्यते। प्रसिद्धं हि लोके देवदत्तस्य पुत्रे उत्पन्ने यज्ञदत्त इति तस्य नाम क्रियत इति। तस्माद्विरोध एव शब्द इति चेत्,

भाष्यका अनुवाद

सूत्रमें निश्चय किया गया है कि ब्रह्मसे जगत् उत्पन्न होता है, तब यहांपर यह कैसे कहते हैं कि शब्दसे जगत्की उत्पत्ति होती है? और जब कि वसु, रुद्र, आदित्य, विश्वेदेव और मरुत् आदि अर्थ उत्पन्न होनेके कारण अनित्य ही हैं, तब किसी प्रकार मान भी लिया जाय कि वैदिक शब्दसे इस जगत्की उत्पत्ति होती है, तो इतने ही से विरोधका परिहार किस प्रकार हुआ? वसु आदि अर्थ ही जब अनित्य हैं, तब उनके वाचक वैदिक 'वसु' आदि शब्दोंका अनित्यत्व कौन रोक सकता है? लोकमें प्रसिद्ध ही है कि देवदत्तके पुत्र होनेपर ही उसका नाम यज्ञदत्त रक्खा जाता है, इसलिए शब्दमें विरोध ही है।

रत्नप्रभा

अत्र पूर्वापरविरोधं शङ्कते—नन्विति। शब्दस्य निमित्तत्वेन ब्रह्मसहकारित्वात् अविरोध इत्याशङ्क्य द्वितीयं कल्पमुत्थापयति—अपि चेति। अनित्यत्वम्—सादित्वम्, व्यक्तिरूपार्थानाम् अनित्यतया शब्दानां सम्बन्धस्याऽनित्यत्वं दुर्वारम्, तस्मात् पौरुषेयसम्बन्धसापेक्षत्वात् प्रामाण्यविरोध इत्यर्थः। न च व्यक्तीनाम् अनित्यत्वेऽपि घटत्वादिजातिसमवायवत् शब्दसम्बन्धोऽपि नित्यः स्यादिति वाच्यम्। उभया-

रत्नप्रभाका अनुवाद

यहां पूर्वापर विरोधकी शंका करते हैं—"ननु" इत्यादिसे। निमित्तकारण होनेसे शब्द ब्रह्मका सहकारी है, इसलिए विरोध नहीं है, ऐसी आशंका करके दूसरा पक्ष उठाते हैं—"अपि च" इत्यादिसे। अनित्य—सादि अर्थात् जिसकी उत्पत्ति होती है। व्यक्तिरूप अर्थके अनित्य होनेसे शब्दोंके संबन्धका अनित्यत्व दुर्वार है, इसलिए पुरुषकल्पित संबन्धकी अपेक्षा होनेसे प्रामाण्यका विरोध है, ऐसा अर्थ है। और व्यक्तियोंके अनित्य होनेपर भी जैसे घटत्व आदि जातिका घट आदि व्यक्तिके साथका समवाय नित्य है, वैसे ही शब्दसंबन्ध भी नित्य

भाष्य

नः गवादिशब्दार्थसम्बन्धनित्यत्वदर्शनात्। नहि गवादिव्यक्तीनामुत्पत्तिमत्त्वे तदाकृतीनामप्युत्पत्तिमत्त्वं स्यात्। द्रव्यगुणकर्मणां हि व्यक्तय एवोत्पद्यन्ते नाऽऽकृतयः। आकृतिभिश्च शब्दानां सम्बन्धो न व्यक्तिभिः। व्यक्तीनामानन्त्यात्

भाष्यका अनुवाद

ऐसा यदि कहो तो यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि गो आदि शब्दों और अर्थोंका संबन्ध नित्य दिखाई देता है। गो आदि व्यक्तियोंकी उत्पत्ति होनेपर उनमें रहनेवाली जातियोंकी भी उत्पत्ति हो, यह नियम नहीं है। द्रव्य, गुण और कर्म व्यक्तियाँ ही उत्पन्न होती हैं, द्रव्यत्व आदि जातियाँ उत्पन्न नहीं होतीं। और शब्दोंका संबन्ध जातियोंके साथ है, व्यक्तियोंके साथ नहीं है,

रत्नप्रभा

श्रितसम्बन्धस्य अन्यतराभावे स्थित्ययोगेन दृष्टान्तासिद्धेरिति भावः। यथा गोत्वादयो गवादिशब्दवाच्याः तथा वसुत्वाद्याकृतयो वस्वादिशब्दार्थाः, न व्यक्तय इति परिहरति—नेत्यादिना। शब्दानां तदर्थानां जातीनां च नित्यत्वात् तत्सम्बन्धोऽपि नित्य इति प्रतिपादयति—नहीत्यादिना। व्यक्तीनामानन्त्यादिति। न च गोत्वावच्छेदेन व्यक्तिषु शक्तिः सुग्रहेति वाच्यम्। सामान्यस्य अप्रत्यासत्तित्वेन सर्वव्यक्त्युपस्थित्यभावात्। गोत्वं शक्यतावच्छेदकमिति ग्रहापेक्षया गोत्वं शक्यमिति लाघवात्, निरूढाऽजहल्लक्षणया व्यक्तेः लाभेन अनन्यलभ्यत्वाभावाच्चेति भावः। यद्वा, केवलव्यक्तिषु शक्तिः अत्र निरस्यते, अनुपपत्तिज्ञानं विनैव व्यक्तेः शब्दशक्त्यायत्तजातिज्ञानविषयत्वेन उभयशक्तेरावश्यकत्वात्। तथा च नित्यजातितादा-

रत्नप्रभाका अनुवाद

हो, ऐसी आशंका नहीं करनी चाहिए, क्योंकि शब्द और अर्थका संबन्ध दोनोंमें रहता है, उन दोमेंसे एकके अभावमें संबन्ध नहीं रह सकता, इसलिए दृष्टान्त असिद्ध है। जैसे गो आदि शब्दोंका अर्थ गोत्व आदि जाति है, वैसे 'वसु' आदि शब्दोंका अर्थ वसुत्व आदि जाति ही है, व्यक्ति नहीं है, इस प्रकार प्रामाण्यविरोधका परिहार करते हैं—"नहि" इत्यादिसे। "व्यक्तीनामानन्त्याद्" इत्यादि। व्यक्तियोंके अनुगमक गोत्वरूप जातिके सहारेसे सब व्यक्तियोंमें शक्तिका ग्रहण हो सकता है, यह नहीं कह सकते, क्योंकि जातिके प्रत्यासत्तिरूप—संबन्धरूप न होनेके कारण सब व्यक्तियोंकी उपस्थिति नहीं हो सकती। गोत्वको शक्यतावच्छेदक स्वीकार करनेकी अपेक्षा शक्य माननेमें लाघव है और निरूढ अजहल्लक्षणासे व्यक्तिका लाभ होता है, इसलिए व्यक्ति अनन्यलभ्य नहीं है, ऐसा अर्थ है। अथवा यहां केवल व्यक्तिमें शक्तिका निरास किया जाता है, क्योंकि व्यक्तिके बिना जाति अनुपपन्न है, इस अनुपपत्तिज्ञानके बिना ही शब्दशक्तिके अधीन जो जातिज्ञान है, उसका विषय होनेसे व्यक्ति और जाति दोनोंमें

भाष्य

सम्बन्धग्रहणानुपपत्तेः । व्यक्तिषूत्पद्यमानास्वप्याकृतीनां नित्यत्वान्न गवादिशब्देषु कश्चिद्विरोधो दृश्यते । तथा देवादिव्यक्तिप्रभवाभ्युपगमेऽप्याकृतिनित्यत्वान्न कश्चिद्वस्वादिशब्देषु विरोध इति द्रष्टव्यम् । आकृति-

भाष्यका अनुवाद

क्योंकि व्यक्तियाँ अनन्त हैं, अतः उनके साथ शब्दोंका संबन्ध-ग्रहण नहीं हो सकता। व्यक्तियोंके उत्पन्न होनेपर भी जातियोंके नित्य होनेसे गो आदि शब्दोंमें कुछ विरोध नहीं दिखाई देता। उसी प्रकार देव आदि व्यक्तियोंकी उत्पत्ति माननेपर भी जातिके नित्य होनेसे वसु आदि शब्दोंमें कुछ विरोध नहीं

रत्नप्रभा

त्येन व्यक्तेः अनादित्वात् तत्सम्बन्धोऽप्यनादिः, सत्कार्यवादात्। अत एव वाक्यवृत्तौ तत्त्वमस्यादिवाक्ये भागलक्षणा उक्ता युज्यते, केवलसामान्यस्य वाच्यत्वेऽखण्डार्थस्य वाच्यैकदेशत्वाभावात् "अतः प्रभवात्" इति सूत्रस्वारस्याच्च केवलव्यक्तिशक्तिनिरास इति गम्यते। केवलव्यक्तिवचनाः खलु डित्थादिशब्दा अर्थानन्तरभाविनः सांकेतिकाः, गवादिशब्दास्तु व्यक्तिप्रभवहेतुत्वेन प्रागेव सन्तीति न व्यक्तिमात्रवचनाः सांकेतिकाः, किन्तु स्थूलसूक्ष्मभावेन अनुस्यूतव्यक्त्यविनाभूतसामान्यवचना इति मन्तव्यम्। न च इन्द्रादिव्यक्तेः एकत्वेन जात्यभावाद् आकाशशब्दवत् इन्द्रचन्द्रादिशब्दाः केवलव्यक्तिवचना इति साम्प्रतम्, अतीतानागतव्यक्तिभेदेन जात्युपपत्तेः इत्यलं प्रपञ्चेन। दृष्टान्तमुपसंहृत्य दार्ष्टान्तिकमाह—

रत्नप्रभाका अनुवाद

शक्ति अवश्य माननी पड़ेगी। इसलिए नित्यजातिसे अभिन्न होनेके कारण व्यक्ति भी अनादि है, अतः उसका संबन्ध भी अनादि है, क्योंकि सत्कार्यवादका स्वीकार है। इसीलिए वाक्यवृत्तिमें 'तत्त्वमसि' आदि वाक्योंमें भागलक्षणाका कथन संगत होता है, क्योंकि केवल जाति यदि शक्य हो, तो अखण्डार्थ वाच्यका एकदेश नहीं हो सकता, इससे और 'अतः प्रभवात्' इस सूत्र भागके स्वारस्यसे भी ज्ञात होता है कि केवल व्यक्तिशक्ति पक्षका निरास है। डित्थ आदि शब्द केवल व्यक्तिवाचक हैं और व्यक्तिसे अनन्तर उत्पन्न होते हैं, इसलिए सांकेतिक हैं, परन्तु गो आदि शब्द व्यक्तिकी उत्पत्तिमें हेतु होनेके कारण व्यक्तिसे पहले रहते हैं, इसलिए व्यक्तिमात्रवाचक तथा सांकेतिक नहीं हैं, किन्तु स्थूल अथवा सूक्ष्मभावसे व्यक्तिमें अनुगत और व्यक्तिसे अविनाभूत सामान्य—जातिके वाचक हैं, ऐसा मानना चाहिए। इन्द्र आदि व्यक्तियोंके एक होनेके कारण उनमें जाति नहीं है, अतः आकाशशब्दके समान इन्द्र, चन्द्र आदि शब्द केवल व्यक्तिके वाचक हैं, यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि अतीत और अनागत व्यक्तियाँ भिन्न भिन्न हैं, अतः उनमें जाति है ही। दृष्टान्तका उपसंहार करके दार्ष्टान्तिक कहते हैं—"व्यक्तिषु" इत्यादिसे।

भाष्य

विशेषस्तु देवादीनां मन्त्रार्थवादादिभ्यो विग्रहवत्त्वाद्यवगमादवगन्तव्यः। स्थानविशेषसम्बन्धनिमित्ता चेन्द्रादिशब्दाः सेनापत्यादिशब्दवत्। ततश्च यो यस्तत्तत्स्थानमधितिष्ठति स स इन्द्रादिशब्दैरभिधीयत इति न दोषो भवति। न चेदं शब्दप्रभवत्वं ब्रह्मप्रभवत्ववदुपादानकारणत्वाभिप्रायेणोच्यते। कथं तर्हि? स्थिते वाचकात्मना नित्ये शब्दे नित्यार्थसम्बन्धिनि शब्दव्यवहारयोग्यार्थव्यक्तिनिष्पत्तिरतः प्रभव इत्युच्यते।

भाष्यका अनुवाद

है, ऐसा समझना चाहिए। मंत्र, अर्थवाद आदिसे देवताओंके शरीर आदिकी प्रतीति होनेसे उनकी जाति भी है, यह जानना चाहिए। अथवा सेनापति आदि शब्दोंके समान इन्द्र आदि शब्द विशिष्ट स्थानके संबन्धसे प्रवृत्त होते हैं। इसलिए जो-जो उस-उस स्थानपर आरूढ होता है। उस-उसका इन्द्र आदि शब्दोंसे अभिधान होता है, अतः कोई दोष नहीं है। और जगत् शब्दसे उत्पन्न होता है, यह कथन ब्रह्मसे उत्पन्न होनेके समान उपादान कारणके अभिप्रायसे नहीं है। तब किस अभिप्रायसे है? नित्य अर्थके साथ संबन्ध रखनेवाला जब नित्य शब्द वाचकस्वरूपसे स्थित रहता है, तभी शब्दव्यवहारयोग्य अर्थकी निष्पत्ति होती है, इस आशयसे शब्दसे उत्पत्ति कही गई है।

रत्नप्रभा

व्यक्तिष्वित्यादिना। आकृतिः—जातिः। का सा व्यक्तिः यदनुगता इन्द्रत्वादिजातिः शब्दार्थः स्यादित्यत आह—आकृतिविशेषस्त्विति। "वज्रहस्तः पुरन्दरः" इत्यादिभ्य इत्यर्थः। इन्द्रादिशब्दानां जातिः इन्द्रादिषु प्रवृत्तिनिमित्तमिति उक्त्वा उपाधिनिमित्तत्वमाह—स्थानेति। व्यक्तिप्रलयेऽपि स्थानस्य स्थायित्वात् शब्दार्थसम्बन्धनित्यता इत्यत आह—ततश्चेति। उक्तं पूर्वापरविरोधं परिहरति—न चेति। शब्दो निमित्तमिति अविरोधं मत्वा सूत्र-

रत्नप्रभाका अनुवाद

आकृति—जाति। यदि कोई कहे कि वह कौनसी व्यक्ति है? जिसके अनुगत होकर इन्द्रत्व आदि जाति शब्दार्थ होती हैं, इसपर कहते है—"आकृतिविशेषस्तु" इत्यादि। 'वज्रहस्तः०' इत्यादि मंत्रोंसे ऐसा समझना चाहिए। इन्द्र आदि शब्दोंकी इन्द्र आदिमें प्रवृत्तिके प्रति जातिको निमित्त कहकर अब उपाधिको निमित्त कहते हैं—"स्थान" इत्यादिसे। व्यक्तिका नाश होनेपर भी स्थानके स्थायी होनेसे शब्दार्थसंबन्ध नित्य है, यह कहते हैं—"ततश्च" इत्यादि। जो पूर्वापर विरोध ऊपर कहा गया है, उसका परिहार करते हैं—"न च"

भाष्य

कथं पुनरवगम्यते शब्दात् प्रभवति जगदिति ? प्रत्यक्षानुमानाभ्याम् । प्रत्यक्षं हि श्रुतिः, प्रामाण्यं प्रत्यनपेक्षत्वात् । अनुमानं स्मृतिः, प्रामाण्यं प्रति सापेक्षत्वात् । ते हि शब्दपूर्वां सृष्टिं दर्शयतः । 'एत इति वै प्रजापतिर्देवानसृजतासृग्रमिति मनुष्यानिन्दव इति पितॄंस्तिरःपवित्रमिति ग्रहानाशव इति स्तोत्रं विश्वानीति शस्त्रमभिसौभगेत्यन्याः प्रजाः' इति

भाष्यका अनुवाद

परन्तु शब्दसे जगत् उत्पन्न होता है, यह कैसे माना जाय ? प्रत्यक्ष और अनुमानसे । प्रत्यक्ष अर्थात् श्रुति, क्योंकि उसके प्रामाण्यके लिए किसीकी अपेक्षा नहीं होती । अनुमान अर्थात् स्मृति, क्योंकि उसके प्रामाण्यके लिए श्रुतिकी अपेक्षा होती है । ये दोनों प्रमाण यह दिखलाते हैं कि सृष्टि शब्दपूर्वक है । 'एत इति वै प्रजापति०' ('एते' इस पदसे देवताओंका स्मरण करके प्रजापतिने देवताओंकी सृष्टि, 'असृग्रम्' से मनुष्योंका स्मरण करके मनुष्योंकी, 'इन्दवः' से पितरोंका स्मरण करके पितरोंकी, 'तिरःपवित्रम्' से ग्रहोंका स्मरण करके ग्रहोंकी, 'आशवः' से स्तोत्रका स्मरण करके स्तोत्रकी, 'विश्वानि' से शस्त्रका स्मरण करके शस्त्रकी और 'अभिसौभगा' से अन्य प्रजाओंका स्मरण करके अन्य

रत्नप्रभा

शेषमवतारयति—कथं पुनरिति । स्मृत्या स्वप्रामाण्यार्थं मूलश्रुतिः अनुमीयत इति अनुमानम्—स्मृतिः । "एते असृग्रमिन्दवस्तिरःपवित्रमाशवः विश्वान्यभिसौभगा" [छन्दोगब्राह्मण०] इत्येतन्मन्त्रस्थैः पदैः स्मृत्वा ब्रह्मा देवादीन् असृजत । तत्र एत इति पदं सर्वनामत्वाद् देवानां स्मारकम्, असृग्—रुधिरम्, तत्प्रधाने देहे रमन्ते इति असृग्रा मनुष्याः, चन्द्रस्थानां पितॄणाम् इन्दुशब्दः स्मारकः । पवित्रं सोमस्थानं स्वान्तस्तिरस्कुर्वतां ग्रहाणां तिरःपवित्रशब्दः । ऋचोऽश्नुवतां स्तोत्राणां गीतिरूपाणाम् आशुशब्दः । "ऋच्यध्यूढं साम" इति श्रुतेः । स्तोत्रानन्तरं प्रयोगं

रत्नप्रभाका अनुवाद

इत्यादिसे । शब्द निमित्त कारण है, इसलिए अविरोध है, ऐसा मानकर सूत्रशेषकी अवतरणिका देते हैं—"कथं पुनः" इत्यादिसे । स्मृति अपने प्रामाण्यके लिए अपनी मूलभूत श्रुतिका अनुमान कराती है, अतः अनुमान स्मृति है । 'एते असृग्रमिन्दव०' इस मंत्रमें स्थित पदोंसे स्मरण करके ब्रह्माने देवता आदिकी सृष्टि की । उनमें 'एते' यह पद सर्वनाम होनेसे देवताओंका स्मारक है । असृग्—रुधिर । रक्तप्रधान देहके अभिमानी असृग्र—मनुष्य । 'असृग्र' शब्द मनुष्योंका स्मारक है । 'इन्दु' शब्द चन्द्रमण्डलमें रहनेवाले पितरोंका स्मारक है । 'तिरःपवित्र' शब्द पवित्र सोमस्थानका अपनेमें तिरस्कार करनेवाले ग्रहोंका स्मारक है । 'आशु' शब्द 'ऋच्यध्यूढं' श्रुतिके अनुसार ऋचामें व्याप्त होनेवाले गानरूप स्तोत्रोंका स्मारक

भाष्य

श्रुतिः । तथाऽन्यत्राऽपि 'स मनसा वाचं मिथुनं समभवत्' (बृ० १।२।४) इत्यादिना तत्र तत्र शब्दपूर्विका सृष्टिः श्राव्यते । स्मृतिरपि—

'अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयंभुवा ।
आदौ वेदमयी दिव्या यतः सर्वाः प्रवृत्तयः ॥'

(म० भा० शा० २३३।२४) इति ।

उत्सर्गोऽप्ययं वाचः संप्रदायप्रवर्तनात्मको द्रष्टव्यः, अनादिनिधनाया अन्यादृशस्योत्सर्गस्याऽसम्भवात् । तथा—

'नामरूपे च भूतानां कर्मणां च प्रवर्तनम् ।
वेदशब्देभ्य एवादौ निर्ममे स महेश्वरः ॥' (मनु० १।२१)

भाष्यका अनुवाद

प्रजाओंकी सृष्टि की) यह श्रुति है । इसी प्रकार दूसरे स्थानपर भी 'स मनसा वाचं०' (प्रजापतिने मनसे त्रयीरूप वाणीका आलोचन किया) इत्यादिसे स्थल-स्थलपर श्रुति शब्दपूर्वक सृष्टिका निर्देश करती है । स्मृति भी 'अनादिनिधना नित्या०' (सृष्टिके आरम्भमें स्वयंभूने अनादि, अनन्त, नित्य और दिव्य वेदमयी वाणीका उत्सर्ग किया, जिससे अन्य सृष्टियाँ हुईं) यही निर्देश करती है। वाणीका यह उत्सर्ग भी सम्प्रदायप्रवर्तनस्वरूप ही है, क्योंकि अनादि और अनन्त वाणीका दूसरे प्रकारसे उत्सर्ग नहीं हो सकता। उसी प्रकार 'नामरूपे च०' (उस महेश्वरने आरम्भमें वेदशब्दोंसे ही भूतोंके नाम, रूप और सत्कर्मोंके अनुष्ठानमें प्रवृत्ति उत्पन्न की) और 'सर्वेषां तु स नामानि०'

रत्नप्रभा

विशतां शस्त्राणां विश्वशब्दः । सर्वत्र सौभाग्ययुक्तानाम् अभिसौभगशब्दः स्मारक इति छन्दोगब्राह्मणवाक्यार्थः । सः प्रजापतिर्मनसा वाचं त्रयीं मिथुनं समभवत् । मनो वाग्रूपं मिथुनं सम्भावितवान् । मनसा त्रयीप्रकाशितां सृष्टिमालोचितवान् इत्यर्थः । "रश्मिरित्येवादित्यमसृजत" इत्यादिश्रुतिः आदिशब्दार्थः । सम्प्रदायः—

रत्नप्रभाका अनुवाद

है । 'विश्व' शब्द स्तोत्रके अनन्तर प्रयुक्त होनेवाले शस्त्रोंका स्मारक है । 'अभिसौभगा' शब्द सर्वत्र सौभाग्ययुक्त प्रजाका स्मारक है । प्रजापतिने मनके साथ त्रयीरूप वाणीका मिथुनभाव-संयोजन किया अर्थात् त्रयीसे प्रकाशित सृष्टिकी मनसे आलोचना की । 'आदि' पदसे 'रश्मिरित्येवा०' (रश्मिपदका स्मरणकर आदित्यकी सृष्टि की) इत्यादि वाक्य समझना चाहिए ।

भाष्य

'सर्वेषां तु स नामानि कर्माणि च पृथक्पृथक्।
वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक्संस्थाश्च निर्ममे ॥' इति च।
अपि च चिकीर्षितमर्थमनुतिष्ठंस्तस्य वाचकं शब्दं पूर्वं स्मृत्वा पश्चात् तमर्थमनुतिष्ठतीति सर्वेषां नः प्रत्यक्षमेतत्। तथा प्रजापतेरपि स्रष्टुः सृष्टेः पूर्वं वैदिकाः शब्दा मनसि प्रादुर्बभूवुः, पश्चात्तदनुगतानर्थान् ससर्जेति गम्यते। तथा च श्रुतिः—'स भूरिति व्याहरत् स भूमिमसृजत' (तै० ब्रा० २।२।४।२) इत्येवमादिका भूरादिशब्देभ्य एव मनसि प्रादुर्भूतेभ्यो भूरादिलोकान् सृष्टान् दर्शयति।

किमात्मकं पुनः शब्दमभिप्रेत्येदं शब्दप्रभवत्वमुच्यते? स्फोटमित्याह।

भाष्यका अनुवाद

(उसने आरम्भमें सबके पृथक्-पृथक् नाम और कर्म एवं अवस्थाओंका वेदशब्दोंसे ही निर्माण किया) ये स्मृतियाँ भी वेदशब्दसे ही सृष्टि दिखलाती हैं। और यह हम सब लोगोंको प्रत्यक्ष ही दिखाई देता है कि जब कोई पुरुष किसी वस्तुको बनाना चाहता है तब पहले उसके वाचक शब्दका स्मरण करता है और उसके पश्चात् उस वस्तुको बनाता है। उसी प्रकार सृष्टि करनेवाले प्रजापतिके मनमें सृष्टिसे पहले वैदिक शब्द प्रादुर्भूत हुए, उसके पश्चात् शब्दके अनुगत अर्थों—वस्तुओंकी भी उसने रचना की, ऐसा समझा जाता है। उसी प्रकार 'स भूरिति०' (उसने 'भू' ऐसा उच्चारण करके पृथिवीकी सृष्टि की) इत्यादि श्रुति मनमें प्रादुर्भूत हुए भू आदि शब्दोंसे ही भू आदि लोकोंकी सृष्टि दिखलाती है।

शब्दसे जो जगत्‌की सृष्टि कही गई है, वह शब्दको वर्णरूप मानकर कही

रत्नप्रभा

गुरुशिष्यपरम्पराध्ययनम्। संस्थाः—अवस्थाः। प्रजापतिसृष्टिः, शब्दपूर्विका, सृष्टित्वात्, प्रत्यक्षघटादिवदिति प्रत्यक्षानुमानाभ्यामित्यस्य अर्थान्तरमाह—अपि चेति। अतःप्रभवत्वप्रसङ्गात् शब्दस्वरूपं वक्तुम् उक्तमाक्षिपति—किमात्मकमिति। वर्णरूपं तदतिरिक्तस्फोटरूपं वेति किंशब्दार्थः। तत्र वर्णानाम् अनित्यत्वात् स्फोटस्य

रत्नप्रभाका अनुवाद

सम्प्रदाय—गुरुशिष्यकी परम्परासे चलनेवाला अध्ययन। संस्था—अवस्था। प्रत्यक्ष घटादिसृष्टिके समान प्रजापतिसृष्टि शब्दपूर्विका है, क्योंकि वह भी सृष्टि है, इस प्रकार सूत्रस्थ 'प्रत्यक्षानुमानाभ्याम्' पदका दूसरा अर्थ कहते हैं—"अपि च" इत्यादिसे। शब्दसे जगत्‌की सृष्टिके कथनके प्रसङ्गसे—सङ्गतिसे शब्दका स्वरूप स्पष्ट करनेके लिए पूर्वोक्तका आक्षेप करते हैं—

भाष्य

वर्णपक्षे हि तेषामुत्पन्नप्रध्वंसित्वान्नित्येभ्यः शब्देभ्यो देवादिव्यक्तीनां प्रभव इत्यनुपपन्नं स्यात् । उत्पन्नध्वंसिनश्च वर्णाः, प्रत्युच्चारणमन्यथा चाऽन्यथा च प्रतीयमानत्वात् । तथाहि—अदृश्यमानोऽपि पुरुषविशेषोऽध्ययनध्वनिश्रवणादेव विशेषतो निर्धार्यते—देवदत्तोऽयमधीते यज्ञदत्तोऽयमधीते इति । न चाऽयं वर्णविषयोऽन्यथात्वप्रत्ययो मिथ्याज्ञानम्,

भाष्यका अनुवाद

गई है या स्फोटरूप मानकर ? वैयाकरण कहते हैं कि स्फोट मानकर कही गई है । यदि वर्णरूप शब्दसे सृष्टि मानी जाय तो वर्णोंके उत्पन्न और नष्ट होनेके कारण 'नित्य शब्दोंसे देवता आदि व्यक्तियोंकी उत्पत्ति होती है, यह कथन असंगत हो जायगा । वर्ण उत्पन्न होते हैं और नष्ट होते हैं, क्योंकि प्रत्येक उच्चारणमें वे भिन्न-भिन्न प्रतीत होते हैं, जैसे कि किसी अदृश्य पुरुषके अध्ययनकी ध्वनि सुननेसे ही यह विशेष रीतिसे निर्धारण किया जा सकता है कि यह देवदत्त अध्ययन कर रहा है या यज्ञदत्त । और वर्णमें होनेवाली भेदप्रतीति मिथ्याज्ञान नहीं है, क्योंकि

रत्नप्रभा

चाऽसत्त्वात् न जगद्धेतुत्वम् इत्याक्षेपे द्वितीयपक्षं वैयाकरणो गृह्णाति—स्फोटमिति । स्फुट्यते वर्णैर्व्यज्यते इति स्फोटो वर्णव्यङ्ग्योऽर्थस्य व्यञ्जको गवादिशब्दो नित्यः, तमभिप्रेत्य इदमुच्यते इति पूर्वेणाऽन्वयः । स एव आद्यपक्षं दूषयति—वर्णेति । सोऽयं गकार इति प्रत्यभिज्ञया वर्णनित्यत्वसिद्धेर्नाऽनुपपत्तिरित्यत आह—उत्पन्नेति । तारत्वमन्द्रत्वादिविरुद्धधर्मवत्त्वेन तारो गकारो मन्द्रो गकार इति प्रतीयमानगकार-

रत्नप्रभाका अनुवाद

"किमात्मकम्" इत्यादिसे । शब्द वर्णरूप है अथवा उससे भिन्न स्फोटरूप है, यह 'किम्' शब्दका अर्थ है । इनमें वर्णके अनित्य होने और स्फोटके वेदान्तमतमें स्वीकृत न होनेके कारण शब्द जगत्का हेतु नहीं है, ऐसा आक्षेप होनेपर वैयाकरण द्वितीयपक्ष—स्फोटपक्षका ग्रहण करते हैं—"स्फोटम्" इत्यादिसे । 'स्फुट्यते वर्णैर्व्यज्यते इति स्फोटः' (वर्णोंसे व्यक्त होनेवाला स्फोट कहलाता है) इस व्युत्पत्तिसे वर्णोंसे व्यंग्य अर्थका व्यंजक गो आदि शब्द स्फोट है, वह नित्य है, उसीको शब्द मानकर यह कहा गया है, ऐसा पूर्वके साथ अन्वय है । वैयाकरण प्रथम पक्षमें—शब्द वर्णरूप है, इस पक्षमें दोष दिखलाते हैं—"वर्ण" इत्यादिसे । 'सोऽयं गकारः' (यह वही गकार है) इस तरह प्रत्यभिज्ञा होती है, अतः वर्ण नित्य हैं, यह सिद्ध होनेपर कुछ अनुपपत्ति नहीं है, इसपर कहते हैं—"उत्पन्न" इत्यादि । ऊँचा गकार है, धीमा गकार है, इस प्रकार तारत्व, मन्दत्व आदि विरुद्धधर्मसे

भाष्य

बाधकप्रत्ययाभावात्। न च वर्णेभ्योऽर्थावगतिर्युक्ता, न ह्येकैको वर्णोऽर्थं प्रत्याययेत्, व्यभिचारात्। न च वर्णसमुदायप्रत्ययोऽस्ति, क्रमवत्त्वाद्वर्णानाम्। पूर्वपूर्ववर्णानुभवजनितसंस्कारसहितोऽन्त्यो वर्णोऽर्थं प्रत्याययिष्यतीति

भाष्यका अनुवाद

उस प्रतीतिका कोई बाधक ज्ञान नहीं है। और वर्णोंसे अर्थकी अवगति भी नहीं हो सकती है। कारण कि एक-एक वर्ण अर्थ का ज्ञान नहीं करा सकता, क्योंकि अर्थज्ञान का व्यभिचार—अभाव है। इसी प्रकार वर्णके समुदायसे भी अर्थकी प्रतीति नहीं हो सकती, क्योंकि वर्ण क्रमिक हैं। पूर्व-पूर्व वर्णके अनुभव-श्रवण-से उत्पन्न हुए संस्कारके साथ अन्त्य वर्ण अर्थकी प्रतीति करावेगा, यदि ऐसा

रत्नप्रभा

स्य भेदानुमानात् प्रत्यभिज्ञा गत्वजातिविषया इत्यर्थः। ननु विरुद्धधर्मज्ञानं ध्वन्युपाधिकं भ्रम इत्यत आह—न चेति। तथा च वर्णानामनित्यत्वात् न जगद्धेतुत्वमिति भावः। किञ्च, तेषामर्थबोधकत्वायोगात् स्फोटोऽङ्गीकार्य इत्याह—न च वर्णेभ्य इत्यादिना। व्यभिचारात् एकस्माद् वर्णादर्थप्रतीत्यदर्शनाद् वर्णान्तरवैयर्थ्यप्रसङ्गाच्चेत्यर्थः। तर्हि वर्णानां समुदायो बोधक इत्याशङ्क्य क्षणिकानां सं नास्तीत्याह—न चेति। वर्णानां स्वतः साहित्याभावेऽपि संस्कारलक्षणापूर्वद्वारा साहित्यम् आग्नेयादियागानामिव इति शङ्कते—पूर्वेति। किमयं संस्कारो वर्णैर्जनितोऽपूर्वाख्यः कश्चिद्, उत वर्णानुभवजनितो भावनाख्यः। नाऽऽद्यः, मानाभावात्।

रत्नप्रभाका अनुवाद

प्रतीयमान गकारमें भेदका अनुमान होनेसे प्रत्यभिज्ञाका विषय गत्वजाति है, वर्ण नहीं है ऐसा अर्थ है। यदि कोई शंका करे कि तारत्व, मन्दत्व आदि जो विरुद्ध धर्म गकारमें प्रतीत होते हैं, वे भ्रमसे होते हैं, क्योंकि वे उपाधि (व्यंजक) भूत ध्वनिके धर्म हैं और वर्णमें भ्रमसे प्रतीत होते हैं, इसपर कहते हैं—"न च" इत्यादि। आशय यह कि इस प्रकार वर्णोंके अनित्य होनेसे वे जगत्के हेतु नहीं हो सकते हैं। और वर्ण अर्थका बोध नहीं करा सकते हैं, इसलिए स्फोटका अंगीकार करना चाहिए, ऐसा कहते हैं—"न च वर्णेभ्यः" इत्यादिसे। 'व्यभिचारात्'—क्योंकि एक वर्णसे अर्थकी प्रतीति नहीं होती और दूसरे वर्ण व्यर्थ होते हैं। तब वर्णोंका समुदाय अर्थबोधक हो, ऐसी आशंका करके वर्णोंके क्षणिक होनेके कारण उनका समुदाय ही नहीं हो सकता, ऐसा कहते हैं—"न च" इत्यादिसे। यद्यपि वर्णोंका स्वतः समुदाय नहीं बन सकता, तो भी जैसे आग्नेय आदि यागोंका अपूर्वद्वारा समुदाय होता है, उसी प्रकार संस्काररूप अपूर्वद्वारा वर्णोंका समुदाय बन सकता है, ऐसी शंका करते हैं—"पूर्व" इत्यादिसे। क्या यह संस्कार वर्णोंसे

भाष्य

यद्युच्येत। तन्न। सम्बन्धग्रहणापेक्षो हि शब्दः स्वयं प्रतीयमानोऽर्थं प्रत्याययेद् धूमादिवत्। न च पूर्वपूर्ववर्णानुभवजनितसंस्कारसहितस्याऽन्त्यवर्णस्य प्रतीतिरस्ति, अप्रत्यक्षत्वात् संस्काराणाम्। कार्यप्रत्यायितैः संस्कारैः सहितोऽन्त्यो वर्णोऽर्थं प्रत्याययिष्यतीति चेत्, न, संस्कारकार्य-

भाष्यका अनुवाद

कहो, तो यह भी संभव नहीं है, क्योंकि शब्द संकेतग्रहकी अपेक्षा रखता है, इसलिए धूम आदिके समान स्वयं प्रतीत होनेपर अर्थकी प्रतीति करा सकता है। पूर्व-पूर्व वर्णके अनुभवसे उत्पन्न हुए संस्कारके साथ अंत्य वर्णकी प्रतीति ही नहीं हो सकती है, क्योंकि संस्कार अप्रत्यक्ष हैं। यदि कोई कहे कि कार्यसे ज्ञापित संस्कारोंसे युक्त अंत्य वर्ण अर्थकी प्रतीति करावेगा, यह कथन भी ठीक नहीं है,

---

रत्नप्रभा

किञ्च, अयम् अज्ञातो ज्ञातो वा अर्थधीहेतुः? नाऽऽद्य इत्याह—तन्नेति। संस्कारसहितः शब्दो ज्ञात एव अर्थधीहेतुः, सम्बन्धग्रहणमपेक्ष्य बोधकत्वाद्, धूमादिवत् इत्यर्थः। द्वितीये किं प्रत्यक्षेण ज्ञात उत कार्यलिङ्गेन? नाऽऽद्य इत्याह—न चेति। द्वितीयं शङ्कते—कार्येति। कार्यम्—अर्थधीः; तस्यां जातायां संस्कारप्रत्ययः, तस्मिन् जाते सा इति परस्पराश्रयेण दूषयति—नेति। पदार्थस्मरणस्याऽपि पदज्ञानानन्तरभावित्वात् तेन संस्कारसहितान्त्यवर्णात्मकपदस्य ज्ञानं न युक्तमित्यक्षरार्थः। अपिशब्दः परस्पराश्रयद्योतनार्थः। एतेन भावनासंस्कारपक्षोऽपि निरस्तः। तस्य

रत्नप्रभाका अनुवाद

उत्पन्न अपूर्वसंज्ञक संस्कार है अथवा वर्णानुभवसे जन्य भावनासंज्ञक संस्कार है? प्रथम पक्ष ठीक नहीं है, क्योंकि उसमें कोई प्रमाण नहीं है। और क्या यह संस्कार अज्ञात होकर अर्थका ज्ञान कराता है या ज्ञात होकर? इनमें पथम पक्ष युक्त नहीं है, ऐसा कहते हैं—"तन्न" इत्यादिसे। संस्कारसहित शब्द ज्ञात होकर ही अर्थकी प्रतीति कराता है, क्योंकि वह धूमके समान संवन्धग्रहणकी अपेक्षा रखकर ही बोधक होता है, ऐसा अनुमान है। यदि संस्कार ज्ञात होकर अर्थकी प्रतीति कराता है, तो वह प्रत्यक्षसे ज्ञात होता है अथवा कार्यरूप लिङ्गसे? प्रथम पक्ष युक्त नहीं, ऐसा कहते हैं—"न च" इत्यादिसे। दूसरे पक्षकी शंका करते हैं—"कार्य" इत्यादिसे। कार्य—अर्थज्ञान, अर्थज्ञान होनेपर संस्कारज्ञान होता है और संस्कारज्ञान होनेपर अर्थज्ञान होता है, इस प्रकार अन्योन्याश्रय दोषसे उसका निराकरण करते हैं—"न" इत्यादिसे। अक्षरार्थ यह है कि पदार्थस्मरण पदज्ञानके अनन्तर होता है, इसलिए संस्कारसहित अंत्यवर्णात्मक पदका ज्ञान स्मरणसे नहीं होता। 'संस्कार-

भाष्य

स्याऽपि स्मरणस्य क्रमवर्तित्वात्। तस्मात् स्फोट एव शब्दः। स चैकैकवर्णप्रत्ययाहितसंस्कारवीजेऽन्त्यवर्णप्रत्ययजनितपरिपाके प्रत्ययिन्येक-

भाष्यका अनुवाद

क्योंकि संस्कारका कार्य स्मरण भी क्रमिक है, इसलिए स्फोट ही शब्द है। एक-एक वर्णकी प्रतीतिने जिसमें संस्काररूप बीज डाला है और अंत्य वर्णकी प्रतीतिने जिसमें परिपाक उत्पन्न किया है, ऐसे चित्तमें एक प्रतीतिके

रत्नप्रभा

वर्णस्मृतिमात्रहेतुत्वेन अर्थधीहेतुत्वायोगात्। न चाऽन्त्यवर्णसाहित्याद् अर्थधीहेतुत्वम्, केवलसंस्कारस्य तु वर्णस्मृतिहेतुत्वमिति वाच्यम्। अर्थधीपूर्वकाले भावनाया ज्ञानाभावेन अर्थधीहेतुत्वायोगात्। न च वर्णस्मरणेन अनुमिता सा अन्त्यवर्णसहिता अर्थधीहेतुः इति वाच्यम्। तत्कार्यस्य क्रमिकस्य वर्णस्मरणस्याऽपि अन्त्यवर्णानुभवानन्तरभावित्वेन तेन अनुमितभावनानाम् अन्त्यवर्णसाहित्याभावाद् इति भावः। वर्णानाम् अर्थवोधकत्वासम्भवे फलमाह—तस्मादिति। स्फोटेऽपि किं मानम् इत्याशङ्क्य एकं पदमिति प्रत्यक्षप्रमाणम् इत्याह—स चेति। यथा रत्नतत्त्वं वहुभिश्चाक्षुपप्रत्ययैः स्फुटं भासते, तथा गवादिपदस्फोटो गकाराद्येकैकवर्णकृतप्रत्ययैः स्फोटविषयैः आहिताः संस्कारा वीजं यस्मिन् चित्ते तस्मिन् अन्त्यवर्णकृतप्रत्ययेन जनितः परिपाकोऽन्त्यः संस्कारो यस्मिन् तस्मिन् प्रत्ययिनि चित्ते एकं गौरिति पदम् इति प्रत्ययः प्रत्यक्षः

रत्नप्रभाका अनुवाद

कार्यस्यापि' का 'अपि' पद अन्योन्याश्रयका द्योतक है। इससे भावनासंस्कारपक्षका भी निराकरण हो गया, क्योंकि उससे केवल वर्णस्मृति ही होती है, इसलिए वह अर्थ-प्रतीतिका हेतु नहीं हो सकता। और केवल संस्कार वर्णस्मृतिका हेतु है और अंत्यवर्णसहित होनेसे वही अर्थ-प्रतीतिका हेतु है, ऐसी शंका नहीं करनी चाहिए, क्योंकि अर्थ-प्रतीति होनेसे पहले भावनाका ज्ञान नहीं होता, इसलिए वह अर्थप्रतीतिका हेतु नहीं हो सकता। वर्णस्मरणसे अनुमित भावना अंत्यवर्णसहित होकर अर्थ प्रतीतिमें हेतु होती है, यह कथन भी ठीक नहीं है, क्योंकि भावनाका कार्य—क्रमिक स्मरण भी अंत्यवर्णके अनुभवके बाद होता है, इसलिए उस वर्णस्मरणसे अनुमित भावनाओंका अंत्यवर्णके साथ सहयोग नहीं होता, ऐसा अर्थ है। वर्ण अर्थवोधक नहीं है, यह सिद्ध होनेपर प्राप्त फल कहते हैं—"तस्माद्" इत्यादिसे। स्फोटमें भी क्या प्रमाण है, ऐसी आशङ्का करके "स च" इत्यादिसे कहते हैं कि 'एक पद है' यह जो ज्ञान होता है वही प्रत्यक्ष प्रमाण है। जैसे रत्नोंकी यथार्थता बहुत बार देखनेसे स्पष्टतया प्रतीत होती है, उसी प्रकार गकार आदि प्रत्येक वर्णोंकी प्रतीति द्वारा जिस चित्तमें स्फोटविषयक संस्काररूप बीज डाला गया है और अंत्यवर्णके ज्ञान द्वारा जिसमें परिपाक—

भाष्य

प्रत्ययविषयतया झटिति प्रत्यवभासते । न चाऽयमेकप्रत्ययो वर्णविषया स्मृतिः, वर्णानामनेकत्वादेकप्रत्ययविषयत्वानुपपत्तेः । तस्य च प्रत्युच्चारणं प्रत्यभिज्ञायमानत्वान्नित्यत्वम्, भेदप्रत्ययस्य वर्णविषयत्वात् । तस्मान्नित्याच्छब्दात् स्फोटरूपादभिधायकात् क्रियाकारकफललक्षणं जगदभिधेयभूतं प्रभवतीति ।

भाष्यका अनुवाद

विषयरूपसे वह स्फोट झट प्रकट होता है । और यह एक प्रतीति वर्णविषयक स्मृति नहीं है, क्योंकि वर्ण अनेक होनेसे एक प्रतीतिके विषय नहीं हो सकते । प्रत्येक उच्चारणमें उसकी प्रत्यभिज्ञा होती है, अतः वह नित्य है, भेदप्रतीति तो वर्णोंसे संबन्ध रखती है । इसलिए स्फोटरूप नित्य वाचक शब्दसे क्रिया, कारक और फलरूप जगत् उत्पन्न होता है ।

रत्नप्रभा

तद्विषयतया स्पष्टम् अवभासते इत्यर्थः । अनेन वर्णान्वयव्यतिरेकयोः स्फोटज्ञानेऽन्यथासिद्धिः । न च एकस्माद् वर्णात् सम्यक् स्फोटाभिव्यक्तिः, येन वर्णान्तरवैयर्थ्यम्, किन्तु रत्नतत्त्ववत् बहुप्रत्ययसंस्कृते चित्ते सम्यक् स्फोटाभिव्यक्तिरित्युक्तं भवति । ननु एकं पदम्, एकं वाक्यमिति प्रत्ययः पदवाक्यस्फोटयोर्न प्रमाणम्, तस्य वर्णसमूहालम्बनस्मृतित्वाद् इत्याशङ्क्य निषेधति—**न चेति** । स्फोटस्य जगद्धेतुत्वार्थं नित्यत्वमाह—**तस्य चेति** । ननु तदेवेदं पदमिति प्रत्यभिज्ञा भ्रमः, उदात्तादिभेदप्रत्ययाद् इत्यत आह—**भेदेति** ।

रत्नप्रभाका अनुवाद

अंत्यसंस्कार उत्पन्न हुआ है, उस चित्तमें 'गौः' यह एक पद है' ऐसी प्रतीति जो प्रत्यक्ष है उसके विषयरूपसे स्फोट स्पष्ट भासता है, ऐसा अर्थ है । इससे—वर्णोंके अन्वयव्यतिरेक, स्फोटज्ञानमें उपयोग होनेसे, शाब्दबोधमें अन्यथा सिद्ध हैं । तथा एक वर्णसे स्फोटकी सम्यक् अभिव्यक्ति नहीं होती जिससे कि द्वितीय आदि वर्ण व्यर्थ हो जायं, परन्तु रत्नके समान बहुत ज्ञान होनेसे संस्कृत चित्तमें सम्यक् स्फोटकी अभिव्यक्ति होती है,—ऐसा उक्त होता है । परन्तु एक पद और एक वाक्य, ऐसी प्रतीतियाँ पदस्फोट और वाक्यस्फोटकी साधक नहीं हैं, क्योंकि यह प्रतीति वर्णोंकी समूहालम्बनात्मक[1] स्मृति है, ऐसी आशङ्का करके निषेध करते हैं—"न च" इत्यादिसे । स्फोटको जगत्का हेतु बनानेके लिए उसे नित्य कहते हैं—"तस्य च" इत्यादिसे । परन्तु 'वही एक पद है' ऐसी प्रत्यभिज्ञा भ्रम है, क्योंकि उदात्त आदि भेदकी प्रतीति होती है, इसपर कहते हैं—"भेद" इत्यादि ।

[1] नानाप्रकारतानिरूपित नाना मुख्यविशेष्यक ज्ञान अर्थात् अनेक वस्तुका एक ज्ञान ।

भाष्य

'वर्णा एव तु शब्दः' इति भगवानुपवर्षः, ननूत्पन्नप्रध्वंसित्वं वर्णानामुक्तम्, न, त एवेति प्रत्यभिज्ञानात्। सादृश्यात् प्रत्यभिज्ञानं केशादिष्विवेति चेत्, न, प्रत्यभिज्ञानस्य प्रमाणान्तरेण बाधानुपपत्तेः। प्रत्यभिज्ञानमाकृतिनिमित्तमिति चेत्, न, व्यक्तिप्रत्यभिज्ञानात्। यदि

भाष्यका अनुवाद

भगवान् उपवर्ष कहते हैं कि वर्ण ही शब्द हैं। वर्णोंकी उत्पत्ति और विनाश होता है, यह जो पीछे कहा गया है, वह ठीक नहीं है, क्योंकि वे ही वर्ण हैं, ऐसी प्रत्यभिज्ञा होती है। जैसे सादृश्यसे छिन्नप्ररूढ केश आदिमें प्रत्यभिज्ञा होती है, वैसे ही वर्णोंमें भी प्रत्यभिज्ञा होती है, यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि यहां प्रत्यभिज्ञाका बाधक कोई प्रमाण नहीं है। प्रत्यभिज्ञाका कारण आकृति—जाति है, ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि व्यक्तिका प्रत्यभिज्ञान होता है।

रत्नप्रभा

आचार्यसम्प्रदायोक्तिपूर्वकं सिद्धान्तयति—**वर्णा एवेति**। वर्णातिरिक्तस्फोटात्मकशब्दस्य अनुभवानारोहात् इत्यर्थः। सादृश्यदोषाद् इयं भ्रान्तिरिति शङ्कते—**सादृश्यादिति**। वपनानन्तरं त एव इमे केशा इति धीः भ्रान्तिरिति युक्तम्, भेदधीविरोधात्। स एवाऽयं वर्ण इति धीस्तु प्रमैव बाधकाभावाद् इत्याह—**नेति**। गोत्वादिप्रत्यभिज्ञावद् वर्णेषु प्रत्यभिज्ञा गत्वादिविषया इति शङ्कते—**प्रत्यभिज्ञानमिति**। व्यक्तिभेदे सिद्धे प्रत्यभिज्ञाया जातिविषयत्वं स्यात्, यत्त्वया पीतं जलं तदेव मया पीतमित्यादौ, न तथा इह व्यक्तिभेदः सिद्ध इति परिहरति—**न व्यक्तीति**।

रत्नप्रभाका अनुवाद

आचार्यसंप्रदाय कहते हुए सिद्धान्त कहते हैं—"वर्णा एव" इत्यादिसे। तात्पर्य यह कि वर्णोंसे अन्य स्फोटात्मक शब्द अनुभवमें आरूढ़ नहीं होता। वही वर्ण है, ऐसी जो प्रत्यभिज्ञा होती है, वह सादृश्यदोषसे भ्रान्ति है, ऐसी शङ्का करते हैं—"सादृश्यात्" इत्यादिसे। हजामत करनेके पश्चात् वे ही ये केश हैं, ऐसी प्रतीति भ्रान्ति है, क्योंकि इस प्रत्यभिज्ञाका भेद प्रत्यक्ष बाधक है, ये केश वे ही नहीं है, किन्तु उनके सदृश हैं, इस प्रकार केशोंमें भेदप्रतीति स्पष्ट है, परन्तु 'वही यह वर्ण है' यह प्रतीति तो प्रमा ही है, क्योंकि इस ज्ञानका कोई बाधक नहीं है, ऐसा कहते हैं—"न" इत्यादिसे। जैसे गो की प्रत्यभिज्ञा गोत्वनिमित्तसे होती है, उसी प्रकार वर्णोंकी प्रत्यभिज्ञा गत्व आदि जातिके निमित्तसे होती है, ऐसी शङ्का करते हैं—"प्रत्यभिज्ञानम्" इत्यादिसे। व्यक्तिभेद सिद्ध होनेपर प्रत्यभिज्ञा जातिनिमित्तक हो सकती है, जैसे 'जो तुमने जल पिया, वही मैंने पिया' इत्यादिमें है, परन्तु यहां उस तरह व्यक्तिभेद सिद्ध नहीं है, इस प्रकार शङ्काका परिहार करते हैं—"न व्यक्ति" इत्यादिसे।

भाष्य

हि प्रत्युच्चारणं गवादिव्यक्तिवदन्या अन्या वर्णव्यक्तयः प्रतीयेरन्, तत आकृतिनिमित्तं प्रत्यभिज्ञानं स्यात्; न त्वेतदस्ति; वर्णव्यक्तय एव हि प्रत्युच्चारणं प्रत्यभिज्ञायन्ते। द्विर्गोशब्द उच्चारित इति हि प्रतिपत्तिर्न तु द्वौ गोशब्दाविति। ननु वर्णा अप्युच्चारणभेदेन भिन्नाः प्रतीयन्ते, देवदत्तयज्ञदत्तयोरध्ययनध्वनिश्रवणादेव भेदप्रतीतेरित्युक्तम्। अत्राऽभिधीयते—सति वर्णविषये निश्चिते प्रत्यभिज्ञाने संयोगविभागाभिव्यङ्ग्यत्वाद् वर्णानामभिव्यञ्जकवैचित्र्यनिमित्तोऽयं वर्णविषयो विचित्रः प्रत्ययो न स्वरूपनिमित्तः। अपि च वर्णव्यक्तिभेदवादिनाऽपि प्रत्यभिज्ञान-

भाष्यका अनुवाद

यदि प्रत्येक उच्चारणमें गो आदि व्यक्तिके समान अन्य-अन्य वर्णव्यक्तिकी प्रतीति हो, तो यह माना जा सकता है कि प्रत्यभिज्ञा जातिनिमित्तक है, परन्तु ऐसा नहीं है, क्योंकि प्रत्येक उच्चारणमें वर्णव्यक्तिकी ही प्रत्यभिज्ञा होती है। दो बार 'गो' शब्दका उच्चारण किया, ऐसी प्रतीति होती है, न कि दो गोशब्दोंका उच्चारण किया। परन्तु उच्चारणभेदसे वर्ण भी भिन्न-भिन्न प्रतीत होते हैं, क्योंकि देवदत्त और यज्ञदत्तकी अध्ययन ध्वनि सुननेसे उनका भेद प्रतीत होता है, ऐसा कहा गया है। इस पर कहते हैं—प्रत्यभिज्ञान वर्णसम्बन्धी है, यह निश्चित होनेपर प्रतीत होता है कि [तालु आदि स्थानोंके साथ कोष्ठस्थ वायुके] संयोग और विभागसे वर्णोंकी अभिव्यक्ति होनेके कारण वर्णोंमें जो वैलक्षण्यकी प्रतीति होती है, उसका निमित्त अभिव्यंजक—वायुके संयोग और विभागकी विचित्रता है, स्वरूपकी विचित्रता नहीं

रत्नप्रभा

न त्वेतदिति। व्यक्त्यन्यत्वज्ञानम् इत्यर्थः। उदात्तत्वादिविरुद्धधर्मत्वाद् व्यक्तिभेदोऽनुमानसिद्ध इति अनुवदति—नन्विति। भेदप्रत्ययस्य कुम्भकूपाकाशभेदप्रत्ययवद् औपाधिकभेदविषयत्वाद् अन्यथासिद्धेः अनन्यथासिद्धव्यक्त्यैक्यप्रत्यभिज्ञया निरपेक्षस्वरूपालम्बनया बाध इत्युत्तरमाह—अत्रेति। ताल्वादिदेशैः कोष्ठस्थवायुसंयोग-

रत्नप्रभाका अनुवाद

"न त्वेतत्" इत्यादि। 'एतत्'—अन्यवर्णव्यक्तिका ज्ञान। वर्णमें उदात्तत्व आदि विरुद्ध धर्मके रहनेसे व्यक्तिभेद अनुमानसे सिद्ध है, पीछे कही गई इस शंकाका अनुवाद करते हैं—"ननु" इत्यादिसे। जैसे कुंभाकाश, कूपाकाश, यह प्रतीति उपाधिभेदके कारण होती है, उसी प्रकार वर्णोंमें भेदप्रतीति उपाधिके कारण है, इससे वह अन्यथासिद्ध है, इसलिए एक ही व्यक्ति है, ऐसी जो प्रत्यभिज्ञा निरपेक्ष वर्णस्वरूपके

भाष्य

सिद्धये वर्णाकृतयः कल्पयितव्याः। तासु च परोपाधिको भेदप्रत्यय इत्यभ्युपगन्तव्यम्, तद्वरं वर्णव्यक्तिष्वेव परोपाधिको भेदप्रत्ययः, स्वरूपनिमित्तं च प्रत्यभिज्ञानमिति कल्पनालाघवम्। एष एव च वर्णविषयस्य भेदप्रत्ययस्य बाधकः प्रत्ययो यत्प्रत्यभिज्ञानम्। कथं ह्येकस्मिन् काले

भाष्यका अनुवाद

है। और वर्णव्यक्तियोंको भिन्न माननेवालेको भी प्रत्यभिज्ञाकी सिद्धिके लिए वर्णोंकी जातियोंकी कल्पना करनी पड़ेगी और उनमें भेदप्रतीति अन्य उपाधिसे होती है, ऐसा स्वीकार करना पड़ेगा। इससे तो यही मानना अच्छा है कि वर्णव्यक्तियोंमें ही अन्य उपाधिसे भेदप्रतीति होती है और प्रत्यभिज्ञा स्वरूपसे ही होती है, इसमें कल्पनालाघव भी है। वर्णोंकी प्रत्यभिज्ञा ही उनमें भेदप्रतीतिका बाध करनेवाला प्रत्यय है। एक ही कालमें बहुत लोगोंसे उच्चारित एक ही गकार

रत्नप्रभा

विभागाभ्यां विचित्राभ्यां व्यङ्ग्यत्वाद् वर्णेषु वैचित्र्यधीः इत्यर्थः। कल्पनागौरवाच्च वर्णेषु स्वतो भेदो नाऽस्तीत्याह—अपि चेति। अनन्ताः गकारादिव्यक्तयः, तासु प्रत्यभिज्ञानार्थं गत्वादिजातयः, तासु चोदात्तत्वादिभेदस्य औपाधिकत्वमिति कल्पनाद् वरं वर्णव्यक्तिभेदमात्रस्य औपाधिकत्वकल्पनमिति व्यक्त्यानन्त्यस्य जातीनां च कल्पनम् अयुक्तमित्यर्थः। ननु भेदस्य बाधकाभावात् न औपाधिकत्वमित्यत आह—एष इति। अस्तु तर्हि प्रत्ययद्वयप्रामाण्याय भेदाभेदयोः सत्यत्वं तत्राऽऽह—कथं हीति। उभयोरेकत्र विरोधाद् भेद औपाधिक एव इत्यर्थः। ननु वायुसंयोगादेः

रत्नप्रभाका अनुवाद

आलम्बनसे होती है और जो अन्यथासिद्ध नहीं है, उस प्रत्यभिज्ञासे भेदप्रतीतिका बोध होता है, इस प्रकार शंकाका उत्तर कहते हैं—"अत्र" इत्यादिसे। आशय यह कि तालु आदि देशोंके साथ नाभिमें स्थित वायुके विलक्षण संयोग और विभागोंसे वर्ण व्यंग्य होते हैं, इसलिए वायुमें स्थित उदात्तत्व आदि विचित्रताकी उनमें प्रतीति होती है। और कल्पनामें गौरव होनेके कारण भी वर्णमें स्वतः भेद नहीं है, ऐसा कहते हैं—"अपि च" इत्यादिसे। अनन्त गकार आदि व्यक्तियाँ हैं, उनमें प्रत्यभिज्ञाके लिए गत्व आदि जातियाँ हैं और उनमें उदात्तत्व आदि भेद औपाधिक हैं, ऐसी गुरु कल्पनाकी अपेक्षा केवल वर्णव्यक्तिका भेद औपाधिक है, यह लघु कल्पना ही अधिक उपयुक्त है, अनन्त व्यक्तियों और जातियोंकी कल्पना करना ठीक नहीं है, ऐसा अर्थ है। यदि कोई शंका करे कि बाधक कोई न होनेके कारण भेदको औपाधिक मानना आवश्यक नहीं है, इसका समाधान कहते हैं—"एष" इत्यादिसे। तब दोनों प्रतीतियोंके प्रामाण्यके लिए भेद और अभेद दोनोंको सत्य मानो, इसपर कहते हैं—

भाष्य

बहूनामुच्चारयतामेक एव सन् गकारो युगपदनेकरूपः स्यात्—उदात्तश्चाऽनुदात्तश्च स्वरितश्च सानुनासिकश्च निरनुनासिकश्च इति। अथवा ध्वनिकृतोऽयं भेदप्रत्ययो न वर्णकृत इत्यदोषः। कः पुनरयं ध्वनिर्नाम ? यो दूरादाकर्णयतो वर्णविवेकमप्रतिपद्यमानस्य कर्णपथमवतरति, प्रत्यासीदतश्च पटुमृदुत्वादिभेदं वर्णेष्वासञ्जयति। तन्निबन्धनाश्चोदात्तादयो विशेषा न वर्णस्वरूपनिबन्धनाः। वर्णानां प्रत्युच्चारणं प्रत्यभिज्ञायमान-

भाष्यका अनुवाद

एक ही समयमें उदात्त, अनुदात्त, स्वरित, सानुनासिक और निरनुनासिक भेदसे अनेकरूप किस प्रकार हो सकेगा। अथवा यह भेदप्रतीति ध्वनिके भेदसे होती है, वर्णके भेदसे नहीं होती, इसलिए दोष नहीं है। ध्वनि किसको कहते हैं ? दूरसे सुननेके कारण वर्णभेदको नहीं समझनेवालेके कानमें जो प्रविष्ट होती है और पाससे सुननेवालेके लिए पटुत्व, मृदुत्व आदि भेदोंका वर्णोंमें आरोप करती है, वह ध्वनि है। उससे उदात्त आदि विशेष उत्पन्न होते हैं, वर्णस्वरूपसे

रत्नप्रभा

अतीन्द्रियत्वान्न तद्गतवैचित्र्यस्य उदात्तत्वादेः वर्णेषु प्रत्यक्षारोपः सम्भवति इति अरुचिं वदिष्यन् स्वमतमाह—अथवेति। ध्वनिधर्मा उदात्तत्वादयो ध्वन्यभेदाध्यासाद् वर्णेषु भान्ति इत्यर्थः। प्रश्नपूर्वकं ध्वनिस्वरूपमाह—क इति। अवतरति स ध्वनिरिति शेषः। वर्णातिरिक्तः शब्दः ध्वनिरित्यर्थः। समीपं गतस्य पुंसः तारत्वमन्दत्वादिधर्मान् स्वगतान् वर्णेषु स एव आरोपयतीत्याह—प्रत्यासीदतश्चेति। आदिपदं विवृणोति—तदिति।

रत्नप्रभाका अनुवाद

"कथं हि" इत्यादि। अर्थात् भेद और अभेद दोनों एक जगह नहीं रह सकते, अतः भेद औपाधिक ही है। यदि कोई कहे कि वायुसंयोग आदि अतीन्द्रिय हैं, अतः उनमें रहनेवाले उदात्तत्व आदिका जो वैचित्र्य है, उसका वर्णोंमें प्रत्यक्ष आरोप संभव नहीं है, ऐसी अरुचि भाष्यकार कहेंगे, उसीके अनुसार अपना मत कहते हैं—"अथवा" इत्यादिसे। अर्थात् ध्वनिका वर्णमें अभेदाध्यास होनेसे उदात्तत्व आदि ध्वनिके धर्म वर्णोंमें प्रतीत होते हैं। प्रश्नपूर्वक ध्वनिका स्वरूप कहते हैं—"कः" इत्यादिसे। 'अवतरति'के बाद 'स ध्वनिः' (वह ध्वनि है) इतना शेष समझना चाहिए। वर्णसे भिन्न शब्द ध्वनि है, ऐसा अर्थ है। समीपस्थ पुरुषके कर्णगोचर ध्वनि तारत्व, मन्दत्व आदि अपने धर्मोंका अपने आप वर्णोंमें आरोप करती है, ऐसा कहते हैं—"प्रत्यासीदतश्च" इत्यादिसे। 'पटुमृदुत्वादि' के 'आदि'

भाष्य

स्यात्। एवं च सति सालम्बना एवैत उदात्तादिप्रत्यया भविष्यन्ति, इतरथा हि वर्णानां प्रत्यभिज्ञायमानानां निर्भेदत्वात् संयोगविभागकृता उदात्तादिविशेषाः कल्पेरन्। संयोगविभागानां चाऽप्रत्यक्षत्वान्न तदाश्रया विशेषा वर्णेष्वध्यवसितुं शक्यन्त इत्यतो निरालम्बना एवैत उदात्तादिप्रत्ययाः स्युः। अपि च नैवैतदभिनिवेष्टव्यम्–उदात्तादिभेदेन वर्णानां

भाष्यका अनुवाद

उत्पन्न नहीं होते, क्योंकि वर्णोंका प्रत्येक उच्चारणमें प्रत्यभिज्ञान होता है। ऐसा होनेसे उदात्त आदि प्रतीतियाँ आलम्बनसहित होंगी। अन्यथा वर्णोंकी प्रत्यभिज्ञा होनेके कारण उनमें भेद न होनेसे उदात्त आदि विशेष—भेद संयोग और विभागसे होते हैं, ऐसी कल्पना करनी पड़ेगी। संयोग और विभाग अप्रत्यक्ष हैं, अतः वर्णोंमें उनके भेदका आरोप नहीं किया जा सकता, इससे यह उदात्त आदि प्रतीति निराधार ही हो जायगी। और वर्णोंकी 'वही यह गकार है' ऐसी प्रत्यभिज्ञा होती है, इससे

रत्नप्रभा

ननु अव्यक्तवर्ण एव ध्वनिः न अतिरिक्त इत्यत आह—**वर्णानामिति**। प्रत्युच्चारणं वर्णा अनुवर्तन्ते ध्वनिर्व्यावर्तते इति भेद इत्यर्थः। अन्यथा वाचिकेषु जप्यवर्णेषु अव्यक्तेषु ध्वनिबुद्धिः स्याद्, दुन्दुभ्यादिध्वनौ शब्दत्वमात्रेण गृह्यमाणे अयमव्यक्तो वर्ण इति धीः स्यादिति मन्तव्यम्। एवं ध्वन्युपाधिकत्वे स्वमते गुणं वदन् वायूपाधिकत्वे पूर्वोक्ताम् अरुचिं दर्शयति—**एवं चेत्यादिना**। अस्तु को दोषः, तत्राऽऽह—**संयोगेति**। वायुसंयोगादेः अश्रावणत्वात् इत्यर्थः। तस्मात् श्रावणध्वनिरेव उदात्तत्वाद्यारोपोपाधिरिति भावः। एवं विरुद्धधर्मकध्वनीनां भेदेऽपि

रत्नप्रभाका अनुवाद

पदका विवरण करते हैं—"तद्" इत्यादिसे। यदि कोई कहे कि अव्यक्त वर्ण ही ध्वनि है, उससे भिन्न नहीं है, इसपर कहते हैं—"वर्णानाम्" इत्यादि। अर्थात् प्रत्येक उच्चारणमें वर्णोंकी अनुवृत्ति होती है और ध्वनिकी अनुवृत्ति नहीं होती, इससे ध्वनि और वर्णमें भेद है। यदि ऐसा न हो तो अवचिक जपमें जो अव्यक्त वर्ण हैं, उनमें ध्वनिबुद्धि हो जायगी और दुन्दुभि आदिकी ध्वनि जो केवल शब्दरूपसे सुनी जाती है उसमें 'यह अव्यक्त वर्ण है' ऐसी बुद्धि हो जायगी। इस प्रकार ध्वनिको उपाधि माननेपर स्वमतमें लाभ कहते हुए भाष्यकार वायुको उपाधि माननेमें पूर्वोक्त अरुचि दिखलाते हैं—"एवं च" इत्यादिसे। भले ऐसा हो, उसमें दोष क्या है, इसपर कहते हैं—"संयोग" इत्यादि। [अप्रत्यक्षत्वात्] अर्थात् वायु-संयोग आदिके श्रवणगोचर न होनेके कारण। इसलिए श्रवणगोचर ध्वनि ही वर्णोंमें उदात्तत्व आदिके आरोपमें

भाष्य

प्रत्यभिज्ञायमानानां भेदो भवेत् इति। नह्यन्यस्य भेदेनाऽन्यस्याऽभिद्यमानस्य भेदो भवितुमर्हति। नहि व्यक्तिभेदेन जातिं भिन्नां मन्यन्ते। वर्णेभ्यश्चाऽर्थप्रतीतेः सम्भवात् स्फोटकल्पनाऽनर्थिका। न कल्पयाम्यहं स्फोटं प्रत्यक्षमेव त्वेनमवगच्छामि, एकैकवर्णग्रहणाहितसंस्कारायां बुद्धौ झटिति

भाष्यका अनुवाद

उदात्त आदि भेदोंसे उनका भेद होगा, ऐसा आग्रह करना ठीक नहीं है, क्योंकि एकके भेदसे दूसरे अभिन्न पदार्थका भेद नहीं हो सकता। व्यक्तिके भेदसे जाति भिन्न है, ऐसा कोई भी नहीं मानता। और वर्णोंसे अर्थप्रतीतिका संभव होनेसे स्फोटकी कल्पना व्यर्थ है। मैं स्फोटकी कल्पना नहीं करता, किन्तु उसका मुझे प्रत्यक्ष अनुभव हो रहा है, क्योंकि एक-एक वर्णके ग्रहणसे जिसमें संस्कार हुआ है,

रत्नप्रभा

न तेषु अनुगता वर्णा भिद्यन्ते इति उक्तम्, तदेव दृष्टान्तेन द्रढयति—अपि चेति। यथा खण्डमुण्डादिविरुद्धानेकव्यक्तिषु अभिन्नं गोत्वम्, तथा ध्वनिषु वर्णा अभिन्ना एव इत्यर्थः। उदात्तादिर्ध्वनिः, तद्भेदेन हेतुना वर्णानामपि इति योजना। प्रत्यभिज्ञाविरोधादिति अक्षरार्थः। यद्वा, उदात्तत्वादिभेदविशिष्टतया प्रत्यभिज्ञायमानत्वाद् वर्णानां भेद इत्याशङ्कां दृष्टान्तेन निरस्यति—अपि चेति। वर्णानां स्थायित्वं प्रसाध्य तेषामेव वाचकत्वं वक्तुं स्फोटं विघटयति—वर्णेभ्यश्चेति। कल्पनामसहमान आशङ्कते—नेति। चक्षुषा दर्पणयुक्तायां बुद्धौ मुखवत् श्रोत्रेण वर्णयुक्तायां बुद्धौ विनैव हेत्वन्तरं स्फोटः प्रत्यक्ष इत्याह—झटितीति। यस्यां

रत्नप्रभाका अनुवाद

कारण है यह तात्पर्य है। इस प्रकार विरुद्ध धर्मवाली ध्वनिके भिन्न होनेपर भी उसमें अनुगत वर्ण भिन्न नहीं होते, ऐसा जो पीछे कहा गया है, उसीको दृष्टान्तसे दृढ़ करते हैं—"अपि च" इत्यादिसे। जैसे खण्ड-मुण्ड आदि विरुद्ध—परस्पर भिन्न अनेक गोव्यक्तियोंमें गोत्व अभिन्न है, वैसे ध्वनिमें वर्ण अभिन्न ही हैं, ऐसा अर्थ है। उदात्त आदि—ध्वनि। ध्वनिभेदरूप कारणसे वर्णोंका भी भेद हो, ऐसी योजना करनी चाहिए। अथवा उदात्तत्व आदि भेदोंसे विशिष्टरूपसे ज्ञात होनेके कारण वर्ण भिन्न हैं, इस आशङ्काका दृष्टान्तपूर्वक निरसन करते हैं—"अपि च" इत्यादिसे। प्रत्यभिज्ञासे वर्णोंका नित्यत्व सिद्ध करके उनको ही वाचक कहनेके लिए स्फोटका निराकरण करते हैं—"वर्णेभ्यश्च" इत्यादिसे। कल्पनाको न सहता हुआ वादी आशङ्का करता है—"न" इत्यादिसे। जैसे नेत्र द्वारा दर्पणयुक्त बुद्धिमें मुखका प्रत्यक्ष होता है, वैसे ही श्रोत्र द्वारा वर्णयुक्त बुद्धिमें अन्य हेतुके विना ही स्फोटका प्रत्यक्ष होता है, ऐसा कहता है—"झटिति" इत्यादिसे। जिस ज्ञानमें जो अर्थ भासता है, वह ज्ञान उसमें

भाष्य

प्रत्यवभासनादिति चेत्, न; अस्या अपि बुद्धेर्वर्णविषयत्वात्। एकैक-वर्णग्रहणोत्तरकाला हीयमेका बुद्धिर्गौरिति समस्तवर्णविषया, नाऽर्थान्तर-विषया। कथमेतदवगम्यते? यतोऽस्यामपि बुद्धौ गकारादयो वर्णा अनुवर्तन्ते, न तु दकारादयः। यदि ह्यस्या बुद्धेर्गकारादिभ्योऽर्थान्तरं स्फोटो विषयः स्यात् ततो दकारादय इव गकारादयोऽप्यस्या बुद्धेर्व्यावर्तेरन्, न तु तथाऽस्ति। तस्मादियमेकबुद्धिर्वर्णविषयैव स्मृतिः। नन्वनेकत्वात् वर्णानां नैकबुद्धिविषयतोपपद्यत इत्युक्तम्, तत्प्रतिब्रूमः—सम्भव-

भाष्यका अनुवाद

उस बुद्धिमें स्फोटका जल्दी प्रत्यवभास होता है, ऐसा यदि कहो, तो यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि यह बुद्धि भी वर्णविषयक है। एक-एक वर्णका ग्रहण होनेके अनन्तर 'गौः' (गाय) यह जो एक बुद्धि होती है, वह समस्त वर्णविषयक है, अर्थान्तरविषयक नहीं है। यह कैसे समझा जाय? इससे कि इस बुद्धिमें भी गकार आदि वर्णोंकी अनुवृत्ति होती है, दकार आदिकी नहीं। यदि दकार आदिसे अन्य स्फोटरूप अर्थ इस बुद्धिका विषय हो, तो उस बुद्धिसे दकार आदिके समान गकार आदि भी हट जायँगे, परन्तु ऐसा नहीं है, इसलिए यह एक बुद्धि वर्णविषयक ही स्मृति है। परन्तु वर्णोंके अनेक होनेसे वे एक बुद्धिके विषय हों, यह युक्त नहीं है, ऐसा कहा है। उसका निराकरण

रत्नप्रभा

संविदि योऽर्थो भासते सा तत्र प्रमाणम्। एकं पदमिति बुद्धौ वर्णा एव स्फुरन्ति, न अतिरिक्तस्फोटः इति न सा स्फोटे प्रमाणमित्याह—**नाऽस्या अपीत्यादिना**। ननु गोपदबुद्धेः स्फोटो विषयः, गकारादीनां तु व्यञ्जकत्वाद् अनुवृत्तिरित्यत आह—**यदि हीति**। व्यङ्ग्यवह्निबुद्धौ व्यञ्जकधूमानुवृत्तेः अदर्शनाद् इत्यर्थः। वर्णसमूहालम्बनत्वोपपत्तेर्न स्फोटः कल्पनीयः पदार्थान्तरकल्पनागौरवादित्याह—**तस्मादिति**।

रत्नप्रभाका अनुवाद

प्रमाण है, 'एक पद है' ऐसी बुद्धिमें वर्ण ही भासित होते हैं, उनसे अतिरिक्त स्फोटका भान नहीं होता, इसलिए स्फोटमें वह बुद्धि प्रमाण नहीं है, ऐसा [उत्तर] कहते हैं—"नास्या अपि" इत्यादिसे। यदि कोई कहे कि 'गोपद' इस बुद्धिका स्फोट विषय है, गकार आदि तो व्यंजक होनेसे अनुवृत्त होते हैं, इसपर कहते हैं—"यदि हि" इत्यादि। जैसे कि व्यंग्य वह्निबुद्धिमें व्यंजक धूमकी अनुवृत्ति देखनेमें नहीं आती, ऐसा समझना चाहिए। वर्णोंका समूहालम्बन उपपन्न है, इससे स्फोटकी कल्पना करना ठीक नहीं है, क्योंकि अन्य पदार्थकी

भाष्य

त्यनेकस्याप्येकबुद्धिविषयत्वम्, पङ्क्तिर्वनं सेना दश शतं सहस्रमित्यादिदर्शनात्। या तु गौरित्येकोऽयं शब्द इति बुद्धिः, सा बहुष्वेव वर्णेष्वेकार्थावच्छेदनिबन्धनौपचारिकी वनसेनादिबुद्धिवदेव। अत्राऽऽह—यदि

भाष्यका अनुवाद

करते हैं—अनेक भी एक बुद्धिके विषय होते हैं, क्योंकि पंक्ति, वन, सेना, दश, शत, सहस्र इत्यादिमें स्पष्टतया अनेक एक बुद्धिके विषय दिखाई देते हैं। 'गौः' यह एक शब्द है, ऐसी जो बुद्धि है, वह वन, सेना आदि बुद्धिके समान बहुत वर्णोंमें एकार्थबोधकत्वरूप कारणसे गौणतया प्रयुक्त होती है। यहाँ कहते हैं—

रत्नप्रभा

अनेकस्याऽपि औपाधिकम् एकत्वं युक्तमित्याह—सम्भवतीति। ननु तत्र एकदेशादिः उपाधिरस्ति प्रकृते क उपाधिरित्यत आह—या त्विति। एकार्थे शक्तमेकं पदम्, प्रधानार्थे एकस्मिन् तात्पर्यवदेकं वाक्यमित्येकार्थसम्बन्धादेकत्वोपचार इत्यर्थः। न च एकपदत्वे ज्ञाते एकार्थज्ञानम्, अस्मिन् ज्ञाते तत् इत्यन्योन्याश्रय इति वाच्यम्। उत्तमवृद्धोक्तानां वर्णानां क्रमेण अन्त्यवर्णश्रवणानन्तरं बालस्य एकस्मृत्यारूढानां मध्यमवृद्धस्य प्रवृत्त्यादिलिङ्गानुमितैकार्थधीहेतुत्वनिश्चये सति ऐकपदवाक्यत्वनिश्चयात्। वर्णसाम्येऽपि पदभेददृष्टेर्वर्णातिरिक्तं पदं स्फोटाख्यमङ्गीकार्यमिति शङ्कते—

रत्नप्रभाका अनुवाद

कल्पनामें गौरव होता है, ऐसा कहते हैं—"तस्माद्" इत्यादिसे। बहुतोंका भी औपाधिक एकत्व हो सकता है, ऐसा कहते हैं—"सम्भवति" इत्यादिसे। यदि कोई कहे कि दृष्टान्तमें एकदेश उपाधि है, प्रकृतमें कौन उपाधि है। इसपर कहते हैं—"या तु" इत्यादि। जिसकी एक अर्थमें शक्ति हो, वह एक पद है अर्थात् अभिधावृत्तिसे जो एक अर्थ का वाचक हो, वह एक पद है, एक प्रधान अर्थमें जिसका तात्पर्य हो, वह एक वाक्य है, इस प्रकार अनेकका एक अर्थके साथ सवन्ध होनेसे अनेकमें एकत्वका उपचार समझना चाहिए। कोई शङ्का करे कि एक पदका ज्ञान होनेपर एक अर्थका ज्ञान होता है और एक अर्थका ज्ञान होनेसे एक पदका ज्ञान होता है, इस प्रकार अन्योन्याश्रय दोष आता है, यह शङ्का युक्त नहीं है, क्योंकि उत्तम वृद्धसे उच्चारित वर्णोंमें क्रमसे अंत्य वर्ण सुननेके बाद बालककी एक स्मृतिमें सब वर्ण आरूढ़ हो जाते हैं और मध्यम वृद्धकी प्रवृत्तिको देखकर उससे अनुमान करके बालक ये वर्ण अर्थके ज्ञानके हेतु हैं, ऐसा निश्चय करता है, अतः एक पद तथा एक वाक्यका निश्चय होता है। परन्तु वर्णोंके समान होनेपर भी पदका भेद दिखाई देता है, इसलिए वर्णोंसे अतिरिक्त पदरूप स्फोटका स्वीकार

भाष्य

वर्णा एव सामस्त्येनैकबुद्धिविषयतामापद्यमानाः पदं स्युः, ततो जारा राजा कपिः पिक इत्यादिषु पदविशेषप्रतिपत्तिर्न स्यात्, त एव हि वर्णा इतरत्र चेतरत्र च प्रत्यवभासन्त इति। अत्र वदामः—सत्यपि समस्तवर्णप्रत्यवमर्शे यथा क्रमानुरोधिन्य एव पिपीलिकाः पङ्क्तिबुद्धिमारोहन्ति, एवं क्रमानुरोधिन एव वर्णाः पदबुद्धिमारोक्ष्यन्ति तत्र वर्णानामविशेषेऽपि क्रमविशेषकृता पदविशेषप्रतिपत्तिर्न विरुध्यते। वृद्धव्यवहारे चेमे वर्णाः क्रमाद्यनुगृहीता गृहीतार्थविशेषसम्बन्धाः सन्तः स्वव्यवहारेऽप्येकैकवर्ण-

भाष्यका अनुवाद

यदि वर्ण ही सब मिलकर, एक बुद्धिके विषय होकर पद होते हों, तो जारा, राजा, कपि, पिक इत्यादिमें भिन्न पदकी प्रतीति न होनी चाहिये। क्योंकि उन्हीं वर्णोंका दोनों स्थलों पर अवभास होता है। इसपर कहते हैं—यद्यपि शब्दमें सब वर्णोंका भान होता है, तो भी जैसे क्रमके अनुसार ही चींटियोंमें पंक्तिकी प्रतीति होती है, वैसे क्रमिक वर्णोंमें ही पदबुद्धि होती है। इस प्रकार वर्णोंमें यद्यपि भेद नहीं है, तो भी भिन्न-भिन्न क्रमसे भिन्न-भिन्न पदकी प्रतीति होती है, अतः कोई विरोध नहीं है। क्रम आदिके अनुसार ग्रहण किये हुए उन वर्णोंका वृद्ध व्यवहारमें भिन्न-भिन्न अर्थोंके साथ संबन्ध ग्रहण किया जाता है, इसलिए अपने व्यवहारमें भी एक-एक वर्णका ग्रहण होने

रत्नप्रभा

अत्राहेति। क्रमभेदाद् वर्णेष्वेव पदभेददृष्टिरिति परिहरति—अत्रेति। ननु नित्यविभूनां वर्णानां कथं क्रमः? कथं वा पदत्वज्ञानेन अर्थधीहेतुत्वं तत्राऽऽह—वृद्धेति। व्युत्पत्तिदशायाम् उच्चारणक्रमेण उपलब्धिक्रममुपलभ्यमानवर्णेषु आरोप्य एते वर्णा एतत्क्रमैतत्संख्यावन्त एतदर्थशक्ता इति गृहीताः सन्तः श्रोतुः प्रवृत्तिकाले तथैव स्मृत्यारूढाः स्वस्वार्थं बोधयन्ति इत्यर्थः। स्थायिवर्ण-

रत्नप्रभाका अनुवाद

करना चाहिए, ऐसी शङ्का करते हैं—"अत्र" इत्यादिसे। परन्तु नित्य और विभु वर्णोंका क्रम कैसे हो सकता? और वर्णोंमें पदत्वज्ञान होनेसे वे अर्थ ज्ञानके प्रति कारण किस प्रकार हो सकते हैं? इसपर कहते हैं—"वृद्ध" इत्यादिसे। व्युत्पत्तिदशामें बालक वृद्धव्यवहारको देखकर, उच्चारण-क्रमसे उपलब्धि-क्रमका वर्णोंमें आरोप करके ये वर्ण जब इस क्रममें और इतने ही हों, तब इस अर्थके वाचक हो सकते हैं, ऐसा समझता है और इस प्रकार समझे हुए वर्ण श्रोताके प्रवृत्तिकालमें और उसी प्रकार स्मृतिमें प्रविष्ट होकर अपने-अपने अर्थका बोध

भाष्य

ग्रहणानन्तरं समस्तप्रत्यवमर्शिन्यां बुद्धौ तादृशा एव प्रत्यवभासमानास्तं तमर्थमव्यभिचारेण प्रत्याययिष्यन्तीति वर्णवादिनो लघीयसी कल्पना। स्फोटवादिनस्तु दृष्टहानिरदृष्टकल्पना च। वर्णाश्चेमे क्रमेण गृह्यमाणाः स्फोटं व्यञ्जयन्ति, स स्फोटोऽर्थं व्यनक्तीति गरीयसी कल्पना स्यात्। अथाऽपि नाम प्रत्युच्चारणमन्येऽन्ये वर्णाः स्युः, तथापि प्रत्यभिज्ञालम्बन-भावेन वर्णसामान्यानामवश्याभ्युपगन्तव्यत्वाद् या वर्णेष्वर्थप्रतिपादन-प्रक्रिया रचिता, सा सामान्येषु संचारयितव्या। ततश्च नित्येभ्यः शब्देभ्यो देवादिव्यक्तीनां प्रभव इत्यविरुद्धम् ॥ २८ ॥

भाष्यका अनुवाद

पर समस्तका अवमर्श करनेवाली बुद्धिमें वैसे ही भासते हुए भिन्न-भिन्न अर्थोंका ठीक-ठीक उसी प्रकार ज्ञान कराते हैं, वर्णवादीकी इस कल्पनामें बड़ा लाघव है। स्फोटवादीके मतमें तो दृष्ट हानि और अदृष्ट कल्पना होगी। क्रमसे गृहीत ये वर्ण स्फोटकी अभिव्यक्ति करते हैं, और स्फोट अर्थको व्यक्त करता है, इस कल्पनामें बड़ा गौरव है। यदि प्रत्येक उच्चारणमें वर्ण अन्य-अन्य होते हैं, ऐसा स्वीकार करें, तो भी प्रत्यभिज्ञाके आधार पर वर्णगत जाति अवश्य माननी पड़ेगी, इससे वर्णोंमें अर्थप्रतिपादन करनेकी जो प्रक्रिया बनाई गई है, वही वर्णसामान्यमें लेनी पड़ेगी। इससे यह सिद्ध हुआ कि नित्य शब्दोंसे देवता आदि व्यक्तियोंकी उत्पत्ति होती है, अतः कोई विरोध नहीं है ॥२८॥

रत्नप्रभा

वादम् उपसंहरति—वर्णेति। दृष्टम्—वर्णानाम् अर्थबोधकत्वम्, अदृष्टः—स्फोटः। सम्प्रति वर्णानाम् अस्थिरत्वम् अङ्गीकृत्य प्रौढिवादेन स्फोटं विघटयति—अथापीति। स्थिराणि गत्वादिसामान्यानि क्रमविशेषवन्ति गृहीतसङ्गतिकानि अर्थबोध-कानीति क्लृप्तेषु सामान्येषु प्रक्रिया सञ्चारयितव्या न त्वक्लृप्तः स्फोटः कल्पनीय इत्यर्थः। वर्णानां स्थायित्ववाचकत्वयोः सिद्धौ फलितमाह—ततश्चेति ॥२८ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

कराते हैं, ऐसा अर्थ है। वर्ण नित्य हैं इस सिद्धान्तका उपसंहार करते हैं—"वर्ण" इत्यादिसे। दृष्ट—वर्णोंका अर्थबोधकत्व, अदृष्ट—स्फोट। प्रथम वर्णोंकी नित्यता स्वीकार करके स्फोटका निराकरण किया गया है, अब वर्णोंका अनित्यत्व स्वीकार करके तर्कसे स्फोटका निराकरण करते हैं—"अथापि" इत्यादिसे। गत्व आदि जातियाँ नित्य हैं, क्रमविशेषसे प्रयुक्त उनमें संगतिका ग्रहण होनेपर वे अर्थबोध कराती हैं, इसलिए क्लृप्त—प्रसिद्ध सामान्यमें ही उक्त प्रक्रियाका संचार करना चाहिए, असिद्ध स्फोटकी कल्पना नहीं करनी चाहिए, ऐसा अर्थ है। वर्णकी नित्यता और वाचकताके सिद्ध होनेपर फलित कहते हैं—"ततश्च" इत्यादिसे ॥ २८ ॥

अत एव च नित्यत्वम् ॥ २९ ॥

पदच्छेद—अतः, एव, च, नित्यत्वम् ।

पदार्थोक्ति—अत एव च—देवादेर्जगतो वेदशब्दप्रभवत्वादेव, नित्यत्वम्—अजन्यत्वम् [वेदस्य प्रत्येतव्यम्] ।

भाषार्थ—देवता आदि सब जगत् वेदशब्दोंसे उत्पन्न होता है, इसीसे वेद नित्य है, ऐसा समझना चाहिए ।

भाष्य

कर्तुरस्मरणादिभिः स्थिते वेदस्य नित्यत्वे देवादिव्यक्तिप्रभवाभ्युपगमेन तस्य विरोधमाशङ्क्य 'अतः प्रभवात्' इति परिहृत्येदानीं तदेव वेदनित्यत्वं स्थितं द्रढयति—अत एव च नित्यत्वमिति । अत एव नियताकृतेर्देवादेर्जगतो वेदशब्दप्रभवत्वाद् वेदशब्दनित्यत्वमपि प्रत्येतव्यम् ।

भाष्यका अनुवाद

कर्ताका स्मरण आदि न होनेसे वेदकी नित्यता सिद्ध होनेपर देवता आदि व्यक्तियोंकी उत्पत्ति माननेसे उक्त वेदकी नित्यता नहीं बन सकेगी, इस आशङ्काका 'अतः प्रभवात्' से परिहार करके अब पूर्वसिद्ध उसी वेदनित्यताको दृढ़ करते हैं—'अत एव च नित्यत्वम्' से । इसीसे—नियत आकृतिवाले देव आदि जगत्की वेदशब्दसे उत्पत्ति होनेके कारण वेदशब्दमें नित्यता समझनी

रत्नप्रभा

पूर्वतन्त्रवृत्तानुवादपूर्वकं सूत्रं व्याचष्टे—कर्तुरित्यादिना । पूर्वतन्त्रसिद्धमेव वेदस्य नित्यत्वम्, देवादिव्यक्तिसृष्टौ तद्वाचकशब्दस्याऽपि सृष्टेरसिद्धमित्याशङ्क्य नित्याकृतिवाचकात् शब्दाद् व्यक्तिजन्मोक्त्या सांकेतिकत्वं निरस्य वेदः अवान्तरप्रलयावस्थायी, जगद्धेतुत्वात्, ईश्वरवदित्यनुमानेन द्रढयति इत्यर्थः । यज्ञेन—

रत्नप्रभाका अनुवाद

पूर्वमीमांसामें कथित विषयका अनुवाद करते हुए सूत्रका व्याख्यान करते हैं—"कर्तुः" इत्यादिसे । आशय यह कि पूर्व मीमांसामें वेदका नित्यत्व सिद्ध किया गया है, किन्तु देवता आदि व्यक्तियोंकी सृष्टि होनेपर उनके वाचक शब्दोंकी भी सृष्टि माननी पड़ेगी, अतः उक्त वेदका नित्यत्व असिद्ध हो जायगा, ऐसी शंका कर नित्य जातिके वाचक शब्दसे व्यक्तिकी उत्पत्ति कही गई है, अतः वैदिकशब्द सांकेतिक नहीं है, इस प्रकार उस शंकाका निराकरण करके 'वेद अवान्तर प्रलयमें रहता है, जगत्का कारण होनेसे, ईश्वरके समान' इस अनुमानसे वेदके नित्यत्वको दृढ़ करते हैं । यज्ञ अर्थात् पूर्वपुण्यसे,

भाष्य

तथा च मन्त्रवर्णः—'यज्ञेन वाचः पदवीयमायन्तामन्वविन्दन्नृषिषु प्रविष्टाम्' (ऋ० सं० १०।७१।३) इति स्थितामेव वाचमनुविन्नां दर्शयति। वेदव्यासश्चैवमेव स्मरति—

'युगान्तेऽन्तर्हितान् वेदान् सेतिहासान् महर्षयः।
लेभिरे तपसा पूर्वमनुज्ञाताः स्वयंभुवा॥' इति॥ २९॥

भाष्यका अनुवाद

चाहिए[१]। उसी प्रकार 'यज्ञेन वाचः पदवीय०' (याज्ञिकोंने पहले यज्ञद्वारा वेदको ग्रहण करनेकी योग्यता प्राप्त की, पश्चात् ऋषियोंमें विद्यमान उस वेदरूप वाणीको पाया) यह मंत्र भी पूर्वसिद्ध वेदरूप वाणीकी प्राप्ति दिखलाता है। और श्री वेदव्यास भी ऐसा ही कहते हैं—'युगान्तेऽन्तर्हितान् वेदान्०' (प्राचीन कालमें महर्षियोंने ब्रह्माकी अनुज्ञा पाकर युगके अन्तमें गुप्त हुए इतिहाससहित वेदोंको तपसे प्राप्त किया)॥ २९॥

रत्नप्रभा

पूर्वसुकृतेन, वाचः—वेदस्य, लाभयोग्यतां प्राप्ताः सन्तो याज्ञिकाः ताम् ऋषिषु स्थितां लब्धवन्त इति मन्त्रार्थः। अनुविन्नाम्—उपलब्धाम्। पूर्वम्—अवान्तर-कल्पादौ॥ २९॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

वाचः—वेदका, ग्रहणयोग्यताको प्राप्त हुए याज्ञिकोंने ऋषियोंमें विद्यमान उस वाणीको प्राप्त किया, ऐसा श्रुतिका अर्थ है। अनुविन्न—उपलब्ध। पूर्वमें—अवान्तर कल्पके आदिमें॥ २९॥

(१) 'अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितम्' इत्यादि श्रुतिके पर्यालोचनसे आकाश आदिके समान वेदको परमेश्वरसृष्ट माननेपर भी वेद-नित्यत्वमें कोई विरोध नहीं होता। जैसे अध्यापक, अध्येता इत्यादि व्यवहारकालमें वेदकी स्मृतिके जनकसंस्कारवाले पुरुष रहते हैं, इसी प्रकार प्रलयकालमें भी उत्तरकल्पमें वेदका स्मरण होनेके लिए तदनुकूल संस्कारवाले पुरुषकी सत्ता माननेसे वेदनित्यत्व सिद्ध होता है। सृष्टिके आरम्भमें वेदवाक्यके स्मरणके विना पूर्वकल्पीय पदार्थोंके अनुसन्धानसे होनेवाली वर्तमान कल्पकी सृष्टि हो ही नहीं सकती, अतः पूर्वकल्पमें अनुभूत वेदका स्मरण अवश्य मानना चाहिए। वह स्मरण प्रलयकालमें पुरुषगत सूक्ष्म संस्कार माननेसे ही उपपन्न होता है, अन्यथा नहीं। इससे यह सिद्ध हुआ कि प्रलयकालमें भी वेदस्मृत्यनुकूल संस्कारवाले पुरुषके होनेके कारण वेद नित्य ही है। इससे किसी वादीका यह कथन—'कर्ताका अस्मरण असिद्ध है, क्योंकि "मन्त्रकृतो वृणीते विश्वामित्रस्य सूक्तं भवति" इत्यादि वाक्योंसे संहिता आदिके कर्ता वेदप्रतिपादित हैं'—भी निरस्त हो गया। 'मंत्रकृतो०' इत्यादि वाक्योंका—कल्पके आदिमें उत्पन्न उन-उन ऋषियोंके पुण्यविशेषसे जन्मान्तरमें अधीत वेदका स्वतः ही स्मरण होता है—इस अभिप्रायसे व्याख्यान करना चाहिए।

समाननामरूपत्वाच्चावृत्तावप्यविरोधो दर्शनात् स्मृतेश्च ॥३०॥

पदच्छेद—समाननामरूपत्वात्, च, आवृत्तौ, अपि, अविरोधः, दर्शनात्, स्मृतेः, च।

पदार्थोक्ति—आवृत्तावपि—सृष्टिप्रलययोरावृत्तावपि, समाननामरूपत्वाच्च—उत्तरकल्पप्रपञ्चस्य पूर्वकल्पसमाननामरूपत्वादेव, अविरोधः—शब्दार्थसम्बन्धानित्यत्वरूपविरोधो नास्ति, [प्रपञ्चस्य समाननामरूपत्वं च] दर्शनात्—'धाता यथापूर्वमकल्पयत्' इत्यादिश्रुतेः, स्मृतेश्च—'यथर्तुष्वृतुलिङ्गानि नानारूपाणि पर्यये। दृश्यन्ते तानि तान्येव तथा भावा युगादिषु' इत्यादिस्मृतेश्च [अवगम्यते]।

भाषार्थ—सृष्टि-प्रलयकी प्रवाहपरम्पराके चलते रहनेपर भी उत्तर कल्पके समान ही नाम, रूपके होनेके कारण शब्द और अर्थके संबन्धका अनित्यतारूप विरोध नहीं हो सकता है। सृष्टि समान नाम-रूपवाली है, यह 'धाता यथा०' (जैसे पूर्वकल्पमें सूर्य, चन्द्रमा आदि जगत् था, उसी प्रकार उत्तर कल्पमें भी परमेश्वरने सृष्टि की) इत्यादि श्रुतिसे और 'यथर्तुष्वृतु०' (जैसे उन-उन ऋतुओंमें प्रतीयमान अनेक तरहके नवपल्लवोद्गम आदि ऋतुलिङ्ग ही ऋतुओंकी पुनरावृत्तिमें देखे जाते हैं, उसी प्रकार पूर्वकल्पके समान पदार्थ ही उत्तरोत्तर सृष्टिमें देखे जाते हैं) इत्यादि स्मृतिसे जाना जाता है।

भाष्य

अथापि स्यात्, यदि पश्वादिव्यक्तिवद् देवादिव्यक्तयोऽपि सन्तत्यैवोत्पद्येरन्निरुध्येरंश्च ततोऽभिधानाभिधेयाभिधातृव्यवहाराविच्छेदात् सम्ब-

भाष्यका अनुवाद

यह होता, यदि पशु आदि व्यक्तियोंके समान देवता आदि व्यक्तियोंके भी उद्भव और लय अविच्छिन्न होते, तो नाम, विषय और वक्ताके व्यवहारका विच्छेद न होनेके

रत्नप्रभा

ननु महाप्रलये जातेरपि असत्त्वात् शब्दार्थसम्बन्धानित्यत्वमित्याशङ्क्याऽऽह—**समानेति**। सूत्रनिरस्यां शङ्कामाह—**अथापीति**। व्यक्तिसन्तत्या

रत्नप्रभाका अनुवाद

परन्तु महाप्रलयमें[1] जातिके भी नष्ट हो जानेसे शब्द और अर्थका संबन्ध अनित्य हो जायगा, ऐसी आशंका करके कहते हैं—"समान" इत्यादिसे। सूत्रसे हटाई जानेवाली शंकाको

(१) प्रजापति आदि सबका जिसमें देहवियोग होता है और केवल प्रकृति अवशिष्ट रहती है, ऐसा काल।

भाष्य

न्धनित्यत्वेन विरोधः शब्दे परिह्रियेत। यदा तु खलु सकलं त्रैलोक्यं परित्यक्तनामरूपं निर्लेपं प्रलीयते, प्रभवति चाऽभिनवमिति श्रुतिस्मृतिवादा वदन्ति तदा कथमविरोध इति।

भाष्यका अनुवाद

कारण संबन्ध नित्य रहनेसे शब्दमें विरोधका परिहार हो जाता, परन्तु जब श्रुतियाँ और स्मृतियाँ कहती हैं कि सकल त्रैलोक्य नाम और रूपका परित्याग करके समूल नष्ट हो जाता है और फिर नया उत्पन्न होता है, तब अविरोध किस प्रकार है ? ऐसी शङ्का होती है।

रत्नप्रभा

जातीनाम् अवान्तरप्रलये सत्त्वात् संबन्धस्तिष्ठति, व्यवहाराविच्छेदाद् ज्ञायते चेति वेदस्य अनपेक्षत्वेन प्रामाण्ये न कश्चिद् विरोधः स्यात्। निर्लेपलये तु सम्बन्धनाशात् पुनः सृष्टौ केनचित् पुंसा संकेतः कर्तव्य इति पुरुषबुद्धिसापेक्षत्वेन वेदस्य अप्रामाण्यम्, अध्यापकस्य आश्रयस्य नाशाद् आश्रितस्य अनित्यत्वं च प्राप्तमित्यर्थः। महाप्रलयेऽपि निर्लेपलयोऽसिद्धः, सत्कार्यवादात्। तथा च संस्कारात्मना शब्दार्थतत्सम्बन्धानां सतामेव पुनः सृष्टौ अभिव्यक्तेः न अनित्यत्वम्।

रत्नप्रभाका अनुवाद

कहते हैं—"अथापि" इत्यादिसे। अवान्तरप्रलयमें[1] व्यक्तियोंके सतत—अविच्छिन्न होनेसे जाति भी रहती है, इसलिए उनका संबन्ध भी रहता है और व्यवहारका विच्छेद न होनेसे सम्बन्धका ज्ञान भी होता है। इसलिए वेदकी अन्यानपेक्ष प्रमाणतामें कोई विरोध नहीं होता। परन्तु महाप्रलयमें उस संबन्धका विच्छेद हो जानेसे पुनः सृष्टि होनेपर संकेत करनेवाले किसी पुरुषकी अपेक्षा होती है, ऐसी कल्पनामें पुरुष-बुद्धिकी अपेक्षा रखनेके कारण वेद अप्रमाण हो जायँगे। अध्यापकरूप आश्रयका नाश होनेसे उस आश्रयमें रहनेवाले वेद भी अनित्य हो जायँगे ऐसा तात्पर्य है। महाप्रलयमें भी जगत्का समूल नाश नहीं हो सकता, क्योंकि सत्कार्यवाद माना गया है। इसलिए संस्काररूपसे शब्द, अर्थ और उनके सबन्ध रहते ही हैं, पुनः सृष्टिमें उन्हींकी अभिव्यक्ति होती है, अतः वेद अनित्य नहीं है।

---

(१) प्रजापतिका सुषुप्तिकाल।

भाष्य

तत्रेदमभिधीयते—समाननामरूपत्वादिति। तदापि संसारस्याऽनादित्वं तावदभ्युपगन्तव्यम्। प्रतिपादयिष्यति चाऽऽचार्यः संसारस्याऽनादित्वम्—'उपपद्यते चाप्युपलभ्यते च' (ब्र० २।१।३६) इति। अनादौ च संसारे यथा स्वापप्रबोधयोः प्रलयप्रभवश्रवणेऽपि पूर्वप्रबोधवदुत्तरप्रबोधेऽपि व्यवहारान्न कश्चिद् विरोधः। एवं कल्पान्तरप्रभवप्रलययोरपीति द्रष्टव्यम्। स्वापप्रबोधयोश्च प्रलयप्रभवौ श्रूयेते—'यदा सुप्तः

भाष्यका अनुवाद

उसपर कहते हैं—'समाननामरूपत्वाद्' इत्यादि। तब भी संसारको अनादि मानना ही चाहिए। और आचार्य 'उपपद्यते०' इस सूत्रमें संसारकी अनादिताका प्रतिपादन करेंगे। और संसारको अनादि माननेपर सुषुप्ति और जाग्रदवस्थामें प्रलय और उत्पत्तिके होनेपर भी जैसे पूर्व जाग्रद्वस्थाके समान ही उत्तर जाग्रदवस्थामें व्यवहार होनेमें कोई विरोध नहीं होता है, उसी प्रकार पूर्व कल्पके लय और उत्तर कल्पकी उत्पत्तिमें भी वेद-नित्यत्वमें कोई विरोध नहीं है, ऐसा समझना चाहिए। तथा सुषुप्ति और जाग्रत्में संसारके प्रलय और उद्भव श्रुतिमें कहे गये हैं—'यदा सुप्तः न कंचन स्वप्नं०' (जब सुप्त पुरुष कुछ भी

रत्नप्रभा

अभिव्यक्तानां पूर्वकल्पीयनामरूपसमानत्वात् न संकेतः केनचित् कार्यः, विषमसृष्टौ हि संकेतापेक्षा न तुल्यसृष्टौ इति परिहरति—तत्रेदमित्यादिना। ननु आद्यसृष्टौ संकेतः केनचित् कार्य इत्यत आह—तदापीति। महासर्गप्रलयप्रवृत्तौ अपि इत्यर्थः। ननु अस्तु अनादिसंसारे सम्बन्धस्य अनादित्वम्, तथापि महाप्रलयव्यवधानादस्मरणे कथं वेदार्थव्यवहारः? तत्राऽऽह—अनादौ चेति। न कश्चिद् विरोधः शब्दार्थसम्बन्धस्मरणादेरिति शेषः। स्वापप्रबोधयोर्लयसर्गसिद्धि-

रत्नप्रभाका अनुवाद

अभिव्यक्त पदार्थ पूर्वकल्पस्थित नाम-रूपके समान नाम-रूपवाले ही हैं, अतः किसी मनुष्यके संकेतकी आवश्यकता नहीं है। यद्यपि विषम सृष्टिमें संकेतकी आवश्यकता होती है, तो भी समान सृष्टिमें उसकी कोई आवश्यकता नहीं है, इस प्रकार परिहार करते हैं—"तत्रेदम्" इत्यादिसे। प्रथम सृष्टिमें तो किसी पुरुषके संकेतकी अपेक्षा है, इसपर कहते हैं—"तदापि" इत्यादि। 'तदापि'—महाप्रलय और महासृष्टिका अंगीकार करने पर भी। यदि कोई कहे कि संसार अनादि रहे तथा शब्द और अर्थका संबन्ध भी अनादि रहे, तो भी महाप्रलयसे व्यवधान होनेके कारण वेदका स्मरण न होनेसे, तो वेदार्थ व्यवहार किस प्रकार होगा? इसपर कहते हैं—"अनादौ च" इत्यादि। 'न कश्चिद्विरोधः' के बाद 'शब्दार्थसम्बन्धस्मरणादेः' (शब्द, अर्थ और उनके संबन्धोंके स्मरण आदिका) इतना शेष समझना चाहिए। सुषुप्ति और

भाष्य

स्वप्नं न कश्चन पश्यत्यथास्मिन्प्राण एवैकधा भवति तदैनं वाक्सर्वैर्नामभिः सहाप्येति, चक्षुः सर्वैः रूपैः सहाप्येति, श्रोत्रं सर्वैः शब्दैः सहाप्येति, मनः सर्वैर्ध्यानैः सहाप्येति, स यदा प्रतिबुध्यते यथाऽग्नेर्ज्वलतः सर्वा दिशो विस्फुलिङ्गा विप्रतिष्ठेरन्नेवमेवैतस्मादात्मनः सर्वे प्राणा यथायतनं विप्रतिष्ठन्ते प्राणेभ्यो देवा देवेभ्यो लोकाः (कौ० ३।३) इति। स्यादेतत्। स्वापे पुरुषान्तरव्यवहाराविच्छेदात् स्वयं च सुषुप्तप्रबुद्धस्य पूर्वप्रबोधव्यवहारानुसन्धानसम्भवादविरुद्धम्। महाप्रलये तु सर्वव्यवहारो-

भाष्यका अनुवाद

स्वप्न नहीं देखता, तब वह उस प्राणमें ही एक हो जाता है, अर्थात् परमात्मासे अभिन्न हो जाता है, तब वाणी सब नामोंके साथ उसमें लीन हो जाती है, नेत्र सब रूपोंके साथ उसमें लीन हो जाता है, कान सब शब्दोंके साथ उसमें लीन हो जाता है, और मन सब विचारोंके साथ उसमें लीन हो जाता है, जब वह जागता है, तब जलती हुई अग्निसे जैसे चिनगारियाँ सब दिशाओंमें जाती हैं, इसी प्रकार इस आत्मासे ये सब प्राण निकलकर अपने-अपने स्थानमें प्रकट हो जाते हैं, प्राणोंके बाद देवता और देवताओंके बाद लोक प्रकट होते हैं।) परन्तु सुषुप्तिमें अन्य पुरुषोंका व्यवहार विच्छिन्न नहीं होता और स्वयं सुषुप्तिसे जागनेपर पूर्वकी जाग्रदवस्थाओंके व्यवहारोंको स्मरण करता है, इसलिए विरोध

रत्नप्रभा

माशङ्क्य श्रुतिमाह—स्वापेति। अथ तदा—सुषुप्तौ प्राणे—परमात्मनि जीव एकीभवति। एनं प्राणं स जीवस्तदैतीति शेषः। एतस्मात्—प्राणात्मनः, आयतनम्—गोलकम्। आनन्तर्ये पञ्चमी प्राणेभ्य इत्यादौ द्रष्टव्या। स्वप्नवत् कल्पितस्य अज्ञातसत्त्वाभावाद् दर्शनं सृष्टिः अदर्शनं लयः इति दृष्टिसृष्टिपक्षः श्रुत्यभिप्रेत इति भावः। दृष्टान्तवैषम्यम् आशङ्क्य परिहरति—स्यादित्यादिना।

रत्नप्रभाका अनुवाद

जाग्रदवस्थामें प्रलय और सृष्टि नहीं हो सकती, ऐसी शंका करके इस विषयमें प्रमाणभूत श्रुति उद्धृत करते हैं—"स्वाप" इत्यादिसे। 'अथ'—तदा—सुषुप्तिमें। प्राणमें—परमात्मामें जीव एक हो जाता है। 'इस आत्मासे'—प्राणात्मासे। 'आयतन'—गोलक अर्थात् स्थान। 'प्राणेभ्यः' और 'देवेभ्यः' में पंचमी आनन्तर्यवाचक है। स्वप्नके समान कल्पितकी भी अज्ञात सत्त्वके अभावसे दर्शन सृष्टि है और अदर्शन लय है, यही दृष्टिसृष्टिपक्ष श्रुतिको अभिप्रेत है, यह तात्पर्य है। दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिकमें विषमताकी शंका कर परिहार करते हैं—"स्याद्"

भाष्य

च्छेदाद् जन्मान्तरव्यवहारवच्च कल्पान्तरव्यवहारस्याऽनुसन्धातुमशक्यत्वाद् वैषम्यमिति। नैष दोषः, सत्यपि सर्वव्यवहारोच्छेदिनि महाप्रलये परमेश्वरानुग्रहादीश्वराणां हिरण्यगर्भादीनां कल्पान्तरव्यवहारानुसन्धानोपपत्तेः। यद्यपि प्राकृताः प्राणिनो न जन्मान्तरव्यवहारमनुसन्दधाना दृश्यन्त इति, तथापि न तत् प्राकृतवदीश्वराणां भवितव्यम्। यथा हि प्राणित्वाविशेषेऽपि मनुष्यादिस्तम्बपर्यन्तेषु ज्ञानैश्वर्यादिप्रतिबन्धः परेण

भाष्यका अनुवाद

नहीं है। महाप्रलयमें तो सब व्यवहारोंका उच्छेद हो जाता है, इसलिए अन्य जन्मके व्यवहारोंके समान अन्य कल्पके व्यवहारोंका स्मरण नहीं हो सकता है, इसलिए (दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिकमें) विषमता है, ऐसी यदि शङ्का हो, तो यह दोष नहीं है। जिसमें सब व्यवहारोंका उच्छेद हो जाता है, ऐसा महाप्रलय यदि मान भी लिया जाय, तो भी परमेश्वरके अनुग्रहसे हिरण्यगर्भ आदि ईश्वरोंको अन्य कल्पके व्यवहारका स्मरण हो सकता है। यद्यपि प्राकृत प्राणी अन्य जन्मके व्यवहारोंका स्मरण करते नहीं दिखाई देते, तो भी ईश्वरोंको भी प्राकृतोंके समान ही नहीं समझ लेना चाहिए। सभीके प्राणी होनेपर भी जैसे मनुष्य आदिसे लेकर स्तम्बपर्यन्त प्राणियोंमें ज्ञान, ऐश्वर्य आदिका प्रतिबन्ध

रत्नप्रभा

अविरुद्धम्, अनुसन्धानादिकमिति शेषः। हिरण्यगर्भादयः, पूर्वकल्पानुसन्धानशून्याः, संसारित्वाद्, अस्मदादिवत् इत्याशङ्क्याऽऽह—यद्यपीति। इति यद्यपि तथापि न प्राकृतवदिति योजना। ज्ञानादेः निकर्षवत् उत्कर्षोऽपि अङ्गीकार्यः, बाधकाभावादिति न्यायानुगृहीतश्रुत्यादिभिः सामान्यतो दृष्टानुमानं बाध्यमित्याह—

रत्नप्रभाका अनुवाद

इत्यादिसे। "अविरुद्धम्' के बाद 'अनुसन्धानादिकम्' (स्मरण आदि) इतना शेष समझना चाहिए हिरण्यगर्भ आदि पूर्वकल्पका स्मरण नहीं कर सकते, क्योंकि ये हमारे समान संसारी हैं, ऐसी आशंका करके कहते हैं—"यद्यपि" इत्यादिसे। 'इति यद्यपि तथापि न प्राकृतवत्' ऐसी योजना (अन्वय) है। कोई बाधक न होनेके कारण ज्ञान आदिके अपकर्षके समान उत्कर्ष भी मानना चाहिए, इस न्यायसे अनुगृहीत श्रुति आदिसे सामान्यतो दृष्ट अनुमानका बाध होता है, ऐसा कहते हैं—"यथा हि" इत्यादिसे। यदि कोई कहे कि पूर्वकल्पके हिरण्यगर्भ आदि ईश्वरोंके मुक्त

(१) प्रतिरोध

भाष्य

परेण भूयान् भवन् दृश्यते, तथा मनुष्यादिष्वेव हिरण्यगर्भपर्यन्तेषु ज्ञानैश्वर्याद्यभिव्यक्तिरपि परेण परेण भूयसी भवतीत्येतच्छ्रुतिस्मृतिवादेष्वसकृदेवाऽनुकल्पादौ प्रादुर्भवतां पारमैश्वर्यं श्रूयमाणं न शक्यं नास्तीति वदितुम्। ततश्चाऽतीतकल्पानुष्ठितप्रकृष्टज्ञानकर्मणामीश्वराणां हिरण्यगर्भादीनां वर्तमानकल्पादौ प्रादुर्भवतां परमेश्वरानुगृहीतानां सुप्तप्रतिबुद्धवत् कल्पान्तरव्यवहारानुसन्धानोपपत्तिः। तथा च श्रुतिः—

'यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै।
तं ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये ॥'

भाष्यका अनुवाद

उत्तरोत्तर बढ़ता हुआ दिखाई देता है, वैसे ही मनुष्य आदिसे लेकर हिरण्यगर्भ पर्यन्तमें ज्ञान, ऐश्वर्य आदिकी अभिव्यक्ति उत्तरोत्तर अधिक होती है, ऐसा श्रुति और स्मृतिके वचनोंसे बारंवार सुनाई देता है, उसका अपलाप नहीं कर सकते। इसलिए विगत कल्पमें जिन्होंने सर्वोत्तम ज्ञान और कर्मोंका अनुष्ठान किया है और वर्तमान कल्पके आरंभमें जो प्रादुर्भूत हुए हैं, उन हिरण्यगर्भ आदि ईश्वरोंको परमेश्वरके अनुग्रहसे सुषुप्तिसे जागे हुए पुरुषके समान अन्य कल्पके व्यवहारोंका स्मरण होना युक्त है, क्योंकि 'यो ब्रह्माणं विदधाति०' (पूर्वमें जो ब्रह्माको उत्पन्न करता है और जो उसकी बुद्धिमें वेदोंका आविर्भाव कराता है, मुमुक्षु मैं स्वात्मरूपसे बुद्धिमें प्रकाशमान उस देवकी शरणमें

रत्नप्रभा

यथा हीत्यादिना। ननु तथापि पूर्वकल्पेश्वराणां मुक्तत्वाद् अस्मिन् कल्पे कोऽनुसन्धाता इत्यत आह—ततश्चेति। ज्ञानाद्युत्कर्षादित्यर्थः। मुक्तेभ्योऽन्ये अनुसन्धातार इति भावः। परमेश्वरानुगृहीतानां ज्ञानातिशये पूर्वोक्तश्रुतिस्मृतिवादानाह—तथा चेति। पूर्वम्—कल्पादौ, तस्मै—ब्रह्मणे, प्रहिणोति—गमयति तस्य बुद्धौ वेदानाविर्भावयति यस्तं देवं स्वात्माकारेण महावाक्योत्थबुद्धौ प्रकाशमानं

रत्नप्रभाका अनुवाद

होनेसे इस कल्पमें स्मरण कौन करता है, इसपर कहते हैं—"ततश्च" इत्यादि। अर्थात् ज्ञान आदिके उत्कर्षसे। मुक्तोंसे अन्य स्मरण करते हैं, ऐसा अर्थ है। परमेश्वरके कृपापात्रोंको उत्कृष्ट ज्ञान होता है, इस विषयमें पूर्वोक्त श्रुति और स्मृतिके वचन उद्धृत करते हैं—"तथा च" इत्यादिसे। जो कल्पके आरम्भमें ब्रह्माको उत्पन्न करता है और जो उसकी बुद्धिमें वेदोंका आविर्भाव[1] कराता है, 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्योंसे उत्पन्न हुई बुद्धिमें स्वात्मरूपसे प्रकाशमान

(१) आविर्भाव।

भाष्य

(श्वे० ६ । १८) इति । स्मरन्ति च शौनकादयः 'मधुच्छन्दः-प्रभृतिभिर्ऋषिभिर्दाशतय्यो दृष्टाः' इति । प्रतिवेदं चैवमेव काण्डर्ष्यादयः स्मर्यन्ते । श्रुतिरपि ऋषिज्ञानपूर्वकमेव मन्त्रेणाऽनुष्ठानं दर्शयति—'यो ह वा अविदितार्षेयच्छन्दोदैवतब्राह्मणेन मन्त्रेण याजयति वाऽध्यापयति वा स्थाणुं वर्च्छति गर्तं वा प्रतिपद्यते' (सर्वानु०परि०) इत्युपक्रम्य

भाष्यका अनुवाद

जाता हूँ) ऐसी श्रुति है। और 'मधुच्छन्दःप्रभृतिभि०' (मधुच्छन्द आदि ऋषियोंने दस मण्डलवाले ऋग्वेदकी ऋचाएँ देखीं) इस प्रकार शौनक आदि भी कहते हैं। प्रत्येक वेदमें भी इसी प्रकार काण्ड, ऋषि आदिका स्मरण है। 'यो ह वा अविदितार्षेय०' (जिसके ऋषि, छन्द, देवता और विनियोगका ज्ञान नहीं है ऐसे मंत्रसे जो यज्ञ कराता है या अध्यापन करता है, वह स्थावर

रत्नप्रभा

शरणम्—परमम् अभयस्थानं निःश्रेयसरूपमहं प्रपद्ये इत्यर्थः। न केवलम् एकस्यैव ज्ञानातिशयः किन्तु बहूनां शाखाद्रष्टॄणामिति विश्वासार्थमाह—**स्मरन्तीति**। ऋग्वेदो दशमण्डलावयववान् तत्र भवा ऋचः दाशतय्यः। वेदान्तरेऽपि काण्डसूक्तमन्त्राणां द्रष्टारो बौधायनादिभिः स्मृता इत्याह—**प्रतीति**। किञ्च, मन्त्राणाम् ऋष्यादिज्ञानावश्यकत्वज्ञापिका श्रुतिः मन्त्रदृगृषीणां ज्ञानातिशयं दर्शयतीत्याह—**श्रुतिरपीति**। आर्षेयः—ऋषियोगः, छन्दः—गायत्र्यादि, दैवतम्—अग्न्यादि, ब्राह्मणम्—विनियोगः, एतानि अविदितानि यस्मिन् मन्त्रे तेन इत्यर्थः। स्थाणुम्—स्थावरम्, गर्तम्—नरकम्। तथा च ज्ञानाधिकैः कल्पान्तरितं वेदं

रत्नप्रभाका अनुवाद

परम अभयस्थान मोक्षरूप उस देवकी शरणमें मैं जाता हूँ, यह श्रुतिका अर्थ है। केवल एकको ही उत्कृष्ट ज्ञान नहीं होता, किन्तु बहुतसे मंत्रद्रष्टा ऋषियोंको भी होता है, ऐसा विश्वासके लिए कहते हैं—"स्मरन्ति" इत्यादिसे। दस मण्डलवाले ऋग्वेदकी ऋचाएँ दाशतयी कही जाती हैं। ऋग्वेदसे अन्य वेदोंके भी काण्ड, सूक्त, मंत्र आदिके दर्शन करनेवालोंका बौधायन आदिने स्मृतिमें वर्णन किया है, ऐसा कहते हैं—"प्रति" इत्यादिसे। मंत्रोंके ऋषि आदिका ज्ञान आवश्यक है, ऐसा दिखलाती हुई श्रुति मंत्रके दर्शन करनेवाले ऋषियोंका अतिशय ज्ञान दिखलाती है, ऐसा कहते हैं—"श्रुतिरपि" इत्यादिसे। आर्षेय—ऋषियोग अर्थात् ऋषिसंबन्ध। छन्द—गायत्री आदि। दैवत—अग्नि आदि। ब्राह्मण—मंत्रोंका विनियोग। ऋषियोग आदि जिस मंत्रके नहीं जाने गये, उस मंत्रसे [जो याग कराता है, वह] स्थाणु—स्थावर

भाष्य

'तस्मादेतानि मन्त्रे मन्त्रे विद्यात्' इति। प्राणिनां च सुखप्राप्तये धर्मो विधीयते, दुःखपरिहाराय चाऽधर्मः प्रतिषिध्यते। दृष्टानुश्रविकसुखदुःखविषयौ च रागद्वेषौ भवतः, न विलक्षणविषयौ—इत्यतो धर्माधर्मफलभूतोत्तरोत्तरा सृष्टिर्निष्पद्यमाना पूर्वसृष्टिसदृश्येव निष्पद्यते। स्मृतिश्च भवति—

'तेषां ये यानि कर्माणि प्राक्सृष्ट्यां प्रतिपेदिरे।
तान्येव ते प्रपद्यन्ते सृज्यमानाः पुनः पुनः॥'
(म० भा० शा० १२। ८५)

भाष्यका अनुवाद

हो जाता है अथवा नरकमें जाता है) ऐसा उपक्रम करके 'तस्मादेतानि०' (इसलिए प्रत्येक मंत्रमें ऋषि आदिको जानना चाहिए) इस प्रकार श्रुति भी ऋषिज्ञानपूर्वक ही मंत्रसे अनुष्ठान दिखलाती है। और प्राणियोंको सुखकी प्राप्ति हो, इसलिए धर्मका विधान है और दुःखके परिहारके लिए अधर्मका प्रतिषेध है। ऐहिक और पारलौकिक सुख-दुःखमें राग एवं द्वेष होते हैं, अन्य विषयमें नहीं होते। इसलिए धर्म और अधर्मकी फलभूत जो उत्तरोत्तर सृष्टि उत्पन्न होती जाती है, वह पूर्व सृष्टिके समान ही होती है। 'तेषां ये यानि०'

रत्नप्रभा

स्मृत्वा व्यवहारस्य प्रवर्तितत्वाद् वेदस्य अनादित्वम् अनपेक्षत्वं च अविरुद्धमिति भावः। अधुना समाननामरूपत्वं प्रपञ्चयति—**प्राणिनां चेति**। ततः किं तत्राऽऽह—**दृष्टेति**। ऐहिकामुष्मिकविषयसुखरागकृतधर्मस्य फलं पश्वादिकं दृष्टपश्वादिसदृशमिति युक्तम्, विसदृशे कामाभावेन हेत्वभावात्। तथा दृष्टदुःखद्वेषकृताधर्मफलं दृष्टसदृशदुःखमेव, न सुखम्, कृतहान्यादिदोषापत्तेः इत्यर्थः।

रत्नप्रभाका अनुवाद

[हो जाता है, अथवा] गर्त—नरक [में पड़ता है], इसलिए उत्कृष्ट ज्ञानवाले हिरण्यगर्भ आदि ईश्वर अन्य कल्पमें अन्तर्हित वेदका भी स्मरण कर व्यवहार चालू करते हैं, इसलिए वेदका अनादित्व और अनपेक्षत्व अक्षत है, ऐसा तात्पर्य है। अब समान नामरूपताको विस्तारसे दिखलाते हैं—"प्राणिनां च" इत्यादिसे। इससे क्या हुआ, इसपर कहते हैं—"दृष्ट" इत्यादिसे। ऐहिक और आमुष्मिक विषयके सुखकी कामनासे किये हुए धर्मका फल जो पशु आदि है, वह दृष्ट पशु आदिकी तरह ही होता है, यह युक्त है, क्योंकि दृष्टके सदृश—जैसा देखते हैं, वैसा फल न हो, तो उसमें कामनाके न होनेसे हेतुका अभाव होगा। इसी प्रमाणसे दृष्ट दुःखके द्वेष द्वारा किये गये अधर्मका फल दृष्टतुल्य दुःख ही है, सुख नहीं है, क्योंकि ऐसा न माननेसे कृतहानि—किये हुए कर्मके फलकी हानि—आदि दोष उपस्थित

भाष्य

'हिंस्राहिंस्रे मृदुक्रूरे धर्माधर्मावृतानृते।
तद्भाविताः प्रपद्यन्ते तस्मात्तत्तस्य रोचते ॥' इति।
(म० भा० शा० २५-७)

प्रलीयमानमपि चेदं जगच्छक्त्यवशेषमेव प्रलीयते। शक्तिमूलमेव

भाष्यका अनुवाद

(प्राणियोंमेंसे जिन प्राणियोंने जो जो कर्म प्रथम सृष्टिमें किये उन्हीं कर्मोंको वे पुनः पुनः उत्पन्न होकर प्राप्त करते हैं) 'हिंस्राहिंस्रे०' (हिंसा-अहिंसा, मृदु-क्रूर, धर्म-अधर्म, सत्य-असत्य जिन कर्मोंसे वासित होते हैं, उत्पन्न होकर उन्हींको प्राप्त करते हैं और वे ही उनको रुचते हैं) ऐसी स्मृति भी है। जगत्‌का नाश होनेपर भी इसकी शक्ति शेष

रत्नप्रभा

तर्कितेऽर्थे मानमाह—स्मृतिश्चेति। उत्तरसृष्टिः, पूर्वसृष्टिसजातीया, कर्मफलत्वात्, पूर्वसृष्टिवत् इत्यनुमानं चशब्दार्थः। तेषाम्—प्राणिनां मध्ये, तान्येव—तज्जातीयान्येव। तानि दर्शयन् तत्प्राप्तौ हेतुमाह—हिंस्रेति। कर्माणि विहित-निषिद्धत्वाकारेण अपूर्वं क्रियात्वेन संस्कारं च जनयन्ति। तत्र अपूर्वात् फलं भुङ्क्ते, संस्कारभावितत्वात् पुनः तज्जातीयानि करोतीत्यर्थः। संस्कारे लिङ्गमाह—तस्मादिति। संस्कारवशादेव पुण्यं पापं वा रोचते। अतोऽभिरुचिलिङ्गात् पुण्यापुण्यसंस्कारोऽनुमेयः, स एव स्वभावः, प्रकृतिः, वासना इति च गीयते। एवं कर्मणा सृष्टिसादृश्यम् उक्त्वा स्वोपादाने लीनकार्यसंस्काररूपशक्तिबलादपि सादृश्यम् इत्याह—प्रलीयमानमिति। इतरथा निःसंस्कारप्रलये जगद्वैचित्र्यस्य

रत्नप्रभाका अनुवाद

होंगे। तर्कसिद्ध विषयमें प्रमाण कहते हैं—"स्मृतिश्च" इत्यादिसे। पश्चाद्भाविनी सृष्टि पूर्व सृष्टिके सदृश ही होती है, क्योंकि वह भी पूर्वसृष्टिके समान कर्मफल ही है, यह अनुमान 'स्मृतिश्च' के चकारका अर्थ है। 'तेषां'—उन प्राणियोंमेंसे। 'तान्येव'—तज्जातीय ही अर्थात् उनके सदृश ही। उनको दिखलाते हुए उनकी प्राप्तिके हेतु भी कहते हैं—"हिंस्र" इत्यादिसे। कर्म विहित और निषिद्धरूप होनेके कारण अपूर्वको और क्रियारूप होनेके कारण संस्कारको उत्पन्न करते हैं। उनमें अपूर्वसे फलका भोग करता है और संस्कारसे पुनः तज्जातीय कर्म करता है। पुरुषमें संस्कार है, इस विषयमें हेतु कहते हैं—"तस्माद्" इत्यादिसे। संस्कारके बलसे ही पुरुषको पुण्य या पाप रुचता है। इस कारणसे—अभिरुचिरूप हेतुसे पुण्य और पापके संस्कारोंका अनुमान होता है। वही स्वभाव, प्रकृति या वासना कहलाता है। इस प्रकार कर्मोंसे होनेवाली सृष्टि समान है, यह कहकर उपादानमें लीन कार्य-संस्काररूप शक्तिके बलसे भी सृष्टि समान है, ऐसा कहते हैं—"प्रलीयमानम्" इत्यादिसे। अन्यथा

भाष्य

च प्रभवति इतरथाऽऽकस्मिकत्वप्रसङ्गात् । नचाऽनेकाकाराः शक्तयः शक्याः कल्पयितुम् । ततश्च विच्छिद्य विच्छिद्याऽप्युद्भवतां भूरादिलोकप्रवाहाणाम्, देवतिर्यङ्मनुष्यलक्षणानां च प्राणिनिकायप्रवाहाणां वर्णाश्रमधर्मफलव्यवस्थानां चाऽनादौ संसारे नियतत्वमिन्द्रियविषयसम्बन्धनिय-

भाष्यका अनुवाद

रहती है। उसी शक्तिसे वह फिर उत्पन्न होता है। अन्यथा जगत्की सृष्टि निष्कारण हुई है ऐसा अनिष्टका प्रसङ्ग हो जायगा। शक्तियाँ तरह तरह की हैं, ऐसी कल्पना नहीं की जा सकती, इसलिए पुनः पुनः उत्पन्न होनेवाले भू आदि लोक, देव, पशु और मनुष्यरूप प्राणियोंका प्रवाह, वर्ण, आश्रम, धर्म और फलकी व्यवस्थाएँ भी अनादि संसारमें इन्द्रिय और विषयके सम्बन्धके समान नियत हैं, ऐसा

रत्नप्रभा

आकस्मिकत्वं स्यादित्यर्थः। ननु जगद्वैचित्र्यकारिण्यः अन्याः शक्तयः कल्प्यन्ताम्, तत्राऽऽह—न चेति। अविद्यायां लीनकार्यात्मकसंस्कारात् अन्याः शक्तयो न कल्प्याः, मानाभावाद् गौरवाच्च, स्वोपादाने लीनकार्यरूपा शक्तिस्तु "महान्न्यग्रोधस्तिष्ठति" "श्रद्धत्स्व सोम्य" [छा० ६।१२।१,२] इति श्रुतिसिद्धा, अतोऽविद्यातत्कार्याद् अन्याः शक्तयो न सन्ति, आत्माविद्यैव तच्छक्तिरिति सिद्धान्त इत्यर्थः। निमित्तेषु अपि उपादानस्थकार्यमेव अविद्याघटनया शक्तिरन्या वा इत्यनाग्रहः। उपादाने कार्यसंस्कारसिद्धेः फलमाह—ततश्चेति। यथा सुप्तोत्थितस्य पूर्वचक्षुर्जातीयमेव चक्षुर्जायते, तच्च रूपजातीयमेव गृह्णाति, न रसादिकम्, एवं भोग्यलोकाः भोगाश्रयाः प्राणिनिकाया भोगहेतुकर्माणि संस्कारबलात् पूर्वलोकादितुल्यानि

रत्नप्रभाका अनुवाद

अर्थात् संस्कारोंके भी नष्ट होनेपर जगत्में जो विचित्रता (कोई सुखी है कोई दुःखी है आदि) देखी जाती है वह आकस्मिक—कारणरहित हो जायगी। यदि कोई कहे कि जगत्की विचित्रता उत्पन्न करनेवाली अन्य शक्तियोंकी कल्पना करो, इसपर कहते हैं—"न च" इत्यादि। अविद्यामें लीन कार्यरूप संस्कारोंसे अन्य शक्तियोंकी कल्पना करना ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसा करनेमें कोई प्रमाण नहीं है और अनेक शक्तियोंकी कल्पना करनेमें गौरव भी है। अपने उपादानमें लीन कार्यरूप शक्ति तो 'महान् न्यग्रोधस्तिष्ठति' 'श्रद्धत्स्व सोम्य' इत्यादि श्रुतिसे सिद्ध है। इसलिए अविद्या और उसके कार्योंसे अन्य शक्तियाँ नहीं हैं, आत्माकी अविद्या ही वह शक्ति है, ऐसा सिद्धान्त है। उपादानमें कार्यसंस्कारके सिद्ध होनेपर फलित कहते हैं—"अतश्च" इत्यादिसे। आशय यह कि जैसे सुषुप्तिसे जागे हुए पुरुषके नेत्र पहलेके जैसे ही होते हैं और पूर्वरूपसदृश रूपका ही वे ग्रहण करते हैं, रस आदिका ग्रहण नहीं करते,

भाष्य

तत्त्ववत् प्रत्येतव्यम् । नहीन्द्रियविषयसम्बन्धादेर्व्यवहारस्य प्रतिसर्गमन्यथात्वं षष्ठेन्द्रियविषयकल्पं शक्यमुत्प्रेक्षितुम् । अतश्च सर्वकल्पानां तुल्यव्यवहारत्वात् कल्पान्तरव्यवहारानुसन्धानक्षमत्वाच्चेश्वराणां समाननामरूपा एव प्रतिसर्गं विशेषाः प्रादुर्भवन्ति । समाननामरूपत्वाच्चावृत्तावपि महासर्गमहाप्रलयलक्षणायां जगतोऽभ्युपगम्यमानायां न कश्चिच्छब्दप्रामाण्यादिविरोधः । समाननामरूपतां च श्रुतिस्मृती दर्शयतः—

'सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत् ।
दिवं च पृथिवीं चान्तरिक्षमथो स्वः ॥' (ऋ०सं० १०।१९०।३) इति ।

भाष्यका अनुवाद

समझना चाहिए, क्योंकि छठी इन्द्रिय (मन) के विषयके समान प्रत्येक सृष्टिमें इन्द्रिय और विषयके सम्बन्धसे होनेवाले व्यवहारके भेदकी कल्पना नहीं की जा सकती । इस कारणसे—सब कल्पोंमें एक-सा व्यवहार होनेसे और हिरण्यगर्भ आदि ईश्वरोंके अन्य कल्पके व्यवहारका स्मरण करनेमें समर्थ होनेसे प्रत्येक सृष्टिमें समान नाम और रूपवाली ही भिन्न-भिन्न व्यक्तियां उत्पन्न होती हैं । नाम और रूपोंके समान होनेसे महासृष्टि और महाप्रलयस्वरूप जगत्की आवृत्ति स्वीकार करनेमें भी शब्दप्रामाण्य आदिमें कोई भी विरोध नहीं होता । श्रुति और स्मृति भी सब कल्पोंमें नाम और रूपकी सामानता दिखलाती हैं—'सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्०' (ब्रह्माने पूर्व कल्पके समान ही सूर्य, चन्द्रमा, द्युलोक, पृथिवी, अन्तरिक्ष और स्वर्गकी रचना की ।)

रत्नप्रभा

एवेति नियम इत्यर्थः । निकायाः—समूहाः । दृष्टान्तासिद्धिमाशङ्क्याऽऽह—नहीति । यथा षष्ठेन्द्रियस्य मनसोऽसाधारणविषयो नास्ति, सुखादेः साक्षिवेद्यत्वात्, तथा व्यवहारान्यथात्वम् असदित्यर्थः । षष्ठमिन्द्रियं तद्विषयश्च असन् इति वाऽर्थः । उक्तार्थं संक्षिपति—अतश्चेति । व्यवहारसाम्यात् सम्भवाच्च व्यवह्रियमाणा व्यक्तयः समाना

रत्नप्रभाका अनुवाद

इसी प्रकार भोग्य लोक, भोगके आश्रय प्राणिसमूह और भोगके हेतु कर्म संस्कारबलसे पूर्वलोक आदिके सदृश ही होते हैं, ऐसा नियम है । निकाय—समूह । दृष्टान्तकी असिद्धिकी आशंका करके कहते हैं—"नहि" इत्यादि । जैसे छठी इन्द्रिय मनका कोई असाधारण विषय नहीं है, क्योंकि सुख आदि साक्षिवेद्य हैं अर्थात् साक्षिज्ञानके विषय हैं, उसी प्रकार व्यवहारका उलट फेर भी नहीं हो सकता । अथवा छठी इन्द्रिय और उसका विषय दोनों असत् हैं । उक्त अर्थका संक्षेप—उपसंहार करते हैं—"अतश्च" इत्यादिसे । व्यवहार समान है और उसका

भाष्य

यथा पूर्वस्मिन् कल्पे सूर्याचन्द्रमःप्रभृति जगत् क्लृप्तम्, तथाऽस्मिन्नपि कल्पे परमेश्वरोऽकल्पयदित्यर्थः । तथा 'अग्निर्वा अकामयत अन्नादो देवानाꣳ स्यामिति, स एतमग्नये कृत्तिकाभ्यः पुरोडाशमष्टाकपालं निरवपत्' (तै० ब्रा० ३ । १ । ४ । १) इति नक्षत्रेष्टिविधौ योऽग्निर्निरवपद् यस्मै वाग्नये निरवपत् तयोः समाननामरूपतां दर्शयतीत्येवंजातीयका

भाष्यका अनुवाद

पूर्वकल्पमें सूर्य, चन्द्र आदि जगत्‌की जैसी कल्पना की थी, वैसी ही इस कल्पमें भी उनकी कल्पना की, ऐसा अर्थ है । इसी प्रकार 'अग्निर्वा अकामयत' (यजमानने कामना की कि मैं देवोंका अन्नभक्षक होऊँ। उसने कृत्तिका नक्षत्रोंके अभिमानी अग्निके लिए आठ कपालोंमें बनाया गया पुरोडाश अर्पण किया) यह श्रुति—नक्षत्रयज्ञविधिमें जिस अग्निने जिस अग्निके लिए अर्पण किया,उन दोनोंके नाम और रूपकी

रत्नप्रभा

एवेत्यर्थः । सूत्रं योजयति—समानेत्यादिना । भाविदृष्ट्या यजमानः अग्निः, अन्नादः अग्निरहं स्यामिति कामयित्वा कृत्तिकानक्षत्राभिमानिदेवाय अग्नये अष्टसु कपालेषु पचनीयं हविः निरुप्तवानित्यर्थः । नक्षत्रव्यक्तिबहुत्वाद् बहुवचनम् । [ननु यजमानः अग्निः भावी उद्देश्याग्निना समाननामरूपः कल्पान्तरे भवति । एवं 'रुद्रो वा अकायमत' 'विष्णुर्वा अकामयत' इत्यत्रापि तथा वक्तव्यम्, तदयुक्तम् । नहि अग्नेरिव विष्णुरुद्रयोरधिकारिपुरुषत्वम्, तयोः जगत्कारणत्वश्रवणात् । 'एक एव रुद्रो न' इति 'एको

रत्नप्रभाका अनुवाद

संभव भी है, इसलिए व्यवहार करनेवाली व्यक्तियाँ भी समान ही हैं, यह अर्थ है । सूत्रकी योजना करते हैं—"समान" इत्यादिसे । भाविदृष्टिसे यजमान अग्नि है, उसने 'मैं अन्नभक्षक अग्नि होऊँ' ऐसी कामना की और कृत्तिका नक्षत्रके अभिमानी देव अग्निको आठ कपालोंमें बनाया हुआ पुरोडाश—हवि अर्पित किया । कृत्तिका नक्षत्र बहुत हैं, इसलिए 'कृत्तिकाभ्यः' यहाँ बहुवचनका प्रयोग है । [यदि कोई कहे कि जैसे आगे अग्नि होनेवाला यजमान अभी जिस अग्निके उद्देशसे हविका अर्पण करता है, वह कल्पान्तरमें उस अग्निके समान नाम-रूपवाला होता है । इसी प्रकार 'रुद्रो वा०' 'विष्णुर्वा०' इत्यादि स्थलमें भी आगे रुद्र होनेवाले यजमानने कामना की, एवं आगे विष्णु होनेवाले यजमानने कामना की, ऐसा ही अर्थ समझना चाहिए अर्थात् यजमान रुद्र तथा विष्णु भी हो सकता है, ऐसा मानना चाहिए । यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि रुद्र एवं विष्णु अग्निके समान अधिकारी पुरुष नहीं है, किन्तु वे श्रुतिमें जगत्कारण कहे गये हैं । यदि ऐसा न मानें तो 'एक एव०' (रुद्र एक ही है, अनेक नहीं है), 'एको विष्णुः'

भाष्य

श्रुतिरिहोदाहर्तव्या। स्मृतिरपि—

'ऋषीणां नामधेयानि याश्च वेदेषु दृष्टयः।
शर्वर्यन्ते प्रसूतानां तान्येवैभ्यो ददात्यजः॥
यथर्तुष्वृतुलिङ्गानि नानारूपाणि पर्यये।
दृश्यन्ते तानि तान्येव तथा भावा युगादिषु॥
यथाभिमानिनोऽतीतास्तुल्यास्ते साम्प्रतैरिह।
देवा देवैरतीतैर्हि रूपैर्नामभिरेव च॥

इत्येवञ्जातीयका द्रष्टव्या॥ ३०॥

भाष्यका अनुवाद

समानताको दिखलाती है और यहां इस प्रकारकी दूसरी श्रुतियोंका उदाहरण देना चाहिए। 'ऋषीणां नामधेयानि याश्च वेदेषु दृष्टयः। शर्वर्यन्ते प्रसूतानां तान्येवैभ्यो ददात्यजः०॥' (ऋषियोंके जो नाम थे और वेदकी जो शक्ति थी, पुनः प्रलयके अन्तमें उत्पन्न होनेपर अजने—ब्रह्माने उन्हीं नामों और शक्तियोंको उन्हें दिया। जैसे भिन्न-भिन्न ऋतुओंमें भिन्न-भिन्न उनके चिह्न होते हैं और वे उन ऋतुओंके आनेपर दिखाई देते हैं, उसी प्रकार युगादिमें पदार्थ दिखाई देते हैं। चक्षुरादि इन्द्रियोंके अभिमानी अतीत देवताओंके समान ही इदानीन्तन देवता हैं और अतीत देवताओंके रूप और नामके समान ही उनके रूप और नाम भी हैं) इस प्रकारकी स्मृति भी प्रमाणरूपसे देखनी चाहिए॥ ३०॥

रत्नप्रभा

विष्णुः' इत्यादिश्रुतिस्मृतिविरोधादिति।] स्मृतौ वेदेषु इति विषयसप्तमी, शर्वर्यन्ते— प्रलयान्ते। ऋतूनाम्—वसन्तादीनाम्, लिङ्गानि—नवपल्लवादीनि। पर्यये— घटीयन्त्रवत् आवृत्तौ, भावाः—पदार्थाः, तुल्या इति शेषः। तस्माद् जन्मनाशवद्विग्रहाङ्गीकारेऽपि कर्मणि शब्दे च विरोधाभावाद् देवानाम् अस्ति विद्याधिकार इति स्थितम्॥ ३०॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

(विष्णु एक ही है) इत्यादि श्रुतिस्मृतियोंसे विरोध होगा।] स्मृतिमें 'वेदेषु' यहां पर विषय सप्तमी है। वेदविषयक दृष्टि। 'शर्वर्यन्ते'—प्रलयके अन्तमें। ऋतुओंके लिंग अर्थात् वसन्त आदिके नवपल्लव आदि चिह्न। 'पर्यये'—घटीयंत्रके समान घूमनेमें। भावाः—पदार्थ। 'भावाः' के बाद 'तुल्याः' इतना शेष समझना चाहिएँ। इससे सिद्ध हुआ कि जन्म और नाशवाले शरीरका अंगीकार करनेपर भी कर्म और शब्दमें विरोध न होनेके कारण देवताओंका विद्यामें अधिकार है॥३०॥

मध्वादिष्वसम्भवादनधिकारं जैमिनिः ॥ ३१ ॥

पदच्छेद—मध्वादिषु, असम्भवात्, अनधिकारम् , जैमिनिः ।

पदार्थोक्ति—मध्वादिषु—'असौ वा आदित्यो देवमधु' 'आदित्यो ब्रह्मेत्यादेशः' इत्यादिषु मधुब्रह्माध्यासेन आदित्योपासनेषु मनुष्याधिकारकेषु, असम्भवाद्—तेषामेवादित्यादीनामधिकारासम्भवात्, अनधिकारम्—ब्रह्मविद्यायां देवादीनामनधिकारं जैमिनिः [आचार्यो मन्यते]

भाषार्थ—मनुष्य जिनके अधिकारी हैं, ऐसे 'असौ वा०' (यह सूर्य देवताओंका मधु है), 'आदित्यो०' (आदित्य ब्रह्म है, यह उपदेश है) इत्यादि मधु एवं ब्रह्मके अध्याससे विहित आदित्यकी उपासना आदिमें उन्हीं आदित्य आदिका अधिकार नहीं हो सकता, इसलिए जैमिनि आचार्य मानते हैं कि ब्रह्मविद्यामें देवता आदिका अधिकार नहीं है ।

भाष्य

इह देवादीनामपि ब्रह्मविद्यायामस्त्यधिकार इति यत् प्रतिज्ञातम्, तत् पर्यावर्त्यते । देवादीनामनधिकारं जैमिनिराचार्यो मन्यते । कस्मात् ? मध्वादिष्वसम्भवात् । ब्रह्मविद्यायामधिकाराभ्युपगमे हि विद्यात्वाविशेषान्मध्वादिविद्यास्वप्यधिकारोऽभ्युपगम्येत । न चैवं सम्भवति । कथम् ? 'असौ

भाष्यका अनुवाद

देवता आदिका भी ब्रह्मविद्यामें अधिकार है, ऐसी जो पहले प्रतिज्ञा की गई है, उसका यहांपर आक्षेप करते हैं। जैमिनि आचार्यका मत है कि देवता आदिका ब्रह्मविद्यामें अधिकार नहीं है, क्योंकि मधुविद्या आदिमें उनके अधिकारका संम्भव नहीं है। ब्रह्मविद्यामें देवताओंका अधिकार माननेपर मधुविद्या आदिमें भी उनका अधिकार मानना पड़ेगा, क्योंकि वे भी विद्या ही हैं। परन्तु ऐसा सम्भव नहीं है, क्योंकि 'असौ वा आदित्यो०' (यह

रत्नप्रभा

आक्षिपति—**मध्वादिष्विति** । ब्रह्मविद्या देवादीन्नाधिकरोति, विद्यात्वात्, मध्वादिविद्यावदित्यर्थः । दृष्टान्तं विवृणोति—**कथमित्यादिना** । द्युलोकाख्यवंशदण्डे अन्तरिक्षरूपे मध्वपूपे स्थित आदित्यो देवानां मोदनाद् मध्विव मधु

रत्नप्रभाका अनुवाद

देवताओंका ब्रह्मविद्यामें अधिकारका आक्षेप करते हैं—"मध्वादिषु" इत्यादिसे । ब्रह्मविद्यामें देवताओंका अधिकार नहीं है, क्योंकि वह भी मधु आदि विद्याओंके समान विद्या है । दृष्टान्तका विवरण करते हैं—"कथम्" इत्यादिसे । द्युलोक नामक वंश-दण्डमें अन्तरिक्षरूप मधुमक्खियोंके

भाष्य

वा आदित्यो देवमधु' (छा० ३।१।१) इत्यत्र मनुष्या आदित्यं मध्वध्यासेनोपासीरन्, देवादिषु ह्युपासकेष्वभ्युपगम्यमानेष्वादित्यः कमन्यमादित्यमुपासीत । पुनश्चाऽऽदित्यव्यपाश्रयाणि पञ्च रोहितादीन्यमृतान्युपक्रम्य 'वसवो रुद्रा आदित्या मरुतः साध्याश्च पञ्च देवगणाः क्रमेण तत्तदमृतमुपजीवन्ति' इत्युपदिश्य 'स य एतदेवममृतं वेद वसूनामेवैको भूत्वाऽग्निनैव मुखेनैतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यति' इत्यादिना वस्वाद्युपजीव्यान्यमृ-

भाष्यका अनुवाद

आदित्य निश्चय देवोंका मधु है) इसमें मधुके अध्याससे आदित्यकी उपासना मनुष्य कर सकते हैं। परन्तु देवता आदिको भी यदि उपासक माना जाय, तो आदित्य किस अन्य आदित्यकी उपासना करेगा ? और दूसरी बात यह भी है कि आदित्यमें रहनेवाली रोहित आदि पाँच किरणें अमृत हैं, ऐसा उपक्रम कर वसु, रुद्र, आदित्य, मरुत् और साध्य ये पांच देवगण क्रमसे उन अमृतोंका उपभोग करते हैं, ऐसा उपदेश करके 'स य एतदेवममृतं०' (जो इस अमृतको जानता है, वह वसुओंमेंसे एक होकर अग्निरूप मुखसे उसी अमृतका दर्शन करके तृप्त होता

रत्नप्रभा

इत्यारोप्य ध्यानं कार्यम्। तत्र आदित्यस्य अधिकारो न युक्तः, ध्यातृध्येयभेदाभावादित्याह—देवादिष्विति। अस्तु वस्वादीनां तत्र अधिकार इति आशङ्क्य तेषामपि च ध्येयत्वात् प्राप्यत्वाच्च न ध्यातृत्वमित्याह—पुनश्चेति। चतुर्वेदोक्तकर्माणि प्रणवश्च इति पञ्चकुसुमानि। तेभ्यः सोमाज्यादिद्रव्याणि हुतानि लोहितशुक्लकृष्णपरकृष्णगोप्याख्यानि पञ्च अमृतानि तत्तन्मन्त्रभागैः प्रागाद्यूर्ध्वान्तपञ्चदिगवस्थिताभिः आदित्यरश्मिनाडीभिः मध्वपूपस्थितच्छिद्ररूपाभिः आदित्यमण्डलम् आनीतानि

रत्नप्रभाका अनुवाद

छातेमें स्थित आदित्य देवताओंको मधुके समान आनन्द देता है, इसलिए उसमें मधुका आरोप करके उसकी उपासना करनी चाहिए। उस उपासनामें सूर्यका अधिकार नहीं हो सकता, क्योंकि उपासक और उपास्यमें भेद नहीं है, ऐसा कहते हैं—"देवादिषु" इत्यादिसे। वसु आदिका उसमें अधिकार हो ऐसी आशङ्का करके "पुनश्च" इत्यादिसे कहते हैं कि वे भी उपास्य एवं प्राप्य होनेके कारण उक्त विद्याके उपासक नहीं हो सकते हैं। चारों वेदोंमें कहे गये कर्म और प्रणव ये पांच पुष्प हैं, उन पुष्पोंसे होममन्त्ररूप मधुमक्खियाँ हवन किये गये सोम, घृत आदि पदार्थ रूप लोहित, शुक्ल, कृष्ण, अतिकृष्ण, गोप्य नामक पाँच अमृतोंको होम मन्त्रोंद्वारा पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण और ऊर्ध्व इन पाँच दिशाओंमें स्थित मधुमक्खियोंके छातेके छिद्ररूप सूर्यकी रश्मियोंद्वारा सूर्य-

भाष्य

तानि विजानतां वस्वादिमहिमप्राप्तिं दर्शयति। वस्वादयस्तु कानन्यान् वस्वादीनमृतोपजीविनो विजानीयुः, कं वाऽन्यं वस्वादिमहिमानं प्रेप्सेयुः ? तथा 'अग्निः पादो वायुः पाद आदित्यः पादो दिशः पादः' (छा० ३ । १८ । २), 'वायुर्वाव संवर्गः' (छा० ४ । ३ । १) 'आदित्यो ब्रह्मेत्यादेशः' (छा० ३ । ११ । १) इत्यादिषु देवतात्मोपासनेषु न तेषामेव देवतात्मनामधिकारः सम्भवति । तथा 'इमावेव गोतमभरद्वाजावयमेव

भाष्यका अनुवाद

है) इस प्रकार श्रुति वसु आदिके उपभोग्य अमृतोंको जाननेवालोंके लिए वसु आदिकी महिमाकी प्राप्ति दिखलाती है । परन्तु वसु आदि अमृतका उपभोग करनेवाले किन अन्य वसु आदिकोंका विज्ञान प्राप्त करेंगे ? अथवा किस अन्य वसु आदिकी महिमाको प्राप्त करना चाहेंगे ? उसी प्रकार 'अग्निः पादो वायुः०' (अग्नि पाद है, वायु पाद है, आदित्य पाद है, दिशाएँ पाद हैं), 'वायुर्वाव संवर्गः' (निश्चय वायु संवर्ग है), 'आदित्यो ब्रह्मेत्यादेशः' (आदित्य ब्रह्म है, ऐसा आदेश है) इत्यादि देवतात्मक उपासनाओंमें उसी देवतात्माका अधिकार सम्भव नहीं है । उसी प्रकार 'इमावेव गोतमभरद्वाजा०' (ये ही

रत्नप्रभा

यशस्तेजइन्द्रियवीर्यान्नात्मना परिणतानि पञ्चदिक्षु स्थितैः वस्वादिभिः उपजीव्यानीति ध्यायतां वस्वादिप्राप्तिरुक्ता इत्यर्थः। सूत्रस्थादिपदार्थमाह—तथाग्निरिति। आकाशब्रह्मणः चत्वारः पादाः, द्वौ कर्णौ, द्वे नेत्रे, द्वे नासिके, एका वागिति सप्तसु इन्द्रियेषु शिरश्चमसतीरस्थेषु सप्तर्षिध्यानं कार्यमित्याह—तथेमावेवेति । अयं दक्षिणः कर्णः

रत्नप्रभाका अनुवाद

मण्डलमें ले जाती हैं और वहां वे यश, तेज, इन्द्रिय, वीर्य और अन्नरूपमें परिणत होकर पाँच दिशाओंमें स्थित वसु आदि देवताओंसे उपभोग्य होते हैं । इस प्रकार ध्यान करनेवाले मनुष्यके लिए वसु आदिकी प्राप्ति कही गई है। सूत्रस्थ आदि पदका अर्थ कहते हैं—"तथाग्निः" इत्यादिसे । इस आकाशरूप ब्रह्मके चार पाद हैं, मस्तकरूप चमस—यज्ञपात्रके तीरमें स्थित दो कर्ण, दो नेत्र, दो नासिका और एक वाणीरूप सात इन्द्रियोंमें सप्तर्षियोंका ध्यान करे, ऐसा कहते हैं—"तथेमावेव" इत्यादिसे । अयम्—यह दक्षिण कर्ण गोतम है, वामकर्ण भरद्वाज है, दक्षिण

(१) 'इदं वै तच्छिर एष ह्यर्वाग्बिल ऊर्ध्वबुध्नश्चमसः' इस प्रकार मुखको चमस कहकर 'तस्याऽऽसत ऋषयः सप्त तीरे' इससे सात ऋषियोंको मुँहसम्बन्धी कहकर उसका विवरण करनेके लिए यह वाक्य प्रवृत्त हुआ है । चमसके नीचे बिल एवं ऊपर गोल होता है, इसी प्रकार इस मस्तकमें भी नीचे मुँहरूप बिल है एवं ऊपर गोलाकार है, अतः वह भी चमस कहा गया है ।

भाष्य

गोतमोऽयं भरद्वाजः' (बृ० २ । २ । ४) इत्यादिष्वप्यृषिसम्बन्धेषूपासनेषु न तेषामेवर्षीणामधिकारः सम्भवति ॥ ३१ ॥

कुतश्च देवादीनामनधिकारः ?

भाष्यका अनुवाद

गोतम और भरद्वाज हैं), इत्यादि ऋषि सम्बन्धी उपासनाओंमें उन्हीं ऋषियोंका अधिकार सम्भव नहीं हो सकता ॥ ३१ ॥

और किससे देवता आदिका अनधिकार है ?

रत्नप्रभा

गोतमः, वामः भरद्वाजः, एवं दक्षिणनेत्रनासिके विश्वामित्रवसिष्ठौ, वामे जमदग्निकश्यपौ, वागत्रिरित्यर्थः । अत्र ऋषीणां ध्येयत्वाद् न अधिकारः ॥ ३१ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

नेत्र विश्वामित्र हैं, दक्षिण नासिका वसिष्ठ है, वाम नेत्र जमदग्नि है, वाम नासिका कश्यप है और वाणी अत्रि है । इस प्रकार ऋषियोंके ध्येय होनेसे उनका भी अधिकार नहीं है ॥३१॥

ज्योतिषि भावाच्च ॥ ३२ ॥

पदच्छेद—ज्योतिषि, भावात्, च ।

पदार्थोक्ति—ज्योतिषि—अलौकिकयोः आदित्यशब्दप्रत्यययोः ज्योतिर्मण्डले, भावाच्च—प्रयोगात् [तेषाम् अचेतनत्वात् तदतिरिक्तस्य चेतनस्य विग्रहादिमतः प्रत्यक्षाद्यगोचरत्वात् तद्विग्रहप्रतिपादकानां मन्त्राणाम् अन्यपरत्वेन स्वार्थे प्रामाण्याभावात् न देवानां विद्याधिकारः] ।

भाषार्थ—दृश्यमान ज्योतिर्मण्डलमें वैदिक आदित्यशब्दका प्रयोग और आदित्यकी प्रतीति होती है, वे मण्डल आदि अचेतन हैं, उनसे भिन्न शरीर आदिसे युक्त चेतन प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंसे ज्ञात नहीं है, अतः आदित्य आदिके शरीरका प्रतिपादन करनेवाले मंत्र अन्यपरक हैं, उनका अपने अर्थमें प्रामाण्य नहीं है, इसलिए देवता आदिके शरीरी सिद्ध न होनेसे उनका विद्यामें अधिकार नहीं है ।

भाष्य

यदिदं ज्योतिर्मण्डलं द्युस्थानमहोरात्राभ्यां बम्भ्रमज्जगदवभासयति, तस्मिन्नादित्यादयो देवतावचनाः शब्दाः प्रयुज्यन्ते, लोकप्रसिद्धेर्वाक्यशेषप्रसिद्धेश्च। न च ज्योतिर्मण्डलस्य हृदयादिना विग्रहेण चेतनतयाऽर्थित्वादिना वा योगोऽवगन्तुं शक्यते, मृदादिवदचेतनत्वावगमात्। एतेनाऽग्न्यादयो व्याख्याताः।

भाष्यका अनुवाद

द्युलोकमें रहनेवाला जो यह ज्योतिर्मण्डल दिन रात पुनः पुनः भ्रमण करता हुआ जगत्को प्रकाशित करता है, उसमें आदित्य आदि देवतावाचक शब्द प्रयुक्त होते हैं, क्योंकि ऐसी लोकप्रसिद्धि है और वाक्यशेषसे भी यही सिद्ध होता है। ज्योतिर्मण्डलका हृदय आदि शरीरके साथ अथवा चेतना और कामना आदिके साथ सम्बन्ध नहीं माना जा सकता, क्योंकि मृत्तिका आदिके समान वे अचेतन हैं ऐसा ज्ञात होता है। यही प्रकार अग्नि आदिके विषयमें भी समझना चाहिये।

रत्नप्रभा

किञ्च, विग्रहाभावात् देवादीनां न क्वापि अधिकार इत्याह—**ज्योतिषि भावाच्चेति**। आदित्यः, सूर्यः, चन्द्रः, शुक्रः, अङ्गारक इत्यादिशब्दानां ज्योतिःपिण्डेषु प्रयोगस्य भावात्— सत्त्वात् न विग्रहवान् देवः कश्चिदस्ति इत्यर्थः। "आदित्यः पुरस्तादुदेता पश्चादस्तमेता" [छा० ३। ४। ६] इति मधुविद्यावाक्यशेषे ज्योतिषि एव आदित्यशब्दः प्रसिद्धः। तर्हि ज्योतिःपिण्डानामेव अधिकारोऽस्तु, तत्राऽऽह—**न चेति**। अग्न्यादीनाम् अधिकारम् आशङ्क्य आह—**एतेनेति**। अग्निः, वायुः, भूमिः इत्यादिशब्दानाम् अचेतनवाचित्वेन इत्यर्थः।

रत्नप्रभाका अनुवाद

और शरीर न होनेसे देवता आदिका कहीं भी अधिकार नहीं है। ऐसा कहते हैं—"ज्योतिषि भावाच्च" इससे। अर्थात् आदित्य, सूर्य, चन्द्र, शुक्र और भौम इत्यादि शब्दोंका प्रयोग ज्योतिर्मण्डल—पिण्डाकार प्रकाशमान पदार्थोंमें है, इसलिए कोई भी देव शरीरी नहीं है। "आदित्यः पुरस्तात्०" (आदित्य पूर्वदिशामें उदय होता है, पश्चिममें अस्त होता है) इस मधुविद्यावाक्यशेषमें आदित्यशब्दका प्रयोग ज्योतिमें ही प्रसिद्ध है। तब ज्योतिर्मण्डलका ही अधिकार हो, इसपर कहते हैं—"न च" इत्यादि। अग्नि आदिका विद्यामें अधिकार हो, ऐसी आशङ्का करके कहते हैं—"एतेन" इत्यादि। अर्थात् आदित्यशब्दकी भाँति अग्नि, वायु, भूमि इत्यादि शब्दोंके अचेतनवाचक ही होनेके कारण।

भाष्य

स्यादेतत् । मन्त्रार्थवादेतिहासपुराणलोकेभ्यो देवादीनां विग्रहवत्त्वाद्यवगमादयमदोष इति चेत्, नेत्युच्यते । नहि तावल्लोको नाम किंचित् स्वतन्त्रं प्रमाणमस्ति, प्रत्यक्षादिभ्य एव ह्यव्यभिचरितविषयेभ्यः प्रमाणेभ्यः प्रसिद्ध एव अर्थो लोकात् प्रसिद्ध इत्युच्यते । न चाऽत्र प्रत्यक्षादीनामन्यतमं प्रमाणमस्ति । इतिहासपुराणमपि पौरुषेयत्वात् प्रमाणान्तरमूलतामा-

भाष्यका अनुवाद

मन्त्र, अर्थवाद, इतिहास, पुराण और लोकव्यवहारसे प्रतीत होता है कि देवता आदिके शरीर हैं, इससे यह दोष नहीं है, ऐसी यदि शङ्का हो तो उसपर कहते हैं कि वह ठीक नहीं है, क्योंकि लोक कोई स्वतन्त्र प्रमाण नहीं है । यथार्थतः पदार्थका ज्ञान करानेवाले प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंसे प्रसिद्ध हुआ अर्थ ही लोकप्रसिद्ध कहा जाता है । देवताओंका शरीर है इस विषयमें प्रत्यक्ष आदिमेंसे कोई भी प्रमाण नहीं है । इतिहास और पुराण भी पुरुषप्रणीत

रत्नप्रभा

सिद्धान्ती शङ्कते—स्यादेतदित्यादिना । "वज्रहस्तः पुरन्दरः" इत्यादयः मन्त्राः । "सोऽरोदीत्" इत्यादयः अर्थवादाः ।

'इष्टान् भोगान् हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः ।'
'ते तृप्तास्तर्पयन्त्येनं सर्वकामफलैः शुभैः ॥'

इत्यादीनि इतिहासपुराणानि । लोकेऽपि यमं दण्डहस्तं लिखन्ति, इन्द्रं वज्रहस्तमिति विग्रहादिपञ्चकसद्भावाद् अनधिकारदोषो नास्तीत्यर्थः । "विग्रहो हविषां भोग ऐश्वर्यञ्च प्रसन्नता । फलप्रदानमित्येतत् पञ्चकं विग्रहादिकम् ॥" मानाभावाद् एतत् नास्तीति दूषयति—नेत्यादिना । न चाऽत्रेति । विग्रहादौ

रत्नप्रभाका अनुवाद

पूर्वपक्षपर सिद्धान्ती शङ्का करते हैं—"स्यादेतत्" इत्यादिसे । 'वज्रहस्तः पुरन्दरः' (वज्रको हाथमें लिया हुआ इन्द्र) इत्यादि मंत्र हैं । 'सोऽरोदीत्' (वह रोया) इत्यादि अर्थवाद हैं । 'इष्टान् भोगान् हि वो देवा०' (यज्ञसे सन्तुष्ट हुए देवता तुमको इष्ट भोग देंगे) 'ते तृप्तास्तर्पयन्त्येनं०' (तृप्त हुए वे सब कामनाओंके शुभ फलोंसे इसको तृप्त करेंगे) इत्यादि इतिहास और पुराणवाक्य हैं । और लोकमें भी चित्रकार यमको दण्डहस्त-हाथमें दण्ड लिया हुआ और इन्द्रको वज्रहस्त बनाते हैं । इस प्रमाणसे विग्रह—शरीर आदि पांच धर्म होनेसे देवताओंका विद्यामें अधिकार कहा जा सकता है । 'विग्रहो हविषां भोग०' (शरीर, यज्ञीयद्रव्यका उपभोग, ऐश्वर्य, प्रसन्नता और फलदान, ये पांच विग्रह आदि धर्म हैं) । सिद्धान्तीकी इस शङ्कामें पूर्वपक्षी "न" इत्यादिसे दोष निकालता है कि प्रमाण न होनेसे ऐसा नहीं है ।

भाष्य

काङ्क्षति । अर्थवादा अपि विधिनैकवाक्यत्वात् स्तुत्यर्थाः सन्तो न पार्थगर्थ्येन देवादीनां विग्रहादिसद्भावे कारणभावं प्रतिपद्यन्ते । मन्त्रा अपि श्रुत्यादिविनियुक्ताः प्रयोगसमवायिनोऽभिधानार्था न कस्यचिदर्थस्य प्रमाणमित्याचक्षते । तस्मादभावो देवादीनामधिकारस्य ॥ ३२ ॥

भाष्यका अनुवाद

होनेसे मूलभूत अन्य प्रमाणकी अपेक्षा रखते हैं। अर्थवाद भी विधिके साथ एकवाक्यताके कारण स्तुत्यर्थक ही हैं, स्वतन्त्रतासे देवता आदिके शरीरका प्रतिपादन करनेमें समर्थ नहीं हो सकते। श्रुति आदि छः लिङ्ग जिनका विनियोग बतलाते हैं, वे मन्त्र भी प्रयोगके साथ सम्बन्ध रखनेवाले अर्थका अभिधान करते हैं, स्वतन्त्रतासे किसी भी अर्थमें प्रमाण नहीं हैं, ऐसा मीमांसक कहते हैं। इसलिए विद्यामें देवता आदिका अधिकार नहीं है ॥ ३२ ॥

रत्नप्रभा

इत्यर्थः । अर्थवादाः मन्त्रा वा मूलमित्याशङ्क्याऽऽह—अर्थवादा इत्यादिना । व्रीह्यादिवद् प्रयोगविधिगृहीता मन्त्राः प्रयोगसम्बन्धाभिधानार्थाः नाऽज्ञात-विग्रहादिपरा इति मीमांसका आचक्षते इत्यर्थः । तस्माद् विग्रहाभावादित्यर्थः ॥३२॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

"न चाऽत्र" इत्यादि । अत्र—शरीर आदिमें । अर्थवाद मूल हैं या मन्त्र ? ऐसी आशङ्का करके कहते हैं—"अर्थवादा" इत्यादिसे । व्रीहि (धान्य) आदिके समान प्रयोगविधिमें गृहीत मन्त्र प्रयोगसे संबद्ध अर्थके प्रतिपादक हैं, अज्ञात शरीर आदिके प्रतिपादक नहीं हैं, ऐसा मीमांसक कहते हैं—यह अर्थ है । तस्माद्—शरीर न होनेसे ॥३२॥

भावं तु बादरायणोऽस्ति हि ॥ ३३ ॥

पदच्छेद—भावम्, तु, बादरायणः, अस्ति, हि ।

पदार्थोक्ति—बादरायणस्तु [आचार्यः] भावम्—देवादीनामपि निर्गुणब्रह्म-विद्यायामधिकारं [मनुते], हि—यतः, अस्ति—देवताविग्रहप्रतिपादकमन्त्रादीनां प्रमाणान्तराविरोधेन स्वार्थे प्रामाण्यात् तेषामपि आर्थित्वाद्यधिकारकारणमस्ति ।

भाषार्थ—बादरायण आचार्य तो देवता आदिका भी निर्गुणब्रह्मविद्यामें अधिकार मानते हैं, क्योंकि देवता आदिके शरीरके प्रतिपादक मंत्र आदिका, अन्य प्रमाणसे विरोध न होनेके कारण, स्वार्थमें प्रामाण्य है, अतः देवता आदिके शरीरी होनेसे अधिकारके कारण आर्थित्व आदि हैं ।

——*——

भाष्य

तुशब्दः पूर्वपक्षं व्यावर्तयति। बादरायणस्त्वाचार्यो भावमधिकारस्य देवादीनामपि मन्यते। यद्यपि मध्वादिविद्यासु देवतादिव्यामिश्रास्व-सम्भवोऽधिकारस्य, तथाप्यस्ति हि शुद्धायां ब्रह्मविद्यायां सम्भवः, अर्थित्वसामर्थ्याप्रतिषेधाद्यपेक्षत्वादधिकारस्य। न च क्वचिदसम्भव इत्येतावता यत्र सम्भवस्तत्राप्यधिकारोऽपोद्येत, मनुष्याणामपि न सर्वेषां ब्राह्मणादीनां सर्वेषु राजसूयादिष्वधिकारः सम्भवति। तत्र यो न्यायः सोऽत्राऽपि भविष्यति। ब्रह्मविद्यां च प्रकृत्य भवति लिङ्गदर्शनं श्रौतं देवाद्य-

भाष्यका अनुवाद

तुशब्द पूर्वपक्षका निराकरण करता है। बादरायण आचार्यका मत है कि देवता आदिका भी विद्यामें अधिकार है। यद्यपि देवता आदिसे सम्बन्ध रखनेवाली मधु-विद्या आदिमें देवता आदिके अधिकारका असम्भव है, तो भी शुद्ध ब्रह्मविद्यामें उनका अधिकार हो सकता है, क्योंकि अधिकारके कारण कामना, सामर्थ्य, प्रतिषेधका अभाव आदि हैं। कहीं असम्भव होनेसे ही जहां सम्भव है, वहां भी अधिकारका निषेध नहीं हो सकता। मनुष्योंमें भी सब ब्राह्मण आदिका सब राजसूय आदिमें अधिकार नहीं हो सकता। वहांपर जो न्याय है, उसीका यहां भी अवलम्बन करना चाहिए। ब्रह्मविद्याके प्रकरणमें देवता आदिका अधिकार

रत्नप्रभा

सूत्राभ्यां प्राप्तं पूर्वपक्षं निरस्यति—तुशब्द इत्यादिना। ब्रह्मविद्या देवा-दीन् नाऽधिकरोति, विद्यात्वात्, मध्वादिविद्यावत्, इति उक्तहेतुः अप्रयोजक इत्याह—यद्यपीति। दर्शादिकं न ब्राह्मणमधिकरोति, कर्मत्वाद्, राजसूयादिवद्, इति आभाससाम्यं विद्यात्वहेतोराह—न चेति। यत्र यस्याऽधिकारः सम्भवति, स तत्र अधिकारीति न्यायः तुल्य इत्यर्थः। यतः सर्वेषां सर्वत्र अधिकारो न सम्भवति,

रत्नप्रभाका अनुवाद

दो सूत्रोंसे प्राप्त पूर्वपक्षका निरसन करते हैं—"तुशब्द" इत्यादिसे। ब्रह्मविद्या देवताओंके अधिकारके बाहर है, विद्या होनेसे, मधुविद्या आदिके समान, ऐसा जो पीछे कहा गया है, उसमें 'विद्या होनेसे' यह हेतु अप्रयोजक है, ऐसा कहते हैं—"यद्यपि" इत्यादिसे। दर्श आदि कर्म ब्राह्मणके अधिकारके बाहर है, कर्म होनेसे, राजसूय आदिके समान, इसमें जैसे कर्मत्व हेतु अप्रयोजक है—सद्धेतु नहीं है, किन्तु हेत्वाभास है, उसी प्रकार विद्यात्व भी हेत्वाभास है, ऐसा कहते हैं—"न च" इत्यादिसे। तात्पर्य यह कि जिसका जिसमें अधिकार संभव है, वह उसमें अधिकारी है, यह न्याय समान है। सबका सबमें अधिकार संभव नहीं है, इससे

भाष्य

धिकारस्य सूचकम्—'तद्यो यो देवानां प्रत्यबुध्यत स एव तदभवत्तथर्षीणां तथा मनुष्याणाम्' (बृ० १ । ४ । १०) इति 'ते होचुर्हन्त तमात्मनमन्विच्छामो यमात्मानमन्विष्य सर्वांश्च लोकानाप्नोति सर्वांश्च कामानितीन्द्रो ह वै देवानामभिप्रवव्राज विरोचनोऽसुराणाम्' (छा० ८।७।२) इत्यादि च । स्मार्तमपि गन्धर्वयाज्ञवल्क्यसंवादादि ।

भाष्यका अनुवाद

सूचित करनेवाली 'तद्यो यो देवानां०' (देवताओं, ऋषियों और मनुष्योंमें जिस-जिसको ब्रह्मका प्रत्यक्रूपसे ज्ञान हुआ, वही ब्रह्म हो गया) यह श्रुति है। और 'ते होचुर्हन्त तमात्मानमन्विच्छामो०' (उन्होंने कहा कि हम उस आत्माकी खोज करते हैं, जिसके ज्ञानसे सब लोकों और कामोंकी प्राप्ति होती है ऐसा परामर्श करके देवताओंमें इन्द्र और असुरोंमें विरोचन ब्रह्म विद्याके लिए प्रजापतिके पास गये) इत्यादि श्रुतियाँ भी हैं। गन्धर्व और याज्ञवल्क्यके संवाद आदि स्मृतियाँ भी हैं।

रत्नप्रभा

ततो न चाऽपोद्येत इत्यन्वयः । तत्—ब्रह्म यो यः देवादीनां मध्ये प्रत्यक्त्वेन अबुध्यत, स तत् ब्रह्म अभवदित्यर्थः । ते ह देवाः ऊचुः अन्योन्यम्, ततः इन्द्रविरोचनौ सुरासुरराजौ प्रजापतिं ब्रह्मविद्याप्रदं जग्मतुरिति च लिङ्गान्तरमस्तिइत्यर्थः । किमत्र ब्रह्मामृतमिति गन्धर्वप्रश्ने याज्ञवल्क्य उवाच तमिति मोक्षधर्मेषु श्रुतं देवादीनाम् अधिकारलिङ्गमित्याह—स्मार्तमिति । यथा बालानां गोलकेषु चक्षुरादिपदप्रयोगेऽपि शास्त्रज्ञैर्गोलकातिरिक्तेन्द्रियाणि स्वीक्रियन्ते, तथा ज्योतिरादौ

रत्नप्रभाका अनुवाद

'न च अपोद्येत' ऐसा अन्वय है । तत्—ब्रह्मको उन देवताओंमें जिस-जिसने आत्मारूपसे जाना वह ब्रह्म ही हो गया, ऐसा अर्थ है । देवता और असुरोंने परस्पर विचार किया, तब विद्याग्रहण करनेके लिए सुर और असुरोंके राजा इन्द्र और विरोचन ब्रह्मविद्याके देनेवाले प्रजापतिके पास गये, यह भी देवताओंके अधिकारी होनेमें प्रमाण है । ब्रह्म क्या है, ऐसा गन्धर्वने याज्ञवल्क्यसे प्रश्न किया और याज्ञवल्क्यने उसका उत्तर दिया, ऐसा मोक्षधर्ममें जनक और याज्ञवल्क्यका संवाद है, इससे भी देवता आदिका ब्रह्मविद्यामें अधिकार है, यह समझा जाता है, ऐसा कहते हैं—"स्मार्तम्" इत्यादिसे । जैसे पामरके नेत्रगोलकमें नेत्रपदका प्रयोग करनेपर भी शास्त्रवेत्ता गोलकसे भिन्न इन्द्रियाँ स्वीकार करते हैं, उसी प्रकार ज्योति आदिमें सूर्य आदि

भाष्य

यदप्युक्तम्–'ज्योतिषि भावाच्च' इति। अत्र ब्रूमः—ज्योतिरादिविषया अपि आदित्यादयो देवतावचनाः शब्दाश्चेतनावन्तमैश्वर्याद्युपेतं तं तं देवतात्मानं समर्पयन्ति, मन्त्रार्थवादादिषु तथा व्यवहारात्। अस्ति ह्यैश्वर्ययोगाद् देवतानां ज्योतिराद्यात्मभिश्चाऽवस्थातुं यथेष्टं च तं तं विग्रहं ग्रहीतुं सामर्थ्यम्। तथा हि श्रूयते सुब्रह्मण्यार्थवादे—मेधातिथेर्मेषेति, 'मेधातिथिं ह काण्वायनमिन्द्रो मेषो भूत्वा जहार' (षड्विंश० ब्रा० १।१)

भाष्यका अनुवाद

'ज्योतिषि भावाच्च' जो सूत्र कहा गया है, उसपर हम कहते हैं—ज्योतिर्मण्डल आदिमें प्रयुक्त होनेपर भी देवतावाचक आदित्य आदि शब्द चेतनवाले ऐश्वर्य-शाली उन-उन देवताओंका बोध कराते हैं, क्योंकि मन्त्र, अर्थवाद आदिमें ऐसा व्यवहार है। ऐश्वर्यके योगसे देवता ज्योतिर्मण्डल बन सकते हैं और अपनी इच्छानुसार अनेक शरीर भी धारण कर सकते हैं। क्योंकि 'मेधातिथिं०' (इन्द्रने भेड़ बनकर कण्वके पुत्र मेधातिथिका हरण किया) इस श्रुतिके अनुसार सुब्रह्मण्य अर्थवादमें इन्द्रके प्रति 'मेधातिथिका मेष' ऐसा संबोधन है। 'आदित्यः पुरुषो

रत्नप्रभा

सूर्यादिशब्दप्रयोगेऽपि विग्रहवद्देवताः स्वीकार्या इत्याह—ज्योतिरादीति। तथा—चेतनत्वेन व्यवहारादित्यर्थः। एकस्य जडचेतनोभयरूपत्वं कथम्? तत्राऽऽह—अस्ति हीति। तथा हि विग्रहवत्तया देवव्यवहारः श्रूयते। सुब्रह्मण्यः उद्गातृगणस्थः ऋत्विक् तत्सम्बन्धी योऽर्थवादः 'इन्द्र आगच्छ' इत्यादिः, तत्र मेधातिथेर्मेष! इति इन्द्रसम्बोधनं श्रुतम्, तद् व्याचष्टे—मेधेति। मुनिं मेषो भूत्वा जहारेति ज्ञापनार्थं मेष! इति इन्द्रसम्बोधनमित्यर्थः। यदुक्तम्–आदित्यादयो मृदादिवद्

रत्नप्रभाका अनुवाद

शब्दोंका प्रयोग होनेपर भी विग्रहयुक्त देवताका स्वीकार करना चाहिए, ऐसा कहते हैं—"ज्योतिरादि" इत्यादिसे। 'तथा'—चेतनरूपसे व्यवहार होनेके कारण। परन्तु एकमें ही जड़ और चेतनरूपसे व्यवहार किस प्रकार हो सकता है, इसपर कहते हैं—"अस्ति हि" इत्यादि। इसी प्रकार शरीररूपसे देवताओंका व्यवहार सुना जाता है। 'सुब्रह्मण्य'—उद्गाताओंमेंसे एक ऋत्विक्। उसके संबन्धका 'इन्द्र आगच्छ' इत्यादि जो अर्थवाद है, वह सुब्रह्मण्यार्थवाद है। उसमें 'मेधातिथेर्मेष' ऐसा इन्द्रका सम्बोधन है, उसका व्याख्यान करते हैं—"मेधा" इत्यादिसे। इन्द्र मेष बनकर मुनिको ले गया, ऐसा बतलानेके लिए 'मेष' यह इन्द्रका संबोधन है, ऐसा अर्थ है। आदित्य आदि मृत्तिका आदिके समान अचेतन ही

भाष्य

इति । स्मर्यते च—'आदित्यः पुरुषो भूत्वा कुन्तीमुपजगाम ह' इति । मृदादिष्वपि चेतना अधिष्ठातारोऽभ्युपगम्यन्ते—'मृदब्रवीदापोऽब्रुवन्' (श० ब्रा० ६ । १ । ३ । २ । ४) इत्यादिदर्शनात् । ज्योतिरादेस्तु भूतधातोरादित्यादिष्वप्यचेतनत्वमभ्युपगम्यते, चेतनास्त्वधिष्ठातारो देवतात्मानो मन्त्रार्थवादादिषु व्यवहारादित्युक्तम् ।

यदप्युक्तम्—मन्त्रार्थवादयोरन्यार्थत्वान्न देवताविग्रहादिप्रकाशनसामर्थ्यम् इति । अत्र ब्रूमः—प्रत्ययाप्रत्ययौ हि सद्भावासद्भावयोः कारणम्,

भाष्यका अनुवाद

भूत्वा' (आदित्य पुरुष बन कर कुन्तीके पास गया) ऐसी स्मृति भी है । मृत्तिका आदिमें भी चेतन अधिष्ठाता माने जाते हैं, क्योंकि 'मृदब्रवीत्' (मृत्तिका बोली) 'आपोऽब्रुवन्' (जल बोला) इत्यादि श्रुतियाँ देखी जाती हैं । आदित्य आदिमें भी ज्योतिर्मण्डलरूप भूतांश अचेतन माना जाता है, किन्तु मंत्र, अर्थवाद आदिके व्यवहारसे देवतात्मा अधिष्ठाता चेतन ही हैं ऐसा कहा गया है ।

मंत्र और अर्थवाद अन्यार्थक—अन्य अर्थके प्रतिपादक हैं, अतः उनमें देवताके विग्रह आदिपर प्रकाश डालनेकी सामर्थ्य नहीं है, ऐसा जो कहा है, उसपर कहते हैं—वस्तुके सद्भाव और असद्भावके प्रति उसकी प्रतीति और

रत्नप्रभा

अचेतना एव इति । तत् न, सर्वत्र जडाजडांशद्वयसत्त्वात् इत्याह—मृदिति । आदित्यादौ को जडभागः कः चेतनांश इति, तत्राऽऽह--ज्योतिरादेस्त्विति । मन्त्रादिकं पदशक्त्या भासमानविग्रहादौ स्वार्थे न प्रमाणम्, अन्यपरत्वात्, विषं भुङ्क्ष्व इति वाक्यवदित्याह—यदपीति । अन्यपरादपि वाक्याद् बाधाभावे स्वार्थो ग्राह्य इत्याह—अत्र ब्रूम इति । तात्पर्यशून्येऽपि अर्थे प्रत्ययमात्रेण अस्तित्वमुदा-

रत्नप्रभाका अनुवाद

हैं, ऐसा जो पीछे कहा गया है, वह युक्त नहीं है, क्योंकि सर्वत्र ही जड़ और चेतन दो अंश हैं, ऐसा कहते हैं—"मृद्" इत्यादिसे । आदित्य आदिमें कौन जड़ भाग है और कौन चेतन भाग है ? इसपर कहते हैं—"ज्योतिरादेस्तु" इत्यादि । मंत्र आदि पदशक्तिसे भासमान विग्रह आदि जो स्वार्थ है, उसमें प्रमाण नहीं है, क्योंकि 'विषं भुङ्क्ष्व' (विष खाओ) वाक्यके समान अन्यार्थक है, ऐसा कहते हैं—"यदपि" इत्यादिसे । अन्यपरक वाक्यसे भी यदि बाध न हो, तो स्वार्थका ग्रहण करना चाहिए, ऐसा कहते हैं—"अत्र ब्रूमः" इत्यादिसे ।

भाष्य

नाऽन्यार्थत्वमनन्यार्थत्वं वा। तथा ह्यन्यार्थमपि प्रस्थितः पथि पतितं तृणपर्णाद्यस्तीत्येव प्रतिपद्यते। अत्राऽऽह—विषम उपन्यासः। तत्र हि तृणपर्णादिविषयं प्रत्यक्षं प्रवृत्तमस्ति, येन तदस्तित्वं प्रतिपद्यते। अत्र पुनर्विध्युद्देशैकवाक्यभावेन स्तुत्यर्थेऽर्थवादे न पार्थगर्थ्येन वृत्तान्तविषया प्रवृत्तिः शक्याऽध्यवसातुम्। नहि महावाक्येऽर्थप्रत्यायकेऽवान्तरवाक्यस्य पृथक्प्रत्यायकत्वमस्ति। 'तथा न सुरां पिबेत्' इति नञ्वति वाक्ये पदत्रयसम्बन्धात् सुरापानप्रतिषेध एवैकोऽर्थोऽवगम्यते, न पुनः सुरां पिबेदिति

भाष्यका अनुवाद

अप्रतीति कारण है, किन्तु उसके वाचक पदका अन्यार्थकत्व या अनन्यार्थकत्व कारण नहीं है। जैसे कि किसी प्रयोजनके लिए निकले हुए पुरुपको मार्गमें पड़े हुए घास-पत्तों आदि की प्रतीति होती है—इसपर कहते हैं कि जो दृष्टान्त दिया गया है, वह विषम है। वहां तो घास, पत्ते आदिका प्रत्यक्ष होता है। उससे उसके अस्तित्वकी प्रतीति होती है। परन्तु यहां तो विधिवाक्यके साथ एकवाक्यता प्राप्त करनेसे अर्थवाद स्तुत्यर्थक है, अतः स्वतन्त्रतया वह भूतार्थका प्रतिपादक है ऐसा निश्चय नहीं हो सकता। अर्थकी प्रतीति करानेवाले महावाक्यमें अवान्तरवाक्य भिन्न अर्थकी प्रतीति नहीं करा सकता। जैसे कि 'न सुरां पिबेत्' (सुरा न पीवे) इस नकारवाले वाक्यमें तीन पदोंके सम्बन्धसे सुरापानका प्रतिषेधरूप एकही अर्थ प्रतीत होता है, 'सुरां पिबेत्' (सुरा पीवे) इन दो

रत्नप्रभा

हरति—तथा हीति। तृणादौ प्रत्ययोऽस्ति विग्रहादौ स नाऽस्तीति वैषम्यं शङ्कते—अत्राऽऽहेति। विध्युद्देशः—विधिवाक्यम्, तदेकवाक्यतया प्रशस्तो विधिः इत्येव अर्थवादेषु प्रत्ययः। वृत्तान्तः—भूतार्थो विग्रहादिः, तद्विषयः प्रत्ययो नाऽस्ति इत्यर्थः। ननु अवान्तरवाक्येन विग्रहादिप्रत्ययोऽस्ति इत्यत आह—नहीति।

रत्नप्रभाका अनुवाद

जिस अर्थमें तात्पर्य नहीं है, वह अर्थ भी प्रतीतिमात्रसे सिद्ध होता है, इस विषयमें उदाहरण देते हैं—"तथाहि" इत्यादिसे। परन्तु तृण आदिमें प्रत्यय—प्रत्यक्षप्रमाण हैं, शरीर आदिमें नहीं है, इस प्रकार दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिकमें वैषम्यकी शंका करते हैं—"अत्राह" इत्यादिसे। विध्युद्देश—विधिवाक्य, वाक्यैकवाक्यतासे विधिकी प्रशंसाका ज्ञान अर्थवादमें होता है, वृत्तान्त—सिद्धार्थ विग्रह आदिका ज्ञान नहीं होता यह भाव है। यदि कोई कहे कि अवान्तरवाक्यार्थसे विग्रह आदिका ज्ञान हो, इसपर कहते हैं—"नहि" इत्यादि। आशय

भाष्य

पदद्वयसम्बन्धात् सुरापानविधिरपीति। अत्रोच्यते—विषम उपन्यासः। युक्तं यत्सुरापानप्रतिषेधे पदान्वयस्यैकत्वादवान्तरवाक्यार्थस्याऽग्रहणम्, विध्युद्देशार्थवादयोस्त्वर्थवादस्थानि पदानि पृथगन्वयं वृत्तान्तविषयं प्रतिपद्याऽनन्तरं कैमर्थ्यवशेन कामं विधेः स्तावकत्वं प्रतिपद्यन्ते। यथा हि—'वायव्यं श्वेतमालभेत भूतिकामः' इत्यत्र विध्युद्देशवर्तिनां

भाष्यका अनुवाद

पदोंके सम्बन्धसे सुरापानकी विधिकी प्रतीति नहीं होती। यहां कहते हैं—दृष्टान्त विषम है। सुरापानके प्रतिषेधमें पदान्वय एक होनेके कारण अवान्तर वाक्यार्थका ग्रहण न होना युक्त है। परन्तु विधिवाक्य और अर्थवादमेंसे तो अर्थवादमें रहनेवाले पद भूत-सिद्ध अर्थमें पृथक् अन्वित होकर पश्चात् कैमर्थ्यसे[1] विधिवाक्यके स्तावक होते हैं, जैसे 'वायव्यं श्वेतं०' (ऐश्वर्य चाहनेवाला वायु-

रत्नप्रभा

सुरापानप्रत्ययोऽपि स्यादिति भावः। पदैकवाक्यत्ववाक्यैकवाक्यत्ववैषम्याद् मैवमित्याह—अत्रोच्यत इति। नञ्पदम् एकं यदा सुरां पिबेदिति पदाभ्याम् अन्वेति, तदा पदैकवाक्यम् एकमेव अर्थानुभवं करोति, न तु पदद्वयं पृथक् सुरापानं बोधयति, तस्य विधौ निषेधानुपपत्तेः वाक्यार्थानुभवं प्रति अद्वारत्वात्। अर्थवादस्तु भूतार्थसंसर्गं स्तुतिद्वारं बोधयन् विधिना वाक्यैकवाक्यतां भजते इत्यस्ति विग्रहाद्यनुभव इत्यर्थः। ननु अर्थवादस्थपदानाम् अवान्तरसंसर्गबोधकत्वं विना साक्षादेव विध्यन्वयोऽस्तु, तत्राऽऽह—यथा हीति। साक्षाद् अन्वयायोगं

रत्नप्रभाका अनुवाद

यह कि 'न सुरां पिबेत्' से सुरापानका भी ज्ञान हो जायगा। पदैकवाक्यता और वाक्यैकवाक्यता से वैषम्य है, अतः यह कथन ठीक नहीं है, ऐसा कहते हैं—"अत्रोच्यते" इत्यादिसे। एक 'नञ्' पद 'सुरां पिबेत्' इन दो पदोंके साथ जब अन्वित होता है, तब पदैकवाक्यतासे एक ही अर्थका अनुभव कराता है, दो पद अलग सुरापानका बोध नहीं कराते हैं। यदि अलग सुरापानकी विधि कही जाय, तो सुरापानका निषेध नहीं हो सकेगा, क्योंकि वाक्यार्थानुभवके प्रति वह सुरापान द्वार-कारण ही न रहेगा। अर्थवाद तो स्तुतिके द्वारभूत भूतार्थ-संबन्धका बोध कराता हुआ विधिके साथ वाक्यैकवाक्यताको प्राप्त करता है, इस कारण अर्थवादोंसे देवता आदिके शरीरका ज्ञान होता है। परन्तु अर्थवादपदोंके अवान्तर संसर्गका बोध किये बिना साक्षात् विधिके साथ अन्वय हो,

(१) कैमर्थ्य—किमर्थता अर्थात् यह वर्णन किसलिए है, ऐसे प्रयोजनवशसे।

भाष्य

वायव्यादिपदानां विधिना सम्बन्धः, नैवं 'वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता वायुमेव स्वेन भागधेयेनोपधावति स एवेनं भूतिं गमयति' इत्येषामर्थवादगतानां पदानाम्। नहि भवति 'वायुर्वा आलभेत' इति 'क्षेपिष्ठा देवता वा आलभेत' इत्यादि। वायुस्वभावसंकीर्तनेन त्ववान्तरमन्वयं प्रतिपद्यैवंविशिष्ट-दैवत्यमिदं कर्मेति विधिं स्तुवन्ति। तद्यत्र योऽवान्तरवाक्यार्थः प्रमाणान्तर-गोचरो भवति, तत्र तदनुवादेनाऽर्थवादः प्रवर्तते। यत्र प्रमाणान्तरवि-रुद्धस्तत्र गुणवादेन। यत्र तु तदुभयं नास्ति, तत्र किं प्रमाणान्तराभावाद्

भाष्यका अनुवाद

देवके लिए श्वेत पशुका आलभन करे) इसमें विधिवाक्यगत वायव्य आदि पदोंका विधिके साथ सम्बन्ध है, उस प्रकार 'वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता०' (वायु सबकी अपेक्षा अतिशय क्षिप्र गति देवता है यजमान अपने वायुके भागसे वायुका ध्यान करता है, वही इसको ऐश्वर्यशाली बनाता है) इन अर्थवादवाक्यस्थ पदोंका विधिके साथ सम्बन्ध नहीं है। निश्चय, 'वायुरालभेत' या 'क्षेपिष्ठा देवता आलभेत' ऐसा अन्वय नहीं होता। अर्थवादके वायु पदका या 'क्षेपिष्ठा देवता' इन पदोंका आलभेत विधिके साथ सम्बन्ध नहीं होता, किन्तु वायुका स्वभावके कथनद्वारा अवान्तर अन्वय प्राप्त करके ही इस प्रकार विशिष्ट देवतावाला यह कर्म्म है, इस तरह विधिकी स्तुति करते हैं। जहां वह अवान्तर वाक्यार्थ अन्य प्रमाणका विषय होता है वहां उसके अनुवादसे अर्थवाद प्रवृत्त होता है और जहां प्रमाणसे विरोध है, वहां गुणवादसे; जहां वे दोनों नहीं होते, वहां अन्य

रत्नप्रभा

दर्शयति—नहीति। अर्थवादात् सर्वत्र स्वार्थग्रहणम् आशङ्क्य अर्थवादान् विभजते—तद्यत्रेति। तत्—तत्र अर्थवादेषु, यत्र—"अग्निर्हिमस्य भेषजम्" इत्यादौ इत्यर्थः। "आदित्यो यूपः" इति अभेदो बाधित इति तेजस्वित्वादि-गुणवादः, यत्र—"वज्रहस्तः पुरन्दरः" इत्यादौ मानान्तरसंवादविसंवादौ न स्तः, तत्र

रत्नप्रभाका अनुवाद

उसपर कहते हैं—"यथा हि" इत्यादि। साक्षात् अन्वयका अयोग दिखलाते हैं—"नहि" इत्यादिसे। अर्थवादवाक्योंसे सर्वत्र स्वार्थका ग्रहण हो, ऐसी आशङ्का करके अर्थवादका विभाग करते हैं—"तद्यत्र" इत्यादिसे। उनमें—अर्थवादवाक्योंमें यत्र-'अग्निर्हिमस्य भेषजम्' इत्यादिमें अनुवाद समझो। 'आदित्यो यूपः' इसमें आदित्य और यूपका अभेद बाधित है। इसलिए यूपमें तेज आदि गुणोंका कथन है, इसे गुणवाद समझो। 'वज्रहस्तः पुरन्दरः' इत्यादिमें अन्य

भाष्य

गुणवादः स्याद् , आहोस्वित् प्रमाणान्तराविरोधाद् विद्यमानार्थवाद इति प्रतीतिशरणैर्विद्यमानार्थवाद आश्रणीयो न गुणवादः। एतेन मन्त्रो व्याख्यातः। अपि च विधिभिरेवेन्द्रादिदैवत्यानि हवींषि चोदयद्भिरपेक्षितमिन्द्रादीनां स्वरूपम् , नहि स्वरूपरहिता इन्द्रादयश्चेतस्यारोपयितुं

भाष्यका अनुवाद

प्रमाणके अभावसे गुणवाद हो अथवा अन्य प्रमाणके अविरोधसे विद्यमानवाद हो, ऐसा सन्देह उपस्थित होनेपर विचारशीलोंको विद्यमानवादका आश्रयण करना चहिए, गुणवादका नहीं। इसी प्रकार मन्त्रमें समझना चाहिए। और इन्द्र आदि देवताओंको हवि देनेकी प्रेरणा करनेवाली विधियाँ ही इन्द्र आदिके स्वरूपकी अपेक्षा रखती हैं। यदि इन्द्र आदि देवता वस्तुतः स्वरूपरहित हों, तो

रत्नप्रभा

भूतार्थवाद इत्यर्थः, इति विमृश्य इति अध्याहारः। विग्रहार्थवादः स्वार्थेऽपि तात्पर्यवान्, अन्यपरत्वे सति अज्ञाताबाधितार्थकशब्दत्वात् , प्रयाजादिवाक्यवदिति न्यायं मन्त्रेषु अतिदिशति—**एतेनेति**। वेदान्तानुवादगुणवादानां निरासाय हेतौ पदानि। न च उभयपरत्वे वाक्यभेदः, अवान्तरार्थस्य महावाक्यार्थद्वारत्वादिति भावः। विध्यनुपपत्त्याऽपि स्वर्गवद् देवताविग्रहोऽङ्गीकार्य इत्याह—**अपि चेति**। ननु क्लेशात्मके कर्मणि विधिः फलं विना अनुपपन्न इति भवतु "यन्न दुःखेन संभिन्नम्" इत्यर्थवादसिद्धः स्वर्गो विधिप्रमाणकः, विग्रहं विना विधेः का

रत्नप्रभाका अनुवाद

प्रमाणके साथ संवाद या विवाद नहीं है, इसको भूतार्थवाद—सत्य अर्थका वाद समझो। 'इति'के बाद 'विमृश्य' का अध्याहार कर लेना चाहिए। विग्रहार्थवाद स्वार्थमें भी तात्पर्य रखता है, अन्यपरक होकर अज्ञात अबाधित अर्थका प्रतिपादक शब्द होनेके कारण, प्रयाज आदि वाक्योंके समान, इस न्यायका मन्त्रोंमें अतिदेश करते हैं—"एतेन" इत्यादिसे। वेदान्त, गुणवाद और अनुवादमें व्यभिचारका वारण करनेके लिए 'अन्यपरत्वे सति अज्ञाताबाधितार्थक शब्दत्वात्' इस हेतुमें तीन विशेषण दिये गये हैं। उभयपरक होनेपर भी वाक्यभेद नहीं होता है, क्योंकि अवान्तरवाक्यार्थ महावाक्यार्थका द्वारभूत है। देवताका रूप न माननेसे विधि अनुपपन्न होती है, इसलिए विधिकी अनुपपत्तिसे भी स्वर्ग आदिके समान देवताके विग्रहका अङ्गीकार करना चाहिए; ऐसा कहते हैं—"अपि च" इत्यादिसे। परन्तु क्लेशात्मक कर्ममें फलके बिना विधि अनुपपन्न है, इसलिए "यन्न दुःखेन संभिन्नम्" (जो दुःखसे संभिन्न नहीं) इस अर्थवादसे सिद्ध वस्तुरूप स्वर्गमें विधि प्रमाण रहे। विग्रह आदि न माननेसे विधिकी अनुपपत्ति ही

भाष्य

शक्यन्ते। न च चेतस्यनारूढायै तस्यै तस्यै देवतायै हविः प्रदातुं शक्यते। श्रावयति च—'यस्यै देवतायै हविर्गृहीतं स्यात्तां ध्यायेद् वषट्करिष्यन्' (ऐ० ब्रा० ३।८।१) इति। न च शब्दमात्रमर्थस्वरूपं संभवति, शब्दार्थयोर्भेदात्, तत्र यादृशं मन्त्रार्थवादयोरिन्द्रादीनां स्वरूप-

भाष्यका अनुवाद

उनका ध्यान नहीं किया जा सकता और ध्यान न होनेसे उन्हें हवि भी नहीं दिया जा सकता। श्रुति भी 'यस्यै देवतायै०' (जिस देवताके लिए हविका ग्रहण किया हो, उसका वषट्कार करनेसे पहले ध्यान करना चाहिए) ऐसा कहती है। और केवल शब्द अर्थका स्वरूप नहीं हो सकता, क्योंकि शब्द और अर्थका भेद है। उन मन्त्र और अर्थवादमें इन्द्र आदिका जैसा स्वरूप

रत्नप्रभा

अनुपपत्तिः तामाह—नहीति। उद्दिश्य त्यागानुपपत्त्या चेतसि आरोहोऽङ्गीकार्य इत्यत्र श्रुतिमपि आह—यस्यै इति। अतः चेतसि आरोहार्थं विग्रह एष्टव्यः। किञ्च, कर्मप्रकरणपाठाद् विग्रहप्रमितिरपि प्रयाजवत् कर्माङ्गत्वेन अङ्गीकार्या, तां विना कर्मापूर्वासिद्धेः। किञ्च, सुप्रसन्नविग्रहवद् देवतां त्यक्त्वा शब्दमात्रं देवता इति उक्तिरयुक्ता इत्याह—न च शब्देति। न च आकृतिमात्रं शब्दशक्यम् अस्तु, किं विग्रहेण इति वाच्यम्; निर्व्यक्त्याकृत्ययोगात्। अतः शब्दस्य अर्थाकाङ्क्षायां मन्त्रादिप्रमितविग्रहोऽङ्गीकार्य इत्याह—तत्रेति। एवं

रत्नप्रभाका अनुवाद

क्या है? इस शंकापर अनुपपत्ति दिखलाते हैं—"नहि" इत्यादिसे। चित्तमें देवताके स्वरूपका ध्यान किये बिना देवताके उद्देश्यसे द्रव्यत्याग करना संगत नहीं हो सकता, इसलिए देवताओंके स्वरूपके ध्यानका स्वीकार करना चाहिए। इस विषयमें प्रमाणभूत श्रुतिको भी उद्धृत करते हैं—"यस्यै" इत्यादिसे। इसलिए चित्तमें आरूढ़ करनेके लिए विग्रह अवश्य मानना चाहिए और देवताओंके शरीरका प्रतिपादन करनेवाली श्रुति कर्मके प्रकरणमें पढ़ी गई है, इसलिए प्रयाजके समान विग्रहका ज्ञान भी कर्मके अंगरूपसे मानना चाहिए, अन्यथा देवताओंके शरीरके अभावमें कर्मसे अपूर्व ही उत्पन्न नहीं होगा। और सुप्रसन्न विग्रहवाले देवताका त्याग करके केवल शब्द-मात्र देवता है, यह कथन अयुक्त है, ऐसा कहते हैं—"न च शब्दः" इत्यादिसे। आकृतिमात्र ही शब्दका शक्य हो, शरीर माननेकी क्या आवश्यकता है, यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि व्यक्तिके बिना जाति रह ही नहीं सकती। इसलिए शब्दको अर्थकी अपेक्षा होनेके कारण मन्त्रादिसे ज्ञात विग्रहका ही अङ्गीकार करना चाहिए, ऐसा कहते हैं—"तत्र" इत्यादिसे। इस

भाष्य

मवगतं न तत् तादृशं शब्दप्रमाणकेन प्रत्याख्यातुं युक्तम्। इतिहास-पुराणमपि व्याख्यातेन मार्गेण संभवद् मन्त्रार्थवादमूलत्वात् प्रभवति देवताविग्रहादि साधयितुम्। प्रत्यक्षादिमूलमपि संभवति। भवति ह्यस्माकमप्रत्यक्षमपि चिरन्तनानां प्रत्यक्षम्। तथा च व्यासादयो देवादिभिः प्रत्यक्षं व्यवहरन्तीति स्मर्यते। यस्तु ब्रूयादिदानीन्तनानामिव पूर्वेषामपि नास्ति देवादिभिर्व्यवहर्तुं सामर्थ्यमिति, स जगद्वैचित्र्यं प्रतिषेधेत्। इदानीमिव च नाऽन्यदापि सार्वभौमः क्षत्रियोऽस्तीति ब्रूयात्। ततश्च

भाष्यका अनुवाद

बतलाया गया है, वह वैसा ही है, उसका प्रतिषेध करना शब्द-प्रमाण माननेवालोंके लिए उचित नहीं है। इतिहास और पुराण भी मन्त्रमूलक और अर्थवादमूलक होनेके कारण प्रमाण होनेसे उपर्युक्त रीतिसे देवताके विग्रह आदि सिद्ध करनेमें समर्थ होते हैं। और देवताके शरीरादिमें प्रत्यक्ष आदि भी मूल हैं। जो हमको अप्रत्यक्ष हैं वे भी चिरन्तनों—प्राचीनोंको प्रत्यक्ष हो सकते हैं। जैसे कि व्यास आदि देवताओंके साथ प्रत्यक्ष व्यवहार करते हैं, ऐसी स्मृति है। आजकलके समान प्राचीन लोग देवता आदिके साथ व्यवहार करनेमें समर्थ न थे, ऐसा जो कहेगा, वह जगत्‌की विचित्रताका अपलाप करेगा और आजकलके समान अन्य समयमें भी सार्वभौम क्षत्रियोंकी सत्ताका निषेध करेगा, तब राजसूय

रत्नप्रभा

मन्त्रार्थवादमूलकम् इतिहासादिकमपि विग्रहे मानमित्याह—इतिहासेति। प्रमाणत्वेन संभवदित्यर्थः। व्यासादीनां योगिनां देवतादिप्रत्यक्षमपि इतिहासादेर्मूलमित्याह—प्रत्यक्षेति। व्यासादयो देवतादिप्रत्यक्षशून्याः, प्राणित्वाद्, अस्मद्वत, इत्यनुमानम् अतिप्रसंगेन दूषयति—यस्त्वित्यादिना। सर्वं घटाभिन्नम्, वस्तुत्वात्, घटवदिति जगद्वैचित्र्यं नास्ति इत्यपि स ब्रूयात्। तथा क्षत्रियाभावं

रत्नप्रभाका अनुवाद

प्रकार मन्त्र और अर्थवाद जिनका मूल है, ऐसे इतिहास आदि भी विग्रहमें प्रमाणभूत हैं, ऐसा कहते हैं—"इतिहास" इत्यादिसे। 'सम्भवत्'—प्रमाण होता हुआ। व्यास आदि योगियोंको जो देवता आदिका प्रत्यक्ष होता है, वह भी इतिहास आदिका मूल है, ऐसा कहते हैं—"प्रत्यक्ष" इत्यादिसे। व्यास आदि देवताके प्रत्यक्षसे रहित हैं, प्राणी होनेसे, हमारे समान, इस अनुमानमें व्यभिचाररूप दोष दिखाते हैं—"वस्तु" इत्यादिसे। जो पुरुष यह कहता है कि 'सब वस्तुएँ घटसे अभिन्न हैं, वस्तु होनेसे, घटके समान, वह जगत्‌की विचित्रताका निषेध

भाष्य

राजसूयादिचोदनोपरुन्ध्यात्। इदानीमिव च कालान्तरेऽप्यव्यवस्थितप्रायान् वर्णाश्रमधर्मान् प्रतिजानीत, ततश्च व्यवस्थाविधायि शास्त्रमनर्थकं स्यात्। तस्माद्धर्मोत्कर्षवशाच्चिरन्तना देवादिभिः प्रत्यक्षं व्यवजह्रुरिति श्लिष्यते। अपि च स्मरन्ति—'स्वाध्यायादिष्टदेवतासंप्रयोगः' (यो० सू० २।४४) इत्यादि। योगोऽप्यणिमाद्यैश्वर्यप्राप्तिफलकः स्मर्यमाणो न शक्यते साहसमात्रेण प्रत्याख्यातुम्। श्रुतिश्च योगमाहात्म्यं प्रख्यापयति—

'पृथ्व्यप्तेजोऽनिलखे समुत्थिते पञ्चात्मके योगगुणे प्रवृत्ते।
न तस्य रोगो न जरा न मृत्युः प्राप्तस्य योगाग्निमयं शरीरम्॥'

भाष्यका अनुवाद

आदि विधि बाधित हो जायगी और आजकलके समान अन्य समयमें भी वर्णाश्रमधर्म अव्यवस्थित ही था, ऐसी प्रतिज्ञा करनी पड़ेगी, ऐसी स्थितिमें व्यवस्था करनेवाला शास्त्र व्यर्थ हो जायगा। इससे सिद्ध हुआ कि धर्मके उत्कर्षके कारण प्राचीन लोग देवता आदिके साथ प्रत्यक्ष व्यवहार करते थे। और 'स्वाध्यायादिष्ट०' (स्वाध्यायसे इष्टदेवताके साथ सम्प्रयोग और संभाषण आदि सम्बन्ध होता है) इत्यादि स्मृति भी है। अणिमा आदि ऐश्वर्य प्राप्तिका साधन और स्मृतिसिद्ध योगका भी सहसा निषेध नहीं किया जा सकता। 'पृथ्व्यप्तेजो०' (पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश, इन पांच भूतोंके अपने वशमें होनेसे और अणिमा आदि सिद्धियोंकी प्राप्ति होनेसे अभिव्यक्त

रत्नप्रभा

वर्णाश्रमाभावं वर्णाश्रमाद्यव्यवस्थां च ब्रूयात्, निरङ्कुशबुद्धित्वात्। तथा च राजसूयादिशास्त्रस्य कृतादियुगधर्मव्यवस्थाशास्त्रस्य बाध इत्यर्थः। योगसूत्राद् अपि देवादिप्रत्यक्षसिद्धिरित्याह—अपि चेति। मन्त्रजपाद् देवसान्निध्यं तत्संभाषणं चेति सूत्रार्थः। योगमाहात्म्यस्य श्रुतिस्मृतिसिद्धत्वाद् योगिनामस्ति देवादिप्रत्यक्षमित्याह—योग इति। पादतलात् आजानोः, जानोः आनाभेः, नाभेः आग्रीवायाः, ग्रीवा-

रत्नप्रभाका अनुवाद

करेगा। इसी प्रकार वह निरंकुश बुद्धि होनेसे क्षत्रिय आदि वर्ण और आश्रमका, तथा वर्ण और आश्रम आदिकी व्यवस्थाओंका भी अपलाप करेगा। तब राजसूय आदि शास्त्र और कृतयुग आदि युगोंके धर्म-व्यवस्थाशास्त्रका भी बाध होगा। और योगसूत्रसे भी देवता आदिका प्रत्यक्ष सिद्ध होता है, ऐसा कहते हैं—"अपि च" इत्यादिसे। मंत्रजपसे देवताका सांनिध्य और उसके साथ संभाषण होता है यह सूत्रका अर्थ है। योगमाहात्म्य श्रुति और स्मृतिसे सिद्ध है, इससे योगियोंको देवता आदिका प्रत्यक्ष होता है, ऐसा कहते हैं—"योग" इत्यादिसे। आशय यह कि पादतलसे जानुपर्यन्त,

भाष्य

(श्वे० २ । १२) इति । ऋषीणामपि मन्त्रब्राह्मणदर्शिनां सामर्थ्यं नाऽस्मदीयेन सामर्थ्येनोपमातुं युक्तम् । तस्मात् समूलमितिहासपुराणम् । लोकप्रसिद्धिरपि न सति संभवे निरालम्बनाऽध्यवसातुं युक्ता, तस्मादुपपन्नो मन्त्रादिभ्यो देवादीनां विग्रहवत्त्वाद्यवगमः । ततश्चार्थित्वादिसम्भवादुपपन्नो देवादीनामपि ब्रह्मविद्यायामधिकारः । क्रममुक्तिदर्शनान्यप्येवमेवोपपद्यन्ते ॥ ३३ ॥

भाष्यका अनुवाद

तेजोमय देहको प्राप्त हुए योगीको रोग, जरा और मृत्यु आदि नहीं होते) इत्यादि श्रुतिभी योगका माहात्म्य कहती है । मन्त्र और ब्राह्मणके द्रष्टा ऋषियोंकी सामर्थ्यकी अपनी सामर्थ्यसे तुलना करना ठीक नहीं है । इसलिए इतिहास और पुराण समूल—प्रमाणभूत हैं । लोकप्रसिद्धि भी श्रुति, स्मृति आदि आधारोंके रहते निराधार नहीं कही जा सकती । इसलिए मन्त्र आदिसे—देवता आदिका विग्रह हैं, इत्यादि प्रतीत होना युक्त है । और उनमें अर्थित्व आदिके सम्भवसे देवता आदिका भी ब्रह्मविद्यामें अधिकार युक्त है । ऐसा माननेसे ही क्रममुक्तिका प्रतिपादन करनेवाली श्रुतियाँ भी संगत होती हैं ॥३३ ॥

रत्नप्रभा

याश्चाऽऽकेशप्ररोहम्, ततश्च आब्रह्मरन्ध्रं पृथिव्यादिपञ्चके समुत्थिते—धारणया जिते योगगुणे च अणिमादिके प्रवृत्ते योगाभिव्यक्तं तेजोमयं शरीरं प्राप्तस्य योगिनो न रोगादिस्पर्श इत्यर्थः । चित्रकारादिप्रसिद्धिरपि विग्रहे मानमित्याह—लोकेति । अधिकरणार्थम् उपसंहरति—तस्मादिति । चिन्तायाः फलमाह—क्रमेति । एवमेव—देवादीनां ब्रह्मविद्याधिकारे सत्येव देवत्वप्राप्तिद्वारा मुक्तिफलोपासनानि युज्यन्ते । देवानाम् अनधिकारे ज्ञानाभावात् क्रममुक्त्यर्थिनामुपासनेषु प्रवृत्तिः न स्यात् । अतोऽधिकारनिर्णयात् प्रवृत्तिसिद्धिरिति भावः ॥ ३३ ॥ (८)

रत्नप्रभाका अनुवाद

जानुसे नाभिपर्यन्त, नाभिसे ग्रीवापर्यन्त, ग्रीवासे केशके उद्गम स्थान तक और वहांसे ब्रह्मरंध्रपर्यन्त पृथिवी आदि पाँचोंके धारणासे जीते जानेपर और योगगुण अणिमा आदिकी प्राप्ति होनेपर योगसे अभिव्यक्त तेजोमय शरीरको प्राप्त हुए योगीको रोग आदिका स्पर्श नहीं होता । चित्रकार आदिकी प्रसिद्धि भी विग्रहमें प्रमाणभूत है, ऐसा कहते हैं–"लोक" इत्यादिसे । "क्रम" इत्यादिसे चिन्ताका फल कहते हैं । 'एवमेव'–देवता आदिका ब्रह्मविद्यामें अधिकार सिद्ध होनेपर ही देवत्वप्राप्ति द्वारा क्रममुक्ति फलवाली उपासनाएँ संगत होती हैं । देवोंका अधिकार न हो, तो ज्ञान न होनेसे क्रममुक्तिकी कामनावालोंकी उपासनामें प्रवृत्ति ही नहीं होगी, इसलिए अधिकारके निर्णयसे प्रवृत्ति सिद्ध होती है, ऐसा अर्थ है ॥३३॥

[९ अपशूद्राधिकरण सू० ३४–३८]

शूद्रोऽधिक्रियते वेदविद्यायामथवा नहि ।
अत्रैवर्णिकदेवाद्या इव शूद्रोऽधिकारवान् ॥१॥
देवाः स्वयंभातवेदाः शूद्रोऽध्ययनवर्जनात् ।
नाधिकारी श्रुतौ स्मार्ते त्वधिकारो न वार्यते* ॥२॥

[अधिकरणसार]

सन्देह—वेदविद्यामें शूद्रका अधिकार है अथवा नहीं ?

पूर्वपक्ष—जैसे त्रैवर्णिकेतर—ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्योंसे भिन्न देवताओंका वेदविद्यामें अधिकार है, उसी भांति शूद्रका भी वेदविद्यामें अधिकार हो सकता है ।

सिद्धान्त—देवताओंमें वेदका अपने आप आविर्भाव होता है और शूद्रके लिए वेदके अध्ययनका निषेध है, अतः शूद्रका वेदमें अधिकार नहीं है, किन्तु स्मृति, पुराण आदिमें उसके अधिकारका निषेध नहीं किया जाता ।

---

* तात्पर्य यह कि छान्दोग्य उपनिषद्के चौथे अध्यायमें संवर्गविद्या कही गई है—"आजहारेमाः शूद्र अनेनैव मुखेनाऽऽलापयिष्यथाः" इसका अर्थ है कि जानश्रुति नामक कोई शिष्य हजार गायें, कन्या, मोतियोंका हार एवं कुछ गांव उपहाररूपसे लेकर गुरु रैक्कके पास गया । वहींपर रैक्कका यह वचन है—हे शूद्र जानश्रुति ! हजार गायें आदि जो उपायन तुम लाये हो, इसी कन्या आदि उपायन द्वारा मेरे चित्तको प्रसन्न करके उपदेश कराओगे ।

यहांपर पूर्वपक्षी कहता है कि शूद्र भी वेदविद्याका अधिकारी है, क्योंकि जैसे त्रैवर्णिकेतर देवताओंका वेदविद्यामें अधिकार है, उसी प्रकार त्रैवर्णिकभिन्न शूद्रका भी विद्यामें अधिकार हो सकता है ।

सिद्धान्ती कहते हैं कि देवताओंके साथ शूद्रकी तुलना नहीं की जा सकती । देवताओंका उपनयन न होनेपर भी पूर्वजन्ममें उपार्जित सुकृतसे उन्हें स्वतः वेदोंका भान हो जाता है । शूद्रमें तो वैसा कोई सुकृत नहीं है, अतः उसे अपने आप वेदोंकी प्राप्ति नहीं हो सकती । उपनयन न होनेके कारण वे उसे पढ़ भी नहीं सकते । इसलिए विद्वत्तारूप हेतुके अभावसे शूद्र श्रौतविद्याका अधिकारी नहीं है । तो पूर्वोक्त वाक्यमें जानश्रुतिके लिए प्रयुक्त शूद्रशब्द किस प्रकार संगत होता है ? इसपर कहते हैं–उक्त वाक्यमें कथित शूद्रशब्द यौगिक है, रूढ़ नहीं है । विद्या न होनेसे उत्पन्न हुए शोकसे वह गुरुके पास गया, इसलिए वह शूद्र कहा गया है । रूढ़िसे यौगिक अर्थका बाध नहीं किया जा सकता, क्योंकि यहां रूढ़ अर्थ लागू नहीं हो सकता । इस उपाख्यानमें सारथि भेजना आदि ऐश्वर्यके कथनसे प्रतीत होता है कि जानश्रुति क्षत्रिय था । शूद्रका वेदविद्यामें अधिकार न होनेसे मोक्षकी इच्छा होनेपर भी मुक्ति नहीं मिल सकती ? ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि स्मृति और पुराण द्वारा ज्ञान प्राप्त होनेपर मुक्ति हो सकती है । इससे सिद्ध हुआ कि शूद्र वेदविद्याका अधिकारी नहीं है ।

शुगस्य तदनादरश्रवणात्तदाद्रवणात् सूच्यते हि ॥ ३४ ॥

पदच्छेद—शुक्, अस्य, तदनादरश्रवणात्, तदाद्रवणात्, सूच्यते, हि ।

पदार्थोक्ति—अस्य—जानश्रुतेः, तदनादरश्रवणात् हंसस्यानादरश्रवणात् [या] शुक् शोकः [उत्पन्ना, सा] सूच्यते हि—शूद्रशब्देन सूच्यते, तदाद्रवणात्—जानश्रुतेः रैक्वं प्रति शुचा गमनात् [जानश्रुतिः शूद्र इत्युच्यते] ।

भाषार्थ—हंससे अपना अनादर सुनकर जानश्रुतिको जो शोक उत्पन्न हुआ, वह शूद्रशब्दसे सूचित किया गया है और शोकसे जानश्रुति रैक्वके पास गया इसलिए शूद्र कहा गया है ।

भाष्य

यथा मनुष्याधिकारनियममपोद्य देवादीनामपि विद्यास्वधिकार उक्तः, तथैव द्विजात्यधिकारनियमापवादेन शूद्रस्याऽप्यधिकारः स्यादित्येतामाशङ्कां निवर्तयितुमिदमधिकरणमारभ्यते । तत्र शूद्रस्याऽप्यधिकारः

भाष्यका अनुवाद

जैसे मनुष्यका ही विद्यामें अधिकार है इस नियमका अपवाद करके देवता आदिका भी विद्यामें अधिकार स्थापित किया है, उसी प्रकार द्विजातिका ही विद्यामें अधिकार है इस नियमके अपवादसे शूद्रका भी विद्यामें अधिकार हो, इस आशङ्काकी निवृत्तिके लिए इस अधिकरणका आरम्भ किया जाता है ।

रत्नप्रभा

शुगस्य""सूच्यते हि । पूर्वेण अस्य दृष्टान्तसङ्गतिमाह—यथेति । पूर्वत्र देवादीनाम् अधिकारसिद्धयर्थं मन्त्रादीनां भूतार्थे विग्रहादौ समन्वयोक्त्या वेदान्तानाम् अपि भूतार्थे ब्रह्मणि समन्वयो दृढीकृतः, अत्राऽपि शूद्रशब्दस्य श्रौतस्य क्षत्रिये समन्वयोक्त्या स दृढीक्रियते इति अधिकरणद्वयस्य प्रासङ्गिकस्य अस्मिन्

रत्नप्रभाका अनुवाद

"शुगस्य······सूच्यते हि" । पूर्वाधिकरणके साथ इसकी दृष्टान्तसंगति कहते हैं—"यथा" इत्यादिसे । पूर्वाधिकरणमें देवता आदिका अधिकार सिद्ध करनेके लिए मंत्र आदिका सिद्ध अर्थ शरीर आदिमें समन्वय कहकर उससे वेदान्तोंका भी सिद्ध अर्थ ब्रह्ममें समन्वय दृढ किया है, यहां भी श्रुतिमें पठित शूद्रशब्दका क्षत्रियमें समन्वय कहकर उसीको दृढ करते हैं, इसलिए

भाष्य

स्यादिति तावत् प्राप्तम्, अर्थित्वसामर्थ्ययोः सम्भवात्, 'तस्माच्छूद्रो यज्ञेऽनवक्लृप्तः' (तै० सं० ७।१।१।६) इतिवत् 'शूद्रो विद्यायामनवक्लृप्तः' इति निषेधाश्रवणाद्। यच्च कर्मस्वनधिकारकारणं शूद्रस्याऽनग्नित्वं न तद्विद्यास्वधिकारस्याऽपवादकम्। नह्याहवनीयादिरहितेन विद्या वेदितुं न शक्यते। भवति च श्रौतं लिङ्गं शूद्राधिकारस्योपोद्बलकम्, संवर्गविद्यायां हि जानश्रुतिं पौत्रायणं शुश्रूषुं शूद्रशब्देन परामृशति—'अह

भाष्यका अनुवाद

पूर्वपक्षी—ब्रह्मविद्यामें शूद्रका भी अधिकार है, क्योंकि अर्थित्व और सामर्थ्यका शूद्रमें भी सम्भव है और 'तस्माच्छूद्रो०' (इसलिए शूद्र यज्ञमें असमर्थ है) इसके समान 'शूद्रो विद्यायाम०' (शूद्र विद्यामें असमर्थ है) इस प्रकार निषेधका श्रवण भी नहीं है। कर्मोंमें शूद्रके अनधिकारका जो कारण अनग्नित्व है, वह विद्याओंमें उसके अधिकारका अपवाद नहीं कर सकता। आहवनीय आदि अग्नियोंसे रहित पुरुष विद्याका सम्पादन नहीं कर सकता यह बात नहीं है। श्रुति भी शूद्रके अधिकारका समर्थन करती है। संवर्गविद्यामें (ब्रह्म) श्रवण

रत्नप्रभा

समन्वयाध्याये अन्तर्भाव इति मन्तव्यम्। पूर्वपक्षे शूद्रस्याऽपि द्विजवद् वेदान्तश्रवणे प्रवृत्तिः, सिद्धान्ते तदभाव इति फलम्। अत्र वेदान्तविचारो विषयः, स किं शूद्रम् अधिकरोति न वा इति संभवासंभवाभ्यां सन्देहे पूर्वपक्षमाह—तत्र शूद्रस्याऽपीत्यादिना। तस्माद्—अनग्नित्वात्, अनवक्लृप्तः—असमर्थः। विद्यार्थिनि शूद्रशब्दप्रयोगात् लिङ्गादपि शूद्रस्य अधिकार इत्याह—भवति चेति। जानश्रुतिः किल षट् शतानि गवां रथं च रैक्काय गुरवे निवेद्य मां शिक्षय इत्युवाच, ततो रैक्को विधुरः कन्यार्थी सन् इदम् उवाच। अहेति निपातः

रत्नप्रभाका अनुवाद

इन दोनों प्रासंगिक अधिकरणोंका समन्वयाध्यायमें अन्तर्भाव है। पूर्वपक्षमें द्विजके समान वेदान्तश्रवणमें शूद्रकी प्रवृत्ति फल है और सिद्धान्तमें प्रवृत्तिका अभाव फल है। यहां वेदान्तविचार विषय है, वह शूद्रको अधिकार देता है या नहीं, इस प्रकार संभव और असंभवसे संशय होनेपर पूर्वपक्ष कहते हैं—"तत्र शूद्रस्याऽपि" इत्यादिसे। 'तस्मात्'—शूद्रके अग्निरहित होनेके कारण, 'अनवक्लृप्तः'—असमर्थ। विद्यार्थीमें शूद्रशब्दका प्रयोग है, इस लिंगसे भी विद्यामें शूद्रका अधिकार है। ऐसा कहते हैं—"भवति च" इत्यादिसे। कहते हैं कि जानश्रुतिने छः सौ गायें और रथ गुरु रैक्वको देकर यह विनती की कि मुझे शिक्षा दीजिये। तब कन्याके साथ विवाह करनेकी इच्छा रखनेवाले विधुर रैक्वने कहा। 'अह' यह खेद-

भाष्य

हारेत्वा शूद्र तवैव सह गोभिरस्तु' (छा० ४।२।३) इति। विदुरप्रभृतयश्च शूद्रयोनिप्रभवा अपि विज्ञानसम्पन्नाः स्मर्यन्ते। तस्मादधिक्रियते शूद्रो विद्यास्विति।

एवं प्राप्ते ब्रूमः—न शूद्रस्याऽधिकारः, वेदाध्ययनाभावात्। अधीतवेदो हि विदितवेदार्थो वेदार्थेष्वधिक्रियते। न च शूद्रस्य वेदाध्ययनमस्ति, उपनयनपूर्वकत्वाद् वेदाध्ययनस्य। उपनयनस्य च वर्णत्रयविषय-

भाष्यका अनुवाद

करनेकी इच्छा रखनेवाले पौत्रायण जानश्रुतिका रैक्वने 'अह हारेत्वा' (अरे शूद्र, रथ, हार—निष्क और गायें तेरे ही पास रहें) इस प्रकार शूद्रशब्दसे परामर्श किया है। स्मृति भी कहती है कि विदुर आदि शूद्र कुलमें उत्पन्न होनेपर भी विशिष्ट विज्ञानयुक्त थे। इसलिए शूद्रका विद्यामें अधिकार है।

सिद्धान्ती—ऐसा प्राप्त होनेपर हम कहते हैं—वेदाध्ययन न होनेके कारण शूद्रका विद्यामें अधिकार नहीं है; जिसने भली भाँति वेदका अध्ययन किया हो और वेदका अर्थ जाना हो, उसीका वेदार्थविचारमें अधिकार है। शूद्र तो वेदका अध्ययन कर ही नहीं सकता, क्योंकि वेदाध्ययन उपनयनपूर्वक ही

रत्नप्रभा

खेदार्थः। हारेण—निष्केण युक्त इत्वा—गन्ता रथो हारेत्वा स च गोभिः सह हे शूद्र तवैव अस्तु किमल्पेनाऽनेन मम गार्हस्थ्यानुपयोगिना इति भावः। अर्थित्वादिसंभवे श्रेयस्साधने प्रवृत्तिः उचिता स्वाभाविकत्वात् इति न्यायोपेतात् लिङ्गाद् इत्याह—**तस्मादिति**।

सूत्राद् बहिरेव सिद्धान्तयति—**न शूद्रस्याऽधिकार इत्यादिना**। आपाततो विदितो वेदार्थो येन तस्य इत्यर्थः। अध्ययनविधिना संस्कृतो वेदः तदुत्थम् आपातज्ञानञ्च वेदार्थविचारेषु शास्त्रीयं सामर्थ्यम्, तदभावात् शूद्रस्य अर्थित्वादि-

रत्नप्रभाका अनुवाद

वाचक निपात है। अरे शूद्र, कण्ठहारके साथ खच्चरियोंसे युक्त रथ और छः सौ गायें अपने ही पास रहने दे, गृहस्थाश्रमके लिए अनुपयुक्त इस अल्प द्रव्यकी मुझे इच्छा नहीं है। अर्थित्व आदि कारण होनेपर कल्याणसाधन—श्रवण आदिमें प्रवृत्ति होनी उचित है, क्योंकि ऐसी प्रवृत्ति स्वाभाविक है, इस न्यायसे युक्त लिंगसे शूद्र अधिकारी है, ऐसा कहते हैं— "तस्माद्" इत्यादिसे।

सूत्रसे बाहर ही सिद्धान्त करते हैं—"न शूद्रस्याधिकारः" इत्यादिसे। सामान्यतः वेदार्थका ज्ञान जिसे हुआ है, वह विद्यामें अधिकारी है, ऐसा अर्थ है। अध्ययनसे संस्कृत

भाष्य

यत्वात्। यत्तु अर्थित्वं न तदसति सामर्थ्येऽधिकारकारणं भवति। सामर्थ्यमपि न लौकिकं केवलमधिकारकारणं भवति। शास्त्रीयेऽर्थे शास्त्रीयस्य सामर्थ्यस्याऽपेक्षितत्वात्। शास्त्रीयस्य च सामर्थ्यस्याऽध्ययननिराकरणेन निराकृतत्वात्। यच्चेदम्--शूद्रो यज्ञेऽनवक्लृप्तः' इति तत् न्यायपूर्वकत्वाद् विद्यायामप्यनवक्लृप्तत्वं द्योतयति, न्यायस्य साधारणत्वात। यत्पुनः

भाष्यका अनुवाद

किया जा सकता है। और उपनयन केवल ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यका ही होता है। कामना रहनेपर भी यदि सामर्थ्य न हो तो अधिकारकी प्राप्ति नहीं हो सकती। केवल लौकिक सामर्थ्य ही अधिकारका कारण नहीं हो सकता, क्योंकि शास्त्रीय अर्थमें शास्त्रीय सामर्थ्यकी ही अपेक्षा होती है, और अध्ययनके निराकरणसे शास्त्रीय सामर्थ्यका निराकरण भी हो गया। 'शूद्रो यज्ञे०' (शूद्र यज्ञमें असमर्थ है) ऐसा जो कहा गया है, वह न्यायपूर्वक होनेसे विद्यामें भी असामर्थ्यको सूचित करता है, क्योंकि न्याय साधारण है और

रत्नप्रभा

संभवन्यायासिद्धेः नास्ति वेदान्तविचाराधिकार इत्यर्थः। यद्वा, अध्ययनसंस्कृतेन वेदेन विदितो निश्चितो वेदार्थो येन, तस्य वेदार्थेषु विधिषु अधिकारः नाऽन्यस्य, अनधीतवेदस्याऽपि वेदार्थानुष्ठानाधिकारे अध्ययनविधिवैयर्थ्यापातात्। अतः फलपर्यन्तब्रह्मविद्यासाधनेषु श्रवणादिविधिषु शूद्रस्य अनधिकार इत्यर्थः। अधीतवेदार्थज्ञानवत्त्वरूपस्य अध्ययनविधिलभ्यस्य सामर्थ्यस्य अभावादिति न्यायस्य तुल्यत्वाद् यज्ञपदं वेदार्थोपलक्षणार्थमित्याह—**न्यायस्य साधारणत्वादिति**।

रत्नप्रभाका अनुवाद

वेद और उससे उत्पन्न हुआ वेदका साधारण ज्ञान वेदान्तविचारमें शास्त्रीय सामर्थ्य है। शूद्रमें वह सामर्थ्य न होनेसे अर्थित्व आदिका संभव नहीं है, इससे वह वेदान्तविचारका अधिकारी नहीं है। अथवा अध्ययनसे संस्कृत वेदसे जिसने वेदार्थका निश्चय किया है, उसीका वेदार्थविधिमें अधिकार है, अन्यका नहीं है अर्थात् जो वेदाध्ययन नहीं करता उसका अधिकार नहीं है। जिसने वेद नहीं पढ़ा है, उसका भी यदि वेदार्थानुष्ठानमें अधिकार मान लिया जाय तो अध्ययनविधि व्यर्थ हो जायगी। इसलिए फलपर्यन्त ब्रह्मविद्याके साधन जो श्रवण आदि विधियाँ हैं, उनमें शूद्रका अधिकार नहीं है, ऐसा तात्पर्य है। अध्ययनविधिसे अधीत वेदके अर्थका ज्ञानरूप सामर्थ्य शूद्रमें नहीं है, यह न्याय यज्ञविधि और ब्रह्मविद्यामें तुल्य है, अतः 'शूद्रो यज्ञेऽनवक्लृप्तः' इसमें यज्ञपद वेदार्थका उपलक्षक है, ऐसा कहते हैं—"न्यायस्य

भाष्य

संवर्गविद्यायां शूद्रशब्दश्रवणं लिङ्गं मन्यसे, न तल्लिङ्गं न्यायाभावात्, न्यायोक्ते हि लिङ्गदर्शनं द्योतकं भवति, न चाऽत्र न्यायोऽस्ति। कामं चाऽयं शूद्रशब्दः संवर्गविद्यायामेवैकस्यां शूद्रमधिकुर्यात्, तद्विषयत्वात्, न सर्वासु विद्यासु अर्थवादस्थत्वात् तु न क्वचिदप्ययं शूद्रमधिकर्तुमुत्सहते।

भाष्यका अनुवाद

संवर्गविद्यामें शूद्रशब्दकी श्रुतिको जो तुम लिङ्ग मानते हो, वह वस्तुतः लिङ्ग नहीं है, क्योंकि अनुकूल न्याय नहीं है। लिङ्ग न्यायसङ्गत विषयका ही सूचक हो सकता है। यहां तो न्याय है ही नहीं। भले ही यह शूद्रशब्द केवल संवर्गविद्यामें शूद्रके अधिकारका प्रतिपादन करे, क्योंकि शूद्रशब्द संवर्ग-विद्यामें पठित है, परन्तु सब विद्याओंमें अधिकारका प्रतिपादन नहीं कर सकता। वस्तुतः यह शूद्र शब्द अर्थवादवाक्यमें पठित होनेके कारण किसी भी विद्या-

---

रत्नप्रभा

तस्मात् शूद्र इति तच्छब्दपरामृष्टन्यायस्य यज्ञब्रह्मविद्ययोः तुल्यत्वात् इत्यर्थः। पूर्वोक्तं लिङ्गं दूषयति—यदिति। असामर्थ्यन्यायेन अर्थित्वादिसम्भवन्यायस्य निरस्तत्वादित्यर्थः। ननु 'निषादस्थपतिं याजयेत्' इत्यत्र अध्ययनाभावेऽपि निषाद-शब्दात् निषादस्य इष्टौ इव शूद्रशब्दात् शूद्रस्य विद्यायाम् अधिकारोऽस्तु— इत्याशङ्क्य संवर्गविद्यायामधिकारमङ्गीकरोति—काममिति। तद्विषयत्वात्— तत्र श्रुतत्वादित्यर्थः। वस्तुतस्तु विधिवाक्यस्थत्वात् निषादशब्दोऽपि अधिकारि-समर्पकः, शूद्रशब्दस्तु विद्याविधिपरार्थवादस्थो नाऽधिकारिणं बोधयति, असामर्थ्य-न्यायविरोधेन अन्यपरशब्दस्य स्वार्थबोधित्वासम्भवादिति मत्वा अङ्गीकारं

रत्नप्रभाका अनुवाद

साधारणत्वात्'' इत्यादिसे। 'तस्माच्छूद्रो०' इसमें 'तत्' शब्द जिस न्यायका परामर्श करता है, वह यज्ञविधि और ब्रह्मविद्यामें तुल्य है। पूर्वोक्त हेतुमें दोष दिखलाते हैं—''यद्'' इत्यादिसे। अर्थित्व आदिका सम्भवरूप न्यायका असामर्थ्यरूप न्यायसे निरास किया गया है, इसलिए, ऐसा अर्थ है। परन्तु जैसे 'निषादस्थपतिं याजयेत्' इसमें अध्ययनके अभावमें भी 'निषाद' शब्दसे निषादका यागमें अधिकार है, वैसे ही शूद्रशब्दसे शूद्रका विद्यामें अधिकार हो ऐसी आशंका करके संवर्गविद्यामें शूद्रके अधिकारका स्वीकार करते हैं—''कामम्'' इत्यादिसे। 'तद्विषयत्वात्'—उसमें श्रुत होनेके कारण। वास्तवमें तो विधिवाक्यमें पठित होनेके कारण निषादशब्द निषादको अधिकारी सिद्ध करता है, परन्तु शूद्रशब्द तो विद्याविधिपरक अर्थवाद वाक्यमें रहनेके कारण अधिकारीका बोध नहीं करा सकता, क्योंकि असामर्थ्यन्यायका विरोध होनेसे अन्यपरक शब्द स्वार्थका बोध करावे, यह संभव नहीं है, ऐसा विचारकर अंगीकृत

भाष्य

शक्यते चाऽयं शूद्रशब्दोऽधिकृतविषये योजयितुम्। कथमित्युच्यते—'कम्वर एनमेतत्सन्तं सयुग्वानमिव रैक्कमात्थ' (छा० ४।१।३) इत्यस्माद् हंसवाक्यादात्मनोऽनादरं श्रुतवतो जानश्रुतेः पौत्रायणस्य शुगुत्पेदे,

भाष्यका अनुवाद

में शूद्रके अधिकारका प्रतिपादन नहीं कर सकता। और यह शूद्रशब्द अधिकारवाले (द्विजाति) पुरुषके विषयमें अन्वित हो सकता है। किस प्रकार होता है? यह कहते हैं—'कम्वर एनमेत०' (शकटीयुक्त रैक्वके विषयमें जो कहना चाहिये, उसे इस साधारण मनुष्यके विषयमें कैसे कहते हो?) इस हंसवाक्यसे अपना अनादर सुनकर पौत्रायण जानश्रुतिको शोक उत्पन्न हुआ,

रत्नप्रभा

त्यजति—अर्थवादेति। तर्हि शूद्रशब्दस्याऽत्र श्रुतस्य कोऽर्थ इत्याशङ्क्य सूत्रेण अर्थमाह—शक्यते चेत्यादिना। जानश्रुतिर्नाम राजा निदाघसमये रात्रौ प्रासादतले सुष्वाप, तदा तदीयान्नदानादिगुणगणतोषिता ऋषयोऽस्य हितार्थं हंसा भूत्वा मालारूपेण तस्य उपरि आजग्मुः, तेषु पाश्चात्यो हंसोऽग्रेसरं हंसमुवाच—भो भो भल्लाक्ष! किं न पश्यसि जानश्रुतेरस्य तेजः स्वर्गं व्याप्य स्थितम्, तत् त्वां धक्ष्यति, न गच्छ इति। तमग्रेसर उवाच—कमपि एनं वराकं विद्याहीनं सन्तम् अरे सयुग्वानं—युग्वा—गन्त्री शकटी तया सह स्थितम्, रैक्कमिव एतद् वचनमात्थ। रैकस्य हि ब्रह्मिष्ठस्य तेजो दुरतिक्रमं नाऽस्य अनात्मज्ञस्य इत्यर्थः। अस्मद्वचनात् खिन्नो राजा शकटलिङ्गेन रैकं ज्ञात्वा विद्यावान् भविष्यतीति

रत्नप्रभाका अनुवाद

नियमका त्याग करते हैं—"अर्थवाद" इत्यादिसे। तब यहां श्रुत शूद्रशब्दका क्या अर्थ है, ऐसी आशंका करके सूत्रसे उसका अर्थ कहते हैं—"शक्यते च" इत्यादिसे। जानश्रुति नामक राजा ग्रीष्म ऋतुमें रात्रिके समय महलके छतपर सोया था, तब उसके अन्नदान आदि अनेक गुणोंसे संतुष्ट हुए ऋषि उसके कल्याणके लिए हंसका रूप धारण करके पंक्तिरूपसे उसके ऊपर आकाशमें उड़ते हुए आये। उनमेंसे पिछले हंसने आगेके हंससे कहा—अरे भल्लाक्ष, क्या तू नहीं जानता है कि जानश्रुतिका तेज स्वर्गमें भी व्याप्त है, वह तुझे भस्म कर देगा, इसलिए आगे मत बढ़। उस पिछले हंसको आगेके हंसने उत्तर दिया—अरे, यह बेचारा विद्याहीन है, इसके लिए तुम उन वचनोंका प्रयोग कर रहे हो, जिनका कि शकटी (गाड़ी) के साथ रहनेवाले रैक्कके लिए प्रयोग किया जाता है अर्थात् ब्रह्मज्ञानी रैक्कका तेज दुर्लंघ्य है, इस आत्मज्ञानरहित जानश्रुतिका तेज वैसा नहीं है। हमारे वचनोंसे खिन्न होकर राजा शकटीरूप चिह्नसे रैक्कको पहिचान कर

भाष्य

तामृषी रैक्वः शूद्रशब्देनाऽनेन सूचयांबभूवाऽऽत्मनः परोक्षज्ञताख्यापनायेति गम्यते, जातिशूद्रस्याऽनधिकारात्। कथं पुनः शूद्रशब्देन शुगुत्पन्ना सूच्यते इति? उच्यते—तदाद्रवणात्, शुचमभिदुद्राव, शुचा वाऽभिदुद्रुवे, शुचा वा रैक्वमभिदुद्रावेति शूद्रः, अवयवार्थसम्भवाद् रूढ्यर्थस्य चाऽसम्भवात्। दृश्यते चाऽयमर्थोऽस्यामाख्यायिकायाम् ॥३४॥

भाष्यका अनुवाद

प्रतीत होता है कि रैक्व ऋषिने अपने अपरोक्ष ज्ञानको बतलानेके लिए इस शूद्रशब्दसे उसी शोकका सूचन किया है। क्योंकि शूद्रजातिको अधिकार नहीं है। परन्तु राजाको उत्पन्न हुआ शोक शूद्रशब्दसे किस प्रकार सूचित किया गया है? कहते हैं—उसके आद्रवणसे। वह शोककी ओर अग्रसर हुआ अर्थात् शोकाक्रान्त हुआ अथवा शोकने उसपर आक्रमण किया अथवा शोकसे रैक्वके पास गया, इसलिए वह शूद्र कहा गया है। क्योंकि यहांपर यौगिक अर्थका ही सम्भव है और रूढ अर्थका सम्भव नहीं है। इस आख्यायिकामें यही अर्थ स्पष्ट प्रतीत होता है ॥ ३४ ॥

रत्नप्रभा

हंसानाम् अभिप्रायः। कम् उ अरे इति पदच्छेदः। उशब्दः अप्यर्थः। तेषां हंसानाम् अनादरवाक्यश्रवणात् अस्य राज्ञः शुग् उत्पन्ना, सा शूद्रशब्देन रैक्वेन सूच्यते हीति सूत्रान्वयः। श्रुतयौगिकार्थलाभे सति अनन्वितरूढ्यर्थः त्याज्य इति न्यायद्योतनार्थो हिशब्दः। तदाद्रवणात् तया शुचा आद्रवणात्—शूद्रः—शोकं प्राप्तवान्, शुचा वा कर्त्र्या राजा अभिदुद्रुवे—प्राप्तः, शुचा वा करणेन रैक्वं गतवानित्यर्थः ॥ ३४ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

ब्रह्मज्ञान प्राप्त करेगा, ऐसा हंसोंका अभिप्राय है। 'कम्वरे'—कम्, उ, अरे, ऐसा पदच्छेद है। 'उ'—अपि। उन हंसोंका अनादर वाक्य सुनकर उस राजाको शोक उत्पन्न हुआ, रैक्वने उसी शोकका शूद्रशब्दसे सूचन किया है, ऐसा सूत्रमें अन्वय है। यदि श्रुत यौगिक अर्थका लाभ हो, तो अनन्वित (जिसका अन्वय न होता हो) रूढ्यर्थका त्याग कर देना चाहिए, इस न्यायको सूचित करनेके लिए सूत्रमें 'हि' शब्द है। 'तदाद्रवणात्'—उस शोकसे अभिद्रवण होनेके कारण वह शूद्र कहा गया है अर्थात् वह खिन्न हुआ अथवा शोकने उसपर आक्रमण किया अथवा शोकसे वह रैक्वके पास गया, अतः शूद्र कहा गया है ॥ ३४ ॥

क्षत्रियत्वगतेश्चोत्तरत्र चैत्ररथेन लिङ्गात् ॥३५॥

पदच्छेद——क्षत्रियत्वगतेः, च, उत्तरत्र, चैत्ररथेन, लिङ्गात् ।

पदार्थोक्ति—क्षत्रियत्वगतेश्च—क्षत्रियत्वज्ञानाच्च (जानश्रुतिः न मुख्य-शूद्रः, तत् कस्मात्) उत्तरत्र—संवर्गविद्यावाक्यशेषे, चैत्ररथेन—चित्ररथवंशीयेन अभिप्रतारिणा क्षत्रियेण, लिङ्गात्—समभिव्याहारात्मकलिङ्गात् ।

भाषार्थ—जानश्रुति क्षत्रिय है ऐसा श्रुतिसे प्रतीत होता है, इसलिए वह मुख्य शूद्र नहीं है। वह क्षत्रिय कैसे समझा जाता है? इससे कि आगे संवर्गविद्याके वाक्यशेषमें चित्ररथके वंशमें उत्पन्न हुए अभिप्रतारी नामक क्षत्रियके साथ उसका कथन है।

———*———

भाष्य

इतश्च न जातिशूद्रो जानश्रुतिः, यत्कारणं प्रकरणनिरूपणेन क्षत्रियत्वमस्योत्तरत्र चैत्ररथेनाऽभिप्रतारिणा क्षत्रियेण समभिव्याहारालिल्लङ्गाद् गम्यते। उत्तरत्र हि संवर्गविद्यावाक्यशेषे चैत्ररथिरभिप्रतारी क्षत्रियः संकीर्त्यते—'अथ ह शौनकं च कापेयमभिप्रतारिणं च काक्षसेनिं सूदेन

भाष्यका अनुवाद

और इससे भी जानश्रुति जातिसे शूद्र नहीं है, क्योंकि प्रकरणके निरूपणसे आगे चैत्ररथ अभिप्रतारी क्षत्रियके साथ इसका निर्देश किया गया है, उससे यह क्षत्रिय प्रतीत होता है। आगे—संवर्गविद्याके वाक्यशेषमें चैत्ररथि अभिप्रतारी क्षत्रियका कथन है—'अथ ह शौनकम्०' (जब कि शुनकके पुत्र कापेय और कक्षसेनके पुत्र अभिप्रतारीके लिए परोसा जा रहा था, तब उनसे एक

रत्नप्रभा

शूद्रशब्दस्य यौगिकत्वे लिङ्गमाह—क्षत्रियत्वेति। संवर्गविद्याविध्यनन्तरम् अर्थवाद आरभ्यते। शुनकस्य अपत्यं कपिगोत्रं पुरोहितम् अभिप्रतारिनामकं राजानं च कक्षसेनस्य अपत्यं सूदेन परिविष्यमाणौ तौ भोक्तुम् उपविष्टौ बटुः

रत्नप्रभाका अनुवाद

शूद्र शब्दको यौगिक माननेमें हेतु देते हैं—"क्षत्रियत्व०" इत्यादिसे। संवर्गविद्याके अनन्तर अर्थवादका आरम्भ होता है। शुनकका अपत्य कपिगोत्रमें उत्पन्न पुरोहित और कक्षसेनका अपत्य अभिप्रतारी नामका राजा, ये दोनों भोजन करनेके लिए बैठे थे और

भाष्य

परिविष्यमाणौ ब्रह्मचारी बिभिक्षे' (छा० ४।३।५) इति। चैत्ररथित्वं चाऽभिप्रतारिणः कापेययोगादवगन्तव्यम्, कापेययोगो हि चित्ररथस्याऽवगतः 'एतेन वै चैत्ररथं कापेया अयाजयन्' (ताण्ड्यब्रा० २०।१२।५) इति। समानान्वयानाञ्च, प्रायेण समानान्वया याजका भवन्ति। 'तस्माच्चैत्ररथिर्नामैकः क्षत्रपतिरजायत' इति च क्षत्रपतित्वावगमात् क्षत्रियत्वमस्याऽवगन्तव्यम्। तेन क्षत्रियेणाऽभिप्रतारिणा सह समानायां संवर्गविद्यायां संकीर्तनं जानश्रुतेरपि क्षत्रियत्वं सूचयति। समानानामेव हि

भाष्यका अनुवाद

ब्रह्मचारीने भिक्षा मांगी)। अभिप्रतारी चैत्ररथके वंशका था, यह कापेयके संबन्धसे ज्ञात होता है 'एतेन वै चित्ररथं०' (इस द्विरात्रयज्ञसे कापेयोंने चैत्ररथको यज्ञ कराया) इससे चित्ररथका कापेयके साथ सम्बन्ध प्रतीत होता है। प्रायः समानवंशवाले समानवंशवालोंके याजक होते हैं। 'तस्माच्चैत्ररथिर्नामैकः०' (चैत्ररथि नामका क्षत्रपति चित्ररथसे जन्मा) इस प्रकार उसके क्षत्रपति प्रतीत होनेसे निश्चय होता है कि वह क्षत्रिय था। उस क्षत्रिय अभिप्रतारीके साथ समान विद्यामें जानश्रुतिका सङ्कीर्तन उसके क्षत्रियत्वको सूचित करता है, क्योंकि प्रायः

रत्नप्रभा

भिक्षितवानित्यर्थः। ननु अस्य चैत्ररथित्वं न श्रुतमित्यत आह—चैत्ररथित्वञ्चेति। एतेन द्विरात्रेण इति छान्दोग्यश्रुत्यैव पूर्वं चित्ररथस्य कापेययोग उक्तः अभिप्रतारिणोऽपि तद्योगात् चित्ररथवंश्यत्वं निश्चीयते। राजवंश्यानां हि प्रायेण पुरोहितवंश्याः याजका भवन्तीत्यर्थः। ननु अस्तु अभिप्रतारिणः चैत्ररथित्वम्, तावता कथं क्षत्रियत्वम्, तत्राऽऽह—तस्मादिति। चित्ररथात् इत्यर्थः। क्षत्ता—सूतः,

रत्नप्रभाका अनुवाद

रसोइया परोस रहा था, इतनेमें उनसे एक ब्रह्मचारीने भिक्षा मांगी ऐसा अर्थ है। यदि कोई कहे कि श्रुतिमें कहींपर भी यह चैत्ररथि है ऐसा नहीं कहा गया है, उसपर कहते हैं—"चैत्ररथित्वं च" इत्यादिसे। "एतेन"—इससे, अर्थात् द्विरात्रेष्टिसे, इससे पूर्व छान्दोग्य श्रुतिमें ही चित्ररथके साथ कापेयका संबन्ध कहा गया है और अभिप्रतारीका भी कापेयके साथ सम्बन्ध होनेसे वह चित्ररथके वंशका है, ऐसा निश्चय होता है, प्रायः राजवंशियोंके यज्ञ करानेवाले पुरोहितवंशके ही होते हैं, ऐसा अर्थ है। यदि कोई कहे कि अभिप्रतारी भले ही चित्ररथके वंशमें उत्पन्न हुआ हो, किन्तु इससे वह क्षत्रिय है यह कैसे

भाष्य

प्रायेण समभिव्याहारा भवन्ति। क्षत्तृप्रेषणाद्यैश्वर्ययोगाच्च जानश्रुतेः क्षत्रियत्वावगतिः। अतो न शूद्रस्याऽधिकारः॥ ३५॥

भाष्यका अनुवाद

समानोंका ही एक साथ निर्देश होता है, सारथि इत्यादि ऐश्वर्यके योगसे भी प्रतीत होता है कि जानश्रुति क्षत्रिय था। इससे सिद्ध हुआ कि श्रौत विद्यामें शूद्रका अधिकार नहीं है॥ ३५॥

रत्नप्रभा

तस्य रैक्वान्वेषणाय प्रेषणम्, अन्नगोदानादिकं च जानश्रुतेः क्षत्रियत्वे लिङ्गम्। अत्र शूद्रशब्दो यौगिक एवेति न शूद्रस्य अधिकार इति स्थितम्॥ ३५॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

समझा जाय? इसपर कहते हैं—"तस्मात्" इत्यादिसे। 'तस्मात्'-अर्थात् चित्ररथसे। क्षत्ता—सूत। रैक्वके अन्वेषण करनेके लिए सारथिको भेजना, अन्नदान, गोदान आदि करना जानश्रुतिको क्षत्रिय सिद्ध करते हैं। इससे यह सिद्ध हुआ कि संवर्गविद्याके वाक्यशेषमें विद्यमान शूद्रशब्द यौगिक है, इसलिए शूद्रका विद्यामें अधिकार नहीं है॥ ३४॥

—o—

संस्कारपरामर्शात्तदभावाभिलापाच्च ॥३६॥

पदच्छेद—संस्कारपरामर्शात्, तदभावाभिलापात्, च।

पदार्थोक्ति—संस्कारपरामर्शात्—'तं होपनिन्ये' 'अधीहि भगव इति होपससाद' इत्यादिविद्याप्रदेशेषु उपनयनादिसंस्कारपरामर्शात्, तदभावाभिलापाच्च—'न शूद्रे पातकं किञ्चिन्न च संस्कारमर्हति' इत्यादिना शूद्रस्य उपनयनादिसंस्काराभावाभिधानाच्च [न विद्यायां शूद्रस्याऽधिकारः]।

भाषार्थ—'तं होप०' (उसका उपनयन किया), 'अधीहि भगव०' (हे भगवन्! मुझे विद्याका उपदेश दीजिए ऐसा कहते हुए नारद सनत्कुमारके पास गये) इत्यादि विद्याप्रकरणमें उपनयन आदि संस्कारका परामर्श किया गया है और 'न शूद्रे पातकं०' (शूद्रको कोई पाप नहीं है, न वह संस्कारके योग्य है) इत्यादिसे शूद्रके लिए उपनयन आदि संस्कारोंका निषेध किया गया है, इस कारणसे शूद्रका विद्यामें अधिकार नहीं है।

भाष्य

इतश्च न शूद्रस्याऽधिकारः, यद्विद्याप्रदेशेषूपनयनादयः संस्काराः परामृश्यन्ते—'तं होपनिन्ये' (श० ब्रा० ११।५।३।१३) 'अधीहि भगव इति होपससाद' (छा० ७।१।१) 'ब्रह्मपरा ब्रह्मनिष्ठाः परं ब्रह्मान्वेषमाणा एष ह वै तत्सर्वं वक्ष्यतीति ते ह समित्पाणयो भगवन्तं पिप्पलादमुप-

भाष्यका अनुवाद

और इससे भी शूद्रका विद्यामें अधिकार नहीं है, क्योंकि 'तं होपनिन्ये' (उसका उपनयन किया) 'अधीहि भगव०' (हे भगवन् ! मुझे उपदेश दीजिए, ऐसा कहते हुए नारद सनत्कुमारके पास गये), 'ब्रह्मपरा ब्रह्मनिष्ठाः०' (पिप्पलाद हमारे सब सन्देहोंको दूर करेंगे ऐसा निश्चय कर वेदोंमें पारंगत, ब्रह्मनिष्ठ, परब्रह्मकी खोजमें लगे हुए छः ऋषि हाथमें समिध लेकर भगवान् पिप्पलादके पास गये) इस प्रकार विद्याओंके प्रकरणमें उपनयन आदि संस्कारोंका कथन

रत्नप्रभा

तत्र लिङ्गान्तरमाह—संस्कारेति । उपनयनं वेदग्रहणाङ्गं शूद्रस्य नास्तीति पूर्वमुक्तम्, इह विद्याग्रहणाङ्गस्य उपनयनसंस्कारस्य सर्वत्र परामर्शात् शूद्रस्य तदभावाद् न विद्याधिकार इत्युच्यते । भाष्ये आदिपदेन अध्ययनगुरुशुश्रूषादयो गृह्यन्ते । तं शिष्यम् आचार्य उपनीतवान् इत्यर्थः । नारदोऽपि विद्यार्थी मन्त्रम् उच्चारयन् सनत्कुमारमुपगत इत्याह—अधीति । उपदिशेति यावत् । ब्रह्मपराः—वेदपारगाः, सगुणब्रह्मनिष्ठाः, परं निर्गुणं ब्रह्म अन्वेषमाणाः; एषः—पिप्पलादः, तत्—जिज्ञासितं सर्वं वक्ष्यतीति निश्चित्य ते भारद्वाजादयः षडर्षयः तमुपगता

रत्नप्रभाका अनुवाद

विद्यामें शूद्रके अनधिकारका समर्थक दूसरा हेतु देते हैं—"संस्कार०" इत्यादिसे। वेदाध्ययनका अंगभूत उपनयन शूद्रका नहीं होता, यह कहा जा चुका है। यहाँ विद्याके ग्रहणके अंगभूत उपनयन संस्कारका सर्वत्र परामर्श होने और शूद्रके लिए उसका विधान न होनेसे शूद्रका विद्यामें अधिकार नहीं है, ऐसा कहते हैं। भाष्यस्थ "उपनयनादयः" के आदि पदसे अध्ययन, गुरुसेवा आदिका ग्रहण है। 'तं होपनिन्ये' अर्थात् आचार्यने विद्यार्थी शिष्यका उपनयन किया। विद्यार्थी नारद भी मन्त्रका उच्चारण करते हुए सनत्कुमारके पास गये, ऐसा कहते हैं—"अधीहि" इत्यादिसे। 'अधीहि'—उपदेश करो, 'ब्रह्मपराः'—वेदविद्यामें पारंगत, सगुण ब्रह्मके ध्यानमें लीन और निर्गुण—परब्रह्मकी खोज करनेवाले भारद्वाज आदि ये छः ऋषि पिप्पलाद हमारी सब जिज्ञासाओंको पूर्ण करेंगे—ऐसा निश्चय करके उनके पास

भाष्य

सन्नाः' (प्र० १।१) इति च, 'तान् हानुपनीयैव' (छा० ५।११।७) इत्यपि प्रदर्शितैवोपनयनप्राप्तिर्भवति। शूद्रस्य च संस्काराभावोऽभिलप्यते, 'शूद्रश्चतुर्थो वर्ण एकजातिः' (मनु० १०।४) इत्येकजातित्वस्मरणात्, 'न शूद्रे पातकं किञ्चिन्न च संस्कारमर्हति' (मनु० १०।१२।६) इत्यादिभिश्च ॥ ३६ ॥

भाष्यका अनुवाद

है। 'तान् हानु०' (उनका उपनयन किये विना ही) इसमें भी उपनयनकी प्राप्ति दिखाई ही गई है। शूद्रके संस्कार नहीं होते हैं, यह कहा गया है। 'शूद्रश्चतुर्थो०' (शूद्र चतुर्थ वर्ण एवं उपनयनरहित है) इस प्रकार स्मृतिमें वह एकजाति कहा गया है। 'न शूद्रे पातकं०' (शूद्रमें कुछ पाप नहीं और वह संस्कारके योग्य नहीं है) इत्यादिसे भी संस्कारोंके अभावका अभिधान है ॥३६॥

रत्नप्रभा

इत्यर्थः। ननु वैश्वानरविद्यायाम् ऋषीन् राजा अनुपनीयैव विद्याम् उवाच इति श्रुतेरनुपनीतस्य अपि अस्ति विद्याधिकार इत्यत आह—तान् हेति। "ते ह समित्पाणयः पूर्वाह्णे प्रतिचक्रमिरे" (छा० ५।११।७) इति पूर्ववाक्ये ब्राह्मणाः उपनयनार्थम् आगता इति उपनयनप्राप्तिं दर्शयित्वा निषिध्यते। हीनवर्णेन उत्तमवर्णाः अनुपनीयैव उपदेष्टव्या इति आचारज्ञापनार्थमित्यर्थः। एकजातिः—अनुपनीतः। पातकम्—अभक्ष्यभक्षणकृतम् ॥ ३६ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

गये, ऐसा श्रुतिका अर्थ है। परन्तु वैश्वानर विद्यामें सुना जाता है कि ऋषियोंका उपनयन किये विना ही उन्हें विद्याका उपदेश किया गया है, इससे प्रतीत होता है कि उपनयनरहितका भी विद्यामें अधिकार है, इसपर कहते हैं—"तान् हा०"। "ते ह समित्पाणय०" (वे हाथमें समिध लेकर दोपहरसे पहिले उनके पास गये) इस पूर्व वाक्यमें ब्राह्मण उपनयनके लिए आये, इस प्रकार उपनयनकी प्राप्ति दिखाकर निषेध किया है। हीनवर्ण उत्तम वर्णको उपनयन किये विना उपदेश करे, इस आचारको बतलानेके लिए ऐसा कहा है। 'एकजाति'—जिसका उपनयन संस्कार नहीं होता है। 'पातकम्'—अभक्ष्यके भक्षणसे उत्पन्न हुआ पाप॥३६॥

तदभावनिर्धारणे च प्रवृत्तेः ॥३७॥

पदच्छेद—तदभावनिर्धारणे, च, प्रवृत्तेः ।

पदार्थोक्ति—तदभावनिर्धारणे जाबालस्य सत्यवचनेन शूद्रत्वाभावनिश्चये सत्येव, प्रवृत्तेः—गौतमस्य विद्योपदेशे प्रवृत्तिदर्शनाद्, च—अपि [ज्ञायते न शूद्रस्याधिकार इति] ।

भाषार्थ—सत्यवचनसे यह निश्चय होनेपर ही कि जाबाल शूद्र नहीं है, किन्तु ब्राह्मण है, गौतम जाबालके लिये विद्याका उपदेश करनेमें प्रवृत्त हुए, इससे भी ज्ञात होता है कि विद्यामें शूद्रका अधिकार नहीं है ।

रत्नप्रभा

सत्यकामः किल मृतपितृको जबालां मातरम् अपृच्छत्—किंगोत्रोऽहमिति । तं माता उवाच—भर्तृसेवाव्यग्रतया अहमपि तव पितुः गोत्रं न जानामि, जबाला तु नाम अहम् अस्मि सत्यकामो नाम त्वमसि इति एतावद् जानामीति । ततः स जाबालो गौतमम् आगत्य तेन किंगोत्रोऽसीति पृष्ट उवाच—नाऽहं गोत्रं वेद्मि, न माता वेत्ति, परन्तु मे मात्रा कथितम्—उपनयनार्थम् आचार्यं गत्वा सत्यकामो जाबालोऽस्मीति ब्रूहीति । अनेन सत्यवचनेन तस्य शूद्रत्वाभावो निर्धारितः । अब्राह्मण एतत् सत्यं विविच्य वक्तुम् नाऽर्हतीति निर्धार्य, हे सोम्य ! सत्यात् त्वं नाऽगाः—सत्यं न त्यक्तवानसि । अतः त्वाम् उपनेष्ये, तदर्थं समिधम् आहर इति ।

रत्नप्रभाका अनुवाद

सत्यकामने, जिसका पिता पहले ही मर चुका था, अपनी माता जबालासे पूछा कि मेरा कौन गोत्र है ? उससे माताने कहा—स्वामीकी सेवामें व्यग्र रहनेके कारण मैं भी तुम्हारे पिताका गोत्र नहीं जान सकी, मेरा नाम जबाला है और तुम्हारा नाम सत्यकाम है, मैं इतना ही जानती हूँ । इसके बाद सत्यकाम गौतमके पास गया और जब गौतमने पूछा कि तुम्हारा कौन गोत्र है, तब सत्यकामने इतना ही कहा कि मैं गोत्र नहीं जानता, मेरी माता भी नहीं जानती, परन्तु माताने कहा है कि उपनयनके लिए आचार्यके पास जाकर कहना कि मैं सत्यकाम जाबाल हूँ । इस सत्य वचनसे आचार्यने निश्चय किया कि वह शूद्र नहीं है । अब्राह्मण सत्य और असत्यका विवेक करके इस प्रकार नहीं बोल सकता, ऐसा निश्चय करके आचार्यने उससे कहा—हे सोम्य ! तुम सत्यसे विचलित नहीं हुए अर्थात् तुमने सत्यका त्याग नहीं किया, इसलिये मैं तुम्हारा उपनयन करूँगा, उसके लिए समिध लाओ । इस प्रकार गौतम

भाष्य

इतश्च न शूद्रस्याऽधिकारः, यत् सत्यवचनेन शूद्रत्वाभावे निर्धारिते जाबालं गौतम उपनेतुमनुशासितुं च प्रववृते—'नैतदब्राह्मणो विवक्तुमर्हति समिधं सोम्याहरोप त्वा नेष्ये न सत्यादगाः' (छा० ४।४।५) इति श्रुतिलिङ्गात् ॥ ३७ ॥

भाष्यका अनुवाद

और इससे भी शूद्रका विद्यामें अधिकार नहीं है, क्योंकि सत्य बोलनेसे शूद्रत्वके अभावका निश्चय होनेपर गौतम जाबालका उपनयन करने और उसे विद्याका उपदेश करनेके लिए प्रवृत्त हुए, क्योंकि 'नैतदब्राह्मणो०' (ब्राह्मणेतर इस प्रकार सरलतासे सत्यवचन नहीं बोल सकता है। हे सोम्य ! समिध लाओ, मैं तुम्हारा उपनयन करूंगा, तुम सत्यसे विचलित नहीं हुए) ऐसी श्रुति है ॥३७॥

रत्नप्रभा

गौतमस्य प्रवृत्तेश्च लिङ्गात् न शूद्रस्य अधिकार इत्याह—**तदभावेति** ॥ ३७ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

उसका उपनयन करनेके लिए प्रवृत्त हुए। गौतमकी इस प्रवृत्तिसे भी प्रतीत होता है कि विद्यामें शूद्रका अधिकार नहीं है, ऐसा कहते हैं—"तदभाव" इत्यादिसे ॥३७॥

———०———

श्रवणाध्ययनार्थप्रतिषेधात् स्मृतेश्च ॥ ३८ ॥

पदच्छेद—श्रवणाध्ययनार्थप्रतिषेधात्, स्मृतेः, च ।

पदार्थोक्ति—स्मृतेः—'अथास्य वेदमुपशृण्वतस्त्रपुजतुभ्यां श्रोत्रप्रतिपूरणम्' 'तस्मात् शूद्रसमीपे नाध्येतव्यम्' 'न शूद्राय मतिं दद्यात्' 'द्विजातीनामध्ययनमिज्या दानम्' इत्यादि स्मृतितः, श्रवणाध्ययनार्थप्रतिषेधात्—वेदश्रवणस्य वेदाध्ययनस्य वेदार्थज्ञानानुष्ठानयोश्च निषेधात्, च—अपि [शूद्रस्य न विद्यायामधिकारः] ।

भाषार्थ—'अथास्य वेद०' (समीपसे वेदको सुनते हुए शूद्रके कान सीसे और लाहसे भर देने चाहिएँ), 'तस्माच्छूद्र०' (इसलिए शूद्रके समीपमें अध्ययन नहीं करना चाहिए), 'न शूद्राय०' (ब्राह्मणको चाहिए कि शूद्रके लिए ज्ञानका उपदेश न करे), 'द्विजातीनाम्' (वेदाध्ययन, यज्ञ और दानका अधिकार द्विजातियोंको ही है) इत्यादि स्मृतियोंसे शूद्रके लिए वेदके श्रवण, अध्ययन अर्थज्ञान एवं अनुष्ठानका निषेध किया गया है, इससे भी सिद्ध होता है कि विद्यामें शूद्रका अधिकार नहीं है ।

भाष्य

इतश्च न शूद्रस्याऽधिकारः, यदस्य स्मृतेः श्रवणाध्ययनार्थप्रतिषेधो भवति, वेदश्रवणप्रतिषेधो वेदाध्ययनप्रतिषेधस्तदर्थज्ञानानुष्ठानयोश्च प्रतिषेधः शूद्रस्य स्मर्यते। श्रवणप्रतिषेधस्तावत्—'अथास्य वेदमुपशृण्वतस्त्रपुजतुभ्यां श्रोत्रप्रतिपूरणम्' इति, 'पद्यु ह वा एतच्छ्मशानं यच्छूद्रस्तस्माच्छूद्रसमीपे नाध्येतव्यम्' इति च। अत एवाऽध्ययनप्रतिषेधः, यस्य हि समीपेऽपि नाऽध्येतव्यं भवति, स कथमश्रुतमधीयीत। भवति च वेदोच्चारणे जिह्वाच्छेदो धारणे शरीरभेद इति। अत एव चाऽर्थादर्थज्ञानानुष्ठानयोः प्रतिषेधो भवति—'न शूद्राय मतिं दद्यात्' इति,

भाष्यका अनुवाद

और इससे भी शूद्रका विद्यामें अधिकार नहीं है, क्योंकि स्मृति उसके लिए श्रवण, अध्ययन और अर्थका निषेध करती है। स्मृतिमें शूद्रके लिए वेदके श्रवण, वेदके अध्ययन और वेदार्थके ज्ञान एवं अनुष्ठानका निषेध है। 'अथास्य वेदमुप०' (समीपसे वेदका श्रवण करनेवाले शूद्रके दोनों कानोंको सीसे और लाहसे भर दे) और 'पद्यु ह वा एतच्छ्मशानं०' (शूद्र निःसन्देह जङ्गम श्मशान है, इसलिए शूद्रके समीपमें अध्ययन नहीं करना चाहिए) इस प्रकार श्रवणका निषेध है। इसीसे अध्ययनका निषेध भी सिद्ध होता है, क्योंकि जिसके समीपमें भी अध्ययन करना युक्त नहीं, वह अश्रुतका अध्ययन किस प्रकार कर सकता है ? यदि शूद्र वेदका उच्चारण करे तो उसकी जिह्वा काट देनी चाहिए, यदि वेदको याद करे तो उसके शरीरके टुकड़े-टुकड़े कर देने चाहिएँ, ऐसी स्मृति भी है। इसी हेतुसे अर्थात् शूद्रके लिए अर्थज्ञान और अनुष्ठानका भी निषेध होता है—'न शूद्राय०' (ब्राह्मणको चाहिए कि शूद्रको वेदार्थज्ञान न दे)

रत्नप्रभा

स्मृत्या श्रवणादिनिषेधाच्च न अधिकार इत्याह—श्रवणेति। अस्य शूद्रस्य द्विजैः पठ्यमानं वेदं प्रमादात् शृण्वतः सीसलाक्षाभ्यां तप्ताभ्यां श्रोत्रद्वयपूरणं प्रायश्चित्तं कार्यमित्यर्थः। पद्यु—पादयुक्तम्। सञ्चरिष्णुरूपमिति यावत्।

रत्नप्रभाका अनुवाद

स्मृतिमें शूद्रके लिए वेदश्रवण आदिका निषेध किया गया है, इससे भी शूद्रका विद्यामें अधिकार नहीं है, ऐसा कहते हैं—"श्रवण" इत्यादिसे। 'अथ०'—यह शूद्र द्विजोंसे पढ़े जाते हुए वेदको प्रमादसे भी यदि सुन ले, तो उसके लिए यह प्रायश्चित्त है कि सीसे और लाहको तपाकर उससे उसके दोनों कान भर देने चाहिएँ, ऐसा श्रुतिका अर्थ है। 'पद्यु'—पादयुक्त

भाष्य

'द्विजातीनामध्ययनमिज्या दानम्' इति च । येषां पुनः पूर्वकृतसंस्कारवशाद् विदुरधर्मव्याधप्रभृतीनां ज्ञानोत्पत्तिस्तेषां न शक्यते फलप्राप्तिः प्रतिषेद्धुम्, ज्ञानस्यैकान्तिकफलत्वात् । 'श्रावयेच्चतुरो वर्णान्' इति चेतिहासपुराणाधिगमे चातुर्वर्ण्यस्याऽधिकारस्मरणात् । वेदपूर्वकस्तु नास्त्यधिकारः शूद्राणामिति स्थितम् ॥ ३८ ॥

भाष्यका अनुवाद

और 'द्विजातीना०' (केवल द्विजोंके लिए ही अध्ययन, यज्ञ और दानका विधान है)। परन्तु विदुर धर्मव्याध आदि जिनको पूर्वकर्मके संस्कारोंसे ज्ञान उत्पन्न हुआ था, उनके लिए फलप्राप्तिका निषेध नहीं किया जा सकता, क्योंकि ज्ञान अव्यभिचरित फल उत्पन्न करता है। 'श्रावयेच्च०' (चारों वर्णोंको सुनावे) इस प्रकार स्मृति इतिहास और पुराणका ज्ञान प्राप्त करनेमें चारों वर्णोंका अधिकार बतलाती है। इससे सिद्ध हुआ कि वेदाध्ययनपूर्वक ज्ञान प्राप्त करनेका शूद्रको अधिकार नहीं है ॥ ३८ ॥

रत्नप्रभा

भवति च स्मृतिः इति शेषः । मतिम्—वेदार्थज्ञानम् । दानं नित्यं निषिध्यते शूद्रस्य नैमित्तकं तु दानम् अस्त्येव । यदुक्तं विदुरादीनां ज्ञानित्वं दृष्टमिति, तत्राऽऽह—येषामिति । सिद्धानां सिद्धेः दुरपहत्वेऽपि साधकैः शूद्रैः कथं ज्ञानं लब्धव्यमित्यत आह—श्रावयेदिति ॥ ३८ ॥ (१) ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

अर्थात् संचरणशील । 'भवति च' के बाद 'स्मृतिः' इतना शेष समझना चाहिए । 'मति'—वेदार्थका ज्ञान । नित्य दानका शूद्रके लिए निषेध है, नैमित्तिक दान तो वह कर ही सकता है । यह जो कहा गया है कि विदुर आदि ज्ञानी थे, यह स्मृतिसिद्ध है, इसपर कहते हैं—"येषाम्" इत्यादि । सिद्धोंकी सिद्धि तो रोकी नहीं जा सकती, तो भी साधक शूद्र किस प्रकार ज्ञान प्राप्त करे ? इसपर कहते हैं—"श्रावयेद्" इत्यादि ॥३८॥

---

(१) 'दानञ्च दद्याच्छूद्रोऽपि पाकयज्ञैर्यजेत च' इस वचनसे 'द्विजातीनामिज्याध्ययनं दानम्' इस वचनके विरोधका परिहार करते हैं—नित्यदान इत्यादिसे ।

[१० कम्पनाधिकरण सू० ३९]

जगत्कम्पनकृत्प्राणोऽशनिर्वायुरुतेश्वरः ।
अशनिर्भयहेतुत्वाद्वायुर्वा देहचालनात् ॥१॥
वेदनादमृतत्वोक्तेरीशोऽन्तर्यामिरूपतः ।
भयहेतुश्चालनन्तु सर्वशक्तियुतत्वतः* ॥२॥

[अधिकरणसार]

सन्देह—'यदिदं किञ्च जगत्सर्वम्' इस श्रुतिमें कथित जगत्को कम्पित करनेवाला प्राण वज्र है अथवा वायु है या ईश्वर है ?

पूर्वपक्ष—भयजनक होनेके कारण वह प्राण वज्र हो सकता है अथवा देह आदिका संचालक होनेके कारण वायु हो सकता है ।

सिद्धान्त—उक्त प्राणके ज्ञानसे मोक्षप्राप्ति कही गई है, इससे प्रतीत होता है कि वह ईश्वर ही है । वह अन्तर्यामी होनेके कारण भयजनक हो सकता है एवं सर्वशक्ति-सम्पन्न होनेके कारण संचालक भी हो सकता है ।

---

* कठोपनिषत्की छठी वल्लीमें श्रुति है—"यदिदं किञ्च जगत्सर्वं प्राण एजति निःसृतम् । महद्भयं वज्रमुद्यतं य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥" अर्थात्—उत्पन्न हुआ यह सारा जगत् निमित्तभूत प्राणके रहते ही चेष्टा करता है । वह वस्तु जो कि प्राणशब्दसे कही गई है, प्रहार करनेके लिए उठाए हुए वज्रके समान भयङ्कर है । प्राणशब्दप्रतिपाद्य उस पदार्थको जो जानते हैं, वे अमर हो जाते हैं ।

जगत्की चेष्टाके हेतुभूत उक्त प्राणमें तीन प्रकारका सन्देह होता है—वह अशनि है या वायु है अथवा ईश्वर है ?

पूर्वपक्षी कहता है कि वह वज्र हो सकता है, क्योंकि 'महद्भयम्' से वह भयङ्कर कहा गया है अथवा वायु हो सकता है, क्योंकि 'प्राण एजति' से वह देह आदिका चालक प्रतीत होता है ।

सिद्धान्ती कहते हैं कि उक्त श्रुतिमें पठित प्राणशब्द ईश्वरका ही प्रतिपादक है, क्योंकि 'य एत-द्विदुरमृतास्ते भवन्ति' इससे उसे जाननेवालेके लिए मोक्षकी प्राप्ति कही गई है । सबके अन्तर्यामी होनेके कारण ही वह भयका हेतु भी कहा जा सकता है । 'भीषास्माद्वातः पवते' इत्यादि दूसरी श्रुतियोंसे भी ईश्वर ही भयका हेतु जाना जाता है । देह आदिका चालन करना भी सर्वशक्तिशाली होनेके कारण ईश्वरमें उपपन्न होता है । इससे सिद्ध हुआ कि प्राणशब्दप्रतिपाद्य ईश्वर ही है ।

कम्पनात् ॥ ३९ ॥

पदार्थोक्ति—कम्पनात्—['यदिदं किञ्च जगत्सर्वं प्राण एजति निःसृतम्' इत्यादिश्रुतौ प्रतीयमानः प्राणः परमात्मैव, कुतः] सर्वस्य सवायुकस्य जगतो जीवनादिचेष्टाहेतुत्वात् ।

भाषार्थ—'यदिदं किञ्च०' (यह सारा जगत् प्राणसे उत्पन्न हुआ है, प्रेरक प्राणके रहते चेष्टा करता है, इस श्रुतिमें प्रतीयमान प्राण परब्रह्म ही है, क्योंकि वायुसहित सारे जगत्की जीवन आदि चेष्टाओंका कारण वही है ।

भाष्य

अवसितः प्रासङ्गिकोऽधिकारविचारः । प्रकृतामेवेदानीं वाक्यार्थविचारणां प्रवर्तयिष्यामः । 'यदिदं किञ्च जगत्सर्वं प्राण एजति निःसृतम्, महद्भयं वज्रमुद्यतं य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति' (का० २।६।२) इति ।

भाष्यका अनुवाद

प्रासंगिक अधिकारका विचार समाप्त हुआ । अब आगे पूर्वानुसार वाक्यार्थका ही विचार करेंगे । 'यदिदं किञ्च जगत्सर्वं०' (यह सारा जगत् प्राणसे उत्पन्न हुआ है, प्रेरक प्राणके रहते चेष्टा करता है, वह प्राण अपरिच्छिन्न एवं प्रहार करनेके लिए उठाए हुए वज्रके समान भयानक है, जो उसको जानते हैं, वे

रत्नप्रभा

कम्पनात् । अस्याऽपि प्रासंगिकत्वम् आशङ्क्याऽऽह—**अवसित** इति । समाप्त इत्यर्थः । काठकं पठति—**यदिदमिति** । सर्वं जगत् प्राणात् निस्सृतम्—उत्पन्नम् प्राणे चिदात्मनि प्रेरके सति एजते—चेष्टते, तच्च प्राणाख्यं कारणं महद् ब्रह्म बिभेति अस्मादिति भयम् । तस्मिन् भयहेतुत्वे दृष्टान्तमाह—**वज्रमिति** । यथा उद्यतं वज्रं भयं तथा इत्यर्थः । ये तत् प्राणाख्यं ब्रह्म निर्विशेषं विदुः ते मुक्ता भवन्ति इत्याह—

रत्नप्रभाका अनुवाद

यह अधिकरण भी प्रासंगिक है, ऐसी शंका करके कहते हैं—"अवसितः" इत्यादि । अर्थात् समाप्त हुआ । काठकवाक्यको उद्धृत करते हैं—"यदिदम्" इत्यादिसे । सारा जगत् प्राणसे उत्पन्न हुआ है, प्राण अर्थात् चिदात्माके प्रेरक होनेसे वह (जगत्) व्यापार करता है, वह प्राण-संज्ञक कारण महद्—ब्रह्म और भयहेतु होनेसे भय है । इसमें दृष्टान्त देते हैं—"वज्र" इत्यादिसे । जैसे प्रहार करनेके लिए उठाया हुआ वज्र भयजनक है, वैसे ही ब्रह्म भयजनक है । जो इस प्राणसंज्ञक

भाष्य

एतद्वाक्यं 'एजृ कम्पने' इति धात्वर्थानुगमाल्लक्षितम्। अस्मिन् वाक्ये सर्वमिदं जगत् प्राणाश्रयं स्पन्दते, महच्च किञ्चिद्भयकारणं वज्रशब्दितमुद्यतम्, तद्विज्ञानाच्चाऽमृतत्वप्राप्तिरिति श्रूयते। तत्र कोऽसौ प्राणः, किञ्च तद्भयानकं वज्रमित्यप्रतिपत्तेर्विचारे क्रियमाणे प्राप्तं तावत् प्रसिद्धेः पञ्चवृत्ति-

भाष्यका अनुवाद

अमृत हो जाते हैं) इस वाक्यमें 'एजृ' कम्पने (एजृ धातु कम्पनार्थक है) इस धातुके अर्थका अनुगम है इससे यह वाक्य लक्षित होता है। इस वाक्यमें यह सारा जगत् प्राणके सहारे व्यापार करता है, वह उद्यत वज्रके समान भयजनक कोई अपरिच्छिन्न है और उसके ज्ञानसे अमृतत्वकी प्राप्ति होती है, ऐसा सुना जाता है। उसमें यह प्राण कौन है और वह भयानक वज्र कौन है इसके निश्चय न होनेसे विचार करनेपर लोकप्रसिद्धिसे ऐसा प्रतीत होता है कि प्राण

रत्नप्रभा

य इति। ननु अस्मिन् सूत्रे कथमिदं वाक्यमुदाहृतम् इत्यत आह—एतदिति। एजत्यर्थस्य कम्पनस्य सूत्रितत्वात् एजतिपदयुक्तं वाक्यम् उदाहृतमित्यर्थः। प्रासङ्गिकाधिकारचिन्तयाऽस्य सङ्गतिः नाऽपेक्षिता इति "शब्दादेव प्रमितः" [ब्र० १।३।२३] इत्यनेनोच्यते। तत्र अङ्गुष्ठवाक्ये जीवानुवादो ब्रह्मैक्यज्ञानार्थ इत्युक्तम्, न तथेह प्राणानुवाद ऐक्यज्ञानार्थः संभवति, प्राणस्य स्वरूपेण कल्पितस्य ऐक्यायोगात्, अतः प्राणोपास्तिपरं वाक्यमिति प्रत्युदाहरणेन पूर्वपक्षयति—प्रसिद्धेः पञ्चवृत्तिरिति। ननु "अत एव प्राणः" [ब्र० १।१।२३] इत्यादौ ब्रह्मणि लिङ्गात् प्राणश्रुतिर्नीता, अत्राऽपि सर्वचेष्टाभयहेतुत्वं ब्रह्मलिङ्गमस्तीति

रत्नप्रभाका अनुवाद

निर्गुणब्रह्मको जानते हैं, वे मुक्त होते हैं, ऐसा कहते हैं—"यः" इत्यादिसे। परन्तु इस सूत्रमें इस वाक्यको कैसे उद्धृत किया, इसपर कहते हैं—"एतद्" इत्यादि। 'एजति' का कंपन अर्थ है, वह सूत्रमें कहा गया है, इसलिए 'एजति' पदयुक्त वाक्य उद्धृत किया गया है, ऐसा अर्थ है। प्रसंगप्राप्त अधिकारचिन्ताके साथ इस अधिकरणकी संगति अपेक्षित नहीं है, इसलिए प्रमिताधिकरणके साथ इसकी संगति कही जाती है। प्रमिताधिकरणमें अंगुष्ठवाक्यमें स्थित जीवका अनुवाद ब्रह्माभेदज्ञानके लिए है, ऐसा कहा गया है, उस प्रकार यहां प्राणका अनुवाद ऐक्यज्ञानके लिए नहीं हो सकता है, क्योंकि प्राणके स्वरूपसे कल्पित पदार्थका अभेद नहीं हो सकता है, इसलिए यह वाक्य प्राणोपासनापरक है, इस प्रकार प्रत्युदाहरण संगतिसे पूर्वपक्ष करते हैं—"प्रसिद्धेः पञ्चवृत्तिः" इत्यादिसे। यदि कोई कहे कि

भाष्य

वायुः प्राण इति । प्रसिद्धेरेव चाऽशनिर्वज्रं स्यात् । वायोश्चेदं माहात्म्यं संकीर्त्यते । कथम् ? सर्वमिदं जगत् पञ्चवृत्तौ वायौ प्राणशब्दिते प्रतिष्ठायेजति । वायुनिमित्तमेव च महद्भयानकं वज्रमुद्यम्यते । वायौ हि पर्जन्यभावेन विवर्तमाने विद्युत्स्तनयित्नुवृष्ट्यशनयो विवर्तन्त इत्याचक्षते । वायुविज्ञानादेव चेदममृतत्वम् । तथाहि श्रुत्यन्तरम्—'वायुरेव व्यष्टिर्वायुः समष्टिरप पुनर्मृत्युं जयति य एवं वेद' इति । तस्माद्वायुरयमिह प्रतिपत्तव्य इति ।

भाष्यका अनुवाद

पाँच वृत्तिवाला वायु है और लोकप्रसिद्धिसे ही प्रतीत होता है कि भयानक वज्र अशनि है। यह वायुका माहात्म्य कहा गया है । किस प्रकार ? यह सारा जगत् पाँच वृत्तिवाले प्राण नामक वायुमें रहकर व्यापार करता है । वायुसे ही महान् भयानक वज्र उठाया जाता है, क्योंकि जब वायु पर्जन्यरूपमें विवर्तित—परिणत होता है, तब बिजली, मेघ, वृष्टि और अशनिरूपमें भी विवर्त्तित होता है, ऐसा कहते हैं। वायुके ज्ञानसे ही यह अमृतत्व भी प्राप्त होता है, क्योंकि 'वायुरेव व्यष्टिर्वायुः समष्टिरप पुनर्मृत्युं जयति य एवं वेद' (वायु ही व्यष्टि है, वायु ही समष्टि है, जो ऐसा जानता है, वह अपमृत्युको जीतता है) ऐसी दूसरी श्रुति है । इसलिए यहां प्राणको वायु ही समझना युक्त है ।

रत्नप्रभा

नास्ति पूर्वपक्षावसरः गतार्थत्वादित्यत आह—वायोश्चेति । प्रतिष्ठाय—स्थितिं लब्ध्वा प्राणे वायौ निमित्ते जगत् चलतीति प्रसिद्धम्, अतः स्पष्टं ब्रह्मलिङ्गम् नास्तीति भावः । वज्रलिङ्गाच्च वायुरित्याह—वाय्विति । व्यष्टिः—विशेषः, समष्टिः—सामान्यम् ।

रत्नप्रभाका अनुवाद

'अत एव प्राणः' सूत्रमें ब्रह्मलिंग होनेके कारण प्राणश्रुति ब्रह्मपरक कही गई है, यहां भी सर्वचेष्टाभयहेतुत्वरूप ब्रह्मलिंग है, इसलिए पूर्वपक्षका अवकाश ही नहीं है, क्योंकि उसी सूत्रसे यह गतार्थ है, इसपर कहते हैं—'वायोश्च' इत्यादि । 'प्रतिष्ठाय'—स्थिति पाकर, वायुसे जगत्‌के सब व्यवहार होते हैं, यह प्रसिद्ध है, इसलिए ब्रह्मका स्पष्ट लिंग नहीं है यह भाव है । वज्ररूप लिंगसे भी मंत्रप्रतिपाद्य वायु ही है, ऐसा कहते हैं—"वायु" इत्यादिसे । 'व्यष्टि'—विशेष, 'समष्टि'—सामान्य ।

भाष्य

एवं प्राप्ते ब्रूमः—ब्रह्मैवेदमिह प्रतिपत्तव्यम्। कुतः? पूर्वोत्तरालोचनात्। पूर्वोत्तरयोर्हि ग्रन्थभागयोर्ब्रह्मैव निर्दिश्यमानमुपलभामहे। इहैव कथमकस्मादन्तराले वायुं निर्दिश्यमानं प्रतिपद्येमहि। पूर्वत्र तावत्

'तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते।

तस्मिँल्लोकाः श्रिताः सर्वे तदु नात्येति कश्चन॥' (का० २।६।१)

इति ब्रह्म निर्दिष्टम्, तदेवेहाऽपि संनिधानात्, 'जगत्सर्वं प्राण एजति' इति च लोकाश्रयत्वप्रत्यभिज्ञानान्निर्दिष्टमिति गम्यते। प्राणशब्दोऽप्ययं परमात्मन्येव प्रयुक्तः, 'प्राणस्य प्राणम्' (बृ० ४।४।१८) इति दर्शनात्। एजयितृत्वमपीदं परमात्मन एवोपपद्यते न वायुमात्रस्य। तथा चोक्तम्—

भाष्यका अनुवाद

सिद्धान्ती—ऐसा प्राप्त होनेपर हम कहते हैं—यहां प्राणको ब्रह्म ही समझना युक्त है। किससे? पूर्वापर आलोचन करनेसे, क्योंकि जब हमें प्रतीत हो रहा है कि पूर्व और उत्तर ग्रन्थ-भागोंमें ब्रह्मका ही निर्देश किया गया है, तब यहींपर बीचमें एकदम वायुका निर्देश हम कैसे समझ लें? 'तदेव शुक्रं०' (वही जो इस संसारवृक्षका मूल है, वही स्वप्रकाश है, वही ब्रह्म है, वही अमृत कहलाता है, उसीमें सब लोक आश्रित हैं, उसका कोई अतिक्रमण ही नहीं कर सकता) इस प्रकार पूर्ववाक्यमें जो ब्रह्म निर्दिष्ट है, यहां भी सन्निधानसे और सर्व जगत् प्राणमें चेष्टा करता है, इस तरह लोकोंमें आश्रयत्वरूपसे प्रत्यभिज्ञा होनेसे उसीका निर्देश है ऐसा समझा जाता है। यह प्राणशब्द भी परमात्मामें ही प्रयुक्त है, क्योंकि 'प्राणस्य प्राणम्' (वह प्राणका प्राण है) ऐसा देखनेमें आता है। यह चेष्टा करना—प्रेरक होना भी परमात्मामें ही युक्त है, वायुमात्रमें नहीं,

रत्नप्रभा

सूत्रात् बहिरेव सिद्धान्तं प्रतिजानीते—**ब्रह्मैवेति**। पूर्वोत्तरवाक्यैकवाक्यतानुगृहीतं सर्वाश्रयत्वं लिङ्गं वाक्यभेदकप्राणश्रुतेर्बाधकमित्याह—**पूर्वत्रेत्यादिना**। शुक्रम्—स्वप्रकाशम्। **तदु नात्येति**। ब्रह्मानाश्रितः कोऽपि लोको नास्त्येव इति उकारार्थः। सौत्रलिङ्गं व्याचष्टे—**एजयितृत्वमिति**। सवायुकस्य सर्वस्य

रत्नप्रभाका अनुवाद

सूत्रसे बाहर ही सिद्धान्त करते हैं—"ब्रह्मैव" इत्यादिसे। पूर्वोत्तर वाक्योंकी एकवाक्यतासे अनुगृहीत सर्वाश्रयत्वरूप लिंग वाक्यभेदक प्राणश्रुतिका बाधक है, ऐसा कहते हैं—"पूर्वत्र" इत्यादिसे। 'शुक्रम्'—स्वप्रकाश। 'तदु नात्येति'—ऐसा कोई लोक नहीं ही है जो ब्रह्मके आश्रित न हो यह अवधारण उकारका अर्थ है। सूत्रप्रतिपादित लिङ्गका व्याख्यान करते हैं—"एजयितृत्वम्" इत्यादिसे। आशय यह कि वायुसहित सारे

भाष्य

'न प्राणेन नापानेन मर्त्यो जीवति कश्चन ।

इतरेण तु जीवन्ति यस्मिन्नेतावुपाश्रितौ ॥', (का० २।५।५) इति । उत्तरत्राऽपि—

'भयादस्याग्निस्तपति भयात्तपति सूर्यः ।

भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः ॥' (का० २।६।३) इति ब्रह्मैव निर्देक्ष्यते न वायुः, सवायुकस्य जगतो भयहेतुत्वाभिधानात् । तदेवेहाऽपि सन्निधानान्महद्भयं वज्रमुद्यतमिति च भयहेतुत्वप्रत्यभिज्ञानान्निर्दिष्टमिति गम्यते । वज्रशब्दोऽप्ययं भयहेतुत्वसामान्यात् प्रयुक्तः । यथा हि वज्रमुद्यतं ममैव शिरसि निपतेद् यद्यहमस्य शासनं न कुर्यामित्यनेन भयेन जनो नियमेन राजादिशासने प्रवर्तते, एवमिदमग्निवायुसूर्यादिकं जगदस्मादेव ब्रह्मणो बिभ्यन्नियमेन स्वव्यापारे प्रवर्तत इति भयानकं

भाष्यका अनुवाद

क्योंकि 'न प्राणेन नापानेन०' (कोई भी प्राणी प्राण या अपानसे नहीं जीता, किन्तु ये दोनों जिसके आश्रित हैं, उससे ही सब जीते हैं) ऐसा कहा है । आगे भी 'भयादस्याग्नि०' (इसके भयसे अग्नि तपती है, इसके भयसे सूर्य तपता है एवं उसके भयसे इन्द्र, वायु और पांचवाँ मृत्यु अपने-अपने व्यापारमें प्रवृत्त होते हैं) इस प्रकार ब्रह्मका ही निर्देश है, वायुका निर्देश नहीं है, क्योंकि वह वायुसहित जगत्के भयका हेतु कहा गया है । इस प्रकार यहां सन्निधानसे (प्रकरणसे) और 'महत् भयं०' (उद्यत वज्रके समान भयजनक) भयहेतुत्वरूपसे प्रत्यभिज्ञा होनेके कारण उसीका निर्देश है ऐसा समझा जाता है । वज्रका भी भयजनकत्वरूपसादृश्यसे उसमें प्रयोग है । यदि मैं इसकी आज्ञा-का पालन नहीं करूँगा तो यह उद्यत वज्र मेरे ही सिरपर पड़ेगा, इस भयसे जैसे लोग राजा आदिके शासनमें प्रवृत्त होते हैं, उसी प्रकार यह अग्नि, वायु, सूर्य आदि जगत् इसी ब्रह्मसे डरता हुआ विनयपूर्वक अपने व्यापारमें प्रवृत्त

रत्नप्रभा

कम्पनश्रवणादपि प्राणः परमात्मैव इत्यर्थः । ब्रह्मणि वज्रशब्दः कथम्? इत्याशङ्क्य गौण इत्याह—वज्रशब्द इति । बृहदारण्यके "वायुरेव व्यष्टिः" [३।३।२]

रत्नप्रभाका अनुवाद

जगत्का कंपन श्रुतिमें कहा गया है, इससे प्राण परमात्मा ही है । ब्रह्मके लिए वज्रशब्दका प्रयोग किस प्रकार किया गया है, ऐसी आशंका करके "वज्रशब्दः" इत्यादिसे कहते हैं कि

भाष्य

वज्रोपमितं ब्रह्म। तथा च ब्रह्मविषयं श्रुत्यन्तरम्—

'भीषास्माद्वातः पवते भीषोदेति सूर्यः।
भीषास्मादग्निश्चेन्द्रश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः॥' (तै० ८।१) इति।

अमृतत्वफलश्रवणादपि ब्रह्मैवेदमिति गम्यते। ब्रह्मज्ञानाद् ह्यमृतत्वप्राप्तिः, 'तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नाऽन्यः पन्था विद्यतेऽयनाय' (श्वे० ६।१५) इति मन्त्रवर्णात्। यत्तु वायुविज्ञानात् क्वचिदमृतत्वमभिहितम्, तदापेक्षिकम्। तत्रैव प्रकरणान्तरकरणेन परमात्मानमभिधाय 'अतोऽ-

भाष्यका अनुवाद

होता है, इसलिए भयानक वज्रके साथ ब्रह्मकी तुलना की गई है और ब्रह्ममें 'भीषास्माद्वातः०' (इसके भयसे वायु चलता है, इसके भयसे सूर्य उदित होता है, इसके भयसे अग्नि, इन्द्र और पांचवाँ मृत्यु अपने-अपने काममें प्रवृत्त होते हैं) ऐसी अन्य श्रुति भी है। अमृतत्वरूप फलके श्रवणसे भी प्रतीत होता है कि प्राण ब्रह्म ही है, क्योंकि ब्रह्मज्ञानसे ही अमृतत्वकी प्राप्ति होती है, कारण कि 'तमेव विदित्वातिमृत्युमेति०' (उसीको जानकर मनुष्य मृत्युका अतिक्रमण करता है अर्थात् मुक्त होता है, मोक्षके लिए अन्य मार्ग नहीं है) ऐसी श्रुति है। वायुके विज्ञानसे किसी स्थान पर जो अमृतत्व कहा गया है, वह आपेक्षिक है, क्योंकि वहीं दूसरे प्रकरणमें परमात्माका अभिधान करके 'अतोऽन्यदार्तं०'

रत्नप्रभा

इत्यत्र "अप पुनर्मृत्युम्" (३।३।२) इति अपमृत्युजयरूपम् आपेक्षिकम् अमृतत्वम् उच्यते, न मुख्यामृतत्वम्। तत्रैव वायूपास्तिप्रकरणं समाप्य "अथ हैनमुषस्तः चाक्रायणः पप्रच्छ" (बृ० ३।४।१) इति ज्ञेयात्मानमुक्त्वा वाय्वादेः नाशित्वोक्तेः इत्याह—यत्तु वाय्वित्यादिना। तस्मात् काठकवाक्यं ज्ञेये समन्वितमिति सिद्धम्॥ ३९॥ (१०)॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

वह गौण है। बृहदारण्यकमें 'वायुरेव०' (वायुही व्यष्टि है) इस स्थलपर 'अप पुन०' इस प्रकार अपमृत्युजयरूप आपेक्षिक अमृतत्व कहा है, मुख्य अमृतत्व नहीं कहा गया है, क्योंकि वायुकी उपासनाका प्रकरण वहीं समाप्त करके 'अथ हैनमुषस्तः०' इत्यादिसे ज्ञेय आत्माको कहकर वायु आदिको विनाशी कहा है, ऐसा कहते हैं—"यत्तु वायु" इत्यादिसे। इससे सिद्ध हुआ कि काठकवाक्य ज्ञेय ब्रह्ममें समन्वित है॥ ३९॥

भाष्य

न्यदार्तम्' (बृ० ३।४) इति वाय्वादेरार्तत्वाभिधानात्। प्रकरणादप्यत्र परमात्मनिश्चयः।

'अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मादन्यत्रास्मात्कृताकृतात्।
अन्यत्र भूताच्च भव्याच्च यत्तत्पश्यसि तद्वद ॥' (का० १।२।१४)

इति परमात्मनः पृष्टत्वात् ॥ ३९ ॥

भाष्यका अनुवाद

(उससे अन्य विनाशी है) इस प्रकार वायु आदिको विनाशी कहा है। और प्रकरणसे भी यहां परमात्माका ही निश्चय होता है, क्योंकि 'अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मा०' (जो धर्मसे भिन्न है, अधर्मसे भिन्न है, इस कार्य और कारणसे भिन्न है, भूत, भविष्यत् और वर्त्तमानसे भिन्न है, एवंभूत जिसको आप देखते हो, उसका हमारे लिए उपदेश कीजिए) इस प्रकार परमात्मा ही पूछा गया है ॥३९॥

[११ ज्योतिरधिकरण सू० ४०]

परं ज्योतिस्तु सूर्यस्य मण्डलं ब्रह्म वा भवेत् ।
समुत्थायोपसम्पद्येत्युक्त्या स्याद्रविमण्डलम् ॥१॥
समुत्थानं त्वम्पदार्थशुद्धिर्वाक्यार्थबोधनम् ।
सम्पत्तिरुत्तमत्वोक्तेर्ब्रह्म स्यादक्षसाक्षितः* ॥२॥

[अधिकरणसार]

सन्देह—'एष सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरात् समुत्थाय परं ज्योतिरुपसम्पद्य' इस वाक्यमें पठित 'परं ज्योतिः' पद सूर्यमण्डलका वाचक है अथवा ब्रह्मका ?

पूर्वपक्ष—'शरीरसे निकलकर और ज्योतिको प्राप्त होकर' इस कथनसे प्रतीत होता है कि पर ज्योति सूर्यमण्डल ही है ।

सिद्धान्त—यहाँ पर समुत्थानका अर्थ निर्गम और सम्पत्तिका अर्थ प्राप्ति नहीं है बल्कि त्वंपदार्थ—जीवका शोधन—स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीरसे विवेक समुत्थान है और शोधित जीवका ब्रह्मरूपसे ज्ञान है—सम्पत्ति । श्रुतिमें 'उत्तमः पुरुषः' इस प्रकार उत्तमताके कथनसे एवं सर्वसाक्षी होनेसे पर ज्योति ब्रह्म ही है ।

---

* छान्दोग्यके अष्टम अध्यायमें प्रजापतिविद्यामें श्रुति है—"य एष सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरात् समुत्थाय परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते" । इसका अर्थ है कि सम्प्रसाद—जिस अवस्थामें जीव अत्यन्त प्रसन्न रहता है अर्थात् सुषुप्ति अवस्था, यहाँपर सम्प्रसादशब्दसे जीव लक्षित होता है । यह जीव इस शरीरसे निकलकर, अपने स्वरूपसे अभिव्यक्त होकर परम ज्योतिको प्राप्त होता है । यहाँपर ज्योतिःशब्दके अर्थके बारेमें सन्देह उपस्थित होता है कि वह सूर्यमण्डल है अथवा ब्रह्म है ?

पूर्वपक्षी कहता है कि यहाँ ज्योतिका अर्थ सूर्यमण्डल ही है, क्योंकि 'शरीरात् समुत्थाय परं ज्योतिरुपसम्पद्य' में कहा गया है कि वह शरीरसे निकलकर ज्योतिको प्राप्त होता है । ब्रह्मप्राप्तिमें निर्गम नहीं होता, क्योंकि वहाँ प्राप्तिकर्ता एवं प्राप्तव्यमें भेद ही नहीं है ।

सिद्धान्ती कहते हैं कि ज्योतिशब्द ब्रह्म ही का प्रतिपादक है, क्योंकि श्रुतिमें कहा गया है कि वह उत्तम पुरुष है, उसका सूर्यमण्डलसे सम्बन्ध ही नहीं घटता । जो जानता है कि मैं इसे सूँघता हूँ, वह आत्मा है और जो जानता है कि मैं इसे सुनता हूँ, वह आत्मा है, इत्यादिसे आत्मा घ्राता, घ्राण और घ्रेय एवं श्रोता, श्रवण और श्रोतव्य आदिका साक्षी सुना जाता है । उक्त श्रुतिके साथ एक-वाक्यता करनेसे प्रतीत होता है कि ज्योतिःशब्द ब्रह्मका ही प्रतिपादन करता है । और जो यह कहा गया है कि 'शरीरात् समुत्थाय, ज्योतिरुपसम्पद्य' (शरीरसे निकलकर ज्योतिको प्राप्त होता है) ये दोनों ब्रह्मपक्षमें नहीं घटते, यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि यहाँ समुत्थानका अर्थ निर्गम नहीं है किन्तु त्वंपदार्थ अर्थात् जीवका स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीरसे विवेक है और उपसम्पत्तिका अर्थ प्राप्ति भी नहीं है, किन्तु उसका अर्थ है शोधित त्वंपदार्थका ब्रह्मरूपसे ज्ञान । इससे सिद्ध हुआ कि ज्योतिपद ब्रह्म ही का वाचक है ।

ज्योतिर्दर्शनात् ॥४०॥

पदच्छेद—ज्योतिः, दर्शनात् ।

पदार्थोक्ति—ज्योतिः—'एष सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरात् समुत्थाय परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते' इत्यत्र ज्योतिःशब्दवाच्यं [ब्रह्मैव, कुतः] दर्शनात्—'य आत्माऽपहतपाप्मा' इत्युपक्रमालोचनया ब्रह्मण एव प्रतिपाद्यतयाऽनुवृत्तिदर्शनात् ।

भाषार्थ—'एष सम्प्रसादो०' (यह जीव इस शरीरसे उठकर अपने स्वरूपसे अभिव्यक्त होकर पर ज्योतिको प्राप्त करता है) इस श्रुतिमें ज्योतिःशब्दसे प्रतिपाद्य ब्रह्म ही है, क्योंकि 'य आत्मा०' (यह आत्मा पापरहित है) इस उपक्रमवाक्यके पर्यालोचनसे ब्रह्मकी ही प्रतिपाद्यरूपसे अनुवृत्ति देखी जाती है ।

भाष्य

'एष सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरात् समुत्थाय परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाऽभिनिष्पद्यते (छा० ८।१२।३) इति श्रूयते । तत्र संशय्यते, किं ज्योतिःशब्दं चक्षुर्विषयं तमोपहं तेजः किंवा परं ब्रह्मेति ? किं तावत्प्राप्तम् ?

भाष्यका अनुवाद

'एष सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरात्०' (यह जीव इस शरीरसे उठकर अपने स्वरूपसे अभिव्यक्त होकर पर ज्योतिको प्राप्त करता है) इसमें संशय होता है कि ज्योतिःशब्दवाच्य आँखसे देखे जानेवाले घट-पट आदि पदार्थोंके आवरक अन्धकारका नाश करनेवाला तेज है या परब्रह्म ? तब क्या प्राप्त होता है ?

रत्नप्रभा

ज्योतिर्दर्शनात् । छान्दोग्ये प्रजापतिविद्यावाक्यमाह—एष इति । परंज्योतिश्श्रुतिभ्यां संशयमाह—तत्रेति । घटादिविषयावरकतमोनाशकं सौरमित्यर्थः । पूर्वत्र ब्रह्मप्रकरणस्याऽनुग्राहकः सर्वजगच्चेष्टाहेतुत्वादियोगोऽस्तीति प्राणश्रुतिः ब्रह्मणि नीता, न तथाऽत्र "य आत्माऽपहतपाप्मा" (छा० ८।७।१) इति प्रकरण-

रत्नप्रभाका अनुवाद

छान्दोग्यस्थ प्रजापतिविद्यावाक्यको कहते हैं—"एषः" इत्यादिसे । पर एवं ज्योतिः शब्दोंके श्रवणसे उत्पन्न हुए सन्देहको कहते हैं—"तत्र" इत्यादिसे । घट आदि विषयोंके आवरक अन्धकारका नाश करनेवाला सूर्यका तेज, ऐसा अर्थ है । पूर्व अधिकरणमें ब्रह्मप्रकरणके समर्थक सर्वजगत्व्यापारहेतुत्वरूप लिङ्गके सम्बन्धसे प्राणश्रुति ब्रह्मपरक मानी गई है, उस प्रकार यहाँ "य आत्मा०" इस प्रकरणका अनुग्राहक कोई लिङ्ग नहीं है । इस तरह प्रत्युदा-

भाष्य

प्रसिद्धमेव तेजो ज्योतिःशब्दमिति। कुतः? तत्र ज्योतिःशब्दस्य रूढत्वात्। 'ज्योतिश्चरणाभिधानात्' (ब्र० सू० १।१।२४) इत्यत्र हि प्रकरणाज्ज्योतिःशब्दः स्वार्थं परित्यज्य ब्रह्मणि वर्तते। न चेह तद्वत् किंचित्स्वार्थपरित्यागे कारणं दृश्यते। तथा च नाडीखण्डे—'अथ यत्रैतदस्माच्छरीरादुत्क्रामत्यथैतैरेव रश्मिभिरूर्ध्वमाक्रमते' (छा० ८।६।५) इति

भाष्यका अनुवाद

पूर्वपक्षी—ज्योतिःशब्द प्रसिद्ध तेजका वाचक है, क्योंकि उसमें ज्योतिः-शब्द रूढ़ है। 'ज्योतिश्चरणाभिधानात्' इस सूत्रमें कहा गया है कि प्रकरणसे ज्योतिःशब्द स्वार्थका परित्याग करके ब्रह्मका बोध कराता है, परन्तु यहां उसके समान स्वार्थपरित्यागमें कोई कारण नहीं दीखता। इसी प्रकार नाड़ीखंडमें 'अथ यत्रैतदस्माच्छ०' (शरीरसे निकलनेके अनन्तर इन्हीं रश्मियों द्वारा ऊपर

रत्नप्रभा

स्याऽनुग्राहकं पश्याम इति प्रत्युदाहरणेन पूर्वपक्षमाह—**प्रसिद्धमेवेत्यादिना**। पूर्वपक्षे सूर्योपास्तिः, सिद्धान्ते ब्रह्मज्ञानाद् मुक्तिरिति फलम्। ननु "ज्योतिरधिकरणे" (ब्र० १।१।२४) ज्योतिःशब्दस्य ब्रह्मणि वृत्तेः उक्तत्वात् कथं पूर्वपक्ष इत्यत आह—**ज्योतिरिति**। तत्र गायत्रीवाक्ये प्रकृतब्रह्मपरामर्शकयच्छब्दसामानाधिकरण्यात् ज्योतिश्शब्दस्य स्वार्थत्यागः कृतः, तथाऽत्र स्वार्थत्यागे हेत्वदर्शनात् पूर्वपक्ष इत्यर्थः। ज्योतिश्श्रुतेः अनुग्राहकत्वेनाऽर्चिरादिमार्गस्थत्वं लिङ्गमाह—**तथा चेति**। "ता वा एता हृदयस्य नाड्यः" (छा० ८।६।१) इति कण्डिकया नाडीनां रश्मीनां च मिथः संश्लेषमुक्त्वा अथ—संज्ञालोपानन्तरम् यत्र—काले एतत्—मरणं यथा स्यात् तथा उत्क्रामति अथ—तदा एतैः नाडीसंश्लिष्टरश्मिभिः

रत्नप्रभाका अनुवाद

हरणसङ्गतिसे पूर्वपक्ष कहते हैं—"प्रसिद्धमेव" इत्यादिसे। पूर्वपक्षमें सूर्यकी उपासना फल है, सिद्धान्तमें ब्रह्मज्ञानसे मुक्ति फल है। परन्तु जब ज्योतिरधिकरणमें ज्योतिःशब्द ब्रह्मका वाचक माना गया है, तब यहाँ पूर्वपक्ष कैसे होता है, इसपर कहते हैं—"ज्योतिः" इत्यादि। वहां गायत्रीवाक्यमें प्रस्तुत ब्रह्मका परामर्शक 'यत्' शब्दके सामानाधिकरण्यसे ज्योतिःशब्दके मुख्यार्थका परित्याग किया गया है, परन्तु यहाँ उस प्रकार अपना अर्थ त्यागनेके लिए कोई हेतु दिखाई नहीं देता, इसलिए पूर्वपक्ष है, ऐसा आशय है। ज्योतिःश्रुतिके अनुग्राहक अर्चिरादिमार्गस्थितिरूप लिङ्ग कहते हैं—"तथा च" इत्यादिसे। "ता वा एता०" (वे इस हृदयकी नाड़ियाँ हैं) इत्यादिसे हृदयकी नाडियों और रश्मियोंका परस्पर संश्लेष कहकर उसके बाद—

भाष्य

मुमुक्षोरादित्यप्राप्तिरभिहिता। तस्मात् प्रसिद्धमेव तेजो ज्योतिःशब्दमिति।

एवं प्राप्ते ब्रूमः—परमेव ब्रह्म ज्योतिःशब्दम्। कस्मात्? दर्शनात्। तस्य हीह प्रकरणे वक्तव्यत्वेनाऽनुवृत्तिर्दृश्यते, 'य आत्माऽपहतपाप्मा' (छा० ८।७।१) इत्यपहतपाप्मत्वादिगुणकस्याऽऽत्मनः प्रकरणादावन्वेष्टव्यत्वेन विजिज्ञासितव्यत्वेन च प्रतिज्ञानात्; 'एतं त्वेव ते भूयोऽनुव्या-

भाष्यका अनुवाद

जाता है) इस प्रकार मुमुक्षुके लिए आदित्यकी प्राप्ति कही गई है। इसलिए ज्योतिःशब्द प्रसिद्ध तेजका ही वाचक है।

सिद्धान्ती—ऐसा प्राप्त होनेपर हम कहते हैं—ज्योतिःशब्दवाच्य पर ब्रह्म ही है। किससे? दर्शनसे। इस प्रकरणमें वक्तव्यरूपसे उसकी ही अनुवृत्ति देखनेमें आती है, क्योंकि 'य आत्माऽपहतपाप्मा' (जो आत्मा पापरहित है) ऐसा पापरहितत्व आदि गुणविशिष्ट आत्मा अन्वेषण करने और विशेषरूपसे जिज्ञासा करने योग्य है, प्रकरणके आरम्भमें ऐसी प्रतिज्ञा की है। 'एतं त्वेव ते भूयो०' (इसी आत्माका तुम्हारे लिए बार-बार उपदेश करता हूँ)

रत्नप्रभा

ऊर्ध्वः सन् उपरि गच्छति, गत्वा आदित्यं ब्रह्मलोकद्वारभूतं गच्छतीति अभिहितम्, तथैव अत्राऽपि शरीरात् समुत्थाय—मृत्वा परं ज्योतिः आदित्याख्यम् उपसम्पद्य तद्द्वारा ब्रह्मलोकं गत्वा स्वस्वरूपेण अभिनिष्पद्यते इति वक्तव्यम्। 'समुत्थाय' 'उपसम्पद्य' इति क्त्वाश्रुतिभ्यां ज्योतिषोऽर्चिरादिमार्गस्थत्वभानादित्यर्थः। अतो मार्गस्थसूर्योपास्त्या क्रममुक्तिपरं वाक्यमिति प्राप्ते सिद्धान्तयति—**एवमिति**। व्याख्येयत्वेन उपक्रान्तः आत्मैव अत्र ज्योतिश्शब्देन व्याख्येय इति ज्योति-

रत्नप्रभाका अनुवाद

संज्ञालोप होनेके अनन्तर जब मरण होता है, तब इन नाड़ीसम्बद्ध रश्मियों द्वारा ऊपर जाता है, तदुपरान्त ब्रह्मलोकके द्वारभूत आदित्यलोकमें जाता है, ऐसा कहा है, उसी प्रकार यहाँ ज्योतिः श्रुतिमें शरीरसे समुत्थान करके प्राण त्यागकर, आदित्य नामक पर ज्योतिके पास जाकर, उसके द्वारा ब्रह्मलोकमें जाकर अपने रूपसे अभिनिष्पन्न होता है, ऐसा कहना चाहिये। समुत्थाय और संपद्य इनमें क्त्वाप्रत्ययके श्रवणसे ज्योति आर्चि आदि मार्गमें है, ऐसा भान होता है। इसलिए मार्गस्थ सूर्यकी उपासनासे क्रममुक्तिपरक वाक्य है, ऐसा पूर्वपक्ष होनेपर सिद्धान्त करते हैं—"एवम्" इत्यादिसे। आशय यह कि व्याख्येयरूपसे आत्माका ही उपक्रम है;

भाष्य

ख्यास्यामि' (छा० ८।९।३) इति चाऽनुसन्धानात् । 'अशरीरं वाव सन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः' (छा० ८।१२।१) इति चाऽशरीरतायै ज्योतिःसम्पत्तेरस्याभिधानात्, ब्रह्मभावाच्चाऽन्यत्राशरीरतानुपपत्तेः; 'परं ज्योतिः' 'स उत्तमः पुरुषः' (छा० ८।१२।२) इति च विशेषणात् । यत्तूक्तम्—मुमुक्षोरादित्यप्राप्तिरभिहिता इति, नासावात्यन्तिको मोक्षो गत्युत्क्रान्ति-

भाष्यका अनुवाद

इस प्रकार आत्माका अनुसन्धान है। 'अशरीरं वाव सन्तं०' (सुख और दुःख शरीररहित आत्माका स्पर्श नहीं करते) इस प्रकार शरीररहित स्वरूपके लिए यह (जीव) ज्योतिरूपमें सम्पन्न होता है, ऐसा कहा है, और ब्रह्मभावके सिवा अशरीरत्व उपपन्न नहीं हो सकता, और 'परं ज्योतिः' 'स उत्तमः पुरुषः' (जो पर ज्योति है, वह उत्तम पुरुष है) ऐसा विशेषण है । मुमुक्षुके लिए आदित्य-प्राप्तिका अभिधान किया है, ऐसा जो पीछे कहा गया है, वह आत्यन्तिक मोक्ष नहीं है, क्योंकि गति और

रत्नप्रभा

वाक्येन एकवाक्यताप्रयोजकप्रकरणानुगृहीतोत्तमपुरुषश्रुत्या वाक्यभेदकज्योतिश्श्रुतिः बाध्या इति भावः । अशरीरत्वफललिङ्गाद् च ब्रह्मैव ज्योतिः, न सूर्य इत्याह—अशरीरमिति । न च सूर्यप्राप्त्या क्रमेण अशरीरत्वं स्यादिति वाच्यम्, परत्वेन विशेषितस्य ज्योतिष एव "स उत्तमः" (छा० ८।१२।३) इति परामर्शेन अशरीरत्वनिश्चयात् इत्याह—परमिति । पूर्वोक्तलिङ्गं दूषयति—यत्त्विति । नाडीखण्डे दहरोपासकस्य या सूर्यप्राप्तिः उक्ता, स न मोक्ष इति युक्ता सूर्योक्तिः, अत्र प्रजापतिवाक्ये तु निर्गुणविद्यायाम् अर्चिरादिगतिस्थसूर्यस्य अनन्वयात्

रत्नप्रभाका अनुवाद

इसलिए ज्योतिःशब्दसे वह आत्मा ही व्याख्येय है । इस प्रकार ज्योतिवाक्यके साथ एकवाक्यता करानेवाले प्रकरणसे अनुगृहीत 'स उत्तमः पुरुषः' इस उत्तमपुरुषश्रुतिसे वाक्यभेदक ज्योतिःश्रुतिका बाध करना चाहिए । अशरीरत्वरूप फलके कथनसे भी ज्योति ब्रह्म ही है, सूर्य नहीं, ऐसा कहते हैं—"अशरीरं०" इत्यादिसे । सूर्यकी प्राप्तिसे क्रमसे अशरीरत्व होगा, यह कहना युक्त नहीं है, क्योंकि परत्वरूप विशेषणसे विशिष्ट जो ज्योति है, वही उत्तम पुरुष है, ऐसा परामर्श होनेसे उसमें अशरीरत्वका निश्चय होता है, ऐसा कहते हैं—"परम्" इत्यादिसे । पूर्वोक्त लिङ्गको दूषित करते हैं—"यत्तु" इत्यादिसे । नाड़ीखण्डमें दहरके उपासकके लिए जो सूर्यप्राप्ति कही गई है, वह मोक्ष नहीं है, इसलिए वहाँ सूर्यका कथन युक्त है । यहाँ प्रजापतिवाक्यमें—निर्गुणब्रह्मविद्यामें अर्चि आदि मार्गोंमें रहनेवाले सूर्यका सम्बन्ध न होनेसे श्रुतिका

भाष्य

सम्बन्धात् । नह्यात्यन्तिके मोक्षे गत्युत्क्रान्ती स्त इति वक्ष्यामः ॥४०॥

भाष्यका अनुवाद

उत्क्रान्तिके साथ संबन्ध है । आत्यन्तिक मोक्षमें गति और उत्क्रान्तिका संबन्ध नहीं रहता है ॥ ४० ॥

रत्नप्रभा

अनर्थकत्वात् श्रुतिव्यत्यासेन स्वरूपं साक्षात्कृत्य परं ज्योतिः तदेव उपसम्पद्यते इति व्याख्येयम् इति भावः ॥४०॥ (११) ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

अर्थ उपपन्न नहीं हो सकता, इसलिए व्यत्याससे[1] स्वरूपका परज्योतिरूपसे साक्षात्कार करके परज्योति ही हो जाता है, ऐसा श्रुतिका व्याख्यान करना चाहिए, ऐसा भाव है ॥ ४० ॥

१—जैसे 'मुखं व्यादाय स्वपिति' इस वाक्यमें 'सुप्त्वा व्याददाति' ऐसा व्यत्यास होता है वैसे ही 'परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते' इस वाक्यमें 'अभिनिष्पद्य सम्पद्यते' ऐसा व्यत्यास समझना चाहिए और अभिनिष्पत्ति—साक्षात्कार तथा उपसम्पत्ति- होना है ।

[१२ अर्थान्तरत्वव्यपदेशाधिकरण सू० ४१]

वियद्वा ब्रह्म वाऽऽकाशो वै नामेति श्रुतं वियत् ।
अवकाशप्रदानेन सर्वनिर्वाहकत्वतः ॥१॥
निर्वोढृत्वं नियन्तृत्वं चैतन्यस्यैव तत्त्वतः ।
ब्रह्म स्याद्वाक्यशेषे च ब्रह्मात्मेत्यादिशब्दतः* ॥२॥

[अधिकरणसार]

सन्देह—'आकाशो वै नाम नाम रूपयोर्निर्वहिता' इस श्रुतिमें पठित आकाशपद भूताकाशका वाचक है या ब्रह्मका ?

पूर्वपक्ष—अवकाशप्रदान द्वारा सबका निर्वाहक होनेके कारण श्रुतिमें उक्त आकाशपद भूताकाशका वाचक हो सकता है ।

सिद्धान्त—यहां निर्वाहकत्व है नियन्ता होना, वह नियन्तृत्व परमार्थतः परब्रह्ममें ही है और वाक्यशेषमें ब्रह्म, आत्मा आदि शब्द हैं, अतः उक्त श्रुतिमें आकाशपदसे परब्रह्म ही कहा गया है ।

---

* तात्पर्य यह कि छान्दोग्यके अष्टम अध्यायके अन्तमें श्रुति है—"आकाशो वै नाम नामरूपयोर्निर्वहिता ते यदन्तरा तद् ब्रह्म, तदमृतम्, स आत्मा" इसका अर्थ है कि आकाशनामक कोई पदार्थ है, वह जगत्स्वरूप नाम और रूपका निर्वाहक है, वे नाम और रूप जिस आकाशसे भिन्न हैं अथवा जिस आकाशके मध्यमें हैं, वह आकाश मरणरहित ब्रह्म है, वही प्रत्यगात्मा है ।

यहां पूर्वपक्षी कहता है कि उक्त श्रुतिमें आकाशपद भूताकाशका वाचक है, क्योंकि 'नामरूपयो. र्निर्वहिता' इस प्रकार कथित निर्वाहकत्वका अवकाश देनेवाले भूताकाशमें सम्भव है ।

सिद्धान्ती कहते हैं कि यहां निर्वाहकत्व अवकाश देना नहीं है, किन्तु नियामक होना है, सब प्रकारसे निर्वाहक नियन्ता ही हो सकता है, वह नियन्ता ब्रह्म ही है, क्योंकि 'अनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि' (इस जीवस्वरूपसे प्रवेश कर नाम और रूपको व्यक्त करूँगा) ऐसी अन्य श्रुति है । नियम्य पदार्थोंको न जाननेवाला अचेतन भूताकाश नियन्ता नहीं हो सकता है, इसलिए उक्त श्रुतिमें आकाशपद ब्रह्मका ही वाचक है । और 'तद् ब्रह्म, तदमृतम्, स आत्मा' इस प्रकार वाक्यशेषमें ब्रह्मत्व, अमृतत्व और आत्मत्व धर्म कहे गये हैं, उनका भूताकाशमें सम्भव नहीं है, इससे भी सिद्ध होता है कि उक्त आकाश ब्रह्म ही है ।

आकाशोऽर्थान्तरत्वादिव्यपदेशात् ॥ ४१ ॥

पदच्छेद—आकाशः, अर्थान्तरत्वादिव्यपदेशात् ।

पदार्थोक्ति—आकाशः—'आकाशो वै नाम नामरूपयोर्निर्वहिता' इत्यादिश्रुतौ आकाशशब्दितः [परमात्मैव, कुतः] अर्थान्तरत्वादिव्यपदेशात्—'ते यदन्तरा' इत्याकाशस्य नामरूपाभ्यामर्थान्तरत्वेन 'तद् ब्रह्म तदमृतं स आत्मा' इति ब्रह्मत्वादिना च व्यपदेशात् ।

भाषार्थ—'आकाशो वै०' (नाम और रूपका निर्माणकर्ता प्रसिद्ध आकाश है) इत्यादि श्रुतिमें आकाशशब्दसे प्रतिपाद्य ब्रह्म ही है, क्योंकि 'ते यदन्तरा०' (वे नाम और रूप जिसके मध्यमें हैं अथवा जिससे भिन्न हैं) इस प्रकार आकाशका नाम और रूपसे भेद एवं 'तद् ब्रह्म०' (वह ब्रह्म है, वह अमृत है, वही आत्मा है) इस प्रकार ब्रह्मत्व आदि रूपसे व्यपदेश है ।

भाष्य

'आकाशो वै नाम नामरूपयोर्निर्वहिता ते यदन्तरा तद् ब्रह्म तदमृतं स आत्मा' (छा० ८।१४।१) इति श्रूयते । तत् किमाकाशशब्दं परं ब्रह्म किं वा प्रसिद्धमेव भूताकाशमिति विचारे भूतपरिग्रहो युक्तः, आकाशशब्दस्य तस्मिन् रूढत्वात्, नामरूपनिर्वहणस्य चाऽवकाशदानद्वारेण

भाष्यका अनुवाद

'आकाशो वै नाम०' (आकाश नाम और रूपका व्याकरण—निर्माण करनेवाला है । वे नाम और रूप जिसके भीतर हैं वह ब्रह्म है, वह अमृत है, वह आत्मा है) ऐसी श्रुति है । उसमें आकाशशब्दवाच्य परब्रह्म है या प्रसिद्ध भूताकाश है, ऐसा विचार होनेपर [किसका ग्रहण करना युक्त है] ।

पूर्वपक्षी—भूताकाशका ग्रहण करना युक्त है, क्योंकि आकाशशब्द उसमें

रत्नप्रभा

आकाशोऽर्थान्तरत्वादिव्यपदेशात् । छान्दोग्यमुदाहरति—आकाश इति । यथाउपक्रमबलाद् ज्योतिश्श्रुतिबाधः, तथा आकाशोपक्रमाद् ब्रह्मादिशब्दबाध इति दृष्टान्तेन पूर्वपक्षयति—भूतेति । श्रुतैः गुणैः आकाशोपास्तिः निर्गुणब्रह्मज्ञानं

रत्नप्रभाका अनुवाद

"आकाश" इत्यादिसे छान्दोग्य वाक्यको उद्धृत करते हैं । जैसे उपक्रमके बलसे ज्योतिःश्रुतिका बाध है, वैसे ही आकाशशब्दके उपक्रमसे ब्रह्मादिशब्दोंका बाध करना चाहिए, इस प्रकार दृष्टान्तसे पूर्वपक्ष करते हैं—"भूत" इत्यादिसे । श्रुत्युक्त गुणोंसे आकाशकी उपासना

भाष्य

तस्मिन् योजयितुं शक्यत्वात्। स्रष्टृत्वादेश्च स्पष्टस्य ब्रह्मलिङ्गस्याऽश्रवणादिति।

एवं प्राप्त इदमुच्यते—परमेव ब्रह्मेहाऽऽकाशशब्दं भवितुमर्हति, कस्मात्? अर्थान्तरत्वादिव्यपदेशात्, 'ते यदन्तरा तद् ब्रह्म' इति हि नामरूपाभ्यामर्थान्तरभूतमाकाशं व्यपदिशति। न च ब्रह्मणोऽन्यन्नामरूपाभ्यामर्थान्तरं सम्भवति, सर्वस्य विकारजातस्य नामरूपाभ्यामेव व्याकृतत्वात्। नामरूपयोरपि निर्वहणं निरङ्कुशं न ब्रह्मणोऽन्यत्र सम्भवति, 'अनेन

भाष्यका अनुवाद

रूढ है, अवकाश देनेके कारण नाम और रूपका वह निर्माणकर्ता हो सकता है और श्रुतिमें स्रष्टृत्व इत्यादि स्पष्ट ब्रह्मलिंग नहीं है।

सिद्धान्ती—ऐसा प्राप्त होनेपर कहते हैं—यहां आकाशशब्द परब्रह्मका ही वाचक है। किससे? भेद आदिके व्यपदेशसे। 'ते यदन्तरा०' ऐसा नाम और रूपसे भिन्न आकाशका व्यपदेश है और ब्रह्मको छोड़कर दूसरा नाम और रूपसे भिन्न नहीं हो सकता, क्योंकि सब विकारसमूह नाम और रूपसे ही व्याकृत हैं। उसी प्रकार नाम और रूपका स्वतंत्र निर्माण ब्रह्मसे अन्यत्र संभव नहीं है,

---

रत्नप्रभा

चेति उभयत्र फलम्। "आकाशस्तल्लिङ्गाद्" (ब्र० १।१।२२) इत्यनेन पौनरुक्त्यमाशङ्क्य तद्वदत्र स्पष्टलिङ्गाश्रवणादिति परिहरति—स्रष्टृत्वादेश्चेति। "वै नाम" (छा० ८।१४।१) इति प्रसिद्धिलिङ्गस्य आकाशश्रुतेश्च वाक्यशेषगताभ्यां ब्रह्मात्मश्रुतिभ्याम् अनेकलिङ्गोपेताभ्यां बाधो युक्तः। यत्र बहुप्रमाणसंवादः तत्र वाक्यस्य तात्पर्यमिति निर्णयादिति सिद्धान्तयति—परमेवेत्यादिना। नामरूपे—शब्दार्थौ, तदन्तःपातिनः तद्भिन्नत्वं तत्कर्तृत्वं च अयुक्तमित्यर्थः।

रत्नप्रभाका अनुवाद

पूर्वपक्षमें फल है, सिद्धान्तमें निर्गुण ब्रह्मका ज्ञान फल है। "आकाशस्तल्लिङ्गात्" इसके साथ इस सूत्रकी पुनरुक्ति होगी ऐसी आशङ्का करके उसके समान यहां स्पष्ट लिङ्गका श्रवण नहीं है, इस प्रकार शङ्काका परिहार करते हैं—"स्रष्टृत्वादेश्च" इत्यादिसे। "वै नाम" ऐसे प्रसिद्धिरूप लिङ्ग और आकाशश्रुतिका वाक्यशेषमें पठित अनेक ब्रह्मलिङ्गोंसे युक्त ब्रह्मश्रुति और आत्मश्रुतिसे बाध होना युक्त है। जिसमें बहुत प्रमाणोंका संवाद हो, उसमें ही वाक्यका तात्पर्य होता है, ऐसा सिद्धान्त करते हैं—"परमेव" इत्यादिसे। नाम—शब्द। रूप—अर्थ। जो इसके अन्तर्गत हो, अर्थात् जो स्वर्ग नाम और रूप हो वह उससे भिन्न और उसका कर्ता हो, यह सम्भव नहीं

भाष्य

जीवेनाऽऽत्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि' (छा० ६।३।२) इत्यादिब्रह्मकर्तृकत्वश्रवणात् । ननु जीवस्याऽपि प्रत्यक्षं नामरूपविषयं निर्वोढृत्वमस्ति । बाढमस्ति, अभेदस्त्विह विवक्षितः । नामरूपनिर्वहणाभिधानादेव च स्रष्टृत्वादि ब्रह्मलिङ्गमभिहितं भवति । 'तद् ब्रह्म तदमृतं स आत्मा' (छा० ८।१४) इति च ब्रह्मवादस्य लिङ्गानि । 'आकाशस्तल्लिङ्गात्' (ब्र० १।१।२२) इत्यस्यैवाऽयं प्रपञ्चः ॥ ४१ ॥

भाष्यका अनुवाद

क्योंकि 'अनेन जीवेनात्मना०' (इस जीवात्मा द्वारा अनुप्रवेश करके नाम और रूपको मैं व्यक्त करूँगा) इस प्रकार ब्रह्म कर्ता है, ऐसी श्रुति है । परन्तु जीव भी नाम और रूपका निर्माण करता है, यह प्रत्यक्ष है । यह सत्य है। यहां तो अभेदकी विवक्षा है । नाम और रूपके निर्माणका अभिधान है, इसीसे स्रष्टृत्व आदि ब्रह्मलिंगोंका अभिधान हुआ । 'तद्ब्रह्म तदमृतं०' (वह ब्रह्म है, वह अमृत है, वह आत्मा है) ये ब्रह्मवादके लिंग हैं । यह सूत्र 'आकाश०' इस सूत्रका ही विस्तार है ॥ ४१ ॥

रत्नप्रभा

नामादिकर्तृत्वं न ब्रह्मलिङ्गम्, जीवस्थत्वादिति शङ्कते—**नन्विति** । 'अनेन जीवेन' इत्यत्र जीवस्य ब्रह्माभेदेन तत्कर्तृत्वमुच्यते साक्षादयोगादिति परिहरति—**बाढमिति** । यच्च उक्तम्—स्पष्टं लिङ्गं नास्ति इति, तत्राऽऽह—**नामेति** । तर्हि पुनरुक्तिः, तत्राऽऽह—**आकाशेति** । तस्यैव साधकोऽयं विचारः । अत्र आकाशशब्दस्य ब्रह्मणि वृत्तिं सिद्धवत्कृत्य तत्र संशयादिप्रवृत्तेः उक्तत्वादिति न पौनरुक्त्यम् इति भावः ॥४१॥ (१२) ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

है । नाम आदिका कर्तृत्व ब्रह्मका ही लिङ्ग नहीं है, किन्तु जीवका भी लिङ्ग है, ऐसी शङ्का करते हैं—"ननु" इत्यादिसे । 'अनेन जीवेन' जीवका ब्रह्मके साथ अभेद करके वह कर्ता कहा गया है, साक्षात् कर्ता नहीं हो सकता; इस प्रकार शङ्काका परिहार करते हैं—"बाढम्" इत्यादिसे । स्पष्ट लिंग नहीं है, ऐसा जो पीछे कहा गया है, उसपर कहते हैं—"नाम" इत्यादि । तब पुनरुक्ति होगी, इसपर कहते हैं—"आकाश" इत्यादि । उसका ही साधक यह विचार है । यहां आकाशशब्दकी वृत्तिको ब्रह्ममें सिद्ध-सा मानकर उसमें संशय आदिकी प्रवृत्ति कही है, इसलिए पुनरुक्ति नहीं है ॥ ४१ ॥

[१३ सुषुप्त्युत्क्रान्त्यधिकरण सू० ४२-४३]

स्याद्विज्ञानमयो जीवो ब्रह्म वा जीव इष्यते।
आदिमध्यावसानेषु संसारप्रतिपादनात् ॥१॥
विविच्य लोकसंसिद्धं जीवं प्राणाद्युपाधितः।
ब्रह्मत्वमन्यतोऽप्राप्तं बोध्यते ब्रह्म नेतरत्* ॥२॥

[अधिकरणसार]

सन्देह—'योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु' इस श्रुतिमें उक्त विज्ञानमय जीव है या ब्रह्म?

पूर्वपक्ष—आदि, मध्य एवं अन्तमें जीवका प्रतिपादन है, इसलिए उक्त श्रुतिमें विज्ञानमय जीव ही कहा गया है।

सिद्धान्त—श्रुति लोकसिद्ध जीवको प्राण आदि उपाधियोंसे अलग करके उसमें ब्रह्मत्वका बोध कराती है, इसलिए यहां अन्य प्रमाणसे अज्ञात ब्रह्मका ही बोध होता है, जीवका बोध नहीं होता।

---

*तात्पर्य यह कि बृहदारण्यकके छठे अध्यायमें श्रुति है "योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु हृद्यन्तर्ज्योतिः पुरुषः समानः सन्नुभौ लोकावनुसंचरति"। इसका अर्थ है कि स्थूल देह, इन्द्रियों, प्राण आदि वायु, अन्तःकरण और अन्तःकरणकी काम, सङ्कल्प आदि वृत्तियोंसे भिन्न एवं उनके साक्षी ज्योतिःस्वरूप पुरुष लिङ्गशरीरमें अभेदाध्याससे लिङ्गशरीरके समान होकर इस लोक और परलोकमें संचार करता है।

यहां पूर्वपक्षी कहता है कि विज्ञानमय जीव है, क्योंकि ज्योतिर्ब्राह्मणके आदि, मध्य और अन्तमें संसारीका ही विस्तारसे कथन है। आदिमें 'उभौ लोकावनुसंचरति' (दोनों लोकोंमें संचार करता है) इस प्रकार जीवका कथन स्पष्ट ही है। मध्यमें भी सुषुप्ति, स्वप्न एवं जाग्रत् अवस्थाओंका प्रपंच है। इसी प्रकार अन्तमें भी 'स वा अयमात्मा ब्रह्म विज्ञानमयो मनोमयः प्राणमयः' (यह आत्मा ब्रह्म है, विज्ञानमय, मनोमय एवं प्राणमय है) इत्यादिसे उपाधिसहितके वर्णन द्वारा जीवका ही कथन है, अतः उक्त श्रुतिमें जीव ही कहा गया है।

सिद्धान्ती कहते हैं कि यहां जीवका प्रतिपादन नहीं है, क्योंकि 'मैं' इस प्रत्ययका विषय होनेके कारण वह लोकसिद्ध है। प्राण आदि उपाधियोंसे भिन्न समझानेके लिए आदिमें जीवका कथन है। मध्यमें तीनों अवस्थाओंसे संसर्गराहित्य बतलानेके लिए अवस्थाओंका उपन्यास है। अन्तमें जीवके स्वरूपका अनुवाद करके उसमें ब्रह्मत्वका बोध कराया जाता है। ब्रह्मत्व तो अन्य प्रमाणसे प्राप्त नहीं है। इससे यह सिद्ध हुआ कि उक्त श्रुतिमें ब्रह्म ही प्रतिपाद्य है, जीव प्रतिपाद्य नहीं है।

सुषुप्त्युत्क्रान्त्योर्भेदेन ॥ ४२ ॥

पदच्छेद—सुषुप्त्युत्क्रान्त्योः, भेदेन ।

पदार्थोक्ति—सुषुप्त्युत्क्रान्त्योर्भेदेन—['योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु हृद्यन्तर्ज्योतिः पुरुषः' इत्यादिश्रुतौ प्रतिपाद्यमानः पुरुषः परमात्मैव, कुतः] 'प्राज्ञेनात्मना सम्परिष्वक्तो न बाह्यं किञ्चन वेद नान्तरम्' 'प्राज्ञेनात्मनान्वारूढः उत्सर्जन् याति' इति सुषुप्त्युत्क्रान्त्योरवस्थयोः शारीराद् भेदेन परमात्मनः प्राज्ञशब्देन व्यपदेशात् ।

भाषार्थ—'योऽयं विज्ञान०' (यह जो प्राणोंसे भिन्न विज्ञानमय एवं हृदयके अन्दर स्वयंज्योति पुरुष है, वह आत्मा है) इत्यादि श्रुतिसे प्रतिपाद्यमान पुरुष परमात्मा ही है, क्योंकि 'प्राज्ञेनात्मना०' (प्राज्ञ आत्मासे संश्लिष्ट—एकीभूत जीव न किसी बाहरी पदार्थको जानता है, न किसी भीतरी पदार्थको जानता है) 'प्राज्ञेनात्मना०' (प्राज्ञ आत्मासे अधिष्ठित पुरुष घोर शब्दोंको करता हुआ जाता है) इस प्रकार सुषुप्ति और उत्क्रान्ति अवस्थाओंमें जीवसे भिन्नरूपसे परमात्माका प्राज्ञशब्दसे अभिधान है ।

भाष्य

व्यपदेशादित्यनुवर्तते । बृहदारण्यके षष्ठे प्रपाठके 'कतम आत्मेति योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु हृद्यन्तर्ज्योतिः पुरुषः' (बृ० ४।३।७) इत्युपक्रम्य भूयानात्मविषयः प्रपञ्चः कृतः । तत् किं संसारिस्वरूपमात्रान्वा-

भाष्यका अनुवाद

, 'व्यपदेशात्' की पिछले सूत्रसे अनुवृत्ति होती है । बृहदारण्यकके छठे प्रपाठकमें 'कतम आत्मेति योऽयं०' (आत्मा कौन है ? जो यह विज्ञानमय है, प्राण और बुद्धिसे भिन्न है, ज्योतिःस्वरूप और पूर्ण है, वह आत्मा है) ऐसा उपक्रम करके फिर आत्माका विस्तारसे प्रतिपादन किया है । क्या वह वाक्य

रत्नप्रभा

सुषुप्त्युत्क्रान्त्योर्भेदेन । अहंधीगम्येषु कतम आत्मा इति जनकप्रश्ने याज्ञवल्क्य आह—योऽयमिति । विज्ञानम्—बुद्धिः, तन्मयः—तत्प्रायः, सप्तमी व्यतिरेकार्था, प्राणबुद्धिभ्यां भिन्न इत्यर्थः । वृत्तेः अज्ञानाच्च भेदमाह—अन्त-

रत्नप्रभाका अनुवाद

"सुषुप्त्युत्क्रान्त्योर्भेदेन" । जनकने याज्ञवल्क्यसे प्रश्न किया कि 'अहम्' (मैं) इस बुद्धिके विषयोंमेंसे आत्मा कौन है ? इसपर याज्ञवल्क्य कहते हैं—"योऽयम्" इत्यादि । यह विज्ञानमय—बुद्धिप्राय है । सप्तमी भेदार्थक है अर्थात् प्राण और बुद्धिसे अतिरिक्त । वृत्तिसे

भाष्य

ख्यानपरं वाक्यम्, उताऽसंसारिस्वरूपप्रतिपादनपरमिति विशयः। किं तावत् प्राप्तम्? संसारिस्वरूपमात्रविषयमेवेति। कुतः? उपक्रमोपसंहाराभ्याम्। उपक्रमे 'योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु' इति शारीरलिङ्गात्, उपसंहारे च 'स वा एष महानज आत्मा योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु' (बृ० ४।४।२२) इति तदपरित्यागात्, मध्येऽपि बुद्धान्ताद्यवस्थोपन्यासेन तस्यैव प्रपञ्चनादिति।

भाष्यका अनुवाद

केवल संसारीके स्वरूपका प्रतिपादन करता है या असंसारी ईश्वरके स्वरूपका प्रतिपादन करता है, ऐसा संशय होता है। तब क्या प्राप्त होता है?

पूर्वपक्षी—केवल संसारीके स्वरूपका प्रतिपादन करता है, क्योंकि उपक्रम और उपसंहारसे यही प्रतीत होता है। उपक्रममें 'योऽयं विज्ञान०' (यह जो विज्ञानमय प्राणसे भिन्न) ऐसा जीवका लिंग कहा गया है और 'स वा एष०' (वह महान् जन्मरहित आत्मा है, जो कि विज्ञानमय है तथा प्राणसे भिन्न है) इस उपसंहारमें भी उसका परित्याग नहीं किया है और मध्यमें भी जाग्रदवस्था आदिके उपन्याससे उसीका विस्तारपूर्वक कथन है।

रत्नप्रभा

ज्योतिरिति। पुरुषः पूर्ण इत्यर्थः। उभयलिङ्गानां दर्शनात् संशयमाह—तत्किमिति। पूर्वत्र नामरूपाभ्यां भेदोक्तेः आकाशो ब्रह्म इत्युक्तम्, तद् अयुक्तम्, "प्राज्ञेनात्मना" (बृ० ४।३।२१) इति भिन्नेऽपि जीवात्मनि भेदोक्तिवत् औपचारिकभेदोक्तिसम्भवादिति आक्षेपसंगतिः। पूर्वपक्षे कर्मकर्तृजीवस्तुतिः, सिद्धान्ते जीवानुवादेन ततः कल्पितभेदभिन्नस्य प्राज्ञस्य परमात्मनः स्वरूपैक्यप्रमितिरिति फलम्। बुद्धान्तः—जाग्रदवस्था। आदिमध्यावसानेषु जीवोक्तेः जीवस्तावकम् इदं

रत्नप्रभाका अनुवाद

और अज्ञानसे भी भेद कहते हैं—"अन्तर्ज्योतिः" से। पुरुष—पूर्ण। दोनोंके लिंग दिखाई देते हैं, अतः संशय कहते हैं—"तत्किम्" इत्यादिसे। पूर्वाधिकरणमें नाम और रूपसे भिन्न होनेके कारण आकाश ब्रह्म कहा गया है, वह युक्त नहीं है, क्योंकि 'प्राज्ञेनात्मना' इत्यादिसे जीवका ब्रह्मसे अभेद सिद्ध रहनेपर भी जैसे भेद कहा जाता है, उसी प्रकार औपचारिक भेदका कथन हो सकता है, ऐसी आक्षेप संगति है। पूर्वपक्षमें कर्मोंके कर्ता जीवकी स्तुति फल है, सिद्धान्तमें जीवके अनुवादसे उससे कल्पित भेदसे भिन्न प्राज्ञ परमात्माके स्वरूपके साथ जीवका अभेदज्ञान फल है। बुद्धान्त—जाग्रदवस्था। पहले, मध्य और अन्तमें जीव

अच्युतके उद्देश्य और नियम

उद्देश्य—

सनातन-धर्मकी उन्नति करनेवाले उत्तमोत्तम प्राचीन संस्कृत-ग्रन्थोंका भाषानुवाद प्रकाशित कर जनतामें ज्ञान और भक्तिका प्रचार करना इसका उद्देश्य है।

प्रबन्ध-सम्बन्धी नियम—

(१) 'अच्युत' प्रतिमास पूर्णिमाको प्रकाशित होता है।

(२) इसका वार्षिक मूल्य भारत के लिये ६) रु० और विदेशके लिये ८) रु० है। एक संख्याका मूल्य ॥) है।

(३) ग्राहकोंको मनीआर्डरद्वारा रुपये भेजनेमें सुविधा होगी। वी० पी० द्वारा मंगानेसे रजिस्टरीका व्यय उनके जिम्मे अधिक पड़ जायगा।

(४) मनीआर्डरसे रुपये भेजनेवाले ग्राहक महाशयोंको कूपनपर रुपयोंकी तादाद, रुपये भेजनेका मतलब, अपना पूरा पता, नये ग्राहकोंको 'नये ग्राहक' और पुराने ग्राहकोंको अपना ग्राहक-नम्बर स्पष्ट अक्षरोंमें लिख देना चाहिये।

(५) उत्तरके लिये जवाबी पोस्टकार्ड या टिकट भेजना चाहिये।

(६) जिन महाशयोंको अपना पता बदलवाना हो, उन्हें कार्यालयको पता बदलवानेके विषयमें पत्र लिखते समय अपना पुराना पता तथा ग्राहक-नम्बर लिखना नहीं भूलना चाहिये।

व्यवस्थापक

अच्युत-ग्रन्थमाला-कार्यालय,

ललिताघाट, बनारस।

Regd. No. A. 2426

विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परासुव ।
यद्भद्रं तन्न आसुव ॥

Cover printed at the Indian Press, Ltd.,
Benares.

अच्युत

वर्ष १ } संरक्षक—गौरीशङ्करगोयनका-समर्पित निधि, काशी { अङ्क ९

आश्विन पूर्णिमा

१९९१

अच्युत

वार्षिक मूल्य—६)

एक प्रति का—॥)

सम्पादक—

पं० चण्डीप्रसाद शुक्ल, प्रिंसिपल जो० म० गोयनका संस्कृत महाविद्यालय,

स० सम्पादक तथा प्रकाशक—

पं० श्रीकृष्ण पन्त साहित्याचार्य, अच्युत-ग्रन्थमाला-कार्यालय,
ललिताघाट काशी।

मुद्रक—द० ल० निघोजकर, श्रीलक्ष्मीनारायण प्रेस, काशी।

अच्युत

ॐ सह नाववतु । सह नौ भुनक्तु । सह वीर्यं करवावहै ।
तेजस्वि नावधीतमस्तु मा विद्विषावहै ॥

अच्युत

तन्वन् श्रीश्रुतिसिद्धसन्मतमहाग्रन्थप्रकाशप्रथाम्,
ब्रह्माद्वैतसमिद्धशङ्करगिरां माधुर्य्यमुद्भावयन् ।
अज्ञानान्धतमिस्ररुद्धनयनान् दिव्यां दृशं लम्भयन्,
भक्तिज्ञानपथे स्थितो विजयतामाकल्पमेषोऽच्युतः ॥

वर्ष १ } काशी, आश्विन पूर्णिमा १९९१ { अङ्क ९

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा
भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः ।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवांसस्तनूभि-
र्व्यशेम देवहितं यदायुः ॥

काशीपञ्चकम्—

मनोनिवृत्तिः परमोपशान्तिः सा तीर्थवर्या मणिकर्णिका च ।
ज्ञानप्रवाहा विमलादिगङ्गा सा काशिकाऽहं निजबोधरूपा ॥ १ ॥

यस्यामिदं कल्पितमिन्द्रजालं चराचरं भाति मनोविलासम् ।
सच्चित्सुखैका परमात्मरूपा सा काशिकाऽहं निजबोधरूपा ॥ २ ॥

कोशेषु पञ्चस्वधिराजमाना बुद्धिर्भवानी प्रतिदेहगेहम् ।
साक्षी शिवः सर्वगतोऽन्तरात्मा सा काशिकाऽहं निजबोधरूपा ॥ ३ ॥

काश्यां हि काश्यते काशी काशी सर्वप्रकाशिका ।
सा काशी विदिता येन तेन प्राप्ता हि काशिका ॥ ४ ॥

काशीक्षेत्रं शरीरं त्रिभुवनजननी व्यापिनी ज्ञानगङ्गा,
भक्तिः श्रद्धा गयेयं निजगुरुचरणध्यानयोगः प्रयागः ।
विश्वेशोऽयं तुरीयः सकलजनमनःसाक्षिभूतोऽन्तरात्मा,
देहे सर्वं मदीये यदि वसति पुनस्तीर्थमन्यत् किमस्ति ॥ ५ ॥

—श्रीशंकराचार्यः
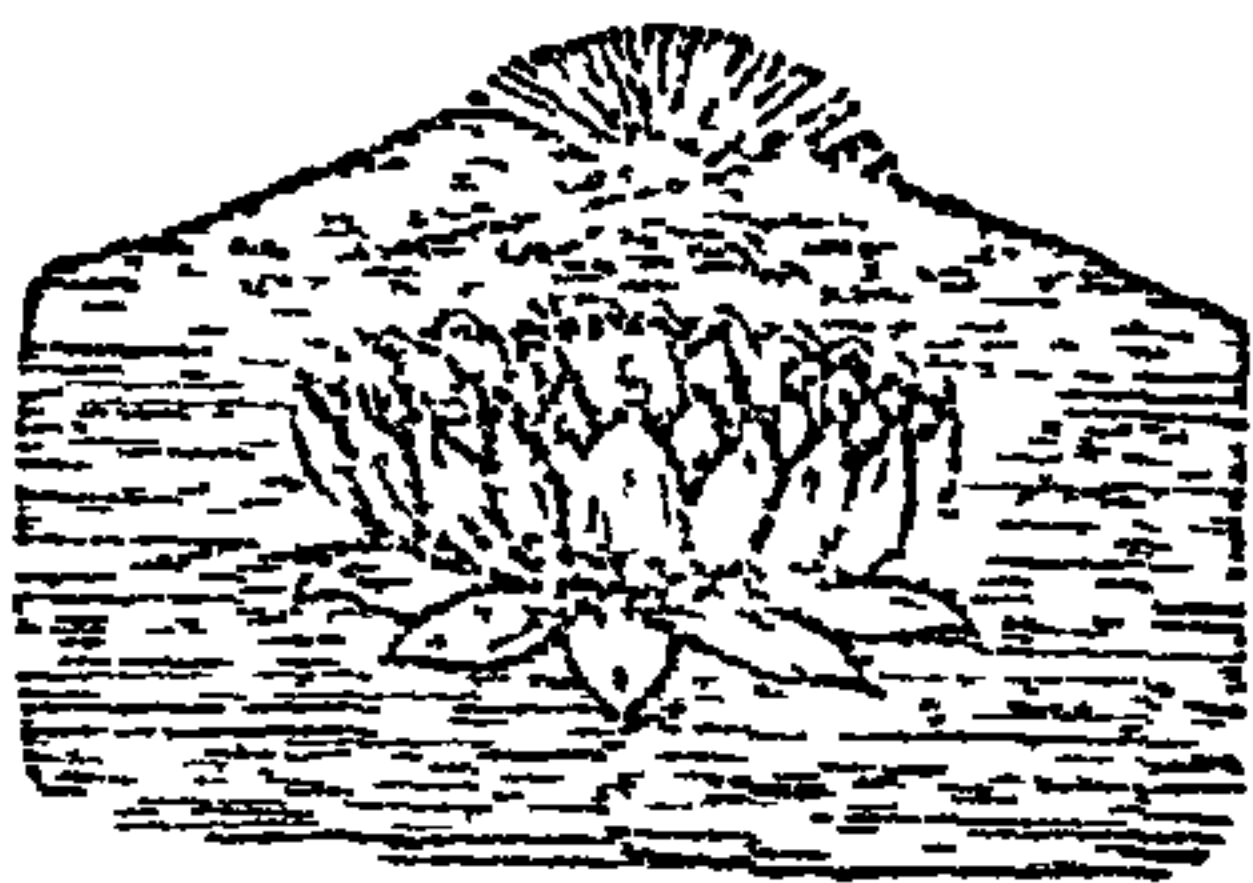
भाष्य

एवं प्राप्ते ब्रूमः—परमेश्वरोपदेशपरमेवेदं वाक्यम्, न शारीरमात्रान्वाख्यानपरम्। कस्मात्? सुषुप्तावुत्क्रान्तौ च शारीराद्भेदेन परमेश्वरस्य व्यपदेशात्। सुषुप्तौ तावत् 'अयं पुरुषः प्राज्ञेनात्मना संपरिष्वक्तो न बाह्यं किंचन वेद नान्तरम्' (बृ० ४।३।२१) इति शारीराद् भेदेन परमेश्वरं व्यपदिशति। तत्र पुरुषः शारीरः स्यात् तस्य वेदितृत्वात् बाह्याभ्यन्तरवेदनप्रसङ्गे सति तत्प्रतिषेधसंभवात्। प्राज्ञः परमेश्वरः, सर्वज्ञत्वलक्षणया प्रज्ञया नित्यमवियोगात्। तथोत्क्रान्तावपि 'अयं शारीर आत्मा प्राज्ञेना-

भाष्यका अनुवाद

सिद्धान्ती—ऐसा प्राप्त होनेपर हम कहते हैं। यह वाक्य परमेश्वरका ही प्रतिपादन करता है, केवल जीवका प्रतिपादन नहीं करता है, क्योंकि सुषुप्तिमें और उत्क्रान्तिमें जीवसे भिन्न परमेश्वर कहा गया है। सुषुप्तिमें 'अयं पुरुषः०' (यह पुरुष प्राज्ञ आत्मासे संश्लिष्ट—एकीभूत होकर बाहर और भीतरके किसी भी पदार्थको नहीं जानता) इस प्रकार श्रुति जीवसे परमेश्वरका भेद दिखलाती है। उसमें पुरुषशब्द जीववाचक है, क्योंकि वह वेत्ता—जाननेवाला है, अतः बाहर और भीतरके पदार्थोंके जाननेका संभव होनेसे उसका प्रतिषेध हो सकता है। प्राज्ञशब्द परमेश्वरवाचक है, क्योंकि सर्वज्ञत्वलक्षण प्रज्ञासे उसका नित्य सम्बन्ध है। उसी प्रकार उत्क्रान्तिमें भी 'अयं शारीर आत्मा०'

रत्नप्रभा

वाक्यम्। इति प्राप्ते सिद्धान्तयति—**परमेश्वर इत्यादिना**। वाक्यस्य जीवस्तावकत्वे जीवाद् भेदेन प्राज्ञस्य अज्ञातस्य उक्तिः असङ्गता स्यात्, अतो ज्ञाताज्ञातसन्निपाते ज्ञातानुवादेन अज्ञातं प्रतिपादनीयम्, अपूर्वे वाक्यतात्पर्यमिति न्यायादिति सिद्धान्ततात्पर्यम्। पुरुषः—शरीरम्, प्राज्ञः–जीव इति भ्रान्तिं वारयति—**तत्र पुरुष इत्यादिना**। देहस्य वेदनाऽप्रसक्तेर्निषेधायोगात् पुरुषो जीव एव,

रत्नप्रभाका अनुवाद

कहा गया है, इसलिए यह वाक्य जीवकी स्तुति करनेवाला है, ऐसा पूर्वपक्ष प्राप्त होनेपर सिद्धान्त करते हैं—"परमेश्वर" इत्यादिसे। सिद्धान्तका आशय यह है कि वाक्य यदि जीवका स्तावक हो, तो अज्ञात प्राज्ञका जीवसे भिन्नरूपसे कथन असंगत हो जायगा, इसलिए ज्ञात और अज्ञातका योग होनेपर ज्ञातके अनुवादसे अज्ञातका प्रतिपादन करना चाहिए, क्योंकि अज्ञातमें ही वाक्यका तात्पर्य होता है, ऐसा न्याय है। शरीर पुरुष है, जीव प्राज्ञ है, इस भ्रमका निवारण करते हैं—"तत्र पुरुषः" इत्यादिसे। देहमें ज्ञानकी प्राप्ति नहीं है,

भाष्य

त्मनान्वारूढ उत्सर्जन् याति' (बृ० ४।३।३५) इति जीवाद् भेदेन परमेश्वरं व्यपदिशति। तत्रापि शारीरो जीवः स्यात्, शरीरस्वामित्वात्। प्राज्ञस्तु स एव परमेश्वरः। तस्मात् सुषुप्त्युत्क्रान्त्योर्भेदेन व्यपदेशात् परमेश्वर एवाऽत्र विवक्षित इति गम्यते। यदुक्तम्—आद्यन्तमध्येषु शारीरलिङ्गात् तत्परत्वमस्य वाक्यस्य इति। अत्र ब्रूमः—उपक्रमे तावद् 'योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु' इति न संसारिस्वरूपं विवक्षितम्। किं तर्हि ? अनूद्य संसारिस्वरूपं परेण ब्रह्मणाऽस्यैकतां विवक्षति, यतो 'ध्यायतीव लेलायतीव' इत्येवमाद्युत्तरग्रन्थप्रवृत्तिः संसारिधर्मनिराकरणपरा लक्ष्यते। तथोपसंहारेऽपि यथोपक्रममेवोपसंहरति—'स वा एष महानज आत्मा

भाष्यका अनुवाद

(यह जीवात्मा प्राज्ञ आत्मासे अधिष्ठित होकर घोरशब्द करता हुआ जाता है) इस प्रकार श्रुति परमेश्वरको जीवसे भिन्न कहती है। इसमें शारीर जीववाचक है, क्योंकि शरीरका स्वामी है। प्राज्ञ तो वही परमेश्वर है। इसलिए सुषुप्ति और उत्क्रान्तिमें (परमेश्वरका जीवसे) भेद कहा गया है, इससे परमेश्वर ही यहां विवक्षित है, ऐसा समझा जाता है। आदि, अन्त और मध्यमें शारीरके लिंगसे यह वाक्य शारीरपरक है, ऐसा जो पीछे कहा गया है, उसपर कहते हैं—उपक्रममें 'योऽयं विज्ञान०' इससे संसारीके स्वरूप-की विवक्षा नहीं है। तब किसकी विवक्षा है ? संसारीके स्वरूपका अनुवाद करके परब्रह्मके साथ उसकी एकताकी विवक्षा है, क्योंकि 'ध्यायतीव०' (वह ध्यान करता-सा है, चलता-सा है) इत्यादि उत्तरग्रन्थकी प्रवृत्ति संसारी धर्मोंका निराकरण करनेमें देखी जाती है, उसी प्रकार उपसंहारमें भी उपक्रमके अनुसार

रत्नप्रभा

प्राज्ञस्तु रूढ्या पर एवेत्यर्थः। अन्वारूढः—अधिष्ठितः, उत्सर्जन्—घोरान् शब्दान् मुञ्चन्, बुद्धौ ध्यायन्त्याम् आत्मा ध्यायतीव चलन्त्यां चलतीव। वस्तुतः सर्वविक्रियाशून्य इत्युक्तेः न संसारिणि तात्पर्यमित्याह—यत इति। उपक्रमवत्

रत्नप्रभाका अनुवाद

इसलिए उसका निषेध भी नहीं हो सकता है, अतः पुरुष जीव ही है। 'अन्वारूढ'—अधिष्ठित। 'उत्सर्जन्'—घोर शब्दोंको करता हुआ। बुद्धिके ध्यान करनेपर पुरुष ध्यानकर्ता-सा प्रतीत होता है और बुद्धिके चलनेपर चलता-सा ज्ञात होता है। वस्तुतः वह सब विक्रियाओंसे शून्य कहा गया है, इसलिए संसारीमें तात्पर्य नहीं है, ऐसा कहते हैं—"यतः" इत्यादिसे। उपक्रमवाक्यके

भाष्य

योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु' इति। योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु संसारी लक्ष्यते स वा एष महानज आत्मा परमेश्वर एवाऽस्माभिः प्रतिपादित इत्यर्थः। यस्तु मध्ये बुद्धान्ताद्यवस्थोपन्यासात् संसारिस्वरूपविवक्षां मन्यते, स प्राचीमपि दिशं प्रस्थापितः प्रतीचीमपि दिशं प्रतिष्ठेत, यतो न बुद्धान्ताद्यवस्थोपन्यासेनाऽवस्थावत्त्वं संसारित्वं वा विवक्षितम्, किं तर्ह्यवस्थारहितत्वमसंसारित्वं च विवक्षति। कथमेतदवगम्यते। यत् 'अत ऊर्ध्वं विमोक्षायैव ब्रूहि' इति पदे पदे पृच्छति, यच्च 'अनन्वागतस्तेन भवत्यसङ्गो ह्ययं पुरुषः' (बृ० ४।३।१४, १५) इति पदे पदे प्रतिवक्ति। 'अनन्वागतं

भाष्यका अनुवाद

ही 'स वा एष महानज०' यह श्रुति उपसंहार करती है। जो यह विज्ञानमय प्राणोंसे भिन्न संसारी प्रतीत होता है, उसी महान् जन्मरहित आत्मा परमेश्वरका हमने प्रतिपादन किया है, ऐसा अर्थ है। जो मध्यमें जाग्रदवस्था आदिके उपन्याससे संसारीके स्वरूपकी विवक्षाको मानता है, वह पूर्वदिशामें भेजा हुआ पश्चिम दिशामें प्रस्थान करता है, क्योंकि जाग्रदवस्था आदिके उपन्याससे आत्मा अवस्थावान् है या संसारी है, ऐसा प्रतिपादन करनेकी इच्छा नहीं है। तब किसकी विवक्षा है? आत्मा अवस्थारहित और असंसारी है, ऐसा प्रतिपादन करनेकी इच्छा है। यह किससे जाना जाता है? इससे कि 'अत ऊर्ध्वं०' (इसके बाद मोक्षके लिए कहिए) इस प्रकार पद-पदपर प्रश्न करते हैं और 'अनन्वागतस्तेन०' (यह आत्मा संगरहित होनेसे अवस्थाधर्मसे अस्पृष्ट है) ऐसा पद-पद पर प्रतिवचन कहते हैं। और

रत्नप्रभा

उपसंहारवाक्येऽपि ऐक्यं विवक्षितमित्याह—तथेति। व्याचष्टे—योऽयमिति। अवस्थोपन्यासस्य त्वमर्थशुद्धिद्वारा ऐक्यपरत्वात् न जीवलिङ्गत्वमित्याह—यतो न बुद्धान्तेति। प्रश्नोत्तराभ्याम् असंसारित्वं गम्यते इत्याह—यदत ऊर्ध्वमिति। कामादिविवेकानन्तरमित्यर्थः। भवतीति चेति। यद् यस्माद् वक्ति, तस्माद्

रत्नप्रभाका अनुवाद

समान उपसंहार वाक्यमें भी अभेद विवक्षित है, ऐसा कहते हैं—"तथा" इत्यादिसे। उसीका व्याख्यान करते हैं—"योऽयम्" इत्यादिसे। अवस्थाओंका उपन्यास त्वंपदार्थकी शुद्धि द्वारा अभेदका प्रतिपादक है, इससे वह जीवका लिंग नहीं है, ऐसा कहते हैं—"यतो न बुद्धान्त" इत्यादिसे। प्रश्न और उत्तरसे असंसारी परमेश्वरका ज्ञान होता है, ऐसा कहते हैं—"यदत

भाष्य

पुण्येनानन्वागतं पापेन तीर्णो हि तदा सर्वान् शोकान् हृदयस्य भवति' (बृ० ४।३।२२) इति च । तस्मादसंसारिस्वरूपप्रतिपादनपरमेवैतद्वाक्यमित्यवगन्तव्यम् ॥ ४२ ॥

भाष्यका अनुवाद

'अनन्वागतं०' (आत्मतत्त्व पुण्य और पापसे अस्पृष्ट है, क्योंकि सुषुप्तिमें जीव हृदयसंबन्धी सब शोकोंसे अतिक्रान्त होता है) ऐसी श्रुति भी है। इससे निश्चय करना चाहिए कि यह वाक्य असंसारीके स्वरूपका प्रतिपादन करनेके लिए ही है* ॥४२॥

रत्नप्रभा

अवगम्यते इति योजना। तेन—अवस्थाधर्मेण, अनन्वागतः—अस्पृष्टः भवति, असङ्गत्वात् सुषुप्तौ अपि आत्मतत्त्वं पुण्यपापाभ्याम् अस्पृष्टं भवति। हि यस्माद् आत्मा सुषुप्तौ सर्वशोकातीतः, तस्मात् हृदयस्यैव सर्वशोका इति श्रुत्यर्थः ॥४२॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

ऊर्ध्वम्" इत्यादिसे। अर्थात् काम आदिके ज्ञानके अनन्तर। "भवतीति च" इत्यादि। 'यत् वक्ति तस्मात् अवगम्यते' (चूंकि ऐसा कहता है, अतः ज्ञात होता है) ऐसी योजना करनी चाहिए। अवस्थाओंके धर्मसे अस्पृष्ट होता है अर्थात् असंग होनेके कारण आत्मा सुषुप्ति अवस्थामें भी पुण्य और पापोंसे अस्पृष्ट संबन्धरहित होता है। चूंकि आत्मा सुषुप्तिमें सब शोकोंसे अतीत रहता है, इससे प्रतीत होता है कि सब शोक हृदयके ही हैं, ऐसा श्रुतिका अर्थ है ॥४२॥

---

*सिद्धान्तका रहस्य इस प्रकार है—'योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु' इत्यादि वाक्यको जो पूर्वपक्षी संसारीपरक मानता है, उससे पूछना चाहिए कि क्या संसारीसे अन्य परमात्मा नहीं है अथवा यहां संसारीसे अतिरिक्त परमात्माका संकीर्तन नहीं है? प्रथम पक्ष युक्त नहीं है, क्योंकि परमात्माके प्रतिपादक सैकड़ों श्रुतिवाक्य हैं। दूसरा पक्ष भी युक्त नहीं है, क्योंकि सुषुप्ति और उत्क्रान्तिमें संसारीसे व्यतिरिक्त परमात्माका संकीर्तन है। प्राज्ञ परमात्माका जीवसे भिन्नरूपसे संकीर्तन हो सकता हो, तो 'राहुका सिर' इसके समान उसे औपचारिक मानना युक्त नहीं है। और प्राज्ञशब्द प्रज्ञाप्रकर्षशालीमें रूढ़ है। प्रज्ञाका प्रकर्ष सर्ववेत्तासे अन्यत्र संभव नहीं है। जीवात्मा सर्वज्ञ नहीं है। इसलिए सुषुप्ति और उत्क्रान्तिमें जीवसे भिन्नरूपसे परमात्माका व्यपदेश है, अतः 'योऽयं विज्ञानमयः' इत्यादि श्रुति लोकसिद्ध आत्माका अनुवाद करके उसमें अज्ञात परमात्मभावका प्रतिपादन करती है।

पत्यादिशब्देभ्यः ॥ ४३ ॥

पदार्थोक्ति—पत्यादिशब्देभ्यः—'योऽयं विज्ञानमय' इत्युक्तवाक्यगतेभ्यः 'सर्वस्य वशी सर्वस्येशानः सर्वस्याधिपतिः' इति पत्यादिशब्देभ्योऽसंसारित्वप्रतिपादकेभ्यः 'स न साधुना कर्मणा भूयान्' इत्यादिशब्देभ्यः संसारित्वनिषेधकेभ्यश्च [गम्यते यदुक्तवाक्यम् असंसारिब्रह्मप्रतिपादकमेवेति] ।

भावार्थ—'योऽयं विज्ञान०' इस पूर्व वाक्यमें पठित 'सर्वस्य वशी०' (सबको वशमें रखनेवाला, सबका नियन्ता, सबका अधिपति) इन पति आदि असंसारिताके प्रतिपादक शब्दोंसे और 'स न साधुना०' (पुरुष अच्छे कर्मोंसे बड़ा नहीं होता) इत्यादि संसारिताका निषेध करनेवाले शब्दोंसे ज्ञात होता है कि उक्त वाक्य असंसारी परमात्माका ही प्रतिपादक है।

भाष्य

इतश्चाऽसंसारिस्वरूपप्रतिपादनपरमेवैतद् वाक्यमित्यवगन्तव्यम् । यदस्मिन् वाक्ये पत्यादयः शब्दा असंसारिस्वरूपप्रतिपादनपराः संसारिस्वभावप्रतिषेधनाश्च भवन्ति । 'सर्वस्य वशी सर्वस्येशानः सर्वस्याधिपतिः' इत्येवंजातीयका असंसारिस्वभावप्रतिपादनपराः । 'स न साधुना कर्मणा

भाष्यका अनुवाद

और इससे भी यही निश्चय करना चाहिए कि यह वाक्य असंसारीके स्वरूपका प्रतिपादन करनेके लिए ही है, क्योंकि इस वाक्यमें पति आदि शब्द असंसारीके स्वरूपका प्रतिपादन करते हैं और संसारीके धर्मोंका प्रतिषेध करते हैं। 'सर्वस्य वशी०' (सबको अपने वशमें रखनेवाला अर्थात् स्वतंत्र, सबका नियमन करनेवाला, सबका अधिपति) इस प्रकारके शब्द असंसारीके स्वभावका प्रतिपादन करते हैं। 'स न साधुना कर्मणा०' (वह अच्छे कर्मोंसे बड़ा नहीं

रत्नप्रभा

वाक्यस्य ब्रह्मात्मैक्यपरत्वे हेत्वन्तरमाह—पत्यादीति । सूत्रं व्याचष्टे—इतश्चेति । वशी—स्वतन्त्रः अपराधीन इति यावत् । ईशानः—नियमनशक्तिमान् ।

रत्नप्रभाका अनुवाद

उक्त वाक्य ब्रह्म और जीवके अभेदका प्रतिपादक है, इस विषयमें दूसरा हेतु कहते हैं—"पत्यादि" इत्यादिसे। "इतश्च" इत्यादिसे सूत्रका व्याख्यान करते हैं। 'वशी' स्वतंत्र, जो दूसरेके अधीन न हो। 'ईशानः' नियममें रखनेकी शक्तिवाला, आधिपत्य शक्तिका कार्य है, इस

भाष्य

भूयान्नो एवासाधुना कनीयान्' इत्येवंजातीयकाः संसारिस्वभावप्रतिषेधनाः। तस्मादसंसारी परमेश्वर इहोक्त इत्यवगम्यते ॥ ४३ ॥

इति श्रीमच्छङ्करभगवत्पादकृतौ शारीरकमीमांसाभाष्ये
प्रथमाध्यायस्य तृतीयः पादः ॥ ३ ॥

भाष्यका अनुवाद

होता और न पाप कर्मोंसे छोटा ही होता है) इस प्रकारके शब्द संसारीस्वभावका निषेध करते हैं। इससे निश्चय होता है कि असंसारी परमेश्वर ही यहां कहा गया है ॥ ४३ ॥

यतिवर श्रीभोलेबाबा कृत प्रथम अध्यायके तृतीय पादके
भाष्यका अनुवाद समाप्त।

रत्नप्रभा

शक्तेः कार्यम् आधिपत्यम् इति भेदः। तस्मात् शोधितत्वमर्थैक्ये षष्ठाध्यायसमन्वय इति सिद्धम् ॥४३॥ (१३) ॥१॥३॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमद्गोपालसरस्वतीपूज्यपादशिष्य-
श्रीरामानन्दभगवत्पादकृतौ श्रीमच्छारीरकमीमांसादर्शन-
भाष्यव्याख्यायां भाष्यरत्नप्रभायां प्रथमाध्यायस्य
तृतीयः पादः समाप्तः ॥ १ ॥ ३ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

प्रकार ईशत्व और आधिपत्यमें भेद समझना चाहिए। इससे सिद्ध हुआ कि शोधित त्वंपदार्थके अभेदमें षष्ठाध्यायका समन्वय है ॥ ४३ ॥

* यतिवर श्रीभोलेबाबा कृत प्रथमाध्यायके तृतीय पादका रत्नप्रभानुवाद समाप्त *

ॐ ब्रह्मणे नमः ।

प्रथमाध्याये चतुर्थः पादः ।

[अत्र प्रधानविषयत्वेन संदिह्यमानानामव्यक्ताजादिपदानां चिन्तनम् ।]

[१ आनुमानिकाधिकरण सू० १—७]

महतः परमव्यक्तं प्रधानमथवा वपुः ।
प्रधानं सांख्यशास्त्रोक्ततत्त्वानां प्रत्यभिज्ञया ॥१॥
श्रुतार्थप्रत्यभिज्ञानात् परिशेषाच्च तद्वपुः ।
सूक्ष्मत्वात्कारणावस्थमव्यक्ताख्यां तदर्हति* ॥२॥

[अधिकरणसार]

सन्देह—'महतः परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरुषः परः' इस श्रुतिमें पठित अव्यक्त-शब्द प्रधानका वाचक है या शरीरका ?

पूर्वपक्ष—सांख्यशास्त्रमें कहे गये महद्, अव्यक्त और पुरुषकी क्रमशः प्रत्याभिज्ञा होनेसे प्रतीत होता है कि अव्यक्तपद प्रधानका प्रतिपादक है ।

सिद्धान्त—पूर्व वाक्यमें उक्त शरीरकी ही प्रत्याभिज्ञा होनेसे और परिशेषसे भी शरीर ही अव्यक्तशब्दवाच्य है । कारण अवस्थामें विद्यमान वह शरीर सूक्ष्म होनेके कारण अव्यक्तसंज्ञक है ।

---

* तात्पर्य यह है कि कठोपनिषत्की तीसरी वल्लीमें श्रुति है—"महतः परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरुषः परः" अर्थात् महत्से अव्यक्त श्रेष्ठ है और अव्यक्तसे पुरुष श्रेष्ठ है । यहां पर सन्देह होता है कि अव्यक्तशब्द प्रधानका वाचक है या शरीरका ?

पूर्वपक्षी कहता है कि अव्यक्तशब्दसे सांख्याभिमत प्रधानका ही निर्देश है, क्योंकि जैसे महत्, अव्यक्त और पुरुष सांख्यशास्त्रमें पूर्व-पर भावसे प्रसिद्ध हैं, वैसे ही श्रुतिमें उनकी प्रत्यभिज्ञा होती है । इसलिए अव्यक्तशब्द प्रधानका ही प्रतिपादन करता है ?

सिद्धान्ती कहते हैं कि अव्यक्तशब्द शरीरका ही प्रतिपादक है, क्योंकि पूर्व श्रुतिवाक्यमें उक्त शरीरकी ही यहां प्रत्यभिज्ञा होती है । पूर्व वाक्यमें शरीर आदि रथ आदिके रूपसे कहे गये हैं—

"आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु । बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च ॥
इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयांस्तेषु गोचरान् ।"

अर्थात् आत्माको रथी, शरीरको रथ, बुद्धिको सारथि और मनको लगाम जानो एवं इन्द्रियोंको अश्व और विषयोंको उनका मार्ग कहते हैं । इन पूर्वोक्त वस्तुओंकी ही उत्तर वाक्यमें प्रत्यभिज्ञा होती है—

"इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः । मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान् परः ॥
महतः परमव्यक्तमव्यक्तात् पुरुषः परः ।"

अर्थात् इन्द्रियोंसे विषय श्रेष्ठ हैं, विषयोंसे मन श्रेष्ठ है, मनसे बुद्धि श्रेष्ठ है, बुद्धिसे महान्-आत्मा श्रेष्ठ है, महान् आत्मासे अव्यक्त श्रेष्ठ है और अव्यक्तसे पुरुष श्रेष्ठ है ।

सन्निहित होनेसे सांख्यशास्त्रकी प्रत्यभिज्ञाकी अपेक्षा यह श्रुतिकी प्रत्यभिज्ञा प्रबल है । यदि कहो कि श्रुतिप्रत्यभिज्ञा ही बलवत्तर हो, तो भी श्रुतिसे केवल एक शरीरकी ही प्रत्यभिज्ञा नहीं होती

भाष्य

ब्रह्मजिज्ञासां प्रतिज्ञाय ब्रह्मणो लक्षणमुक्तम्—'जन्माद्यस्य यतः' (ब्र० १।१।२) इति। तल्लक्षणं प्रधानस्यापि समानमित्याशङ्क्य तदशब्दत्वेन निराकृतम्–'ईक्षतेर्नाशब्दम्' (ब्र० १।१।५) इति। गतिसामान्यं च वेदान्तवाक्यानां ब्रह्मकारणवादं प्रति विद्यते न प्रधानकारणवादं प्रतीति

भाष्यका अनुवाद

ब्रह्मजिज्ञासाकी प्रतिज्ञा कर 'जन्माद्यस्य यतः' से ब्रह्मका लक्षण कहा गया है। वह लक्षण प्रधानमें भी सङ्गत है, ऐसी आशङ्का करके श्रुतिप्रतिपादित न होनेसे 'ईक्षतेर्नाशब्दम्' इससे उसका निराकरण किया गया है। सभी वेदान्तवाक्य ब्रह्मको जगत्‌का कारण कहते हैं, न कि प्रधानको; ऐसा पीछे

रत्नभा

अव्यक्तेशमजं पञ्चजनाधारं च कारणम्।
वेदितव्यं प्रियं वन्दे प्रकृतिं पुरुषं परम्॥ १॥

अस्मिन् पादे अधिकरणत्रयस्य ईक्षत्यधिकरणेन सङ्गतिं वक्तुं वृत्तम् अनुवदति—ब्रह्मेति। तदशब्दत्वेन—प्रधानस्य वैदिकशब्दशून्यत्वेन इत्यर्थः।

रत्नप्रभाका अनुवाद

शरीरके अधिपति, जन्मरहित, प्राण, चक्षु, श्रोत्र, अन्न और मनके आधार, जगत्‌के कारण, ज्ञातव्य, सबके परम प्रिय, जगत्‌के अभिन्ननिमित्तोपादानभूत परम पुरुषको मैं प्रणाम करता हूँ।

इस पादमें तीन अधिकरणोंकी ईक्षति अधिकरणके साथ संगति कहनेके लिए पूर्वोक्तका अनुवाद करते हैं—"ब्रह्म" इत्यादिसे। 'तदशब्दत्वेन'—प्रधानके वैदिकशब्दवाच्य न

किन्तु बहुतोंकी प्रत्यभिज्ञा होती है, ऐसी स्थितिमें यह आपने कैसे निर्णय कर लिया कि अव्यक्तशब्दसे शरीरका ही बोध होता है। इसपर हम कहते हैं कि परिशेषसे हमने यह निश्चय किया है। देखो, पूर्ववाक्यमें इन्द्रिय, अर्थ, मन, बुद्धि आदि शब्दोंसे निर्दिष्ट पदार्थ अग्रिम वाक्यमें उन्हीं शब्दोंसे कहे गये हैं। जिस वस्तुका पूर्व वाक्यमें आत्मशब्दसे निर्देश किया था उसका उत्तर वाक्यमें पुरुषशब्दसे निर्देश किया गया है। उत्तर वाक्यमें महत्‌से जो कहा गया है पूर्व वाक्यमें वही बुद्धिशब्दसे कहा गया है। बुद्धि दो प्रकारकी है—(१) हमलोगोंकी बुद्धि (२) हम लोगोंकी बुद्धिकी जननी हिरण्यगर्भकी बुद्धि जो कि महत् शब्दसे व्यवहृत होती है। उन दोनों बुद्धियोंका पूर्ववाक्यमें एकत्वेन निर्देश है, और अग्रिम वाक्यमें उनका भेदसे कथन है। ऐसा होनेपर पूर्व वाक्यमें केवल एक शरीर बच जाता है और उत्तर वाक्यमें अव्यक्तशब्द बचता है। ऐसा परिशेष होनेपर भी शरीर व्यक्त होने (स्पष्ट दिखाई देने) के कारण अव्यक्तशब्दवाच्य नहीं हो सकता ऐसी शंका नहीं करनी चाहिए, क्योंकि कारणावस्थाको प्राप्त हुआ शरीर सूक्ष्म होनेके कारण स्पष्ट नहीं भासता, इसलिए अव्यक्तशब्दवाच्य हो सकता है। इससे सिद्ध हुआ कि अव्यक्तशब्दवाच्य शरीर ही है।

भाष्य

प्रपञ्चितं गतेन ग्रन्थेन । इदं त्विदानीमवशिष्टमाशङ्क्यते—यदुक्तं प्रधानस्याऽशब्दत्वं तदसिद्धम्, कासुचिच्छाखासु प्रधानसमर्पणाभासानां शब्दानां श्रूयमाणत्वात् । अतः प्रधानस्य कारणत्वं वेदसिद्धमेव महद्भिः परमर्षिभिः कपिलप्रभृतिभिः परिगृहीतमिति प्रसज्यते । तद्यावत् तेषां शब्दानामन्यपरत्वं न प्रतिपाद्यते तावत् सर्वज्ञं ब्रह्म जगतः कारणमिति प्रदिपादितमप्याकुलीभवेत्, अतस्तेषामन्यपरत्वं दर्शयितुं परः सन्दर्भः प्रवर्तते—

भाष्यका अनुवाद

विस्तारपूर्वक कहा गया है । अब अवशिष्ट विषयमें आशङ्का की जाती है—प्रधान अशब्द है, ऐसा जो पीछे कहा गया है, वह ठीक नहीं है, क्योंकि कुछ शाखाओं में प्रधानके वाचक शब्द सुननेमें आते हैं । इससे सूचित होता है कि प्रधानकी जगत्कारणता वेदसिद्ध है, उसीका कपिलादि महान् परमर्षियोंने ग्रहण किया है । इसलिए जबतक उन शब्दोंकी अन्यपरताका निर्णय न किया जाय तबतक सर्वज्ञ ब्रह्म जगत्‌का कारण है, ऐसा जो प्रतिपादन किया है, वह भी सन्देहास्पद हो जायगा, इसलिए वे शब्द अन्यपरक हैं यह दिखलानेके लिए अब अग्रिम ग्रन्थका आरम्भ होता है—

रत्नप्रभा

ईक्षत्यधिकरणे गतिसामान्यम्, अशब्दत्वञ्च प्रतिज्ञातम्, तत्र ब्रह्मणि वेदान्तानां गतिसामान्यं प्रपञ्चितम्, अधुना प्रधानस्य अशब्दत्वम् असिद्धम् इत्याशङ्क्य निरूप्यते इति आक्षेपसंगतिः । तेन अशब्दत्वनिरूपणेन ब्रह्मणि वेदान्तानां समन्वयो दृढीकृतो भवति इति अध्यायसंगतिरपि अधिकरणत्रयस्य ज्ञेया । अत्र अव्यक्तपदं विषयः । तत् किं प्रधानपरं पूर्वोक्तशरीरपरं वेति स्मृतिप्रकरणाभ्यां संशये पूर्वम् अप्रसिद्धब्रह्मपरत्वं यथा षष्ठाध्यायस्य दर्शितम्, तद्वत् अव्यक्तपदम्

रत्नप्रभाका अनुवाद

होनेके कारण । ईक्षत्यधिकरणमें सब वेदान्तवाक्योंका ब्रह्ममें समन्वय है एवं प्रधान श्रुतिप्रतिपादित नहीं है, ऐसी प्रतिज्ञा की गई है और विस्तारपूर्वक सब वेदान्तोंका ब्रह्ममें समन्वय दिखलाया भी गया है । अब प्रधान श्रुतिप्रतिपादित नहीं है यह सिद्ध नहीं हो सकता ऐसी आशङ्का करके उसका निरूपण करते हैं, इस प्रकार ईक्षत्यधिकरणके साथ इस अधिकरणकी आक्षेपसंगति है । प्रधान श्रुतिप्रतिपादित नहीं है, इसके निरूपणसे ब्रह्ममें वेदान्तोंका समन्वय दृढ़ हो जाता है, इससे तीन अधिकरणोंकी अध्यायसंगति भी समझनी चाहिए । इस अधिकरणका विषय 'अव्यक्त' पद है । वह प्रधानपरक है अथवा पूर्ववाक्यमें कथित शरीरपरक है, स्मृति और प्रकरणसे ऐसा संशय होनेपर जैसे पूर्व अधिकरणमें बृहदारण्यकका छठा

आनुमानिकमप्येकेषामिति चेन्न शरीररूपकविन्यस्त-गृहीतेर्दर्शयति च ॥ १ ॥

पदच्छेद—आनुमानिकम्, अपि, एकेषाम्, इति, चेत्, न, शरीररूपक-विन्यस्तगृहीतेः, दर्शयति, च ।

पदार्थोक्ति—एकेषाम्–केषांचित् शाखिनाम् ['महतः परमव्यक्तमव्यक्तात् पुरुषः परः'] इत्यादौ, आनुमानिकमपि–प्रधानमपि [पठ्यते] इति चेत् न, शरीररूपकविन्यस्तगृहीतेः—'शरीरं रथमेव तु' इत्यस्मिन् पूर्ववाक्ये शरीरस्य रथरूपकेण कल्पितस्य ग्रहणात्, दर्शयति च —पूर्वापरसन्दर्भ आलोच्यमान औचित्येन प्रकृतं शरीरमेव अव्यक्तग्राह्यं दर्शयति ।

भाषार्थ—कुछ शाखावाले 'महतः पर०' (महत्से अव्यक्त श्रेष्ठ है, अव्यक्तसे पुरुष श्रेष्ठ है) इत्यादिमें प्रधानको भी पढ़ते हैं [इससे प्रधानमें अशब्दत्व सिद्ध नहीं होता] यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि 'शरीरं०' इस पूर्ववाक्यमें रथ-सादृश्यसे कल्पित शरीरका ही यहां ग्रहण है । पूर्वापर सन्दर्भके पर्यालोचनसे भी यही प्रतीत होता है कि पूर्वप्रकृत शरीरका ही यहां अव्यक्तशब्दसे ग्रहण करना उचित है ।

भाष्य

आनुमानिकमप्यनुमाननिरूपितमपि प्रधानमेकेषां शाखिनां शब्दवदुपलभ्यते । काठके हि पठ्यते—'महतः परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरुषः परः'

भाष्यका अनुवाद

आनुमानिक–अनुमानसे निरूपित प्रधान भी कुछ शाखावालोंकी श्रुतिसे प्रतिपादित प्रतीत होता है । काठकमें 'महतः परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरुष परः (महत्से अव्यक्त श्रेष्ठ है और अव्यक्तसे पुरुष श्रेष्ठ है) ऐसी

रत्नप्रभा

अप्रसिद्धप्रधानपरमिति पूर्वपक्षयति—आनुमानिकमिति । अपिशब्दाद् ब्रह्माङ्गीकारेण अयमशब्दत्वाक्षेप इति सूचयति । तथा च ब्रह्मप्रधानयोः विकल्पेन कारणत्वात्

रत्नप्रभाका अनुवाद

अध्याय अप्रसिद्ध ब्रह्मपरक माना गया है, उसी प्रकार यहां भी अव्यक्तपद अप्रसिद्ध प्रधान-परक है, ऐसा पूर्वपक्ष करते हैं—"आनुमानिकम्" इत्यादिसे । अपिशब्दसे ब्रह्मको श्रुति-प्रतिपादित मान कर ही प्रधान श्रुतिप्रतिपादित नहीं है, इसपर आक्षेप सूचित होता है,

भाष्य

(१।३।११) इति। तत्र य एव यन्नामानो यत्क्रमाश्च महदव्यक्तपुरुषाः स्मृतिप्रसिद्धास्त एवेह प्रत्यभिज्ञायन्ते। तत्राऽव्यक्तमिति स्मृतिप्रसिद्धेः शब्दादिहीनत्वाच्च न व्यक्तमव्यक्तमिति व्युत्पत्तिसम्भवात् स्मृतिप्रसिद्धं प्रधानमभिधीयते। अतः तस्य शब्दवत्त्वादशब्दत्वमनुपपन्नम्। तदेव च जगतः कारणं श्रुतिस्मृतिन्यायप्रसिद्धिभ्य इति चेत्।

भाष्यका अनुवाद

श्रुति है। जिस नाम और क्रमसे महत्, अव्यक्त और पुरुष सांख्यशास्त्रमें प्रसिद्ध हैं, उनका ही यहां—काठकमें प्रत्यभिज्ञान होता है। उनमेंसे अव्यक्त-शब्दसे प्रधानका बोध होता है, क्योंकि सांख्यशास्त्रमें अव्यक्त शब्द प्रधानमें प्रसिद्ध है और शब्द आदि न होनेसे जो व्यक्त न हो वह अव्यक्त है, इस व्युत्पत्तिका उसमें सम्भव है। इसलिए श्रुतिप्रतिपादित होनेसे प्रधानको अशब्द कहना युक्त नहीं है। श्रुति, स्मृति और तर्कसे वह सिद्ध है, अतः वही जगत्का कारण है।

रत्नप्रभा

ब्रह्मण्येव वेदान्तानां समन्वय इति नियमासिद्धिः फलम्, सिद्धान्ते नियमसिद्धिः इति विवेकः। पदविचारत्वाद् अधिकरणानाम् एतत्पादसंगतिः बोध्या। स्मार्तक्रमरूढिभ्याम् अव्यक्तशब्दः प्रधानपरः, शब्दस्पर्शादिशून्यत्वेन योगसम्भवाच्च इत्याह—शब्दादीति। प्रधानस्य वैदिकशब्दवाच्यत्वे का क्षतिः इत्यत आह—तदेवेति। "अजामेकाम्" (श्वे० ४।५) इत्याद्या श्रुतिः, "हेतुः प्रकृतिरुच्यते" इत्याद्या स्मृतिः, 'यद् अल्पं तद् जडप्रकृतिकम्' इति न्यायः, ततो ब्रह्मैव कारणमिति मतक्षतिः इति भावः।

रत्नप्रभाका अनुवाद

इसलिए ब्रह्म एवं प्रधानके विकल्पसे कारण होनेसे ब्रह्ममें ही वेदान्तोंका समन्वय है, इस नियमकी असिद्धि पूर्वपक्षमें फल है, सिद्धान्तमें उक्त नियमकी सिद्धि फल है। इन तीनों अधिकरणोंमें पदका विचार है, अतः पादसंगति है। सांख्यस्मृतिके क्रमसे और रूढ़िसे अव्यक्तपद प्रधानपरक है और शब्द, स्पर्श आदिरहित होनेसे योगका संभव है, इससे भी प्रधानपरक है, ऐसा कहते हैं—"शब्दादि" इत्यादिसे। प्रधान यदि श्रुतिप्रतिपादित हो, तो क्या हानि है? इसपर कहते हैं—"तदेव" इत्यादि। 'अजामेकाम्' इत्यादि श्रुति है, 'हेतुः प्रकृतिरुच्यते' इत्यादि सांख्यस्मृति है, 'यदल्पं तद् जडप्रकृतिकम्' (जो परिच्छिन्न है, वह जड़से उत्पन्न है) इत्यादि न्याय है। इस प्रकार ब्रह्म ही जगत्का कारण है, इस मतकी क्षति होती है ऐसा पूर्वपक्षका आशय है।

भाष्य

नैतदेवम् । नह्येतत् काठकवाक्यं स्मृतिप्रसिद्धयोर्महदव्यक्तयोरस्तित्वपरम् । नह्यत्र यादृशं स्मृतिप्रसिद्धं स्वतन्त्रं कारणं त्रिगुणं प्रधानं तादृशं प्रत्यभिज्ञायते, शब्दमात्रं ह्यत्राव्यक्तमिति प्रत्यभिज्ञायते । स च शब्दो न व्यक्तमव्यक्तमिति यौगिकत्वादन्यस्मिन्नपि सूक्ष्मे सुदुर्लक्ष्ये च प्रयुज्यते, न चाऽयं कस्मिंश्चिद् रूढः । या तु प्रधानवादिनां रूढिः, सा तेषामेव पारि-

भाष्यका अनुवाद

सिद्धान्ती—ऐसा नहीं है । क्योंकि यह काठकवाक्य सांख्यशास्त्रप्रसिद्ध महत् और अव्यक्तके अस्तित्वका बोधक नहीं है, क्योंकि जैसा सांख्यशास्त्र-प्रसिद्ध जगत्कारण त्रिगुणात्मक प्रधान है वैसे अव्यक्त-प्रधानकी प्रत्यभिज्ञा यहां नहीं होती । यहां तो केवल अव्यक्त शब्दमात्रकी प्रत्यभिज्ञा होती है, और वह शब्द जो व्यक्त नहीं है—वह अव्यक्त है, इस प्रकार यौगिक होनेसे सूक्ष्म एवं सुदुर्लक्ष्य[1] अन्य पदार्थमें भी प्रयुक्त हो सकता है और काठकश्रुतिमें पठित अव्यक्त शब्द किसी अर्थमें रूढ़ नहीं है, जो प्रधानवादियोंकी[2] रूढि है, वह

रत्नप्रभा

सूत्रे नञर्थं वदन् सिद्धान्तयति—नैतदिति । प्रधानं वैदिकं नेत्यत्र तात्पर्याभावं हेतुमाह—नहीति । ननु प्रधानस्याऽत्र प्रत्यभिज्ञानाद् वैदिकत्वम् इत्यत आह—नह्यत्रेति । ननु शब्दप्रत्यभिज्ञायाम् अर्थोऽपि प्रत्यभिज्ञायते इत्याशङ्क्य यौगिकात् शब्दाद् असति नियामके नाऽर्थविशेषधीरित्याह—स चेति । रूढ्या तद्धीरित्याशङ्क्य रूढिः किं लौकिकी स्मार्ता वा, नाऽऽद्या इत्याह—न चेति । द्वितीयं प्रत्याह—या त्विति । पुरुषसंकेतो नाऽनादिवेदार्थनिर्णयहेतुः, पुंमतेः

रत्नप्रभाका अनुवाद

सूत्रमें स्थित 'नञ्' के अर्थको कहते हुए सिद्धान्त करते हैं—"नैतद्" इत्यादिसे । प्रधान श्रुतिप्रतिपादित नहीं है, इस विषयमें श्रुतिके तात्पर्यका अभावरूप हेतु कहते हैं—"नहि" इत्यादिसे । परन्तु यहां प्रधानकी प्रत्यभिज्ञा होती है, इसलिए प्रधान वैदिक—श्रुतिप्रतिपादित है, इस शंकाको दूर करनके लिए कहते हैं—"नह्यत्र" इत्यादि । परन्तु शब्दकी प्रत्यभिज्ञा होनेसे अर्थकी भी प्रत्यभिज्ञा होगी, ऐसी आशंका करके "न च" इत्यादिसे समाधान कहते हैं कि कोई नियामक न हो, तो यौगिकशब्दसे विशिष्ट अर्थकी प्रतीति नहीं होती है । तब रूढिसे प्रधानकी प्रतीति होगी, ऐसी आशंका हो, तो वह रूढि लौकिक है, या सांख्यस्मृतिकी है ? लौकिक रूढि तो नहीं हो सकती, ऐसा कहते हैं—"न च" इत्यादिसे ।

(१) अत्यन्त दुर्लक्ष्य । (२) प्रधान जगत्का कारण है—ऐसा कहनेवाले ।

भाष्य

भाषिकी सती न वेदार्थनिरूपणे कारणभावं प्रतिपद्यते। न च क्रममात्रसामान्यात् समानार्थप्रतिपत्तिर्भवत्यसति तद्रूपप्रत्यभिज्ञाने, नह्यश्वस्थाने गां पश्यन्नश्वोऽयमित्यमूढोऽध्यवस्यति। प्रकरणनिरूपणायां चाऽत्र न परपरिकल्पितं प्रधानं प्रतीयते, शरीररूपकविन्यस्तगृहीतेः। शरीरं ह्यत्र

भाष्यका अनुवाद

उन्हींकी पारिभाषिक होनेसे वेदार्थका निरूपण करनेमें कारण नहीं हो सकती। अर्थके रूपकी प्रत्यभिज्ञा न हो तो केवल क्रमकी समानतासे समान अर्थका बोध नहीं होता। कोई भी समझदार आदमी घोड़ेके स्थानपर बैलको देखकर "यह घोड़ा है" ऐसा निश्चय नहीं कर सकता, और यहां प्रकरणका निरूपण करनेपर प्रतिपक्षीसे कल्पित प्रधानकी प्रतीति नहीं होती, क्योंकि यहां रथ

रत्नप्रभा

विचित्रत्वादित्यर्थः। यत्तु स्मार्तक्रमप्रत्यभिज्ञया क्रमिकार्थः स्मार्त एवेति, तत्राऽऽह—न च क्रमेति। स्थानात् तद्रूपप्रत्यभिज्ञानशङ्कायाम् असति इत्यनन्वयात् नञो व्यत्यासेन अतद्रूपस्य तद्रूपविरुद्धस्य प्रत्यभिज्ञाने सति इत्यर्थः। पूर्वज्ञातरूपार्थस्य स्थाने तद्विरुद्धार्थज्ञाने सति तस्य धीः नास्ति इत्यत्र दृष्टान्तमाह—नहीति। प्रकृते नास्ति विरुद्धज्ञानम् इत्याशङ्क्य प्रकरणात् शरीरज्ञानमस्ति इत्याह—प्रकरणेति। शरीरमेव रूपकेण रथसादृश्येन विन्यस्तं शरीररूपकविन्यस्तम्, तस्य पूर्ववाक्ये आत्मबुद्ध्योः मध्यस्थानपठितस्य अत्रापि मध्यस्थेन अव्यक्तशब्देन

रत्नप्रभाका अनुवाद

सांख्यस्मृतिकी भी रूढि नहीं है, ऐसा कहते हैं—"या तु" इत्यादिसे। पुरुषसंकेत अनादि वेदका अर्थनिर्णय करनेमें हेतु नहीं हो सकता, क्योंकि पुरुषकी मति विचित्र होती है, ऐसा तात्पर्य है। परन्तु सांख्यस्मृतिके क्रमकी यहाँ प्रत्यभिज्ञा होनेसे क्रमिक अर्थ भी स्मृति कथित ही है, यह जो कथन है, उसका समाधान करते हैं—"न च क्रम" इत्यादिसे। स्थानसे उसीकी प्रत्यभिज्ञा हो, ऐसी शंका होनेपर 'असति' का अन्वय नहीं हो सकता है, इसलिए 'नञ्' के व्यत्याससे अतद्रूप—उससे विरुद्धकी प्रत्यभिज्ञा होनेपर, ऐसा अर्थ करना चाहिए। ज्ञात पदार्थके स्थानपर उससे विरुद्ध पदार्थका ज्ञान होनेपर उसकी (ज्ञातकी) प्रतीति नहीं होती, इस विषयमें दृष्टान्त कहते हैं—"नहि" इत्यादिसे। प्रकृत विषयमें विरुद्ध ज्ञान नहीं है, ऐसी आशंका करके प्रकरणसे शरीरका ज्ञान होता है, ऐसा कहते हैं—"प्रकरण" इत्यादिसे। रूपक अर्थात् रथ सादृश्यसे विन्यस्त शरीर ही शरीररूपकविन्यस्त है। पूर्ववाक्यमें आत्मा और बुद्धिके मध्यमें शरीर पढ़ा गया है, इसलिए यहां भी मध्यके अव्यक्तशब्दसे

---

(१) वस्तु।

भाष्य

रथरूपकविन्यस्तमव्यक्तशब्देन परिगृह्यते । कुतः ? प्रकरणात् परिशेषाच्च । तथा ह्यनन्तरातीतो ग्रन्थ आत्मशरीरादीनां रथिरथादिरूपकक्लृप्तिं दर्शयति—

'आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु ।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च ॥
इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयांस्तेषु गोचरान् ।
आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः' (का० १।३।३,४) इति ।

भाष्यका अनुवाद

रूपकसे विन्यस्त शरीरका ही ग्रहण है। निस्सन्देह, यहांपर रथरूपकसे विन्यस्त शरीरका ही अव्यक्तशब्दसे ग्रहण किया है। किससे ? प्रकरणसे और परिशेषसे। क्योंकि समनन्तर अतीत ग्रन्थ रथी, रथ आदिके साथ आत्मा, शरीर आदिके रूपककी कल्पना दिखलाता है—'आत्मानं रथिनं विद्धि०' (आत्माको रथी और शरीरको रथ जानो, बुद्धिको सारथि और मनको लगाम जानो, इन्द्रियाँ अश्व हैं और विषय उनके मार्ग हैं, देह, इन्द्रिय और मनसे युक्तको

रत्नप्रभा

ग्रहणात् न प्रधानस्य वैदिकत्वमिति सूत्रार्थः । स्मार्तक्रमः किमिति त्यक्तव्य इत्याशङ्क्य श्रौतक्रमस्य प्रकरणाद्यनुग्रहेण बलवत्त्वात् इत्याह—कुत इत्यादिना । तदुभयं विवृणोति—तथा हीति । रूपकक्लृप्तिः—सादृश्यकल्पना । प्रग्रहः—अश्वरशना । यदा बुद्धिसारथिः विवेकी, तदा मनसा इन्द्रियहयान् विषमविषयमार्गाद् आकर्षति । यदि अविवेकी, तदा मनोरशनाबद्धान् तान् प्रवर्तयतीति मनसः प्रग्रहत्वं युक्तम् । तेषु—हयेषु, गोचरान्—मार्गान् । ननु स्वतः चिदात्मनो भोगसम्भवात्, किं रथादिना इत्यत आह—आत्मेति । आत्मा—देहः, देहादि-

रत्नप्रभाका अनुवाद

शरीरका ग्रहण होनेसे प्रधान श्रुतिप्रतिपादित नहीं है, ऐसा सूत्रका अर्थ है। परन्तु स्मृतिका क्रम त्याज्य क्यों है, ऐसी आशंका करके प्रकरण आदिके अनुग्रहसे श्रुतिक्रम स्मृतिक्रमसे बलवत्तर है, ऐसा कहते हैं—"किम्" इत्यादिसे । प्रकरण और परिशेष इन दोनोंका विवरण करते हैं—"तथा हि" इत्यादिसे । रूपकक्लृप्ति—सादृश्यकी कल्पना। प्रग्रह—लगाम। यदि बुद्धिरूप सारथि विवेकशील होता है, तब मनरूपी लगामसे इन्द्रियरूपी अश्वोंको विषयरूपी विषम मार्गमेंसे खींच लेता है, यदि वह अविवेकी होता है, तो मनरूपी लगामसे बांधे हुए अश्वोंको उस मार्गमें चलाता है, इस प्रकार मनको लगाम कहना युक्त है। तेषु—अश्वोंके, गोचर—मार्ग। यदि कोई कहे कि चिदात्मामें स्वतः भोगका संभव है,

भाष्य

तैश्चेन्द्रियादिभिरसंयतैः संसारमधिगच्छति । संयतैस्त्वध्वनः पारं तद्विष्णोः परमं पदमाप्नोतीति दर्शयित्वा, किं तदध्वनः पारं विष्णोः परमं पदमित्यस्यामाकाङ्क्षायाम्, तेभ्य एव प्रकृतेभ्य इन्द्रियादिभ्यः परत्वेन परमात्मानमध्वनः पारं विष्णोः परमं पदं दर्शयति—

'इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः ।
मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान् परः ॥
महतः परमव्यक्तमव्यक्तात् पुरुषः परः ।
पुरुषान्न परं किंचित् सा काष्ठा सा परा गतिः ॥'

(का० १।३।१०, ११) इति । तत्र य एवेन्द्रियादयः पूर्वस्मां रथरूपककल्पनायामश्वादिभावेन प्रकृतास्त एवेह परिगृह्यन्ते प्रकृतहानाप्रकृत-

भाष्यका अनुवाद

विद्वान् भोक्ता कहते हैं) वे इन्द्रियाँ आदि असंयत—अनियमित हों, तो उनसे जन्म-मरणपरम्पराको प्राप्त होता है और संयत हों तो आवागमनरहित विष्णुके परम पदको प्राप्त होता है, ऐसा दिखलाकर आवागमनरहित विष्णुका परम पद कौन है, ऐसी आकांक्षा होनेपर—'इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था०' (इन्द्रियोंसे विषय श्रेष्ठ हैं, विषयोंसे मन श्रेष्ठ है, मन से बुद्धि श्रेष्ठ है और बुद्धिसे महान्—जीव श्रेष्ठ है, महान् जीवसे अव्यक्त श्रेष्ठ है और अव्यक्तसे पुरुष श्रेष्ठ है, पुरुषसे कुछ श्रेष्ठ नहीं है वह अन्तिम सीमा है, वही उत्कृष्ट गति है ।) यह श्रुति प्रकृत इन्द्रिय आदिसे पर परमात्माको ही आवागमनरहित विष्णुका परम पद कहती है । उस श्रुतिमें रथरूपककी कल्पनामें अश्व आदि रूपसे जो इन्द्रिय आदि प्रकृत हैं, प्रकृतकी हानि और अप्रकृतकी कल्पनारूप

रत्नप्रभा

सङ्गकल्पनया भोक्तृत्वम्, न स्वतः, असङ्गत्वादित्यर्थः । अधुना रथादिभिः गन्तव्यं वदन् आकाङ्क्षापूर्वकम् उत्तरवाक्यमाह—तैश्चेत्यादिना । शरीरस्य प्रकृतत्वेऽपि अव्यक्तपदेन प्रधानं गृह्यतामित्यत आह—तत्र य एवेति । एवं

रत्नप्रभाका अनुवाद

रथ आदिकी क्या आवश्यकता है, इसपर कहते हैं—"आत्मा" इत्यादिसे । आत्मा—देह । देह आदि संगकी कल्पनासे आत्मा भोक्ता होता है, स्वतः भोक्ता नहीं है, क्योंकि असंग है । अब रथ आदिसे गंतव्य क्या है, यह कहते हुए आकांक्षापूर्वक उत्तर वाक्य कहते हैं—"तैश्च" इत्यादिसे । यद्यपि शरीर प्रकृत है, तो भी अव्यक्तशब्दसे प्रधानका ही ग्रहण करो,

भाष्य

प्रक्रियापरिहाराय। तत्रेन्द्रियमनोबुद्धयस्तावत् पूर्वत्रेह च समानशब्दा एव, अर्थास्तु ये शब्दादयो विषया इन्द्रियहयगोचरत्वेन निर्दिष्टाः तेषां चेन्द्रियेभ्यः परत्वम्, इन्द्रियाणां च ग्रहत्वम्, विषयाणामतिग्रहत्वम्, (बृ० ३।२) इति श्रुतिप्रसिद्धेः। विषयेभ्यश्च मनसः परत्वम्, मनोमूलत्वाद् विषयेन्द्रियव्यवहारस्य। मनसस्तु परा बुद्धिः, बुद्धिं ह्यारुह्य भोग्यजातं भोक्तारमुपसर्पति। बुद्धेरात्मा महान् परो यः स 'आत्मानं रथिनं

भाष्यका अनुवाद

दोषके निवारणके लिए उनका ही इस श्रुतिवाक्यमें ग्रहण किया जाता है। उनमेंसे इन्द्रिय, मन और बुद्धि पूर्ववाक्य में और यहां समान शब्दोंसे ही निर्दिष्ट हैं। अर्थ अर्थात् शब्द आदि विषय जो इन्द्रियरूप अश्वोंके मार्गरूपसे निर्दिष्ट हैं, वे इन्द्रियोंसे पर हैं, 'इन्द्रियाणां ग्रहत्वं०' (इन्द्रियाँ ग्रह हैं और विषय अतिग्रह हैं) ऐसा श्रुतिमें प्रसिद्ध है। और विषयोंसे मन श्रेष्ठ है, क्योंकि विषय और इन्द्रियोंका व्यवहार मनके अधीन है। बुद्धि मनसे श्रेष्ठ है, क्योंकि भोग्य पदार्थ बुद्धिपर आरूढ होकर भोक्ताके पास जाते हैं। जो 'आत्मानं रथिनं विद्धि' (आत्माको रथी जानो) इस प्रकार रथीरूपसे

रत्नप्रभा

प्रकरणं शोधयित्वा शरीरस्य परिशेषताम् आनयति—तत्रेन्द्रियेत्यादिना। अर्थानां पूर्वमनुक्तिशङ्कां वारयन् परत्वम् उपपादयति—अर्था इति। गृह्णन्ति पुरुषपशुं बध्नन्तीति ग्रहाः—इन्द्रियाणि। तेषां ग्रहत्वं विषयाधीनम्, असति विषये तेषाम् अकिञ्चित्करत्वात्। ततो ग्रहेभ्यः श्रेष्ठाः अतिग्रहाः विषयाः इति बृहदारण्यके श्रवणात्। परत्वं श्रैष्ठ्याभिप्रायम्, न तु आन्तरत्वेन इति भावः। सविकल्पकं

रत्नप्रभाका अनुवाद

इसपर कहते हैं—"तत्र य एव" इत्यादि। इस प्रकार प्रकरणका शोधन करके शरीर परिशेष—अवशिष्ट है, ऐसा दिखलाते हैं—"तत्रेन्द्रिय" इत्यादिसे। विषय पहले नहीं कहे गये हैं, इस शंकाका निराकरण करते हुए उनमें श्रेष्ठता दिखलाते हैं—"अर्थाः" इत्यादिसे। घ्राण, जिह्वा, वाक्, चक्षु, श्रोत्र, मन, हस्त और त्वचा, इन आठ इन्द्रियोंको श्रुतिने ग्रह कहा है, क्योंकि इन्द्रियां पुरुषरूपी पशुका ग्रहण—बन्धन करती हैं अर्थात् उसको अपने वशमें करती हैं। परन्तु जबतक इन्द्रियाँ इस पुरुषपशुको गन्ध, रस, नाम, रूप, शब्द, काम, कर्म और स्पर्शका उपहार नहीं करतीं तबतक इन्द्रियां स्वरूपसे पुरुष पशुको अपने वशमें नहीं कर सकतीं। इस प्रकार विषयोंके अधीन होनेसे इन्द्रियोंको ग्रह कहा है। उनसे विषय श्रेष्ठ हैं, अतः बृहदारण्यकमें वे अतिग्रह कहे गये हैं। परत्व श्रेष्ठताके अभिप्रायसे कहा

भाष्य

विद्धि' इति रथित्वेनोपक्षिप्तः । कुतः ? आत्मशब्दात् । भोक्तुश्च भोगोपकरणात् परत्वोपपत्तेः । महत्त्वं चाऽस्य स्वामित्वादुपपन्नम् । अथवा—

'मनो महान्मतिर्ब्रह्मा पूर्बुद्धिः ख्यातिरीश्वरः ।
प्रज्ञा संविच्चितिश्चैव स्मृतिश्च परिपठ्यते ॥' इति स्मृतेः,

'यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै ।' (श्वे० ६।१८) इति च श्रुतेर्या प्रथमजस्य हिरण्यगर्भस्य बुद्धिः, सा सर्वासां बुद्धीनां

भाष्यका अनुवाद

निर्दिष्ट महान् आत्मा है, वह बुद्धिसे श्रेष्ठ है, क्योंकि आत्मशब्दसे यह प्रत्यभिज्ञा होती है । भोक्ताको भोगकी सामग्रियोंसे श्रेष्ठ कहना ठीक ही है, स्वामी होनेसे वह महान् भी है । अथवा 'मनो महान् मतिर्ब्रह्मा०' (समष्टिबुद्धि मननशक्ति, भावी निश्चय, व्यापक, आत्मा, भोग्यवर्गकी नगरी, तात्कालिक निश्चय, कीर्तिशक्ति, त्रिकालनिश्चय, संवित्, चित्, और स्मृति कही जाती है) इस स्मृतिके अनुसार एवं 'यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं०' (जो पहले ब्रह्माको उत्पन्न करता है और जो उसकी बुद्धिमें वेदोंका आविर्भाव कराता है) इस श्रुतिके अनुसार प्रथम उत्पन्न हुए हिरण्यगर्भकी बुद्धि सब बुद्धियोंकी आधार है । वही यहां महान्

रत्नप्रभा

ज्ञानम्—मनः, निर्विकल्पकम्—निश्चयात्मिका बुद्धिः, आत्मशब्दात् स एव बुद्धेः परः, प्रत्यभिज्ञायते इति शेषः । हिरण्यगर्भाभेदेन ब्रह्मादिपदवेद्या समष्टिबुद्धिः महान् इत्याह—अथवेति । (१) मननशक्तिः, (२) व्यापिनी, (३) भाविनिश्चयः, (४) ब्रह्मा—आत्मा, (५) भोग्यवर्गाश्रयः, (६) तात्कालिकनिश्चयः, (७) कीर्तिशक्तिः, (८) नियमनशक्तिः, (९) त्रैकालनिश्चयः, (१०) संविद्—अभिव्यञ्जिका, (११) चिद्, (१२) अध्यस्तातीतसर्वार्थग्राहिणी, समष्टिबुद्धिः इत्यर्थः । हिरण्य-

रत्नप्रभाका अनुवाद

गया है, आन्तरत्वके अभिप्रायसे नहीं । सविकल्पक ज्ञान मन है और निर्विकल्पक ज्ञान निश्चयात्मक बुद्धि है । 'आत्मशब्दात्'के बाद 'प्रत्यभिज्ञायते' इतना शेष समझना चाहिए अर्थात् आत्मशब्दसे प्रत्यभिज्ञा होती है कि वही बुद्धिसे पर है । हिरण्यगर्भसे अभिन्न ब्रह्मा आदि पदोंसे वाच्य समष्टिबुद्धि महान् है, ऐसा कहते हैं—"अथवा" इत्यादिसे । समष्टिबुद्धि मननशक्ति, व्यापक, भावी निश्चय, आत्मा, भोग्य पदार्थोंका आश्रय, तात्कालिक निश्चय, कीर्ति-शक्ति, नियमनशक्ति, त्रैकालिक निश्चय, अर्थको अभिव्यक्त करनेवाली, चित् और अध्यस्त अतीत सब पदार्थोंका स्मरण करानेवाली कही जाती है। यह हिरण्यगर्भकी बुद्धि है, इस विषय में

भाष्य

परमा प्रतिष्ठा, सेह महानात्मेत्युच्यते। सा च पूर्वत्र बुद्धिग्रहणेनैव गृहीता सती हिरुगिहोपदिश्यते, तस्या अप्यस्मदीयाभ्यो बुद्धिभ्यः परत्वोपपत्तेः। एतस्मिंस्तु पक्षे परमात्मविषयेणैव परेण पुरुषग्रहणेन रथिन आत्मनो ग्रहणं द्रष्टव्यम्, परमार्थतस्तु परमात्मविज्ञानात्मनोर्भेदाभावात्। तदेवं शरीरमेवैकं परिशिष्यते तेषु। इतराणीन्द्रियादीनि प्रकृतान्येव परमपद-दिदर्शयिषया समनुक्रामन् परिशिष्यमाणेनेहान्त्येनाव्यक्तशब्देन परिशिष्य-

भाष्यका अनुवाद

आत्मा कही गई है। यद्यपि पहले वह बुद्धिशब्दके ग्रहणसे गृहीत थी ही, तो भी यहां उसका पृथक् उपदेश है, क्योंकि वह भी हमारी बुद्धिसे श्रेष्ठ है, यह ठीक ही है। परन्तु इस पक्षमें अनन्तर आनेवाले परमात्मविषयक पुरुष-शब्दके ग्रहणसे रथी आत्माका ग्रहण समझना चाहिए, क्योंकि वास्तविक रीति-से परमात्मा और विज्ञानात्मामें कोई भेद नहीं है, इस प्रकार उनमें केवल एक शरीर ही बच जाता है। परम पदको दिखानेकी इच्छासे पूर्वकथित अन्य इन्द्रिय आदिका अनुसरण करनेवाला वेद यहां अवशिष्ट रहनेवाले अव्यक्तशब्द-

रत्नप्रभा

गर्भस्य इयं बुद्धिरस्ति इत्यत्र श्रुतिमाह—य इति। ननु अप्रकृता सा कथमुच्यते, तदुक्तौ च प्रधानेन किमपराद्धमित्यत आह—सा चेति। हिरुक्—पृथक्। पूर्वं व्यष्टिबुद्ध्यभेदेन उक्ता, अत्र ततो भेदेन परत्वमुच्यते इत्यर्थः। तर्हि रथरथिनौ द्वौ परिशिष्टौ स्याताम्, नेत्याह—एतस्मिंस्त्विति। अतो रथ एव परिशिष्ट इत्याह—तदेवमिति। तेषु पूर्वोक्तेषु षट्पदार्थेषु इत्यर्थः। परिशेषस्य फलमाह—इतराणीति। वेदो यमो वा इति शेषः। दर्शयति चेति सूत्रभागो व्याख्यातः।

रत्नप्रभाका अनुवाद

प्रमाण भूत श्रुतिको कहते हैं—"यः" इत्यादिसे। यदि कोई कहे कि हिरण्यगर्भकी बुद्धि तो प्रकृत नहीं है, वह कैसे कही गई, और वह जब कही गई तो प्रधानने क्या अपराध किया है? इसपर कहते हैं—"सा च" इत्यादिसे। हिरुक्—पृथक्। पहले व्यष्टिबुद्धिसे हिरण्य-गर्भकी बुद्धि अभिन्नरूपसे कही गई है, यहां भिन्नरूपसे उससे श्रेष्ठ कही जाती है, ऐसा अर्थ है। यदि कोई कहे कि हिरण्यगर्भकी बुद्धि महान् आत्मा है, इस पक्षमें रथ और जो भोक्ता रथी है, वे दोनों परिशिष्ट हैं, इसका निराकरण करते हैं—"एतस्मिंस्तु" इत्यादिसे। इसलिए रथमात्र परिशिष्ट है, ऐसा कहते हैं—"तदेवम्" इत्यादिसे। 'तेषु'—पूर्वोक्त छः पदार्थोंमें। परिशेषका फल कहते हैं—"इतराणि" इत्यादिसे। 'दर्शयति'के बाद 'वेदः यमो वा' इतना शेष समझना चाहिए।

भाष्य

माणं प्रकृतं शरीरं दर्शयतीति गम्यते । शरीरेन्द्रियमनोबुद्धिविषयवेदनासंयुक्तस्य ह्यविद्यावतो भोक्तुः शरीरादीनां रथादिरूपककल्पनया संसारमोक्षगतिनिरूपणेन प्रत्यगात्मब्रह्मावगतिरिह विवक्षिता । तथा च—

'एष सर्वेषु भूतेषु गूढोत्मा न प्रकाशते ।
दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः ॥' (का० १।३।१२)

इति वैष्णवस्य परमपदस्य दुरवगमत्वमुक्त्वा तदवगमार्थं योगं दर्शयति—

'यच्छेद्वाङ्मनसी प्राज्ञस्तद्यच्छेज्ज्ञान आत्मनि ।
ज्ञानमात्मनि महति नियच्छेत्तद्यच्छेच्छान्त आत्मनि ॥'

भाष्यका अनुवाद

से अवशिष्ट रहनेवाले प्रकृत शरीरको ही दिखलाता है ऐसा समझा जाता है । शरीर आदिकी रथ आदिके साथ रूपककल्पना द्वारा शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, विषय और वेदनासे संयुक्त अविद्यावान् भोक्ताके संसारगमन और मोक्षगमनके निरूपणसे प्रत्यगात्मा ही ब्रह्म है, यह ज्ञान यहां विवक्षित है । इसी प्रकार 'एष सर्वेषु भूतेषु०' (सब प्राणियोंमें गूढ़ यह आत्मा प्रकाशमान नहीं होता, परन्तु सूक्ष्मदर्शी—सूक्ष्मविषयोंके ग्रहणमें समर्थ एकाग्र बुद्धिसे उसका साक्षात्कार करते हैं) इस प्रकार विष्णुका परम पद दुर्ज्ञेय है ऐसा कहकर उसके ज्ञानके लिए 'यच्छेद्वाङ्मनसी प्राज्ञः०' (प्राज्ञ पुरुष वाणीका मनमें लय करे, मनका बुद्धिमें, बुद्धिका महान् आत्मामें और महान् आत्माका शान्त आत्मामें

रत्नप्रभा

किञ्च, ब्रह्मात्मैकत्वपरे ग्रन्थे भेदवादिनां प्रधानस्याऽवकाशो नास्तीत्याह—शरीरेत्यादिना । भोगः—वेदना । काठकग्रन्थस्य ऐक्यतात्पर्ये गूढत्वज्ञेयत्वज्ञानहेतुयोगविधयो लिङ्गानि सन्ति इत्याह—तथा चेत्यादिना । अग्र्या—समाधिपरिपाकजा । वागिति—अत्र द्वितीयालोपश्छान्दसः, मनसीति दैर्घ्यं च ॥ १ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

इस ग्रन्थसे 'दर्शयति च' इस सूत्रभागका व्याख्यान हुआ। ब्रह्म और जीवकी एकताका प्रतिपादन करनेवाले इस ग्रन्थमें भेदवादियोंके प्रधानकी चर्चाका अवकाश ही नहीं है, ऐसा कहते हैं—"शरीर" इत्यादिसे । वेदना—सुख आदिका अनुभव । काठक ग्रन्थका तात्पर्य ब्रह्मात्मैक्यमें है, गूढत्व, ज्ञेयत्व और ज्ञानकी हेतु योगविधियाँ इसकी समर्थक हैं, ऐसा कहते हैं—"तथा च" इत्यादिसे । 'अग्र्या'—समाधिपरिपाकसे उत्पन्न हुई । 'यच्छेद्वाङ्मनसी'—'वाचं' 'मनसि', इनमें द्वितीयाका लोप और इकारका दीर्घत्व छान्दस हैं ॥ १ ॥

भाष्य

(का० २।३।१३) इति । एतदुक्तं भवति—वाचं मनसि संयच्छेत्, वागादिबाह्येन्द्रियव्यापारमुत्सृज्य मनोमात्रेणाऽवतिष्ठेत । मनोऽपि विषयविकल्पाभिमुखं विकल्पदोषदर्शनेन ज्ञानशब्दोदितायां बुद्धावध्यवसायस्वभावायां धारयेत् । तामपि बुद्धिं महत्यात्मनि भोक्तर्यग्र्यायां वा बुद्धौ सूक्ष्मतापादनेन नियच्छेत्, महान्तं त्वात्मानं शान्त आत्मनि प्रकरणवति परस्मिन् पुरुषे परस्यां काष्ठायां प्रतिष्ठापयेदिति । तदेवं पूर्वापरालोचनायां नास्त्यत्र परपरिकल्पितस्य प्रधानस्याऽवकाशः ॥ १ ॥

भाष्यका अनुवाद

लय करे) यह श्रुति योग दिखलाती है । इसका तात्पर्य यह है कि वाणीका मनमें लय करे अर्थात् वाक् आदि बाह्य इन्द्रियोंके व्यापारका त्याग करके केवल मनरूपसे अवस्थित रहे । मनमें भी विषयसम्बन्धी विकल्प उठते हैं, अतः उसमें विकल्परूपी दोषके दर्शनसे उसका ज्ञानशब्दसे कथित निश्चयात्मक बुद्धिमें लय करे । उस बुद्धिका भी महान्—आत्मा भोक्तामें अथवा समाधिके परिपाकसे जात बुद्धिमें सूक्ष्मतासम्पादन द्वारा लय करे । उस महान् आत्माका प्रकरणप्राप्त चरम सीमा शान्त आत्मा—परब्रह्ममें लय करे । इस प्रकारसे पूर्वापर पर्यालोचन करनेपर सिद्ध होता है कि प्रतिपक्षी द्वारा कल्पित प्रधानका यहां अवकाश ही नहीं है ॥१॥

सूक्ष्मं तु तदर्हत्वात् ॥२॥

पदच्छेद—सूक्ष्मम्, तु, तदर्हत्वात् ।

पदार्थोक्ति—सूक्ष्मं तु—स्थूलशरीरारम्भकं भूतसूक्ष्मं [अव्यक्तपदेन गृह्यते, कुतः] तदर्हत्वात्—अव्यक्तशब्दार्हत्वात् ।

भावार्थ—स्थूलशरीरके आरम्भक भूतोंका सूक्ष्म भाग जो सूक्ष्म शरीर कहलाता है, उसीका अव्यक्तशब्दसे ग्रहण होता है, क्योंकि सूक्ष्म पदार्थ ही अव्यक्त शब्दके योग्य है अर्थात् अव्यक्तशब्दवाच्य है ।

भाष्य

उक्तमेतत्—प्रकरणपरिशेषाभ्यां शरीरमव्यक्तशब्दम्, न प्रधानमिति। इदमिदानीमाशङ्क्यते—कथमव्यक्तशब्दार्हत्वं शरीरस्य, यावता स्थूलत्वात् स्पष्टतरमिदं शरीरं व्यक्तशब्दार्हमस्पष्टवचनस्त्वव्यक्तशब्द इति। अत उत्तरमुच्यते—सूक्ष्मं त्विह कारणात्मना शरीरं विवक्ष्यते, सूक्ष्मस्याऽव्यक्तशब्दार्हत्वात्। यद्यपि स्थूलमिदं शरीरं न स्वयमव्यक्तशब्दमर्हति, तथापि तस्य त्वारम्भकं भूतसूक्ष्ममव्यक्तशब्दमर्हति। प्रकृतिशब्दश्च विकारे दृष्टः, यथा 'गोभिः श्रीणीत मत्सरम्' (ऋ० सं० ९।४६।४)

भाष्यका अनुवाद

प्रकरण और परिशेषसे कहा गया है कि अव्यक्तशब्द शरीरवाचक है, प्रधानवाचक नहीं है। अब यह शङ्का होती है कि जब स्थूल होनेके कारण शरीर स्पष्टतया व्यक्तशब्दप्रतिपाद्य प्रतीत हो रहा है तब वह अव्यक्तशब्दवाच्य कैसे है? अव्यक्तशब्द तो अस्पष्टका वाचक है। इसलिए उत्तर कहते हैं—यहां अव्यक्तशब्दसे कारणरूपसे सूक्ष्म शरीर विवक्षित है, क्योंकि सूक्ष्म अव्यक्तशब्दका वाच्य है। यद्यपि यह स्थूल शरीर स्वरूपसे अव्यक्तशब्दके योग्य नहीं है, तो भी उसके आरम्भक भूतसूक्ष्म अव्यक्तशब्दके योग्य हैं। और प्रकृतिवाचक शब्द विकार अर्थमें प्रयुक्त होता है, जैसे कि 'गोभिः श्रीणीत मत्सरम्०' (गायके

रत्नप्रभा

सूक्ष्मं त्विति। शङ्कोत्तरत्वेन सूत्रं व्याचष्टे–उक्तमेतदित्यादिना। कार्यकारणयोः अभेदात् मूलप्रकृतिवाचकाव्यक्तशब्देन विकारो लक्ष्यते इत्यर्थः। गोभिः–गोविकारैः पयोभिः, मत्सरम्–सोमं श्रीणीत–मिश्रितं कुर्यादिति यावत्। "श्रीञ् पाके" इति धातोर्लोटि मध्यमपुरुषबहुवचनम् एतत्। अव्यक्तात्मना

रत्नप्रभाका अनुवाद

शंकाके उत्तररूपसे सूत्रका व्याख्यान करते हैं—"उक्तमेतत्" इत्यादिसे। कार्य और कारणके अभिन्न होनेसे मूलप्रकृतिवाचक अव्यक्तशब्दसे विकार लक्ष्य होता है, ऐसा अर्थ है। 'गोभिः'—गायके विकार अर्थात् दूधके साथ मत्सर अर्थात् सोमको मिलावे, ऐसा अर्थ है। पाकार्थक 'श्रीञ्' धातुके लोट्के मध्यम पुरुषके बहुवचनका यह रूप है।

---

(१) श्रुतिमें धातुओंके अनेक अर्थ होनेसे मिश्रण रूप अर्थ लिया गया है।

भाष्य

इति । श्रुतिश्च-'तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतमासीत्' (बृ० १।४।७) इति इदमेव व्याकृतनामरूपविभिन्नं जगत् प्रागवस्थायां परित्यक्तव्याकृतनामरूपं वीजशक्त्यवस्थमव्यक्तशब्दयोग्यं दर्शयति ॥ २ ॥

भाष्यका अनुवाद

विकार—दूधके साथ सोमरसका मिश्रण करना चाहिए)। श्रुति भी 'तद्धेदं०, (तब—प्राक् अवस्थामें यह जगत् अव्याकृत[1] था) इस प्रकार जिसमें नाम रूप व्याकृत हैं, ऐसे विभिन्न इसी जगत्को व्याकृत नाम रूपोंका जिसने पूर्व अवस्थामें त्याग किया है जो वीजशक्तिरूप है, उसीको अव्यक्तशब्दके योग्य दिखलाती है ॥२॥

रत्नप्रभा

कार्यस्य अव्यक्तशब्दयोग्यत्वे मानमाह—श्रुतिश्चेति । तर्हि—प्रागवस्थायाम् इदं जगद् अव्याकृतमासीत्, ह—किलेत्यर्थः । बीजरूपा शक्तिः संस्कारः तदवस्थम् ॥२॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

अव्यक्तशब्द अव्यक्तकार्यका वाचक है, इसमें प्रमाण देते हैं—"श्रुतिश्च" इत्यादिसे । तर्हि—सृष्टिसे पहले । इदम्—यह जगत् अव्याकृत था । 'ह' शब्द इतिवृत्तका सूचक है । बीजरूप जो शक्ति अर्थात् संस्कार, तद्रूप जगत् ॥२॥

तदधीनत्वादर्थवत् ॥ ३ ॥

पदच्छेद—तदधीनत्वाद्, अर्थवत् ।

पदार्थोक्ति—तदधीनत्वाद्—ईश्वराधीनत्वाद् [अव्यक्तस्य न स्वतन्त्रता], अर्थवत्—[ईश्वरसहकारित्वात् अव्यक्तं] प्रयोजनवत् ।

भाषार्थ—अव्यक्त ईश्वरके अधीन होनेसे स्वतंत्र नहीं है और जगत्की सृष्टिमें ईश्वरका सहायक होनेसे सार्थक है ।

---

(१) नामरूप आदिसे व्याकार—स्पष्टीकरणको न प्राप्त हुआ, अव्यक्त ।

भाष्य

अत्राह—यदि जगदिदमनभिव्यक्तनामरूपं बीजात्मकं प्रागवस्थमव्यक्तशब्दार्हमभ्युपगम्येत, तदात्मना च शरीरस्याऽप्यव्यक्तशब्दार्हत्वं प्रतिज्ञायेत, स एव तर्हि प्रधानकरणवाद एवं सत्यापद्येत। अस्यैव जगतः प्रागवस्थायाः प्रधानत्वेनाऽभ्युपगमात् इति।

अत्रोच्यते—यदि वयं स्वतन्त्रां काञ्चित् प्रागवस्थां जगतः कारणत्वेनाऽभ्युपगच्छेम, प्रसञ्जयेम तदा प्रधानकारणवादम्। परमेश्वराधीना त्वियमस्माभिः प्रागवस्था जगतोऽभ्युपगम्यते, न स्वतन्त्रा। सा चाऽवश्याभ्युपगन्तव्या, अर्थवती हि सा। नहि तया विना परमेश्वरस्य

भाष्यका अनुवाद

पूर्वपक्षी कहता है—नाम और रूपकी अभिव्यक्तिसे शून्य पूर्वावस्थामें स्थित बीजात्मक यह जगत् यदि अव्यक्तशब्दप्रतिपाद्य माना जाय और उस रूपसे शरीर भी अव्यक्तशब्दप्रतिपाद्य है, ऐसी यदि प्रतिज्ञा की जाय, तो ऐसा होनेसे उसी प्रधानकारणवादकी प्राप्ति हो जायगी, क्योंकि प्रधान ही इस जगत्की प्रागवस्थारूपसे स्वीकृत हुआ है।

सिद्धान्ती इसपर कहते हैं—यदि हम जगत्के कारणरूपसे किसी एक स्वतंत्र प्रागवस्थाका स्वीकार करें तो हम प्रधान कारणवादके अनुयायी हो सकते हैं, परन्तु हम जगत्की प्रागवस्थाको परमेश्वरके अधीन मानते हैं, स्वतंत्र नहीं मानते। वह अवस्था तो अवश्य ही माननी पड़ेगी, क्योंकि उप-

---

रत्नप्रभा

तदिति। अपसिद्धान्तशङ्कोत्तरत्वेन सूत्रं व्याचष्टे—अत्राहेत्यादिना। तर्हि—तदा, एवं सति—सूक्ष्मशब्दितप्रागवस्थाभ्युपगमे सति।

ईश्वरे कल्पिता तन्नियम्येत्यङ्गीकारात् न अपसिद्धान्त इत्याह—अत्रोच्यते इत्यादिना। कूटस्थब्रह्मणः स्रष्टृत्वसिद्ध्यर्थमविद्या स्वीकार्या इत्युक्तम्। बन्ध-

रत्नप्रभाका अनुवाद

अपसिद्धान्तशङ्काके उत्तररूपसे सूत्रकी व्याख्या करते हैं—"अत्राह" इत्यादिसे। 'तर्हि'—तब। एवं सति—सूक्ष्मसंज्ञक प्रागवस्थाका स्वीकार करनेपर अर्थात् पूर्वावस्थासे युक्त जगत् अव्यक्तशब्दके योग्य है, ऐसा माननेपर। जगत्की पूर्वावस्था ईश्वरमें कल्पित है और ईश्वरके अधीन है, ऐसा अंगीकार करनेसे कोई अपसिद्धान्त नहीं होता है, ऐसा कहते हैं—"अत्रोच्यते" इत्यादिसे। कूटस्थ ब्रह्मका स्रष्टृत्व सिद्ध करनेके लिए अविद्याका स्वीकार करना

भाष्य

स्रष्टृत्वं सिद्ध्यति, शक्तिरहितस्य तस्य प्रवृत्त्यनुपपत्तेः । मुक्तानां च पुनरनुत्पत्तिः । कुतः ? विद्यया तस्या बीजशक्तेर्दाहात् । अविद्यात्मिका हि बीजशक्तिरव्यक्तशब्दनिर्देश्या परमेश्वराश्रया मायामयी महासुषुप्तिः, यस्यां स्वरूपप्रतिबोधरहिताः शेरते संसारिणो जीवाः । तदेतदव्यक्तं क्वचिदाकाशशब्दनिर्दिष्टम्—'एतस्मिन्नु खल्वक्षरे गार्ग्याकाश ओतश्च प्रोतश्च'

भाष्यका अनुवाद

योगिनी है। उसके बिना परमेश्वर स्रष्टा ही नहीं हो सकता, क्योंकि शक्तिशून्य होनेसे उसकी प्रवृत्ति ही नहीं हो सकती। मुक्त आत्माओंके बन्धकी पुनः उत्पत्ति नहीं होती, क्योंकि विद्यासे उस बीजशक्तिका नाश हो जाता है। अविद्यास्वरूप वह बीजशक्ति अव्यक्तशब्दसे कही जाती है, परमेश्वरके आश्रित रहती है, मायामयी एवं महासुषुप्ति है, जिसमें स्वरूपके ज्ञानसे रहित संसारी जीव सोते हैं। वह अव्यक्त कहीं आकाशशब्दसे कहा गया है, क्योंकि 'एतस्मिन्नु०' (हे गार्गि ! इस अविनाशी तत्त्वमें आकाश ओत-प्रोत है) ऐसी

रत्नप्रभा

मुक्तिव्यवस्थार्थमपि सा स्वीकार्या इत्याह—मुक्तानामिति । यन्नाशात् मुक्तिः सा स्वीकार्या, तां विनैव सृष्टौ मुक्तानां पुनः बन्धापत्तेरित्यर्थः । तस्याः परपरिकल्पितसत्यस्वतन्त्रप्रधानाद् वैलक्षण्यमाह—अविद्येत्यादिना । मायामयी—प्रसिद्धमायोपमिता लोके मायाविनो मायावत् परतन्त्रेत्यर्थः । जीवभेदोपाधित्वेनाऽपि सा स्वीकार्या इत्याह—महासुषुप्तिरिति । बुद्ध्याद्युपाधिभेदाद् जीवा इति बहूक्तिः । अविद्यायां श्रुतिमप्याह—तदेतदिति । आकाशहेतुत्वाद्

रत्नप्रभाका अनुवाद

चाहिए ऐसा पीछे कहा गया है, अब बन्ध और मोक्षकी व्यवस्थाके लिए भी उसका स्वीकार करना चाहिए, ऐसा कहते हैं—"मुक्तानाम्" इत्यादिसे। जिसके नाशसे मुक्ति होती है, उस अविद्याका स्वीकार करना चाहिए, क्योंकि उसके बिना ही सृष्टि होनेपर मुक्त पुरुषोंका फिर बन्धन हो जायगा, ऐसा तात्पर्य है। यह अविद्या सांख्यपरिकल्पित सत्य और स्वतंत्र प्रधानसे विलक्षण है, ऐसा कहते—"अविद्या" इत्यादिसे। 'मायामयी'—प्रसिद्ध मायासदृश, लोकमें जैसे माया मायावीके अधीन होती है, वैसे ही अविद्या परतंत्र है, प्रधानके समान स्वतंत्र नहीं है। जीवभेदका कारण उपाधिरूपसे भी अविद्याका स्वीकार करना चाहिए, ऐसा कहते हैं—"महासुप्ति" इत्यादिसे। बुद्धि आदि उपाधियोंके भेदसे 'जीवाः' ऐसा बहुवचन कहा है। अविद्याकी सत्तामें प्रमाणरूपसे श्रुतिको उद्धृत करते हैं—"तदेतत्" इत्यादिसे। आकाशकी

भाष्य

(छा० ३ । ८ । ११) इति श्रुतेः । क्वचिदक्षरशब्दोदितम्—'अक्षरात्परतः परः' (मु० २ । १) इति श्रुतेः । क्वचिन्मायेति सूचितम्—'मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्' (श्वे० ४ । १०) इति मन्त्रवर्णात्। अव्यक्ता हि सा माया, तत्त्वान्यत्वनिरूपणस्याऽशक्यत्वात्। तदिदं 'महतः परमव्यक्तम्' इत्युक्तमव्यक्तप्रभवत्वान्महतः, यदा हैरण्यगर्भी बुद्धिर्महान् । यदा तु जीवो महान् , तदाप्यव्यक्ताधीनत्वाज्जीवभावस्य महतः परम-

भाष्यका अनुवाद

श्रुति है । कहीं अक्षरशब्दसे कहा गया है, क्योंकि 'अक्षरात्०' (सर्वश्रेष्ठ अक्षरसे उत्कृष्ट) ऐसी श्रुति है । और कहीं वह मायाशब्दसे सूचित है, क्योंकि 'मायां तु०' (प्रकृतिको माया जाने और महेश्वरको मायावी जाने) ऐसी श्रुति है । वह माया अव्यक्त है, क्योंकि वह ब्रह्मसे अभिन्न है या भिन्न है, ऐसा उसका निरूपण नहीं किया जा सकता । यदि महत्‌का अर्थ हिरण्यगर्भकी बुद्धि हो, तो अव्यक्तसे महत् उत्पन्न होता है, इसलिए 'महतः परमव्यक्तम्' (महत्‌से पर अव्यक्त है) यहांपर वही पूर्वावस्था कही गई है। यदि महत् शब्दका अर्थ जीव हो, तो भी जीवभावके अव्यक्ताधीन होनेसे 'महतः०' ऐसा कहा है ।

रत्नप्रभा

आकाशः । ज्ञानं विना अन्ताभावात् अक्षरम्, विचित्रकारित्वात् माया इति भेदः। इदानीम् अविद्याया ब्रह्माभेदान्यत्वाभ्याम् अनिर्वाच्यत्वेन अव्यक्तशब्दार्हत्वमाह—अव्यक्तेति । तस्य महतः परत्वं कथमित्यत आह—तदिदमिति । यदा बुद्धिर्महान्, तदा तद्धेतुत्वात् परत्वम् इत्यन्वयः। प्रतिबिम्बस्य उपाधिपरतन्त्रत्वात् उपाधेः प्रतिबिम्बात् परत्वमाह—यदा त्विति । हेतुं स्फुटयति—

रत्नप्रभाका अनुवाद

हेतु होनेसे अविद्या आकाश कही गई है, तत्त्वज्ञानके विना वह निवृत्त नहीं होती, अतः अक्षर—अविनाशी कही गई है और विचित्र कार्य करनेवाली होनेसे माया कही गई है, ऐसा भेद है । अविद्या ब्रह्मसे अभिन्न है या भिन्न है, यह निर्वचन नहीं किया जा सकता, इसलिए अनिर्वाच्य होनेसे वह अव्यक्तशब्दके योग्य है, ऐसा कहते हैं—"अव्यक्त" इत्यादिसे । अव्यक्त महत्‌से पर किस प्रकार है? इसपर कहते हैं—"तदिदम्" इत्यादिसे । 'यदा बुद्धिः··· परत्वम्" (बुद्धि महान् है, इस पक्षमें उसका कारण होनेसे अव्यक्त उससे श्रेष्ठ है) ऐसा अन्वय है । उपाधिके अधीन होनेसे प्रतिबिम्बसे उपाधि श्रेष्ठ है, ऐसा कहते हैं—"यदा तु"

भाष्य

व्यक्तमित्युक्तम्। अविद्या ह्यव्यक्तम्, अविद्यावत्त्वेनैव जीवस्य सर्वः संव्यवहारः सन्ततो वर्तते। तच्चाव्यक्तगतं महतः परत्वमभेदोपचारात् तद्विकारे शरीरे परिकल्प्यते। सत्यपि शरीरवदिन्द्रियादीनां तद्विकारत्वाविशेषे शरीरस्यैवाभेदोपचारादव्यक्तशब्देन ग्रहणम्, इन्द्रियादीनां स्वशब्दैरेव गृहीतत्वात् परिशिष्टत्वाच्च शरीरस्य।

अन्ये तु वर्णयन्ति—द्विविधं हि शरीरं स्थूलं सूक्ष्मं च। स्थूलं यदिदमुपलभ्यते सूक्ष्मं यदुत्तरत्र वक्ष्यते—'तदन्तरप्रतिपत्तौ रंहति संपरि-

भाष्यका अनुवाद

निश्चय यह अव्यक्त अविद्या है। अविद्यायुक्त होनेसे ही जीवके सब व्यवहार सदा चलते जाते हैं। महत्से परत्व जो कि अव्यक्तमें है, उसकी अभेदोपचारसे उसके विकार शरीरमें कल्पना की जाती है। यद्यपि शरीरके समान इन्द्रिय आदि भी उसके विकार हैं, तो भी अभेदोपचारसे अव्यक्तशब्दसे शरीरका ही ग्रहण होता है, क्योंकि इन्द्रिय आदिका अपने वाचक शब्दोंसे ही ग्रहण किया गया है और शरीरमात्र ही अवशिष्ट है।

दूसरे आचार्य तो इस प्रकार व्याख्यान करते हैं—शरीर दो प्रकारका है, स्थूल और सूक्ष्म। जो उपलब्ध होता है, वह स्थूल है और सूक्ष्म आगे 'तदन्तर

रत्नप्रभा

अविद्येति। अव्यक्तस्य परत्वेऽपि शरीरस्य किं जातं तदाह—तच्चेति। ननु इन्द्रियादीनाम् अपि अव्यक्ताभेदात् अव्यक्तत्वं परत्वं च किमिति नोच्यते, तत्राऽऽह—सत्यपीति।

सूत्रद्वयस्य वृत्तिकृद्व्याख्यानम् उत्थापयति—अन्ये त्विति। पञ्चीकृतभूतानां सूक्ष्मा अवयवाः स्थूलदेहारम्भकाः। सूक्ष्मशरीरं प्रतिजीवं लिङ्गस्य आश्रयत्वेन

रत्नप्रभाका अनुवाद

इत्यादिसे। "अविद्या" इत्यादिसे हेतुको स्पष्ट करते हैं। भले ही अव्यक्त पर हो, किन्तु इससे शरीर अव्यक्त है, यह कैसे सिद्ध हुआ, यह कहते हैं—"तच्च" इत्यादिसे। यदि कोई कहे कि इन्द्रिय आदि भी अव्यक्तसे अभिन्न हैं, तो वे भी अव्यक्त तथा पर क्यों नहीं कहे जाते हैं, इसपर कहते हैं—"सत्यपि" इत्यादि।

दोनों सूत्रोंका वृत्तिकाराभिमत व्याख्यान करते हैं—"अन्ये तु" इत्यादिसे। पञ्चीकृत भूतोंके सूक्ष्म अवयव स्थूल देहके आरम्भक हैं। लिंग शरीरके आश्रयरूपसे प्रत्येक जीवका

भाष्य

व्यक्तः प्रश्ननिरूपणाभ्याम्' (ब्र० ३।१।१) इति। तच्चोभयमपि शरीरमविशेषात् पूर्वत्र रथत्वेन संकीर्तितम्, इह तु सूक्ष्ममव्यक्तशब्देन परिगृह्यते, सूक्ष्मस्याऽव्यक्तशब्दार्हत्वात्। तदधीनत्वाच्च बन्धमोक्षव्यवहारस्य जीवात्तस्य परत्वम्, यथाऽर्थाधीनत्वादिन्द्रियव्यापारस्येन्द्रियेभ्यः परत्वमर्थानामिति। तैस्त्वेतद् वक्तव्यम्, अविशेषेण शरीरद्वयस्य पूर्वत्र रथत्वेन संकीर्तितत्वात् समानयोः प्रकृतत्वपरिशिष्टत्वयोः कथं सूक्ष्ममेव शरीरमिह गृह्यते न पुनः स्थूलमपीति। आम्नातस्याऽर्थं प्रतिपत्तुं प्रभवामो नाऽऽम्नातं

भाष्यका अनुवाद

प्रतिपत्तौ०' सूत्रमें कहा जायगा। वे दोनों शरीर समानरूपसे पूर्ववाक्यमें रथरूपसे कहे गये हैं। यहां अव्यक्तशब्दसे केवल सूक्ष्म शरीरका ग्रहण होता है, क्योंकि सूक्ष्मका ही अव्यक्तशब्दसे प्रतिपादन होता है। जैसे इन्द्रियोंका व्यापार अर्थोंके अधीन होनेसे अर्थ इन्द्रियोंसे श्रेष्ठ कहे गये हैं, वैसे ही बन्ध और मोक्षका व्यवहार सूक्ष्म शरीरके अधीन होनेसे वह जीवसे पर—श्रेष्ठ कहा गया है। परन्तु उस मतवालोंसे यह पूछना चाहिए कि पूर्ववाक्यमें रथशब्दसे दोनों शरीरोंके समानरूपसे प्रतिपादित होनेके कारण दोनों समान रीतिसे प्रकृत और परिशिष्ट हैं, ऐसी स्थितिमें यहां अव्यक्तशब्दसे सूक्ष्म शरीरका ग्रहण क्यों होता है और स्थूलका क्यों नहीं होता? हम वेदका अर्थ ग्रहण कर

रत्नप्रभा

नियतमस्ति इति वक्ष्यते। देहान्तरप्राप्तौ तेन युक्तो गच्छति परलोकमित्यर्थः। कथं तस्य महतो जीवात् परत्वम् इति आशङ्क्य द्वितीयसूत्रं व्याचष्टे—तदधीनत्वाच्चेति। अर्थवत् इति सूत्रस्थदृष्टान्तम् आह—यथेति। तद्व्याख्यानं दूषयति—तैरिति। अव्यक्तपदबलात् प्रकृतमपि स्थूलं त्यज्यते इति शङ्कते—आम्नातस्येति। एकार्थबोधकानां शब्दानां मिथ आकाङ्क्षया

रत्नप्रभाका अनुवाद

सूक्ष्मशरीर अवश्य रहता है, ऐसा कहेंगे। देहान्तरकी प्राप्ति होनेपर जीव उससे युक्त होकर परलोक जाता है, ऐसा सूत्रका अर्थ है। महत् जीवसे पर किस प्रकार है, ऐसी आशंका करके दूसरे सूत्रका व्याख्यान करते हैं—"तदधीनत्वाच्च" इत्यादिसे। सूत्रस्थ 'अर्थवद्' इस दृष्टान्तको कहते हैं—"यथा" इत्यादिसे। वृत्तिकारके मतका निराकरण करते हैं—"तैः" इत्यादिसे। अव्यक्तपदके बलसे प्रकृत स्थूल शरीरका भी त्याग होता है, ऐसी शंका करते हैं—"आम्नातस्य" इत्यादिसे।

भाष्य

पर्यनुयोक्तुम्, आम्नातं चाऽव्यक्तपदं सूक्ष्ममेव प्रतिपादयितुं शक्नोति नेतरद् व्यक्तत्वात् तस्येति चेत्, न; एकवाक्यताधीनत्वादर्थप्रतिपत्तेः। नहीमे पूर्वोत्तरे आम्नाते एकवाक्यतामनापद्य कञ्चिदर्थं प्रतिपादयतः, प्रकृतहानाप्रकृतप्रक्रियाप्रसङ्गात्। न चाऽऽकाङ्क्षामन्तरेणैकवाक्यताप्रतिपत्तिरस्ति, तत्राऽविशिष्टायां शरीरद्वयस्य ग्राह्यत्वाकाङ्क्षायां यथाकाङ्क्षं सम्बन्धेऽनभ्युपगम्यमान एकवाक्यतैव बाधिता भवति, कुत आम्नातस्यार्थप्रतिपत्तिः।

भाष्यका अनुवाद

सकते हैं, उसपर आक्षेप नहीं कर सकते, वेदोक्त अव्यक्तशब्द सूक्ष्मका ही बोध करा सकता है, स्थूलका बोध नहीं करा सकता, क्योंकि वह व्यक्त है, ऐसा यदि कहो तो यह कथन युक्त नहीं है, क्योंकि अर्थबोध एकवाक्यताके अधीन है। ये दोनों पूर्व और उत्तर वाक्य एकवाक्यता प्राप्त किये बिना किसी भी अर्थका बोध नहीं करा सकते, अन्यथा प्रकृतकी हानि और अप्रकृत प्रक्रियाकी प्राप्ति होगी। और आकांक्षाके बिना एकवाक्यताका बोध नहीं हो सकता, ऐसी स्थितिमें दोनों शरीरोंकी ग्राह्यत्वाकांक्षा समान होनेसे आकांक्षाके अनुसार संबन्धका स्वीकार न करें तो एकवाक्यताका ही बाध हो जायगा, फिर वेदवाक्यके अर्थका बोध

रत्नप्रभा

एकस्यां बुद्धौ आरूढत्वम्—एकवाक्यता, तव मते तस्या अभावात् कुतोऽर्थबोध इति समाधत्ते—नेति। तां विनाऽपि अर्थधीः किं न स्यादित्यत आह—नहीति। शरीरशब्देन रूढ्या स्थूलं प्रकृतम्, तस्य हानिः, अप्रकृतस्य भूतसूक्ष्मस्य अव्यक्तपदेन ग्रहणमन्याय्यं स्यादित्यर्थः। अस्तु एकवाक्यता इत्यत आह—न चेति। ततः किं तत्राऽऽह—तत्रेति। आकाङ्क्षया वाक्यैकवाक्यत्वे सति प्रकृतं शरीरद्वयमव्यक्तपदेन ग्राह्यम्, आकाङ्क्षायास्तुल्यत्वादिति भावः। अनात्मनिश्चयः

रत्नप्रभाका अनुवाद

एक अर्थका बोध करानेवाले शब्दोंका परस्पर आकांक्षासे एक बुद्धिमें आरूढ होना एकवाक्यता है, तुम्हारे मतमें एकवाक्यताका अभाव होनेसे अर्थबोध किस प्रकार होगा अर्थात् नहीं हो सकता है, ऐसा समाधान करते हैं—"न" इत्यादिसे। उसके विना भी अर्थज्ञान क्यों नहीं होगा, इसपर कहते हैं—"नहि" इत्यादि। शरीरशब्दसे रूढिद्वारा स्थूल शरीर प्रकृत है, उसकी हानि होगी और अप्रकृत जो भूतोंके अवयव हैं, उनका अव्यक्तपदसे ग्रहण अनुचित होगा अर्थात् इस प्रकार प्रकृतकी हानि और अप्रकृतके ग्रहण करनेका प्रसंग आवेगा। तब यहां भी एकवाक्यता हो, इसपर कहते हैं—"न च" इत्यादि। आकांक्षासे वाक्योंकी एक-

भाष्य

न चैवं मन्तव्यम्–दुःशोधत्वात् सूक्ष्मस्यैव शरीरस्येह ग्रहणम्, स्थूलस्य तु दृष्टबीभत्सतया सुशोधत्वादग्रहणम् इति। यतो नैवेह शोधनं कस्यचिद् विवक्ष्यते। नह्यत्र शोधनविधायि किञ्चिदाख्यातमस्ति, अनन्तरनिर्दिष्टत्वाच्च किं तद्विष्णोः परमं पदमितीदमिह विवक्ष्यते। तथा हीदमस्मात् परमिद-

भाष्यका अनुवाद

ही कहांसे होगा। ऐसा मानना कि सूक्ष्म शरीरका शोधन दुष्कर होनेसे उसीका यहां ग्रहण है और स्थूल शरीरकी तो बीभत्सता देखनेमें आती है, इसलिये शोधन सुकर होनेसे उसका ग्रहण नहीं है, यह ठीक नहीं है, क्योंकि यहां किसी के शोधनकी विवक्षा नहीं है, क्योंकि शोधनका विधान करनेवाला यहां कोई क्रियापद नहीं है। विष्णुका परम पद क्या है, यह पीछेसे निर्दिष्ट होनेसे उसीकी

रत्नप्रभा

शुद्धिः, तदर्थं सूक्ष्ममेव आकाङ्क्षितं ग्राह्यम्; सूक्ष्मत्वेन आत्माभेदेन गृहीतस्य दुश्शोधत्वात्। स्थूलस्य दृष्टदौर्गन्ध्यादिना लशुनादिवदनात्मत्वधीवैराग्ययोः सुलभत्वादिति शङ्कते—**न चैवमिति**। दृष्टा बीभत्सा घृणा यस्मिंस्तस्य भावः तत्ता तयेत्यर्थः। दूषयति—**यत इति**। वैराग्याय शुद्धिरत्र न विवक्षिता, विध्यभावात्, किन्तु वैष्णवं परमं पदं विवक्षितमिति तद्दर्शनार्थं प्रकृतं स्थूलमेव अव्यक्तपदेन ग्राह्यमिति भावः। किञ्च, सूक्ष्मस्य लिङ्गान्तःपातिन इन्द्रियादिग्रहणे-

रत्नप्रभाका अनुवाद

वाक्यता होती है, इसलिए प्रकृत दोनों शरीरोंका अव्यक्त पदसे ग्रहण करना चाहिए, क्योंकि दोनोंमें आकांक्षा समान है, ऐसा तात्पर्य है। अनात्मनिश्चय शुद्धि अर्थात् शोधन है, उसके लिए सूक्ष्म शरीरकी ही आकांक्षा है, अतः उसीका ग्रहण करना चाहिए, क्योंकि वह सूक्ष्म है, अतः आत्माके साथ उसका अभिन्नरूपसे ग्रहण होनेके कारण उसका शोधन करना मुश्किल है। स्थूल शरीरमें दुर्गन्ध आदि देखनेमें आते हैं, इसलिए लहसुन आदिके समान उसमें अनात्मनिश्चय और वैराग्य सुलभ है, ऐसी शंका करते हैं—"न चैवम्" इत्यादिसे। शंकाका निराकरण करते हैं—"यतः" इत्यादिसे। वैराग्यके लिए शुद्धि—अनात्मत्वनिश्चयकी यहां विवक्षा नहीं है, क्योंकि उसका कोई विधान नहीं है, किन्तु विष्णुके परम पदकी विवक्षा है, इसलिए उसको दिखानेके लिए प्रकृत स्थूल शरीरका ही अव्यक्तपदसे ग्रहण है। लिंगके अन्तर्भूत सूक्ष्म शरीरका इन्द्रिय आदिके ग्रहणसे ही ग्रहण होनेके कारण अव्यक्त और शरीर

भाष्य

मसात् परमित्युक्त्वा 'पुरुषान्न परं किञ्चित्' इत्याह । सर्वथापि त्वानुमानिकनिराकरणोपपत्तेस्तथा नामाऽस्तु, न नः किञ्चिच्छिद्यते ॥ ३ ॥

भाष्यका अनुवाद

यहां विवक्षा है, क्योंकि यह इससे पर है, यह इससे पर है, ऐसा कहकर 'पुरुषान्न०' (पुरुषसे कुछ पर नहीं) ऐसा श्रुति कहती है। सब प्रकारसे अनुमाननिरूपित प्रधानका निराकरण उपपन्न होता हो, तो भले ऐसा हो, इससे हमारी कुछ भी हानि नहीं है ॥ ३ ॥

रत्नप्रभा

नैव ग्रहणात् न पृथगव्यक्तशरीरपदाभ्यां ग्रहः । अभ्युपेत्याऽऽह—सर्वथेति । स्थूलस्य सूक्ष्मस्य वा ग्रहेऽपि इत्यर्थः । तथा नामेति । सूक्ष्ममेव अव्यक्तमस्तु इत्यर्थः ॥ ३ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

पदसे उसका पृथक् ग्रहण नहीं होता । भले सूक्ष्म शरीर ही शोधन करने योग्य हो, तो भी सांख्याभिमत प्रधान यहांपर नहीं है, ऐसा स्वीकारपूर्वक कहते हैं—"सर्वथा" इत्यादिसे । अर्थात् स्थूल या सूक्ष्मका ग्रहण करें, तो भी । "तथा नाम"—तुम्हारी इच्छासे अव्यक्तशब्दसे सूक्ष्मका ही ग्रहण हो ॥ ३ ॥

ज्ञेयत्वावचनाच्च ॥ ४ ॥

पदच्छेद—ज्ञेयत्वावचनात्, च ।

पदार्थोक्ति—ज्ञेयत्वावचनात्—अव्यक्तस्य ज्ञेयत्वानभिधानाद्, च—अपि [न अत्र अव्यक्तं प्रधानम्] ।

भाषार्थ—इस प्रकरणमें अव्यक्तको ज्ञेय नहीं कहा है, इससे भी स्पष्ट है कि इस श्रुतिमें उक्त अव्यक्तशब्द प्रधानका वाचक नहीं है ।

भाष्य

ज्ञेयत्वेन च सांख्यैः प्रधानं स्मर्यते गुणपुरुषान्तरज्ञानात् कैवल्यमिति वदद्भिः, नहि गुणस्वरूपमज्ञात्वा गुणेभ्यः पुरुषस्याऽन्तरं शक्यं ज्ञातुमिति। क्वचिच्च विभूतिविशेषप्राप्तये प्रधानं ज्ञेयमिति स्मरन्ति। न चेदमिहाऽव्यक्तं ज्ञेयत्वेनोच्यते, पदमात्रं ह्यव्यक्तशब्दः, नेहाऽव्यक्तं ज्ञातव्यमुपासितव्यं चेति वाक्यमस्ति। न चाऽनुपदिष्टं पदार्थज्ञानं पुरुषार्थमिति शक्यं

भाष्यका अनुवाद

गुण और पुरुषके भेदके ज्ञानसे मोक्ष होता है, ऐसा कहते हुए सांख्य प्रधानका ज्ञेयरूपसे स्मरण करते हैं, क्योंकि गुणोंका स्वरूप जाने विना गुणोंसे पुरुषका भेद नहीं जाना जा सकता। और विशिष्ट विभूति—शक्ति प्राप्त करनेके लिए प्रधान ज्ञेय है, ऐसा भी कहीं-कहीं कहते हैं। परन्तु यहाँ अव्यक्तशब्द केवल एक पद है। अव्यक्तका ज्ञान प्राप्त करना चाहिए या उसकी उपासना करनी चाहिए, ऐसा वाक्य नहीं है। और अनुपदिष्ट—उपदेश न किये हुए

रत्नप्रभा

अत्र अव्यक्तं प्रधानं न इत्यत्र हेत्वन्तरार्थं सूत्रम्—ज्ञेयत्वेति। सत्त्वादिगुणरूपात् प्रधानात् पुरुषस्य अन्तरम्—भेदः तज्ज्ञानादित्यर्थः। 'नहि शक्यम्' इति च वदद्भिः प्रधानं ज्ञेयत्वेन स्मर्यते इति सम्बन्धः। न केवलं भेदप्रतियोगित्वेन प्रधानस्य ज्ञेयत्वं तैरिष्टम्, किन्तु तस्य उपासनयाऽणिमादिप्राप्तयेऽपि इत्याह—**क्वचिच्चेति**। ज्ञानविध्यभावेऽपि अव्यक्तपदजन्यज्ञानगम्यत्वम् आर्थिकं ज्ञेयत्वमस्ति इत्यत आह—**न चानुपदिष्टमिति**। उपदिष्टं हि ज्ञानं फलवदिति ज्ञातुं शक्यम्, निष्फलस्योपदेशायोगाद् अव्यक्तस्य च ज्ञानानुपदेशात् सफलज्ञानगम्यत्वासिद्धिः

रत्नप्रभाका अनुवाद

अव्यक्त प्रधान नहीं है, इस विषयमें दूसरे हेतुका प्रदर्शन करनेके लिए "ज्ञेयत्व" इत्यादि सूत्र है। सत्त्व आदि गुणरूप प्रधानसे पुरुष भिन्न है, इस ज्ञानसे, ऐसा अर्थ है। 'ज्ञेयत्वेन सांख्यैः' इत्यादि भाष्यमें 'नहि शक्यं······स्मर्यते' ऐसा संबन्ध समझना चाहिए। प्रधान केवल पुरुषसे भिन्नरूपसे ज्ञेय है, इतना ही मात्र सांख्य नहीं मानते, किन्तु प्रधानकी उपासनासे अणिमा आदिकी प्राप्ति होती है, इससे भी उसको ज्ञेयरूपसे मानते हैं, ऐसा कहते हैं—"क्वचिच्च" इत्यादिसे। यद्यपि ज्ञानका विधान नहीं है, तो भी अव्यक्तपदजन्य ज्ञानसे आर्थिक ज्ञेयत्व जाना जाता है, इस शंकाका निराकरण करते हैं—"न चानुपदिष्टम्" इत्यादिसे। उपदिष्ट ज्ञान ही फलयुक्त है, इसलिए उसका ज्ञान प्राप्त हो सकता है, क्योंकि फलरहितका उपदेश अयुक्त है। अव्यक्तका ज्ञेयरूपसे उपदेश नहीं है, इसलिए वह फलवान

भाष्य

प्रतिपत्तुम् । तस्मादपि नाऽव्यक्तशब्देन प्रधानमभिधीयते । अस्माकं तु रथरूपकक्लृप्तशरीराद्यनुसरणेन विष्णोरेव परमं पदं दर्शयितुमयमुपन्यास इत्यनवद्यम् ॥ ४ ॥

भाष्यका अनुवाद

पदार्थका ज्ञान पुरुषार्थ—पुरुषोपयोगी है, ऐसा नहीं कह सकते । इससे भी अव्यक्तशब्दसे प्रधानका अभिधान नहीं है । हमारे मतमें तो रथके सादृश्यसे कल्पित शरीर आदिके आश्रयण द्वारा विष्णुका ही परम पद दिखलानेके लिए यह उपन्यास—कथन है, इस प्रकार कोई दोष नहीं है ॥ ४ ॥

रत्नप्रभा

इत्यर्थः । फलितमाह—तस्मादिति । सांख्येष्टसफलज्ञानगम्यत्वावचनाच्च इत्यर्थः । ननु शरीरस्याऽपि ज्ञेयत्वानुक्तेः कथमिह ग्रहणम्, तत्राह—अस्माकं त्विति । अस्मन्मते विष्ण्वाख्यपदस्य एकस्यैव ज्ञेयत्वात् तद्दर्शनार्थम् अव्यक्तपदेन शरीरोपन्यासो युक्त इत्यर्थः । साधारणशब्दमात्रात् न प्रधानस्य प्रत्यभिज्ञा, स्मार्तलिङ्गस्य अनुक्त्या नियामकाभावाद् इति तात्पर्यम् ॥ ४ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

ज्ञानगम्य हो, यह सिद्ध नहीं होता । फलित कहते हैं—"तस्माद्" इत्यादिसे । अर्थात् सांख्याभिमत सफलज्ञानगम्यत्वका कथन न होनेसे । परन्तु शरीर भी तो ज्ञेयरूपसे नहीं कहा गया, उसका यहां ग्रहण किस प्रकार होता है ? इसपर कहते हैं—"अस्माकं तु" इत्यादि । हमारे मतमें केवल विष्णुसंज्ञक पद ज्ञेय है, इसलिए उसके दर्शनके लिए अव्यक्तपदसे शरीरका उपन्यास युक्त है, ऐसा अर्थ है । साधारण शब्दमात्रसे प्रधानका प्रत्यभिज्ञान नहीं होता, क्योंकि स्मार्त (अव्यक्त) का लिंग नहीं कहा गया इसलिए कुछ नियामक नहीं है, ऐसा तात्पर्य है ॥ ४ ॥

वदतीति चेन्न प्राज्ञो हि प्रकरणात् ॥ ५ ॥

पदच्छेद—वदति, इति, चेत्, न, प्राज्ञः, हि, प्रकरणात् ।

पदार्थोक्ति—वदति—'महतः परं ध्रुवं निचाय्य' इत्युत्तरवाक्यं प्रधानं ज्ञेयत्वेन वदति, इति चेत्, न, प्राज्ञो हि—परमात्मैव निचाय्यत्वेनोक्तः [कुतः] प्रकरणात्—'पुरुषान्न परं किञ्चित्' इत्यात्मप्रकरणात् ।

भाषार्थ—'महतः परं०' (महत्से उत्कृष्ट अविनाशीको जानकर) यह अग्रिमवाक्य प्रधानको ज्ञेय कहता है–यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि 'पुरुषान्न०' (पुरुषसे श्रेष्ठ कोई नहीं है) इस प्रकार आत्माका प्रकरण होनेसे परमात्मा ही उक्त वाक्यमें ज्ञेय कहा गया है ।

भाष्य

अत्राह सांख्यः—'ज्ञेयत्वावचनात्' इत्यसिद्धम्, कथम्? श्रूयते ह्युत्तरत्राऽव्यक्तशब्दोदितस्य प्रधानस्य ज्ञेयत्ववचनम्—

'अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथाऽरसं नित्यमगन्धवच्च यत्।
अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं निचाय्य तं मृत्युमुखात् प्रमुच्यते ॥'

(का० २।३।१५) इति। अत्र हि यादृशं शब्दादिहीनं प्रधानं महतः परं स्मृतौ निरूपितं तादृशमेव निचाय्यत्वेन निर्दिष्टम्, तस्मात् प्रधानमेवेदम्, तदेव चाऽव्यक्तशब्दनिर्दिष्टमिति।

अत्र ब्रूमः—नेह प्रधानं निचाय्यत्वेन निर्दिष्टम्, प्राज्ञो हीह परमात्मा निचाय्यत्वेन निर्दिष्ट इति गम्यते। कुतः? प्रकरणात्। प्राज्ञस्य हि प्रकरणं विततं वर्तते, 'पुरुषान्न परं किंचित् सा काष्ठा सा परा गतिः'

भाष्यका अनुवाद

यहां सांख्य कहते हैं—'ज्ञेयत्वावचनात्' यह हेतु असिद्ध है। क्योंकि 'अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं०' (शब्दरहित, स्पर्शरहित, रूपरहित, अव्यय, रसरहित, गन्धरहित, नित्य, अनादि, अनन्त, महत्से पर तथा अविनाशी तत्त्वका ज्ञान प्राप्त करके मृत्युके मुखसे छुटकारा पा जाता है) इस उत्तर वाक्यमें अव्यक्तशब्दसे प्रतिपादित प्रधानका ज्ञेयत्वरूपसे निर्देश है। जैसा शब्दादिहीन प्रधान महत्से पर स्मृतिमें निरूपित है, वैसा ही यहां ज्ञेयरूपसे निर्दिष्ट हुआ है, इसलिए यह प्रधान ही है और वही अव्यक्तशब्दसे निर्दिष्ट है।

यहां हम कहते हैं—प्रतीत होता है कि यहां प्रधान ज्ञेयरूपसे निर्दिष्ट नहीं है, किन्तु प्राज्ञ परमात्मा ही ज्ञेयरूपसे निर्दिष्ट है। किससे? प्रकरणसे। प्राज्ञका ही प्रकरण चला हुआ है, क्योंकि 'पुरुषान्न परं०' (पुरुषसे श्रेष्ठ कुछ नहीं है, वह परम सीमा है वह परम गति है) इत्यादि निर्देश है। 'एष

रत्नप्रभा

लिङ्गोक्तिमाशङ्क्य निषेधति—वदतीति। अत्र हि तादृशमेव निर्दिष्टमिति अन्वयः। स्पष्टम् अन्यत् ॥ ५ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

पूर्व कथित 'ज्ञेयत्वावचनात्' लिङ्ग असिद्ध है, ऐसी आशङ्का करके उसका निराकरण करते हैं—"वदति" इत्यादिसे। 'अत्र······निर्दिष्टम्' (यहां उस प्रकारका प्रधान ही निर्दिष्ट है) ऐसा अन्वय है। शेष भाष्य सरल है ॥ ५ ॥

भाष्य

इत्यादिनिर्देशात्। 'एष सर्वेषु भूतेषु गूढोत्मा न प्रकाशते' इति च दुर्ज्ञानत्ववचनेन तस्यैव ज्ञेयत्वाकाङ्क्षणात्। 'यच्छेद्वाङ्मनसी प्राज्ञः' इति च तज्ज्ञानायैव वागादिसंयमस्य विहितत्वात्, मृत्युमुखप्रमोक्षणफलत्वाच्च। नहि प्रधानमात्रं निचाय्य मृत्युमुखात् प्रमुच्यत इति साङ्ख्यैरिष्यते। चेतनात्मविज्ञानाद्धि मृत्युमुखात् प्रमुच्यते इति तेषामभ्युपगमः। सर्वेषु वेदान्तेषु प्राज्ञस्यवाऽऽत्मनोऽशब्दादिधर्मत्वमभिलप्यते। तस्मान्न प्रधानस्याऽत्र ज्ञेयत्वमव्यक्तशब्दनिर्दिष्टत्वं वा ॥ ५ ॥

भाष्यका अनुवाद

सर्वेषु०' (सब भूतोंमें गूढ यह आत्मा प्रकाशित नहीं होता) इस प्रकार दुर्ज्ञेय कहा गया है, इससे वही ज्ञेय है, ऐसी आकांक्षा है। 'यच्छेद्वाङ्मनसी०' (प्राज्ञ वाणीका मनमें लय करे) इस प्रकार उसको जाननेके लिये ही वाणी आदिके संयमका विधान किया है और मृत्युके मुखसे छुटकारा पाना उसका फल है। केवल प्रधानकी अवगतिसे मृत्युके मुखसे छुटकारा पाना सांख्य नहीं मानते हैं, किन्तु चेतन आत्माके विज्ञानसे मृत्युके मुखसे मुक्त होता है, ऐसा वे स्वीकार करते हैं। सब वेदान्तोंमें प्राज्ञ आत्माके ही अशब्दत्व आदि धर्मोंका निर्देश है। इसलिए यहां प्रधान न ज्ञेय है और न अव्यक्तशब्दसे निर्दिष्ट ही है ॥ ५ ॥

त्रयाणामेव चैवमुपन्यासः प्रश्नश्च ॥ ६ ॥

पदच्छेद—त्रयाणाम्, एव, च, एवम्, उपन्यासः, प्रश्नः, च।

पदार्थोक्ति—एवम्—पूर्वोत्तरवाक्यपर्यालोचनया, त्रयाणामेव—अग्निजीवपरमात्मनामेव, उपन्यासः—वक्तव्यत्वेनोपन्यासः, प्रश्नश्च—अग्निजीवपरमात्मविषयक एव प्रश्नोऽपि [दृश्यते, अतः न अव्यक्तं प्रधानम्]।

भाषार्थ—पूर्व और उत्तर वाक्योंके पर्यालोचनसे यही प्रतीत होता है कि अग्नि, जीव और परमात्माका ही वक्तव्यरूपसे निर्देश है और प्रश्न भी उन्हीं तीनके विषयमें है, इससे सिद्ध होता है कि श्रुतिमें प्रधान अव्यक्तशब्दवाच्य नहीं है।

भाष्य

इतश्च न प्रधानस्याऽव्यक्तशब्दवाच्यत्वं ज्ञेयत्वं वा । यस्मात् त्रयाणामेव पदार्थानामग्निजीवपरमात्मनामस्मिन् ग्रन्थे कठवल्लीषु वरप्रदानसामर्थ्याद् वक्तव्यतयोपन्यासो दृश्यते, तद्विषय एव च प्रश्नः, नाऽतोऽन्यस्य प्रश्न उपन्यासो वाऽस्ति । तत्र तावत्—

'स त्वमग्निं स्वर्ग्यमध्येषि मृत्यो प्रब्रूहि तं श्रद्दधानाय मह्यम् ।'
(का० १।१।१३) इत्यग्निविषयः प्रश्नः ।

'येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्येऽस्तीत्येके नायमस्तीति चैके ।
एतद्विद्यामनुशिष्टस्त्वयाहं वराणामेष वरस्तृतीयः ॥'

भाष्यका अनुवाद

और इससे भी प्रधान अव्यक्तशब्दवाच्य अथवा ज्ञेय नहीं है, क्योंकि वरप्रदान सामर्थ्यसे कठवल्लीमें वक्तव्यरूपसे अग्नि, जीव, परमात्मा, इन तीन पदार्थोंका ही उपन्यास दिखाई देता है और उन्हींके विषयमें प्रश्न है, इससे अन्यका उपन्यास या प्रश्न नहीं है। उनमें 'स त्वमग्निं स्वर्ग्यमध्येषि०' (हे मृत्यो ! तुम स्वर्गके साधनभूत अग्निको जानते हो, अतः श्रद्धालु जो मैं हूँ, मुझको उसका उपदेश दो) यह अग्निके बारेमें प्रश्न है। 'येऽयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्ये०' (मृतक मनुष्यके बारेमें जो यह संशय होता है, कुछ लोग कहते हैं कि 'है' और कितने ही कहते हैं कि 'नहीं है' तुमसे अनुशासनको प्राप्त हुआ मैं इस विद्याको जानना चाहता हूँ, वरोंमें यह तीसरा वर है) यह

रत्नप्रभा

किञ्चाऽत्र कठवल्ल्यां प्रधानस्य प्रश्नोत्तरयोः असत्त्वात् न ग्रहणमित्याह—त्रयाणामिति । मृत्युना नचिकेतसं प्रति त्रीन् वरान् वृणीष्व इत्युक्तेः त्रयाणामेव प्रश्नो नचिकेतसा कृतः, उपन्यासश्च मृत्युना कृतः नाऽन्यस्य इत्यर्थः । प्रश्नत्रयं क्रमेण पठति—तत्र तावदिति । हे मृत्यो ! स मह्यं दत्तवरः त्वं स्वर्गहेतुम् अग्निं स्मरसि, प्रेते मृते देहाद् अन्योऽस्ति न वेति संशयोऽस्ति, अतः एतद् आत्मतत्त्वं

रत्नप्रभाका अनुवाद

दूसरी बात यह भी है कि कठवल्लीमें न प्रधानका प्रश्न है और न उत्तर है, इससे भी प्रधानका ग्रहण नहीं हो सकता, ऐसा कहते हैं—"त्रयाणाम्" इत्यादिसे । मृत्युने नचिकेतासे कहा कि तीन वर मांगो, इसलिए नचिकेताने तीन ही के विषयमें प्रश्न किया और मृत्युने भी तीन ही प्रश्नोंका उत्तर दिया, अन्यका नहीं, ऐसा अर्थ है । तीनों प्रश्नोंको क्रमसे कहते हैं—"तत्र तावद्" इत्यादिसे । मुझे वरदान देनेवाले हे मृत्यो ! स्वर्गहेतु अग्निको तुम जानते हो, मरणा-

भाष्य

(का० १।१।२०) इति जीवविषयः प्रश्नः ।

'अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मादन्यत्रास्मात् कृताकृतात् ।
अन्यत्र भूताच्च भव्याच्च यत्तत्पश्यसि तद्वद ॥'

(का० १।२।१४) इति परमात्मविषयः । प्रतिवचनमपि—

'लोकादिमग्निं तमुवाच तस्मै या इष्टका यावतीर्वा यथा वा ।'

(का० १।१।१५) इत्यग्निविषयम् ।

'हन्त त इदं प्रवक्ष्यामि गुह्यं ब्रह्म सनातनम् ।
यथा च मरणं प्राप्य आत्मा भवति गौतम ।

भाष्यका अनुवाद

जीवके बारेमें प्रश्न है। 'अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मा०' (धर्मसे अन्य, अधर्मसे अन्य, कार्य और कारणसे अन्य, भूत, भविष्यत् एवं वर्तमानसे अन्य जिसको आप देखते हैं उसे कहिए) यह परमात्माके बारेमें प्रश्न है। प्रतिवचन भी 'लोकादिमग्निं तमुवाच०' (मृत्युने लोककी कारणभूत उस अग्निका नचिकेताको उपदेश दिया और यह भी कहा कि चयनके लिए किस प्रकारकी एवं कितनी ईंटें चाहिएँ और अग्निका चयन किस प्रकार करना चाहिए) यह अग्निके बारेमें प्रश्न है। 'हन्त त इदं प्रवक्ष्यामि०' (मैं तुमसे गुह्य, सनातन ब्रह्म फिरसे कहूँगा, जिसके ज्ञानसे सब संसारका उपरम हो जाता है और जिसके अज्ञानसे मरणानन्तर आत्मा जिस तरह संसारमें आता है,

रत्नप्रभा

सन्दिग्धं जानीयामित्यर्थः । क्रमेण उत्तरत्रयमाह—प्रतिवचनमपीति । लोकहेतु-विराडात्मना उपास्यत्वात् लोकादिः चित्योऽग्निः तं मृत्युरुवाच नचिकेतसे, याः स्वरूपतः यावतीः संख्यातः यथा वा क्रमेण अग्निः चीयते तत्सर्वमुवाच इत्यर्थः । हन्त इदानीं ब्रह्म वक्ष्यामि इति ब्रह्मवाक्येन जीवप्रश्नाद् व्यवहितमपि "यथा च मरणं प्राप्य" इत्यादिवाक्यं जीवविषयम् उत्तरयोग्यत्वादित्यर्थः । वाक्यार्थस्तु

रत्नप्रभाका अनुवाद

नन्तर देहसे भिन्न आत्मा रहता है या नहीं, ऐसा संशय है, इसलिए मैं इस सन्दिग्ध आत्मतत्त्वको जानना चाहता हूँ, यह अर्थ है। अनुक्रमसे तीनोंके उत्तर कहते हैं—"प्रतिवचनमपि" इत्यादिसे। लोकादि—लोकके कारणभूत विराट्रूपसे उपास्य होनेके कारण अग्नि लोकहेतु कही गई है। उस चित्य अग्निको मृत्युने नचिकेतासे कहा जैसी और जितनी [ईंटोंकी अपेक्षा होती है] और जिस क्रमसे अग्निका चयन होता है, वह सब कहा, ऐसा अर्थ है। 'हन्तेदानीं ब्रह्म वक्ष्यामि' इस ब्रह्मवाक्यसे व्यवहित होनेपर भी 'यथा च मरणं०' इत्यादि

भाष्य

योनिमन्ये प्रपद्यन्ते शरीरत्वाय देहिनः ।

स्थाणुमन्येऽनुसंयन्ति यथाकर्म यथाश्रुतम् ॥' (का० २।५।६,७) इति व्यवहितं जीवविषयम् । न जायते म्रियते वा विपश्चित्' (का० १।२।१८) इत्यादि बहुप्रपञ्चं परमात्मविषयम् । नैवं प्रधानविषयः प्रश्नोऽस्ति, अपृष्टत्वादनुपन्यसनीयत्वं तस्येति ।

अत्राह—योऽयमात्मविषयः प्रश्नो 'येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्येऽस्ति' इति, किं स एवायम् 'अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मात्' इति पुनरनुकृष्यते, किं वा ततोऽन्योऽयमपूर्वः प्रश्न उत्थाप्यत इति । किं चाऽतः ? स एवायं प्रश्नः

भाष्यका अनुवाद

हे गौतम उसे सुनो, कर्म और विज्ञानके अनुसार कुछ देही शरीरग्रहण करनेके लिए योनिको प्राप्त होते हैं और कुछ स्थावर हो जाते हैं) इस प्रकार व्यवधानसे जीवके बारेमें प्रतिवचन है। 'न जायते म्रियते०' (विद्वान् न जन्म लेता है और न मरता ही है) इत्यादि विस्तारसे परमात्माके बारेमें प्रतिवचन है। इस प्रकार प्रधानके बारेमें प्रश्न नहीं है और प्रश्नाभावसे प्रधानका उपन्यास भी नहीं हो सकता।

यहां पूर्वपक्षी कहता है—'येयं प्रेते विचिकित्सा०' यह जो आत्माके बारेमें प्रश्न है, उसीकी अनुवृत्ति फिरसे 'अन्यत्र धर्मा०' इत्यादिमें है, या उससे

रत्नप्रभा

आत्मा मरणं प्राप्य यथा भवति तथा वक्ष्यामि इति । प्रतिज्ञातं [जीवप्रश्नस्य उत्तरम्] आह—योनिमिति । चराचरदेहप्राप्तौ निमित्तमाह—यथेति । श्रुतम् उपासनम् । सूत्रे आद्यः चकारो यत इत्यर्थे । एवं च त्रयाणाम् एव उपन्यासः प्रश्नश्च यतः, अतो न प्रधानम् अव्यक्तम्, इति सूत्रयोजना ।

उक्तार्थं सूत्रमाक्षिपति—अत्राहेति । एकः प्रश्नः द्वौ प्रश्नौ वेति पक्षद्वये

रत्नप्रभाका अनुवाद

वाक्य जीवप्रश्नविषयक है, क्योंकि यही जीवप्रश्नका योग्य उत्तर है। मरनेके बाद आत्माका क्या होता है, वह कहूँगा, ऐसा वाक्यार्थ है। प्रतिज्ञात विषयको कहते हैं—"योनिम्" इत्यादिसे। चर और अचर देहप्राप्तिका निमित्त कहते हैं—"यथा" इत्यादिसे। श्रुतम्—उपासना। सूत्रमें प्रथम चकार हेत्वर्थक है। चूँकि तीन ही वस्तुओंके उपन्यास और प्रश्न हैं, इससे अव्यक्त प्रधानवाचक नहीं है, ऐसी योजना करनी चाहिए।

यहाँ पूर्वपक्षीकी शंका कहते हैं—"अत्राह" इत्यादिसे। एक प्रश्न है या दो प्रश्न हैं इस

भाष्य

पुनरनुकृष्यत इति यद्युच्येत, तदा द्वयोरात्मविषययोः प्रश्नयोरेकतापत्तेरग्निविषय आत्मविषयश्च द्वावेव प्रश्नावित्यतो न वक्तव्यं त्रयाणां प्रश्नोपन्यासाविति। अथान्योऽयमपूर्वः प्रश्न उत्थाप्यत इत्युच्येत, ततो यथैव वरप्रदानव्यतिरेकेण प्रश्नकल्पनायामदोषः, एवं प्रश्नव्यतिरेकेणाऽपि प्रधानोपन्यासकल्पनायामदोषः स्यादिति।

अत्रोच्यते। नैवं वयमिह वरप्रदानव्यतिरेकेण प्रश्नं कंचित् कल्पयामः, वाक्योपक्रमसामर्थ्यात्। वरप्रदानोपक्रमा हि मृत्युनचिकेतःसंवादरूपा

भाष्यका अनुवाद

दूसरा ही यह अपूर्व प्रश्न उठाया जाता है? इससे प्रकृतमें क्या आया? यदि उसी प्रश्नकी अनुवृत्ति होती है, ऐसा कहो, तो आत्माओंके बारेमें किये गये दोनों प्रश्नोंमें भेद होनेसे एक अग्निके विषयमें और दूसरा आत्माके विषयमें, इस प्रकार दो ही प्रश्न होते हैं, अतः तीन पदार्थोंके विषयमें प्रश्न और उत्तर है, ऐसा कहना युक्त नहीं है। यह दूसरा ही अपूर्व प्रश्न उठाया गया है, ऐसा यदि कहो तो, जैसे वरदानसे अतिरिक्त प्रश्नकी कल्पना करनेमें दोष नहीं है, वैसे ही प्रश्न न होनेपर भी प्रधानके उपन्यासकी कल्पना करनेमें कोई दोष नहीं है।

इसपर सिद्धान्ती कहते हैं—यहां हम इस प्रकार वरदानसे अतिरिक्त किसी भी प्रश्नकी कल्पना नहीं करते, क्योंकि वाक्यका उपक्रम ऐसा ही है। निश्चय वरदानसे लेकर कठवल्लीकी समाप्ति तक मृत्यु और नचिकेताकी संवाद-

रत्नप्रभा

फलितं पृच्छति—किञ्चाऽत इति। सप्तम्यर्थे तसिः। अत्र च पक्षद्वयेऽपि किम् इत्यर्थः। प्रश्नैक्ये सूत्रासङ्गतिः, भेदे प्रधानस्य श्रौतत्वसिद्धिः इति पूर्ववादी आह—स एवेत्यादिना।

प्रश्नैक्यपक्षमादाय सिद्धान्ती आह—अत्रोच्यत इति। येन प्रधानसिद्धिः स्यादिति शेषः। चतुर्थप्रश्नकल्पने वरत्रित्वोपक्रमविरोधः स्यादिति विवृणोति—

रत्नप्रभाका अनुवाद

आक्षेपका फलित पूछते हैं—"किञ्चातः" से। 'तसिः' सप्तमीके अर्थमें है। दोनों पक्षोंमें क्या दोष है? ऐसा अर्थ है। यदि एक प्रश्न हो, तो सूत्र असंगत होता है और यदि दो प्रश्न हों, तो प्रधान श्रौत है, ऐसा सिद्ध होता है, ऐसा पूर्वपक्षी कहता है—"स एव" इत्यादिसे।

एक ही प्रश्न है, इस पक्षको लेकर सिद्धान्ती पूर्वपक्षका परिहार करते हैं—"अत्रोच्यते" इत्यादिसे। 'कल्पयामि' के बाद 'येन प्रधानसिद्धिः स्यात्' (जिससे प्रधानकी सिद्धि हो) इतना

भाष्य

वाक्यप्रवृत्तिरा समाप्तेः कठवल्लीनां लक्ष्यते। मृत्युः किल नचिकेतसे पित्रा प्रहिताय त्रीन् वरान् प्रददौ, नचिकेताः किल तेषां प्रथमेन वरेण पितुः सौमनस्यं वव्रे, द्वितीयेनाऽग्निविद्याम्, तृतीयेनाऽऽत्मविद्याम्, 'येयं प्रेते' इति 'वराणामेष वरस्तृतीयः' (का० १।१।२०) इति लिङ्गात्। तत्र 'यद्यन्यत्र धर्माद्' इत्यन्योऽयमपूर्वः प्रश्न उत्थाप्येत, ततो वरप्रदानव्यतिरेकेणाऽपि प्रश्नकल्पनाद् वाक्यं बाध्येत। ननु प्रष्टव्यभेदादपूर्वोऽयं

भाष्यका अनुवाद

रूप वाक्यप्रवृत्ति देखी जाती है। श्रुति है कि पिताके भेजे हुए नचिकेताको मृत्युने तीन वर दिये। उनमेंसे पहले वरसे नचिकेताने पिताकी प्रसन्नता मांगी, दूसरेसे अग्निविद्या और तीसरेसे आत्मविद्या, क्योंकि 'येयं प्रेते' और 'वराणमेष०' ये लिङ्ग हैं। उनमें 'अन्यत्र धर्मात्' इत्यादिसे यह दूसरा अपूर्व प्रश्न उठाया जाय, तो वरदानसे अतिरिक्त प्रश्नकी कल्पनासे वाक्यका बाध हो जायगा। परन्तु प्रष्टव्य पदार्थका भेद होनेसे यह प्रश्न अपूर्व है।

रत्नप्रभा

वरेत्यादिना। वरप्रदानम् उपक्रमे यस्याः सा। प्रहिताय यमलोकं प्रति प्रेषिताय, इतः पुनः मर्त्यलोकं प्राप्तस्य मम पिता यथापूर्वं सुमनाः स्यादिति प्रथमं वव्रे। ननु द्वितीयवरो जीवविद्या, तृतीयो ब्रह्मविद्या इति प्रश्नभेदः किं न स्यादित्यत आह—**येयमिति**। "प्रेते" [कठ० १।२०] इति उपक्रम्य तृतीयत्वोक्तिलिङ्गाद् जीवात्मविद्यैव तृतीयो वर इत्यर्थः। एवं वाक्योपक्रमे सति प्रश्नान्तरं न युक्तमित्याह—**तत्रेति**। मरणधर्माद्यस्पर्शलिङ्गाभ्यां प्रष्टव्ययोः जीवेश्वरयोः भेदात् प्रश्नभेदसिद्धेः

रत्नप्रभाका अनुवाद

शेष समझना चाहिए। चतुर्थ प्रश्नकी कल्पना करनेसे तीन वरदानोंके उपक्रमका विरोध होगा, ऐसा विवरण करते हैं—"वर" इत्यादिसे। जिस वाक्यप्रवृत्तिके आरम्भमें वरदानका कथन है, वह 'वरदानोपक्रमा' कहलाती है। 'प्रहिताय'—यमलोकमें भेजा हुआ। यहाँसे जब मैं मर्त्यलोकमें जाऊँ, तब पूर्वके समान मेरे पिता मेरे ऊपर प्रसन्न रहें, यह प्रथम वर माँगा। परन्तु दूसरा वर जीवविद्या विषयक है और तीसरा वर ब्रह्मविद्याविषयक है, ऐसा प्रश्नभेद क्यों न हो, इसपर कहते हैं—"येयम्" इत्यादिसे। 'प्रेते' ऐसा उपक्रम करके 'तृतीयः' ऐसा कहा है, इससे प्रतीत होता है कि तीसरा वर जीवात्मविद्याविषयक ही है। इस प्रकार वाक्यका उपक्रम होनेसे प्रश्नान्तर युक्त नहीं है, ऐसा कहते हैं—"तत्र" इत्यादिसे। मरण और धर्माद्यस्पर्श इन दो लिंगोंसे प्रश्नविषय जीव और ईश्वरमें भेद होनेसे प्रश्नभेद सिद्ध होता है,

भाष्य

प्रश्नो भवितुमर्हति, पूर्वो हि प्रश्नो जीवविषयः, येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्येऽस्ति नास्ति इति विचिकित्साभिधानात्। जीवश्च धर्मादिगोचरत्वान्नाऽन्यत्र धर्मादिति प्रश्नमर्हति। प्राज्ञस्तु धर्माद्यतीतत्वादन्यत्र धर्मादिति प्रश्नमर्हति। प्रश्नच्छाया च न समाना लक्ष्यते, पूर्वस्यास्तित्वनास्तित्वविषयत्वादुत्तरस्य धर्माद्यतीतवस्तुविषयत्वाच्च। तस्मात् प्रत्यभिज्ञानाभावात् प्रश्नभेदः, न पूर्वस्यैवोत्तरत्राऽनुकर्षणमिति चेत्, न; जीवप्राज्ञयोरेकत्वाभ्युपगमात्। भवेत् प्रष्टव्यभेदात् प्रश्नभेदो यद्यन्यो जीवः प्राज्ञात् स्यात्, न त्वन्यत्वमस्ति 'तत्त्वमसि' इत्यादिश्रुत्यन्तरेभ्यः। इह चाऽन्यत्र

भाष्यका अनुवाद

पूर्व प्रश्न जीवके विषयमें है, क्योंकि 'मृत मनुष्यके विषयमें 'है या नहीं' ऐसी जो शंका होती है' इस प्रकार संशय किया गया है। जीव धर्म आदिका आश्रय होनेसे 'अन्यत्र धर्मात्' इस प्रश्नके योग्य नहीं है। प्राज्ञ तो धर्म आदिसे अतिक्रान्त होनेसे 'अन्यत्र धर्मात्' इस प्रश्नके योग्य है। और प्रश्नसादृश्य भी नहीं दीखता, क्योंकि पूर्व प्रश्नका विषय है—'है या नहीं' और उत्तर प्रश्नका विषय है—'धर्म आदिसे अतिक्रान्त वस्तु'। इसलिए प्रत्यभिज्ञाके अभावसे प्रश्नोंमें परस्पर भेद है और पूर्व प्रश्नकी उत्तर वाक्यमें अनुवृत्ति नहीं है, ऐसा कहो, तो यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि जीव और प्राज्ञ एक हैं, ऐसा स्वीकार किया है। यदि प्राज्ञसे जीव भिन्न हो, तो प्रष्टव्यके भेदसे प्रश्नभेद हो जायगा, परन्तु भेद नहीं है, क्योंकि 'तत्त्वमसि'

रत्नप्रभा

वाक्यबाधो युक्त इति शङ्कते—नन्वित्यादिना। गोचरत्वाद्–आश्रयत्वात्। न केवलं प्रष्टव्यभेदात् प्रश्नभेदः, किन्तु प्रश्नवाक्ययोः सादृश्याभावादपि इत्याह—प्रश्नच्छायेति। प्रष्टव्यभेदोऽसिद्ध इति परिहरति—नेत्यादिना। किञ्च, ब्रह्मप्रश्ने जन्मादिनिषेधेन जीवस्वरूपं वदन् यमः तयोः ऐक्यं सूचयति इत्याह—

रत्नप्रभाका अनुवाद

अतः वाक्यबाध युक्त है, ऐसी शंका करते हैं—"ननु" इत्यादिसे। 'गोचर'—आश्रय। केवल प्रष्टव्यभेदसे ही प्रश्नभेद नहीं है, किन्तु प्रश्नवाक्योंमें सादृश्य न होनेसे भी भेद है, ऐसा कहते हैं—"प्रश्नच्छाया" इत्यादिसे। प्रष्टव्यभेद असिद्ध है, इस प्रकार शंकाका परिहार करते हैं—"न" इत्यादिसे। और ब्रह्मप्रश्नके उत्तरमें जन्म आदिके निषेधसे जीवका स्वरूप कहकर यम जीव और परमात्माका ऐक्य सूचित करता है, ऐसा कहते हैं—"इह चान्यत्र" इत्यादिसे।

भाष्य

धर्मादित्यस्य प्रश्नस्य प्रतिवचनम् 'न जायते म्रियते वा विपश्चित्' इति जन्ममरणप्रतिषेधेन प्रतिपाद्यमानं शारीरपरमेश्वरयोरभेदं दर्शयति। सति हि प्रसङ्गे प्रतिषेधो भागी भवति। प्रसङ्गश्च जन्ममरणयोः शरीरसंस्पर्शाच्छारीरस्य भवति न परमेश्वरस्य। तथा—

'स्वप्नान्तं जागरितान्तं चोभौ येनानुपश्यति।

महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति ॥' (का० २।४।४)

इति स्वप्नजागरितदृशो जीवस्यैव महत्त्वविभुत्वविशेषणस्य मननेन शोकविच्छेदं दर्शयन्न प्राज्ञादन्यो जीव इति दर्शयति। प्राज्ञविज्ञानाद्धि

भाष्यका अनुवाद

इत्यादि दूसरी श्रुतियां हैं। यहां भी 'अन्यत्र धर्मात्' इत्यादि प्रश्नका 'न जायते म्रियते०' इस प्रकार जन्म-मरणके प्रतिषेधसे वस्तुका प्रतिपादन करनेवाला प्रतिवचन जीव और परमेश्वरका अभेद दिखलाता है। प्राप्ति होनेपर ही प्रतिषेध संगत होता है। और शरीरके संसर्गसे शारीरको जन्म-मरणकी प्राप्ति होती है, परमेश्वरको नहीं होती। उसी प्रकार 'स्वप्नान्तं जागरितान्तं चोभौ०' (जिससे स्वप्न और जाग्रत् दोनों अवस्थाओंको देखता है, उस महान् विभु आत्माका चिन्तन करके धीर पुरुष शोक नहीं करता) इस प्रकार स्वप्न और जागरित अवस्थाओंको देखनेवाले महत्त्व और विभुत्वविशिष्ट जीवके चिन्तनसे ही शोकका विच्छेद दिखलाता हुआ यम प्राज्ञसे जीवका अभेद

रत्नप्रभा

इह चाऽन्यत्रेति। तन्निषेधवाक्ये जीवोक्तिः असिद्धा इत्यत आह—सतीति। भागी—युक्तः। तस्मात् अविद्यया जीवस्य प्राप्तजन्मादिनिषेधेन स्वरूपम् उक्तम् इत्यर्थः। किञ्च, जीवो ब्रह्माभिन्नः, मोक्षहेतुज्ञानविषयत्वाद्, ब्रह्मवत्, इत्याह—तथा स्वप्नेति। अन्तः—अवस्था। येन साक्षिणा प्रमाता पश्यति तमात्मानम् इति सम्बन्धः। हेतोः अप्रयोजकत्वमाशङ्क्य 'तमेव विदित्वा' इत्यादिश्रुतिविरोधमाह—

रत्नप्रभाका अनुवाद

जन्म आदिका निषेध करनेवाले वाक्यमें जीवका कथन सिद्ध नहीं हो सकता, इसपर कहते हैं—"सति" इत्यादि। भागी—युक्त। इसलिए अविद्यासे जीवको प्राप्त हुए जन्म आदिके निषेधसे उसका स्वरूप कहा गया है, ऐसा अर्थ है। और जीव ब्रह्मसे अभिन्न है, मोक्षके हेतु ज्ञानका विषय होनेसे, ब्रह्मके समान, ऐसा कहते हैं—"तथा स्वप्न" इत्यादिसे। 'अन्तः'—अवस्था। जिस साक्षीसे प्रमाता देखता है, उस साक्षीको आत्मा समझकर, ऐसा संबन्ध है। हेतु

भाष्य

शोकविच्छेद इति वेदान्तसिद्धान्तः । तथाग्रे—

'यदेवेह तदमुत्र यदमुत्र तदन्विह ।

मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति ॥'(का० २।४।१०)

इति जीवप्राज्ञभेददृष्टिमपवदति । तथा जीवविषयस्याऽस्तित्वनास्तित्व-प्रश्नस्याऽनन्तरम् 'अन्यं वरं नचिकेतो वृणीष्व' इत्यारभ्य मृत्युना तैस्तैः कामैः प्रलोभ्यमानोऽपि नचिकेता यदा न चचाल, तदैनं मृत्युरभ्युदयनिः-

भाष्यका अनुवाद

दिखलाता है। प्राज्ञके विज्ञानसे ही शोकका विच्छेद होता है, ऐसा वेदान्त-का सिद्धान्त है। उसी प्रकार आगे 'यदेवेह तदमुत्र०' (जो यहां—देहमें है, वह वहां आदित्य आदिमें है, जो वहां है वह यहां है, जो इसमें मिथ्या भेद देखता है, वह जन्ममरण-परम्पराको प्राप्त होता है) इस प्रकार श्रुति जीव और प्राज्ञ में भेददृष्टिका निषेध करती है। इसी प्रकार जीवविषयक 'अस्तित्व-नास्तित्व' (है या नहीं) प्रश्नके अनन्तर 'अन्यं वरं०' हे नचिकेता! तुम अन्य वर मांगो) ऐसा आरम्भ करके मृत्यु द्वारा अनेक कामनाओंसे अत्यन्त प्रलोभित होता हुआ भी नचिकेता जब विचलित नहीं हुआ, तब मृत्युने अभ्युदय और

रत्नप्रभा

प्राज्ञेति। किञ्च, अभेदम् उक्त्वा भेदस्य निन्दितत्वात् अभेद एव सत्य इत्याह—तथेति। इह देहे यत् चैतन्यं तदेव अमुत्र सूर्यादौ, एवम् इह अखण्डैकरसे ब्रह्मणि यो नानेव मिथ्याभेदं पश्यति, सः—भेददर्शी मरणात् मरणं प्राप्नोति संसारभयात् न मुच्यते इत्यर्थः। किञ्च, जीवप्रश्नानन्तरम् "तं दुर्दर्शम्" इति यदुत्तरमुवाच तेनापि उत्तरेणाऽभेदो गम्यते इति सम्बन्धः। प्रष्टृप्रश्नयोः प्रशंसयाऽपि लिङ्गेन पृष्टस्य जीवस्य दौर्लभ्यत्वद्योतनाद् ब्रह्मत्वसिद्धिरित्याह—अन्यं वरमित्यादिना। 'पुत्रा-

रत्नप्रभाका अनुवाद

अप्रयोजक है, ऐसी आशंका करके 'तमेव०' इत्यादि श्रुतिका विरोध दिखलाते हैं—"प्राज्ञ" इत्यादिसे। और अभेद कहकर भेदकी निन्दा की है, इसलिए अभेद ही सत्य है, ऐसा कहते हैं—"तथा" इत्यादिसे। जो चैतन्य यहाँ इस देहमें है, वही अमुत्र सूर्यादिमें है, इस प्रकार अखण्ड एकरस ब्रह्ममें जो मिथ्याभेद देखता है, वह भेददर्शी मृत्युसे मृत्यु अर्थात् पुनः पुनः जन्ममरणप्रवाहपरम्पराको प्राप्त होता है, संसारभयसे मुक्त नहीं होता, ऐसा अर्थ है। इसमें जीवप्रश्नके अतिरिक्त अनन्तर 'तं दुर्दर्शं०' ऐसा जो उत्तर दिया है, इस उत्तरसे भी अभेद गम्य होता है, ऐसा संबन्ध है। और प्रश्नकर्ता और प्रश्नकी प्रशंसारूप लिंगसे पृष्ट वस्तु जीव दुर्लभ है, ऐसा प्रतीत होनेसे भी ब्रह्मत्व सिद्ध होता है, ऐसा कहते

भाष्य

श्रेयसविभागप्रदर्शनेन विद्याविद्याविभागप्रदर्शनेन च 'विद्याभीप्सिनं नचिकेतसं मन्ये न त्वा कामा बहवोऽलोलुपन्त' (का० १।२।४) इति प्रश्नस्य प्रश्नमपि तदीयं प्रशंसन् यदुवाच—

'तं दुर्दर्शं गूढमनुप्रविष्टं गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम् ।
अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति ॥'

भाष्यका अनुवाद

मोक्षका विभाग दिखला कर और विस्तारपूर्वक विद्या और अविद्याका भी विभाग दिखला कर 'विद्याभीप्सिनं०' (हे नचिकेता ! मुझे दृढ़ विश्वास है कि तुम परमार्थतः विद्याप्राप्तिके इच्छुक हो, तुमको अनेक कामनाएँ भी नहीं लुभा सकीं) इस प्रकार प्रशंसा करके उसके प्रश्नकी भी प्रशंसा करते हुए 'तं दुर्दर्शं गूढमनु०' (दुर्विज्ञेय, गूढ—मायामें प्रविष्ट, गुहा—बुद्धिमें स्थित, गह्वर-अनेक अनर्थोंसे व्याप्त देहमें स्थित, चिरन्तन आत्माका, अध्यात्मयोगप्राप्तिद्वारा मनन करके धीर

रत्नप्रभा

दिकं वृणीष्व, इत्युक्तेऽपि विषयान् तुच्छीकृत्य आत्मज्ञानात् न चचाल "नान्यं तस्मान्नचिकेता वृणीते" [क० ।१।२०] इति श्रवणात् । तदा सन्तुष्टो यमः "अन्यच्छ्रेयोऽन्यदुतैव प्रेयः" [क० २।१] इति भोगापवर्गमार्गयोः वैलक्षण्यं प्रतिज्ञाय "दूरमेते विपरीते विषूची अविद्या या च विद्या" [क० २।४] इति दर्शितवानित्यर्थः । प्रेयः-प्रियतमं स्वर्गादिकम्, विषूची—विरुद्धफले, अविद्या-कर्म, विद्या—तत्त्वधीः । विद्याभीप्सिनं विद्यार्थिनं त्वामहं मन्ये, यतः त्वा—त्वां बहवोऽपि कामाः पुत्रादयो मया दीयमाना दुर्लभा अपि न अलोलुपन्त लोभवन्तं न कृतवन्त इति प्रष्टारं स्तुत्वा प्रश्नमपि "त्वादृङ् नो भूयान्नचिकेतः प्रष्टा" [क० २।९] इति स्तुवन्

रत्नप्रभाका अनुवाद

हैं—"अन्यं वरम्" इत्यादिसे । 'पुत्रादिकं०' (पुत्र आदि मांगो) ऐसा कहने पर विषयोंको तुच्छ मानकर आत्मज्ञानसे नचिकेता विचलित नहीं हुआ, क्योंकि 'नान्यं तस्मा०' (यमसे नचिकेताने दूसरा कोई वर नहीं माँगा) ऐसी श्रुति है । उसके बाद यमने संतुष्ट होकर 'अन्यच्छ्रेयो०' (श्रेयमार्ग अन्य है और प्रेयमार्ग अन्य है) इस प्रकार भोगमार्ग और अपवर्गमार्ग विलक्षण है, ऐसी प्रतिज्ञा कर 'दूरमेते विपरीते०' (अविद्या और विद्या इन दोनोंमें बहुत अन्तर है, ये दोनों विपरीत हैं अर्थात् भिन्नफलदायक हैं) ऐसा समझाया है 'प्रेयः'—प्रियतम स्वर्ग आदि, 'विषूची'—विरुद्धफलवाले, 'अविद्या'—कर्म, विद्या'—तत्त्वज्ञान' 'विद्याभीप्सिनं'—मैं तुमको वस्तुतः विद्याको चाहनेवाला समझता हूँ, क्योंकि मुझसे दिये जाते हुए दुर्लभ पुत्र आदि बहुतसे पदार्थोंने तुमको नहीं लुभाया, इस प्रकार प्रश्न

भाष्य

(का० १।२।१२) इति, तेनापि जीवप्राज्ञयोरभेद एवेह विवक्षित इति गम्यते। यत्प्रश्ननिमित्तां च प्रशंसां महतीं मृत्योः प्रत्यपद्यत नचिकेता यदि तं विहाय प्रशंसानन्तरमन्यमेव प्रश्नमुपक्षिपेदस्थान एव सा सर्वा प्रशंसा प्रसारिता स्यात्, तस्मात् 'येयं प्रेते' इत्यस्यैव प्रश्नस्यैतदनुकर्षणम् 'अन्यत्र धर्मात्' इति। यत्तु प्रश्नच्छायावैलक्षण्यमुक्तं तददूषणम्, तदीयस्यैव विशेषस्य पुनः पृच्छ्यमानत्वात्। पूर्वत्र हि देहादिव्यतिरिक्तस्याऽऽत्मनोऽस्तित्वं पृष्टमुत्तरत्र तु तस्यैवाऽसंसारित्वं पृच्छ्यत इति। यावद्ध्य-

भाष्यका अनुवाद

पुरुष हर्ष और शोकका त्याग करता है) ऐसा जो कहा है, इससे भी प्रतीत होता है कि जीव और प्राज्ञका अभेद ही यहां विवक्षित है। जिस प्रश्नके कारण मृत्युने नचिकेताकी महती प्रशंसा की, उस प्रश्नको छोड़कर प्रशंसाके अनन्तर अन्य ही प्रश्नका उपक्षेप करे तो सब प्रशंसा कुजगहमें की जानेके कारण व्यर्थ ही हो जायगी, इसलिये 'येयं प्रेते०' इसी प्रश्नकी 'अन्यत्र धर्मात्' इत्यादिमें यह अनुवृत्ति है। दोनों प्रश्नोंमें सादृश्य न होनेके कारण प्रश्न विलक्षण हैं, ऐसा जो कहा गया है, वह दोष नहीं है, क्योंकि उसीका विशेष फिरसे पूछा गया है। पूर्व वाक्यमें देह आदिसे अतिरिक्त आत्माका अस्तित्व पूछा गया है और उत्तर वाक्यमें उसीका असंसारित्व पूछा गया है। इसलिए

रत्नप्रभा

इत्यक्षरार्थः। इयं प्रशंसा प्रश्नभेदपक्षे न घटते इत्याह—यत्प्रश्नेति। यत्प्रश्नेन स्तुतिं लब्धवान् तं प्रश्नं विहाय यदि अन्यदेव उत्थापयेत् तर्हि अनवसरे स्तुतिः कृता स्यादित्यर्थः। तस्मादिति। प्रष्टव्यभेदाभावादित्यर्थः। प्रश्नवाक्यव्यक्त्योः सादृश्याभावात् प्रश्नभेद इत्युक्तं निरस्यति—यत्त्वित्यादिना। धर्माद्याश्रयस्य जीवस्य ब्रह्मत्वं कथम्, इत्यत आह—यावदिति। अविद्यानाशानन्तरं ब्रह्मत्वं चेत् आग·

रत्नप्रभाका अनुवाद

पूछनेवाले नचिकेताकी प्रशंसा करके 'त्वादृङ् नो भूया०' (तुम्हारे सदृश पूछनेवाला हमें कोई शिष्य मिले,) ऐसी उसके प्रश्नकी भी प्रशंसा करते हुए यमने कहा, ऐसा अक्षरार्थ है। प्रश्नभेदपक्षमें यह प्रशंसा संगत न होगी, ऐसा कहते हैं—"यत्प्रश्न" इत्यादिसे। जिस प्रश्नसे प्रशंसा पाई उस प्रश्नको छोड़कर यदि दूसरा ही प्रश्न उठावे, तो वह स्तुति बेमौकेकी ही होगी, ऐसा अर्थ है। "तस्माद्"—प्रष्टव्यका भेद होनेसे। प्रश्नवाक्यव्यक्तियोंमें सादृश्य न होनेसे प्रश्नभेद है, ऐसा जो कहा है, उसका निराकरण करते हैं—"यत्तु" इत्यादिसे। धर्म आदिका आश्रय जीव ब्रह्म किस प्रकार है, इसपर कहते हैं—"यावद्" इत्यादि। परन्तु

भाष्य

विद्या न निवर्तते तावद्धर्मादिगोचरत्वं जीवस्य जीवत्वं च न निवर्तते। तन्निवृत्तौ तु प्राज्ञ एव 'तत्त्वमसि' इति श्रुत्या प्रत्याय्यते। न चाऽविद्यावत्त्वे तदपगमे च वस्तुनः कश्चिद्विशेषोऽस्ति। यथा कश्चित्संतमसे पतितां कांचिद्रज्जुमहिं मन्यमानस्ततो भीतो वेपमानः पलायते, तं चाऽपरो ब्रूयाद् मा भैषीर्नायमही रज्जुरेवेति। स च तदुपश्रुत्याऽहिकृतं भयमुत्सृजेद्वेपथुं पलायनं च, न त्वहिबुद्धिकाले तदपगमकाले च वस्तुनः कश्चिद्विशेषः स्यात्, तथैवैतदपि द्रष्टव्यम्। ततश्च 'न जायते म्रियते वा'

भाष्यका अनुवाद

जब तक अविद्या निवृत्त नहीं होती तब तक जीवमें धर्माद्याश्रयत्व और जीवत्व निवृत्त नहीं होते। अविद्याकी निवृत्ति होनेपर वह तो प्राज्ञ ही है, ऐसी 'तत्त्वमसि' इत्यादि श्रुतिसे प्रतीति करायी जाती है। और अविद्याके योगसे और अविद्याके नाशसे वस्तुमें कुछ भी विशेषता नहीं होती। जैसे गाढ़ अन्धकारमें पड़ी हुई किसी रज्जुको सर्प समझकर मनुष्य भयसे कांपता हुआ भागता है, उससे यदि कोई कहे कि मत डरो यह सर्प नहीं है, किन्तु रज्जु है और वह उसे सुनकर सर्पज्ञानजन्य भयसे मुक्त हो जाता है और कांपना तथा भागना छोड़ देता है। परन्तु जब वह उसमें सर्पबुद्धि रखता है और जब वह बुद्धि जाती रहती है, दोनों अवस्थाओंमें वस्तुमें कुछ विशेषता नहीं आती, उसी प्रकार यहाँ भी समझना चाहिए। इसलिए

रत्नप्रभा

न्तुकम् अनित्यं च स्यादित्यत आह—न चाऽविद्यावत्त्व इति। जीवस्य ब्रह्मत्वे स्वाभाविके सति ब्रह्मप्रश्नस्य यदुत्तरं तद् जीवप्रश्नस्याऽपि भवतीति लाभं दर्शयति—"ततश्च न जायते" इति। जीवब्रह्मैक्ये त्रयाणामिति सूत्रं कथम्? इत्यत आह—सूत्रं त्विति। कल्पितभेदात् प्रश्नभेदकल्पना इत्याह—ततश्चेति। परमात्मनः

रत्नप्रभाका अनुवाद

अविद्याके नाश होनेपर यदि जीव ब्रह्मत्व प्राप्त करे, तो वह ब्रह्मत्व आगन्तुक और अनित्य हो जायगा, इसपर कहते हैं—"न चाविद्यावत्त्वे" इत्यादि। जीवका ब्रह्मत्व स्वाभाविक है, इसलिए ब्रह्मप्रश्नका जो उत्तर है, वह जीव प्रश्नका भी है, ऐसा लाभ दिखलाते हैं—"ततश्च न जायते" इत्यादिसे। जीव और ब्रह्म अभिन्न हैं, तो सूत्रमें 'त्रयाणाम्' क्यों कहा है, इसपर कहते हैं—"सूत्रं तु" इत्यादि। कल्पितभेदसे प्रश्नभेदकी कल्पना करनी चाहिए,

भाष्य

इत्येवमाद्यपि भवत्यस्तित्वप्रश्नस्य प्रतिवचनम्। सूत्रं त्वविद्याकल्पितजीवप्राज्ञभेदापेक्षया योजयितव्यम्। एकत्वेऽपि ह्यात्मविषयस्य प्रश्नस्य प्रायणावस्थायां देहव्यतिरिक्तास्तित्वमात्रविचिकित्सनात् कर्तृत्वादिसंसारस्वभावानपोहनाच्च पूर्वस्य पर्यायस्य जीवविषयत्वमुत्प्रेक्ष्यते, उत्तरस्य तु धर्माद्यत्ययसंकीर्तनात् प्राज्ञविषयत्वमिति। ततश्च युक्ताऽग्निजीवपरमात्मकल्पना। प्रधानकल्पनायां तु न वरप्रदानं न प्रश्नो न प्रतिवचनमिति वैषम्यम् ॥ ६ ॥

भाष्यका अनुवाद

'न जायते०' इत्यादि भी अस्तित्व नास्तित्वका प्रतिवचन है। अविद्यासे कल्पित जीव और प्राज्ञके भेदकी अपेक्षासे सूत्रकी योजना करनी चाहिए। यद्यपि आत्मविषयक प्रश्न एक ही है, तो भी मरणावस्थामें देहसे व्यतिरिक्तके अस्तित्वमात्रका संशय होता है और कर्तृत्व आदि सांसारिकताका निषेध नहीं होता, इसलिए पूर्व पर्याय जीवविषयक माना जाता है। उत्तर पर्यायमें तो धर्म आदिके राहित्यका प्रतिपादन है, इससे वह प्राज्ञविषयक है। इसलिए अग्नि, जीव और परमात्माकी कल्पना युक्त है। प्रधानकी कल्पनामें तो न वरदान है, न प्रश्न है और न प्रतिवचन है, इस प्रकार वैषम्य है ॥ ६ ॥

रत्नप्रभा

सकाशात् प्रधानस्य वैषम्यम् अनात्मत्वेन तृतीयवरान्तर्भावायोगादिति भावः ॥६॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

ऐसा कहते हैं—"ततश्च" इत्यादिसे। परमात्मासे प्रधान विषम है, क्योंकि अनात्मा होनेसे तीसरे वरदानमें इसका अन्तर्भाव नहीं होता, ऐसा तात्पर्य है ॥ ६ ॥

महद्वच्च ॥७॥

पदच्छेद—महद्वत्, च।

पदार्थोक्ति—महद्वच्च—यथा 'बुद्धेरात्मा महान् परः' इत्यत्र महच्छब्दो न साङ्ख्याभिमतद्वितीयतत्त्ववाची एवमेव वैदिकाव्यक्तशब्दोऽपि न प्रधानवाचकः।

भाषार्थ—'बुद्धेरात्मा०' (बुद्धिसे महान् आत्मा श्रेष्ठ है) इसमें पठित महत् शब्द जैसे सांख्याभिमत दूसरे तत्त्वका वाचक नहीं है, उसी प्रकार वैदिक अव्यक्त शब्द भी प्रधानका वाचक नहीं है।

भाष्य

यथा महच्छब्दः साङ्ख्यैः सत्तामात्रेऽपि प्रथमजे प्रयुक्तो न तमेव वैदिकेऽपि प्रयोगेऽभिधत्ते, 'बुद्धेरात्मा महान्परः' (का० १।३।१०), 'महान्तं विभुमात्मानम्' (का० १।२।२२), 'वेदाहमेतं पुरुषं महान्तम्' (श्वे० ३।८) इत्येवमादावात्मशब्दप्रयोगादिभ्यो हेतुभ्यः, तथाऽव्यक्तशब्दोऽपि न वैदिके प्रयोगे प्रधानमभिधातुमर्हति। अतश्च नास्त्यानुमानिकस्य शब्दवत्त्वम् ॥७॥

भाष्यका अनुवाद

जैसे सांख्याचार्योंसे सत्तामात्र, प्रथमोत्पन्न, महत्तत्व अर्थमें प्रयुक्त महत्शब्द 'बुद्धेरात्मा० (बुद्धिसे महान् आत्मा श्रेष्ठ है) 'महान्तं विभुमात्मानं०' (महान् विभु आत्माको) 'वेदाहमेतं पुरुषं०' (मैं उस महान् पुरुषको जानता हूँ) इत्यादिमें आत्मशब्दप्रयोग आदि हेतुओंसे वैदिक प्रयोगमें उसी अर्थका अभिधान नहीं करता, उसी प्रकार अव्यक्तशब्द भी वैदिक प्रयोगमें प्रधानका अभिधान नहीं कर सकता। इससे सिद्ध हुआ कि अनुमानसिद्ध प्रधान श्रुतिप्रतिपादित नहीं है ॥ ७ ॥

रत्नप्रभा

श्रौतः अव्यक्तशब्दो न सांख्यासाधारणतत्त्वगोचरः, वैदिकशब्दत्वात्, महच्छब्दवदित्याह—महद्वच्चेति। सूत्रं व्याचष्टे—यथेत्यादिना। न च आकाशादिशब्दे व्यभिचारः, आकाशादेः मतान्तरसाधारणत्वेन सांख्यासाधारणत्वासिद्धेः साध्यस्यापि सत्त्वादिति मन्तव्यम्। सत्तामात्रे सत्त्वप्रधानप्रकृते आद्यपरिणामे निर्विकल्पकबुद्धौ इत्यर्थः। "आत्मा महान्" [क० ३।१०] इत्यात्मशब्दप्रयोगात्, "तं मत्वा न शोचति" (क० २।२२) "तमसः परस्ताद्" [श्वे० १ ३।८) इत्यादिना शोकात्ययतमःपरत्वादिभ्यश्च महच्छब्दः सांख्यतत्त्वं नाऽभिधत्ते इति सम्बन्धः। अधिकरणार्थम् उपसंहरति—अतश्चेति ॥७॥(१)

रत्नप्रभाका अनुवाद

श्रुतिस्थ अव्यक्तशब्द सांख्यके असाधारण तत्त्वका प्रतिपादन नहीं करता, वैदिकशब्द होनेसे, महत्शब्दके समान, ऐसा कहते हैं—"महद्वच्च" इससे। सूत्रका व्याख्यान करते हैं—"यथा" इत्यादिसे। आकाश आदि शब्दोंमें उपर्युक्त अनुमानगत हेतुके व्यभिचारकी शंका नहीं करनी चाहिए, क्योंकि आकाश आदि सांख्यमतके असाधारण तत्त्व नहीं हैं क्योंकि अन्य तार्किक आदि भी उन्हें मानते हैं। अतः साध्य भी है। "सत्तामात्र" । सत्त्वगुण जिसमें प्रधान है उस प्रकृतिका जो आद्य परिणाम है वह महत् है, अर्थात् निर्विकल्पक बुद्धि। "आत्मा महान्" इस प्रकार आत्मशब्दका प्रयोग है। "तं मत्वा" (उस आत्माका चिन्तन करके शोकको प्राप्त नहीं होता) एवं "तमसः" (जो वह महान् पुरुष अन्धकारसे पर है, उसको मैं जानता हूँ) इस प्रकार शोकका नाश तथा अन्धकारसे परत्व कहा गया है—इन हेतुओंसे महत्शब्द सांख्यतत्त्वका अभिधान नहीं करता, ऐसा सम्बन्ध है। अधिकरणके अर्थका उपसंहार करते हैं—"अतश्च" इत्यादिसे ॥७॥

[२ चमसाधिकरण सू० ८-१०]

अजा हि साङ्ख्यप्रकृतिस्तेजोऽवन्नात्मिकाऽथवा ।
रजआदौ लोहितादिलक्ष्येऽसौ साङ्ख्यशास्त्रगा ॥१॥
लोहितादिप्रत्यभिज्ञा तेजोऽवन्नादिलक्षणाम् ।
प्रकृतिं गमयेच्छ्रौतीमजाक्लृप्तिर्मधुत्ववत् ॥२॥

[अधिकरणसार]

सन्देह—'अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णाम्' इस श्रुतिमें उक्त अजाशब्द सांख्याभिमत प्रकृतिका वाचक है अथवा तेज, जल और अन्नरूप प्रकृतिका ?

पूर्वपक्ष—लोहित, शुक्ल एवं कृष्ण शब्दोंसे रज, सत्त्व एवं तमोगुण लक्षित होते हैं, अतः सांख्यशास्त्रोक्त प्रकृति अजा है ।

सिद्धान्त—छान्दोग्यश्रुतिमें लोहित, शुक्ल और कृष्ण क्रमशः तेज, जल और अन्नके धर्म कहे गये हैं, यहां भी उन्हींकी प्रत्यभिज्ञा होती है, अतः उन धर्मोंसे युक्त तेज, जल और अन्नरूप प्रकृति ही प्रकृत श्रुतिमें अजाशब्दसे कही गई है। उक्त प्रकृतिमें अजात्वकी कल्पना आदित्यमें मधुत्वकी कल्पनाकी तरह है ।

---

* निष्कर्ष यह है कि श्वेताश्वतर उपनिषत्‌के चौथे अध्यायमें श्रुति है—'अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णाम्'। यहां संशय होता है कि अजाशब्दसे सांख्यशास्त्रमें कथित प्रधान विवक्षित है अथवा छान्दोग्यश्रुतिमें उक्त तेज, जल और अन्नरूप प्रकृति ?

पूर्वपक्षी कहता है कि अजाशब्दसे प्रधान अभिप्रेत है, क्योंकि वह अजा सत्त्व, रज एवं तमोगुणात्मक कही गई है। यद्यपि श्रुतिमें लाल, सफेद और काले वर्ण ही सुने जाते हैं, गुण नहीं सुने जाते तो भी लोहित आदि शब्दोंसे गुण लक्षित होते हैं। रागोत्पादकत्वरूप सादृश्यसे लोहितशब्दसे रजोगुण लक्षित होता है, स्वच्छत्वरूप सादृश्यसे शुक्लशब्दसे सत्त्वगुण लक्षित होता है, आवरकत्वरूप सादृश्यसे कृष्णपदसे तमोगुण लक्षित होता है। इस प्रकार सांख्याभिमत प्रधान अजाशब्दसे कहा गया है।

सिद्धान्ती कहते हैं कि 'यदग्ने रोहितं रूपं तेजसस्तद्रूपम्, यच्छुक्लं तदपाम्, यत्कृष्णं तदन्नस्य' (अग्निमें जो रक्तवर्ण है वह तेजका है, जो शुक्लवर्ण है वह जलका है और जो कृष्णवर्ण है वह अन्नका है) इस छान्दोग्य श्रुतिमें उक्त तेज, जल और अन्नरूप प्रकृतिके लोहित, शुक्ल और कृष्णरूपोंकी प्रत्यभिज्ञा प्रकृत श्रुतिमें होती है। स्मृतिप्रत्यभिज्ञाकी अपेक्षा श्रुतिप्रत्यभिज्ञा बलवती होती है। लोहित आदिशब्दोंके मुख्य अर्थका संभव है, इसलिए ज्ञात होता है कि तेज, जल और अन्नरूप प्रकृति ही अजाशब्दसे कही गई है। यद्यपि अजाशब्द बकरी का वाचक है, अतः उक्त प्रकृतिमें रूढ नहीं है और 'न जायते' (नहीं उत्पन्न होती) इस प्रकार व्युत्पत्ति भी नहीं हो सकती, क्योंकि तेज आदि ब्रह्मसे उत्पन्न होते हैं, तो भी उक्त प्रकृतिका अनायास बोध होनेके लिए उसमें छागत्वकी कल्पना होती है, जैसे कि 'असौ वा आदित्यो देवमधु' (आदित्य देवताओंका मधु है) इत्यादि वाक्यमें मधुसे भिन्न आदित्यमें मधुत्वकी कल्पना की गई है। इससे सिद्ध हुआ कि तेज, जल और अन्नरूप प्रकृति ही प्रकृत श्रुतिमें अजाशब्दसे कही गई है।

चमसवदविशेषात् ॥ ८ ॥

पदच्छेद—चमसवत्, अविशेषात् ।

पदार्थोक्ति—चमसवत्—यथा 'अर्वाग्बिलश्चमसः' इत्यादौ अयं चमस इत्यवधारणं न भवति कथंचिदर्वाग्बिलत्वादेरन्यत्राप्यविशेषात् एवम्, अविशेषात्—'अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णाम्' इति मंत्रेऽपि अजात्वादेरविशेषान्न प्रधाननिर्णयः, [अतः प्रधानमशब्दम्] ।

भाषार्थ—जैसे 'अर्वाग्बिल०' (जिसके अधोभागमें बिल है एवं ऊर्ध्वभागमें जो गोलाकार होता है, वह चमस है) इसमें 'यही चमस है' इस प्रकार विशेषरूपसे किसी पदार्थका निर्धारण नहीं होता है, क्योंकि अर्वाग्बिलत्व आदि साधारण धर्म हैं, वे अनेकमें रह सकते हैं, इसी प्रकार 'अजामेकाम्०' इस मंत्रमें भी अजात्व आदि धर्मोंके साधारण होनेसे प्रधानका निश्चय नहीं हो सकता । इसलिये प्रधान श्रुतिप्रतिपादित नहीं है ।

भाष्य

पुनरपि प्रधानवाद्यशब्दत्वं प्रधानस्याऽसिद्धमित्याह, कस्मात् ? मन्त्रवर्णात्—

भाष्यका अनुवाद

प्रधानवादी फिर भी कहता है कि प्रधानको अशब्द कहना असिद्ध है,

रत्नप्रभा

चमसवदविशेषात् । अत्राऽजापदं विषयः, तत् किं प्रधानपरं मायापरं वा इति रूढार्थासम्भवात् संशये पूर्वत्र अव्यक्तशब्दमात्रेण प्रधानस्य अप्रत्यभिज्ञायामपि अत्र त्रिगुणत्वादिलिङ्गोपेताद् अजापदात् प्रत्यभिज्ञाऽस्तीति प्रत्युदाहरणेन पूर्वपक्षयति—पुनरपीति । फलं पूर्वपक्षे ब्रह्मणि समन्वयासिद्धिः, सिद्धान्ते

रत्नप्रभाका अनुवाद

यहांपर 'अजा' पद विषय है, रूढ़ अर्थका संभव न होनेसे अजापद प्रधानपरक है या मायापरक ? ऐसा संशय होनेपर पूर्व अधिकरणमें केवल अव्यक्तपदसे प्रधानकी प्रत्यभिज्ञा भले न हुई हो परन्तु यहां तो त्रिगुणत्व आदि लिङ्गोंसे युक्त अजापदसे प्रधानकी प्रत्यभिज्ञा होगी इस प्रकार प्रत्युदाहरणसे पूर्वपक्ष करते हैं—"पुनरपि" इत्यादिसे । ब्रह्ममें वेदान्तवाक्योंके समन्वयकी असिद्धि पूर्वपक्षमें फल है और सिद्धान्तमें उसकी सिद्धि फल है ऐसा पूर्वके समान

भाष्य

'अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः ।
अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः ॥'
(श्वे० ४ । ५) इति । अत्र हि मन्त्रे लोहितशुक्लकृष्णशब्दै रजःसत्त्वतमांस्यभिधीयन्ते । लोहितं रजः, रञ्जनात्मकत्वात्; शुक्लं सत्त्वम्, प्रकाशात्मकत्वात्; कृष्णं तमः, आवरणात्मकत्वात् । तेषां साम्यावस्थाऽवयवधर्मैर्व्यपदिश्यते—लोहितशुक्लकृष्णेति । न जायत इति चाऽजा स्यात्, 'मूलप्रकृतिरविकृतिः' इत्यभ्युपगमात् । नन्वजाशब्दश्छागायां रूढः । बाढम् ।

भाष्यका अनुवाद

क्योंकि 'अजामेकां लोहित०' (त्रिगुणात्मक एवं समान बहुत-सी प्रजाओंको उत्पन्न करनेवाली एक अजाका सेवन करता हुआ एक अज उसके पास सोता है और दूसरा भोगनेके अनन्तर उसका परित्याग कर देता है) ऐसी श्रुति है । इस श्रुतिमें लोहित, शुक्ल और कृष्ण शब्दोंसे रज, सत्त्व और तमका अभिधान होता है । लोहित रागात्मक होनेसे रज है, शुक्ल प्रकाशात्मक होनेसे सत्त्व है और कृष्ण आवरणात्मक होनेसे तम है । लोहित, शुक्ल और कृष्ण इन अवयवधर्मोंसे उनकी साम्यावस्था कही जाती है । जिसका जन्म नहीं होता वह अजा है, क्योंकि 'मूलप्रकृतिरविकृतिः' (मूलप्रकृति उत्पन्न नहीं होती) ऐसा सांख्य लोग मानते हैं । अजाशब्द बकरीमें रूढ है, उससे प्रधानका ग्रहण कैसे होगा? अवश्य रूढ है,

---

रत्नप्रभा

तत्सिद्धिरिति पूर्ववद् द्रष्टव्यम् । रागहेतुत्वादिगुणयोगाद् लोहितादिशब्दै रजआदिगुणलाभेऽपि कथं प्रधानलाभः, तत्राह—तेषां साम्येति । अवयवाः प्रधानस्य रजआदयः तेषां धर्माः रञ्जकत्वादयः तैः निमित्तैः लोहितादिशब्दैः प्रधानमुच्यते इत्यर्थः । गुणाभेदात् प्रधानलाभ इति भावः । तत्र अजाशब्दं योजयति—नेति । 'रूढिर्योगमपहरति' इति न्यायेन शङ्कते—नन्विति । रूढ्यसम्भवाद् योग

रत्नप्रभाका अनुवाद

समझना चाहिए । रजोगुण रागका हेतु है, इसलिए उसका लोहितशब्दसे ग्रहण है । इसी प्रकार दूसरे गुणोंका ग्रहण है, परन्तु उससे प्रधानका लाभ किस प्रकार होता है ? इसपर कहते हैं—"तेषां साम्या" इत्यादिसे । गुणोंकी साम्यावस्था जो प्रधान है, उसके अवयव रज आदि हैं उनके धर्म रञ्जकत्व आदि हैं, इसलिए लोहित आदि शब्दोंसे प्रधानका अभिधान होता है । यहांके गुणोंसे प्रधानके अवयवोंमें भेद न होनेसे प्रधानका लाभ होता है—यह भाव है । इसमें अजाशब्दका यौगिक अर्थ कहते हैं—"न" इत्यादिसे । "रूढिर्योगमपहरति' (रूढि योगसे

भाष्य

सा तु रूढिरिह नाश्रयितुं शक्या, विद्याप्रकरणात् । सा च बह्वीः प्रजास्त्रैगुण्यान्विता जनयति, तां प्रकृतिमज एकः पुरुषो जुषमाणः प्रीयमाणः सेवमानो वाऽनुशेते । तामेवाऽविद्ययाऽऽत्मत्वेनोपगम्य सुखी दुःखी मूढोऽहमित्यविवेकितया संसरति, अन्यः पुनरजः पुरुष उत्पन्नविवेकज्ञानो विरक्तो जहात्येनां प्रकृतिं भुक्तभोगां कृतभोगापवर्गां परित्यजति मुच्यत इत्यर्थः । तस्माच्छ्रुतिमूलैव प्रधानादिकल्पना कापिलानामिति ।

एवं प्राप्ते ब्रूमः—नाऽनेन मन्त्रेण श्रुतिमत्त्वं सांख्यवादस्य शक्यमा-

भाष्यका अनुवाद

परन्तु उस रूढिका यहां ग्रहण नहीं कर सकते, क्योंकि यह विद्याका प्रकरण है। यह अजा तीनगुणवाली बहुत प्रजाओंको जन्म देती है। एक अज अर्थात् पुरुष उस प्रकृतिपर प्रेम रखता हुआ या उसका सेवन करता हुआ उसके पास शयन करता है। अर्थात् अविद्यासे उसीको आत्मा समझकर 'मैं दुःखी, सुखी एवं मूढ हूं' इस प्रकार अविवेकसे संसारचक्रमें पड़ता है। परन्तु जिसमें विवेक-ज्ञान उत्पन्न हो चुका ऐसा दूसरा विरक्त अज अर्थात् पुरुष जिसने भोग और अपवर्ग प्राप्तकर लिये हैं, इस प्रकृतिका परित्याग करता है अर्थात् मुक्त हो जाता है। इसलिए कपिलमतानुयायियोंकी प्रधान आदिकी कल्पना श्रुतिमूलक ही है।

ऐसा प्राप्त होनेपर सिद्धान्ती कहते हैं—इस मन्त्रसे सांख्यवाद श्रुति-

रत्नप्रभा

आश्रयणीय इत्याह—बाढमिति । अजाशब्दितप्रकृतित्वपुरुषभेदलिङ्गाभ्यामपि प्रधानप्रत्यभिज्ञा इत्याह—सा चेत्यादिना । प्रजायन्त इति प्रजाः—महदादयः । त्रैगुण्यम्—सुखदुःखमोहाः । अनुशयनं विवृणोति—तामेवाऽविद्ययेति । अविवेकेन इत्यर्थः । विषयधीः—भोगः, गुणभिन्नात्मख्यातिः—अपवर्गः । सिद्धान्तयति—एवं प्राप्ते इति । मायादौ अपि साधारणात् मन्त्राद्

रत्नप्रभाका अनुवाद

बलवत्तर है, इस न्यायसे शङ्का करते हैं—"ननु" इत्यादिसे । रूढिका सम्भव न होनेसे योगका आश्रयण करना चाहिए, ऐसा कहते हैं—"बाढम्" इत्यादिसे । अजाशब्दवाच्य प्रकृतित्व और पुरुषभेदरूप हेतुओंसे भी प्रधानकी प्रत्यभिज्ञा होती है, ऐसा कहते हैं—"सा च" इत्यादिसे । जो जन्म लें, वे प्रजा कहलाते हैं अर्थात् महत् आदि । तीन गुण—सुख, दुःख और मोह । 'अनुशेते' का व्याख्यान करते हैं—"तामेवाऽविद्यया" इत्यादिसे । शब्द आदि विषयोंकी उपलब्धि भोग है । गुणभिन्न आत्मख्याति अपवर्ग है । सिद्धान्त कहते हैं—"एवं प्राप्ते" इत्यादिसे । माया आदिमें

भाष्य

श्रयितुम् । नह्ययं मन्त्रः स्वातन्त्र्येण कंचिदपि वादं समर्थयितुमुत्सहते । सर्वत्रापि यया कयाचित् कल्पनयाऽजात्वादिसंपादनोपपत्तेः, साङ्ख्यवाद एवेहाऽभिप्रेत इति विशेषावधारणकारणाभावात् । चमसवत् । यथा हि 'अर्वाग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्नः' (बृ० २।२।३) इत्यस्मिन् मन्त्रे स्वातन्त्र्येणाऽयं नामाऽसौ चमसोऽभिप्रेत इति न शक्यते नियन्तुम्, सर्वत्रापि यथाकथंचिदर्वाग्बिलत्वादिकल्पनोपपत्तेः । एवमिहाप्यविशेषोऽजामेकामित्यस्य मन्त्रस्य, नाऽस्मिन् मन्त्रे प्रधानमेवाऽजाभिप्रेतेति शक्यते नियन्तुम् ॥८॥

तत्र तु 'इदं तच्छिर एष ह्यर्वाग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्नः' इति वाक्यशेषाच्चमसविशेषप्रतिपत्तिर्भवति, इह पुनः केयमजा प्रतिपत्तव्येति, अत्र ब्रूमः—

भाष्यका अनुवाद

प्रतिपादित है ऐसा स्वीकार नहीं किया जा सकता, क्योंकि यह मन्त्र स्वतन्त्रतासे किसी भी वादका समर्थन नहीं कर सकता। सभी वादोंमें जिस किसी कल्पनासे अजात्व आदिका सम्पादन किया जा सकता है और सांख्यवाद ही यहां अभिप्रेत है इस प्रकार विशेषके निर्धारणमें कोई प्रमाण नहीं है। चमसके समान। जैसे 'अर्वाग्बिलश्चमस०' (चमस अर्थात् जिसके अधोभागमें तिरछा बिल है और ऊर्ध्वभाग गोल है ऐसा यज्ञपात्र) इस मन्त्रमें यही चमस है ऐसा स्वतन्त्ररीतिसे निरूपण नहीं किया जा सकता, क्योंकि सर्वत्र ही किसी न किसी प्रकार अर्वाग्बिलत्व आदिकी कल्पना हो सकती है। उसी प्रकार यहां भी 'अजामेकाम्' यह मन्त्र किसीका विशेषरूपसे प्रतिपादक नहीं है। इस मन्त्रमें अजासे प्रधान ही अभिप्रेत है ऐसा नियम नहीं कर सकते ॥ ८ ॥

परन्तु इसमें 'इदं तच्छिर एष०' (यह वह सिर है जो कि अधोमुख एवं ऊपर गोलाकार है) ऐसा वाक्यशेष होनेसे चमसविशेषकी प्रतीति होती है, किन्तु यहां अजापदसे किस अजाका ग्रहण किया जाय, इसपर कहते हैं—

रत्नप्रभा

विशेषार्थग्रहो न युक्तः, विशेषग्रहहेतोः प्रकरणादेः अभावादिति हेतुं व्याख्याय दृष्टान्तं व्याचष्टे—चमसवदिति । सर्वत्र—गिरिगुहादौ अपि ॥ ८ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

भी यह मन्त्र साधारण है, ऐसे साधारण मन्त्रसे विशेष अर्थकी प्रतीति युक्त नहीं है, क्योंकि विशेष प्रतीतिका हेतु प्रकरण आदि यहाँ नहीं है, इस प्रकार हेतुका व्याख्यान करके दृष्टान्तका व्याख्यान करते हैं—"चमसवत्" इत्यादिसे । "सर्वत्र" गिरिगुहा आदिमें भी ॥ ८ ॥

ज्योतिरुपक्रमा तु तथा ह्यधीयत एके ॥ ९ ॥

पदच्छेद—ज्योतिरुपक्रमा, तु, तथा, हि, अधीयते, एके ।

पदार्थोक्ति—ज्योतिरुपक्रमा—तेज उपक्रमे यस्यास्तेजोबन्नलक्षणायाः सा, तु—एव [अत्र निर्धारणीया, न प्रधानम्, कुतः] हि—यस्मात्, एके—छन्दोगाः, तथा—तेजोबन्नात्मिकायाः प्रकृतेः रोहितादिरूपताम्, अधीयते—समामनन्ति ।

भाषार्थ—तेज जिसके आरम्भमें है, उसी तेज, जल, अन्नरूप प्रकृतिका अजाशब्दसे निश्चय करना चाहिए न कि प्रधानका, क्योंकि छन्दोग तेज, जल, अन्नरूप प्रकृतिका रोहित आदिरूप कहते हैं ।

भाष्य

परमेश्वरादुत्पन्ना ज्योतिःप्रमुखा तेजोबन्नलक्षणा चतुर्विधस्य भूतग्रामस्य प्रकृतिभूतेयमजा प्रतिपत्तव्या । तुशब्दोऽवधारणार्थः । भूतत्रयलक्षणैवेयमजा विज्ञेया, न गुणत्रयलक्षणा । कस्मात् ? तथा ह्येके शाखिन-

भाष्यका अनुवाद

यहांपर अजापदसे उस अजाका ग्रहण करना चाहिए जो परमेश्वरसे उत्पन्न हुई है, तेज, जल और अन्नस्वरूप है और चार प्रकारके भूतसमूहकी जननी है। सूत्रमें 'तु' शब्दका अवधारण (नियम) अर्थ है । यह अजा तेज, जल और अन्नरूप ही है, त्रिगुणात्मक नहीं है, ऐसा समझना चाहिए, क्योंकि छन्दोगशाखावाले तेज,

---

रत्नप्रभा

उत्तरसूत्रव्यावर्त्यांशङ्कामाह—तत्र त्विदमिति । चतुर्विधस्येति । जरायुजाण्डजस्वेदजोद्भिज्जरूपस्य इत्यर्थः । स्मृत्युक्ता कुतो न ग्राह्या इति शङ्कते—कस्मादिति । श्रुतेः श्रुत्यन्तराद् अर्थग्रहो युक्तः, साजात्यात् मूलानपेक्षत्वाच्च इत्याह—तथा हीति । शाखिनः–छन्दोगाः । किञ्च, रोहितादिशब्दैः अपि

रत्नप्रभाका अनुवाद

जिस शंकाका उत्तर सूत्रसे समाधान होनेवाला है, उसे कहते हैं—"तत्र त्विदम्" इत्यादिसे । "चतुर्विधस्य" अर्थात् जरायुज, अण्डज, स्वेदज और उद्भिज्जस्वरूपका । सांख्याभिमत प्रधानका ग्रहण क्यों नहीं होता, ऐसी शंका करते हैं—"कस्माद्" इत्यादिसे । सजातीय होने एवं मूलकी अपेक्षा न रखनेके कारण एक श्रुतिका अन्य श्रुतिके अनुसार अर्थग्रहण करना युक्त है, ऐसा कहते हैं–"तथाहि" इत्यादिसे । 'शाखिनः'–छन्दोग अर्थात् सामवेदी ।

भाष्य

स्तेजोवन्नानां परमेश्वरादुत्पत्तिमाम्नाय तेषामेव रोहितादिरूपतामामनन्ति—'यदग्ने रोहितं रूपं तेजसस्तद्रूपं यच्छुक्लं तदपां यत्कृष्णं तदन्नस्य' इति। तान्येवेह तेजोवन्नानि प्रत्यभिज्ञायन्ते, रोहितादिशब्दसामान्यात्, रोहितादीनाञ्च शब्दानां रूपविशेषेषु मुख्यत्वाद् भाक्तत्वाच्च गुणविषयत्वस्य। असंदिग्धेन च संदिग्धस्य निगमनं न्याय्यं मन्यन्ते। तथेहापि 'ब्रह्मवादिनो वदन्ति, किंकारणं ब्रह्म' (श्वे० १।१) इत्युपक्रम्य 'ते

भाष्यका अनुवाद

जल और अन्नकी परमेश्वरसे उत्पत्ति कहकर 'यदग्ने रोहितं रूपं०' (अग्निमें जो रक्तरूप है, वह तेजका है, जो शुक्लरूप है, वह जलका है और जो कृष्ण है, वह अन्नका है) इस प्रकार उनके ही रोहित आदि रूप कहते हैं। यहां उन्हीं तेज, जल और अन्नकी प्रत्यभिज्ञा होती है, क्योंकि रोहित आदि शब्द समान हैं। रोहित आदि शब्दोंका मुख्य अर्थ रूपविशेष है, गुणोंकी तो प्रतीति लक्षणा द्वारा होती है और असंदिग्ध वाक्यसे संदिग्ध वाक्यके अर्थका निश्चय करना न्यायसंगत माना जाता है। उसी प्रकार यहां भी 'ब्रह्मवादिनो०' (ब्रह्मवादी कहते

रत्नप्रभा

द्रव्यलक्षणा न्याय्या, अव्यवधानात्, न तु रञ्जनीयत्वादिगुणव्यवहिता सत्त्वादिगुणलक्षणा इत्याह—रोहितादीनाञ्चेति। ननु शाखान्तरेण शाखान्तरस्थमन्त्रस्य निर्णयः कथमित्यत आह—असन्दिग्धेनेति। सर्वशाखाप्रत्ययन्यायादिति भावः। यथा शाखान्तरवाक्यात् न प्रधानग्रहः, तथा इहापि श्वेताश्वतरोपनिषदि मायाप्रकरणान्न तद्ग्रह इत्याह—तथेति। सृष्ट्यादौ किंसहायं ब्रह्म इति विमृश्य, ते ब्रह्मवादिनो ध्यानाख्ययोगेन परमात्मानमनुप्रविष्टाः सन्तः तत्रैव देवस्य आत्म-

रत्नप्रभाका अनुवाद

रोहित आदि शब्दोंसे लक्षणा द्वारा द्रव्यका ग्रहण करना उचित है, क्योंकि व्यवधान नहीं है, रंजनीयत्व आदि गुणोंसे व्यवहित सत्त्व आदि गुणोंमें लक्षणा नहीं करनी चाहिए, ऐसा कहते हैं—"लोहितादीनां च" इत्यादिसे। यदि कोई कहे कि एक शाखाके मन्त्रके अर्थका निर्णय दूसरी शाखाके मन्त्रसे किस प्रकार हो सकता है? उसपर कहते हैं—"असंदिग्धेन" इत्यादिसे। सर्वशाखाप्रत्ययन्यायसे ऐसा अर्थ है। जैसे शाखान्तरवाक्यसे प्रधानका ग्रहण नहीं होता, वैसे ही पूर्वापरपर्यालोचन करनेसे प्रतीत होता है कि यह श्वेताश्वतर श्रुति भी प्रकृत मायाका प्रतिपादन करती है, प्रधानका प्रतिपादन नहीं करती है, ऐसा कहते हैं—"तथा" इत्यादिसे। सृष्टिके आदिमें ब्रह्मका सहायक कौन है, ऐसा विचार करके ध्यानसंज्ञक योग—समाधिसे

भाष्य

ध्यानयोगानुगता अपश्यन् देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्' (श्वे० १ । ३) इति पारमेश्वर्याः शक्तेः समस्तजगद्विधायिन्या वाक्योपक्रमेऽवगमात् । वाक्यशेषेऽपि 'मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्' इति । 'यो योनिं योनिमधितिष्ठत्येकः' (श्वे० ४ । १०, ११) इति च तस्या एवावगमान्न स्वतन्त्रा काचित् प्रकृतिः प्रधानं नामाजामन्त्रेणाम्नायत इति शक्यते वक्तुम् । प्रकरणात्तु सैव दैवी शक्तिरव्याकृतनामरूपा नामरूपयोः प्रागव-

भाष्यका अनुवाद

हैं, सृष्टिमें ब्रह्मका सहायक कौन है) ऐसा उपक्रम करके 'ते ध्यानयोगानुगता०' (ऋषियोंने समाधिस्थ होकर अपने गुणोंसे अत्यन्त गुप्त हुई देवकी आत्मशक्तिका साक्षात्कार किया) इस कथनसे समस्त जगत्को उत्पन्न करनेवाली परमेश्वरकी शक्ति वाक्यके उपक्रममें समझी जाती है। वाक्यशेषमें भी 'मायां तु प्रकृतिं०' (प्रकृतिको माया जाने और महेश्वरको मायावी जाने) और 'यो योनिं योनि०' (जो एक परमात्मा प्रत्येक अविद्याशक्तिका अधिष्ठाता है) इस प्रकार उसी शक्तिकी प्रतीति होनेसे प्रधान नामकी कोई भी स्वतंत्र प्रकृति अजामंत्रसे प्रतिपादित नहीं हो सकती। प्रकरणसे तो वही दैवी शक्ति, जिसमें

रत्नप्रभा

भूताम् ऐक्येन अध्यस्तां शक्तिं परतन्त्रां मायां सत्त्वादिगुणवतीं ब्रह्मणः सहायम् अपश्यन्नित्यन्वयः । मायाया एकत्वेऽपि तदंशानां जीवोपाधीनां तत्तत्संघातयोनीनामविद्याख्यानां भेदाद् वीप्सा, अव्याकृते अनभिव्यक्ते नामरूपे यस्यां सा । अनेन "तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतमासीद्" इति श्रुत्यन्तरप्रसिद्धिरुक्ता । तस्यां शक्तौ व्यक्ताव्यक्तकार्यलिङ्गकानुमानं सूचयति—नामेति । मायाया रोहितादिरूपवत्त्वं

रत्नप्रभाका अनुवाद

परमात्मामें प्रविष्ट होकर उन ब्रह्मवादियोंने उस देवकी आत्मभूत अर्थात् ऐक्यसे अध्यस्त शक्ति सत्त्वादिगुणवाली परतंत्र मायाको ब्रह्मकी सहायक जाना, 'ते ध्यानयोगानुगता' इत्यादिका ऐसा अन्वय है। मायाके एक होनेपर भी उसके अंशभूत एवं तत्तत्समूहके कारणभूत अविद्यानामक जीवकी उपाधियोंके भेदसे 'योनिं योनिम्' इस प्रकार वीप्सा कही गई है। अव्याकृतनामरूपा—अनभिव्यक्त नाम और रूप हैं जिसके। इससे 'तद्धेदं तर्ह्य०' (यह जगत् सृष्टिके पहले अनभिव्यक्त था) इस अन्य श्रुतिकी भी प्रसिद्धि कही गई है। उस दैवी शक्तिमें व्यक्ताव्यक्त-कार्यलिंगक अनुमान भी प्रमाण है, ऐसा सूचित करते हैं—"नाम" इत्यादिसे। परन्तु मायाशक्तिका रोहित आदि स्वरूप किस प्रकार है, इसपर कहते हैं—

भाष्य

स्थानेनापि मन्त्रेणाऽऽम्नायत इत्युच्यते। तस्याश्च स्वविकारविषयेण त्रैरूप्यमुक्तम् ॥९॥

कथं पुनस्तेजोबन्नानां त्रैरूप्येण त्रिरूपाऽजा प्रतिपत्तुं शक्यते, यावता न तावत्तेजोबन्नेष्वजाकृतिरस्ति, न च तेजोबन्नानां जातिश्रवणादजातिनिमित्तोऽप्यजाशब्दः संभवतीति। अत उत्तरं पठति—

भाष्यका अनुवाद

नाम और रूप अव्याकृत हैं और जो नाम और रूपकी पूर्वावस्था है, इस मंत्रसे भी प्रतिपादित होती है, ऐसा कहा जाता है और उसके विकार–तेज, जल और अन्न त्रिरूप हैं, अतः वह भी त्रिरूप कही गई है ॥ ९ ॥

तब तेज, जल और अन्नके त्रैरूप्यसे अजा त्रिरूप किस प्रकार मानी जाय ? जब कि तेज, जल और अन्नमें अजाकी आकृति नहीं है और तेज, जल और अन्नकी उत्पत्ति श्रुतिमें कही गई है, इसलिए उत्पत्ति न होनेके कारण वे अजशब्दवाच्य हैं ऐसा भी नहीं कह सकते, इसलिए उत्तर सूत्र कहते हैं—

रत्नप्रभा

कथमित्यत आह—तस्या इति। विषयः–आश्रयः। एवं प्रकरणबलात् माया एव अजा इति भाष्यकृन्मतम् ॥ ९ ॥

छान्दोग्यश्रुत्या तेजोऽबन्नलक्षणाऽवान्तरप्रकृतिः अजा इति सूत्रकृन्मतेन उत्तरसूत्रव्यावर्त्यं शङ्कते—कथमिति। किं तेजोऽबन्नेषु अजाशब्दो रूढः, न जायत इति यौगिको वा ? नाऽऽद्यः, तेषु, अजात्वजातेः असत्त्वादित्याह—यावतेति। यत इत्यर्थः। अतो न रूढ इति शेषः। न द्वितीय इत्याह—न चेति। जातिः—जन्म, अजातिः–अजन्म।

रत्नप्रभाका अनुवाद

"तस्याः" इत्यादिसे। विषय—आश्रय। इस प्रकार प्रकरणके बलसे माया ही अजा है, ऐसा भाष्यकारका अभिप्राय है ॥ ९ ॥

छान्दोग्य श्रुतिके अनुसार तेज, जल और अन्नस्वरूप अवान्तर प्रकृति अजा है, सूत्रकारके इस मतका अवलम्बन करके उत्तर सूत्रसे निराकरणीय शंका कहते हैं—"कथम्" इत्यादिसे। क्या तेज, जल और अन्नमें 'अजा' शब्द रूढ है या 'न जायते' इस प्रकार यौगिक है। रूढ तो नहीं है, क्योंकि उसमें अजात्वजाति नहीं है, ऐसा कहते हैं—"यावता" इत्यादिसे। यावता—जिससे। 'अजाकृतिरस्ति' के बाद 'अतो न रूढः' (इससे रूढ नहीं है) इतना शेष समझना चाहिए। यौगिक नहीं है, ऐसा कहते हैं—"न च" इत्यादिसे। जाति—उत्पत्ति, अजाति—अनुत्पत्ति।

कल्पनोपदेशाच्च मध्वादिवदविरोधः ॥ १० ॥

पदच्छेद—कल्पनोपदेशात्, च, मध्वादिवत्, अविरोधः ।

पदार्थोक्ति—कल्पनोपदेशाच्च—तेजोबन्नात्मकप्रकृतेः साम्यद्योतनार्थं कल्पनयाऽजात्वोपदेशात्, मध्वादिवत्—यथा मधुभिन्नादित्यस्य मधुत्वोपदेशः तद्वत् [अजाभिन्नायाः प्रकृतेरजात्वोपदेशे] अविरोधः—न कश्चिद्विरोधः [तस्मादशब्दं प्रधानमिति सिद्धम्]

भावार्थ—तेज, जल, अन्नरूप प्रकृतिकी समानता दिखलानेके लिए कल्पनासे अजात्वका उपदेश किया गया है । जैसे मधुभिन्न आदित्यमें मधुत्वका उपदेश है, उसी प्रकार अजाभिन्न प्रकृतिमें अजात्वका उपदेश होनेसे कोई विरोध नहीं है । इससे सिद्ध हुआ कि प्रधान श्रुतिप्रतिपादित नहीं है ।

भाष्य

नाऽयमजाकृतिनिमित्तोऽजाशब्दः, नापि यौगिकः, किं तर्हि ? कल्पनोपदेशोऽयम्, अजारूपकक्लृप्तिस्तेजोबन्नलक्षणायाश्चराचरयोनेरुपदिश्यते। यथा हि लोके यदृच्छया काचिदजा रोहितशुक्लकृष्णवर्णा स्याद् बहुबर्करा सरूपबर्करा च, तां च कश्चिदजो जुषमाणोऽनुशयीत, कश्चिच्चैनां भुक्तभोगां जह्यात्, एवमियमपि तेजोबन्नलक्षणा भूतप्रकृतिस्त्रिवर्णा बहु सरूपं चरा-

भाष्यका अनुवाद

यह अजाशब्द जातिनिमित्तक रूढ़ नहीं और यौगिक भी नहीं है । किन्तु काल्पनिक है । चराचर जगत्की कारणभूत तेज, जल और अन्नरूप चराचर प्रकृतिमें अजासादृश्यकी कल्पना की गई है। जैसे लोकमें कोई एक ऐसी अजा—बकरी हो जाय, जिसका लाल, सफेद और काला रंग हो, समान रंगवाले बहुत-से बच्चे हों, और उसके ऊपर कोई एक अज (बकरा) प्रेम करता हुआ उसके पीछे पीछे फिरे और कोई एक भोग भोगनेके पीछे इसका त्याग कर दे, वैसे ही यह भी तेज,

रत्नप्रभा

लौकिकाऽजासादृश्यकल्पनया तेजोऽबन्नानाम् अजात्वोपदेशाद् गौणोऽयं शब्द इति परिहरति—कल्पनेति । अनियमः—यदृच्छा । बर्करः—बालपशुः ।

रत्नप्रभाका अनुवाद

लौकिक अजाशब्दके साथ सादृश्यकी कल्पनासे तेज, जल और अन्नका अजारूपसे उपदेश किया है, इससे अजाशब्द गौण है, इस प्रकार शंकाका परिहार करते हैं—"कल्पना"

भाष्य

चरलक्षणं विकारजातं जनयति, अविदुषा च क्षेत्रज्ञेनोपभुज्यते, विदुषा च परित्यज्यत इति। न चेदमाशङ्कितव्यम्—एकः क्षेत्रज्ञोऽनुशेतेऽन्यो जहातीत्यतः क्षेत्रज्ञभेदः पारमार्थिकः परेषामिष्टः प्राप्नोति इति। नहीयं क्षेत्रज्ञभेदप्रतिपिपादयिषा किन्तु बन्धमोक्षव्यवस्थाप्रतिपिपादयिषैवैषा। प्रसिद्धं तु भेदमनूद्य बन्धमोक्षव्यवस्था प्रतिपाद्यते, भेदस्तूपाधिनिमित्तो मिथ्याज्ञानकल्पितो न पारमार्थिकः, 'एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा' इत्यादिश्रुतिभ्यः। मध्वादिवत्। यथा

भाष्यका अनुवाद

जल और अन्नस्वरूप त्रिवर्णात्मक भूतप्रकृति समान रूपवाले बहुतसे चराचर लक्षण विकारोंको उत्पन्न करती है। अविद्वान् क्षेत्रज्ञ—जीव इसका उपभोग करता है और विद्वान् इसका त्याग करता है। ऐसी शङ्का न करनी चाहिए कि एक क्षेत्रज्ञ इसके पास शयन करता है और दूसरा इसका परित्याग करता है, इससे पारमार्थिक क्षेत्रज्ञ भेद जो परको—सांख्यको इष्ट है, वह प्राप्त होता है, क्योंकि यह क्षेत्रज्ञके भेदका प्रतिपादन करनेकी इच्छा नहीं है, किन्तु बन्ध और मोक्षकी व्यवस्थाका प्रतिपादन करने की इच्छा है। प्रसिद्ध भेदका अनुवाद करके बन्ध और मोक्ष की व्यवस्थाका प्रतिपादन किया गया है। भेद तो उपाधिनिमित्त है और मिथ्याज्ञानसे कल्पित है, पारमार्थिक नहीं है, क्योंकि 'एको देवः सर्वभूतेषु गूढः' (एक देव सब भूतोंमें गूढ़ है, सबमें व्यापक है और सब भूतोंका अन्तरात्मा

रत्नप्रभा

यदुक्तम्—जीवभेदेन प्रधानवादप्रत्यभिज्ञा इति, तत् न इत्याह—न चेदमिति। व्यवस्थार्थो भेदोऽपि अर्थात् प्रतिपाद्यते इत्याह—प्रसिद्धं तु इति। सत्य एव प्रसिद्ध इत्यत आह—भेदस्त्विति। कल्पनोपदेशे दृष्टान्तं व्याचष्टे—मध्विति। न च योगस्य मुख्यवृत्तित्वात् तेन प्रधानग्रहो न्याय्य इति वाच्यम्, रूढार्थानपेक्षात्

रत्नप्रभाका अनुवाद

इत्यादिसे। यदृच्छा—अनियम। बर्कर—बाल पशु। जीवभेदसे प्रधानवादकी प्रत्यभिज्ञा होती है, यह जो कहा गया है, वह युक्त नहीं, ऐसा कहते हैं—"न चेदम्" इत्यादिसे। व्यवस्थाके लिए जो भेद है, उसका भी आर्थिक प्रतिपादन होता है, ऐसा कहते हैं—"प्रसिद्धं तु" इत्यादि। यदि कोई कहे कि भेद प्रसिद्ध है, तो सत्य ही है, उसका निराकरण करते हैं—"भेदस्तु" इत्यादिसे। कल्पनासे उपदेश है, इसमें जो दृष्टान्त दिखाया है, उसका व्याख्यान करते हैं—"मधु" इत्यादिसे। यौगिक अर्थ मुख्य है, इसलिए उससे प्रधानका ग्रहण करना उचित है, यह नहीं कहना चाहिए। क्योंकि रूढ़ अर्थकी अपेक्षा न रखनेवाले

भाष्य

आदित्यस्याऽमधुनो मधुत्वम् [छा० ३।१], वाचश्चाऽधेनोर्धेनुत्वम् [बृ० ५।८], द्युलोकादीनां चानग्नीनामग्नित्वम् [बृ० ८।२।९] इत्येवंजातीयकं कल्प्यते, एवमिदमनजाया अजात्वं कल्प्यत इत्यर्थः । तस्मादविरोधस्तेजोबन्नेष्वजाशब्दप्रयोगस्य ॥ १० ॥

भाष्यका अनुवाद

है) इत्यादि श्रुतियाँ हैं । मधु आदि के समान, अर्थात् जैसे आदित्य मधु नहीं है, तो भी वह मधु कहा गया है [छा० ३।१] जैसे वाणी धेनु न होने पर भी धेनु कही जाती है [बृ० ५।८] और द्युलोक आदि अग्नि नहीं हैं, तो भी अग्नि कहे गये हैं [बृह० ८।२।९] इत्यादि कल्पना है । उसी प्रकार यहाँ भी जो वस्तुतः अजा नहीं है उसमें अजात्वकी कल्पना की गई है, ऐसा अर्थ है । इससे सिद्ध हुआ कि तेज, जल और अन्नमें अजाशब्दका प्रयोग विरुद्ध नहीं है ॥ १० ॥

रत्नप्रभा

योगात् तदाश्रितगुणलक्षणाया बलीयस्त्वात् । गुणवृत्तौ हि रूढिः आश्रिता भवति । तथा च रोहितादिशब्दसमभिव्याहारानुगृहीतया रूढ्याश्रितया गुणवृत्त्या प्रधाने योगं बाधित्वाऽवान्तरप्रकृतिः अजाशब्देन ग्राह्या । यथा मध्वादिशब्दैः प्रसिद्धमध्वाद्याश्रितगुणलक्षणया आदित्यादयो गृह्यन्ते, तद्वत् । तस्मात् अशब्दं प्रधानम् इति सिद्धम् ॥ १० ॥ (२) ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

योगकी अपेक्षा रूढिके आश्रयमें रहनेवाली गुणलक्षणा अधिक बलवती है । गुणवृत्तिमें रूढिका ग्रहण किया जाता है, इसलिए जैसे मधु आदि शब्दोंसे प्रसिद्ध मधु आदिके आश्रयमें स्थित गुणलक्षणासे आदित्य आदिका ग्रहण होता है, वैसे ही अजाशब्दसे यौगिक अर्थ प्रधानका बाध करके रोहित आदि शब्दोंके समभिव्याहारसे अनुगृहीत रूढिके आश्रयमें रहनेवाली गुणवृत्तिसे अवान्तर प्रकृतिका ग्रहण है । इससे सिद्ध हुआ कि प्रधान श्रुतिप्रतिपाद्य नहीं है ॥ १० ॥

[३ संख्योपसंग्रहाधिकरण सू० ११-१३]

पञ्च पञ्चजनाः सांख्यतत्त्वान्याहो श्रुतीरिताः ।
प्राणाद्याः सांख्यतत्त्वानि पञ्चविंशतिभासनात् ॥१॥
न पञ्चविंशतेर्भानमात्माकाशातिरेकतः ।
संज्ञाः पञ्चजनेत्येषा प्राणाद्याः संज्ञिनः श्रुताः* ॥२॥

[अधिकरणसार]

सन्देह—'यस्मिन् पञ्च पञ्चजना' इस श्रुतिमें सांख्याभिमत तत्त्व कहे गये हैं या प्राण आदि पांच कहे गये हैं ?

पूर्वपक्ष—उक्त श्रुतिमें पञ्चविंशति संख्याका भान होता है, इसलिए सांख्योक्त तत्त्व कहे गये हैं ।

सिद्धान्त—उक्त श्रुतिमें केवल पञ्चविंशति संख्याका भान नहीं होता, क्योंकि आत्मा और आकाश अतिरिक्त कहे गये हैं । 'पञ्चजन' यह संज्ञा है, प्राण आदि संज्ञी हैं, इसलिए प्राण आदि कहे गये हैं ।

---

* निष्कर्ष यह है कि बृहदारण्यकके छठे अध्यायमें श्रुति है—"यस्मिन् पञ्च पञ्चजना आकाशश्च प्रतिष्ठितः । तमेव मन्य आत्मानं विद्वान् ब्रह्मामृतोऽमृतम्" । इसका यह अर्थ है कि पांच पञ्चजन और आकाश जिसके आश्रित हैं, उसी आश्रयभूत आत्माको मैं अमृत ब्रह्म जानता हूँ । इस प्रकार जाननेवाला मैं अमृत होऊँगा । यहां संशय होता है कि 'पञ्च पञ्चजनाः' इससे उक्त पदार्थ सांख्यशास्त्रोक्त तत्त्व हैं अथवा श्रुतिमें उक्त प्राण, चक्षु, श्रोत्र, मन और अन्न हैं ?

पूर्वपक्षी कहता है कि सांख्यके तत्त्व हैं, क्योंकि सांख्यशास्त्रमें प्रसिद्ध पञ्चविंशति संख्याका भान होता है । यहां 'पञ्च पञ्च' इस प्रकार दो शब्द हैं । एक 'पञ्च' शब्दसे सांख्यतत्त्वस्थ पञ्च संख्या कही गई है और दूसरे 'पञ्च'शब्दसे पञ्चसंख्यागत पञ्चसंख्या कही गई है । इससे पञ्चसंख्यायुक्त तत्त्वपंचक ऐसा अर्थ होता है । इस प्रकार पञ्चविंशति संख्याका भान होनेसे सांख्यशास्त्रप्रतिपादित तत्त्व कहे गये हैं ।

सिद्धान्ती कहते हैं कि यद्यपि पञ्चसंख्यागत अन्य पञ्चसंख्याका श्रवण है, तो भी यहां पञ्चविंशति संख्या नहीं हो सकती, क्योंकि पञ्चविंशतिसंख्यक तत्त्वोंके आश्रयरूपसे आत्मा कहा गया है । वह आत्मा पञ्चविंशतिके अन्तर्भूत नहीं है । यदि अन्तर्भूत मानें तो एक हीके आधार और आधेय भावमें विरोध है । इनसे भिन्न आकाश भी कहा गया है । वह भी पञ्चविंशतिके अन्तर्गत नहीं हो सकता, क्योंकि 'आकाशश्च' इस प्रकार पृथक् निर्देश और समुच्चय है । इसलिए आत्मा और आकाशके साथ सप्तविंशतिका ज्ञान होनेसे सांख्यके तत्त्व नहीं कहे जा सकते हैं । तब वाक्यका अर्थ क्या है ? कहते हैं—'पञ्चजन' शब्द संज्ञा है, क्योंकि 'दिक्संख्ये संज्ञायाम्' (दिशा और संख्याके वाचक शब्दोंका संज्ञाके अर्थमें सुबन्त उत्तरपदके साथ समास होता है) इससे समासका विधान है । इससे पञ्चजन संज्ञावाले पदार्थ पांच हैं, ऐसा

न संख्योपसंग्रहादपि नानाभावादतिरेकाच्च ॥११॥

पदच्छेद—न, सङ्ख्योपसङ्ग्रहात्, अपि, नानाभावात्, अतिरेकात्, च ।

पदार्थोक्ति—सङ्ख्योपसङ्ग्रहादपि—'यस्मिन् पञ्च पञ्चजना आकाशश्च प्रतिष्ठितः' इत्यस्मिन् मन्त्रे श्रूयमाणया सङ्ख्यया पञ्चविंशतिसङ्ख्यानामुपसङ्ग्रहादपि, नन प्रधानस्य शब्दवत्त्वम् [कुतः] नानाभावात्—तेषां पञ्चानां पञ्चकानामेकपञ्चकपर्याप्तान्यपञ्चकव्यावृत्तधर्मवत्त्वाभावेन नानात्वात्, अतिरेकाच्च—अस्मिन् मन्त्रे श्रूयमाणयोरात्माकाशयोः पञ्चविंशतिसङ्ख्यातिरिक्तत्वात् [तस्मान्नात्र प्रधानादितत्त्वग्रहणमुचितम्] ।

भाषार्थ—'यस्मिन् पञ्च०' इस मंत्रमें श्रूयमाण संख्यावाचकपदसे पञ्चविंशति-संख्याका ग्रहण करनेपर भी पंचविंशतितत्त्वग्रहणद्वारा प्रधान श्रुतिप्रतिपादित नहीं हो सकता, क्योंकि उन पांचों पंचकोंमें प्रत्येक केवल एक पंचकमें रहने-वाला अन्य पंचकमें न रहनेवाला धर्म नहीं है, इसलिए वे पांच पंचक नहीं हो सकते हैं, जिससे पंचविंशति संख्याके ग्रहणसे पंचविंशति तत्त्वोंका ग्रहण हो जाय। और उक्त श्रुतिमें किसी प्रकार पांच पंचक मानकर पंचविंशति संख्याका ग्रहण करनेपर भी आत्मा और आकाश अलग कहे गये हैं, इससे सप्तविंशति तत्त्व मानने पड़ेंगे, ऐसा मानें तो अपसिद्धान्त हो जायगा। इसलिए प्रधान आदि तत्त्वोंका ग्रहण उचित नहीं है।

रत्नप्रभा

न संख्योपसंग्रहादपि नानाभावादतिरेकाच्च। पञ्चजनशब्दः सांख्य-तत्त्वपरोऽन्यपरो वेति योगरूढ्योः अनिश्चयात् संशये यथा तत्त्वविद्याधिकारे छागायां तात्पर्याभावाद् अजापदे रूढित्यागः, तथा पञ्चमनुष्येषु तात्पर्याभावात्

रत्नप्रभाका अनुवाद

"न संख्योप··············तिरेकाच्च" 'यस्मिन् पञ्च पञ्चजनाः' इत्यादि श्रुतिमें पठित पञ्चजनशब्द यौगिक है या रूढ यह निश्चय न होनेसे सांख्यतत्त्वोंका प्रतिपादन करता है या अन्यका, ऐसा संशय होनेपर जैसे तत्त्वविद्याके प्रकरणमें बकरीरूप अर्थमें तात्पर्य न होनेसे अजामन्त्रगत अजापदमें रूढिका त्याग किया गया है, वैसे ही पांच मनुष्योंमें

अर्थ होता है। संज्ञी तो वाक्यशेषसे प्राण आदि समझने चाहिए। "प्राणस्य प्राणमुत चक्षुषश्चक्षुरुत श्रोत्रस्य श्रोत्रमुतान्नस्यान्नं मनसो ये मनो विदुः" यह वाक्यशेष है। प्राण, चक्षु, श्रोत्र, अन्न और मनके साक्षी चिदात्माका दूसरे प्राण आदि शब्दोंसे अभिधान है। इससे सिद्ध हुआ कि वाक्यशेषमें कथित प्राण आदि पांच ही पंचजन हैं।

भाष्य

एवं परिहृतेऽप्यजामन्त्रे पुनरन्यस्मान्मन्त्रात् सांख्यः प्रत्यवतिष्ठते—

'यस्मिन्पञ्च पञ्चजना आकाशश्च प्रतिष्ठितः ।

तमेव मन्य आत्मानं विद्वान् ब्रह्मामृतोऽमृतम् ॥' (बृ० ४।४।१७) इति। अस्मिन् मन्त्रे पञ्च पञ्चजना इति पञ्चसंख्याविषयाऽपरा पञ्चसंख्या श्रूयते पञ्चशब्दद्वयदर्शनात् । त एते पञ्चपञ्चकाः पञ्चविंशतिः संपद्यन्ते । तया च पञ्चविंशतिसंख्यया यावन्तः संख्येया आकाङ्क्ष्यन्ते तावन्त्येव च

भाष्यका अनुवाद

इस प्रकार अजामंत्रमें सांख्यमतका परिहार होनेपर भी दूसरे मन्त्रका अवलम्बन करके सांख्य पुनः पूर्वपक्ष करता है—'यस्मिन् पञ्च पञ्चजना०' (जिसमें पांच पञ्चजन और आकाश प्रतिष्ठित हैं, उसी आत्माको मैं अमृत ब्रह्म मानता हूँ, इस प्रकार जाननेवाला मैं अमृत हूँ)। इस मंत्रमें 'पञ्च पञ्चजनाः' इस प्रकार पञ्चसंख्यागत दूसरी पञ्च संख्याका श्रवण है, क्योंकि दो पञ्चशब्द देखनेमें आते हैं। वे ये पंच-पंचक पच्चीस होते हैं। उसी प्रकार पच्चीस संख्यासे जितने

रत्नप्रभा

पंचजनशब्देन रूढिं त्यक्त्वा तत्त्वानि ग्राह्याणीति दृष्टान्तसङ्गतिं सूचयन् मन्त्रम् उदाहृत्य पूर्वपक्षयति—एवमित्यादिना । फलं पूर्ववत् । प्राणचक्षुश्श्रोत्रान्नमनांसि वाक्यशेषस्थाः पञ्चजनाः पञ्च । तत्र चत्वारः सूत्रम्, अन्नं विराट्, तयोः कारणम् अव्याकृतम् आकाशश्च यस्मिन् अध्यस्ताः तमेव आत्मानममृतं ब्रह्म मन्ये तस्मात् मननाद् विद्वानहममृतोऽस्मीति मन्त्रदृशो वचनम् । ननु अस्तु पञ्चत्वविशिष्टेषु पञ्चजनेषु पुनः पञ्चत्वान्वयात् पञ्चविंशतिसंख्याप्रतीतिः तावता कथं सांख्यतत्त्वग्रह इत्याशङ्क्य संख्याया धर्म्याकाङ्क्षायां तत्त्वानि

रत्नप्रभाका अनुवाद

तात्पर्य न होनेसे रूढ़िका त्याग करके पञ्चजनशब्दसे सांख्यतत्त्वोंका ग्रहण करना युक्त है, इस प्रकार दृष्टान्तरूप सङ्गतिको सूचित करते हुए मन्त्रको उद्धृतकर पूर्वपक्ष करते हैं—"एवम्" इत्यादिसे । पूर्वपक्ष और उत्तरपक्षके फल पूर्वाधिकरणके समान हैं। वाक्यशेषस्थ प्राण, चक्षु, श्रोत्र, अन्न और मन ये पांच पञ्चजन हैं। उनमें अन्न विराट् है और शेष चार सूत्र हैं। उनके कारण, अव्याकृत अर्थात् आकाशके आधार, उसी आत्माको मैं अमृत ब्रह्म मानता हूँ और ऐसा माननेसे विद्वान् हुआ मैं अमृत हूँ, ऐसा मन्त्रद्रष्टाका वचन है। यदि कोई कहे कि पञ्चत्वविशिष्ट पञ्चजनके साथ पञ्चपदका पुनः अन्वय होनेसे पच्चीस संख्याकी प्रतीति होती है, तो इससे सांख्यतत्त्वका ग्रहण किस प्रकारसे होता है, ऐसी शङ्का

भाष्य

तत्त्वानि सांख्यैः संख्यायन्ते—

'मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त ।

षोडशकश्च विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः ॥' (सांख्यका० ४)

इति । तया श्रुतिप्रसिद्धया पञ्चविंशतिसंख्यया तेषां स्मृतिप्रसिद्धानां पञ्च-विंशतितत्त्वानामुपसंग्रहात् प्राप्तं पुनः श्रुतिमत्त्वमेव प्रधानादीनाम् ।

भाष्यका अनुवाद

संख्येय—संख्यावालोंकी आकांक्षा होती है, उतने ही तत्त्व सांख्य शास्त्रमें गिने गये हैं—'मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः०' (मूल प्रकृति किसीकी विकृति नहीं है, महत् आदि सात प्रकृति और विकृति दोनों हैं, सोलह तत्त्व विकार ही हैं, पुरुष न प्रकृति है और न विकृति ही है)। श्रुतिमें प्रसिद्ध उस पचीस संख्यासे उन स्मृति प्रसिद्ध पचीस तत्त्वोंका संग्रह होनेसे प्रधान आदि श्रुतिप्रतिपादित हैं, ऐसा पुनः प्राप्त हुआ ।

रत्नप्रभा

ग्राह्याणि इत्याह—तया चेति । जगतो मूलभूता प्रकृतिः त्रिगुणात्मकं प्रधानम् अनादित्वाद् अविकृतिः कस्यचित् कार्यं न भवतीत्यर्थः । महदहङ्कारपञ्चतन्मात्राणि इति सप्त प्रकृतयो विकृतयश्च, तत्र महान् प्रधानस्य विकृतिः अहङ्कारस्य प्रकृतिः, अहंकारः तामसः पञ्चतन्मात्राणां शब्दादीनां प्रकृतिः, सात्त्विकः एकादशेन्द्रि-याणाम्, पञ्च तन्मात्राश्च पञ्चानां स्थूलभूतानाम् आकाशादीनां प्रकृतयः, पञ्च स्थूलभूतानि एतानि एकादशेन्द्रियाणि चेति षोडशसंख्याको गणः–विकार एव न प्रकृतिः, तत्त्वान्तरोपादानत्वाभावात्; पुरुषस्तु उदासीन इति सांख्यकारिकार्थः ।

रत्नप्रभाका अनुवाद

करके संख्या जिसमें रहती है उस धर्मीकी आकांक्षा होनेपर तत्त्व ग्राह्य होंगे, ऐसा कहते हैं—"तया" इत्यादिसे । जगत्की मूलभूत प्रकृति जो त्रिगुणात्मक प्रधान है, वह अनादि होनेसे अविकृति है—किसीका भी कार्य नहीं है । महत्, अहङ्कार और पांच तन्मात्राएँ ये सात प्रकृति और विकृति दोनों हैं । उनमें महत् प्रधानकी विकृति और अहङ्कारकी प्रकृति है, तामस अहङ्कार शब्द आदि पांच तन्मात्राओंकी प्रकृति है और सात्त्विक अहङ्कार ग्यारह इन्द्रियोंकी प्रकृति है । पांच तन्मात्राएँ स्थूलभूत ही आकाश, वायु, तेज, जल और पृथिवीकी प्रकृतियाँ हैं । पाँच स्थूलभूत और ग्यारह इन्द्रियाँ ये सोलह विकार ही हैं, प्रकृति नहीं है, क्योंकि ये दूसरे तत्त्वोंके कारण नहीं हैं और पुरुष तो न प्रकृति है और न विकृति ही हैं, किन्तु जलमें स्थित कमलपत्रके समान निर्लिप्त–उदासीन है, कूटस्थ नित्य और अपरिणामी है, ऐसा सांख्यकारिकाका अर्थ है ।

भाष्य

ततो ब्रूमः—न संख्योपसंग्रहादपि प्रधानादीनां श्रुतिमत्त्वं प्रत्याशा कर्तव्या। कस्मात्? नानाभावात्। नाना ह्येतानि पञ्चविंशतिस्तत्त्वानि, नैषां पञ्चशः पञ्चशः साधारणो धर्मोऽस्ति, येन पञ्चविंशतेरन्तराले पराः पञ्च पञ्च संख्या निविशेरन्, नह्येकनिबन्धनमन्तरेण नानाभूतेषु द्वित्वा-

भाष्यका अनुवाद

इस पर हम कहते हैं—संख्याके संग्रहसे भी प्रधान आदि श्रुतिप्रतिपादित हैं ऐसी आशा नहीं करनी चाहिए। किससे? पृथग् भावसे। ये पचीस तत्त्व पृथक् हैं, इनमें प्रत्येक पञ्चकका साधारण धर्म नहीं है, जिससे कि पचीस संख्यामें दूसरी पांच पांच संख्याएँ अन्तर्भूत हों, क्योंकि किसी आधारके विना

रत्नप्रभा

संख्यया तत्त्वानाम् उपसंग्रहात् शब्दवत्त्वम् इति प्राप्ते सिद्धान्तयति—नेति। सांख्यीयतत्त्वाविरुद्धं नानात्वम् इष्टमित्यत आह—नैषामिति। पञ्चसु पञ्चसु साधारणस्य इतरपञ्चकाद् व्यावृत्तस्य धर्मस्याऽभावोऽत्र नानात्वं विवक्षितमित्यर्थः। यद्यपि ज्ञानकर्मेन्द्रियेषु दशसु ज्ञानकरणत्वं कर्मकरणत्वं च पञ्चकद्वयेऽस्ति पञ्चतन्मात्रासु पञ्चसु स्थूलप्रकृतित्वं च, तथापि यस्मिन् इति आत्मन आकाशस्य च पृथगुक्तेः सत्त्वरजस्तमोमहदहङ्काराः पञ्च कर्तव्याः, मनश्चत्वारि भूतानि च पञ्च अस्मिन् पञ्चकद्वये मिथोऽनुवृत्तेतरपञ्चकव्यावर्तकधर्मो नास्ति इत्यभिप्रायः। माऽस्तु इत्यत आह—येनेति। धर्मेणेत्यर्थः। तदेव स्फुटयति—नहीति। महासंख्यायाम् अवान्तरसंख्याः कञ्चिद् धर्मम् आदाय प्रविशन्ति, यथा द्वौ अश्विनौ सप्त सप्तर्षयोऽष्टौ

रत्नप्रभाका अनुवाद

संख्यासे सांख्यमतके तत्त्वोंका ग्रहण होनेसे प्रधान भी श्रुतिप्रतिपादित है, ऐसा प्राप्त होनेपर सिद्धान्त कहते हैं—"न" इत्यादिसे। सांख्याचार्योंके मतानुसार अनेक तत्त्व मानना हमें इष्ट है, इसपर कहते हैं—"नैषाम्" इत्यादि। इतर पंचकमें न रहनेवाले पांच पांच तत्त्वोंमें रहनेवाले साधारण धर्मका अभाव ही यहाँ पृथग्भाव विवक्षित है। यद्यपि पांच ज्ञानेन्द्रियोंमें ज्ञानकरणत्व है, पाँच कर्मेन्द्रियोंमें कर्मकरणत्व है, पाँच तन्मात्राओंमें स्थूलप्रकृतित्व है, तो भी 'यस्मिन्' (जिसमें) इस प्रकार आत्मा और आकाशके पृथक् कथनके कारण सत्त्व, रज, तम, महत् और अहंकार इन पांचोंका एक समूह करना चाहिए, मन और चार भूतोंको मिलाकर इन पांचोंका एक समूह करना चाहिए, इन दोनों पंचकोंमें प्रत्येकमें अनुवृत्त इतर पंचकोंसे व्यावृत्त धर्म नहीं है, ऐसा अभिप्राय है। न हो, इसपर कहते हैं—"येन" इत्यादि। 'येन'—धर्मसे। उसीको स्पष्ट करते हैं—"नहि" इत्यादिसे। महासंख्यामें अवान्तर संख्याएँ प्रविष्ट—अन्तर्गत होती हैं, जैसे कि दो अश्विनी-

भाष्य

दिकाः संख्या निविशन्ते। अथोच्येत–पञ्चविंशतिसंख्यैवेयमवयवद्वारेण लक्ष्यते, यथा 'पञ्च सप्त च वर्षाणि न ववर्ष शतक्रतुः' इति द्वादशवार्षिकीमनावृष्टिं कथयन्ति तद्वत्, इति। तदपि नोपपद्यते। अयमेवाऽस्मिन्पक्षे दोषो यल्लक्षणाऽऽश्रयणीया स्यात्। परश्चाऽत्र पञ्चशब्दो जनशब्देन समस्तः पञ्चजना इति, भाषिकस्वरेणैकपदत्वनिश्चयात्। प्रयोगान्तरे

भाष्यका अनुवाद

पृथक्भूत पदार्थोंमें द्वित्व आदि संख्या नहीं रहती। यदि ऐसा कहो कि जैसे 'पञ्च सप्त च वर्षाणि०' (पांच और सात वर्ष तक वृष्टि नहीं हुई) इस प्रकार बारह वर्षकी अनावृष्टि कहते हैं, वैसे ही अवयव द्वारा पच्चीस संख्या ही लक्षित होती है, यह कथन भी युक्त नहीं है। इस पक्षमें यही दोष है कि लक्षणा माननी पड़ती है। और दूसरा पञ्चशब्द जनशब्दके साथ समस्त हुआ है, क्योंकि भाषिकस्वरसे एक पद है, ऐसा निश्चय होता है। उसी प्रकार 'पञ्चानां त्वा पञ्चजनानाम्' (तुझे

रत्नप्रभा

वसवश्च इति सप्तदश इति अत्राऽश्वित्वादिकमादाय द्वित्वादयः प्रविशन्ति, नाऽन्यथेत्यर्थः। पञ्चशब्दद्वयेन स्ववाच्यन्यूनसंख्याद्वारेण तद्व्याप्या महासंख्यैव लक्ष्यत इति सदृष्टान्तं शङ्कते—अथेति। मुख्यार्थस्य वक्ष्यमाणत्वात् लक्षणा न युक्तेति परिहरति—तदपि नेति। पञ्चजनशब्दयोः असमासमङ्गीकृत्य पञ्चविंशतिसंख्याप्रतीतिः निरस्ता। सम्प्रति समासनिश्चयात् न तत्प्रतीतिरित्याह—परश्चेति। समासहेतुमाह—भाषिकेति। अयमर्थः–अस्मिन् मन्त्रे प्रथमः पञ्चशब्दः आद्युदात्तः। द्वितीयः सर्वानुदात्तः। जनशब्दश्च अन्तोदात्तः। तथा च न द्वितीयपञ्चशब्द-

रत्नप्रभाका अनुवाद

कुमार सात सप्तर्षि और आठ वसु मिलकर सत्रह होते हैं, इनमें अश्वित्व आदिको लेकर ही द्वित्व आदि प्रवेश करते हैं, दूसरे प्रकारसे नहीं, ऐसा आशय है। दो पंचशब्द जिस न्यून संख्याका अभिधान करते हैं, उसके द्वारा वे उससे व्याप्त महासंख्याको लक्षित करते हैं, दृष्टान्तप्रदर्शनपूर्वक ऐसी शंका करते हैं—"अथ" इत्यादिसे। मुख्य अर्थ कहा जायगा, इसलिए लक्षणा नहीं करनी चाहिए ऐसा परिहार करते हैं—"तदपि न" इत्यादिसे। पञ्च और जन शब्दोंमें समास न मानकर पञ्चविंशतिसंख्याकी प्रतीतिका निरास किया गया। अब समास माननेपर पच्चीस संख्याकी प्रतीति नहीं होती है, ऐसा कहते हैं—"परश्च" इत्यादिसे। समासमें कारण कहते हैं—"भाषिक" इत्यादिसे। यह अर्थ है कि इस मंत्रमें प्रथम पंचशब्द आद्युदात्त है, द्वितीय पंचशब्द सर्वानुदात्त है और जनशब्द अन्तोदात्त है,

(१) "ञ्नः सङ्ख्यायाः"। (रेफान्त-नान्त संख्यावाचक शब्दका आद्युदात्त हो) इस मन्त्रमें पञ्चजनशब्द आद्युदात्त है।

भाष्य

च 'पञ्चानां त्वा पञ्चजनानाम्' (तै० १।६।१।२) इत्यैकपद्यैकस्वर्यैक-

भाष्यका अनुवाद

पञ्च-पञ्चजनके) इस अन्य प्रयोगमें एक पद, एक स्वर और एक विभक्ति देखी

रत्नप्रभा

जनशब्दयोः समासं विना अन्त्यस्य आकारस्य उदात्तत्वं पूर्वेषाम् अनुदात्तत्वं च घटते। "समासस्य" (पा० सू० ६।१।२२३) इति सूत्रेण समासस्याऽन्तोदात्तत्वविधानात् "अनुदात्तं पदमेकवर्जम्" (पा० सू० ६।१।१५८) इति च सूत्रेण यस्मिन् पदे उदात्तः स्वरितो वा यस्य वर्णस्य विधीयते, तमेकं वर्जयित्वाऽवशिष्टं तत्पदमनुदात्ताच्कं भवतीति विधानादेव मान्त्रिकान्तोदात्तस्वरेण एकपदत्वनिश्चयः। भाषिकाख्ये तु शतपथब्राह्मणस्वरविधायकग्रन्थे "स्वरितोऽनुदात्तो वा" इति सूत्रेण यो मन्त्रदशायाम् अनुदात्तः स्वरितो वा स ब्राह्मणदशायाम् उदात्तो भवति इत्यपवाद आश्रितः। तथा च अन्त्याद् आकारात् पूर्वेषामनुदात्तानाम् उदात्तत्वं ब्राह्मणावस्थायां प्राप्तम्, "उदात्तमनुदात्तमनन्त्यम्" इति सूत्रेण मन्त्रदशायाम् उदात्तस्य अनन्त्यस्य परलग्नतया उच्चार्यमाणस्य अनुदात्तत्वं विहितम्। तथा च अत्र नकाराद् उपरितनः आकारः आकाशश्च इत्यनेन श्लिष्टतया पठ्यमानोऽनुदात्तो भवति, अयं मन्त्रानुदात्तस्वरो भाषिकः, तेन ब्राह्मणस्वरेण एकपदत्वं निश्चीयते इति। प्रकटार्थकारैस्तु पाठकप्रसिद्धान्तोदात्तस्वरः भाषिक इति

रत्नप्रभाका अनुवाद

इसलिए दूसरे पंचशब्द और जनशब्दमें समासके बिना अन्त्य आकार उदात्त एवं उसके पहलेके वर्ण अनुदात्त नहीं हो सकते। 'समासस्य' इस सूत्रसे समासका अन्त उदात्त होता है और 'अनुदात्तं०' इस सूत्रसे जिस पदमें जिस वर्णके स्थानमें उदात्त या स्वरितका विधान है, उस एक वर्णको छोड़कर उस पदके शेष सब स्वर अनुदात्त होते हैं, ऐसा विधान है, इसलिए मंत्रमें अन्त्य स्वर उदात्त होनेसे एकपदत्वका निश्चय होता है। शतपथ ब्राह्मणके स्वरविधान करनेवाले भाषिक नामक ग्रन्थमें 'स्वरितोऽनुदात्तो वा' इस सूत्रसे जो मंत्रदशामें स्वरित अथवा अनुदात्त रहता है, वह ब्राह्मणदशामें उदात्त होता है, ऐसा अपवाद स्वीकार किया है। इसलिए अन्त्य आकारसे पूर्व स्थित अनुदात्त स्वरोंको ब्राह्मणदशामें उदात्तत्व प्राप्त हुआ, 'उदात्तमनुदात्त०' इस सूत्रसे मंत्रदशामें अंत्यभिन्न एवं अग्रिम पदसे मिलाकर उच्चारण किये जानेवाले उदात्त स्वरमें अनुदात्तत्वका विधान है। इसलिए यहां नकारोत्तरवर्ती आकार अग्रिम 'आकाशश्च' पदके साथ मिलाकर पढ़े जानेके कारण अनुदात्त होता है, यह मंत्रानुदात्त स्वर भाषिक है, इससे एकपदत्वका निश्चय होता है। प्रकटार्थकार तो 'पाठकोंमें प्रसिद्ध अन्तोदात्त स्वर भाषिक है,

भाष्य

विभक्तिकत्वाऽवगमात्। समस्तत्वाच्च न वीप्सा पञ्च पञ्चेति। तेन न

भाष्यका अनुवाद

जाती है। समस्त पद होनेसे पञ्च पञ्च—ऐसी वीप्सा भी नहीं है और इसीसे

रत्नप्रभा

व्याख्यातम्, तद्व्याख्यानं कल्पतरुकारैः दूषितम्। अन्तानुदात्तं हि समाम्नातारः पञ्चजनशब्दमधीयते इति पाठकप्रसिद्धिः असिद्धा इति। तथा च "पञ्च पञ्चजनाः" इति मान्त्रिकान्तोदात्तः स्वरः, "यस्मिन् पञ्च पञ्चजनाः" (बृ०४।४।१७) इत्यन्तानुदात्तो ब्राह्मणस्वरः इति विभागः। उभयथाऽपि ऐकपद्यात् समाससिद्धिरिति। तैत्तिरीयकप्रयोगादपि एकपदत्वमित्याह—प्रयोगान्तरे चेति। आज्य! त्वा—त्वाम् पञ्चानां पञ्चजनानां देवविशेषाणाम् यन्त्राय धर्त्राय गृह्णामि इति आज्यग्रहणमन्त्रशेषः। देवतानां कर्मणि यन्त्रवत् अवस्थितं शरीरं तदेव धर्त्रम्—इहाऽमुत्र भोगाधारः, तस्मै—तस्याऽवैकल्यार्थमिति यजमानोक्तिः। अस्तु समासः ततः किम्, इत्यत आह—समस्तत्वाच्चेति। आवृत्तिः वीप्सा तदभावे पञ्चकद्वयाग्रहणात् पञ्चविंशतिसंख्याप्रतीतिः असिद्धेति भावः। जनपञ्चकमेकं पञ्चकानां पञ्चकं द्वितीयमिति पञ्चकद्वयम् तस्य पञ्चपञ्च इति ग्रहणं नेत्यक्षरार्थः। किञ्च, असमासपक्षेऽपि किं पञ्चशब्दद्वयोक्तयोः पञ्चत्वयोः परस्परान्वयः, किं वा तयोः शुद्ध-

रत्नप्रभाका अनुवाद

ऐसा व्याख्यान करते हैं, वह व्याख्यान कल्पतरुकारसे दूपित किया गया है, क्योंकि वेद पढ़नेवाले लोग पञ्चजनशब्दको अन्तानुदात्त कहते हैं यह पाठकप्रसिद्धि असिद्ध है। इसलिए 'पञ्च पञ्चजनाः' इसमें अन्तोदात्त मांत्रिक स्वर है, और 'यस्मिन् पञ्च पञ्चजनाः' इसमें अन्तानुदात्त ब्राह्मणस्वर है। दोनों प्रकारसे पदके एक होनेके कारण समास सिद्ध होता है। तैत्तिरीयक प्रयोगसे भी एकपदत्व सिद्ध होता है, ऐसा कहते हैं—"प्रयोगान्तरे च" इत्यादिसे। 'आज्य! त्वा पञ्चजनानां यन्त्राय धर्त्राय गृह्णामि' यह आज्यग्रहणमंत्रशेष है। हे आज्य! पांच देवताओंके कर्ममें यंत्ररूपसे अवस्थित, ऐहिक एवं पारलौकिक भोग धारण करनेमें समर्थ अपने शरीरकी रक्षाके लिए तुझे ग्रहण करता हूँ ऐसी यजमानकी उक्ति है। समास हो, इससे क्या हुआ, इसपर कहते हैं—"समस्तत्वाच्च" इत्यादि। वीप्सा—आवृत्ति, उसका अभाव होनेसे दो पञ्चकका ग्रहण न होनेके कारण पच्चीस संख्याकी प्रतीति सिद्ध नहीं होती ऐसा अर्थ है। जनपञ्चक एक और पञ्चकोंका पञ्चक यह दूसरा, इस प्रकार दो पञ्चकका 'पञ्च पञ्चजनाः' इसमें ग्रहण नहीं होता, ऐसा अक्षरार्थ है। और 'पञ्चजनाः' यह समस्त न होनेपर भी दो पञ्चशब्दोंसे उक्त दो पञ्चत्वोंका परस्पर अन्वय है अथवा उनका जनपदार्थसे अन्वय है अथवा

भाष्य

पञ्चकद्वयग्रहणं पञ्च पञ्चेति । न च पञ्चसंख्याया एकस्याः पञ्चसंख्यया परया विशेषणम् 'पञ्च पञ्चकाः' इति, उपसर्जनस्य विशेषणेनाऽसंयोगात् । नन्वापन्नपञ्चसंख्याका जना एव पुनः पञ्चसंख्यया विशेष्यमाणाः पञ्चविंशतिः प्रत्येष्यन्ते । यथा पञ्च पञ्चपूल्य इति पञ्चविंशतिः पूलाः प्रतीयन्ते, तद्वत् । नेति ब्रूमः—युक्तं यत्पञ्चपूलीशब्दस्य समाहाराभिप्रायत्वात्

भाष्यका अनुवाद

पञ्च पञ्च (पांच पांच) इस प्रकार दो पञ्चकोंका भी ग्रहण नहीं है। और 'पञ्च पञ्चकाः' (पांच पञ्चक) इस प्रकार एक पांच संख्याका दूसरी पांच संख्याके साथ विशेषण—अन्वय नहीं होता है, क्योंकि उपसर्जनका—विशेषणका विशेषणके साथ संयोग नहीं होता। परन्तु जिसको पांच संख्याएँ प्राप्त हुई हैं वह दूसरी पांच संख्याओंसे विशिष्ट होकर पच्चीस हो जाता है, ऐसी प्रतीति होगी। जैसे कि 'पञ्च पञ्चपूल्यः०' (पांच पूलीपञ्चक) इसमें पच्चीस पूलोंकी प्रतीति होती है। हम कहते हैं कि नहीं पञ्चपूलीशब्दमें समाहार अभिप्रेत होनेसे

रत्नप्रभा

जनैः अन्वयः, अथवा पञ्चत्वविशिष्टैर्जनैः अपरस्य पञ्चत्वस्याऽन्वयः । नाऽऽद्यः इत्याह—न च पञ्चसंख्याया इति । विशेषणम्—अन्वयः । अनन्वये हेतुमाह—उपसर्जनस्येति । अप्रधानानां सर्वेषां प्रधानेन विशेष्येण एवाऽन्वयो वाच्यः, गुणानां परस्परान्वये वाक्यभेदापातात् इत्यर्थः । द्वितीये दशसंख्याप्रतीतिः स्यात् न पञ्चविंशतिसंख्याप्रतीतिः । तृतीयम् उत्थापयति—नन्विति । पञ्चत्वविशिष्टेषु पञ्चत्वान्तरान्वये विशेषणीभूतपञ्चत्वेऽपि पञ्चत्वान्वयात् पञ्चविंशतित्वप्रतीतिः इत्यर्थः । दृष्टान्तवैषम्येण परिहरति—नेति ब्रूम इति । पञ्चानां पूलानां समाहार

रत्नप्रभाका अनुवाद

पञ्चत्वविशिष्ट जनोंके साथ अन्य पञ्चत्वका अन्वय है ? प्रथम पक्ष युक्त नहीं है, ऐसा कहते हैं—"न च पञ्चसङ्ख्यायाः" इत्यादिसे । विशेषण-अन्वय । अन्वय न होनेमें कारण कहते हैं—"उपसर्जनस्य" इत्यादिसे । सब अप्रधानोंका—विशेषणोंका प्रधानभूत विशेष्यके साथ ही अन्वय होता है, गुणोंका परस्पर अन्वय मानें तो वाक्यभेद हो जायगा, ऐसा अर्थ है। दूसरे पक्षमें तो दस संख्याकी प्रतीति हो सकती है पच्चीसकी नहीं । तीसरा पक्ष उठाते हैं—"ननु" इत्यादिसे । पंचत्वविशिष्ट जनके साथ दूसरे पंचत्वका अन्वय होनेसे विशेषणीभूत पंचत्वमें दूसरे पंचत्वका अन्वय होनेके कारण पच्चीस संख्याकी प्रतीति होती है, ऐसा अर्थ है। दृष्टान्तवैषम्य दिखलाकर उक्त शंकाका निराकरण करते हैं—"नेति ब्रूमः" इत्यादिसे । 'पञ्चानां

भाष्य

कतीति सत्यां भेदाकाङ्क्षायां पञ्च पञ्चपूल्य इति विशेषणम्। इह तु पञ्चजना इत्यादित एव भेदोपादानात् कतीत्यसत्यां भेदाकाङ्क्षायां न पञ्च पञ्चजना इति विशेषणं भवेत्। भवदपीदं विशेषणं पञ्चसंख्याया एव भवेत्, तत्र चोक्तो दोषः। तस्मात् पञ्च पञ्चजना इति न पञ्चविंश-

भाष्यका अनुवाद

कितनी पञ्चपूली हैं इस प्रकार भेदकी आकांक्षा होनेपर 'पञ्च पञ्चपूल्यः' (पांच पूलीपञ्चक) ऐसा विशेषण युक्त है। परन्तु यहां तो 'पञ्चजनाः' (पांच जन) ऐसा आरम्भसे ही भेदका ग्रहण है, इसलिए 'कितने' इस प्रकार भेदकी आकांक्षा न होनेके कारण 'पञ्च पञ्चजनाः०' (पांच पंचजन) इस प्रकार पञ्चजनका पञ्चत्व विशेषण नहीं हो सकता और विशेषण हो भी तो केवल 'पञ्च' (पांच) संख्याका ही हो सकता है और उसमें दोष कहा है। इसलिए 'पञ्च पञ्चजनाः' (पांच पंचजन) इससे पच्चीस तत्त्व इष्ट नहीं हैं।

रत्नप्रभा

इत्यत्र "संख्यापूर्वो द्विगुः" (पा० सू० २।१।५२) इति समासो विहितः। ततो "द्विगोः" (पा० सू० ४।१।२१) इति सूत्रेण ङीपो विधानात् समाहार-प्रतीतौ समाहाराः कति इत्याकाङ्क्षायां सत्यां पञ्च इति पदान्तरान्वयो युक्तः, पञ्चजना इत्यत्र तु ङीबन्तत्वाभावेन समाहारस्याऽप्रतीतेः जनानां चाऽऽदित एव पञ्चत्वोपादानात् संख्याकाङ्क्षाया असत्त्वात् पञ्च इति पदान्तरं नाऽन्वेति, आका-ङ्क्षाधीनत्वादन्वयस्य इत्यर्थः। भेदः—विशेषणम्। ननु जनानां निराकाङ्क्षत्वेऽपि तद्विशेषणीभूतपञ्चत्वानि कति इत्याकाङ्क्षायां पञ्चत्वान्तरं विशेषणं भवतु इत्या-शङ्कते—भवदपीति। न उपसर्जनस्य उपसर्जनान्तरेणाऽन्वयः, किन्तु प्रधानेन एवेति

रत्नप्रभाका अनुवाद

पूलानां समाहारः पञ्चपूल्यः' यहाँपर 'संख्यापूर्वो द्विगुः' इस सूत्रसे समासका विधान है। बाद 'द्विगोः' इस सूत्रसे 'ङीप्' (ईकार) का विधान होनेसे समाहारकी प्रतीति होनेपर समाहार कितने हैं? इस आकांक्षामें 'पञ्च' इस प्रकार दूसरे पदका अन्वय होना युक्त है, परन्तु 'पञ्चजनाः' इसमें अन्तमें 'ङीप्' न होनेसे समाहारकी प्रतीति न होनेके कारण और जनमें पहले ही पञ्चत्वका ग्रहण करनेके कारण संख्याकी आकांक्षा न होनेसे 'पञ्च' इस दूसरे पदका अन्वय नहीं हो सकता है, क्योंकि अन्वय आकांक्षाके अधीन है। भेद—विशेषण। परन्तु जनोंके लिए आकांक्षा न होनेपर भी जनविशेषणीभूत पञ्चत्व कितने हैं, ऐसी आकांक्षामें अन्य पञ्चत्व विशेषण हो, ऐसी शंका करते हैं—"भवदपि" इत्यादिसे। एक विशेषणका अन्य विशेषणके साथ अन्वय नहीं हो सकता है, किन्तु प्रधानके साथ ही होता है, इस न्यायके

भाष्य

तितत्त्वाभिप्रायम् । अतिरेकाच्च न पञ्चविंशतितत्त्वाभिप्रायम् । अतिरेको हि भवत्यात्माकाशाभ्यां पञ्चविंशतिसंख्यायाः । आत्मा तावदिह प्रतिष्ठां प्रत्याधारत्वेन निर्दिष्टः, 'यस्मिन्' इति सप्तमीसूचितस्य 'तमेव मन्य आत्मानम्' इत्यात्मत्वेनाऽनुकर्षणात् । आत्मा च चेतनः पुरुषः, स च पञ्चविंशतावन्तर्गत एवेति न तस्यैवाऽऽधारत्वमाधेयत्वं च युज्येत। अर्थान्तरपरिग्रहे वा तत्त्वसंख्यातिरेकः सिद्धान्तविरुद्धः प्रसज्येत। तथा 'आकाशश्च प्रतिष्ठितः' इत्याकाशस्याऽपि पञ्चविंशतावन्तर्गतस्य न पृथगुपादानं

भाष्यका अनुवाद

और संख्याके आधिक्यसे भी पच्चीस तत्त्व अभिप्रेत नहीं हैं, क्योंकि आत्मा और आकाशको लेकर संख्या पच्चीससे अधिक हो जाती है। यहाँ प्रतिष्ठाके आधाररूपसे आत्माका निर्देश किया गया है, क्योंकि 'यस्मिन्' (जिसमें) इस सप्तम्यन्त 'यत्' पदसे 'तमेव मन्य आत्मानम्' (उसीको मैं आत्मा मानता हूँ) इस श्रुतिमें पठित आत्माका अनुकर्षण होता है। आत्मा चेतन पुरुष है और वह पच्चीस तत्त्वोंमें अन्तर्गत ही है, इसलिए वही आधार और आधेय हो, यह युक्त नहीं है। अन्य अर्थका ग्रहण करो, तो सांख्यसिद्धान्तसे विरुद्ध तत्त्वसंख्यामें अधिकता आ जायगी। इसी प्रकार आकाश जो पच्चीस तत्त्वोंके अन्तर्गत है, उसका

रत्नप्रभा

न्यायविरोधादयुक्तम् इति परिहरति—तत्र चेति । एवं नानाभावादिति व्याख्याय अतिरेकाच्च इति व्याचष्टे—अतिरेकाच्चेत्यादिना । अतिरेकः—आधिक्यम् । जनशब्दितपञ्चविंशतितत्त्वेषु आत्मा अन्तर्भूतो न वा ? नाऽऽद्य इत्युक्त्वा द्वितीये दोषमाह—अर्थान्तरेति । तथाऽऽकाशं विकल्प्य दूषयति—तथेति । उक्तो दोषः—संख्याधिक्यम् । पञ्चविंशतिजना आत्माकाशौ च इति सप्तविंशतिसंख्या स्यादित्यर्थः । न च सत्त्वरजस्तमसां पृथग्गणनया सा इष्टेति वाच्यम्, आकाशस्य पृथगुक्तिवैय-

रत्नप्रभाका अनुवाद

साथ विरोध होनेसे यह कथन अयुक्त है, ऐसा परिहार करते हैं—"तत्र च" इत्यादिसे। इस प्रकार सूत्रस्थ 'नानाभावात्' पदका व्याख्यान करके 'अतिरेकाच्च' का व्याख्यान करते हैं—"अतिरेकाच्च" इत्यादिसे। अतिरेक—अधिकता। जनशब्दसे कथित पच्चीस तत्त्वोंमें आत्मा अन्तर्भूत है या नहीं ? प्रथम पक्ष नहीं हो सकता, ऐसा कहकर द्वितीय पक्षमें दोष दिखलाते हैं—"अर्थान्तर" इत्यादिसे। उसी प्रकार आकाशमें भी विकल्प कहकर दोष दिखलाते हैं—"तथा" इत्यादिसे। उक्त दोष—संख्याकी अधिकता। पच्चीस तत्त्व, आत्मा और आकाश सब मिलकर सत्ताईस हो जायँगे, ऐसा अर्थ है। सत्त्व, रज और तमकी पृथक् गिनतीसे सत्ताईस संख्या अभिमत है, ऐसा कहना युक्त नहीं है, क्योंकि आकाशका पृथक् कथन व्यर्थ

भाष्य

न्याय्यम्। अर्थान्तरपरिग्रहे चोक्तं दूषणम्। कथं च संख्यामात्रश्रवणे सत्यश्रुतानां पञ्चविंशतितत्त्वानामुपसंग्रहः प्रतीयेत, जनशब्दस्य तत्त्वेष्वरूढत्वात्, अर्थान्तरोपसंग्रहेऽपि संख्योपपत्तेः। कथं तर्हि पञ्च पञ्चजना इति उच्यते—'दिक्संख्ये संज्ञायाम्' (पा० सू० २।१।५०) इति विशेषस्मरणात् संज्ञायामेव पञ्चशब्दस्य जनशब्देन समासः, ततश्च रूढत्वाभिप्राये-

भाष्यका अनुवाद

'आकाशश्च प्रतिष्ठितः' (और आकाश प्रतिष्ठित है) इस प्रकार पृथग् ग्रहण उचित नहीं है और अन्य अर्थका ग्रहण करो तो दोष कहा ही है। और संख्यामात्रका श्रवण होनेपर श्रुतिमें अप्रतिपादित पच्चीस तत्त्वोंका सङ्ग्रह किस प्रकार प्रतीत होगा? क्योंकि जनशब्द तत्त्वोंमें रूढ नहीं है और अन्य अर्थका ग्रहण करनेसे भी संख्या उपपन्न होती है। तब 'पञ्च पञ्चजनाः' (पांच पंचजन) यह किस प्रकार है? कहते हैं—'दिक्संख्ये०' (दिशा और संख्यावाचक शब्दोंका संज्ञाके अर्थमें सुवन्त उत्तरपदके साथ समास होता है) ऐसा विशेष सूत्र है, इसलिए पञ्चशब्दका जनशब्दके साथसमास है। इसलिए रूढरूपके अभिप्रायसे ही

रत्नप्रभा

र्थ्यात्, यस्मिन्निति आत्मनि तत्त्वानां प्रतिष्ठोक्तिविरोधात्, तव मते स्वतन्त्रप्रधानस्यैव आधारत्वात्, "नेह नानास्ति" इति वाक्यशेषविरोधाच्च तव सत्यद्वैतवादित्वात्। किञ्च, पञ्चविंशतिसंख्याप्रतीतौ अपि न सांख्यतत्त्वानां ग्रहणमित्याह—कथञ्चेति। किं जनशब्दात् तत्त्वग्रहः, उत संख्यया इति कथंशब्दार्थः। नाऽऽद्य इत्याह—जनेति। न द्वितीयः इत्याह—अर्थान्तरेति। किं तत् अर्थान्तरं यदर्थकमिदं वाक्यमिति पृच्छति—कथमिति। पञ्च च ते जनाश्चेति कर्मधारयादिसमा-

रत्नप्रभाका अनुवाद

हो जायगा और 'यस्मिन्' इस प्रकार आत्माको तत्त्वोंका आश्रय कहना विरुद्ध हो जायगा क्योंकि तुम्हारे (सांख्यके) मतमें स्वतंत्र प्रधान ही आधार है और 'नेह नानास्ति०' इस वाक्यशेषसे भी विरोध होगा, क्योंकि तुम्हारे मतमें द्वैत सत्य है। और पचीस संख्याकी प्रतीति होनेपर भी सांख्यतत्त्वोंका ग्रहण नहीं हो सकता है, ऐसा कहते हैं—"कथं च" इत्यादिसे। तत्त्वोंका ग्रहण जनशब्दसे होता है या संख्यासे यह 'कथं' शब्दका अर्थ है। प्रथम पक्ष ठीक नहीं, ऐसा कहते हैं—"जन" इत्यादिसे। दूसरा पक्ष भी ठीक नहीं है, ऐसा कहते हैं—"अर्थान्तर" इत्यादिसे। वह दूसरा अर्थ कौन है, जिसका यह वाक्य प्रतिपादन करता है, ऐसा पूछते हैं—"कथम्" इत्यादिसे। 'पञ्च च ते जनाश्च' इस प्रकार कर्मधारय आदि अन्य

भाष्य

णैव केचित् पञ्चजना नाम विवक्ष्यन्ते, न सांख्यतत्त्वाभिप्रायेण, ते कतीत्यस्यामाकाङ्क्षायां पुनः पञ्चेति प्रयुज्यते। पञ्चजना नाम ये केचित् ते च पञ्चैवेत्यर्थः। सप्तर्षयः सप्तेति यथा ॥ ११ ॥

के पुनस्ते पञ्चजना नामेति, तदुच्यते—

भाष्यका अनुवाद

कुछ पञ्चजन संज्ञावालोंकी विवक्षा है, सांख्यतत्त्वोंके अभिप्रायसे नहीं है। वे कितने हैं, ऐसी आकांक्षा होनेपर फिर पञ्चशब्दका प्रयोग किया गया है। जैसे सात सप्तर्षि हैं वैसे पञ्चजनसंज्ञक जो कोई हैं, वे पांच ही हैं, ऐसा अर्थ है ॥ ११ ॥

वे पञ्चजन कौन हैं, यह कहते हैं—

रत्नप्रभा

सान्तरात् संज्ञा-समासस्याऽऽप्तोक्त्या बलवत्त्वं तावदाह—उच्यत इति। दिग्वाचिनः संख्यावाचिनश्च शब्दाः संज्ञायां गम्यमानायां सुबन्तेन उत्तरपदेन समस्यन्ते, यथा दक्षिणाग्निः सप्तर्षय इत्यादि। अयं च समासः तत्पुरुषभेदः ॥ ११ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

समासोंसे संज्ञामें समास आप्तोक्तिके कारण बलवत्तर है, ऐसा कहते हैं—"उच्यते" इत्यादिसे। दिग्वाचक और संख्यावाचक शब्द संज्ञा गम्यमान होनेपर उत्तर सुबन्तके साथ समस्त होते हैं, जैसे 'दक्षिणाग्निः' 'सप्तर्षयः' इत्यादिमें है। यह समास तत्पुरुषका भेद है ॥११॥

प्राणादयो वाक्यशेषात् ॥ १२ ॥

पदच्छेद—प्राणादयः,—वाक्यशेषात्।

पदार्थोक्ति—प्राणादयः—प्राणचक्षुःश्रोत्रान्नमनांसि [पञ्चजनशब्देनोच्यन्ते, कस्माद्] वाक्यशेषात्—'प्राणस्य प्राणमुत चक्षुषश्चक्षुः' इत्यादिवाक्यशेषस्थत्वात्।

भाषार्थ—पूर्वोक्त श्रुतिमें पञ्चजनशब्दसे प्राण, चक्षु, श्रोत्र, अन्न और मन कहे गये हैं, क्योंकि 'प्राणस्य प्राण०' (प्राणका प्राण, चक्षुका चक्षु) इत्यादि वाक्यशेषमें वे ही हैं।

भाष्य

'यस्मिन् पञ्च पञ्चजनाः' इत्यत उत्तरस्मिन् मन्त्रे ब्रह्मस्वरूपनिरूपणाय प्राणादयः पञ्च निर्दिष्टाः—'प्राणस्य प्राणमुत चक्षुषश्चक्षुरुत श्रोत्रस्य श्रोत्रमन्नस्यान्नं मनसो ये मनो विदुः' इति। तेऽत्र वाक्यशेषगताः संनिधानात् पञ्चजना विवक्ष्यन्ते। कथं पुनः प्राणादिषु जनशब्दप्रयोगः? तत्त्वेषु वा कथं जनशब्दप्रयोगः? समाने तु प्रसिद्ध्यतिक्रमे वाक्यशेषवशात्

भाष्यका अनुवाद

'यस्मिन् पञ्च०' (जिसमें पांच पञ्चजन हैं) इससे अग्रिम मंत्रमें ब्रह्मस्वरूपका निरूपण करनेके लिए 'प्राणस्य प्राणमुत०' (जो प्राणके प्राण, चक्षुके चक्षु, श्रोत्रके श्रोत्र, अन्नके अन्न और मनके मनको जानते हैं, वे ब्रह्मज्ञ हैं) इस प्रकार पांच प्राण आदिका निर्देश किया है। यहां वाक्यशेषमें पठित वे प्राण आदि संनिहित होनेके कारण पञ्चजनशब्दसे विवक्षित हैं। प्राण आदिके लिए जनशब्दका प्रयोग किस प्रकार है? तत्त्वोंके लिए जनशब्दका प्रयोग किस प्रकार है? रूढिका उल्लंघन दोनों पक्षोंमें समान होनेपर भी वाक्यशेषके बलसे

रत्नप्रभा

पञ्चजनशब्दस्य संज्ञात्वम् उक्त्वा संज्ञिकथनार्थं सूत्रं गृह्णाति—के पुनस्ते इति। श्रुतौ उतशब्दः—अप्यर्थः। ये प्राणादिप्रेरकं तत्साक्षिणम् आत्मानं विदुः, ते ब्रह्मविद इत्यर्थः। पञ्चजनशब्दस्य प्राणादिषु कया वृत्त्या प्रयोग इति शङ्कते—कथं पुनरिति। यथा तव तत्त्वेषु जनशब्दस्य लक्षणया प्रयोगः, तथा मम प्राणादिषु पञ्चजनशब्दस्य लक्षणया इत्याह—तत्त्वेष्विति। तर्हि रूढ्यतिक्रमसाम्यात् तत्त्वानि एव ग्राह्याणीत्यत आह—समाने त्विति। सन्निहितसजातीयानपेक्षश्रुतिस्था एव ग्राह्याः, न तु व्यवहितविजातीयसापेक्षस्मृतिस्था इत्यर्थः।

रत्नप्रभाका अनुवाद

'पञ्चजन' शब्द संज्ञा है, ऐसा कहकर संज्ञी कहनेके लिए सूत्र कहते हैं—"के पुनस्ते" इत्यादिसे। श्रुतिस्थ 'उत शब्द अप्यर्थक' है। जो प्राण आदिके प्रेरक एवं उनके साक्षी आत्माको जानते हैं, वे ब्रह्मवेत्ता हैं, ऐसा अर्थ है। परन्तु 'पञ्चजन' शब्दका प्राण आदिमें किस वृत्तिसे प्रयोग है, ऐसी शंका करते हैं—"कथं पुनः" इत्यादिसे। जैसे तुम्हारे (सांख्यके) मतमें तत्त्वोंमें लक्षणासे 'जन' शब्दका प्रयोग है, वैसे ही हमारे मतमें प्राण आदिमें लक्षणासे 'पञ्चजन' शब्दका प्रयोग है, ऐसा कहते हैं—"तत्त्वेषु" इत्यादिसे। तब रूढिका अतिक्रम समान होनेसे तत्त्वोंका ही ग्रहण करना युक्त है, इसपर कहते हैं—"समाने तु" इत्यादि। समीपस्थ, सजातीय एवं मूलापेक्षारहित श्रुतिमें कथितका ही ग्रहण करना युक्त है, दूरस्थ,

भाष्य

प्राणादय एव ग्रहीतव्या भवन्ति, जनसंबन्धाच्च प्राणादयो जनशब्दभाजो भवन्ति। जनवचनश्च पुरुषशब्दः प्राणेषु प्रयुक्तः 'ते वा एते पञ्च ब्रह्म-पुरुषाः' (छा० ३।१३।६) इत्यत्र; 'प्राणो ह पिता प्राणो ह माता' (छा० ७।१५।१) इत्यादि च ब्राह्मणम्। समासबलाच्च समुदायस्य रूढत्वमविरुद्धम्। कथं पुनरसति प्रथमप्रयोगे रूढिः शक्याऽऽश्रयितुम्।

भाष्यका अनुवाद

प्राण आदिका ही ग्रहण होता है और मनुष्यके साथ संबन्ध होनेसे भी प्राण आदि जनशब्दसे कहे जाते हैं। और 'ते वा एते पञ्च०' (वे ये पांच ब्रह्मपुरुष हैं) इसमें जनवाचक पुरुषशब्द प्राणके लिए कहा गया है। उसी प्रकार 'प्राणो ह पिता०' (प्राण पिता है, प्राण माता है) इत्यादि ब्राह्मण है। और समासके बलसे समुदायको रूढ माननेमें कोई विरोध भी नहीं है। परन्तु प्रथम प्रयोगके

रत्नप्रभा

लक्षणाबीजं सम्बन्धमाह—जनेति। जनः पञ्चजन इति पर्यायः। पुरुषपित्रा-दिशब्दवच्च पञ्चजनशब्दस्य प्राणादिलक्षकत्वं युक्तमित्याह—जनवचनश्चेति। ननु जायन्ते इति जनाः—महादादयः, जनकत्वात् जनः—प्रधानम् इति योगसम्भवे किमिति रूढिमाश्रित्य लक्षणाप्रयास इत्यत आह—समासेति। यथा अश्वकर्णशब्दस्य वर्णसमुदायस्य वृक्षे रूढिः, एवं पञ्चजनशब्दस्य रूढिरेव, न अवयवशक्त्यात्मको योग इत्यर्थः। पूर्वकालिकप्रयोगाभावात् न रूढिरित्या-क्षिपति—कथमिति। "स्युः पुमांसः पञ्चजनाः" इति अमरकोशादौ

रत्नप्रभाका अनुवाद

विजातीय एवं मूलापेक्ष स्मृतिमें कथितका ग्रहण करना युक्त नहीं है, ऐसा अर्थ है। लक्षणामें बीजभूत संबन्धको कहते हैं—"जन" इत्यादिसे। भाष्यगत जन और पञ्चजनशब्द एक अर्थके बोधक हैं। उक्त श्रुतियोंमें पुरुष, पिता आदि शब्दोंके समान पञ्चजनशब्दसे भी प्राण आदिका लक्षित होना युक्त है, ऐसा कहते हैं—"जनवचनश्च" इत्यादिसे। परन्तु जो उत्पन्न होते हैं, वे जन—महदादि हैं और जो जनक उत्पन्न करता है, वह जन—प्रधान है, इस प्रकार योगका संभव होनेपर तो रूढिका आश्रय करके लक्षणाका प्रयास क्यों किया जाय? इसपर कहते हैं—"समास" इत्यादि। जैसे अक्षरसमुदायरूप 'अश्वकर्ण' शब्द वृक्षमें रूढ है, वैसे ही पञ्चजनशब्दको भी रूढ ही मानना चाहिए, अवयवशक्तिरूप योगका ग्रहण नहीं करना चाहिए, ऐसा अर्थ है। परन्तु पहले कहीं प्रयोग न होनेसे रूढ़िका ग्रहण नहीं हो सकता है, ऐसा आक्षेप करते हैं—"कथम्" इत्यादिसे। 'स्युः पुमांसः पञ्चजनाः' इस प्रकार अमरकोशमें

भाष्य

शक्या उद्भिदादिवदित्याह—प्रसिद्धार्थसंनिधाने ह्यप्रसिद्धार्थः शब्दः प्रयुज्यमानः समभिव्याहारात् तद्विषयो नियम्यते, यथा 'उद्भिदा यजेत' 'यूपं

भाष्यका अनुवाद

अभावमें रूढिका आश्रय किस प्रकार किया जा सकता है ? 'उद्भित्' आदिके समान रूढि हो सकती है, ऐसा कहते हैं। प्रसिद्धार्थक पदके संनिधानमें अप्रसिद्धार्थक शब्दका प्रयोग हो, तो समभिव्याहारके बलसे अप्रसिद्धार्थक पद उससे अन्वयी अर्थपरक माना जाता है, ऐसा नियम है। जैसे कि 'उद्भिदा०'

रत्नप्रभा

प्रयोगोऽस्त्येव, तदभावमङ्गीकृत्याऽपि आह—शक्येति। जनसम्बन्धात् च इति पूर्वभाष्ये नरेषु पञ्चजनशब्दस्य रूढिमाश्रित्य प्राणादिषु लक्षणा उक्ता, इह तु प्रौढिवादेन प्राणादिषु रूढिः उच्यत इति मन्तव्यम्। संगृहीतं विवृणोति—प्रसिद्धेत्यादिना। "उद्भिदा यजेत पशुकामः" इत्यत्रोद्भित्पदं विधेयगुणार्थकं कर्मनामधेयं वा इति संशये खनित्रादौ उद्भित्पदस्य प्रसिद्धेः यागनामत्वे प्रसिद्धिविरोधात् ज्योतिष्टोमे गुणविधिरिति प्राप्ते राद्धान्तः। यजेत—यागेन इष्टं भावयेत् इत्यर्थः। ततश्च उद्भिदेत्यप्रसिद्धस्य तृतीयान्तस्य यागेन इत्यनेन प्रसिद्धार्थकेन सामानाधिकरण्येन तन्नामत्वं निश्चीयते, उद्भिनत्ति पशून् साधयतीति प्रसिद्धेः अविरोधात् अप्रकृतज्योतिष्टोमे गुणविध्ययोगात्, तद्विधौ च उद्भिदाख्यगुणवता यागेन इति मत्वर्थसम्बन्धलक्षणाप्रसङ्गाच्च इति कर्मनामैव उद्भित्पदम्। तथा

रत्नप्रभाका अनुवाद

प्रयोग हैं, तो भी प्रयोगाभावका अंगीकार करके कहते हैं—"शक्या" इत्यादिसे। 'जनसंबन्धाच्च' इस पूर्वभाष्यमें मनुष्योंमें 'पञ्चजन' शब्दकी रूढि मानकर प्राण आदिमें लक्षणा कही गई है, यहां तो जबर्दस्ती प्राण आदिमें रूढि कही जाती है, ऐसा समझना चाहिए। संगृहीत अर्थका विवरण करते हैं—"प्रसिद्ध" इत्यादिसे। 'उद्भिदा यजेत०' (पशुओंको चाहनेवाला उद्भित् नामक याग करे) इसमें 'उद्भित्' पद विधेय गुणका बोधक है अथवा कर्मका नाम है ? ऐसा संशय होनेपर खनित्र (खनंती) आदिमें उद्भित्पदकी प्रसिद्धि और यागमें अप्रसिद्धि होनेसे ज्योतिष्टोममें ही गुणका विधान करता है (स्वतन्त्र याग नहीं है) ऐसा पूर्वपक्ष प्राप्त होनेपर सिद्धान्त कहा गया है—'यजेत' का अर्थ है—'यागेनेष्टं०' (यागसे इष्टकी भावना करे), इसलिए 'उद्भिदा' इस अप्रसिद्ध तृतीयान्त पदका प्रसिद्धार्थक 'यागेन' इस पदसे सामानाधिकरण्य होनेसे 'उद्भित्' यह यागका नाम है, ऐसा निश्चय होता है, 'उद्भिनत्ति' पशुओंका संपादन कराता है अर्थात् यजमानको पशुओंकी प्राप्ति कराता है, इस व्युत्पत्तिसे 'उद्भित्' पदकी यागमें प्रसिद्धि भी है, इसलिए प्रसिद्धिविरोध न होनेसे अप्रकृत ज्योतिष्टोममें गुणविधि नहीं हो सकती, यदि गुणविधि मानें तो 'उद्भित् रूप गुणसे युक्त यागसे'

भाष्य

छिनत्ति' 'वेदिं करोति' इति, तथाऽयमपि पञ्चजनशब्दः समासान्वाख्यानादवगतसंज्ञाभावः संज्ञ्याकाङ्क्षी वाक्यशेषसमभिव्याहृतेषु प्राणादिषु वर्तिष्यते। कैश्चित्तु देवाः पितरो गन्धर्वा असुरा रक्षांसि च पञ्च पञ्चजना व्याख्याताः। अन्यैश्च चत्वारो वर्णा निषादपञ्चमाः परिगृहीताः क्वचिच्च 'यत्पाञ्चजन्यया विशा' (ऋ० सं० ८।५३।७) इति प्रजापरः

भाष्यका अनुवाद

(उद्भित् नामक याग करे) 'यूपं०' (यूपको बनाता है) और 'वेदिं०' (वेदी बनाता है) इत्यादिमें होता है, उसी प्रकार यह 'पञ्चजन' शब्द भी समासके बलसे संज्ञा बनकर संज्ञीकी आकांक्षा करता हुआ वाक्यशेष और समभिव्याहारके बलसे प्राण आदिमें प्रवृत्त होगा। कितने ही लोगोंने तो देव, पितृ, गन्धर्व, असुर और राक्षस ये पांच पञ्चजन हैं, ऐसा व्याख्यान किया है। उसी प्रकार दूसरोंने चार वर्ण और पांचवें निषादका ग्रहण किया है। और कहींपर

रत्नप्रभा

छिनत्तीति प्रसिद्धार्थच्छेदनयोग्यार्थकशब्दसमभिव्याहारात् दारुविशेषो यूपशब्दार्थः। करोतीति समभिव्याहाराद् वेदिशब्दार्थः संस्कारयोग्यस्थण्डिलविशेष इति गम्यते, तथा प्रसिद्धार्थकप्राणादिशब्दसमभिव्याहारात् पञ्चजनशब्दः प्राणाद्यर्थक इति निश्चीयते इत्यर्थः। एकदेशिनां मतद्वयमाह—कैश्चिदित्यादिना। शूद्रयां ब्राह्मणाद् जातः निषादः। श्रुत्या पञ्चजनशब्दस्य अर्थान्तरमाह—क्वचिच्चेति। पाञ्चजन्यया प्रजया विशति इति विट् तया विशा पुरुषरूपया इन्द्रस्य

रत्नप्रभाका अनुवाद

इस प्रकार मत्वर्थ-संबन्धमें लक्षणा माननी पड़ेगी, इसलिए 'उद्भित्' पद कर्मका नाम ही है। उसी प्रकार प्रतीत होता है कि 'यूपं छिनत्ति'में प्रसिद्धार्थभूत छेदनयोग्य अर्थका प्रतिपादन करनेवाले 'छिनत्ति' पदके समभिव्याहा[१]रसे 'यूप' शब्दका अर्थ दारुविशेष (एक प्रकारकी लकड़ी) है एवं 'करोति' पदके समभिव्याहारसे 'वेदि' शब्दका अर्थ संस्कारके योग्य स्थण्डिल[२]विशेष है, इसी प्रकार प्रसिद्ध अर्थवाले प्राण आदि शब्दोंके समभिव्याहारसे निश्चय होता है कि 'पञ्चजन' शब्द प्राण आदिका बोधक है। एकदेशियोंके दो मत कहते हैं—"कैश्चिद्" इत्यादिसे। शूद्रस्त्रीमें ब्राह्मणसे उत्पन्न निषाद है। श्रुतिसे 'पञ्चजन' शब्दका दूसरा भी अर्थ होता है, ऐसा कहते हैं—"क्वचिच्च" इत्यादिसे। पाञ्चजन्य-प्रजारूपसे जो प्रवेश करता है, वह विट्

(१) एक साथ कथन।
(२) यज्ञके लिए पवित्र किया हुआ स्थान।

भाष्य

प्रयोगः पञ्चजनशब्दस्य दृश्यते तत्परिग्रहेऽपीह न कश्चिद्विरोधः। आचार्यस्तु न पञ्चविंशतेस्तत्त्वानामिह प्रतीतिरस्तीत्येवंपरतया 'प्राणादयो वाक्यशेषात्' इति जगाद ॥ १२ ॥

भवेयुस्तावत् प्राणादयः पञ्चजना माध्यन्दिनानाम्, येऽन्नं प्राणादिष्वामनन्ति। काण्वानां तु कथं प्राणादयः पञ्चजना भवेयुर्येऽन्नं प्राणादिषु नाऽऽमनन्तीति। अत उत्तरं पठति—

भाष्यका अनुवाद

'यत्पाञ्चजन्यया०' इस प्रकार पञ्चजनशब्द प्रजाके अर्थमें प्रयुक्त हुआ दिखाई देता है। उसका ग्रहण करनेमें भी कोई विरोध नहीं है। आचार्यने तो पचीस तत्त्वोंकी यहां प्रतीति नहीं होती इस आशयसे 'प्राणादयो०' ऐसा कहा है ॥१२॥

प्राण आदिमें अन्नका पाठ करनेवाले माध्यन्दिनशाखावालोंके मतमें प्राण आदि पञ्चजन हो सकते हैं, परन्तु काण्व जो प्राण आदिमें अन्नका पाठ नहीं करते हैं, उनके मतमें प्राण आदि पञ्चजन किस प्रकार हो सकते हैं? इसके लिए उत्तर सूत्र पढ़ते हैं—

रत्नप्रभा

आह्वानार्थं घोषाः सृष्टा इति यत् तद्युक्तम्, घोषातिरेकेण इन्द्राह्वानायोगादिति श्रुत्यनुसारेण प्रजामात्रग्रहेऽपि न विरोध इत्यर्थः। सूत्रविरोधमाशङ्क्याऽऽह— आचार्यस्त्विति। अतः सांख्यतत्त्वातिरिक्तयत्किञ्चित्परतया पञ्चजनशब्दव्याख्यायाम् अविरोध इति भावः ॥१२॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

कहलाता है, उस पुरुषरूप प्रजाने इन्द्रका आह्वान करनेके लिए शब्दोंकी सृष्टि की यह बात उपपन्न ही है, क्योंकि शब्दोंके बिना इन्द्रका आह्वान नहीं हो सकता, इस प्रकार श्रुतिके अनुसार 'पञ्चजन' शब्दसे प्रजामात्रका ग्रहण करनेपर भी कोई विरोध नहीं है, ऐसा अर्थ है। सूत्रविरोधकी शंका करके कहते हैं—"आचार्यस्तु" इत्यादि। इसलिए 'पञ्चजन' शब्दको सांख्यके तत्त्वोंसे अतिरिक्त किसी अर्थपरक माननेपर भी कोई विरोध नहीं है, ऐसा अर्थ है ॥ १२ ॥

ज्योतिषैकेषामसत्यन्ने ॥ १३ ॥

पदच्छेद—ज्योतिषा, एकेषाम्, असति, अन्ने।

पदार्थोक्ति—एकेषाम्—काण्वानाम्, अन्ने असति, ज्योतिषा—'तद्देवा ज्योतिषां ज्योतिः' इत्यादिपूर्ववाक्यस्थज्योतिषा [पञ्चत्वं पूरणीयम्]।

भाषार्थ—काण्वोंके पाठमें पूर्वोक्त प्राण आदि पांचमें अन्न न होनेके कारण 'तद्देवा०' इस पूर्ववाक्यस्थ ज्योतिसे पञ्चसङ्ख्याकी पूर्ति करनी चाहिए।

भाष्य

असत्यपि काण्वानामन्ने ज्योतिषा तेषां पञ्चसंख्या पूर्येत। तेऽपि हि 'यस्मिन् पञ्च पञ्चजनाः' इत्यतः पूर्वस्मिन् मन्त्रे ब्रह्मस्वरूपनिरूपणायैव ज्योतिरधीयते—'तद्देवा ज्योतिषां ज्योतिः' इति कथं पुनरुभयेषामपि तुल्यवदिदं ज्योतिः पठ्यमानं समानमन्त्रगतया पञ्चसंख्यया केषांचिद् गृह्यते केषांचिन्नेति? अपेक्षाभेदादित्याह। माध्यन्दिनानां हि समान-

भाष्यका अनुवाद

काण्वोंके पाठमें अन्नके न होनेपर भी ज्योतिसे उनकी पांच संख्याकी पूर्ति होती है, क्योंकि वे भी 'यस्मिन् पञ्च०' (जिसमें पांच पञ्चजन) इत्यादिसे पूर्व मंत्रमें ब्रह्मस्वरूपका निरूपण करनेके लिए ही 'तद्देवा ज्योतिषां०' (ज्योतियोंकी ज्योतिरूपसे उसकी देवता उपासना करते हैं) इस प्रकार ज्योतिका अध्ययन करते हैं। परन्तु दोनों ही शाखावालोंके पाठमें समान रीतिसे पठित इस ज्योतिका एक ही मंत्रमें आई हुई पांच संख्यासे कुछ लोग ग्रहण करते हैं और कुछ लोग ग्रहण नहीं करते, इसमें क्या कारण है? अपेक्षाका-

---

रत्नप्रभा

शङ्कोत्तरत्वेन सूत्रं गृह्णाति—भवेयुरिति। ज्योतिषां सूर्यादीनां ज्योतिः तद् ब्रह्म देवा उपासत इत्यर्थः। ननु इदं षष्ठ्यन्तज्योतिःपदोक्तं सूर्यादिकं ज्योतिः शाखाद्वयेऽपि अस्ति, तत् काण्वानां पञ्चत्वपूरणाय गृह्यते नाऽन्येषामिति विकल्पो न युक्त इति शङ्कते—कथं पुनरिति। आकाङ्क्षाविशेषाद् विकल्पो युक्त इत्याह

रत्नप्रभाका अनुवाद

शंकाके उत्तररूपसे सूत्रका ग्रहण करते हैं—"भवेयुः" इत्यादिसे। सूर्य आदि ज्योतियोंके ज्योतिरूप ब्रह्मकी उपासना देवता करते हैं, ऐसा 'तद्देवा०' इस श्रुतिका अर्थ है। परन्तु षष्ठ्यन्त ज्योतिःपदसे कथित यह सूर्य आदि ज्योति दोनोंकी—काण्व और माध्यन्दिनोंकी—शाखामें है, तो काण्व पञ्चत्वकी पूर्तिके लिए उसका ग्रहण करते हैं और माध्यन्दिन ग्रहण नहीं करते हैं, ऐसा विकल्प युक्त नहीं है, ऐसी शंका करते हैं—"कथं पुनः" इत्यादिसे। आकांक्षा

भाष्य

मन्त्रपठितप्राणादिपञ्चजनलाभान्नाऽस्मिन् मन्त्रान्तरपठिते ज्योतिष्यपेक्षा भवति। तदलाभात्तु काण्वानां भवत्यपेक्षा। अपेक्षाभेदाच्च समानेऽपि मन्त्रे ज्योतिषो ग्रहणाग्रहणे, यथा समानेऽप्यतिरात्रे वचनभेदात् षोडशिनो ग्रहणाग्रहणे, तद्वत्। तदेवं न तावच्छ्रुतिप्रसिद्धिः काचित् प्रधानविषयाऽस्ति, स्मृतिन्यायप्रसिद्धी तु परिहरिष्येते ॥ १३ ॥

भाष्यका अनुवाद

आकांक्षाका भेद इसमें कारण है, ऐसा कहते हैं। एक ही मंत्रमें पठित प्राण आदिका माध्यन्दिनोंको लाभ होता है, इसलिए दूसरे मंत्रमें पठित ज्योतिकी उन्हें आकांक्षा नहीं रहती है। और एक ही मंत्रमें प्राण आदि पञ्चजनोंका लाभ न होनेसे काण्वोंको उसकी आकांक्षा रहती है। अपेक्षाके भेदसे समान मंत्रमें ही पठित ज्योतिका ग्रहण और अग्रहण होता है। जैसे एक ही अतिरात्र सत्रमें वचनभेदसे कहीं षोडशी (पात्र) का ग्रहण होता है और कहीं नहीं होता है। इसलिए इस प्रकार प्रधानमें कुछ भी श्रुतिप्रसिद्धि नहीं है। स्मृतिप्रसिद्धि और न्यायप्रसिद्धिका तो आगे परिहार करेंगे ॥१३॥

रत्नप्रभा

सिद्धान्ती—अपेक्षेति। यथाऽतिरात्रे षोडशिनं गृह्णातीति वाक्यभेदाद् विकल्पः, तद्वच्छाखाभेदेन अन्नपाठापाठाभ्यां ज्योतिषो विकल्प इत्यर्थः। ननु क्रियायां विकल्पो युक्तः, न वस्तुनि इति चेत्; सत्यम्, अत्राऽपि शाखाभेदेन सान्ना ज्योतिःसहिता वा प्राणादयो यत्र प्रतिष्ठिताः, तत् मनसा अनुद्रष्टव्यमिति ध्यानक्रियायां विकल्पोपपत्तिरिति अनवद्यम्। उक्तं प्रधानस्याऽशब्दत्वमुपसंहरति—तदेवमिति। तथापि स्मृतियुक्तिभ्यां प्रधानमेव जगत्कारणम् इत्यत आह—स्मृतीति ॥१३॥ (३) ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

विशेषसे विकल्प युक्त है, ऐसा सिद्धान्ती कहते हैं—"अपेक्षा" इत्यादिसे। जैसे अतिरात्र नामक यागमें षोडशी (यज्ञपात्र) का ग्रहण करता है और षोडशीका ग्रहण नहीं करता है, ऐसा वाक्यभेदसे विकल्प है, उसी प्रकार शाखाभेदसे अन्नके पाठ और पाठाभावसे ज्योतिका विकल्प होता है, ऐसा अर्थ है। यदि कोई कहे कि क्रियामें विकल्प होना युक्त है, वस्तुमें विकल्प होना ठीक नहीं है, तो यह बात (क्रियामें ही विकल्प होना युक्त है) सत्य है। परन्तु यहां भी कुछ दोष नहीं है, क्योंकि शाखाभेदसे अन्नसहित अथवा ज्योतिःसहित प्राण आदि जिसमें प्रतिष्ठित हैं, उसका मनसे ध्यान करना चाहिए, इस प्रकार ध्यानक्रियामें ही विकल्प है। प्रधान अशब्द है, ऐसा जो प्रतिपादन किया है, उसका उपसंहार करते हैं—"तदेवम्" इत्यादिसे। तो भी स्मृति और युक्तिसे प्रधान ही जगत्का कारण है, इसपर कहते हैं—"स्मृति" इत्यादि ॥ १३ ॥

[४ कारणत्वाधिकरण सू० १४—१५]

समन्वयो जगद्योनौ न युक्तो युज्यतेऽथवा ।
न युक्तो वेदवाक्येषु परस्परविरोधतः ॥ १ ॥
सर्गक्रमविवादेऽपि नासौ स्रष्टरि विद्यते ।
अव्याकृतमसत्प्रोक्तं युक्तोऽसौ कारणे ततः* ॥ २ ॥

[अधिकरणसार]

सन्देह—जगत्के कारणमें वेदान्तोंका समन्वय युक्त है या नहीं ?

पूर्वपक्ष—वेदान्तवाक्योंमें परस्पर विरोध रहनेके कारण समन्वय नहीं हो सकता।

सिद्धान्त—सृष्टिके क्रममें विवाद रहनेपर भी स्रष्टामें विवाद नहीं है, 'असत्' शब्दका अर्थ अव्याकृत है, इसलिए जगत्कारणमें वेदान्तवाक्योंका समन्वय युक्त है।

---

* तात्पर्य यह है कि साढे तीन पादोंसे जगत्कारणमें वेदान्तोंका जो समन्वय कहा गया है, उसपर आक्षेप करके समाधान करनेके लिए इस अधिकरणका आरम्भ है।

पूर्वपक्षी कहता है कि जगत्कारणमें वेदान्तोंका समन्वय युक्त नहीं है, क्योंकि वेदान्तवाक्योंमें बहुधा विरोधकी प्रतीति होनेसे उनका प्रामाण्य ही दुःसम्पाद है। जैसे कि "आत्मन आकाशः सम्भूतः" (आत्मासे आकाश उत्पन्न हुआ) इस प्रकार तैत्तिरीयक श्रुतिमें आकाश आदिका स्रष्टा कहा गया है। छान्दोग्यमें "तत्तेजोऽसृजत" (उसने तेजकी सृष्टि की) इस प्रकार तेज आदिका स्रष्टा कहा गया है। ऐतरेयमें "स इमाँल्लोकानसृजत" (उसने इन लोकोंको उत्पन्न किया) इस प्रकार लोकोंका स्रष्टा कहा गया है। मुण्डकमें "एतस्माज्जायते प्राणः" (इससे प्राण उत्पन्न हुआ) इस प्रकार प्राण आदिका स्रष्टा कहा गया है। केवल कार्य द्वारा ही विरोध नहीं है किन्तु कारणके स्वरूपके उपन्यासमें भी विरोध है—"सदेव सोम्येदमग्र आसीत्" (हे प्रिय दर्शन ! यह सारा जगत् उत्पत्तिके पूर्व सद्रूप ही था) इस छान्दोग्य श्रुतिमें सद्रूप कारण कहा गया है। तैत्तिरीयकमें 'असद्वा इदमग्र आसीत्' (यह सब पहले असत् ही था) इस प्रकार असद्रूप कारण कहा गया है। ऐतरेयकमें 'आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्' (यह सब उत्पत्तिके पूर्वमें केवल आत्मरूप ही था) इस प्रकार आत्मरूप कारण कहा गया है। इससे सिद्ध हुआ कि परस्पर विरोध होनेसे वेदान्तोंका समन्वय नहीं हो सकता।

सिद्धान्ती कहते हैं कि उत्पादित आकाश आदिमें और सृष्टिक्रममें भले ही विवाद हो, क्योंकि वेदान्त-वाक्योंका तात्पर्य आकाश आदिमें नहीं होनेसे आकाश आदिका उपन्यास अद्वितीय ब्रह्मके बोधके लिए ही है। वेदान्तवाक्योंके तात्पर्यविषयभूत जगत्स्रष्टा ब्रह्ममें तो कहीं भी विरोध नहीं है। कहींपर 'सत्' शब्दसे कथित ब्रह्मका दूसरे स्थानमें सर्वजीवरूपत्व कहनेकी इच्छासे आत्मशब्दसे अभिधान है। 'असत्' शब्दसे जो अभिधान है, वह अव्याकृत कहनेकी इच्छासे है, क्योंकि 'कथमसतः सज्जायेत' (असत्‌से सत् कैसे उत्पन्न हो सकता है) इस प्रकार दूसरी श्रुतिसे अभावमें कारणत्वका निषेध किया है। इसलिए एकवाक्यताकी उपपत्ति होनेसे जगत्कारणमें वेदान्तोंका समन्वय होना युक्त है।

कारणत्वे न चाकाशादिषु यथाव्यपदिष्टोक्तेः ॥ १४ ॥

पदच्छेद—कारणत्वे, न, च, आकाशादिषु, यथाव्यपदिष्टोक्तेः।

पदार्थोक्ति—कारणत्वे च—ब्रह्मणः जगत्कारणत्वे तु, न—विरोधो नास्ति [कुतः] आकाशादिषु—सृज्यमानेषु आकाशादिपदार्थेषु, यथाव्यपदिष्टोक्तेः—यथाभूत ईश्वरः एकत्र कारणत्वेनोपदिष्टः, तथाभूतस्यैवाऽपरत्र कथनात्।

भाषार्थ—ब्रह्मके जगत्कारण होनेमें कोई विरोध नहीं है, क्योंकि सृज्यमान आकाश आदि पदार्थोंके विषयमें यादृश ईश्वर एक उपनिषद्में कारणरूपसे कहा गया है, तादृश ही अन्य उपनिषदोंमें भी कारणरूपसे कहा गया है।

भाष्य

प्रतिपादितं ब्रह्मणो लक्षणम्, प्रतिपादितं च ब्रह्मविषयं गतिसामान्यं वेदान्तवाक्यानाम्, प्रतिपादितं च प्रधानस्याऽशब्दत्वम्। तत्रेदम-

भाष्यका अनुवाद

ब्रह्मका लक्षण कहा जा चुका है, सब वेदान्तवाक्य समानरूपसे ब्रह्मके ही बोधक हैं, यह कहा जा चुका है, एवं प्रधान श्रुतिप्रतिपादित नहीं है, यह भी कहा

रत्नप्रभा

कारणत्वे न चाकाशादिषु यथाव्यपदिष्टोक्तेः। पूर्वग्रन्थेन अस्य सङ्गतिं वक्तुं वृत्तमनुवदति—प्रतिपादितमिति। अधिकरणत्रयेण प्रधानस्य अश्रौतत्वोक्त्या जगत्कारणत्वलक्षणेन ब्रह्मण एव बुद्धिस्थता, तस्मिन्नेव बुद्धिस्थे निर्विशेषे ब्रह्मणि वेदान्तानां समन्वय इति सावितं पूर्वसूत्रसन्दर्भेण। तत्र लक्षणसमन्वययोः असिद्धिरेव, श्रुतीनां विरोधदर्शनात् इत्याक्षेपरूपां तेन अस्य सङ्गतिमाह—तत्रेति। न च अविरोधचिन्ताया द्वितीयाध्याये सङ्गतिः, न

रत्नप्रभाका अनुवाद

कारणत्वे न·········व्यपदिष्टोक्तेः। पूर्व ग्रन्थके साथ इस अधिकरणकी संगति कहनेके लिए वृत्तका अनुवाद करते हैं—"प्रतिपादितम्" इत्यादिसे। पूर्वके तीन अधिकरणों द्वारा प्रधानको अशब्द कहनेसे जगत्कारणत्वरूप लक्षणसे ब्रह्म ही बुद्धिस्थ होता है उसी बुद्धिस्थ निर्गुण ब्रह्ममें वेदान्तोंका समन्वय है, ऐसा पूर्व ग्रन्थसे सिद्ध किया गया है। उसमें लक्षण और समन्वय दोनों असिद्ध ही हैं, क्योंकि श्रुतियोंका विरोध देखनेमें आता है, इस प्रकार पूर्वग्रन्थके साथ इसकी आक्षेपसंगति कहते हैं—"तत्र" इत्यादिसे। यदि कोई कहे कि अविरोधका विचार तो दूसरे अध्यायका विषय है, इस अध्यायका

भाष्य

परमाशङ्क्यते—न जन्मादिकारणत्वं ब्रह्मणो ब्रह्मविषयं वा गतिसामान्यं वेदान्तवाक्यानां प्रतिपादयितुं शक्यम्। कस्मात्? विगानदर्शनात्।

भाष्यका अनुवाद

जा चुका है। यहाँ पर अब दूसरी शंका होती है—ब्रह्म जगत्के जन्म आदिका कारण है और सब वेदान्तवाक्य समानभावसे उसीमें समन्वित हैं, ऐसा नहीं

रत्नप्रभा

अस्मिन् अध्याये इति वाच्यम्, सिद्धे समन्वये स्मृत्यादिमानान्तरविरोधनिरासस्य द्वितीयाध्यायार्थत्वात्। तत्पदवाच्यजगत्कारणवादिश्रुतीनां मिथो विरोधाद् वाच्यार्थानिश्चयेन लक्ष्ये समन्वयासिद्धौ प्राप्तायां तत्साधकाविरोधचिन्ताया अत्रैव सङ्गतत्वात्। न चैवं सृष्टिश्रुतीनामपि अविरोधोऽत्रैव चिन्तनीय इति वाच्यम्, स्वप्नवत् कल्पितसृष्टौ विरोधस्यैव अभावात्। किमर्थं तर्हि द्वितीये तच्चिन्तनम्, स्थूलबुद्धिसमाधानार्थमिति ब्रूमः। इह तु सूक्ष्मदृशां वाक्यार्थे समन्वयज्ञानाय तत्पदार्थश्रुतिविरोधः परिह्रियते। यद्यपि त्वम्पदार्थश्रुतिविरोधोऽत्र परिहर्तव्यः, तथापि प्रथमसूत्रेण बन्धमिथ्यात्वसूचनात् अविरोधः सिद्धः। प्रपञ्चस्तु स्थूलबुद्धिसमाधानप्रसङ्गेन भविष्यतीति मन्यते सूत्रकारः। अत्र जगत्कारणश्रुतयो विषयः, ताः किं ब्रह्मणि मानं न वा इति संशये अन्नज्योतिषोः संख्यादृष्टिक्रियायां

रत्नप्रभाका अनुवाद

नहीं है, तो यह शंका युक्त नहीं है, क्योंकि वेदान्तवाक्योंका समन्वय ब्रह्ममें सिद्ध होनेपर स्मृति आदि अन्य प्रमाणोंके विरोधका निराकरण करना दूसरे अध्यायका प्रयोजन है। तत्पदवाच्य जो जगत्का कारण है उसको कहनेवाली श्रुतियोंका परस्पर विरोध होनेसे वाच्यार्थका निश्चय न होनेके कारण लक्ष्यभूत ब्रह्ममें वेदान्तोंके समन्वयकी असिद्धि प्राप्त होनेपर समन्वयको सिद्धकरनेवाले अविरोधकी चिन्ताकी यहां संगति है ही। तब सृष्टिसंबन्धी श्रुतियोंके अविरोधकाभी यहीं विचार कर लेना चाहिए, ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि स्वप्नके समान कल्पित सृष्टिमें विरोध ही नहीं है। यदि ऐसा है, तो द्वितीयाध्यायमें उसका विचार क्यों है? हम कहते हैं कि यह तो स्थूलबुद्धियोंके समाधानके लिए है। यहां तो सूक्ष्मबुद्धियोंको ब्रह्ममें वेदान्तवाक्योंके समन्वयका ज्ञान होनेके लिए तत्पदार्थश्रुतियोंके विरोधका परिहार किया जाता है। यद्यपि यहां त्वम्पदार्थश्रुतिके विरोधका परिहार करना उचित था, तो भी प्रथम सूत्रसे बन्धका मिथ्यात्व सूचित होनेसे अविरोध सिद्ध ही है। इसका विस्तार तो स्थूलबुद्धियोंके समाधानके लिए है, ऐसा सूत्रकार मानते हैं। यहां जगत्के कारणका प्रतिपादन करनेवाली श्रुतियां विषय हैं। वे ब्रह्ममें प्रमाण हैं या नहीं ऐसा संशय होनेपर संख्याको प्रधान रखकर क्रियमाण ध्यानक्रियामें अन्न और

भाष्य

प्रतिवेदान्तं ह्यन्याऽन्या सृष्टिरुपलभ्यते, क्रमादिवैचित्र्यात् । तथाहि—क्वचित् 'आत्मन आकाशः संभूतः' (तै० २।१) इत्याकाशादिका सृष्टिराम्नायते । क्वचित् तेजआदिका—'तत्तेजोऽसृजत' (छा०६।२।३) इति, क्वचित् प्राणादिका—'स प्राणमसृजत प्राणाच्छ्रद्धाम्' (प्र० ६।४) इति, क्वचिदक्रमेणैव लोकानामुत्पत्तिराम्नायते—'स इमाँल्लोकानसृजत । अम्भो

भाष्यका अनुवाद

माना जा सकता । किससे ? विप्रतिपत्तिदर्शनसे । क्योंकि प्रत्येक उपनिषत्में क्रम आदिकी विचित्रतासे अन्यान्य सृष्टि उपलब्ध होती है । जैसे कि कहीं पर 'आत्मन आकाशः' (आत्मासे आकाश उत्पन्न हुआ) इस प्रकार श्रुतिमें आकाशपूर्वक सृष्टि कही गई है । कहीं पर 'तत्तेजो०' (उसने तेज उत्पन्न किया) इस प्रकार तेजपूर्वक सृष्टि कही गई है । कहीं पर 'स प्राणमसृजत०' (उसने प्राण उत्पन्न किया, प्राणसे श्रद्धा उत्पन्न की) इस प्रकार प्राणपूर्वक सृष्टि कही गई है । कहीं पर 'स इमाँल्लोकानसृजत०' (उसने इन लोकोंकी सृष्टिकी—जलमयशरीरवाला स्वर्गलोक, सूर्यकिरणसे

रत्नप्रभा

विकल्पेऽपि कारणे वस्तुनि असद् वा सद् वा कारणम् इत्यादिविकल्पासम्भवाद् अप्रामाण्यमिति प्रत्युदाहरणेन पूर्वपक्षयन् उक्ताक्षेपं विवृणोति—**प्रतिवेदान्तमित्यादिना** । वेदान्तानां समन्वयसाधनात् श्रुत्यध्यायसङ्गतिः । असदादिपदानां सत्कारणे समन्वयोक्तेः पादसङ्गतिः । पूर्वपक्षे समन्वयासिद्धिः फलम्, सिद्धान्ते तत्सिद्धिरिति विवेकः । क्रमाक्रमाभ्यां सृष्टिविरोधं तावद् दर्शयति—**तथाहि क्वचिदित्यादिना** । स परमात्मा लोकानसृजत । अम्मयशरीरप्रचुरस्वर्गलोकः अम्भःशब्दार्थः । सूर्यरश्मिव्याप्तोऽन्तरिक्षलोकः—मरीचयः । मरः—मर्त्यलोकः ।

रत्नप्रभाका अनुवाद

ज्योतिका विकल्प होनेपर भी जगत्कारणके विषयमें कारण सत् है या असत् है, इत्यादि विकल्पोंका संभव न होनेसे उन श्रुतियोंका अप्रामाण्य हो जायगा, इस प्रकार प्रत्युदाहरण संगतिसे पूर्वपक्ष करते हुए उक्त आक्षेपका विवरण करते हैं—"प्रतिवेदान्तम्" इत्यादिसे । वेदान्तोंका ब्रह्ममें समन्वय सिद्ध किया जाता है, इसलिए श्रुतिसंगति और अध्यायसंगति हैं । 'असत्' आदि पदोंका सद्रूप कारणमें समन्वय कहा गया है, अतः पादसंगति है । पूर्वपक्षमें ब्रह्ममें वेदान्तवाक्योंके समन्वयकी असिद्धि फल है, सिद्धान्तमें उसकी सिद्धि फल है, ऐसा जानना चाहिए । क्रम और अक्रमसे सृष्टिमें विरोध दिखलाते हैं—"तथा हि क्वचित्" इत्यादिसे । उस परमात्माने लोकोंकी सृष्टि की । जलमय शरीर जिसमें बहुत हैं, वह स्वर्गलोक 'अम्भः' शब्दका अर्थ है । सूर्यरश्मियोंसे व्याप्त अन्तरिक्षलोक 'मरीचि' है । मर—मनुष्यलोक । जलपूरित पाताल लोक

भाष्य

मरीचीर्मरमापः' (ए० उ० ४।१।२) इति, तथा क्वचिदसत्पूर्विका सृष्टिः पठ्यते—'असद्वा इदमग्र आसीत्ततो वै सदजायत' (तै० २।७) इति, 'असदेवेदमग्र आसीत्तत्सदासीत्तत्समभवत्' (छा० ३।१९।१) इति च। क्वचिदसद्वादनिराकरणेन सत्पूर्विका प्रक्रिया प्रतिज्ञायते—'तद्धैक आहुरसदेवेदमग्र आसीत्' इत्युपक्रम्य 'कुतस्तु खलु सोम्यैवं स्यादिति होवाच कथमसतः सज्जायेतेति, 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्' (छा०६।२।१,२)

भाष्यका अनुवाद

व्याप्त अन्तरिक्षलोक, मनुष्यलोक और जलमय पाताललोक) इस प्रकार क्रमके बिना ही लोकोंकी सृष्टि कही गई है। इसी प्रकार कहींपर 'असद्वा इदमग्र०' (पूर्वमें यह असत् था, इससे सत् उत्पन्न हुआ) और 'असदेवेदमग्र०' (पूर्वमें यह असत् ही था, वह सत् हुआ, वह सम्यक् अभिव्यक्त हुआ) इस प्रकार असत्पूर्वक सृष्टि कही गई है। कहींपर असद्वादका निराकरण करके 'तद्धैक आहुरसदे०' (जगत्‌के कारणके विषयमें कुछ लोग कहते हैं कि पहले यह असत् ही था) इस प्रकार उपक्रम करके 'कुतस्तु खलु सोम्यैवं०' (परन्तु हे सोम्य ! ऐसा किस प्रकार हो सकता है,

रत्नप्रभा

अब्बहुलाः पाताललोकाः—आप इति श्रुत्यर्थः। सृष्टिविरोधम् उक्त्वा कारणविरोधमाह—तथेति। असद्—अनभिव्यक्तनामरूपात्मकं कारणम्, ततः—कारणात् सद्—अभिव्यक्तम्। एतत्तुल्यार्थं छान्दोग्यवाक्यमाह—असदेवेति। किं शून्यमेव नेत्याह—तत्सदिति। अबाधितं ब्रह्मैव आसीदित्यर्थः। तद्—ब्रह्मात्मना स्थितं जगत् सृष्टिकाले सम्यगभिव्यक्तम् अभवत्। प्रक्रिया—सृष्टिः। तत्—तत्र कारणे। एके—बाह्याः, तेषां मतं श्रुतिरेव दूषयति—कुत इति। कुतएवंपदयोः

रत्नप्रभाका अनुवाद

'आपः' शब्दसे कहा गया है, यह श्रुतिका अर्थ है। सृष्टिका विरोध कहकर कारणमें विरोध दिखलाते हैं—"तथा" इत्यादिसे। 'असत्'—जिसके नाम और रूप अभिव्यक्त नहीं हुए, ऐसा कारण, उस कारणसे सत्—दृश्यमान जगत् अभिव्यक्त हुआ। तैत्तिरीयक श्रुतिकी समानार्थक छान्दोग्यश्रुति कहते हैं—"असदेव" इत्यादि। प्रारम्भमें क्या शून्य ही था? इस शंकापर "तत्सत्" इत्यादिसे कहते हैं कि नहीं था, किन्तु अबाधित ब्रह्म था। 'तत्समभवत्'—ब्रह्मरूपसे स्थित जगत् सृष्टि कालमें भली भाँति अभिव्यक्त हुआ। प्रक्रिया—सृष्टि। तत्–कारणमें। एके—बाह्य, श्रुतिसे बहिर्मुख, उनका मत श्रुति ही दूषित करती है—"कुतः"

भाष्य

इति, क्वचित् स्वयंकर्तृकैव व्याक्रिया जगतो निगद्यते—'तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतमासीत्तन्नामरूपाभ्यामेव व्याक्रियत' (बृ० १।४।७) इति। एवमनेकधा विप्रतिपत्तेर्वस्तुनि च विकल्पस्याऽनुपपत्तेर्न वेदान्तवाक्यानां जगत्कारणावधारणपरता न्याय्या। स्मृतिन्यायप्रसिद्धिभ्यां तु कारणान्तर-परिग्रहो न्याय्य इति।

एवं प्राप्ते ब्रूमः—सत्यपि प्रतिवेदान्तं सृज्यमानेष्वाकाशादिषु क्रमा-दिद्वारके विगाने न स्रष्टरि किंचिद्विगानमस्ति। कुतः? यथाव्यप-

भाष्यका अनुवाद

असत्से सत् किस प्रकार उत्पन्न हो सकता है, हे सोम्य! यह सब पूर्वमें सत् ही था, ऐसा कहते हैं) इस प्रकार सत्पूर्वक सृष्टिकी प्रतिज्ञा की जाती है। कहींपर 'तद्धेदं तर्ह्यव्याकृत०' (यह सृष्टिके पूर्वमें अव्याकृत था, वह नाम-रूपसे ही व्याकृत हुआ) इत्यादिसे जगत्की सृष्टि अपने आप ही हुई है, ऐसा कहा है। इस प्रकार अनेक रीतिसे विप्रतिपत्ति होने और वस्तुमें विकल्पका संभव न होनेसे वेदान्तवाक्योंका तात्पर्य जगत्कारणके अवधारणमें है, यह नहीं माना जा सकता। स्मृतिप्रसिद्धि और न्यायप्रसिद्धिसे तो ब्रह्मभिन्न कारणका स्वीकार करना उचित है।

ऐसा प्राप्त होनेपर हम कहते हैं—उपनिषदोंमें सृज्यमान आकाश आदिके क्रमके विषयमें विप्रतिपत्ति होनेपर भी स्रष्टाके विषयमें कुछ भी विरोध नहीं है।

रत्नप्रभा

अर्थमाह—कथमिति। स्वमतमाह—सदिति। तदिदं—जगत् ह—किल तर्हि—प्राक्काले अव्याकृतम् कारणात्मकम् आसीत्। श्रुतीनां विरोधम् उपसंहरति—एवमिति। किमत्र न्याय्यम्—इत्याशङ्क्य मानान्तरसिद्धप्रधानलक्षकत्वं वेदान्तानां न्याय्यमित्याह—स्मृतीति।

तत्र सृष्टौ विरोधम् अङ्गीकृत्य स्रष्टरि विरोधं परिहरति—सत्यपीति।

रत्नप्रभाका अनुवाद

इत्यादिसे। 'कुतः' और 'एवम्' पदका अर्थ कहते हैं—"कथम्" इत्यादिसे। श्रुति अपना मत कहती है—"सत्" इत्यादिसे। यह जगत् सृष्टिके पहले कारणात्मक था। श्रुतियोंके विरोधका उपसंहार करते हैं—"एवम्" इत्यादिसे। तब यहां क्या उचित है, ऐसी आशंका करके अन्य प्रमाणसे सिद्ध हुए प्रधान को ही वेदान्तवाक्योंका लक्ष्य मानना उचित है, ऐसा कहते हैं—"स्मृति" इत्यादिसे।

ऐसी स्थिति प्राप्त होनेपर सृष्टिमें विरोधका अंगीकार करके सृष्टिकर्तामें विरोधका परिहार

भाष्य

दिष्टोक्तेः। यथाभूतो ह्येकस्मिन् वेदान्ते सर्वज्ञः सर्वेश्वरः सर्वात्मैकोऽद्वितीयः कारणत्वेन व्यपदिष्टः, तथाभूत एव वेदान्तान्तरेष्वपि व्यपदिश्यते। तद्यथा—'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (तै० २।१ इति)। अत्र तावद् ज्ञानशब्देन परेण च तद्विषयेण कामयितृत्ववचनेन चेतनं ब्रह्म न्यरूपयत्, अपरप्रयोज्यत्वेनेश्वरं कारणमब्रवीत्। तद्विषयेणैव परेणाऽऽत्मशब्देन शरीरादिकोशपरम्परया चाऽन्तरनुप्रवेशनेन सर्वेषामन्तः प्रत्यगात्मानं निरधारयत्। 'बहु स्यां प्रजायेय' (तै० २।६) इति चाऽऽत्मविषयेण

भाष्यका अनुवाद

क्योंकि जैसा एक जगह स्रष्टाका व्यपदेश है, वैसा ही सब जगह व्यपदेश है अर्थात् एक उपनिषत्में जैसा सर्वज्ञ, सर्वेश्वर, सर्वात्मक, एक, अद्वितीय ईश्वर कारणरूप कहा गया है, वैसा ही अन्य उपनिषदोंमें भी कहा गया है। वह इस प्रकार है—'सत्यं ज्ञानं०' (ब्रह्म सत्य, ज्ञान एवं अनन्त है) यहांपर ज्ञानशब्दसे अनन्तरोक्त उस ब्रह्मको कामयिता कहनेवाले वचनसे चेतन ब्रह्मका निरूपण करती हुई श्रुतिने ईश्वरको स्वतंत्र कारण कहा है। अनन्तरोक्त ब्रह्मविषयक आत्मशब्दसे और शरीर आदि कोशपरम्परा द्वारा सबके अन्दर प्रवेश करनेसे सबके भीतर प्रत्यगात्माका निर्धारण किया है। 'बहु स्यां०'

रत्नप्रभा

आकाशादिषु ब्रह्मणः कारणत्वे विरोधो नैव अस्तीति प्रतिज्ञायां हेतुमाह—कुत इति। यथाभूतत्वमेव आह—सर्वज्ञ इति। कारणस्य सर्वज्ञत्वादिकं प्रतिवेदान्तं दृश्यत इत्याह—तद्यथेत्यादिना। तद्विषयेण—ब्रह्मविषयेण, चेतनम्—सर्वज्ञम्, "तदात्मानं स्वयमकुरुत" (तै० २।७।१) इति श्रुतेः अपरप्रयोज्यत्वम्। "तस्माद्वा एतस्मादात्मनः" (तै० १।२) इति प्रत्यगात्मत्वम्। स्वस्य

रत्नप्रभाका अनुवाद

करते हैं—"सत्यपि" इत्यादिसे। आकाश आदिका ब्रह्म कारण है, इसमें विरोध है ही नहीं इस प्रतिज्ञामें कारण कहते हैं—"कुतः" इत्यादिसे। यथाभूतत्वका विवरण करते हैं—"सर्वज्ञ" इत्यादिसे। कारणमें सर्वज्ञत्व आदि धर्म है, यह बात सब वेदान्तवाक्योंमें दिखाई देती है, ऐसा कहते हैं—"तद्यथा" इत्यादिसे। 'तद्विषयेण'—ब्रह्मविषयकसे, चेतन—सर्वज्ञ। 'तदात्मानं०' (उसने आत्माको स्वयं किया) इस श्रुतिसे स्पष्ट है कि ईश्वरमें परप्रयोज्यत्व नहीं है। 'तस्माद्वा एतस्मा०' इस श्रुतिसे स्पष्ट है कि ईश्वर प्रत्यगात्मा

भाष्य

बहुभवनानुशंसनेन सृज्यमानानां विकाराणां स्रष्टुरभेदमभाषत, तथा 'इदं सर्वमसृजत यदिदं किंच' (तै० २।६) इति समस्तजगत्सृष्टिनिर्देशेन प्राक्सृष्टेरद्वितीयं स्रष्टारमाचष्टे। तदत्र यल्लक्षणं ब्रह्म कारणत्वेन विज्ञातम्, तल्लक्षणमेवाऽन्यत्राऽपि विज्ञायते—'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्, तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति, तत्तेजोऽसृजत' (छा० ६।२।१,३) इति, तथा 'आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीन्नान्यत्किंचन मिषत् स ऐक्षत लोकान्नु सृजै' (ऐ० उ० ४।१।१,२) इति च, एवंजातीयकस्य कारणस्वरूपनिरूपणपरस्य वाक्यजातस्य प्रतिवेदान्तमविगीतार्थत्वात्।

भाष्यका अनुवाद

(बहुत होऊँ, उत्पन्न होऊँ) इस प्रकार आत्माके अनेक स्वरूप कथनसे सृज्यमान विकारोंका स्रष्टासे अभेद कहा है। उसी प्रकार 'इदं सर्वमसृजत०' (उसने यह जो कुछ है, सब उत्पन्न किया) इस प्रकार समस्त जगत्‌की सृष्टिके निर्देशसे सृष्टिके पूर्व केवल अद्वितीय स्रष्टा ही था ऐसा (श्रुतिने) कहा है। इसलिए जिस प्रकारके लक्षणवाला ब्रह्म कारणरूपसे यहाँ बतलाया गया है, उसी प्रकारके लक्षणवाला ब्रह्म 'सदेव सोम्येदमग्र०' (हे सोम्य ! पहले सारा प्रपंच एक, अद्वितीय, सत्स्वरूप ही था) 'तदैक्षत बहु स्यां०' (उसने विचारा कि मैं बहुत होऊँ, उत्पन्न होऊँ, उसने तेजकी सृष्टिकी) उसी प्रकार 'आत्मा वा इदमेक०' (सृष्टिके पूर्व यह सब केवल आत्मरूप ही था, दूसरा कोई सचेष्ट पदार्थ नहीं था, उसने विचार किया कि मैं लोकोंकी सृष्टि करूँ) इस प्रकार अन्य स्थलोंमें भी जाना जाता है। कारणस्वरूपका निरूपण करनेमें तात्पर्य रखनेवाले इस प्रकारके वाक्यसमूह प्रत्येक उपनिषत्‌में हैं और उनके

रत्नप्रभा

बहुरूपत्वकामनया स्थितिकालेऽपि अद्वितीयत्वम्। यथा तैत्तिरीयके सर्वज्ञत्वादिकं कारणस्य, तथा छान्दोग्यादौ अपि दृश्यते इत्याह—तदत्र यल्लक्षणमिति। मिषत्—सव्यापारम्। अविगीतार्थत्वाद्—अविरुद्धार्थकत्वात् कारणे नाऽस्ति

रत्नप्रभाका अनुवाद

है। उसने स्वयं बहुत रूपोंकी कामना की है, इसलिए स्थितिकालमें भी ब्रह्म अद्वितीय ही है। जैसे तैत्तिरीयक श्रुतिमें कारणमें सर्वज्ञत्व आदि दिखाई देते हैं, वैसे ही छान्दोग्य आदिमें भी दिखाई देते हैं, ऐसा कहते हैं—"तदत्र यल्लक्षणम्" इत्यादिसे। 'मिषत्'—व्यापारयुक्त। 'अविगीतार्थत्वात्'—विरुद्धार्थक न होनेके कारण। 'अविगीतार्थत्वात्' के बाद 'कारणे नास्ति

भाष्य

कार्यविषयं तु विगानं दृश्यते क्वचिदाकाशादिका सृष्टिः क्वचित् तेजआदिकेत्येवंजातीयकम् । न च कार्यविषयेण विगानेन कारणमपि ब्रह्म सर्ववेदान्तेष्वविगीतमधिगम्यमानमविवक्षितं भवितुमर्हतीति शक्यते वक्तुम्; अतिप्रसङ्गात् । समाधास्यति चाऽऽचार्यः कार्यविषयमपि विगानं 'न वियदश्रुतेः' (ब्र० सू० २।३।१) इत्यारभ्य । भवेदपि कार्यस्य विगीतत्वमप्रतिपाद्यत्वात्, नह्ययं सृष्ट्यादिप्रपञ्चः प्रतिपिपादयिषितः । नहि

भाष्यका अनुवाद

अर्थमें कुछ भी विप्रतिपत्ति नहीं है । परन्तु कहींपर आकाशपूर्वक सृष्टि कही गई है, तो कहींपर तेजपूर्वक कही गई है, इस प्रकार कार्यमें तो विप्रतिपत्ति देखी जाती है । कार्यविषयक विप्रतिपत्तिसे सब वेदान्तोंमें अविरुद्धरूपसे प्रतीत होनेवाला कारणरूप ब्रह्म भी अविवक्षित है, यह नहीं कहा जा सकता, क्योंकि ऐसा माननेपर अतिप्रसंग हो जायगा । 'न वियदश्रुतेः' इस सूत्रसे प्रारम्भ करके कार्यविषयक विप्रतिपत्तिका भी आचार्य समाधान करेंगे । वेदान्तप्रतिपाद्य न होनेके कारण कार्यके विषयमें विप्रति-

रत्नप्रभा

विप्रतिपत्तिरिति शेषः । तथापि कार्ये विरोधात् कारणेऽपि विरोधः स्यादित्याशङ्क्य निषेधति—कार्यविषयन्त्वित्यादिना । स्वप्नसृष्टीनां प्रत्यहम् अन्यथात्वेन सोऽहमिति प्रत्यभिज्ञायमाने द्रष्टरि अपि नानात्वं प्रसज्येत इत्याह—अतिप्रसङ्गादिति । सृष्टिविरोधम् अङ्गीकृत्य स्रष्टरि न विरोध इत्युक्तम् अधुना अङ्गीकारं त्यजति—समाधास्यति चेति । किमर्थं तर्हि श्रुतयः सृष्टिम् अन्यथाऽन्यथा वदन्तीत्याशङ्क्य सृष्टौ अतात्पर्यज्ञापनाय इत्याह—भवेदित्या-

रत्नप्रभाका अनुवाद

विप्रतिपत्तिः' (कारणमें कुछ भी विप्रतिप्रति नहीं है) इतना शेष समझना चाहिए। तो भी कार्यमें विरोध होनेसे कारणमें भी विरोध हो, ऐसी आशंका करके उसका निराकरण करते हैं—"कार्यविषयं तु" इत्यादिसे। प्रतिदिन स्वप्नसृष्टियां नाना प्रकारकी होती हैं, इससे 'सोऽहम्' (वह मैं हूँ) इस प्रकार जिसकी प्रत्यभिज्ञा होती है, उस द्रष्टामें भेद हो जायगा, ऐसा कहते हैं— "अतिप्रसङ्गात्" इत्यादिसे । पहले सृष्टिमें विरोध मानकर स्रष्टामें विरोध नहीं है, ऐसा कहा है, अब स्वीकृत सृष्टिविरोधका परित्याग करते हैं—"समाधास्यति च" इत्यादिसे। तब श्रुतियां सृष्टिको भिन्न भिन्न रूपसे क्यों कहती हैं, ऐसी आशंका करके वह कथन वेदान्तवाक्योंका तात्पर्य सृष्टिमें नहीं है, ऐसा ज्ञान करानेके लिए है, ऐसा कहते हैं—"भवेत्" इत्यादिसे। जिस अर्थमें तात्पर्य नहीं है,

भाष्य

तत्प्रतिबद्धः कश्चित् पुरुषार्थो दृश्यते श्रूयते वा, न च कल्पयितुं शक्यते, उपक्रमोपसंहाराभ्यां तत्र तत्र ब्रह्मविषयैर्वाक्यैः साकमेकवाक्यताया गम्यमानत्वात्। दर्शयति च सृष्ट्यादिप्रपञ्चस्य ब्रह्मप्रतिपत्त्यर्थताम्—'अन्नेन सोम्य शुङ्गेनापोमूलमन्विच्छाद्भिः सोम्य शुङ्गेन तेजोमूलमन्विच्छ तेजसा सोम्य शुङ्गेन सन्मूलमन्विच्छ' (छा० ६।८।४) इति। मृदादिदृष्टान्तैश्च कार्यस्य कारणेनाऽभेदं वदितुं सृष्ट्यादिप्रपञ्चः श्राव्यत इति गम्यते। तथा च संप्रदायविदो वदन्ति—

भाष्यका अनुवाद

पत्ति भले ही हो उससे हमारी हानि ही क्या है। निश्चय, सृष्टि आदि प्रपंच वेदान्तवाक्योंसे विवक्षित नहीं है, क्योंकि प्रपंचसे संबन्ध रखनेवाला कोई भी पुरुपार्थ न तो अनुभवसिद्ध है और न श्रुतिमें ही मिलता है, एवं सृष्टिविपयक वाक्योंसे उसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती, क्योंकि उपक्रम और उपसंहारके बलसे तत् तत् उपनिपदोंमें स्थित ब्रह्मविपयक वाक्योंके साथ उनकी एकवाक्यता प्रतीत होती है। 'अन्नेन सोम्य शुङ्गेन०' (हे सोम्य! अन्नरूप कार्यसे जलरूप मूलका निश्चय करो, हे सोम्य! जलरूप कार्यसे तेजरूप मूलका निश्चय करो और हे सोम्य! तेजरूप कार्यसे सद्रूप मूलका निश्चय करो) इस प्रकार सृष्टि आदि प्रपंच ब्रह्मके ज्ञानके लिए है, ऐसा श्रुति दिखलाती है। और मृत् आदि दृष्टान्तोंसे कार्यकारणसे अभेद कहनेके लिए सृष्टि आदि प्रपंचका श्रुतिमें प्रतिपादन किया है, ऐसा

रत्नप्रभा

दिना। अतात्पर्यार्थे विरोधो न दोषाय इत्यत्र तात्पर्यं साधयति—नहीति। फलवद्ब्रह्मवाक्यशेषत्वेन सृष्टिवाक्यानाम् अर्थवत्त्वसम्भवान्न स्वार्थे पृथक् फलं कल्प्यम्, वाक्यभेदापत्तेः इत्याह— न च कल्पयितुमिति। न्यायात् एकवाक्यत्वं सिद्धं श्रुतिः अपि दर्शयति इत्याह—दर्शयति चेति। शुङ्गेन— कार्येण लिङ्गेन। कारणब्रह्मज्ञानार्थत्वं सृष्टिश्रुतीनाम् उक्त्वा कारणस्य, अद्वयत्वज्ञानं

रत्नप्रभाका अनुवाद

इस अर्थका विरोध दोषावह नहीं होता है, इसके लिए सृष्टिमें तात्पर्याभावको सिद्ध करते हैं—"नहि" इत्यादिसे। सार्थक ब्रह्मवाक्योंके शेप होनेके कारण सृष्टिवाक्य भी सार्थक हो सकते हैं, इसलिए उनके स्वार्थमें पृथक् फलकी कल्पना नहीं करनी चाहिए, अन्यथा वाक्यभेद हो जायगा, ऐसा कहते हैं—"न च कल्पयितुम्" इत्यादिसे। न्यायसे सिद्ध एकवाक्यताको श्रुति भी दिखलाती है, ऐसा कहते हैं—"दर्शयति च" इत्यादिसे। 'शुङ्गेन'— कार्यरूप लिङ्गसे। कारणरूप ब्रह्मके ज्ञानके लिए सृष्टिश्रुतियोंका उपयोग है, ऐसा कहकर

भाष्य

'मृल्लोहविस्फुलिङ्गाद्यैः सृष्टिर्या चोदिताऽन्यथा ।
उपायः सोऽवताराय नास्ति भेदः कथंचन ॥'

(मा० ३।२५) इति । ब्रह्मप्रतिपत्तिप्रतिबद्धं तु फलं श्रूयते—'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' (तै० २।१) 'तरति शोकमात्मवित्' (छा० ७।१।३) 'तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति' (श्वे० ३।८) इति च । प्रत्यक्षावगमं चेदं फलम् 'तत्त्वमसि' इत्यसंसार्यात्मत्वप्रतिपत्तौ सत्यां संसार्यात्मत्वव्यावृत्तेः ॥ १४ ॥

भाष्यका अनुवाद

प्रतीत होता है। और 'मृल्लोहविस्फुलिङ्गाद्यै०' (मृत्तिका) लोह, चिनगारी आदि अन्यान्य प्रकारसे जो सृष्टि कही गई है, वह ब्रह्मका ज्ञान उत्पन्न होनेके लिए है, किसी भी प्रकारसे कारणमें भेद नहीं है) इस प्रकार सम्प्रदाय जाननेवाले भी कहते हैं। ब्रह्मज्ञानसे होनेवाला फल 'ब्रह्मविदाप्नोति०' (ब्रह्मवेत्ता परब्रह्मको प्राप्त करता है) 'तरति शोक०' (आत्मवेत्ता शोकको पार कर जाता है) 'तमेव विदित्वा०' (उसीको जानकर मृत्युपर विजय पाता है) इस प्रकार सुना जाता है। और यह फल प्रत्यक्ष अनुभवमें आनेवाला है, क्योंकि 'तत्त्वमसि' (वह तू है) ऐसे असंसारी आत्माकी प्रतीति होनेसे संसारी आत्मत्व जाता रहता है ॥ १४ ॥

रत्नप्रभा

फलान्तरमाह—मृदादीति । एवं निष्फलायाम् अन्यार्थायां सृष्टौ तात्पर्याभावात् विरोधो न दोष इत्यत्र वृद्धसम्मतिमाह—तथा चेति । अन्यथाऽन्यथेति वीप्सा द्रष्टव्या । अवताराय—ब्रह्मधीजन्मने, अतस्तदन्यथात्वेऽपि ब्रह्मणि न भेदः । ज्ञेये न विगानम् इत्यर्थः । ब्रह्मज्ञानस्य सृष्टिशेषित्वम् उक्तम् तन्निर्वाहाय तस्य फलमाह—ब्रह्मेति । मृत्युम् अत्येति इत्यन्वयः ॥१४॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

कारणमें अद्वितीयत्वज्ञानरूप अन्य फल कहते हैं—"मृदादि" इत्यादिसे । इस प्रकार निष्फल और अन्यार्थक सृष्टिमें तात्पर्य न होनेसे विरोध दोषजनक नहीं है, इस विषयमें वृद्धोंकी सम्मति कहते हैं—"तथा च" इत्यादिसे । 'अन्यथा'—इसकी 'अन्यथाऽन्यथा' इस प्रकार वीप्सा समझनी चाहिए । अवताराय—ब्रह्मज्ञानकी उत्पत्तिके लिए है, इसलिए सृष्टिमें भेद होनेपर भी ब्रह्ममें भेद नहीं है अर्थात् ज्ञेयमें विप्रतिपत्ति नहीं है । ब्रह्मज्ञानको सृष्टिका अंगी कहा है, उसके निर्वाहके लिए उसका फल कहते हैं—"ब्रह्म" इत्यादिसे । 'अति मृत्युमेति'का व्यत्याससे 'मृत्युमत्येति' (मृत्युपर विजय पाता है ऐसा अन्वय है ॥१४॥

भाष्य

यत्पुनः कारणविषयं विगानं दर्शितम्—'असद्वा इदमग्र आसीत्' इत्यादि तत् परिहर्तव्यम् । अत्रोच्यते—

भाष्यका अनुवाद

परन्तु कारणमें 'असद्वा इद०' (पूर्वमें यह असत् था) ऐसी जो विप्रतिपत्ति दिखलाई गई है, उसका परिहार करना चाहिए, इसपर कहते हैं—

समाकर्षात् ॥ १५ ॥

पदार्थोक्ति—समाकर्षात्—'असदेवेदमग्र आसीत्' इत्यत्र अनभिव्यक्तनामरूपवाचिनाऽसच्छब्देन सत एव समाकर्षात् [न असतः कारणत्वशङ्कावकाशः] ।

भाषार्थ—'असदेवेद०' (यह सारा जगत् सृष्टिके पहले असत् ही था) इस श्रुतिमें 'नाम और रूप अनभिव्यक्त थे' ऐसा प्रतिपादन करनेवाले 'असत्' शब्दसे सत्का ही आकर्षण होता है, इसलिए उक्त श्रुतिमें जगत्कारण असत् कहा गया है, ऐसी शङ्काका अवसर ही नहीं है ।

भाष्य

'असद्वा इदमग्र आसीत्' (तै० २।७) इति नाऽत्राऽसन्निरात्मकं कारणत्वेन श्राव्यते । यतः 'असन्नेव स भवति । असद्ब्रह्मेति वेद चेत् ।

भाष्यका अनुवाद

'असद्वा इद०' (सृष्टिके पहले यह असत् था) इस श्रुतिमें स्वरूपरहित असत् कारणरूपसे नहीं कहा गया है, क्योंकि 'असन्नेव स भवति०' (ब्रह्मको

रत्नप्रभा

एवं सृष्टिद्वारकं विरोधम् उत्सूत्रं समाधाय कारणस्य सदसत्त्वादिना साक्षाच्छ्रुतिविरोधनिरासार्थं सूत्रमादत्ते—यत्पुनरिति । यतोऽस्तित्वलक्षणं ब्रह्म निर्धार्य तस्मिन्नेव श्लोकमुदाहरति अतोऽत्र श्लोके निरात्मकम् असत् न श्राव्यते इति

रत्नप्रभाका अनुवाद

इस प्रकार पूर्व सूत्रसे सृष्टिकृत विरोधका समाधान करके अब कारणमें सद्रूपत्व, असद्रूपत्व आदिरूपसे साक्षात् श्रुतिविरोध जो दिखलाया गया था, उसका निरास करनेके लिए सूत्रका ग्रहण करते हैं—"यत्पुनः" इत्यादिसे । चूंकि अस्तित्वलक्षण ब्रह्मका निर्धारण करके उसीके लिए श्लोक—मंत्र कहते हैं, इससे इस श्लोकमें निरात्मक असत्का श्रवण नहीं

भाष्य

अस्ति ब्रह्मेति चेद्वेद। सन्तमेनं ततो विदुः' इत्यसद्वादापवादेनाऽस्तित्वलक्षणं ब्रह्माऽन्नमयादिकोशपरम्परया प्रत्यगात्मानं निर्धार्य 'सोऽकामयत' इति तमेव प्रकृतं समाकृष्य सप्रपञ्चां सृष्टिं तस्माच्छ्रावयित्वा 'तत्सत्यमित्याचक्षते' इति चोपसंहृत्य 'तदप्येष श्लोको भवति' इति तस्मिन्नेव प्रकृतेऽर्थे श्लोकमिममुदाहरति—'असद्वा इदमग्र आसीत्' इति। यदि त्वसन्निरात्मकमस्मिञ्छ्लोकेऽभिप्रेयेत, ततोऽन्यसमाकर्षणेऽन्यस्योदाहरणादसम्बद्धं वाक्यमापद्येत। तस्मान्नामरूपव्याकृतवस्तुविषयः प्रायेण सच्छब्दः प्रसिद्ध इति तद्व्याकरणाभावापेक्षया प्रागुत्पत्तेः सदेव ब्रह्माऽसदिवाऽऽसी-

भाष्यका अनुवाद

असद्रूपसे जो जानता है वह अवश्य असत् हो जाता है। जो ब्रह्मको सद्रूप जानता है उसको विद्वान् सत् कहते हैं) इस प्रकार असद्वादके अपवादसे ब्रह्म सत्स्वरूप है और अन्नमय आदि कोशपरम्परासे प्रत्यगात्मा है, ऐसा निर्धारण करके 'सोऽकामयत' (उसने चाहा) इसमें उसी प्रकृत ब्रह्मका समाकर्षण करके, उसीसे विस्तृत सृष्टि होती है, यह कहकर 'तत्सत्य०' (वह सत्य कहलाता है) इस प्रकार उपसंहार करके 'तदप्येष०' (उसमें यह मंत्र भी है) इस प्रकार प्रकृत अर्थमें 'असद्वा इद०' यह मंत्र उद्धृत किया गया है। यदि इस श्लोकमें स्वरूपशून्य—अभावात्मक असत् अभिप्रेत हो, तो जिसका समाकर्षण किया गया है उससे अन्यका उदाहरण देनेसे वाक्य असम्बद्ध हो जायगा। इसलिए नाम और रूपसे व्याकृत वस्तुमें प्रायः सत्शब्दका प्रयोग प्रसिद्ध है इसलिए सृष्टिसे पहले व्याकृत न होनेके

रत्नप्रभा

योजना। तत्—तत्र सदात्मनि, श्लोकः—मन्त्रो भवति। सदात्मसमाकर्षात् अतीन्द्रियार्थकासत्पदेन ब्रह्म लक्ष्यत इत्याह—तस्मादिति। न च प्रधानमेव लक्ष्यतामिति वाच्यम्। चेतनार्थकब्रह्मादिशब्दानाम् अनेकेषां लक्षणायां गौरवा-

रत्नप्रभाका अनुवाद

है, ऐसी वाक्ययोजना करनी चाहिए। [तदप्येष श्लोको भवति] उस सद्रूप आत्माके विषयमें यह मंत्र है। सद्रूप आत्माका समाकर्षण है, इसलिए अतीन्द्रियवाचक असत्पदसे ब्रह्म लक्षित होता है, ऐसा कहते हैं—"तस्माद्" इत्यादिसे। असत्पदसे प्रधान ही लक्षित हो, ऐसा कहना युक्त नहीं है, क्योंकि चेतन जिनका अर्थ है, ऐसे ब्रह्म आदि अनेक शब्दोंकी लक्षणा

भाष्य

दित्युपचर्यते। एषैव 'असदेवेदमग्र आसीत्' (छा० ३।१९।१) इत्यत्रापि योजना, 'तत्सदासीत्' इति समाकर्षणात्। अत्यन्ताभावाभ्युपगमे हि तत्सदासीदिति किं समाकृष्येत। 'तद्धैक आहुरसदेवेदमग्र आसीत्' (छा० ६।२।१) इत्यत्रापि न श्रुत्यन्तराभिप्रायेणाऽयमेकीयमतोपन्यासः, क्रियायामिव वस्तुनि विकल्पस्याऽसंभवात्। तस्माच्छ्रुतिपरिगृहीतसत्पक्ष-दार्ढ्यायैवाऽयं मन्दमतिपरिकल्पितस्याऽसत्पक्षस्योपन्यस्य निरास इति

भाष्यका अनुवाद

कारण सत् ही ब्रह्म असत्-सा था, ऐसा उपचार किया जाता है। 'असदे-वेदमग्र०' इसमें भी यही योजना है, क्योंकि 'तत्सदासीत्' (वह सत् था) इसका समाकर्षण है। यदि अत्यन्ताभावरूप असत्का स्वीकार करें तो 'तत्सदासीत्' इसमें किसका समाकर्षण करेंगे। 'तद्धैक आहु०' (उसमें कितने ही कहते हैं कि सृष्टिके पहले यह असत् ही था) इसमें दूसरी श्रुतिके अभिप्रायसे कितने ही के मतका उपन्यास नहीं होता है, क्योंकि क्रियाके समान वस्तुमें विकल्पका संभव नहीं है। इसलिए श्रुतिसे परिगृहीत सत्पक्षको दृढ करने लिए ही मन्दमतिवालोंसे कल्पित असत् पक्षका उपन्यास-

---

रत्नप्रभा

दिति भावः। तित्तिरिश्रुतौ सूत्रं योजयित्वा छान्दोग्यादौ योजयति—एषैवेति। सदेकार्थकतत्पदेन पूर्वोक्तासतः समाकर्षात् न शून्यत्वमित्यर्थः। ननु असत्पदलक्षणा न युक्ता, श्रुतिभिरेव स्वमतभेदेन उदितानुदितहोमवत् विकल्पस्य दर्शितत्वादित्यत आह—तद्धैक इति। एके शाखिन इत्यर्थो न भवति, किन्तु अनादिसंसार-चक्रस्था वेदबाह्या इत्यर्थः। शून्यनिरासेन श्रुतिभिः सद्वादस्यैव इष्टत्वात् तासां

रत्नप्रभाका अनुवाद

करनेमें गौरव होगा। तैत्तिरीयक श्रुतिमें सूत्रकी योजना करके छान्दोग्य आदिमें उसकी योजना करते हैं—"एषैव" इत्यादिसे। 'तत्सदासीत्' इसमें सद्रूपवाचक तत् पदसे पूर्वमें कथित असत्का समाकर्षण होनेसे 'असत्'का अर्थ शून्य नहीं है, ऐसा अर्थ है। यदि कोई कहे कि असत्पदकी लक्षणा करना युक्त नहीं है, क्योंकि श्रुति ही मतभेदसे उदित होम और अनुदित होमके समान विकल्प दिखलाती है, इसपर कहते हैं—"तद्धैके" इत्यादि। 'एके'का अर्थ एक शाखावाले नहीं है, किन्तु अनादि संसारचक्रमें पड़े हुए वेदबाह्य हैं। शून्यका निराकरण करनेसे भी सद्वाद ही श्रुतिको इष्ट है, इसलिए श्रुतियोंमें विरोधका स्फुरण होता हो, तो उसके निरा-

भाष्य

द्रष्टव्यम् । 'तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतमासीत्' (बृ० १।४।८) इत्यत्रापि न निरध्यक्षस्य जगतो व्याकरणं कथ्यते । 'स एष इह प्रविष्ट आनखाग्रेभ्यः' इत्यध्यक्षस्य व्याकृतकार्यानुप्रवेशित्वेन समाकर्षात् । निरध्यक्षे व्याकरणाभ्युपगमे ह्यनन्तरेण प्रकृतावलम्बिना स इत्यनेन सर्वनाम्ना कः कार्यानुप्रवेशित्वेन समाकृष्येत । चेतनस्य चाऽयमात्मनः शरीरेऽनुप्रवेशः श्रूयते, अनुप्रविष्टस्य चेतनत्वश्रवणात्, 'पश्यंश्चक्षुः शृण्वन् श्रोत्रं मन्वानो मनः' इति । अपि च यादृशमिदमद्यत्वे नामरूपाभ्यां व्याक्रियमाणं जगत्

भाष्यका अनुवाद

पूर्वक यह निराकरण है, यह समझना चाहिए । 'तद्धेदं०' इसमें अध्यक्षरहित जगत्‌का व्याकरण नहीं कहा जाता, क्योंकि 'स एष इह प्रविष्ट०' (वह इस शरीरमें नखके अग्रभाग तक प्रविष्ट हुआ) इस प्रकार अध्यक्षका व्याकृत वस्तुओंमें प्रवेशकर्तृत्वरूपसे समाकर्षण है । अध्यक्षके विना ही जगत्‌की अभिव्यक्ति स्वीकार करें तो अनन्तरोक्त प्रकृतके साथ संबन्ध रखनेवाले 'सः' इस सर्वनामसे कार्यमें अनुप्रवेश करनेवालेके रूपसे किसका समाकर्षण होगा ? और चेतन आत्माका शरीरमें यह अनुप्रवेश सुना जाता है, क्योंकि 'पश्यंश्चक्षुः०' (वह देखता हुआ चक्षु है, सुनता हुआ श्रोत्र है, मनन करता हुआ मन है) इस प्रकार प्रवेश करनेवालेका श्रुति चेतनरूपसे प्रतिपादन करती है । उसी प्रकार जैसे वर्तमान समयमें नामरूपसे व्याकृत होनेवाला पदार्थ सकर्तृक

रत्नप्रभा

विरोधस्फूर्तिनिरासाय लक्षणा युक्तेति भावः । यदुक्तम्—क्वचिद् अकर्तृका सृष्टिः कथिता इति, तन्नेत्याह—तद्धेदमिति । अध्यक्षः—कर्ता । ननु अत्र कर्त्रभाव एव परामृश्यते इत्यत आह—चेतनस्य चायमिति । चक्षुः—द्रष्टा, श्रोत्रम्—श्रोता, मनः—मन्ता इत्युच्यते इत्यर्थः । आद्यकार्यं सकर्तृकम्, कार्यत्वाद्, घटवदित्याह—अपि

रत्नप्रभाका अनुवाद

करणके लिए लक्षणा करना उचित है, ऐसा अर्थ है । कहींपर कर्तृरहित सृष्टि कही गई है, ऐसा जो कहा है, वह वैसा नहीं है, ऐसा कहते हैं—"तद्धेदम्" इत्यादिसे । अध्यक्ष—कर्ता । यदि कोई कहे कि कर्ताके अभावका ही परामर्श होता है, इसपर कहते हैं—"चेतनस्य चायम्" इत्यादि । चक्षु अर्थात् द्रष्टा, श्रोत्र अर्थात् श्रोता, मन अर्थात् मननकर्ता । पहला कार्य कर्तृजन्य है, कार्य होनेसे, घटके समान, ऐसा कहते हैं—"अपि च" इत्यादिसे । अद्यत्वे—

भाष्य

साध्यक्षं व्याक्रियते एवमादिसर्गेऽपीति गम्यते, दृष्टविपरीतकल्पनानुपपत्तेः। श्रुत्यन्तरमपि 'अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि' (छा० ६।३।२) इति साध्यक्षामेव जगतो व्याक्रियां दर्शयति। व्याक्रियत इत्यपि कर्मकर्तरि लकारः सत्येव परमेश्वरे व्याकर्तरि सौकर्यमपेक्ष्य द्रष्टव्यः। यथा लूयते केदारः स्वयमेवेति सत्येव पूर्णके लवितरि। यद्वा, कर्मण्येवैष लकारोऽर्थाक्षिप्तं कर्तारमपेक्ष्य द्रष्टव्यः। यथा गम्यते ग्राम इति॥ १५॥

भाष्यका अनुवाद

व्याकृत होता है, वैसे ही आदि सृष्टिमें भी था, ऐसा समझा जाता है, क्योंकि जो दिखाई देता है, उससे विपरीत कल्पना नहीं की जा सकती। 'अनेन जीवेनात्मना०' (इस जीवरूप आत्मासे अनुप्रवेश करके नाम और रूपको मैं व्यक्त करूँगा) इस प्रकार दूसरी श्रुति भी जगत्की अभिव्यक्ति सकर्तृक है, ऐसा दिखलाती है। 'व्याक्रियते' यह कर्मकर्तामें लकार अभिव्यक्तिकर्ता परमेश्वरके रहनेपर भी सौकर्यकी अपेक्षासे है, जैसे कि खेत काटनेवाले किसी पूर्णक-नामक मनुष्यके रहनेपर भी 'लूयते केदारः०' (क्यारी अपने ही कट रही है) ऐसा प्रयोग होता है। अथवा जैसे 'गम्यते ग्रामः' (ग्राम प्राप्त किया जाता है) इसमें कर्ताका आक्षेप किया जाता है वैसे ही अर्थसे आक्षिप्त कर्ताकी अपेक्षासे कर्मके अर्थमें ही यह लकार समझना चाहिए॥ १५॥

रत्नप्रभा

चेति। अद्यत्वे—इदानीम्। ननु कर्मकारकात् अन्यस्य कर्तुः सत्त्वे कर्मण एव कर्तृवाचिलकारो विरुद्ध इत्यत आह—व्याक्रियत इति। अनायासेन सिद्धिमपेक्ष्य कर्मणः कर्तृत्वम् उपचर्यते इत्यर्थः। व्याक्रियते जगत् स्वयमेव निष्पन्नमिति व्याख्याय केनचिद् व्याकृतमिति व्याचष्टे—यद्वेति। अतः श्रुतीनामविरोधात् कारणद्वारा समन्वय इति सिद्धम्॥ १५॥ (४)॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

आजकल। परन्तु कर्मकारकसे भिन्न कर्ता होनेसे कर्ममें कर्तृवाचक लकार हो यह विरुद्ध है; इसपर कहते हैं—"व्याक्रियते" इत्यादि। अनयास कार्यसिद्धि होनेसे कर्म ही उपचारसे कर्ता होता है, ऐसा अर्थ है। 'व्याक्रियते' का जगत् स्वयं ही उत्पन्न होता है,—ऐसा व्याख्यान करके अब किसी दूसरेने उत्पन्न किया है, ऐसा व्याख्यान करते हैं "यद्वा" इत्यादिसे। इसलिए श्रुतियोंका कारणद्वारा भी अविरोध होनेसे सिद्ध हुआ कि उनका ब्रह्ममें समन्वय है॥१५॥

[५ बालाक्यधिकरण सू० १६-१८]

पुरुषाणान्तु कः कर्ता प्राणजीवपरात्मसु ।
क्रर्मेति चलने प्राणो जीवोऽपूर्वे विवक्षिते ॥ १ ॥
जगद्वाची कर्मशब्दः पुंमात्रविनिवृत्तये ।
तत्कर्त्ता परमात्मैव न मृषावादिता ततः* ॥ २ ॥

[अधिकरणसार]

सन्देह—'यो वै बालाक एतेषां पुरुषाणां कर्ता यस्य वैतत् कर्म स वै वेदितव्यः' इस श्रुतिमें उक्त पुरुषोंका कर्ता प्राण है या जीव है अथवा परमात्मा है ?

पूर्वपक्षी—कर्मशब्दसे चलनात्मक क्रिया कही गई है, अतः प्राण पुरुषोंका कर्ता है अथवा कर्मशब्द अपूर्वका वाचक है, इसलिए जीव उनका कर्ता है ।

सिद्धान्त—यहां कर्मशब्द जगत्का वाचक है । वह केवल पुरुषोंका कर्ता है, इस शंकाकी निवृत्तिके लिए 'यस्य वैतत्कर्म' कहा गया है । सारे जगत्का कर्ता परमात्मा ही है, इसीलिए राजामें मृषावादित्व नहीं है ।

---

* तात्पर्य यह कि कौषीतकिब्राह्मण उपनिषद्में बालाकिनामक ब्राह्मणके आदित्य आदि सोलह पुरुषोंको ब्रह्मरूपसे कहनेपर राजाने उसका निराकरण करके स्वयं कहा—"यो वै बालाक एतेषां पुरुषाणां कर्ता यस्य वैतत्कर्म स वै वेदितव्यः" (कौ० ४।१८) इसका अर्थ यह है कि हे बालाके! इन पुरुषोंका जो कर्ता है, जिसका यह कर्म है, उसका ज्ञान प्राप्त करना चाहिए । इसमें संशय होता है कि पुरुषोंका कर्ता प्राण है या जीव है अथवा परमात्मा है ।

पूर्वपक्षी कहता है कि प्राण पुरुषोंका कर्ता है, क्योंकि कर्मशब्द चलनक्रियावाचक है। देह आदिका चालन प्राणसे होता है । अथवा जीव पुरुषोंका कर्ता है, क्योंकि कर्मशब्द अपूर्वका वाचक है । जीव अपूर्वका स्वामी है । परमात्मा किसी प्रकार भी उनका कर्ता नहीं हो सकता है ।

सिद्धान्ती कहते हैं कि यहां कर्मशब्द न क्रियाका वाचक है, न अपूर्व ही का वाचक है, किन्तु 'क्रियत इति कर्म' इस व्युत्पत्तिसे जगत्का वाचक है । कर्मशब्द जगद्वाचक होनेसे ही 'केवल पुरुषोंका कर्ता है' इस शंकाकी निवृत्ति करता हुआ सार्थक होता है । इसलिए श्रुतिवाक्यके अक्षरोंकी ऐसी योजना करनी चाहिए—हे बालाके ! तुमसे कथित सोलह पुरुषोंका जो कर्ता है, उसका ही ज्ञान प्राप्त करना चाहिए न कि सोलह पुरुषोंका । अथवा इन सोलहोंका कर्ता, ऐसा संकोच क्यों करें, यह सब जगत् जिससे उत्पन्न हुआ है, उसीका ज्ञान प्राप्त करना चाहिए। सारे जगत्का कर्ता तो परमात्मा ही है, जीव और प्राण जगत्के कर्ता नहीं हैं । इससे राजामें मृषावादित्वरूप दोष भी नहीं आता, अन्यथा "ब्रह्म ते ब्रवाणि" (मैं तुमसे ब्रह्म कहूँगा) ऐसी प्रतिज्ञा करके सोलह पुरुषोंको कहते हुए बालाकिमें "मृषा वै किल" (तुम जो बोलते हो वह मिथ्या है) इस प्रकार मृषावादित्वका आपादनकर स्वयं ब्रह्मको कहनेकी इच्छा रखनेवाला राजा यदि प्राण या जीवको कहे, तो बालाकिकी तरह राजा भी मृषावादी हो जायगा । ऐसा मानना तो अनुचित है । इससे सिद्ध हुआ कि श्रुतिवाक्यमें उक्त जगत्का कर्ता परमात्मा ही है ।

अच्युतग्रन्थमालासे प्रकाशित पुस्तकोंका सूचीपत्र

(क) विभाग

१–**भगवन्नामकौमुदी**—[भगवन्नामकी महिमाका प्रतिपादक अनुपम ग्रन्थ] मीमांसाके धुरन्धर विद्वान् श्रीलक्ष्मीधरकी कृति, अनन्तदेवरचित 'प्रकाश' टीकासहित । सम्पादक—आचार्यवर गोस्वामी दामोदर शास्त्री ।

पृ० सं० १५०, मू.—आ. १०

२–**भक्तिरसायन**—[भक्तिस्वरूपका परिचायक अत्युत्तम ग्रन्थ] यतिवर श्रीमधुसूदन सरस्वतीरचित, प्रथम उल्लासमें ग्रन्थकाररचित शेष दो उल्लासोंमें आचार्यवर गोस्वामी दामोदर शास्त्री रचित टीकासे विभूषित । सं०—आचार्यवर गोस्वामी दामोदर शास्त्री । पृ० सं० १७०, मू.—आ. १२

३–**शुल्वसूत्र**—[कात्यायनश्रौतसूत्रका परिशिष्ट अंश] वेदाचार्य पं० विद्याधर गौड़की बनाई हुई सरलवृत्तिसहित । सं०—वेदाचार्य विद्याधर गौड़ ।

पृ० सं० ६०,मू.—आ. ४

४–**कात्यायनश्रौतसूत्र**—[इसमें दर्शपूर्णमाससे लेकर अश्वमेध, पितृमेधपर्यन्त कितने ही यज्ञोंकी विधियां साङ्गोपाङ्ग वर्णित हैं] महर्षि कात्यायनप्रणीत, वेदाचार्य पं० विद्याधर गौड़द्वारा रचित सुसरल वृत्तिसे अलंकृत । सं०—वेदाचार्य विद्याधर गौड़ । पृ० सं० लगभग १०००, मू. —रु. ६

५–**प्रत्यक्तत्त्वचिन्तामणि**—(प्रथम भाग) [शाङ्करभाष्यानुसार वेदान्तका सुसरल पद्यमय ग्रन्थ] श्रीसदानन्द व्यासविरचित, ग्रन्थकाररचित सरल संस्कृत टीकासहित । सं०—साहित्याचार्य श्रीकृष्ण पन्त शास्त्री ।

पृ० स०३४०,मू.—रु. २

६–**भक्तिरसामृतसिन्धु**—[भक्तिरससे परिपूर्ण यह ग्रन्थ सचमुच पीयूषसिन्धु है] श्रीरूप गोस्वामीप्रणीत, श्रीजीव गोस्वामीप्रणीत दुर्गमसङ्गमनी टीकासहित । सं०—आचार्यवर गोस्वामी दामोदर शास्त्री । पृ० सं०६२५, मू०—रु०३

७–**प्रत्यक्तत्त्वचिन्तामणि**—(द्वितीय भाग) पृ० सं०४५०, मू०—रु. २ आ. ४

८–**तिथ्यर्क**—[तिथियोंके निर्णय आदिपर अपूर्व एवं प्रामाणिक ग्रन्थ] श्रीदिवाकर विरचित । सं०—साहित्याचार्य श्रीकृष्ण पन्त शास्त्री ।

पृ० सं०३४०, मू०—रु० १ आ० ८

९—परमार्थसार—[वेदान्तका अति प्राचीन ग्रन्थ] श्रीपतञ्जलि भगवान्‌की कृति,प्राचीन टीका तथा टिप्पणीसे विभूषित । सं०—न्यायव्याकरणाचार्य श्रीसूर्यनारायणशुक्ल । पृ० सं० १००, म०—आ० ६

१०—प्रेमपत्तन—[श्रीकृष्णभक्तिसे सरावोर चैतन्य-सम्प्रदायका अपूर्व गन्थ] भक्तवर रसिकोतंसकी कृति तथा अद्भुतप्रणीत टीकासे अलंकृत । स०—साहित्याचार्य श्रीकृष्ण पन्त शास्त्री । पृ० सं० २३०, मू०—रु० १

(ख) विभाग

१—खण्डनखण्डखाद्य—कवितार्किकशिरोमणि श्रीहर्षरचित, पंडितवर श्रीचण्डीप्रसाद शुक्ल विरचित भाषानुवादसे विभूषित ।
पृ० सं० ४३५ (बडा आकार), मू०—रु. २ आ. १२

२—काशी-केदार-महात्म्य—[ब्रह्मवैवर्तपुराणान्तर्गत] साहित्यरञ्जन पं० श्रीविजयानन्द त्रिपाठीद्वारा विरचित भाषानुवादसहित । सं०—साहित्याचार्य श्रीकृष्ण पन्त शास्त्री । पृ० सं० २६+६०४, मू०—रु. २ आ. ८

३—सिद्धान्तबिन्दु—(वेदान्तका प्रमेयवहुल अपूर्व ग्रन्थ) आचार्यप्रवर श्रीमधुसूदन सरस्वतीविरचित, भाषानुवाद तथा टिप्पणीसे विभूषित । सं०—साहित्याचार्य श्रीकृष्ण पन्त शास्त्री । पृ० सं० २८०, मू. रु. १ आ. ६

४—प्रकरणपञ्चक—भगवान् शङ्कराचार्यके आत्मबोध, प्रौढानुभूति, तत्त्वोपदेश आदि ५ प्रकरण-गन्थोंका भाषानुवादसहित संग्रह । सं०—साहित्याचार्य श्रीकृष्ण पन्त शास्त्री । पृ० सं० १३१, मू०—आ. ८

यन्त्रस्थ ग्रन्थ—

१ षट्सन्दर्भ, विविध टीकाओंसे विभूषित ।

मिलनेका पता—

(१) अच्युतग्रन्थमाला-कर्यालय, काशी ।
(२) गीताप्रेस, गोरखपुर ।
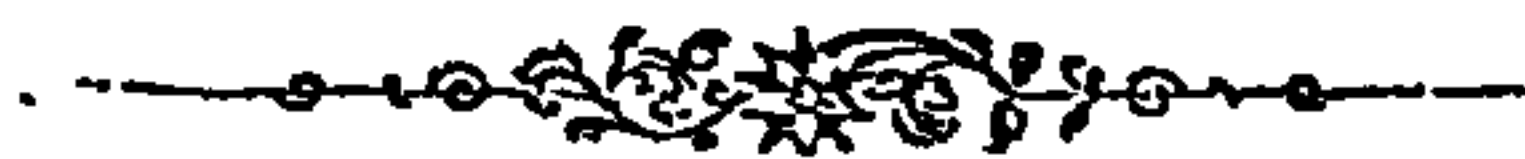
नोट—अच्युतग्रन्थमालाके स्थायी ग्राहकोंको उक्त सभी पुस्तकें पौन मूल्यपर दी जाती हैं ।

अच्युतके उद्देश्य और नियम

उद्देश्य—

सनातन-धर्मकी उन्नति करनेवाले उत्तमोत्तम प्राचीन संस्कृत-ग्रन्थोंका भाषानुवाद प्रकाशित कर जनतामें ज्ञान और भक्तिका प्रचार करना इसका उद्देश्य है।

प्रबन्ध-सम्बन्धी नियम—

(१) 'अच्युत' प्रतिमास पूर्णिमाको प्रकाशित होता है।

(२) इसका वार्षिक मूल्य भारत के लिये ६) रु० और विदेशके लिये ८) रु० है। एक संख्याका मूल्य ॥) है।

(३) ग्राहकोंको मनीआर्डरद्वारा रुपये भेजनेमें सुविधा होगी। वी० पी० द्वारा मंगानेसे रजिस्टरीका व्यय उनके जिम्मे अधिक पड़ जायगा।

(४) मनीआर्डरसे रुपये भेजनेवाले ग्राहक महाशयोंको कूपनपर रुपयोंकी तादाद, रुपये भेजनेका मतलब, अपना पूरा पता, नये ग्राहकोंको 'नये ग्राहक' और पुराने ग्राहकोंको अपना ग्राहक-नम्बर स्पष्ट अक्षरोंमें लिख देना चाहिये।

(५) उत्तरके लिये जवाबी पोस्टकार्ड या टिकट भेजना चाहिये।

(६) जिन महाशयोंको अपना पता बदलवाना हो, उन्हें कार्यालयको पता बदलवानेके विषयमें पत्र लिखते समय अपना पुराना पता तथा ग्राहक-नम्बर लिखना नहीं भूलना चाहिये।

व्यवस्थापक

अच्युत-ग्रन्थमाला-कार्यालय,

ललिताघाट, बनारस।

विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परासुव ।
यद्भद्रं तन्न आसुव ॥

Cover printed at the Indian Press, Ltd.,
Benares.

अच्युत

वर्ष १ } संरक्षक—गौरीशङ्करगोयनका-समर्पित निधि, काशी { अङ्क १०

कार्तिक पूर्णिमा

१६६१

अच्युत

वार्षिक मूल्य—६)

एक प्रति का—॥)

सम्पादक—

पं० चण्डीप्रसाद शुक्ल, प्रिंसिपल जो० म० गोयनका संस्कृत महाविद्यालय,

स० सम्पादक तथा प्रकाशक—

पं० श्रीकृष्ण पन्त साहित्याचार्य, अच्युत-ग्रन्थमाला-कार्यालय,
ललिताघाट काशी।

मुद्रक—द० ल० निघोजकर, श्रीलक्ष्मीनारायण प्रेस, काशी।

अच्युत

विषय-सूची

वाक्यान्वयाधिकरण [पृ० ८७८–८९९]

ॐ सह नाववतु । सह नौ भुनक्तु । सह वीर्यं करवावहै ।
तेजस्वि नावधीतमस्तु मा विद्विषावहै ॥

तन्वन् श्रीश्रुतिसिद्धसन्मतमहाग्रन्थप्रकाशप्रथाम्,
ब्रह्माद्वैतसमिद्धशङ्करगिरां माधुर्य्यमुद्भावयन् ।
अज्ञानान्धतमिस्त्ररुद्धनयनान् दिव्यां दृशं लम्भयन्,
भक्तिज्ञानपथे स्थितो विजयतामाकल्पमेपोऽच्युतः ॥

वर्ष १ } काशी, कार्तिक पूर्णिमा १९९१ { अङ्क १०

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा
भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः ।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवांसस्तनूभि-
र्व्यशेम देवहितं यदायुः ॥

निर्वाणमञ्जरी

अहं नामरो नैव मर्त्यो न दैत्यो न गन्धर्वयक्षः पिशाचप्रभेदः ।
पुमान्नैव न स्त्री तथा नैव षण्ढः प्रकृष्टप्रकाशस्वरूपः शिवोऽहम् ॥ १ ॥
अहं नैव बालो युवा नैव वृद्धो न वर्णी न च ब्रह्मचारी गृहस्थः ।
वनस्थोऽपि नाहं न संन्यस्तधर्मा जगज्जन्मनाशैकहेतुः शिवोऽहम् ॥ २ ॥
अहं नैव मन्ता न गन्ता न वक्ता न कर्ता न भोक्ता न मुक्ताश्रमस्थः ।
यथाऽहं मनोवृत्तिभेदस्वरूपस्तथा सर्ववृत्तिप्रदीपः शिवोऽहम् ॥ ३ ॥
यदन्तर्बहिर्व्यापकं नित्यशुद्धं यदेकं सदा सच्चिदानन्दकन्दम् ।
यतः स्थूलसूक्ष्मप्रपञ्चस्य भानं यतस्तत्प्रसूतिस्तदेवाहमस्मि ॥ ४ ॥
यतः कालमृत्युर्बिभेति प्रकामं यतश्चित्तबुद्धीन्द्रियाणां विलासः ।
हरिब्रह्मरुद्रेन्द्रचन्द्रादिनामप्रकाशो यतः स्यात्तदेवाहमस्मि ॥ ५ ॥
यदाकाशवत्सर्वगं शान्तरूपं परं ज्योतिराकारशून्यं वरेण्यम् ।
यदाद्यन्तशून्यं परं शङ्कराख्यं यदन्तर्विभाव्यं तदेवाहमस्मि ॥ ६ ॥

—श्रीशंकराचार्यः

जगद्वाचित्वात् ॥ १६ ॥
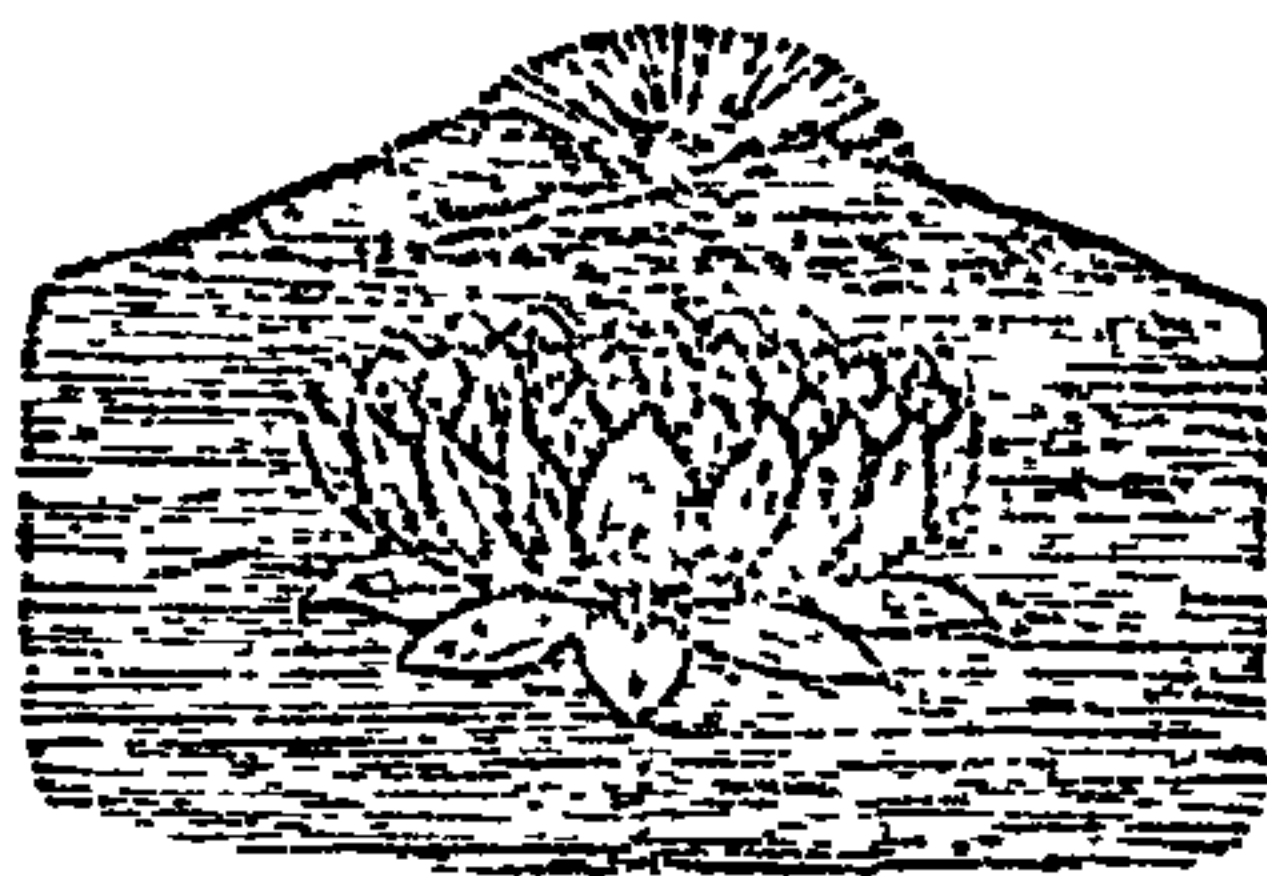
पदार्थोक्ति—जगद्वाचित्वात्—'यो ह वै बालाक एतेषां पुरुषाणां कर्ता यस्य वैतत् कर्म स वै वेदितव्यः' इति श्रुतौ कर्मशब्दस्य जगद्वाचित्वात् [कर्ता परमात्मैव] ।

भाषार्थ—'यो ह वै बालाके०' (हे बालाके ! जो इन पुरुषोंका कर्ता है और जिसका यह सब कार्य है, वह जानने योग्य है) इस श्रुतिमें कर्मशब्दसे सारे जगत्का बोध होनेके कारण कर्ता परमात्मा ही है ।

भाष्य

कौषीतकिब्राह्मणे बालाक्यजातशत्रुसंवादे श्रूयते—'यो वै बालाक एतेषां पुरुषाणां कर्ता यस्य वैतत्कर्म स वै वेदितव्यः' (कौ० ब्रा० ४।१९) इति । तत्र किं जीवो वेदितव्यत्वेनोपदिश्यते उत मुख्यः प्राणः, उत परमात्मेति विशयः । किं तावत् प्राप्तम् ?

प्राण इति । कुतः ? 'यस्य वैतत् कर्म' इति श्रवणात् । परिस्पन्द-

भाष्यका अनुवाद

कौषीतकि ब्राह्मणमें बालाकि और अजातशत्रुके संवादमें 'यो वै बालाक०' (हे बालाके ! जो इन पुरुषोंका कर्ता है, अथवा यह सारा प्रपञ्च जिसका कर्म है, वही जानने योग्य है) ऐसी श्रुति है । इसमें वेदितव्यरूपसे जीव उपदिष्ट है, या मुख्य प्राण अथवा परमात्मा ? ऐसा संशय होता है । तब क्या प्राप्त होता है ?

रत्नप्रभा

जगद्वाचित्वात् । विषयमाह—कौषीतकीति । बलाकाया अपत्यं बालाकिः ब्राह्मणः तं प्रति राजा उवाच—यो वा इति । न केवलमादित्यादीनां कर्ता, किन्तु सर्वस्य जगत इत्याह—यस्येति । एतत् जगद् यस्य कर्म क्रियते इति व्युत्पत्त्या कार्यम् इत्यर्थः । कर्मेति शब्दस्य योगरूढिभ्यां संशयमाह—तत्रेति । पूर्वत्र एकवाक्यस्थसदादिशब्दबलाद् असच्छब्दो नीतः, इह तु वाक्यभेदाद् ब्रह्म ते

रत्नप्रभाका अनुवाद

इस अधिकरणका विषय कहते हैं—"कौषीतकि" इत्यादिसे । बलाकाके पुत्र बालाकि नामक ब्राह्मणसे अजातशत्रु राजाने कहा—"यो वै" इत्यादि । वह केवल आदित्य आदिका कर्ता नहीं है, किन्तु सम्पूर्ण जगत्का कर्ता है, ऐसा कहते हैं—"यस्य" इत्यादिसे । यह जगत् जिसका कर्म है अर्थात् 'क्रियते इति कर्म' (जो किया जाय वह कर्म) इस व्युत्पत्तिसे कार्य है । कर्म-शब्दमें योग और रूढिसे संशय कहते हैं—"तत्र" इत्यादिसे । पूर्व अधिकरणमें एक वाक्यस्थ सत् आदि शब्दोंके बलसे असत् शब्दका अर्थ किया है । यहां तो 'ब्रह्म ते०' (मैं तुमसे

भाष्य

लक्षणस्य च कर्मणः प्राणाश्रयत्वात्, वाक्यशेषे च 'अथास्मिन् प्राण एवैकधा भवति' इति प्राणशब्दश्रवणात्। प्राणशब्दस्य च मुख्ये प्राणे प्रसिद्धत्वात्। ये चैते पुरस्ताद् बालाकिना 'आदित्ये पुरुषश्चन्द्रमसि पुरुषः' इत्येवमादयः पुरुषा निर्दिष्टाः, तेषामपि भवति प्राणः कर्ता, प्राणावस्थाविशेषत्वादादित्यादिदेवतात्मनाम्, 'कतम एको देव इति प्राण इति स ब्रह्म त्यदित्याचक्षते' (बृ० ३।९।९) इति श्रुत्यन्तरप्रसिद्धेः।

भाष्यका अनुवाद

पूर्वपक्षी—प्राण उपदिष्ट है ऐसा प्राप्त होता है, क्योंकि 'यस्य वै०' ऐसी श्रुति है, चलनरूप कर्म प्राणमें रहता है, 'अथास्मिन् प्राण०' (उस समय इस प्राणमें ही एक होता है) इस वाक्यशेषमें प्राणशब्द दिखाई देता है और प्राणशब्द मुख्य प्राणरूप अर्थमें प्रसिद्ध है। 'आदित्ये पुरुषः०' (आदित्यमें पुरुष है, चन्द्रमामें पुरुष है) इस प्रकार पूर्ववाक्यमें बालाकिने जिन पुरुषोंका निर्देश किया है, उनका कर्ता भी प्राण हो सकता है, क्योंकि आदित्य आदि देवता प्राणकी भिन्न भिन्न अवस्थाएँ हैं, 'कतम एको देव०' (एक देव कौन है ? प्राण है, वह ब्रह्म है, वह परोक्ष है, ऐसा कहते हैं) ऐसा अन्य श्रुतिमें प्रसिद्ध

रत्नप्रभा

ब्रवाणीति बालाकिवाक्यस्थब्रह्मशब्देन प्राणादिशब्दो ब्रह्मपरत्वेन नेतुमशक्य इति प्रत्युदाहरणेन पूर्वपक्षमाह—किं तावदिति। पूर्वपक्षे वाक्यस्य प्राणाद्युपास्तिपरत्वाद् ब्रह्मणि समन्वयासिद्धिः सिद्धान्ते ज्ञेये समन्वयसिद्धिरिति फलम्। अथ—सुषुप्तौ, द्रष्टा इति शेषः। श्रुतं पुरुषकर्तृत्वं प्राणस्य कथमित्यत आह—ये चैत इति। सूत्रात्मकप्राणस्य विकाराः सूर्यादय इत्यत्र मानमाह—कतम

रत्नप्रभाका अनुवाद

ब्रह्म कहता हूँ) इस प्रकार बालाकिवाक्यस्थ ब्रह्मशब्दसे प्राण आदि शब्द ब्रह्मपरक नहीं माने जा सकते हैं, क्योंकि यहाँ वाक्यभेद है, प्रत्युदाहरणसे ऐसा पूर्वपक्ष कहते हैं—"किं तावद्" इत्यादिसे। उक्त वाक्य प्राण आदिकी उपासनाका प्रतिपादन करता है, अतः ब्रह्ममें उसके समन्वयकी असिद्धि पूर्वपक्षमें फल है, ज्ञेय ब्रह्ममें समन्वयकी सिद्धि सिद्धान्तमें फल है। 'अथ'—सुषुप्तिमें इस प्राणमें ही द्रष्टा लीन होता है, इसलिए 'द्रष्टा' शेष समझना चाहिए। प्राणको पुरुषोंका कर्ता श्रुति किस प्रकार कहती है ? इसपर कहते हैं—"ये चैते" इत्यादिसे। सूत्रात्मक प्राणके सूर्य आदि विकार हैं, इसमें प्रमाण कहते हैं—"कतमः" इत्यादिसे।

भाष्य

जीवो वाऽयमिह वेदितव्यतयोपदिश्यते। तस्याऽपि धर्माधर्मलक्षणं कर्म शक्यते श्रावयितुम् 'यस्य वैतत् कर्म' इति। सोऽपि भोक्तृत्वाद् भोगोपकरणभूतानामेतेषां पुरुषाणां कर्तोपपद्यते। वाक्यशेषे च जीवलिङ्गमवगम्यते। यत्कारणं वेदितव्यतयोपन्यस्तस्य पुरुषाणां कर्तुर्वेदनायोपेतं बालाकिं प्रति बुबोधयिषुरजातशत्रुः सुप्तं पुरुषमामन्त्र्याऽऽमन्त्रणशब्दाश्रवणात् प्राणादीनामभोक्तृत्वं प्रतिबोध्य यष्टिघातोत्थापनात् प्राणादिव्यतिरिक्तं जीवं भोक्तारं प्रति-

भाष्यका अनुवाद

है। अथवा यहां वेदितव्यरूपसे जीवका उपदेश है। उसका भी धर्माधर्मरूप कर्म 'यस्य वैतत्०' इस तरह कहा जा सकता है। वह भी भोक्ता होनेसे भोगके साधनभूत इन पुरुषोंका कर्ता हो सकता है। और वाक्यशेषमें भी जीवका लिंग समझा जाता है, क्योंकि वेदितव्यरूपसे उपन्यस्त जो पुरुषोंका कर्ता है, उसका ज्ञान प्राप्त करनेके लिए आये हुए बालाकिको बोध करानेकी इच्छासे अजातशत्रुने सोते हुए पुरुषको पुकारा और उसके शब्द न सुननेसे अजातशत्रुने बालाकिको यह बोध कराया कि प्राण आदि भोक्ता नहीं हैं, पुनः लाठीके प्रहारसे उसके जागनेसे

रत्नप्रभा

इति। यस्य महिमानः सर्वे देवा इति पूर्ववाक्ये दर्शितम्, अतः सर्वदेवात्मकत्वात् स प्राणो ब्रह्म त्यत्—परोक्षम्, शास्त्रैकवेद्यत्वादित्यर्थः। पूर्वपक्षान्तरमाह—जीवो वेति। यत्कारणं यस्मात् जीवं बोधयति, तस्मादस्ति सुप्तोत्थापनं जीवलिङ्गम् इति योजना। "तौ ह पुरुषं सुप्तमाजग्मतुः" (बृ० २।१।१५) तं राजा "हे बृहत्पाण्डरवासः सोमराजन्" (बृ० २।१।१५) इति आमन्त्र्य—सम्बोध्य सम्बोधनानभिज्ञत्वात् प्राणादेः अनात्मत्वमुक्त्वा यष्ट्याघातेन उत्थाप्य जीवं

रत्नप्रभाका अनुवाद

'यस्य महिमानः सर्वे देवाः' (सब देव जिसकी महिमा हैं) ऐसा पूर्व वाक्यमें दिखलाया गया है, इसलिए सर्वदेवात्मक होनेसे प्राण ब्रह्म है। त्यत्—परोक्ष, क्योंकि वह केवल शास्त्रसे ही वेद्य है। दूसरा पूर्वपक्ष कहते हैं—"जीवो वा" इत्यादिसे। 'यत्कारणं······जीवलिङ्गम्' (चूँकि जीवका बोध कराता है, इसलिए सोये हुएको उठाना जीवका लिङ्ग है) ऐसी योजना करनी चाहिए। बालाकि और अजातशत्रु सोये हुए पुरुषके पास गये, सुप्त पुरुषको अजातशत्रुने 'हे बृहत्पाण्डरवासः सोमराजन्' कहकर पुकारा, परन्तु वह उठा नहीं, इसलिए उसके शब्द न सुननेसे प्राण आदिको अनात्मा कहकर पीछे लाठीके आघातसे उठाकर प्राण आदिसे

भाष्य

बोधयति । तथा परस्तादपि जीवलिङ्गमवगम्यते—'तद्यथा श्रेष्ठी स्वैर्भुङ्क्ते यथा वा स्वाः श्रेष्ठिनं भुञ्जन्त्येवमेवैष प्रज्ञात्मैतैरात्मभिर्भुङ्क्ते एवमेवैत आत्मान एतमात्मानं भुञ्जन्ति' (कौ०ब्रा०४।२०) इति। प्राणभृत्त्वाच्च जीवस्योपपन्नं प्राणशब्दत्वम् । तस्माज्जीवमुख्यप्राणयोरन्यतर इह ग्रहणीयो न परमेश्वरः, तल्लिङ्गानवगमादिति ।

एवं प्राप्ते ब्रूमः—परमेश्वर एवाऽयमेतेषां पुरुषाणां कर्ता स्यात् ।

भाष्यका अनुवाद

यह समझाया कि प्राण आदिसे भिन्न जीव भोक्ता है । इसी प्रकार अग्रिम वाक्यमें भी जीवलिंग प्रतीत होता है—'तद्यथा श्रेष्ठी स्वैर्भुङ्क्ते०' (जैसे स्वामी अपने भृत्य आदि द्वारा उपहृत पदार्थका उपभोग करता है और वे भृत्य आदि उस स्वामीसे आजीविका पाते हैं, इसी प्रकार यह प्रज्ञात्मा इन आत्माओं द्वारा उपभोग करता है और ये आत्माएँ उस प्रज्ञात्माके आश्रयसे भोग प्राप्त करती हैं । प्राणधारी होनेसे भी जीवको प्राण कहना युक्त है । इसलिए जीव और प्राणमेंसे एकका ग्रहण करना यहां युक्त है, परमेश्वरका ग्रहण करना युक्त नहीं है, क्योंकि उसका लिंग नहीं मिलता ।

सिद्धान्ती—ऐसा प्राप्त होनेपर हम कहते हैं—परमेश्वर ही इन पुरुषोंका

रत्नप्रभा

बोधितवानित्यर्थः । श्रेष्ठी—प्रधानः स्वैः—भृत्यैः ज्ञातिभिरुपहृतं भुङ्क्ते स्वाः ज्ञातयश्च तमुपजीवन्ति । एवं जीवोऽप्यादित्यादिभिः प्रकाशादिना भोगोपकरणैः भुङ्क्ते ते च हविर्ग्रहणादिना जीवमुपजीवन्तीत्युक्तं भोक्तृत्वं जीवलिङ्गम् । ननु "प्राण एवैकधा भवति" (कौ० ब्रा० ३ । ३) इति श्रुतः प्राणशब्दो जीवे कथमित्यत आह—प्राणभृत्त्वाच्चेति । सूत्राद् बहिरेव सिद्धान्तयति—

रत्नप्रभाका अनुवाद

व्यतिरिक्त जीवका बोध कराया, ऐसा अर्थ है । जैसे श्रेष्ठी—प्रधान पुरुष अपने मनुष्यों—नौकरों और बन्धु-बान्धवों द्वारा आनीत विषयोंका उपभोग करता है और भृत्य आदि उपभोगके लिए उसके आश्रित रहते हैं, वैसे ही यह प्रज्ञात्मा—जीव आदित्य आदिसे कृत प्रकाश आदि साधनों द्वारा विषयोंका उपभोग करता है और वे आदित्य आदि जीवात्मासे दिये गये हवि आदिका ग्रहण करके उससे उपजीवन करते हैं । इस प्रकार जीवके भोक्ता होनेसे भोक्तृत्व जीवका लिंग है । यदि कोई कहे कि 'प्राण एवैकधा०' इस प्रकार श्रुतिमें प्राणशब्द जीवके लिए कैसे प्रयुक्त हुआ ? इसपर कहते हैं—"प्राणभृत्त्वाच्च" इत्यादि । सूत्रसे बाहर ही सिद्धान्त

भाष्य

कस्मात्? उपक्रमसामर्थ्यात्, इह हि बालाकिरजातशत्रुणा सह 'ब्रह्म ते ब्रवाणि' इति संवदितुमुपचक्रमे, स च कतिचिदादित्याद्यधिकरणान् पुरुषानमुख्यब्रह्मदृष्टिभाज उक्त्वा तूष्णीं बभूव, तमजातशत्रुः 'मृषा वै खलु मा संवदिष्ठा ब्रह्म ते ब्रवाणि' इत्यमुख्यब्रह्मवादितयाऽपोद्य तत्कर्तारमन्यं वेदितव्यतयोपचिक्षेप। यदि सोऽप्यमुख्यब्रह्मदृष्टिभाक् स्यादुपक्रमो बाध्येत, तस्मात् परमेश्वर एवाऽयं भवितुमर्हति कर्तृत्वं चैतेषां पुरुषाणां न परमेश्वरादन्यस्य स्वातन्त्र्येणाऽवकल्पते। 'यस्य वैतत् कर्म' इत्यपि नाऽयं परिस्पन्द-

भाष्यका अनुवाद

कर्ता है। किससे? उपक्रमके बलसे। क्योंकि यहां बालाकिने अजातशत्रुके साथ 'ब्रह्म ते०' (मैं तुमसे ब्रह्म कहता हूँ) इस प्रकार बात चीत आरम्भ की और आदित्य आदिमें रहनेवाले ब्रह्मभिन्न कुछ पुरुषोंको कहकर वह चुप हो गया। 'मृषा वै खलु मा०' (तुमने मुझसे यह मिथ्या कहा कि मैं तुमसे ब्रह्म कहता हूँ) इस प्रकार अजातशत्रुने बालाकिको अमुख्यब्रह्मवादी कहकर, उसका निषेध करके उनके कर्ता अन्यको वेदितव्य कहा है। यदि वह वेदितव्य भी ब्रह्मभिन्न हो, तो उपक्रमका बाध होगा, इसलिए वह परमेश्वर ही है। और परमेश्वरसे अन्य कोई भी स्वतन्त्ररीतिसे उन पुरुषोंका कर्ता नहीं हो सकता।

रत्नप्रभा

एवमिति। स च बालाकिः ब्रह्मत्वभ्रान्त्या व्यष्टिलिङ्गरूपान् पुरुषानुक्त्वा राज्ञा निरस्तः तूष्णीं स्थितः, त्वदुक्तं ब्रह्म मृषेत्युक्त्वा राज्ञा उच्यमानं ब्रह्मैव इति वक्तव्यम्, अन्यथा राज्ञोऽपि मृषावादित्वप्रसङ्गादित्याह—यदि सोऽपीति। वेदितव्योऽपीत्यर्थः। मुख्यं पुरुषकर्तृत्वं ब्रह्मण एव लिङ्गम्। प्राणजीवयोः तन्नियम्यत्वेनाऽस्वातन्त्र्यात् इत्याह—कर्तृत्वं चेति। यदुक्तं चलनाऽदृष्टयोर्वाचकः कर्मशब्दः प्राणजीवयोः उपस्थापक इति, तत् न इत्याह—यस्येति। अनेकार्थ-

रत्नप्रभाका अनुवाद

करते हैं—"एवम्" इत्यादिसे। बालाकिने ब्रह्मत्वकी भ्रान्तिसे व्यष्टिलिङ्गरूप पुरुष कहे और अजातशत्रुने उनका निषेध किया, इसलिए बालाकि शान्त हुआ। तुमसे कहा गया ब्रह्म ठीक नहीं है, ऐसा कहकर अजातशत्रुने जो कहा, वह ब्रह्म ही होना चाहिए, नहीं तो अजातशत्रु भी मिथ्यावादी हो जायगा, ऐसा कहते हैं—"यदि सोऽपि" इत्यादिसे। 'सोऽपि'—जो वेदितव्य है, वह भी। मुख्य पुरुषकर्तृत्व ब्रह्मका ही लिङ्ग है, क्योंकि प्राण और जीव ब्रह्मके नियम्य होनेसे अस्वतंत्र हैं, ऐसा कहते हैं—"कर्तृत्वं च" इत्यादिसे। और कर्मशब्द

भाष्य

लक्षणस्य धर्माधर्मलक्षणस्य वा कर्मणो निर्देशः, तयोरन्यतरस्याऽप्यप्रकृतत्वात्, असंशब्दितत्वाच्च। नापि पुरुषाणामयं निर्देशः, एतेषां पुरुषाणां कर्तेत्येव तेषां निर्दिष्टत्वात्, लिङ्गवचनविगानाच्च। नापि पुरुषविषयस्य करोत्यर्थस्य क्रियाफलस्य वाऽयं निर्देशः, कर्तृशब्देनैव तयोरुपात्तत्वात्। पारिशेष्यात् प्रत्यक्षसंनिहितं जगत् सर्वनाम्नैतच्छब्देन निर्दिश्यते। क्रियत

भाष्यका अनुवाद

'यस्य वै०' यह निर्देश भी चलनरूप अथवा धर्माधर्मरूप कर्मका नहीं है, क्योंकि उन दोनोंमें से कोई भी प्रकृत नहीं है और श्रुतिमें भी नहीं कहा गया है, उसी प्रकार पुरुषोंका भी यह निर्देश नहीं है, क्योंकि उन पुरुषोंका कर्ता, इस प्रकार उनका निर्देश हो गया है। एवं लिंग और वचनका भेद है। इसी प्रकार पुरुषके उत्पादनका या पुरुषजन्मका भी यह निर्देश नहीं है, क्योंकि कर्तृशब्दसे ही उन दोनोंका ग्रहण किया है। परिशेषसे प्रत्यक्ष संनिहित जगत्का 'एतत्' शब्दरूप

रत्नप्रभा

कात् शब्दादन्यतरार्थस्य प्रकरणात् उपपदाद् वा ग्रहणं न्याय्यम्। अत्र प्रकरणोपपदयोः असत्त्वात् कस्य ग्रहणमिति संशये पुरुषकर्तृपदसान्निध्यात् क्रियते इति योगाद् जगद्ग्रहणमित्यर्थः। एतत्कर्मेति प्रकृतपरामर्शात् पुरुषाः पूर्वोक्ताः कर्मशब्देन निर्दिश्यन्ताम् इत्यत आह—नापीति। पौनरुक्त्यापातात् पुरुषाणां नपुंसकैकवचनेन परामर्शायोगाच्च इत्यर्थः। ननु पुरुषोत्पादकस्य कर्तुः व्यापारः करोत्यर्थः—उत्पादनम्, तस्य फलम्—पुरुषजन्म, तदन्यतरवाची कर्मशब्दोऽस्तु इत्यत आह—नापीति। कर्तृशब्दे-

रत्नप्रभाका अनुवाद

चलनवाचक और अदृष्टवाचक होनेसे प्राण और जीवका उपस्थापक है, ऐसा जो पीछे कहा गया है, वह ठीक नहीं है, ऐसा कहते हैं—"यस्य" इत्यादिसे। एक शब्दके अनेक अर्थ हों तो जो अर्थ प्रकरणसे और समीपस्थपदसे घटता हो, उसी अर्थको लेना उचित है। यहां प्रकरण और समीपस्थ पद न होनेसे कौनसा अर्थ लिया जाय, ऐसा संशय होनेपर 'पुरुषकर्तृ' (पुरुषोंका कर्ता) इस पदकी संनिधि है और 'क्रियत इति कर्म' (जो किया जाय वह कर्म) इस व्युत्पत्तिसे कर्मका अर्थ जगत् है। परन्तु 'एतत् कर्म' इसमें 'एतत्'से प्रकृतका परामर्श होनेसे कर्मशब्दसे पूर्वोक्त पुरुष क्यों निर्दिष्ट न हों, इसपर कहते हैं—"नापि" इत्यादि। पुनरुक्ति हो जायगी और नपुंसक एकवचन 'एतत्' शब्दसे 'पुरुषाः' इस पुल्लिंग और बहुवचनका परामर्श होना योग्य नहीं है। यदि कोई कहे कि पुरुषोंका उत्पादक जो कर्ता, उसका व्यापारभूत 'करोति'का अर्थ उत्पादन और उत्पादनका फल पुरुषजन्म इन दोनोंमेंसे एक अर्थ कर्मशब्दका लो, इस शङ्काका निराकरण करते हैं—"नापि"

भाष्य

इति च तदेव जगत् कर्म। ननु जगदप्यप्रकृतमसंशब्दितं च। सत्यमेतत्। तथाप्यसति विशेषोपादाने साधारणेनाऽर्थेन संनिधानेन संनिहितवस्तुमात्रस्याऽयं निर्देश इति गम्यते न विशिष्टस्य कस्यचित्, विशेषसंनिधानाभावात्। पूर्वत्र च जगदेकदेशभूतानां पुरुषाणां विशेषोपादानादविशेषितं जगदेवेहोपादीयत इति गम्यते। एतदुक्तं भवति। य एतेषां पुरुषाणां

भाष्यका अनुवाद

सर्वनामसे निर्देश किया है और जो किया जाय वह कर्म है, इस व्युत्पत्तिसे जगत् ही कर्म है। परन्तु जगत भी अप्रकृत है और श्रुतिमें प्रतिपादित भी नहीं है? यह सत्य है, परन्तु विशेष वस्तुका ग्रहण न होनेसे साधारण अर्थके साथ संनिधानसे संनिहित वस्तुमात्रका यह निर्देश है, ऐसा समझा जाता है, किसी विशेष वस्तुका नहीं क्योंकि विशेष वस्तुका संनिधान नहीं है। पूर्ववाक्यमें जगत्के एकदेशभूत पुरुषोंका विशेषरूपसे ग्रहण किया है, उससे प्रतीत होता है कि सामान्य जगत्का ही यहां ग्रहण है। तात्पर्य यह है—वह जगत्के एकदेशभूत

रत्नप्रभा

नेति। क्रियाफलाभ्यां विना कर्तृत्वायोगात् कर्तृशब्देनैव तयोः ग्रहणमित्यर्थः। जगतोऽपि प्रकरणोपपदे न स्त इत्युक्तमङ्गीकरोति—सत्यमिति। प्रकरणादिकं हि सर्वनाम्नः संकोचकम्, तस्मिन् असति सामान्येन बुद्धिस्थं सर्वमेव गृह्यते। अत्र च संकोचकासत्त्वात् सर्वार्थकेन सर्वनाम्ना बुद्धिस्थस्य कर्मशब्दो वाचक इत्याह—तथापीति। किञ्च, जगदेकदेशोक्त्या जगत् प्रकृतमित्याह—पूर्वत्रेति। जगद्ग्रहे पुरुषाणामपि ग्रहात् पृथगुक्तिर्व्यर्था इत्यत आह—एतदुक्तमिति। स वेदितव्य इति

रत्नप्रभाका अनुवाद

इत्यादिसे। क्रिया और फलके विना कर्तृत्व नहीं घटता, इसलिए कर्तृशब्दसे ही इन दोनोंका ग्रहण होता है। यदि कोई कहे कि जगत्का भी प्रकरण और उपपद नहीं है, तो इसका अङ्गीकार करते हैं—"सत्यम्" इत्यादिसे। प्रकरण आदि सर्वनामके अर्थका संकोच करते हैं। यदि प्रकरण आदि न हों तो साधारणतया बुद्धिस्थ सभी पदार्थोंका ग्रहण होता है। यहाँ पर सर्वनामके अर्थको संकुचित करनेवाले प्रकरण आदि नहीं हैं, अतः सबका ग्रहण करनेवाले एतत् सर्वनामसे सब अर्थ लेकर कर्मशब्द बुद्धिस्थ कार्यमात्रका वाचक है ऐसा कहते हैं—"तथापि" इत्यादिसे। और जगत्का एकदेश कहा गया है, इससे जगत् प्रकृत है, ऐसा कहते हैं—"पूर्वत्र" इत्यादिसे। परन्तु जगत्का ग्रहण होनेसे पुरुषोंका भी ग्रहण हुआ, इससे पुरुषोंका पृथक् कथन व्यर्थ है, इस शंकाका निराकरण करते हैं—"एतदुक्तम्" इत्यादिसे। 'सः'का

भाष्य

जगदेकदेशभूतानां कर्ता, किमनेन विशेषेण, यस्य कृत्स्नमेव जगदविशेषितं कर्मेति । वाशब्द एकदेशावच्छिन्नकर्तृत्वव्यावृत्त्यर्थः । ये बालाकिना ब्रह्मत्वाभिमताः पुरुषाः कीर्तितास्तेषामब्रह्मत्वख्यापनाय विशेषोपादानम् । एवं ब्राह्मणपरिव्राजकन्यायेन सामान्यविशेषाभ्यां जगतः कर्ता वेदितव्यतयोपदिश्यते । परमेश्वरश्च सर्वजगतः कर्ता सर्ववेदान्तेष्ववधारितः ॥१६॥

भाष्यका अनुवाद

इन पुरुषोंका कर्ता है, अथवा इस विशेष कथनका क्या प्रयोजन है ? उसका तो सामान्यरूपमें संपूर्ण जगत् ही कर्म[1] है । 'वा' शब्द एकदेशके कर्तृत्वकी व्यावृत्ति करनेके लिए है । बालाकि द्वारा ब्रह्मरूपसे कहे गये पुरुषोंको अब्रह्म कहनेके लिए विशेषका ग्रहण है । इस प्रकार ब्राह्मणपरिव्राजकन्यायसे सामान्य और विशेषसे जगत्के कर्ताका वेदितव्यरूपसे उपदेश है । और सभी उपनिषदोंमें यह निर्णय है कि परमेश्वर ही सारे जगत्का कर्ता है ॥१६॥

रत्नप्रभा

सम्बन्धः । पुरुषमात्रनिरूपितं कर्तृत्वमिति भ्रान्तिनिरासार्थो वाशब्दः । ब्राह्मणा भोजयितव्याः परिव्राजकाश्च इत्यत्र यथा ब्राह्मणशब्दः परिव्राजकान्यविषयः, तथाऽत्र कर्मशब्दः पुरुषान्यजगद्वाची इत्याह—एवमिति । अस्तु जगत्कर्ता वेदितव्यः, परमेश्वरस्य किमायातम् इत्यत आह—परमेश्वरेति ॥१६॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

'वेदितव्यः'के साथ संवन्ध है । केवल पुरुषोंका कर्ता है, इस भ्रान्तिको दूर करनेके लिए 'वा' शब्द है । जैसे 'ब्राह्मणा भोजयितव्याः परिव्राजकाश्च' (ब्राह्मणोंको भोजन कराना चाहिए और परिव्राजकोंको भी भोजन कराना चाहिए) इसमें ब्राह्मणशब्द परिव्राजकसे अन्य ब्राह्मणवाचक है, वैसे ही कर्मशब्द पुरुषोंसे अन्य जगत्का वाचक है, ऐसा कहते हैं—"एवम्" इत्यादिसे । यदि कोई कहे कि जगत्का कर्ता वेदितव्य हो, इससे परमेश्वरका क्या ? इसपर कहते हैं—"परमेश्वर" इत्यादि ॥ १६ ॥

---

(१) यद्यपि कर्मशब्द परिस्पन्द, एवं धर्माधर्मरूप अदृष्टमें रूढ़ है और योगसे रूढि बलवती होती है, तो भी यहां दो अर्थोंमें रूढ कर्मशब्दसे किस अर्थका ग्रहण करना चाहिए, ऐसा संशय होनेपर अन्यतर ग्रहणके लिए कोई विनिगमक न होनेसे कलह प्राप्त होनेपर योगार्थका अवकाश प्राप्त होता है । और कर्मशब्दकी परिस्पन्दमें या धर्माधर्ममें रूढि माननेकी आवश्यकता भी नहीं है, क्योंकि 'क्रियते इति कर्म' इस योगसे ही उनका भी ग्रहण हो सकता है । जहाँ योगसे रूढ्यर्थका संग्रह नहीं होता, वहां पृथक् रूढिका आश्रय किया जाता है, जैसे 'अश्वकर्ण' आदिमें । जहां योगसे ही रूढ्यर्थका संग्रह हो जाता है, वहां तो पृथक् रूढिका आश्रय नहीं किया जाता, जैसे 'प्रोक्षणी' आदिमें । 'जलका प्रकर्षसे उक्षणसाधक' इस योगसे ही प्रोक्षणीपात्रका लाभ होनेपर जैसे पात्रमें पृथक् रूढिका अंगीकार नहीं होता है । इसलिए अजातशत्रुवाक्यमें कर्मशब्दके योगसे कार्यमात्र अर्थ होनेसे वह वाक्य कार्यसामान्य कर्तृत्वरूप लिंगसे परमेश्वरमें ही पर्यवसित होता है ।

जीवमुख्यप्राणलिङ्गान्नेति चेत्तद्व्याख्यातम् ॥ १७ ॥

पदच्छेद—जीवमुख्यप्राणलिङ्गात्, न, इति, चेत्, तत्, व्याख्यातम्।

पदार्थोक्ति—जीवमुख्यप्राणलिङ्गात्—श्रुतौ शारीरस्य प्राणवायोश्च लिङ्गसद्भावात्, न तस्या ब्रह्मपरत्वम्, इति चेत्, तत्—तस्या ब्रह्मपरत्वम्, व्याख्यातम्—प्रतर्दनाधिकरणे प्रतिपादितम्।

भाषार्थ—पूर्वोक्त श्रुतिमें जीव एवं प्राण वायुके लिङ्ग हैं, अतः वह श्रुति ब्रह्मपरक नहीं है, ऐसा यदि कोई कहे, तो उसके उत्तरमें कहना चाहिए कि प्रतर्दनाधिकरणके 'जीवमुख्यप्राणलिङ्गान्नेति चेन्नोपासात्रैविध्यादाश्रितत्वादिह तद्योगात्' इस सूत्रमें उक्त श्रुति ब्रह्मपरक कही गई है। अर्थात् उक्त सूत्रके 'उपासात्रैविध्यादाश्रितत्वादिह तद्योगात्' इस अंशसे जो कहा गया है, वही इसका उत्तर है।

भाष्य

अथ यदुक्तम्—वाक्यशेषगताज्जीवलिङ्गान्मुख्यप्राणलिङ्गाच्च तयोरेवाऽन्यतरस्येह ग्रहणं न्याय्यं न परमेश्वरस्य इति, तत् परिहर्तव्यम्। अत्रोच्यते—परिहृतं चैतत् 'नोपासात्रैविध्यादाश्रितत्वादिह तद्योगात्' (ब्र० सू० १।१।३१) इत्यत्र। त्रिविधं ह्यत्रोपासनमेवं सति प्रसज्येत जीवोपासनं

भाष्यका अनुवाद

वाक्यशेषस्थित जीवलिङ्गसे और मुख्यप्राणलिङ्गसे यहां जीव और प्राणमेंसे किसी एकका ग्रहण उचित है, परमेश्वरका ग्रहण न्यायसंगत नहीं है, ऐसा जो पीछे कहा गया है, उसका परिहार करना चाहिए, इसपर कहते हैं—'नोपासात्रैविध्यादा०' इस सूत्रमें उसका परिहार किया गया है, क्योंकि ऐसा होनेपर यहां जीवकी उपासना, मुख्य प्राणकी उपासना और ब्रह्मकी उपासना, इस तरह

रत्नप्रभा

सिद्धान्तमुक्त्वा पूर्वपक्षवीजम् अनूद्य दूषयति—जीवमुख्यप्राणलिङ्गान्नेति चेत्तद्व्याख्यातम् इति। उक्तमेव स्मारयति—त्रिविधमिति। श्रैष्ठ्यम्—गुणाधिक्यम्,

रत्नप्रभाका अनुवाद

सिद्धान्त कहकर पूर्वपक्षके उपस्थित होनेमें जो बीज है, उसका अनुवाद करके दोष निकालते हैं—"जीवमुख्यप्राणलिङ्गान्नेति चेत् तद्व्याख्यातम्' से। उक्तका ही स्मरण कराते हैं—

भाष्य

मुख्यप्राणोपासनं ब्रह्मोपासनं चेति। न चैतन्न्याय्यम्, उपक्रमोपसंहाराभ्यां हि ब्रह्मविषयत्वमस्य वाक्यस्याऽवगम्यते। तत्रोपक्रमस्य तावद् ब्रह्मविषयत्वं दर्शितम्। उपसंहारस्यापि निरतिशयफलश्रवणाद् ब्रह्मविषयत्वं दृश्यते—'सर्वान् पाप्मनोऽपहत्य सर्वेषां च भूतानां श्रैष्ठ्यं स्वाराज्यमाधिपत्यं पर्येति य एवं वेद' इति। नन्वेवं सति प्रतर्दनवाक्यनिर्णयेनैवेदमपि वाक्यं निर्णीयेत, न निर्णीयते, 'यस्य वैतत् कर्म' इत्यस्य ब्रह्मविषयत्वेन तत्राऽनिर्धारितत्वात्। तस्मादत्र जीवमुख्यप्राणशङ्का पुनरुत्पद्यमाना निवर्त्यते। प्राणशब्दोऽपि ब्रह्मविषयो दृष्टः 'प्राणबन्धनं हि सोम्य मनः'

भाष्यका अनुवाद

तीन प्रकारकी उपासनाएँ प्राप्त होती हैं, यह युक्त नहीं है, क्योंकि उपक्रम और उपसंहारसे प्रतीत होता है कि यह वाक्य ब्रह्मप्रतिपादक है। उन दोनोंमें उपक्रम ब्रह्मप्रतिपादक है, यह दिखलाया जा चुका है। और 'सर्वान् पाप्मनो०' (जो इस प्रकार जानता है वह सब पापोंका नाश करके सब भूतोंमें श्रेष्ठत्व, स्वाराज्य और आधिपत्य प्राप्त करता है) इस प्रकार उपसंहारमें निरतिशय फलकी श्रुति है, इससे प्रतीत होता है कि वह भी ब्रह्मप्रतिपादक ही है। परन्तु यदि ऐसा होता, तो प्रतर्दनवाक्यके निर्णयसे ही इस वाक्यका भी निर्णय हो जाता, निर्णय नहीं होता, क्योंकि 'यस्य वैतत् कर्म' (अथवा यह जिसका कर्म है) यह ब्रह्मप्रतिपादक है, ऐसा वहां निर्धारण नहीं किया गया है, इसलिए यहां उक्त वाक्य जीव और मुख्यप्राणका प्रतिपादक है, ऐसी शङ्का फिर उत्पन्न होती है, उसका निराकरण किया जाता है। 'प्राणबन्धनं हि०' (हे सोम्य जीव प्राणपर निर्भर है) इसमें

रत्नप्रभा

आधिपत्यम्—नियन्तृत्वम्, स्वाराज्यम्—अनियम्यत्वम् इति भेदः। सम्भवति एकवाक्यत्वे वाक्यभेदो हि नेष्यते इत्युक्तम् चेत् पुनरुक्तिः स्यादिति शङ्कते—नन्वेवमिति। कर्मशब्दस्य रूढ्या पूर्वपक्षमासौ तन्निरासार्थमस्य आरम्भो युक्त इत्याह—

रत्नप्रभाका अनुवाद

"त्रिविधम्" इत्यादिसे। श्रैष्ठ्यम्—गुणाधिक्य, आधिपत्यम्—नियन्ता होना, स्वाराज्यम्—निरङ्कुश होना। एकवाक्यताका संभव हो, तो वाक्यभेद इष्ट नहीं है ऐसा जो कहा है, उससे पुनरुक्तिकी शंका करते हैं—"नन्वेवम्" इत्यादिसे। कर्मशब्दका रूढिसे अर्थ करनेमें पूर्वपक्ष होता है, उसका निराकरण करनेके लिए इसका आरम्भ करना उचित है, ऐसा कहते हैं—"न"

भाष्य

(छा० ६ । ८ । २) इत्यत्र । जीवलिङ्गमप्युपक्रमोपसंहारयोर्ब्रह्मविषयत्वादभेदाभिप्रायेण योजयितव्यम् ॥ १७ ॥

भाष्यका अनुवाद

प्राणशब्द भी ब्रह्मविषयक देखा जाता है। उपक्रम और उपसंहारके ब्रह्मविषयक होनेसे जीवलिंग भी जीव और ब्रह्मके अभेदाभिप्रायसे है, ऐसी योजना करनी चाहिए ॥१७॥

रत्नप्रभा

नेत्यादिना। प्राणशब्दजीवलिङ्गयोः गतिमाह—प्राणशब्दोऽपीति। मनः—जीवः॥१७॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

इत्यादिसे। प्राणशब्द और जीवलिङ्गकी गति कहते हैं—"प्राणशब्दोऽपि" इत्यादिसे। मनः—जीव ॥१७॥

अन्यार्थं तु जैमिनिः प्रश्नव्याख्यानाभ्यामपि चैवमेके ॥१८॥

पदच्छेद—अन्यार्थम्, तु, जैमिनिः, प्रश्नव्याख्यानाभ्याम्, अपि, च, एवम्, एके।

पदार्थोक्ति—जैमिनिस्तु [आचार्यः अस्मिन् प्रकरणे जीवपरामर्शम्] अन्यार्थम्—ब्रह्मप्रतिपत्त्यर्थम् [मन्यते, कुतः] प्रश्नव्याख्यानाभ्याम्—'क्वैष एतद् बालाके! पुरुषोऽशयिष्ट क्व वा एतदभूत्' इति 'यदा सुप्तः स्वप्नं न कञ्चन पश्यत्यथास्मिन् प्राण एवैकधा भवति' इति च प्रश्नोत्तराभ्याम्, अपि च—किञ्च, एके—वाजसनेयिनः, एवम्—'य एष विज्ञानमयः पुरुषः क्वैष तदाभूत् कुत एतदागात्' इति 'य एषोऽन्तर्हृदय आकाशस्तस्मिञ्छेते' इति च प्रश्नोत्तराभ्याम् [स्पष्टं विज्ञानमयातिरिक्तं परमात्मानम् आमनन्ति]।

भाषार्थ—जैमिनि आचार्य इस प्रकरणमें 'क्वैष एतद् बालाके०' (हे बालाके! यह पुरुष कहां सोया था, वह शयन किस स्थानमें हुआ था) यह प्रश्न और 'यदा सुप्तः स्वप्नं०' (जब सुप्त पुरुष कोई स्वप्न नहीं देखता तब प्राणमें परमात्माके साथ एकता प्राप्त करता है) यह उत्तर होनेसे जीवपरामर्श ब्रह्मज्ञानके लिए है ऐसा मानते हैं। और वाजसनेयिशाखावाले 'य एष विज्ञान०' (यह विज्ञानमय पुरुष सुषुप्तिकालमें कहां था, अन्य अवस्थामें कहांसे आया) इस प्रश्न और 'य एषोऽन्तर्हृदय०' (यह जो हृदयके अन्दर आकाश है उसमें सोता था) इस उत्तरसे स्पष्ट कहते हैं कि विज्ञानात्मा परमात्मासे भिन्न है।

भाष्य

अपि च नैवाऽत्र विवदितव्यम्—जीवप्रधानं वेदं वाक्यं स्याद् ब्रह्मप्रधानं वा इति। यतोऽन्यार्थं जीवपरामर्शं ब्रह्मप्रतिपत्त्यर्थमस्मिन् वाक्ये जैमिनिराचार्यो मन्यते। कस्मात्? प्रश्नव्याख्यानाभ्याम्। प्रश्नस्तावत् सुप्तपुरुषप्रतिबोधनेन प्राणादिव्यतिरिक्ते जीवे प्रतिबोधिते पुनर्जीवव्यतिरिक्तविषयो दृश्यते—'क्वैष एतद्बालाके पुरुषोऽशयिष्ट क्व वा एतदभूत् कुत एतदागात्'

भाष्यका अनुवाद

और यह वाक्य जीवप्रतिपादक है या ब्रह्मप्रतिपादक है, ऐसा विवाद करना उचित नहीं है, क्योंकि इस वाक्यमें जैमिनि आचार्य जीवके परामर्शको अन्यार्थक अर्थात् ब्रह्मकी प्रतीतिके लिए मानते हैं। किससे? प्रश्न और व्याख्यानसे। सोये हुए पुरुषको उठाकर प्राण आदिसे अन्य जीवका बोध करानेके अनन्तर 'क्वैष बालाके पुरुषो०' (हे बालाके! यह पुरुष कहाँ सोता था, यह शयन कहां हुआ था और कहांसे यह आया) इस प्रकार जीवसे भिन्नके विषयमें दूसरा प्रश्न देखनेमें

रत्नप्रभा

जीवलिङ्गेन ब्रह्मैव लक्ष्यते इत्युक्तम्। इदानीं तल्लिङ्गेन जीवोक्तिद्वारा ब्रह्म ग्राह्यमित्याह—**अन्यार्थमिति**। जीवपरामर्शस्य जीवाधिकरणब्रह्मज्ञानार्थत्वे प्रश्नमाह—**क्वैष इति**। हे बालाके! एतत् शयनं विशेषज्ञानाभावरूपं यथा स्यात् तथा एष पुरुषः क्वाऽशयिष्ट कस्मिन् अधिकरणे शयनं कृतवानित्यर्थः। एकीभावाश्रयज्ञानार्थं पृच्छति—**क्व वा इति**। एतद् भवनमेकीभावरूपं यथा स्यात् तथा एष पुरुषः क्वाऽभूत् सुप्तः, केन ऐक्यं प्राप्नोतीति यावत्। उत्थानापादानं पृच्छति—**कुत इति**। एतद् आगमनम् ऐक्यभ्रंशरूपं यथा स्यात् तथा पुरुषः कुत आगत

रत्नप्रभाका अनुवाद

जीवके लिङ्गसे ब्रह्मका ही प्रतिपादन होता है, ऐसा पूर्व सूत्रमें कहा गया है, अब "अन्यार्थम्" इत्यादिसे कहते हैं कि जीवलिङ्गसे जीवकथन द्वारा ब्रह्मका ग्रहण करना चाहिए। जीवक परामर्श जीवके आधारभूत ब्रह्मको जाननेके लिए है इस विषयमें प्रश्न कहते हैं—"क्वैष" इत्यादिसे। हे बालाके! विशेष ज्ञानका अभावरूप शयन जिस प्रकार हो, उस प्रकार यह जीव कहां सोता था अर्थात् किस अधिकरणमें शयन करता था? एकीभावका आश्रय जाननेके लिए पूछते हैं—"क्व वा" इत्यादिसे। यह एकीभाव जैसे हो वैसे यह पुरुष कहां सोता थ अर्थात् किसके साथ एकताको प्राप्त हुआ था? उत्थानके अपादानको—जिसमेंसे उठता है उसको—पूछते हैं—"कुतः" इत्यादिसे। अर्थात् पुरुषका ऐक्यभ्रंशरूप आगमन कहाँसे

भाष्य

(कौ० ब्रा० ४ । १९) इति । प्रतिवचनमपि 'यदा सुप्तः स्वप्नं न कंचन पश्यत्यथास्मिन् प्राण एवैकधा भवति' इत्यादि, 'एतस्मादात्मनः प्राणा यथायतनं विप्रतिष्ठन्ते प्राणेभ्यो देवा देवेभ्यो लोकाः' (कौ० ब्रा० ४।१९,२०) इति च । सुषुप्तिकाले च परेण ब्रह्मणा जीव एकतां गच्छति, परस्माच्च ब्रह्मणः प्राणादिकं जगज्जायत इति वेदान्तमर्यादा । तस्माद्यत्रास्य जीवस्य निःसम्बोधतास्वच्छतारूपः स्वाप उपाधिजनितविशेषविज्ञानरहितं स्वरूपम्, यतस्तद्भ्रंशरूपमागमनम्, सोऽत्र परमात्मा वेदित-

भाष्यका अनुवाद

आता है । और 'यदा सुप्तः स्वप्नं न०' (सोता हुआ पुरुष जब कोई स्वप्न नहीं देखता तब इस प्राणमें ही एक होता है) इत्यादि और 'एतस्मादात्मनः प्राणा०' (इस आत्मासे प्राण अपने अपने स्थानपर जाते हैं, प्राणोंसे देव और देवोंसे लोक) ऐसे प्रतिवचन भी हैं । सुषुप्तिकालमें परब्रह्मके साथ जीव एक हो जाता है और परब्रह्मसे प्राण आदि जगत् उत्पन्न होता है, यह वेदान्तसिद्धान्त है । इससे प्रतीत होता है कि जिसमें इस जीवका भानरहित स्वच्छतारूप स्वाप है अर्थात् उपाधिजनितविशेषविज्ञानरहित स्वरूप है, जिससे स्वापसे पतनरूप आगमन होता है, यहां उसी परमात्माका श्रुति वेदितव्यरूपसे प्रतिपादन करती

रत्नप्रभा

इत्यर्थः । प्रश्नमुक्त्वा व्याख्यानमाह—प्रतिवचनमिति । शयनभवनयोः आधारः उत्थानापादानञ्च प्राणशब्दितं ब्रह्मैव इत्यर्थः । उत्तरे प्राणोक्तेः प्रश्नोऽपि प्राणविषय इत्यत आह—सुषुप्तिकाले चेति । जगद्धेतुत्वजीवैक्याभ्यां प्राणोऽत्र ब्रह्मेत्यर्थः । जीवोक्तेरन्यार्थत्वम् उपसंहरति—तस्मादिति । निस्सम्बोधता—विशेषधीशून्यता, स्वच्छता—विक्षेपमलशून्यता । भेदभ्रान्तिशून्यतास्वरूपम् ऐक्यमाह—

रत्नप्रभाका अनुवाद

हुआ । प्रश्न कहकर व्याख्यान कहते हैं—"प्रतिवचनम्" इत्यादिसे । अर्थात शयन और एकीभावका आधार एवं उत्थानका अपादान ब्रह्म ही प्राणशब्दसे कहा गया है । यदि कोई कहे कि आगे प्राणका कथन है, प्रश्न भी प्राणका है, इसपर कहते हैं—"सुषुप्तिकाले च" इत्यादिसे । यहांपर प्राण जगत्का हेतु और जीवका आधार कहा गया है, इससे वह ब्रह्म ही है । जीवका कथन दूसरे प्रयोजनके हेतु है, इसका उपसंहार करते हैं—"तस्माद्" इत्यादिसे । निःसम्बोधता—विशेषज्ञानशून्य होना, स्वच्छता—विक्षेपरूप मलसे रहित होना । भेदभ्रान्तिशून्यतारूप स्वरूपैक्य कहते हैं—"उपाधि" इत्यादिसे । प्रश्न और

भाष्य

व्यतया श्रावित इति गम्यते। अपि चैवमेके शाखिनो वाजसनेयिनोऽस्मिन्नेव बालाक्यजातशत्रुसंवादे स्पष्टं विज्ञानमयशब्देन जीवमाम्नाय तद्व्यतिरिक्तं परमात्मानमामनन्ति--'य एष विज्ञानमयः पुरुषः क्वैष तदाऽभूत् कुत एतदागात्' (बृ० २ । १ । १६) इति प्रश्ने प्रतिवचनेऽपि 'य एषोऽन्तर्हृदय आकाशस्तस्मिञ्छेते' इति । आकाशशब्दश्च परमात्मनि प्रयुक्तः 'दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशः' (छा० ८ । १ । १) इत्यत्र। 'सर्व एत आत्मनो व्युच्चरन्ति'[1] इति चोपाधिमतामात्मनामन्यतो व्युच्चरणमामनन्तः परमा-

भाष्यका अनुवाद

है । और एक शाखावाले—वाजसनेयी बालाकि और अजातशत्रुके इसी संवादमें विज्ञानमयशब्दसे जीवका स्पष्ट श्रवण कराके उससे अन्य परमात्माका 'य एष विज्ञानमयः पुरुषः' (जो यह विज्ञानमय पुरुष है, यह तब कहां था और कहांसे आया) इस प्रकार प्रश्नमें और 'य एषोऽन्तर्हृदय०' (हृदयमें जो यह आकाश है, उसमें सोता है) इस प्रतिवचनमें भी श्रवण कराते हैं । आकाशशब्दका प्रयोग 'दहरोऽस्मि०' (इस हृदयमें अल्प आकाश है) इस श्रुतिमें परमात्माके अर्थमें किया गया है । 'सर्व एत आत्मनो०' (ये सब आत्मासे निकलते हैं) इस प्रकार उपाधिवाले आत्मा अन्यमेंसे निकलते हैं, ऐसा श्रवण

रत्नप्रभा

उपाधीति । प्रश्नव्याख्यानयोः ब्रह्मविषयत्वे शाखान्तरसंवादमाह—अपि चैवमेके शाखिन इति। ननु तत्राऽऽकाशः सुषुप्तिस्थानम् उक्तम्, न ब्रह्मेत्यत आह—आकाशेति । उपाधिद्वारा प्रमात्रात्मजन्महेतुत्वात् च आकाशो ब्रह्मेत्याह–सर्व इति। एवं जीवनिरासार्थकत्वेन सूत्रं व्याख्याय प्राणनिरासपरत्वेनाऽपि व्याचष्टे—प्राणेति ।

रत्नप्रभाका अनुवाद

व्याख्यान ब्रह्मके प्रतिपादक हैं, इस विषयमें अन्य शाखाके वाक्यको प्रमाणरूपसे उद्धृत करते हैं—"अपि चैवमेके शाखिनः" इत्यादिसे । यदि कोई कहे कि वहां आकाश सुषुप्तिस्थान कहा गया है, न कि ब्रह्म, इसपर कहते हैं—"आकाश" इत्यादि । उपाधिद्वारा प्रमाता आत्माके जन्मका हेतु होनेसे आकाश ब्रह्म ही है, ऐसा कहते हैं—"सर्व" इत्यादिसे । इस प्रकार सूत्र जीवका निराकरण करनेके लिए है, ऐसा व्याख्यान करके अब प्राणका निराकरण करनेके

(१) यह माध्यन्दिनोंका पाठ है । काण्वोंका 'एवमेवास्मादात्मनः सर्वे प्राणा सर्वे लोकाः सर्वेः देवाः सर्वाणि च भूतानि व्युच्चरन्ति' (इसी प्रकार इस आत्मासे सब प्राण, सब लोक, सब देव और सब भूत निकलते हैं) ऐसा पाठ है ।

भाष्य

त्मानमेव कारणत्वेनाऽऽमनन्तीति गम्यते। प्राणनिराकरणस्यापि सुषुप्त-पुरुषोत्थापनेन प्राणादिव्यतिरिक्तोपदेशोऽभ्युच्चयः ॥ १८ ॥

भाष्यका अनुवाद

कराते हुए परमात्माका ही कारणरूपसे श्रवण कराते हैं। प्राणके निराकरणमें सुषुप्त पुरुषके उत्थापनके साथ प्राण आदिसे अतिरिक्त जीवके उपदेशरूप हेतुका समुच्चय है अर्थात् प्राणके निराकरणमें दोनों हेतु हैं ॥ १८ ॥

रत्नप्रभा

अस्मिन् वाक्ये प्राणोपदेशं ब्रह्मज्ञानार्थं मन्यते जैमिनिः, उक्तप्रश्नव्याख्यानाभ्यां वाक्यस्य ब्रह्मपरत्वात्। अपि चैके शाखिन एवमेव प्राणातिरिक्तं जीवात्मानम् आमनन्तः प्राणस्य वाक्यार्थत्वं वारयन्ति इति सूत्रयोजना। अतिरिक्तजीवोपदेशः प्राणनिराकरणस्याऽपि अभ्युच्चयः—हेत्वन्तरमिति भाष्यार्थः। तस्मात् इदं वाक्यं समन्वितमिति सिद्धम् ॥ १८ ॥ (५) ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

लिए है, ऐसा व्याख्यान करते हैं—"प्राण" इत्यादिसे। जैमिनि इस वाक्यमें प्राणका उपदेश ब्रह्मज्ञानके लिए मानते हैं, क्योंकि उक्त प्रश्न और व्याख्यानसे प्रतीत होता है कि वाक्य ब्रह्मपरक है। और वाजसनेयिशाखावाले उसी प्रकार प्राणसे अन्य जीवात्माका श्रवण कराके वाक्यार्थ प्राणका प्रतिपादक नहीं है, ऐसा कहते हैं, ऐसी सूत्रकी योजना करनी चाहिए। जीवका भिन्नरूपसे उपदेश भी प्राणके निराकरणमें दूसरा हेतु है ऐसा भाष्यका अर्थ है। इसलिए इस वाक्यका ब्रह्ममें समन्वय है, यह सिद्ध हुआ ॥१८॥

[६ वाक्यान्वयाधिकरण सू० १९—२२]

आत्मा द्रष्टव्य इत्युक्तः संसारी वा परेश्वरः ।
संसारी पतिजायादिभोगप्रीत्याऽस्य सूचनात् ॥१॥
अमृतत्वमुपक्रम्य तदन्तेऽप्युपसंहृतम् ।
संसारिणमनूद्यातः परेशत्वं विधीयते* ॥२॥

[अधिकरणसार]

सन्देह—'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः' इस श्रुतिमें उक्त द्रष्टव्य आत्मा जीव है अथवा ब्रह्म ?

पूर्वपक्ष—उक्त आत्मा जीव है, क्योंकि श्रुत्युक्त पति, स्त्री आदि भोग्य पदार्थोंकी प्रीतिसे तद्युक्त जीवकी ही सूचना होती है ।

सिद्धान्त—वाक्यके उपक्रममें अमृतत्व कहा गया है, उपसंहारमें भी अमृतत्व कहा गया है, इससे सिद्ध होता है कि संसारी—जीवका अनुवाद करके उसमें ब्रह्मत्वका विधान है । इसलिए उक्त आत्मा ब्रह्म ही है ।

---

* तात्पर्य यह कि बृहदारण्यकके चतुर्थ अध्यायमें अपनी भार्या मैत्रेयीके प्रति याज्ञवल्क्य उपदेश करते हैं—"आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः" इसका अर्थ यह है कि हे मैत्रेयि ! आत्माका दर्शन करना चाहिए, उसके लिए श्रवण, मनन और निदिध्यासन करना चाहिए । यहां सन्देह होता है कि उक्त आत्मा जीव है अथवा ब्रह्म है ?

पूर्वपक्षी कहता है कि जीव है, क्योंकि "न वा अरे पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवति, आत्मनस्तु कामाय पतिः प्रियो भवति" इत्यादि वाक्योंसे प्रतीत होता है कि भोग्य पदार्थोंमें प्रेम रखनेवाला उक्त द्रष्टव्य आत्मा संसारी है । 'न वा अरे०' इत्यादि वाक्यका यह अर्थ है—पतिमें प्रेम करनेवाली स्त्री पतिके सुखके लिए प्रेम नहीं करती है, किन्तु अपने सुखके लिए ही प्रेम करती है, इस प्रकार पति, पुत्र आदि भी अपने अपने सुखके लिए ही अन्यत्र प्रेम करते हैं । ऐसा भोग तो असङ्ग ईश्वरके लिए युक्त नहीं है ।

सिद्धान्ती कहते हैं कि उक्त वाक्यके उपक्रममें मैत्रेयीने पूछा कि वित्तसाध्य कर्मसे मुझे अमृतत्व मिलेगा ? याज्ञवल्क्यने उत्तर दिया कि वित्तसाध्य कर्मसे अमृतत्वकी आशा भी नहीं है । ब्राह्मणके अवसानमें भी "एतावदरे खल्वमृतत्वम्" (हे मैत्रेयि ! यही अमृतत्व है) ऐसा उपसंहार किया गया है । अतः उपक्रम और उपसंहारके बलसे प्रतीत होता है कि यहां अमृतत्वका साधन आत्मज्ञान प्रतिपाद्य है । जीवात्माका ज्ञान तो अमृतत्वका साधन नहीं है । इससे सिद्ध होता है कि भोगप्रीतिसे सूचित जीवका अनुवाद करके उसमें ब्रह्मत्वका प्रतिपादन है । अतः उक्त द्रष्टव्य आत्मा ब्रह्म ही है ।

वाक्यान्वयात् ॥ १९ ॥

पदार्थोक्ति—वाक्यान्वयात्—['आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यः' इत्यत्र द्रष्टव्यत्वादिरूपेणोपदिष्टः आत्मा परमात्मैव, कुतः] उपक्रमादिपर्यालोचनया वाक्यस्य ब्रह्मण्येवाऽन्वयात् ।

भाषार्थ—'आत्मा वा अरे०' (हे मैत्रेयि ! आत्माका दर्शन करना चाहिए श्रवण करना चाहिए) इस श्रुतिमें द्रष्टव्य आदि रूपसे उपदिष्ट आत्मा परमात्मा ही है, क्योंकि उपक्रम आदिके पर्यालोचनसे प्रतीत होता है कि ब्रह्ममें ही वाक्यका अन्वय है ।

भाष्य

बृहदारण्यके मैत्रेयीब्राह्मणेऽधीयते—'न वा अरे पत्युः कामाय' इत्युपक्रम्य 'न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवत्यात्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो मैत्रेय्यात्मनो वा अरे दर्शनेन श्रवणेन मत्या विज्ञानेनेदं सर्वं विदितम्' (बृ० ४ । ५ । ६) इति, तत्रैतद्विचिकित्स्यते—किं विज्ञानात्मैवाऽयं द्रष्टव्यश्रोतव्यत्वादिरूपेणोपदिश्यत आहोस्वित् परमात्मेति । कुतः पुनरेषा

भाष्यका अनुवाद

बृहदारण्यकके मैत्रेयी ब्राह्मणमें 'न वा अरे पत्युः' (अरे मैत्रेयि! पतिके लिए पति प्रिय नहीं होता) इस प्रकार उपक्रम करके श्रुति कहती है—'न वा अरे सर्वस्य कामाय०' (अरे मैत्रेयि ! सबके लिए सब प्रिय नहीं होते, अपने मतलबके लिए सब प्रिय होते हैं । अरे मैत्रेयि ! आत्मा ही दर्शन, श्रवण, मनन और निदिध्यासनके योग्य है । आत्माके ही दर्शन, श्रवण, मनन और विज्ञानसे यह सब विदित होता है) । यहांपर यह संशय होता है कि क्या यह विज्ञानात्मा ही द्रष्टव्य, श्रोतव्य आदि रूपसे उपदिष्ट होता है या परमात्मा ? यह संशय

रत्नप्रभा

वाक्यान्वयात् । विषयवाक्यमाह—बृहदिति । पत्यादेः आत्मशेषत्वेन प्रियत्वाद् आत्मैव सर्वशेषी प्रियतमः, अतोऽन्यत् परित्यज्य आत्मैव द्रष्टव्यः, दर्शनार्थं श्रव-

रत्नप्रभाका अनुवाद

"वाक्यान्वयात्"। "बृहद्" इत्यादिसे विषयवाक्य कहते हैं । पति आदि आत्मोपयोगी होनेसे प्रिय हैं, अतः सबका उपभोग करनेवाला आत्मा ही प्रियतम है, इसलिए अन्य पदार्थोंको छोड़कर आत्माका

भाष्य

विचिकित्सा? प्रियसंसूचितेनाऽऽत्मना भोक्त्रोपक्रमाद् विज्ञानात्मोपदेश इति प्रतिभाति। तथाऽऽत्मविज्ञानेन सर्वविज्ञानोपदेशात् परमात्मोपदेश इति। किं तावत् प्राप्तम् ?

विज्ञानात्मोपदेश इति। कस्मात्? उपक्रमसामर्थ्यात्। पतिजाया-पुत्रवित्तादिकं हि भोग्यभूतं सर्वं जगदात्मार्थतया प्रियं भवतीति प्रिय-संसूचितं भोक्तारमात्मानमुपक्रम्याऽनन्तरमिदमात्मनो दर्शनाद्युपदिश्य-मानं कस्याऽन्यस्याऽऽत्मनः स्यात्। मध्येऽपि 'इदं महद् भूतमनन्तमपारं विज्ञानघन एवैतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवाऽनुविनश्यति न प्रेत्य

भाष्यका अनुवाद

क्यों होता है ? प्रियशब्दसे सूचित भोक्ता आत्मासे उपक्रम होनेके कारण विज्ञा-नात्माका उपदेश है, ऐसा भासता है। उसी प्रकार आत्माके विज्ञानसे सर्वविज्ञानका उपदेश है, इससे परमात्माका उपदेश है ऐसा प्रतीत होता है। तब क्या प्राप्त होता है ?

पूर्वपक्षी—विज्ञानात्माका उपदेश है यह प्राप्त होता है। किससे ? उपक्रमके बलसे। पति, स्त्री, पुत्र, वित्त आदि भोग्यभूत सारा जगत् आत्माके लिए प्रिय होता है, इस प्रकार प्रियशब्दसे सूचित भोक्ता आत्माका उपक्रम करके उसके अनन्तर आत्मा-के दर्शन, श्रवण आदि जो कहे गये हैं, वे आत्मासे अन्य किस दूसरेके होंगे ? बीच-में भी 'इदं महद्भूतमनन्त०' (यह महान्, सत्य, अनन्त, अपार और विज्ञानैकरस इन भूतोंसे समुत्थान करके इनके पीछे ही नष्ट हो जाता है, मरणके बाद ज्ञान

रत्नप्रभा

णादिकं कार्यम् इत्यर्थः। प्रियसंसूचितेनेति। पतिजायादिभिः प्रियैः भोग्यैः जीवतया अनुमितेन इत्यर्थः। यथा "ब्रह्म ते ब्रवाणि" (बृ० २।१।१) इत्युपक्रमबलाद् वाक्यस्य ब्रह्मपरत्वम्, तथाऽत्र जीवोपक्रमाद् अस्य वाक्यस्य जीवपरत्वमिति दृष्टान्तेन पूर्वपक्षयति—किं तावदिति। पूर्वपक्षे वाक्यस्य जीवोपास्तिपरत्वम्, सिद्धान्ते ज्ञेये प्रत्यग्ब्रह्मणि समन्वय इति फलम्। इदम्—प्रत्यक्, महद्—अपरिच्छिन्नम्, भूतम्—सत्यम्,

रत्नप्रभाका अनुवाद

ही दर्शन करना चाहिए। दर्शनके लिए श्रवण आदि करने चाहिएँ, ऐसा अर्थ है। "प्रियसंसू-चितेन" इत्यादि। अर्थात् पति, पत्नी आदि प्रिय भोग्य पदार्थों द्वारा जीवरूपसे अनुमित। जैसे 'ब्रह्म ते०' (मैं तुमसे ब्रह्म कहता हूँ) इस उपक्रमके बलसे वाक्य ब्रह्मपरक माना गया है, उसी प्रकार यहाँ जीवका उपक्रम होनेसे यह वाक्य जीवपरक है, ऐसा दृष्टान्तसे पूर्वपक्ष करते हैं—"किं तावद्" इत्यादिसे। पूर्वपक्षमें वाक्यका जीवोपासनापरत्व फल है, और ज्ञेय प्रत्यग् ब्रह्ममें समन्वय सिद्धान्तमें फल है। इदम्—प्रत्यक्, महत्—अपरिच्छिन्न, भूत—सत्य,

भाष्य

संज्ञास्ति' इति प्रकृतस्यैव महतो भूतस्य द्रष्टव्यस्य भूतेभ्यः समुत्थानं विज्ञानात्मभावेन ब्रुवन् विज्ञानात्मन एवेदं द्रष्टव्यत्वं दर्शयति। तथा 'विज्ञातारमरे केन विजानीयात्' इति कर्तृवचनेन शब्देनोपसंहरन् विज्ञानात्मानमेवेहोपदिष्टं दर्शयति। तस्मादात्मविज्ञानेन सर्वविज्ञानवचनं भोक्त्रर्थत्वाद् भोग्यजातस्यौपचारिकं द्रष्टव्यमिति।

एवं प्राप्ते ब्रूमः—परमात्मोपदेश एवाऽयम्। कस्मात्? वाक्यान्वयात्। वाक्यं हीदं पौर्वापर्येणाऽवेक्ष्यमाणं परमात्मानम्प्रति अन्वितावयवं

भाष्यका अनुवाद

नहीं रहता) इस प्रकार प्रकृत द्रष्टव्य महान् भूत ही जब भूतोंसे उत्थित होता है, तब जीव कहलाता है, ऐसा कहकर विज्ञानात्मा ही द्रष्टव्य है ऐसा दिखलाते हैं। इसी प्रकार 'विज्ञातारमरे०' (अरे! विज्ञाताको किससे जाने) इस प्रकार कर्तृवाचक-शब्दसे उपसंहार करती हुई श्रुति विज्ञानात्मा ही यहां उपदिष्ट है, ऐसा दिखलाती है। इसलिए आत्मविज्ञानसे सर्वविज्ञान होता है, यह कथन भोक्ताके लिए होनेसे भोग्य समूहमें गौण है, ऐसा समझना चाहिए।

सिद्धान्ती—ऐसा प्राप्त होनेपर हम कहते हैं—यह परमात्माका ही उपदेश है। किससे? वाक्यके अन्वयसे। क्योंकि पूर्वापरसंबन्धसे इस वाक्यकी आलोचना करनेसे प्रतीत होता है कि इसके सभी अवयव परमात्मामें अन्वित

रत्नप्रभा

अनन्तम्—नित्यम्, अपारम्—सर्वगतम्, चिदेकरसम् एतेभ्यः कार्यकरणात्मना जायमानेभ्यो भूतेभ्यः सामान्येन उत्थाय भूतोपाधिकं जन्म अनुभूय, तान्येव भूतानि लीयमानानि अनुसृत्य विनश्यति। औपाधिकमरणानन्तरं विशेषधीः नास्तीति श्रुत्यर्थः। विज्ञातारम् विज्ञानकर्तारम् भोक्तरि ज्ञाते भोग्यं ज्ञातम् इति उपचारः। मोक्षसाधनज्ञानगम्यत्वादिलिङ्गैः वाक्यस्याऽन्वयाद् ब्रह्मण्येव तात्पर्यावगमाद् ब्रह्मप्रमापकत्वमिति सिद्धान्तयति—एवमिति। वित्तेन—तत्साध्येन कर्मणा इत्यर्थः।

रत्नप्रभाका अनुवाद

अनन्त–नित्य, अपार–सर्वगत चिद्रूप एकरस देहेन्द्रियसंघातरूपसे उत्पद्यमान भूतोंसे सामान्यतः उठकर अर्थात् भूतोपाधिक जन्म लेकर नष्ट होते हुए भूतोंका अनुसरण करके नष्ट होता है। औपाधिक मरणके अनन्तर विशेष ज्ञान नहीं होता है, ऐसा श्रुतिका अर्थ है। विज्ञाता–विज्ञानकर्ता, भोक्ताका ज्ञान होनेपर भोग्य भी ज्ञात हो जाता है, ऐसा उपचार है। मोक्षसाधन ज्ञानसे गम्यत्व आदि लिङ्गोंसे और वाक्यके अन्वयसे ब्रह्ममें ही तात्पर्यकी प्रतीति होनेसे ब्रह्म ही उपदिष्ट है, ऐसा सिद्धान्त करते हैं—''एवम्'' इत्यादिसे। 'वित्तेन'—वित्तसाध्य

भाष्य

लक्ष्यते। कथमिति ? तदुपपाद्यते—'अमृतत्वस्य तु नाऽऽशाऽस्ति वित्तेन' इति याज्ञवल्क्यादुपश्रुत्य 'येनाहं नामृता स्यां किमहं तेन कुर्यां यदेव भगवान् वेद तदेव मे ब्रूहि' इत्यमृतत्वमाशासानाया मैत्रेय्या याज्ञवल्क्य आत्मविज्ञानमिदमुपदिशति। न चाऽन्यत्र परमात्मविज्ञानादमृतत्वमस्तीति श्रुतिस्मृतिवादा वदन्ति। तथा चाऽऽत्मविज्ञानेन सर्वविज्ञानमुच्यमानं नाऽन्यत्र परमकारणविज्ञानान्मुख्यमवकल्पते। न चैतदौपचारिकमाश्रयितुं शक्यम्, यत्कारणमात्मविज्ञानेन सर्वविज्ञानं प्रतिज्ञायाऽनन्तरेण ग्रन्थेन तदेवोपपादयति—'ब्रह्म तं परादाद्योऽन्यत्रात्मनो ब्रह्म वेद' इत्यादिना। यो हि ब्रह्मक्षत्रादिकं जगदात्मनोऽन्यत्र स्वातन्त्र्येण लब्धसद्भावं पश्यति तं मिथ्या-

भाष्यका अनुवाद

हैं। कैसे अन्वित हैं ? उसकी उपपत्ति दिखलाते हैं—'अमृतत्वस्य तु०' (अमृतत्वकी तो वित्तसे आशा नहीं है) ऐसा याज्ञवल्क्यसे सुनकर 'येनाहं नामृता स्यां किमहं०' (जो मुझे अमर नहीं कर सकता उससे मैं क्या करूँगी) इसलिए हे भगवन्! अमर करनेवाला जो उपाय आप जानते हैं, वह मुझसे कहिए) इस प्रकार अमृतत्वकी आशा रखनेवाली मैत्रेयीके लिए याज्ञवल्क्य इस आत्मविज्ञानका उपदेश करते हैं। परमात्माके विज्ञानके सिवा अन्य विज्ञानसे अमृतत्वप्राप्ति नहीं होती ऐसा कहनेवाले सैकड़ों श्रुति और स्मृतिके वचन हैं। उसी प्रकार आत्माके विज्ञानसे जो सर्वविज्ञान कहा गया है, वह परम कारणके विज्ञानको छोड़कर अन्य विज्ञानोंमें मुख्यरूपसे नहीं घट सकता है। यह कथन औपचारिक है, ऐसा भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि आत्माके विज्ञानसे सर्वविज्ञानकी प्रतिज्ञा करके 'ब्रह्म ते परादाद्यो०' (जो आत्मासे अन्यको ब्राह्मण-जाति जानता है, ब्राह्मणजाति उसको कल्याणमार्गसे भ्रष्ट कर देती है) इत्यादि आगेके ग्रंथसे उसीका प्रतिपादन करते हैं। निश्चय जो ब्रह्म, क्षत्र आदि जगत्की

रत्नप्रभा

भेदनिन्दापूर्वकमभेदसाधनेन एकविज्ञानात् सर्वविज्ञानस्य समर्थनाद् औपचारिकत्वं न युक्तमित्याह—न चैतदौपचारिकमित्यादिना। पराकरोति—श्रेयोमार्गाद् भ्रंशयति।

रत्नप्रभाका अनुवाद

कर्मसे। भेदकी निन्दा करके अभेद साधन द्वारा एकविज्ञानसे सर्वविज्ञानका समर्थन किया है, इससे भोक्ताका ज्ञान होनेपर भोग्यसमूहका ज्ञान हो, ऐसा उपचार करना युक्त नहीं है, यह कहते हैं—"न चैतदौपचारिकम्" इत्यादिसे। 'पराकरोति'—कल्याणमार्गसे भ्रष्ट करता है।

भाष्य

दर्शिनं तदेव मिथ्यादृष्टं ब्रह्मक्षत्रादिकं जगत् पराकरोतीति भेददृष्टिमपोद्य 'इदं सर्वं यदयमात्मा' इति सर्वस्य वस्तुजातस्याऽऽत्माव्यतिरेकमवतारयति। दुन्दुभ्यादिदृष्टान्तैश्च (बृ० ४।५।८) तमेवाऽव्यतिरेकं द्रढयति। 'अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद्यदृग्वेदः' (बृ० ४।५।११) इत्यादिना च प्रकृतस्याऽऽत्मनो नामरूपकर्मप्रपञ्चकारणतां व्याचक्षाणः परमात्मानमेनं गमयति। तथैवैकायनप्रक्रियायामपि (बृ० ४।५।१२) सविषयस्य

भाष्यका अनुवाद

आत्मासे अन्य स्थलमें स्वतंत्रतापूर्वक उसीकी सत्ता देखता है, वही मिथ्यादृष्ट ब्रह्म, क्षत्र आदि जगत् उस मिथ्यादर्शीको कल्याणमार्गसे भ्रष्ट कर देता है, इस प्रकार भेददृष्टिका निषेध करके 'इदं सर्वं यद०' (यह सब आत्मरूप ही है) इस प्रकार सर्ववस्तुसमूह आत्मासे अभिन्न है, ऐसी अवतरणिका करते हैं। और दुन्दुभि आदि दृष्टान्तोंसे उसी अभेदको दृढ़ करते हैं। 'अस्य महतो भूतस्य०' (जो यह ऋग्वेद है, वह इस सत्य ब्रह्मका निःश्वसित है) इत्यादिसे प्रकृत आत्मा नाम, रूप और कर्मरूप प्रपंचका कारण है, ऐसा व्याख्यान करनेकी इच्छासे श्रुति इस परमात्माका ही अवगमन कराती है। उसी प्रकार

रत्नप्रभा

यथा दुन्दुभिशङ्खवीणाशब्दसामान्यग्रहणेनैव गृह्यमाणाः तत्तदवान्तरविशेपाः शुक्तिग्रहणग्राह्यरजतवत् सामान्ये कल्पिताः ततो न भिद्यन्ते, एवमात्मभानभास्यं सर्वम् आत्ममात्रमिति निश्चितम् इत्याह—**दुन्दुभ्यादीति**। एवम् एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानप्रतिज्ञाया मुख्यत्वाद् ब्रह्मनिश्चयः। सर्वस्रष्टृत्वलिङ्गादपि इत्याह—**अस्य महत इति**। ऋग्वेदादिकम्—नाम, इष्टं हुतमिति कर्म, अयञ्च लोकः परश्च लोक इति रूपम्।

रत्नप्रभाका अनुवाद

जैसे दुन्दुभि, शंख और वीणाके सामान्य शब्दके ज्ञानसे ही ज्ञात होनेवाले अवान्तर विशेष शब्द शुक्तिके ग्रहणसे ज्ञात होनेवाले रजतके समान सामान्य शब्दमें कल्पित हैं, उससे भिन्न नहीं हैं, वैसे ही आत्माके भानसे भासित होनेवाले सब आत्ममात्र हैं, यह निश्चित है, ऐसा कहते हैं—"दुन्दुभ्यादि" इत्यादिसे। इस प्रकार एक विज्ञानसे सर्वविज्ञानकी प्रतिज्ञा मुख्य होनेसे ब्रह्मका निश्चय होता है। सर्वस्रष्टृत्वलिंगसे भी यही निश्चय होता है, ऐसा कहते हैं—"अस्य महतः" इत्यादिसे। ऋग्वेद आदि नाम हैं। इष्ट और हुत कर्म हैं। यह लोक और परलोक रूप है।

भाष्य

सेन्द्रियस्य सान्तःकरणस्य प्रपञ्चस्यैकायनमनन्तरमबाह्यं कृत्स्नं प्रज्ञानघनं व्याचक्षाणः परमात्मानमेनं गमयति, तस्मात् परमात्मन एवायं दर्शनाद्युपदेश इति गम्यते ॥ १९ ॥

यत्पुनरुक्तम्—प्रियसंसूचितोपक्रमाद् विज्ञानात्मन एवायं दर्शनाद्युपदेश इति, अत्र ब्रूमः—

भाष्यका अनुवाद

एकायन[1] प्रक्रियामें भी विषय, इन्द्रिय और अन्तःकरणके साथ सम्पूर्ण प्रपंचका एक आधार बाह्य-आभ्यन्तरशून्य, अखण्ड और प्रज्ञानैकरस है, ऐसा समझाते हुए [याज्ञवल्क्य] परमात्माको ही समझाते हैं[2]। इससे प्रतीत होता है कि परमात्माके ही दर्शन आदिका यह उपदेश है ॥ १९ ॥

प्रियशब्दसे सूचित भोक्ता आत्माके उपक्रमसे विज्ञानात्माका ही यह दर्शन आदि उपदेश है, ऐसा जो कहा है, उसपर कहते हैं—

रत्नप्रभा

किञ्च, "स यथा सर्वासामपां समुद्र एकायनम्" (बृ० २।४।११) इति कण्डिकया सर्वप्रपञ्चस्य मुख्यलयाधारत्वम् आत्मनो ब्रह्मत्वे लिङ्गम् इत्याह—तथैवैकायनेति ॥ १९ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

और 'स यथा सर्वासामपां०' (जैसे सब जलोंका समुद्र एकमात्र आश्रय है) इस प्रकार सम्पूर्ण प्रपंचका मुख्य लयाधार होना भी आत्मा परब्रह्म ही है, इसमें हेतु है, ऐसा कहते हैं—"तथैवैकायन" इत्यादिसे ॥१९॥

(१) अयन—स्थान, जिसमें ब्रह्म सब वस्तुओंका एक मात्र आधार कहा गया है, वह प्रकरण।

(२) यदि कोई कहे कि एकायन प्रक्रियामें 'स यथा सर्वासामपां समुद्र एकायनमेवं सर्वेषां स्पर्शानां त्वगेकायनम्' से लेकर 'एवं सर्वेषां वेदानां वागेकायनम्' तक नदीसमुद्रदृष्टान्तपूर्वक तत्तत् इन्द्रियोंके विषयोंके प्रति तत्तत् इन्द्रियां आयतन कही गई हैं। सम्पूर्ण प्रपंचका आत्मा एकायतन है, ऐसा तो नहीं कहा है, इसलिए एकायन प्रक्रियासे ब्रह्म प्रपंचका एकायन कैसे सिद्ध हो सकता है ? इसका समाधान इस प्रकार है—एकायनप्रक्रिया प्रकृत आत्मासे सबन्ध रखती है, ऐसा अवश्य मानना चाहिए, क्योंकि वह आत्माके प्रकरणमें है। 'समुद्र एकायनम्' इस वाक्यमें समुद्र नदियोंके लयके अधिकरणरूपसे विवक्षित है, उसी प्रकार 'एवं सर्वेषां स्पर्शानाम्' इत्यादि वाक्य भी लयका प्रतिपादक है ऐसा समझना चाहिए। इन्द्रियाँ तो विषयोंके लयके अधिकरण नहीं हैं, इसलिए 'त्वग्' आदि पदोंसे स्पर्श आदिकी सूक्ष्मावस्थाएँ समझनी चाहिएँ। इससे सिद्ध होता है कि कार्यका कारणमें लय श्रुतिको विवक्षित है। अतः प्रपंचरूप कार्यका ब्रह्ममें लय प्रतिपादन करनेके लिए 'एवं सर्वेषामात्मैकायनम्' इस वाक्यका अध्याहार करना चाहिए। इस प्रकार एकायन प्रक्रियासे प्रपंचका अधिकरण ब्रह्म सिद्ध होता है।

प्रतिज्ञासिद्धेर्लिङ्गमाश्मरथ्यः ॥ २० ॥

पदच्छेद—प्रतिज्ञासिद्धेः, लिङ्गम्, आश्मरथ्यः ।

पदार्थोक्ति—प्रतिज्ञासिद्धेः—एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानं भवतीति प्रतिज्ञायाः सिद्धेः [अभेदांशमादाय जीवोपक्रमणम्, लिङ्गम्, आश्मरथ्यः [आचार्यः मनुते] ।

भाषार्थ—एकके ज्ञानसे सब पदार्थोंका ज्ञान होता है, ऐसी जो प्रतिज्ञा की गई है उसकी सिद्धिमें जीव और ब्रह्मके अभेदांशको लेकर जीवका उपक्रम करना हेतु है, ऐसा आश्मरथ्य आचार्यका मत है ।

भाष्य

अस्त्यत्र प्रतिज्ञा 'आत्मनि विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति' 'इदं सर्वं यदयमात्मा' इति च, तस्याः प्रतिज्ञायाः सिद्धिं सूचयत्येतल्लिङ्गं यत् प्रियसंसूचितस्याऽऽत्मनो द्रष्टव्यत्वादिसङ्कीर्तनम् । यदि हि विज्ञानात्मा परमात्मनोऽन्यः स्यात्, ततः परमात्मविज्ञानेऽपि विज्ञानात्मा न विज्ञात इत्येकविज्ञानेन सर्वविज्ञानं यत् प्रतिज्ञातं तद्धीयेत । तस्मात् प्रतिज्ञासिद्ध्यर्थं विज्ञानात्मपरमात्मनोरभेदांशेनोपक्रमणमित्याश्मरथ्य आचार्यो मन्यते ॥ २० ॥

भाष्यका अनुवाद

'आत्मनि विज्ञाते०' (आत्माका विज्ञान होनेपर इस सम्पूर्ण प्रपञ्चका विज्ञान हो जाता है) और 'इदं सर्वं०' (यह आत्मा ही सर्वस्वरूप है) ऐसी यहां प्रतिज्ञा है । प्रियशब्दसे सम्यक् सूचित आत्माका दर्शन आदि करना योग्य है, ऐसा जो कहा गया है, वह इस प्रतिज्ञाकी सिद्धिका सूचक लिंग है, क्योंकि यदि विज्ञानात्मा परमात्मासे अन्य होता, तो परमात्माका विज्ञान होनेपर भी विज्ञानात्माका विज्ञान न होता, इस प्रकार एकका विज्ञान होनेसे सबका विज्ञान होता है, ऐसी जो प्रतिज्ञा की गई है, उसकी हानि होती, इसलिए प्रतिज्ञाकी सिद्धिके लिए विज्ञानात्मा और परमात्माका अभेदरूपसे उपक्रम है, यह आश्मरथ्य आचार्यका मत है ॥ २० ॥

रत्नप्रभा

जीवब्रह्मणोः भेदाभेदसत्त्वाद् अभेदांशेन इदं जीवोपक्रमणं प्रतिज्ञासाधकम् इति आश्मरथ्यमतम् ॥ २० ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

जीव और ब्रह्मका भेद तथा अभेद होनेसे अभेदांशको लेकर जीवका उपक्रम करना प्रतिज्ञाका साधक है, ऐसा आश्मरथ्य आचार्य मानते हैं ॥२०॥

उत्क्रमिष्यत एवंभावादित्यौडुलोमिः ॥ २१ ॥

पदच्छेद—उत्क्रमिष्यतः, एवंभावात्, इति, औडुलोमिः।

पदार्थोक्ति—उत्क्रमिष्यतः—ब्रह्मात्मत्वसाक्षात्कारेण कार्यकरणसङ्घातादुत्क्रमिष्यतः, एवंभावात्—परमात्मना एकीभावात् [भविष्यद्भेदमादाय जीवोपक्रमः] इति, औडुलोमिः [आचार्यः मन्यते]।

भाषार्थ—'मैं ब्रह्म हूँ' ऐसा साक्षात्कार होनेके बाद देह और इन्द्रियसमूहमें अभिमानका त्याग करते हुए जीवका परमात्माके साथ ऐक्य होता है, इस भविष्यत् अभेदको लेकर जीवका उपक्रम है, ऐसा औडुलोमि आचार्य मानते हैं।

भाष्य

विज्ञानात्मन एव देहेन्द्रियमनोबुद्धिसङ्घातोपाधिसम्पर्कात् कलुषीभूतस्य ज्ञानध्यानादिसाधनानुष्ठानात् सम्प्रसन्नस्य देहादिसङ्घातादुत्क्रमिष्यतः परमात्मैक्योपपत्तेरिदमभेदेनोपक्रमणमित्यौडुलोमिराचार्यो मन्यते। श्रुतिश्चैवं भवति—'एष सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरात् समुत्थाय परं ज्योतिरुपसंपद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते' (छा० ८।१२।३) इति। क्वचिच्च जीवाश्रयमपि नामरूपं

भाष्यका अनुवाद

देह, इन्द्रिय, मन और बुद्धिके संघातरूप उपाधिके संबन्धसे कलुषित ज्ञान, ध्यान आदि साधनोंके अनुष्ठानसे हृष्ट देह आदि संघातमेंसे उत्क्रमण करनेवाले विज्ञानात्माका ही परमात्माके साथ ऐक्य हो जाता है, यह उपक्रम उक्त अभेदसे है, ऐसा औडुलोमि आचार्यका मत है। श्रुति भी ऐसी ही है—'एष संप्रसादोऽस्माच्छरीरात्०' (यह जीव इस शरीरसे निकलकर अपने रूपका साक्षात्कार करके पर ज्योतिको प्राप्त करता है)। कितने ही स्थलोंपर नाम और

रत्नप्रभा

उत्क्रमिष्यत०। सत्यसंसारदशायां भेद एव, मुक्तावेव अभेद इति औडुलोमिमतम्। तत्र मानमाह—श्रुतिश्चेति। समुत्थानम्—उत्क्रान्तिः। ननु संसारस्य औपाधिकत्वात् सर्वदैव अभेद इत्याशङ्क्य दृष्टान्तबलेन संसारस्य स्वाभाविकत्वम् इत्याह—

रत्नप्रभाका अनुवाद

सत्यसंसार दशामें भेद ही है, मुक्तिमें ही अभेद है, ऐसा औडुलोमि आचार्यका मत है। उसमें प्रमाण कहते हैं—"श्रुतिश्च" इत्यादिसे। समुत्थान—उत्क्रान्ति। परन्तु संसारके ही औपाधिक होनेसे सर्वदा ही अभेद है, ऐसी आशंका करके दृष्टान्तबलसे संसारको

भाष्य

नदीनिदर्शनेन ज्ञापयति—

"यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय ।
तथा विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः परात् परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ॥"

(मु० ३।२।८) इति । यथा लोके नद्यः स्वाश्रयमेव नामरूपं विहाय समुद्रमुपयन्त्येवं जीवोऽपि स्वाश्रयमेव नामरूपं विहाय परं पुरुषमुपैतीति हि तत्राऽर्थः प्रतीयते दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोस्तुल्यतायै ॥ २१ ॥

भाष्यका अनुवाद

रूप जीवके आश्रय हैं, ऐसा भी नदीके दृष्टान्तसे श्रुति जताती है—'यथा नद्यः स्यन्दमानाः०'—जैसे लोकमें नदियां अपने नाम और रूपका त्याग करके समुद्रमें जाती हैं, वैसे जीव भी अपने नाम और रूपका त्याग करके परम पुरुषको प्राप्त होता है, यहाँ दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिककी तुल्यताके लिए ऐसा अर्थ प्रतीत होता है[1] ॥ २१ ॥

रत्नप्रभा

क्वचिच्चेति । "यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय" (मु० ३।२।८) इति नदीनिदर्शनं व्याचष्टे—यथा लोक इति ॥२१॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

स्वाभाविक कहते हैं—"क्वचिच्च" इत्यादिसे । 'यथा नद्यः०' इस नदीके दृष्टान्तका व्याख्यान करते हैं—"यथा लोके" इत्यादिसे ॥ २१ ॥

अवस्थितेरिति काशकृत्स्नः ॥ २२ ॥

पदच्छेद—अवस्थितेः, इति, काशकृत्स्नः ।

पदार्थोक्ति—अवस्थितेः—ब्रह्मण एवाऽविद्याकल्पितभेदेन जीवरूपेणाऽवस्थानात् [जीवोपक्रमः] इति, काशकृत्स्नः [आचार्यो मन्यते] ।

भाषार्थ—काशकृत्स्न आचार्य मानते हैं कि अविद्याकल्पित भेदसे ब्रह्म ही जीवरूपसे स्थित है इसलिए जीवसे उपक्रम है ।

(१) इस मतमें भविष्यद् वृत्तिसे 'तत्त्वमसि' इत्यादि वाक्योंको अभेदपरक समझना चाहिए । मुक्तिकालमें अभेद है इसलिए जीवत्व परमात्माकी ही पूर्वावस्था है, भूतपूर्व गतिसे परमात्मामें ही भोक्तृत्व संभव है, इसलिए उपक्रमविरोध नहीं है ।

भाष्य

अस्यैव परमात्मनोऽनेनापि विज्ञानात्मभावेनाऽवस्थानादुपपन्नमिदम- भेदेनोपक्रमणमिति काशकृत्स्न आचार्यो मन्यते। तथा च ब्राह्मणम्—'अनेन जीवेनाऽऽत्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि' (छा० ६।३।२) इत्येवं- जातीयकं परस्यैवात्मनो जीवभावेनावस्थानं दर्शयति। मन्त्रवर्णश्च—'सर्वाणि

भाष्यका अनुवाद

यही परमात्मा इस विज्ञानात्मरूपसे रहता है, इसलिए अभेदसे यह उपक्रम युक्त है, ऐसा काशकृत्स्न आचार्यका मत है। उसी प्रकार 'अनेन जीवेनाऽऽत्मनाऽ- नुप्रविश्य०' (इस जीव द्वारा अनुप्रवेश करके नाम और रूपको व्यक्त करूँगा) इत्यादि ब्राह्मण परमात्माका ही जीवात्मरूपसे अवस्थान दिखलाता है। उसी

रत्नप्रभा

सिद्धान्तमाह—अवस्थितेरिति। अत्यन्ताभेदज्ञापनार्थं जीवम् उपक्रम्य द्रष्टव्यत्वादयो ब्रह्मधर्मा उक्ता इत्यर्थः। एतेन—जीवलिङ्गानां ब्रह्मपरत्वकथनार्थम् इदमधिकरणं न भवति, प्रतर्दनाधिकरणे कथितत्वात्, नापि जीवानुवादेन ब्रह्मप्रतिपादनार्थम् "सुषुप्त्युत्क्रान्त्योर्भेदेन" (ब्र० सू० १।३।४२) इत्यत्र गतत्वात्, अतो व्यर्थम् इदमधिकरणम् इति निरस्तम्, जीवोद्देशेन ब्रह्मत्व- प्रतिपादने भेदोऽपि आवश्यक इति भेदाभेदशङ्काप्राप्तौ कल्पितभेदेन उद्देश्य- त्वादिकम्, स्वतः अत्यन्ताभेद इति ज्ञापनार्थम् अस्य आरम्भात्। ज्ञायते च अत्र लिङ्गम् आत्मशब्देन उपक्रान्तस्य जीवस्य धर्मिणो ब्रह्मणो धर्म्यन्तरस्य ग्रहणं विनैव ब्रह्मधर्मकथनम् भेदाभेदयोः तु धर्मिद्वयग्रहः स्यात् इति मन्तव्यम्।

रत्नप्रभाका अनुवाद

सिद्धान्त कहते हैं—"अवस्थितेः" इत्यादिसे। जीव और ब्रह्ममें अत्यन्त अभेद है, यह ज्ञान करानेके लिए जीवका उपक्रम कर द्रष्टव्यत्व आदि ब्रह्मके धर्म कहे गये हैं, ऐसा अर्थ है। इससे यह शंका भी निवृत्त हो गई कि जीवलिंगोंको ब्रह्मपरक कहनेके लिए यह अधिकरण नहीं है, क्योंकि वह विषय प्रतर्दनाधिकरणमें कहा गया है, जीवके अनुवादसे ब्रह्मका प्रतिपादन करनेके लिए भी यह अधिकरण नहीं है, क्योंकि सुषुप्त्युत्क्रान्त्यधिकरणमें वह विषय कहा गया है, इसलिए यह अधिकरण निरर्थक है। कारण कि जीवको उद्देश्य कर उसमें ब्रह्मत्वका प्रतिपादन करनेके लिए भेदकी भी आवश्यकता है, इसलिए भेद है या अभेद है, ऐसी शंका होनेपर कल्पित भेदसे जीवको उद्देश्य आदि कहा है, वस्तुतः तो दोनोंका अभेद है, ऐसा ज्ञान करानेके लिए इस अधिकरणका आरंभ है। यहां इस विषयमें यह लिंग भी प्रतीत होता है कि आत्मशब्दसे उपक्रान्त जीवरूप धर्मीमें ब्रह्मरूप अन्य धर्मीके कथनके विना ही ब्रह्मधर्म कहा गया है, भेद और अभेद दोनों वास्तविक होते, तो दो

भाष्य

रूपाणि विचित्य धीरो नामानि कृत्वाऽभिवदन्यदास्ते' (तै० आ० ३ । १२ । ७) इत्येवंजातीयकः । न च तेजःप्रभृतीनां सृष्टौ जीवस्य पृथक्सृष्टिः श्रुता येन परस्मादात्मनोऽन्यस्तद्विकारो जीवः स्यात्। काशकृत्स्नस्याऽऽचार्यस्याऽविकृतः परमेश्वरो जीवो नाऽन्य इति मतम् । आश्मरथ्यस्य तु यद्यपि जीवस्य परस्मादनन्यत्वमभिप्रेतं तथापि प्रतिज्ञासिद्धेरिति सापेक्षात्वाभिधानात् कार्यकारणभावः कियानप्यभिप्रेत इति गम्यते । औडुलोमिपक्षे पुनः स्पष्टमेवाऽवस्थान्तरापेक्षौ भेदाभेदौ गम्येते । तत्र

भाष्यका अनुवाद

प्रकार 'सर्वाणि रूपाणि विचित्य०' (जो सर्वज्ञ सब चराचरको उत्पन्न कर उनका नाम रख और उनमें प्रवेश करके भाषण आदि व्यवहार करता हुआ रहता है) इत्यादि मंत्रवर्ण भी है। तेज आदिकी सृष्टिमें जीवकी पृथक् सृष्टि श्रुतिमें नहीं है, जिससे कि जीव परमात्मासे अन्य एवं उसका विकार हो। जीव अविकृत परमेश्वर ही है, उससे पृथक् नहीं है, ऐसा काशकृत्स्न आचार्यका मत है। आश्मरथ्यके मतमें यद्यपि जीव परमात्मासे अभिन्न है, तो भी 'प्रतिज्ञासिद्धिसे' इस प्रकार सापेक्षत्वका अभिधान है, इससे यत्किञ्चित् कार्यकारणभाव इष्ट है, ऐसा प्रतीत होता है। औडुलोमिके पक्षमें तो अवस्थाभेदसे भेद और अभेद

रत्नप्रभा

धीरः—सर्वज्ञः, सर्वाणि रूपाणि—कार्याणि, विचित्य—सृष्ट्वा, तेषां नामानि च कृत्वा तेषु बुद्ध्यादिषु प्रविश्य अभिवदनादिकं कुर्वन् यो वर्तते, तं विद्वान् इहैव अमृतो भवतीति मन्त्रोऽपि जीवपरयोः ऐक्यं दर्शयति इत्याह—मन्त्रेति । जीवस्य ब्रह्मविकारत्वात् न ऐक्यम् इत्यत आह—न च तेज इति । मतत्रयं विभज्य दर्शयति—काशकृत्स्नस्येत्यादिना । कियानपीति । अभेदवद्

रत्नप्रभाका अनुवाद

धर्मियोंका ग्रहण होता, ऐसा समझना चाहिए । धीर—सर्वज्ञ सब रूप—कार्योंको उत्पन्न करके, उनका नाम रखकर उनमें—बुद्धि आदिमें प्रवेश करके भाषण आदि करता हुआ जो रहता है, उसको जाननेवाला यहीं अमृत होता है, ऐसा कहनेवाला मंत्र भी जीव और परमात्माका ऐक्य दिखलाता है, ऐसा कहते हैं—"मन्त्र" इत्यादिसे । जीव ब्रह्मका विकार है, अतः दोनोंमें अभेद नहीं है, इसपर कहते हैं—"न च तेजः" इत्यादि । तीनों आचार्योंके मतोंका विभाग करके दिखलाते हैं—"काशकृत्स्नस्य" इत्यादिसे । "कियानपि"—

भाष्य

काशकृत्स्नीयं मतं श्रुत्यनुसारीति गम्यते, प्रतिपिपादयिषितार्थानुसारात् 'तत्त्वमसि' इत्यादिश्रुतिभ्यः। एवं च सति तज्ज्ञानादमृतत्वमवकल्पते, विकारात्मकत्वे हि जीवस्याऽभ्युपगम्यमाने विकारस्य प्रकृतिसम्बन्धे प्रलयप्रसङ्गान्न तज्ज्ञानादमृतत्वमवकल्पेत, अतश्च स्वाश्रयस्य नामरूपस्याऽसम्भवादुपाध्याश्रयं नामरूपं जीव उपचर्यते। अत एवोत्पत्तिरपि जीवस्य

भाष्यका अनुवाद

दोनों स्पष्टतया प्रतीत होते हैं। इन सब मतोंमें आचार्य काशकृत्स्नका मत श्रुत्यनुसारी मालूम पड़ता है, क्योंकि 'तत्त्वमसि' (वह तू है) इत्यादि श्रुतियों द्वारा प्रतिपादन करनेके लिए अभीष्ट जो अर्थ है, उसके अनुसार है। श्रुत्यनुसारी होनेसे उसके ज्ञानसे अमृतत्व संभव है। यदि जीव विकारात्मक माना जाय तो प्रकृतिसे संबन्ध होनेपर विकारका लय हो जानेसे उसके ज्ञानसे अमृतत्व संभव नहीं है। इससे स्वाश्रित नाम और रूपका जीवमें अभाव होनेसे उपाधिके आश्रित नाम, रूपका उसमें उपचार होता है। इसी कारण कहींपर अग्नि और चिनगारियोंके उदाहरणसे श्रुतिद्वारा प्रतिपादित

रत्नप्रभा

भेदोऽपि इत्यर्थः। तत्र अन्त्यस्य मतस्य उपादेयत्वमाह—तत्र काशकृत्स्नीयमिति। सोऽयं देवदत्त इतिवत् 'तत्त्वमसि' आदिवाक्येभ्यः परापरयोः अत्यन्ताभेदः प्रतिपादयितुम् इष्टोऽर्थः, तदनुसारित्वाद् इत्यर्थः। ज्ञानात् मुक्तिश्रुत्यन्यथानुपपत्त्याऽपि अयमेव पक्ष आदेय इत्याह—एवञ्चेति। अत्यन्ताभेदे सति इत्यर्थः। कल्पितस्य भेदस्य ज्ञानात् निवृत्तिः सम्भवति न सत्यस्य इत्यपि द्रष्टव्यम्। यदुक्तम्—नदीदृष्टान्तात् संसारः स्वाभाविक इति, तत् न इत्याह—अतश्चेति। अनामरूपब्रह्मत्वात् जीवस्य इत्यर्थः। उत्पत्तिश्रुत्या जीवस्य ब्रह्मणा

रत्नप्रभाका अनुवाद

अभेदके समान भेद भी। तीनों मतोंमें आचार्य काशकृत्स्नका मत स्वीकारयोग्य है, ऐसा कहते हैं—"तत्र काशकृत्स्नीयम्" इत्यादिसे। 'सोऽयं देवदत्तः' (वह यह देवदत्त है) इसके समान 'तत्त्वमसि' (वह तू है) इत्यादि वाक्योंसे पर और अपर—जीवात्मा और परमात्माके अत्यन्त अभेदका प्रतिपादन करना इष्ट अर्थ है, उसके अनुसारी होनेसे, ऐसा अर्थ है। ज्ञानसे मुक्ति होती है, ऐसा प्रतिपादन करनेवाली श्रुतियाँ अन्यथा उपपन्न नहीं होतीं, इसलिए भी यही पक्ष उपादेय है, ऐसा कहते हैं—"एवं च" इत्यादिसे। 'एवं च'—अत्यन्त अभेद होनेपर। ज्ञानसे कल्पित भेदकी निवृत्ति हो सकती है, सत्यकी नहीं हो सकती, ऐसा भी समझना चाहिए। नदीके दृष्टान्तसे संसार स्वाभाविक है, ऐसा जो कहा है, वह युक्त नहीं है, ऐसा कहते हैं—"अतश्च" इत्यादिसे। 'अतश्च'—जीवके नामरूपरहित ब्रह्म होनेके

भाष्य

क्वचिदग्निविस्फुलिङ्गोदाहरणेन श्राव्यमाणोपाध्याश्रयैव वेदितव्या ।

यदप्युक्तम्—प्रकृतस्यैव महतो भूतस्य द्रष्टव्यस्य भूतेभ्यः समुत्थानं विज्ञानात्मभावेन दर्शयन् विज्ञानात्मन एवेदं द्रष्टव्यत्वं दर्शयति इति, तत्राऽपीयमेव त्रिसूत्री योजयितव्या । 'प्रतिज्ञासिद्धेर्लिङ्गमाश्मरथ्यः' । इदमत्र प्रतिज्ञातम्—'आत्मनि विदिते सर्वं विदितं भवति' 'इदं सर्वं यदयमात्मा' (बृ० २।४।६) इति च, उपपादितं च सर्वस्य नामरूपकर्मप्रपञ्चस्यैकप्रसवत्वादेकप्रलयत्वाच्च दुन्दुभ्यादिदृष्टान्तैश्च कार्यकारणयोरव्यतिरेकप्रतिपादनात् तस्या एव प्रतिज्ञायाः सिद्धिं सूचयत्येतल्लिङ्गं यन्महतो

भाष्यका अनुवाद

जीवकी उत्पत्ति भी उपाधिके आश्रित ही समझनी चाहिए ।

प्रकृत सत्य ब्रह्म ही जो द्रष्टव्य है, उसका भूतोंसे समुत्थान विज्ञानात्मभावसे दिखलाते हुए मुनि विज्ञानात्मा ही द्रष्टव्य है, ऐसा दर्शाते हैं, यह जो कहा है, उसमें भी इसी त्रिसूत्रीकी योजना करनी चाहिए । 'प्रतिज्ञासिद्धे०' यहांपर 'आत्मनि विदिते सर्वं०' (आत्माका ज्ञान होनेपर सबका ज्ञान हो जाता है) और 'इदं सर्वं यद०' (यह सब दृश्य प्रपञ्च आत्मा ही है) ऐसी प्रतिज्ञा है । नाम, रूप और कर्म प्रपञ्चका आत्मरूपत्व उपपादित भी है, क्योंकि एक उत्पत्तिस्थान और एक प्रलयस्थान होने और दुन्दुभि आदिके दृष्टान्तोंसे कार्य और कारण अभिन्न हैं, ऐसा प्रतिपादन है । जो सत्य द्रष्टव्य ब्रह्मका भूतोंसे

रत्नप्रभा

भेदाभेदौ इत्यत आह—अत एवेति । उत्पत्तेः स्वाभाविकत्वे मुक्त्ययोगाद् एव इत्यर्थः ।

अत्र पूर्वपक्षे बीजत्रयमुक्तम्—जीवेन उपक्रमः, परस्यैव समुत्थानश्रुत्या जीवाभेदाभिधानम्, विज्ञातृशब्दश्चेति । तत्र आद्यं बीजं त्रिसूत्र्या निरस्तम्, सम्प्रति द्वितीयम् अनूद्य तयैव निराचष्टे—यदप्युक्तमित्यादिना । आत्मज्ञानात् सर्वज्ञानं

रत्नप्रभाका अनुवाद

कारण । उत्पत्ति श्रुतिसे जीवका ब्रह्मसे भेद और अभेद दोनों हों, इसपर कहते हैं—"अत एव" इत्यादि । अर्थात् यदि उत्पत्ति स्वाभाविक हो, तो मुक्ति ही नहीं हो सकती इसलिए ।

यहां पूर्वपक्षमें तीन बीज कहे हैं—जीवसे उपक्रम, समुत्थान श्रुतिसे परमात्माका ही जीवके अभेदसे अभिधान और विज्ञातृशब्द । उनमें आद्य बीजका त्रिसूत्रीसे निराकरण किया गया । अब दूसरे बीजका अनुवाद करके उसी त्रिसूत्रीसे उसका निराकरण

भाष्य

भूतस्य द्रष्टव्यस्य भूतेभ्यः समुत्थानं विज्ञानात्मभावेन कथितमित्याश्मरथ्य आचार्यो मन्यते। अभेदे हि सत्येकविज्ञानेन सर्वविज्ञानं प्रतिज्ञातमवकल्पत इति। 'उत्क्रमिष्यत एवंभावादित्यौडुलोमिः'। उत्क्रमिष्यतो विज्ञानात्मनो ज्ञानध्यानादिसामर्थ्यात् संप्रसन्नस्य परेणाऽऽत्मनैक्यसम्भवादिदमभेदाभिधानमित्यौडुलोमिराचार्यो मन्यते। 'अवस्थितेरिति काशकृत्स्नः'। अस्यैव परमात्मनोऽनेनाऽपि विज्ञानात्मभावेनाऽवस्थानादुपपन्नमिदमभेदाभिधानमिति काशकृत्स्न आचार्यो मन्यते।

ननूच्छेदाभिधानमेतत्—'एतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानुविनश्यति न प्रेत्य संज्ञाऽस्ति' (बृ० २।४।१२) इति कथमेतदभेदाभि-

भाष्यका अनुवाद

विज्ञानात्मरूपसे समुत्थान कहा गया है, वह लिङ्ग इसी प्रतिज्ञाकी सिद्धिका सूचक है, ऐसा आश्मरथ्य आचार्यका मत है, क्योंकि अभेद होनेपर एक विज्ञानसे सर्वविज्ञान, जिसकी प्रतिज्ञा की है, उपपन्न होता है। 'उत्क्रमिष्यत०' उत्क्रमण करनेवाले, ज्ञान, ध्यान आदि सामर्थ्यसे संप्रसन्न हुए विज्ञानात्माका परमात्माके साथ ऐक्यका संभव होनेसे यह अभेदका अभिधान युक्त है, ऐसा काशकृत्स्न आचार्यका मत है।

परन्तु 'एतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय०' (इन भूतोंसे समुत्थान करके इनके अनन्तर ही नष्ट हो जाता है, मरणानन्तर ज्ञान नहीं रहता) इस प्रकार उच्छेदका अभिधान है, यह अभेदका अभिधान

रत्नप्रभा

यत् प्रतिज्ञातं, तत्र हेतुः "इदं सर्वं यदयमात्मा" (बृ० २।४।६) इत्यव्यतिरेक उक्तः, तस्य प्रतिपादनात् तदेव प्रतिज्ञातम् उपपादितम् इति योजना। एकस्मात प्रसवो यस्य, एकस्मिन् प्रलयो यस्य, तद्भावादित्यर्थः। समुत्थानम्—अभेदाभिधानमिति यावद्।

जन्मनाशौ उक्तौ नाभेद इत्याक्षिप्य परिहरति—नन्वित्यादिना। मृतस्य संज्ञा

रत्नप्रभाका अनुवाद

करते हैं—"यदप्युक्तम्" इत्यादिसे। आत्मज्ञानसे जिस सर्वविज्ञानकी प्रतिज्ञा की गई है, उसका हेतु 'इदं सर्वं०' (जो यह प्रपंच है, वह आत्मा है) इस श्रुतिसे उक्त अभेद कहा गया है, उसका प्रतिपादन करनेसे जिसकी प्रतिज्ञा की उसीका प्रतिपादन हुआ है, ऐसी योजना करनी चाहिए। एकसे उत्पत्ति है जिसकी वह एक प्रसव, एकमें प्रलय है जिसका वह एकप्रलय, तद्भावसे। समुत्थान—अभेदाभिधान।

परन्तु इससे जीवात्माका जन्म और नाश कहे गये हैं, अभेद नहीं

भाष्य

धानम्। नैष दोषः। विशेषविज्ञानविनाशाभिप्रायमेतद्विनाशाभिधानं नाऽऽत्मोच्छेदाभिप्रायम्। 'अत्रैव मा भगवानमूमुहन्न प्रेत्य संज्ञाऽस्ति' इति पर्यनुयुज्य स्वयमेव श्रुत्याऽर्थान्तरस्य दर्शितत्वात्—'न वा अरेऽहं मोहं ब्रवीम्यविनाशी वा अरेऽयमात्माऽनुच्छित्तिधर्मा मात्रासंसर्गस्त्वस्य भवति' इति। एतदुक्तं भवति—कूटस्थनित्य एवाऽयं विज्ञानघन आत्मा नाऽस्योच्छेदप्रसङ्गोऽस्ति, मात्राभिस्त्वस्य भूतेन्द्रियलक्षणाभिरविद्याकृताभिरसंसर्गो विद्यया भवति, संसर्गाभावे च तत्कृतस्य विशेषविज्ञानस्याऽभावान्न प्रेत्य संज्ञाऽस्तीत्युक्तमिति। यदप्युक्तम्—'विज्ञातारमरे केन विजानीयात्' इति

भाष्यका अनुवाद

कैसे है? यह दोष नहीं है। यह जो विनाशका अभिधान है, उसका तात्पर्य विशेष विज्ञानके विनाशमें है, आत्माके उच्छेदमें नहीं है, क्योंकि 'अत्रैव मा भगवान०' (मरणके अनन्तर ज्ञान नहीं रहता, यह कह कर आपने मुझे मोहमें डाल दिया है) ऐसा पर्यनुयोग (आक्षेप) करके श्रुति द्वारा स्वयं ही अन्य अर्थ दिखलाया है—'न वा अरेऽहं मोहं ब्रवीम्यविनाशी०' (हे मैत्रेयि! मैं ऐसा कुछ नहीं कहता जिससे मोह हो, अरे! आत्मा नाशहेतुरहित है, अतः अविनाशी है, देह, इन्द्रिय आदिके साथ इसका संसर्ग नहीं होता है)। तात्पर्य यह है कि यह आत्मा कूटस्थ, नित्य और विज्ञानैकरस है, उसका उच्छेद नहीं हो सकता। अविद्यासे जनित भूतेन्द्रियलक्षण मात्राओंके साथ इसके संसर्गका अभाव विद्यासे होता है। संसर्गके अभावसे

रत्नप्रभा

नास्तीति वाक्ये अत्रैव मां मोहितवानसि ज्ञानरूपस्य आत्मनो ज्ञानाभावे नाशप्रसङ्गादिति मैत्रेय्या उक्तो मुनिराह—न वा अरे इति। मोहं मोहकरवाक्यम्, अविनाशी नाशहेतुशून्यः, अत उच्छित्तिधर्मा नाशवान् न भवतीति अनुच्छित्तिधर्मा इत्यर्थः। तृतीयं बीजं तृतीयेन मतेन एव निरसनीयम् इत्याह—यदपीत्यादिना। आद्यमतद्वये सत्यभेदा-

रत्नप्रभाका अनुवाद

कहा गया है, ऐसा आक्षेप करके उसका परिहार करते हैं—"ननु" इत्यादिसे। 'न प्रेत्य संज्ञास्ति'—मरे हुए को ज्ञान नहीं होता, यह कह कर हे भगवन्! आपने मुझे मोहमें डाल दिया है, क्योंकि ज्ञानरूप आत्माका, ज्ञानके अभावमें नाश हो जायगा, ऐसा मैत्रेयीके कहनेपर मुनिने कहा—"न वा अरे" इत्यादि। 'मोहम्'—मोहकर वाक्यको, अविनाशी-नाशहेतुशून्य, विनाशके अयोग्य, इसीलिए अनुच्छित्तिधर्मा—नाशवान्

भाष्य

कर्तृवचनेन शब्देनोपसंहाराद्विज्ञानात्मन एवेदं द्रष्टव्यत्वम् इति, तदपि काशकृत्स्नीयेनैव दर्शनेन परिहरणीयम्। अपि च 'यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतरं पश्यति' (बृ० २।४।१३) इत्यारभ्याविद्याविषये तस्यैव दर्शनादिलक्षणं विशेषविज्ञानं प्रपञ्च्य 'यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्येत्' इत्यादिना विद्याविषये तस्यैव दर्शनादिलक्षणस्य विशेषविज्ञानस्याभावमभिदधाति। पुनश्च विषयाभावेऽपि आत्मानं विजानीयात् इत्या-

भाष्यका अनुवाद

उससे किये गये विशेषविज्ञानके अभावसे 'न प्रेत्य संज्ञाऽस्ति' (मरणके अनन्तर ज्ञान नहीं रहता) ऐसा कहा है। 'विज्ञातारमरे०' (अरे, विज्ञाताको किससे जाने) ऐसा कर्तृवाचक शब्दसे उपसंहार है, उससे विज्ञानात्मा ज्ञेय है, ऐसा जो कहा है, उसका भी काशकृत्स्नके मतसे ही परिहार करना युक्त है। उसी प्रकार 'यत्र हि द्वैतमिव०' (परन्तु जहां द्वैत-सा होता है, वहां दूसरा दूसरेको देखता है) ऐसा आरंभ करके अविद्याविषयमें उसके ही दर्शन आदि रूप विशेषविज्ञानका प्रपंच करके 'यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्०' (परन्तु जहां इसका सब आत्मा ही हो गया वहां किससे किसको देखे) इत्यादिसे विद्याविषयमें उसके ही दर्शन आदि लक्षण विशेष विज्ञानका अभाव कहते हैं। और विषयके अभावमें भी आत्माका विज्ञान प्राप्त हो,

रत्नप्रभा

ङ्गीकारात् केनेति आक्षेपो न युक्तः काशकृत्स्नस्य मते तु अत्यन्ताभेदाद् विज्ञानस्य कारकाभावात् स युक्त इति। श्रुत्यनुसारित्वात् तन्मते मनःकल्पितं विज्ञातृत्वं मुक्ते ब्रह्मात्मनि भूतपूर्वगत्या उक्तमिति परिहरणीयम् इत्यर्थः। किञ्च, पूर्वापरपर्यालोचनया वाक्यस्य मुक्तात्मपरत्वावगमाद् विज्ञातृत्वं कल्पितमेव अनूद्यते इति न तल्लिङ्गेन जीवपर-

रत्नप्रभाका अनुवाद

नहीं है। पूर्वपक्षके तीसरे बीजका तृतीय मत—काशकृत्स्नके मतसे ही निरसन करना चाहिए, ऐसा कहते हैं—"यदपि" इत्यादिसे। आश्मरथ्य और औडुलोमि इन दोनोंके मतमें सत्य भेदका अंगीकार होनेसे 'केन' (किससे) ऐसा आक्षेप युक्त नहीं है। काशकृत्स्नके मतमें तो अत्यन्ताभेद स्वीकार है, इसलिए विज्ञानके कारकका अभाव होनेसे आक्षेप युक्त है, इस प्रकार काशकृत्स्नके मतके श्रुत्यनुसारी होनेसे उस मतमें मनःकल्पित विज्ञातृत्व मुक्त ब्रह्मात्मामें भूतपूर्वगतिसे कहा गया है, इस प्रकार परिहार करना चाहिए, ऐसा अर्थ है। और वाक्यके पूर्वापर संबन्धका पर्यालोचन करनेसे प्रतीत होता है कि वह वाक्य मुक्त आत्माका ही प्रतिपादन करता है, इससे

भाष्य

शङ्क्य 'विज्ञातारमरे केन विजानीयात्' इत्याह। ततश्च विशेषविज्ञानाभावोपपादनपरत्वाद् वाक्यस्य विज्ञानधातुरेव केवलः सन् भूतपूर्वगत्या कर्तृवचनेन तृचा निर्दिष्ट इति गम्यते। दर्शितं तु पुरस्तात् काशकृत्स्नीयस्य पक्षस्य श्रुतिमत्त्वम्, अतश्च विज्ञानात्मपरमात्मनोरविद्याप्रत्युपस्थापितनामरूपरचितदेहाद्युपाधिनिमित्तो भेदो न पारमार्थिक इत्येषोऽर्थः सर्वैर्वेदान्तवादिभिरभ्युपगन्तव्यः। 'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्' (छा० ६।२।१) 'आत्मैवेदं सर्वम्' (छां० ७।२५।२), 'ब्रह्मैवेदं सर्वम्' (मु० २।२।११), 'इदं सर्वं यदयमात्मा' (बृ० २।४।६) 'नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा'

भाष्यका अनुवाद

ऐसी आशंका करके 'विज्ञातारमरे केन०' (अरे विज्ञाताको किससे जाने) ऐसा कहते हैं। वाक्य विशेष विज्ञानके अभावका प्रतिपादन करता है, इसलिए विज्ञानैकरस ही केवल है, तो भी पूर्वकी जो स्थिति थी, उस स्थितिसे कर्तृवाचक 'तृच्' प्रत्ययसे निर्दिष्ट है, ऐसा समझा जाता है। काशकृत्स्नका मत श्रुतिप्रतिपादित है, ऐसा तो पूर्वमें दर्शाया गया है, इसलिए विज्ञानात्मा और परमात्माका भेद अविद्यासे उपस्थापित नाम और रूपसे कल्पित देह आदि उपाधियों द्वारा किया गया है, पारमार्थिक नहीं है, ऐसा सब वेदान्तवादियोंको स्वीकार करना चाहिए, क्योंकि 'सदेव सोम्येदमग्र०' (हे प्रिय! पूर्वमें यह सत्‌स्वरूप एक और अद्वितीय ही था) 'आत्मैवेदं०' (यह सब आत्मा ही है) 'ब्रह्मैवेदं०' (यह सब ब्रह्म ही है) 'इदं सर्वं यद०' (जो यह सब है, वह आत्मा ही है) 'नान्योऽतोऽस्ति०' (इससे दूसरा द्रष्टा नहीं है) 'नान्य-

---

रत्नप्रभा

त्वम् इत्याह—**अपि चेति**। आर्षेषु पक्षेषु काशकृत्स्नपक्षस्यैव आदेयत्वे किं बीजं तदाह-**दर्शितमिति**। अतश्च—श्रुतिमत्त्वाच्च। पुनरपि श्रुतिस्मृतिमत्त्वम् आह—**सदेवेत्यादिना**। हेतूनां 'भेदो न पारमार्थिकः' इति प्रतिज्ञया सम्बन्धः। भेदाभेद-

रत्नप्रभाका अनुवाद

कल्पित विज्ञातृत्वका ही अनुवाद होता है, इसलिए विज्ञातृत्वलिंगसे वाक्यको जीवपरक मानना युक्त नहीं है, ऐसा कहते हैं—"अपि च" इत्यादिसे। तीनों ऋषियोंके पक्षोंमेंसे काशकृत्स्नका पक्ष ही ग्रहण करने योग्य है, इसका बीज कहते हैं—"दर्शितम्" इत्यादिसे। 'अतश्च'—श्रुतिप्रतिपादित होनेसे। फिर भी श्रुति और स्मृतिप्रमाण कहते हैं—"सदेव" इत्यादिसे। भाष्योक्त हेतुओंका 'भेदो न पारमार्थिकः' इस प्रतिज्ञासे संबन्ध है। भेदाभेदपक्षमें

भाष्य

(बृ० ३।७।२३), 'नान्यदतोऽस्ति द्रष्टृ' (बृ० ३।८।११) इत्येवंरूपाभ्यः श्रुतिभ्यः, स्मृतिभ्यश्च 'वासुदेवः सर्वमिति' (गी० ७।१९), 'क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत' (गी० १३।२), 'समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्' (गी० १३।२७) इत्येवंरूपाभ्यः । भेददर्शनापवादाच्च 'अन्योऽसावन्योऽहमस्मीति न स वेद यथा पशुः' (बृ०१।४।१०), 'मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति' (बृ० ४।४।१९) इत्येवंजातीयकात् । 'स वा एष महानज आत्माऽजरोऽमरोऽमृतोऽभयो ब्रह्म' (बृ० ४।४।२५) इति चाऽऽत्मनि सर्वविक्रियाप्रतिषेधात्, अन्यथा च मुमुक्षूणां निरपवादविज्ञानानुपपत्तेः, सुनिश्चितार्थत्वानुपपत्तेश्च । निरपवादं हि

भाष्यका अनुवाद

दतोऽस्ति०' (इससे दूसरा द्रष्टा नहीं है) इत्यादि श्रुतियां और 'वासुदेवः सर्व०' (सब वासुदेव है) 'क्षेत्रज्ञं चापि मां०' (हे भारत ! सब क्षेत्रोंमें मुझको क्षेत्रज्ञ जानो) 'समं सर्वेषु भूतेषु०' (सब भूतोंमें समभावसे रहे हुए परमेश्वरको) इत्यादि स्मृतियाँ हैं। और 'अन्योऽसावन्योऽहमस्मीति०' (यह अन्य है, मैं अन्य हूँ, इस प्रकार जो उपासना करता है, वह पशुके समान है, तत्त्व नहीं जानता) और 'मृत्योः स मृत्युमाप्नोति०' (जिसे यहां भेद-सा प्रतीत होता है, वह मृत्युसे मृत्युको प्राप्त होता है) इत्यादि श्रुतिसे भेददर्शनका निषेध है। और 'स वा एष महानज आत्मा०' (वह महान् जन्मरहित आत्मा जरारहित, अजर, अमर, अमृत और अभय ब्रह्म है) इस प्रकार आत्मामें सब विकारोंका प्रतिषेध है। ऐसा न हो तो मुमुक्षुओंको अपवादरहित विज्ञान नहीं हो सकता और तत्त्वनिश्चय भी नहीं हो सकता, क्योंकि सब आकांक्षाओंकी

रत्नप्रभा

पक्षे जीवस्य जन्मादिविकारवत्त्वात् तन्निषेधो न स्यादित्याह—स वा एष इति। भेदस्य सत्यत्वे तत्प्रमया बाधाद् अहं ब्रह्मेति निर्बाधं ज्ञानं न स्यात् इत्याह—अन्यथा चेति। अभेदस्यापि सत्त्वात् प्रमा इत्याशङ्क्य भेदाभेदयोः विरोधात् संशयः स्याद् इत्याह—

रत्नप्रभाका अनुवाद

जीवके जन्म आदि विकारयुक्त होनेसे उसका निषेध नहीं हो सकता है, इसपर कहते हैं—"स वा एष" इत्यादि। भेद सत्य हो, तो यथार्थ ज्ञानसे उसका बाध होनेसे 'अहं ब्रह्म' (मैं ब्रह्म हूँ) ऐसा निर्बाध ज्ञान न हो, ऐसा कहते हैं—"अन्यथा च" इत्यादिसे। अभेदका भी यथार्थ ज्ञान हो, क्योंकि उसकी भी सत्ता है, ऐसी आशंका करके भेद और

भाष्य

विज्ञानं सर्वाकाङ्क्षानिवर्तकमात्मविषयमिष्यते, 'वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः' (मु० ३।२।६) इति च श्रुतेः, 'तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः' (ई० ७) इति च। स्थितप्रज्ञलक्षणस्मृतेश्च (गी० २।५४)। स्थिते च क्षेत्रज्ञपरमात्मैकत्वविषये सम्यग्दर्शने क्षेत्रज्ञः परमात्मेति नाममात्रभेदात् क्षेत्रज्ञोऽयं परमात्मनो भिन्नः परमात्माऽयं क्षेत्रज्ञाद् भिन्न इत्येवंजातीयक आत्मभेदविषयो निर्बन्धो निरर्थकः। एको ह्ययमात्मा नाम-

भाष्यका अनुवाद

निवृत्ति करनेवाला अपवादरहित आत्मविषयक विज्ञान इष्ट है, क्योंकि 'वेदान्तविज्ञान०' (वेदान्तके विज्ञानसे जिनको तत्त्वज्ञान हो चुका है) और 'तत्र को मोहः०' (उसमें एकत्वका दर्शन करनेवालेको क्या मोह और क्या शोक है) ऐसी श्रुतियाँ हैं। और स्थितप्रज्ञका लक्षण कहनेवाली स्मृति भी है। इस प्रकार क्षेत्रज्ञ और परमात्मा एक ही है, ऐसा तत्त्वज्ञान होनेपर क्षेत्रज्ञ और परमात्मा ऐसे नाममात्रका भेद होनेसे यह क्षेत्रज्ञ परमात्मासे भिन्न है, यह परमात्मा क्षेत्रज्ञसे भिन्न है, इस प्रकारका आत्माके भेदका आग्रह करना व्यर्थ है, क्योंकि यह

रत्नप्रभा

सुनिश्चितेति। माऽस्तु निर्बाधज्ञानम् इत्यत आह—निरपवादमिति। "अहं ब्रह्म" इत्यबाधितनिश्चयस्यैव शोकादिनिवर्तकत्वम् इत्यत्र स्मृतिमपि आह—स्थितेति। आत्यन्तिकैकत्वे हि प्रज्ञा प्रतिष्ठिता भवति, न भेदाभेदयोः इति भावः। ननु जीवपरमात्मानौ स्वतो भिन्नौ अपर्यायनामवत्त्वात् स्तम्भकुम्भवदित्यत आह—स्थिते चेति। कथं तर्ह्यपर्यायनामभेद इत्याशङ्क्य जीवत्वेश्वरत्वादिनिमित्तभेदादित्याह—एको हीति। किञ्च, अविद्यातज्जबुद्धिरूपायां गुहायां स्थितो जीवो भवति 'तस्या-

रत्नप्रभाका अनुवाद

अभेदके विरोधसे संशय हो, ऐसा कहते हैं—"सुनिश्चित" इत्यादिसे। निर्बाध ज्ञान न हो, उससे क्या? इसपर कहते हैं—"निरपवादम्" इत्यादिसे। 'अहं ब्रह्म' (मैं ब्रह्म हूँ) ऐसा अबाधित निश्चय ही शोक आदिको निवृत्त करता है, उसके लिए स्मृति भी कहते हैं—"स्थित" इत्यादिसे। आत्यन्तिक एकत्व होनेपर ही प्रज्ञा प्रतिष्ठित होती है, भेदाभेदमें नहीं होती, ऐसा तात्पर्य है। यदि कोई कहे कि जीव और परमात्मा स्वयं भिन्न हैं, क्योंकि स्तम्भ, कुम्भ आदिके समान पर्यायशब्दवाच्य नहीं हैं, इसपर कहते हैं—"स्थिते च" इत्यादि। तब अपर्यायनामका भेद क्यों है, ऐसी आशंका करके जीवत्व, ईश्वरत्व आदि निमित्तोंके भेदसे है, ऐसा कहते हैं—"एको हि" इत्यादिसे। तथा अविद्या और उससे

भाष्य

मात्रभेदेन बहुधाऽभिधीयत इति, नहि 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म, यो वेद निहितं गुहायाम्' (तै० २।१) इति काञ्चिदेवैकां गुहामधिकृत्यैतदुक्तम् । न च ब्रह्मणोऽन्यो गुहायां निहितोऽस्ति, 'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्' (तै० २।६) इति स्रष्टुरेव प्रवेशश्रवणात् । ये तु निर्बन्धं कुर्वन्ति ते

रत्नप्रभाका अनुवाद

आत्मा एक ही है परन्तु नाममात्रके भेदसे बहुत प्रकारसे उसका अभिधान होता है। 'सत्यं ज्ञानमनन्तं०' (जो सत्य, ज्ञान, अनन्त ब्रह्मको गुहामें स्थित जानता है) यह कथन किसी एक गुहाके उद्देशसे नहीं है। और ब्रह्मसे अतिरिक्त व्यक्ति गुहामें स्थित नहीं है, क्योंकि 'तत्सृष्ट्वा०' (ब्रह्मने कार्यप्रपंचको उत्पन्न करके उसीमें अनुप्रवेश किया) इस प्रकार स्रष्टाका ही प्रवेश श्रुतिमें कहा गया

रत्नप्रभा

मेव ब्रह्म निहितम्' इति श्रुतेः। स्थानैक्यात् जीव एव ब्रह्मेत्याह—**नहीति**। **काञ्चिदेवैकामिति**। जीवस्थानाद् अन्यामित्यर्थः। ननु एकस्यां गुहायां द्वौ किं न स्याताम् इत्यत आह—**न चेति**। स्रष्टुरेव प्रवेशेन जीवत्वात् न भेदः। ननु अत्यन्ताभेदे जीवस्य स्पष्टभानाद् ब्रह्मापि स्पष्टं स्याद् अतः स्पष्टत्वास्पष्टत्वाभ्यां तयोः भेद इति चेत्, न; दर्पणे प्रतिबिम्बस्य स्फुटत्वेऽपि बिम्बस्य अस्फुटत्ववत् कल्पितभेदेन विरुद्धधर्मव्यवस्थोपपत्तेः। सत्यभेदे येषाम् आग्रहः तेषां दोषमाह—**ये त्विति**। सोऽयम् इतिवत् तत्त्वमसि इति अकार्यकरणद्रव्यसामानाधिकरण्याद् अत्यन्ताभेदो वेदान्तार्थः तद्बोध एव निःश्रेयससाधनम् तस्य बाधो न युक्त इत्यर्थः। किञ्च,

रत्नप्रभाका अनुवाद

जन्य बुद्धिरूप गुहामें स्थित ब्रह्म ही जीव कहलाता है, क्योंकि 'तस्यामेव०' (उस गुहामें ब्रह्म ही स्थित है) ऐसी श्रुति है। स्थानके एक होनेसे भी जीव ब्रह्म ही है, ऐसा कहते हैं—"नहि" इत्यादिसे। "काञ्चिदेवैकाम्" अर्थात् जीवस्थानसे अन्य, जीवभावसे परमात्माके प्रतिबिंबका जो आधार है, उससे अन्य। एक गुहामें दो क्यों न रहें, इसपर कहते हैं—"न च" इत्यादि। स्रष्टा ही प्रविष्ट होनेसे जीव कहलाता है, अतः जीव और ब्रह्ममें भेद नहीं है। परन्तु अत्यन्त अभेद हो, तो जीवका स्पष्ट भान होता है, इससे ब्रह्म भी स्पष्ट हो, इसलिए स्पष्टत्व और अस्पष्टत्वसे दोनोंका भेद है, ऐसी शंका युक्त नहीं, क्योंकि जैसे दर्पणमें प्रतिबिंबके स्पष्ट होनेपर भी बिंब स्पष्ट नहीं होता, उसी प्रकार कल्पित भेदसे विरुद्धधर्मकी व्यवस्था युक्त होती है। सत्य भेदमें जिनका आग्रह है, उनके मतमें दोष दिखलाते हैं—"ये तु" इत्यादिसे। 'सोऽयम्' (वह यह है) इसके समान 'तत्त्वमसि' (वह तू है) इस वाक्यमें कार्यकरणसमूहसे भिन्न द्रव्यका सामानाधिकरण्य है, अतः

भाष्य

वेदान्तार्थं बाधमानाः श्रेयोद्वारं सम्यग्दर्शनमेव बाधन्ते, कृतकमनित्यं च मोक्षं कल्पयन्ति, न्यायेन च न संगच्छन्त इति ॥ २२ ॥

भाष्यका अनुवाद

है। परन्तु जो आग्रह करते हैं, वे वेदान्तके अर्थका बाध करते हुए श्रेय-मात्रके द्वार सम्यग्ज्ञानका ही बाध करते हैं, मोक्ष कर्मसाध्य एवं अनित्य है, ऐसी कल्पना करते हैं और न्यायका अनुसरण नहीं करते ॥ २२ ॥

रत्नप्रभा

भेदाभेदवादिनो ज्ञानकर्मभ्यां कृतकं मोक्षं कल्पयन्ति, तत्राऽनित्यत्वं दोषः। यत्तु कृतकमपि नित्यमिति, तच्च यत् क्रियासाध्यं तदनित्यम् इतिन्यायबाधितम्। अस्माकं तु अनर्थध्वंसस्य ज्ञानसाध्यत्वात् नित्यमुक्तात्ममात्रत्वात् च न अनित्यत्वदोष इति भावः। तस्मात् मैत्रेयीब्राह्मणं प्रत्यग्ब्रह्मणि समन्वितमिति सिद्धम् ॥२२॥ (६)

रत्नप्रभाका अनुवाद

आत्यन्तिक अभेद ही वेदान्तोंका अर्थ है और उसका बोध ही मोक्षका साधन है, इससे उसका बाध युक्त नहीं, ऐसा अर्थ है। और भेदाभेदवादी ज्ञान और कर्मसे जो कृतक मोक्षकी कल्पना करते हैं, उसमें अनित्यताका दोष आता है। कृतक है, तो भी नित्य है, यह कथन तो जो क्रियासाध्य है, वह अनित्य है, इस न्यायसे बाधित होता है। हमारे मतमें तो अनर्थका ध्वंस ज्ञानसाध्य होने और नित्यमुक्त आत्ममात्र होनेसे अनित्यताका दोष नहीं आता। इसलिए मैत्रेयीब्राह्मण प्रत्यग्ब्रह्ममें समन्वित है, ऐसा सिद्ध हुआ ॥ २२ ॥

[७ प्रकृत्यधिकरण । सू० २३–२७]

निमित्तमेव ब्रह्म स्यादुपादानं च वीक्षणात् ।
कुलालवन्निमित्तं तन्नोपादानं मृदादिवत् ॥१॥
बहु स्यामित्युपादानभावोऽपि श्रुत ईक्षितुः ।
एकबुद्ध्या सर्वधीश्च तस्माद् ब्रह्मोभयात्मकम् ॥२॥*

[अधिकरणसार]

सन्देह—ब्रह्म जगत्का निमित्तकारण ही है अथवा उपादानकारण भी है ?

पूर्वपक्ष—श्रुतिमें सृज्यमान पदार्थोंका ईक्षण कहा है, इसलिए कुलाल आदिके समान ब्रह्म निमित्तकारण है, उपादानकारण नहीं है।

सिद्धान्त—श्रुतिमें ईक्षणकर्ता 'बहु स्याम्' (मैं बहुत होऊँ) इस प्रकार उपादान-कारण भी कहा गया है और श्रुत्युक्त एकविज्ञानसे सर्वविज्ञान उपादानकारणके ज्ञानसे ही हो सकता है, इसलिए ब्रह्म जगत्का निमित्तकारण और उपादानकारण—दोनों है।

---

* तात्पर्य यह है—जगत्के कारणको प्रतिपादन करनेवाले सब वाक्य इस अधिकरणके विषय हैं। उनमें संशय होता है कि ब्रह्म केवल निमित्तकारण ही है अथवा उपादनकारण भी है ?

पूर्वपक्षी कहता है कि ब्रह्म केवल निमित्तकारण है, क्योंकि श्रुतिमें "तदैक्षत" इस प्रकार सृज्यमान कार्योंकी आलोचनाका श्रवण है। आलोचन-शक्ति केवल निमित्तकारणभूत कुलाल आदिमें ही देखी जाती है, उपादानकारणभूत मृत्तिका आदिमें नहीं देखी जाती अतः ब्रह्म निमित्त-कारण ही है।

सिद्धान्ती कहते हैं कि "तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेय" इस प्रकार ईक्षणकर्ताका ही बहुभाव श्रुतिमें कहा गया है, इसलिए वही उपादानकारण है। और "येनाश्रुतं श्रुतं भवति" इत्यादिसे एक ब्रह्मका ज्ञान होनेपर अश्रुत जगत् भी श्रुत हो जाता है, एक ब्रह्मका ज्ञान होनेपर सबका विज्ञान हो जाता है, ऐसा प्रतिपादन किया गया है। वह तभी उपपन्न हो सकता है जब कि ब्रह्म सब कार्योंका उपादानकारण हो, ब्रह्मसे भिन्न कोई कार्य ही न हो। ब्रह्म यदि केवल निमित्तकारण हो, तो सब कार्योंके ब्रह्मसे भिन्न होनेसे एक विज्ञानसे सर्वविज्ञानका प्रतिपादन कैसे किया जा सकता है। इसलिए ब्रह्म निमित्तकारण है और उपादानकारण भी है।

प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात् ॥ २३ ॥

पदच्छेद—प्रकृतिः, च, प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात् ।

पदार्थोक्ति—प्रकृतिश्च—उपादानकारणम्, निमित्तकारणमपि [ब्रह्म, कुतः] प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात्—'येनाश्रुतं श्रुतं भवति' इत्यादिरेकविज्ञानेन सर्वविज्ञानप्रतिज्ञा, 'यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृण्मयं विज्ञातम्' इत्यादिदृष्टान्तश्च, तयोः सामञ्जस्यात् ।

भाषार्थ—ब्रह्म उपादानकारण है और निमित्तकारण भी है, क्योंकि 'येनाश्रुतं०' (जिसके ज्ञानसे अश्रुत श्रुत हो जाता है) इत्यादि एक विज्ञानसे सर्वविज्ञानकी प्रतिज्ञा और 'यथा सोम्यैकेन०' (हे सोम्य ! जैसे एक मृत्पिण्डके ज्ञानसे सब मृत्तिकाविकारका ज्ञान हो जाता है) इत्यादि दृष्टान्तका सामञ्जस्य है।

भाष्य

यथाऽभ्युदयहेतुत्वाद् धर्मो जिज्ञास्य एवं निःश्रेयसहेतुत्वाद् ब्रह्म जिज्ञास्यमित्युक्तम्, ब्रह्म च 'जन्माद्यस्य यतः' (ब्र० १।१।२) इति लक्षितम् । तच्च लक्षणं घटरुचकादीनां मृत्सुवर्णादिवत् प्रकृतित्वे कुलालसुवर्णकारादिवन्निमित्तत्वे च समानमित्यतो भवति विमर्शः—किमात्मकं पुनर्ब्रह्मणः

भाष्यका अनुवाद

जैसे अभ्युदयका हेतु होनेसे धर्म जिज्ञास्य है, वैसे मोक्षका हेतु होनेसे ब्रह्म जिज्ञास्य है, ऐसा कहा है। 'जन्माद्यस्य०' सूत्रसे ब्रह्मका लक्षण कहा गया है। जैसे घट, रुचक आदिके मृत्तिका, सुवर्ण आदि उपादानकारण हैं और कुम्हार, सुनार आदि निमित्तकारण हैं, वैसे ही उस लक्षणसे ब्रह्म जगत्का उपादानकारण है, यह भी प्रतीत होता है और निमित्तकारण है, यह भी । इससे

रत्नप्रभा

प्रकृतिश्च प्रतिज्ञा०। लक्षणसूत्रेण अस्य सङ्गतिं वक्तुं वृत्तं स्मारयति—यथेति। तत्र हि ब्रह्मणो बुद्धिस्थत्वार्थं सामान्यतो जगत्कारणत्वं लक्षणमुक्तम् तेन बुद्धिस्थे ब्रह्मणि कृत्स्नवेदान्तसमन्वयं प्रतिपाद्य तत्कारणत्वं किं कर्तृत्वमात्रम् उत प्रकृतित्व-

रत्नप्रभाका अनुवाद

ब्रह्मलक्षणसूत्रके साथ इस अधिकरणकी संगति दिखलानेके लिए पूर्वोक्तका स्मरण कराते हैं—"यथा" इत्यादिसे। इसमें प्रथम ब्रह्मके बुद्धिस्थ होनेके लिए सामान्य रीतिसे ब्रह्म जगत्का कारण है, ऐसा ब्रह्मका लक्षण किया गया है, उससे बुद्धिस्थ ब्रह्ममें समस्त

भाष्य

कारणत्वं स्यात्–इति। तत्र निमित्तकारणमेव तावत् केवलं स्यादिति प्रतिभाति। कस्मात्? ईक्षापूर्वककर्तृत्वश्रवणात्। ईक्षापूर्वकं हि ब्रह्मणः कर्तृत्वमवगम्यते—'स ईक्षांचक्रे (प्र० ६।३) 'स प्राणमसृजत' (प्र० ६।४)

भाष्यका अनुवाद

संशय होता है कि ब्रह्म जगत्का निमित्तकारण ही है अथवा उपादानकारण भी है?

पूर्वपक्षी—ब्रह्म केवल निमित्तकारण है, ऐसा प्रतीत होता है, क्योंकि ईक्षापूर्वक ब्रह्म कर्ता है, ऐसी श्रुति है। 'स ईक्षांचक्रे' (उसने ईक्षण किया) 'स प्राणमसृजत' (उसने प्राणकी सृष्टि की) इत्यादि श्रुतियोंसे प्रतीत होता है कि ब्रह्म ईक्षा-

---

रत्नप्रभा

कर्तृत्वोभयरूपम् इति विशेषजिज्ञासायाम् इदमारभ्यते, तथा च सामान्यज्ञानस्य विशेषचिन्ताहेतुत्वात् तेन अस्य सङ्गतिः। यद्यपि तदानन्तर्यम् अस्य युक्तम्, तथापि निश्चिततात्पर्यैः वेदान्तैः कर्तृमात्रेश्वरमतनिरासः सुकर इति समन्वयान्ते इदं लिखितम्। लक्षणसूत्रस्य अध्यायादिसङ्गतत्वाद् अस्यापि अध्यायादिसङ्गतिः। पूर्वत्र सर्वविज्ञानप्रतिज्ञाया मुख्यत्वाद् वाक्यस्य जीवपरत्वं निरस्तम्, तदयुक्तम् कर्त्रुपादानयोः भेदेन प्रतिज्ञाया गौणत्वाद् इत्याक्षिपति—तत्र निमित्तेत्यादिना। पूर्वोत्तरपक्षयोः द्वैताद्वैतसिद्धिः फलम्। ईक्षापूर्वकेति। ईक्षणश्रुत्या कर्तृत्वं निश्चितम्, तथा च ब्रह्म न प्रकृतिः, कर्तृत्वात्, यो यत्कर्ता स तत्प्रकृतिः न, यथा घटकर्ता कुलाल इत्यर्थः।

रत्नप्रभाका अनुवाद

वेदान्तोंके समन्वयका प्रतिपादन करके ब्रह्म केवल कर्ता ही है अर्थात् निमित्तकारण ही है या उपादान और निमित्तकारण दोनों है, इस तरह विशेष जिज्ञासा होनेपर इस अधिकरणका आरंभ किया जाता है। सामान्यज्ञान विशेष विचारका हेतु है, अतः उसके साथ इस अधिकरणकी संगति है। यद्यपि लक्षणसूत्रके अनन्तर यह अधिकरण देना युक्त था, तो भी निश्चित तात्पर्यवाले वेदान्तोंसे ईश्वर निमित्तकारण ही है, इस मतका निराकरण करना सहज समझकर समन्वयाध्यायके अन्तमें यह लिखा है। लक्षणसूत्रमें अर्थात् जन्माद्यधिकरणमें अध्याय आदि संगतियाँ हैं, अतः इस अधिकरणमें भी अध्याय आदि संगतियाँ हैं। पूर्वाधिकरणमें सर्वविज्ञानप्रतिज्ञा मुख्य होनेसे वाक्यमें जीवपरकत्वका निरास किया गया है, वह युक्त नहीं है, क्योंकि कर्ता और उपादानके भिन्न भिन्न होनेसे प्रतिज्ञा गौण है, ऐसा आक्षेप करते हैं—"तत्र निमित्त" इत्यादिसे। पूर्वपक्षमें द्वैतसिद्धि फल है, सिद्धान्तमें अद्वैतसिद्धि फल है। "ईक्षापूर्वक" इत्यादि। ईक्षणश्रुतिसे ब्रह्म कर्ता है, ऐसा निश्चय होता है, इसलिए ब्रह्म प्रकृति नहीं, कर्ता होनेसे, जो जिसका कर्ता होता है, वह उसकी प्रकृति नहीं होता है, जैसे घटका कर्ता कुम्हार, ऐसा भावार्थ है।

भाष्य

इत्यादिश्रुतिभ्यः। ईक्षापूर्वकं च कर्तृत्वं निमित्तकारणेष्वेव कुलालादिषु दृष्टम्। अनेककारकपूर्विका च क्रियाफलसिद्धिर्लोके दृष्टा। स च न्याय आदिकर्तर्यपि युक्तः संक्रमयितुम्। ईश्वरत्वप्रसिद्धेश्च। ईश्वराणां हि राजवैवस्वतादीनां निमित्तकारणत्वमेव केवलं प्रतीयते तद्वत् परमेश्वरस्यापि निमित्तकारणत्वमेव युक्तं प्रतिपत्तुम्। कार्यं चेदं जगत् सावयवमचेतनमशुद्धं च दृश्यते, कारणेनापि तस्य तादृशेनैव भवितव्यम्, कार्यकारणयोः सारूप्यदर्शनात्। ब्रह्म च नैवंलक्षणमवगम्यते 'निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरञ्जनम्' (श्वे० ६।१९) इत्यादिश्रुतिभ्यः। पारिशेष्याद् ब्रह्मणोऽन्य-

भाष्यका अनुवाद

पूर्वक कर्ता है। ईक्षापूर्वक कर्तृत्व कुम्हार आदि निमित्तकारणोंमें ही देखा जाता है। व्यवहारमें देखा जाता है कि क्रियाके फलकी सिद्धिके पूर्व अनेक कारण रहते हैं, उस न्यायका आदि कर्तामें भी संक्रमण करना युक्त है। और ईश्वरत्वकी प्रसिद्धिसे भी [ब्रह्म निमित्तकारण है], क्योंकि जैसे राजा वैवस्वत-मनु आदि लौकिक ईश्वर निमित्तकारण ही हैं, उसी प्रकार परमेश्वरको भी निमित्त-कारण समझना युक्त है। और कार्यरूप यह जगत् अवयवयुक्त, अचेतन और अशुद्ध प्रतीत होता है, उसका कारण भी वैसा ही होना चाहिए, क्योंकि कार्य और कारण समान देखे जाते हैं। 'निष्कलं निष्क्रियं०' (अवयवरहित, क्रियाशून्य, शान्त, दोषरहित और तमोरहित) इत्यादि श्रुतियोंसे ब्रह्म ऐसा

रत्नप्रभा

जगद् भिन्नकर्तृउपादानकम्, कार्यत्वात्, घटवत्, इत्याह—अनेकेति। ब्रह्म नोपादानम्, ईश्वरत्वाद्, राजादिवत्, इत्याह—ईश्वरत्वेति। जगत् न ब्रह्मप्रकृतिकम्, तद्विलक्षणत्वाद्, यदित्थं तत्तथा कुलालविलक्षणघटवत्, इत्याह—कार्यश्चेति। निष्कलम्—निरवयवम्, निष्क्रियम्—अचलम्, शान्तम्—अपरिणामि, निरवद्यम्—

रत्नप्रभाका अनुवाद

जगत् भिन्न कर्ता और उपादानवाला है, कार्य होनेसे, घटके समान, ऐसा दूसरा अनुमान बताते हैं—"अनेक" इत्यादिसे। ब्रह्म उपादानकारण नहीं है, ईश्वर होनेसे, राजा आदिके समान, ऐसा कहते हैं-"ईश्वरत्व" इत्यादिसे। जगत्का ब्रह्म उपादानकारण नहीं है, क्योंकि वह ब्रह्मसे विलक्षण है, जो कार्य जिस कारणसे विलक्षण होता है, उस कार्यका वह कारण उपादानकारण नहीं होता है अर्थात् वह कार्य तदुपादानक नहीं होता, कुम्हारसे विलक्षण घटके समान, ऐसा कहते हैं-"कार्य च" इत्यादिसे। निष्कल-निरवयव। निष्क्रिय-अचल। शान्त-अपरि-

भाष्य

दुपादानकारणमशुद्ध्यादिगुणकं स्मृतिप्रसिद्धमभ्युपगन्तव्यम् । ब्रह्मकारणत्वश्रुतेर्निमित्तत्वमात्रे पर्यवसानादिति ।

एवं प्राप्ते ब्रूमः—'प्रकृतिश्च'—उपादानकारणं च ब्रह्माभ्युपगन्तव्यं निमित्तकारणं च । न केवलं निमित्तकारणमेव । कस्मात्? प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात् । एवं प्रतिज्ञादृष्टान्तौ श्रौतौ नोपरुध्येते । प्रतिज्ञा तावत्—'उत तमादेशमप्राक्ष्यो येनाश्रुतं श्रुतं भवत्यमतं मतमविज्ञातं विज्ञातम्' (छा० ६।१।२) इति । तत्र चैकेन विज्ञातेन सर्वमन्यदविज्ञातमपि विज्ञातं भवतीति प्रतीयते, तच्चोपादान-

भाष्यका अनुवाद

प्रतीत नहीं होता। अन्ततोगत्वा ब्रह्मसे अन्य, अशुद्धि आदि गुणवाला, स्मृतिमें प्रसिद्ध, उपादान कारण स्वीकार करना चाहिए, क्योंकि ब्रह्म कारण है, ऐसा प्रतिपादन करनेवाली श्रुति निमित्तकारणमात्रमें पर्यवसित होती है।

सिद्धान्ती—ऐसा प्राप्त होनेपर हम कहते हैं—ब्रह्मको प्रकृति अर्थात् उपादानकारण और निमित्तकारण स्वीकार करना चाहिए, केवल निमित्तकारण ही नहीं। किससे? प्रतिज्ञा और दृष्टान्तके अनुपरोधसे। ब्रह्मको उभयकारण माननेसे श्रुतिमें वर्णित प्रतिज्ञा और दृष्टान्त बाधित नहीं होते। 'उत तमादेशमप्राक्ष्यो०' (तुमने गुरुसे वह उपदेश पूछा है? जिससे अश्रुत श्रुत हो जाता है, मनन न किया हुआ मनन किया हुआ हो जाता है और अविज्ञात ज्ञात हो जाता है) यह प्रतिज्ञा है। उसमें एकका विज्ञान होनेसे सब अन्य जो अविज्ञात हैं, उनका भी विज्ञान हो जाता है, ऐसा समझा जाता है। यह सर्वविज्ञान उपादानकारणका

रत्नप्रभा

निरस्तसमस्तदोषम् । तत्र हेतुः—निरञ्जनमिति । अञ्जनतुल्यतमश्शून्यम् इत्यर्थः । तर्हि जगतः सदृशोपादानं किम् इत्यत आह—पारिशेष्यादिति ।

ब्रह्मनिषेधे प्रधानं परिशिष्यते इति अभिमन्यमानः सिद्धान्तयति—प्रकृतिश्चेति । चकारात् निमित्तत्वग्रहः । एवम् उभयरूपे कारणत्वे तयोरबाधो भवति इत्याह—

रत्नप्रभाका अनुवाद

णामी। निरवद्य—समस्तदोषरहित। समस्तदोषराहित्यमें हेतु कहते हैं—"निरञ्जनम्"—काजल सदृश अन्धकारसे शून्य। तब जगत्का सदृश उपादान क्या है, उसके लिए कहते हैं—"पारिशेष्यात्" इत्यादि।

ब्रह्मका निषेध करनेसे प्रधान ही शेष रहता है, ऐसा समझकर सिद्धान्त करते हैं—"प्रकृतिश्च" इत्यादिसे। 'प्रकृतिश्च' सूत्रमें चकारसे ब्रह्म निमित्तकारण है, ऐसा सूचित

भाष्य

कारणविज्ञाने सर्वविज्ञानं संभवत्युपादानकारणाव्यतिरेकात् कार्यस्य, निमित्तकारणाव्यतिरेकस्तु कार्यस्य नास्ति, लोके तक्ष्णः प्रासादव्यतिरेकदर्शनात्। दृष्टान्तोऽपि—'यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृण्मयं विज्ञातं स्याद्वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्' इत्युपादानकारणगोचर एवाऽऽम्नायते। तथा 'एकेन लोहमणिना सर्वं लोहमयं विज्ञातं स्यात्' 'एकेन नखनिकृन्तनेन सर्वं कार्ष्णायसं विज्ञातं स्यात्' (छा० ६।१।४,५,६) इति च। तथाऽन्यत्रापि 'कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते

भाष्यका अनुवाद

विज्ञान होनेपर संभव है, क्योंकि कार्य उपादानकारणसे अभिन्न होता है। निमित्तकारणसे कार्य अभिन्न नहीं होता, क्योंकि लोकमें महल बनानेवाले बढ़ईसे महल भिन्न देखनेमें आता है। 'यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन०' (हे सोम्य! जैसे एक मृत्तिकापिंडसे सब मृत्तिकाओंके विकारका विज्ञान हो जाता है, विकार नाममात्र है जिसका आरंभ केवल वाणीसे होता है, मृत्तिका ही सत्य है)। उसी प्रकार 'एकेन लोहमणिना०' (एक सुवर्णमय मणिसे सब सुवर्णविकारोंका विज्ञान हो जाता है) और 'एकेन नखनिकृन्तनेन०' (एक नहरनीसे सब लोहेके विकारका विज्ञान होता है) इस प्रकार दृष्टान्त भी उपादानकारणविषयक ही है। उसी प्रकार अन्य स्थलोंपर भी 'कस्मिन्नु

रत्नप्रभा

एवमिति। कर्तृज्ञानादपि सर्वकार्यज्ञानं किं न स्याद्? इत्यत आह—निमित्तकारणाव्यतिरेकस्त्विति। मृदादीनाम् उपादानानां दृष्टान्तत्वाद् दार्ष्टान्तिकस्य ब्रह्मण उपादानत्वं वाच्यमित्याह—दृष्टान्तोऽपीति। वागारभ्यं नाममात्रं विकारो न वस्तुतोऽस्तीति सत्यकारणज्ञानाद् विकारज्ञानं युक्तमित्यर्थः। गतिसामान्यार्थं मुण्डकेऽपि प्रतिज्ञादृष्टान्तौ आह—तथाऽन्यत्रापीति। बृहदारण्यकेऽपि तौ आह—

रत्नप्रभाका अनुवाद

होता है। प्रकृति और निमित्तकारण दोनों ब्रह्म है, ऐसा ग्रहण करनेसे प्रतिज्ञा और दृष्टान्तका बाध न होगा, ऐसा कहते हैं—"एवम्" इत्यादिसे। कर्ताके ज्ञानसे भी सर्वकार्यका ज्ञान क्यों न हो, इसपर कहते हैं—"निमित्तकारणाव्यतिरेकस्तु" इत्यादि। मृत्तिका आदि उपादानकारण दृष्टान्तरूपसे दिये गये हैं, इससे दार्ष्टान्तिक ब्रह्मको उपादान कारण ही कहना चाहिए, ऐसा कहते हैं—"दृष्टान्तोऽपि" इत्यादिसे। विकार वाणीसे आरंभ होने योग्य नाममात्र है, वास्तविक नहीं है, इससे सत्य कारणके ज्ञानसे विकारका ज्ञान होना युक्त है, ऐसा अर्थ है। उपनिषदोंकी सामान्य गति ऐसी है, यह दिखलानेके लिए मुण्डकमेंसे भी प्रतिज्ञा और

भाष्य

सर्वमिदं विज्ञातं भवति' (मु० १।१।२) इति प्रतिज्ञा, 'यथा पृथिव्यामोषधयः सम्भवन्ति' (मु० १।१।७) इति दृष्टान्तः, तथा 'आत्मनि खल्वरे दृष्टे श्रुते मते विज्ञाते इदं सर्वं विदितम्' इति प्रतिज्ञा, 'स यथा दुन्दुभेर्हन्यमानस्य न बाह्यान् शब्दान् शक्नुयाद् ग्रहणाय दुन्दुभेस्तु ग्रहणेन दुन्दुभ्याघातस्य वा शब्दो गृहीतः' (बृ० ४।५।६,८) इति दृष्टान्तः। एवं यथासंभवं प्रतिवेदान्तं प्रतिज्ञादृष्टान्तौ प्रकृतित्वसाधनौ

भाष्यका अनुवाद

भगवो विज्ञाते०' (हे भगवन् ! किसका विज्ञान होनेपर इस सम्पूर्ण प्रपंचका विज्ञान होता है) ऐसी प्रतिज्ञा है और 'यथा पृथिव्यामोषधयः०' (जैसे पृथिवीमें ओषधियां उत्पन्न होती हैं) ऐसा दृष्टान्त है। इसी प्रकार 'आत्मनि खल्वरे दृष्टे श्रुते०' (हे मैत्रेयि ! निश्चय आत्माका दर्शन, श्रवण, मनन और विज्ञान होनेपर यह सब विदित होता है) ऐसी प्रतिज्ञा है। और 'स यथा दुन्दुभेर्हन्यमानस्य०' (जैसे नगाड़ेके बजनेपर बाह्य शब्द ग्रहण न किये जानेपर भी दुन्दुभिके ग्रहणसे अथवा दुन्दुभिके आघातके ज्ञानसे शब्दविशेषका ग्रहण किया जाता है) ऐसा दृष्टान्त है। इस प्रकार यथासंभव प्रत्येक वेदान्तमें

रत्नप्रभा

तथात्मनीति। घटः स्फुरति, पटः स्फुरति इत्यनुगतस्फुरणं प्रकृतिः, तदतिरेकेण विकारा न सन्तीति सोऽयमर्थो यथा स्फुटः स्यात् तथा दृष्टान्तः स उच्यते। हन्यमानदुन्दुभिजन्यात् शब्दसामान्याद् बाह्यान् विशेषशब्दान् सामान्यग्रहणातिरेकेण पृथग् ग्रहीतुं श्रोता न शक्नुयात्, सामान्यस्य तु ग्रहणेन दुन्दुभ्याघातजशब्दविशेषो गृहीतो भवति, तस्य वा ग्रहणेन तदवान्तरविशेषशब्दो गृहीतो भवति, अतः शब्दसामान्यग्रहणग्राह्या विशेषाः सामान्ये कल्पिताः, तद्वद् आत्मभानभास्याः

रत्नप्रभाका अनुवाद

दृष्टान्त उद्धृत करते हैं—"तथान्यत्रापि" इत्यादिसे। बृहदारण्यकमेंसे भी प्रतिज्ञा और दृष्टान्त उद्धृत करते हैं—"तथात्मनि" इत्यादिसे। 'घटः स्फुरति' (घट ज्ञात होता है) 'पटः स्फुरति' (पट ज्ञात होता है) ऐसा अनुगत स्फुरण प्रकृति है, उससे अतिरिक्त विकार नहीं है, इस अर्थको भली भाँति स्फुट करनेके लिए दृष्टान्त कहा जाता है। दुन्दुभिसे उत्पन्न हुए शब्दसामान्यसे बाह्य विशेषशब्दोंको सामान्यशब्दसे भिन्नरूपसे पृथक् सुननेके लिए श्रोता समर्थ नहीं हो सकता, किन्तु सामान्यशब्दके ग्रहणसे दुन्दुभिके आघातसे उत्पन्न विशेष शब्दका ग्रहण होता है अथवा उसके ग्रहणसे उसके भीतरके

भाष्य

प्रत्येतव्यौ। यत इतीयं पञ्चमी 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' इत्यत्र 'जनिकर्तुः प्रकृतिः' (पा० सू० १।४।३०) इति विशेषस्मरणात् प्रकृतिलक्षण एवाऽपादाने द्रष्टव्या। निमित्तत्वं त्वधिष्ठात्रन्तराभावादधिगन्तव्यम्। यथा हि लोके मृत्सुवर्णादिकमुपादानकारणं कुलालसुवर्णकारादीनधिष्ठातॄनपेक्ष्य प्रवर्तते, नैवं ब्रह्मण उपादानकारणस्य सतोऽन्योऽधिष्ठाताऽपेक्ष्योऽस्ति, प्रागुत्पत्तेरेकमेवाऽद्वितीयमित्यवधारणात्। अधिष्ठात्रन्तरा-

भाष्यका अनुवाद

उपादानकारण सिद्ध करनेवाले प्रतिज्ञा और दृष्टान्त समझने चाहिएँ। 'यतो वा इमानि०' (जिससे ये भूत उत्पन्न होते हैं) इसमें 'यतः' यह पंचमी 'जनिकर्तुः०' इस विशेष सूत्रका स्मरण होनेसे प्रकृतिलक्षण अपादानके अर्थमें ही समझनी चाहिए। ब्रह्मको निमित्तकारण तो अन्य अधिष्ठाताके न होनेसे समझना चाहिए। जैसे लोकमें मृत्तिका, सुवर्ण आदि उपादानकारण कुम्हार, सुनार आदि अधिष्ठाताओंकी अपेक्षा रखकर प्रवृत्त होते हैं, वैसे ब्रह्म उपादान होकर अन्य अधिष्ठाताकी अपेक्षा नहीं करता, क्योंकि उत्पत्तिके

रत्नप्रभा

घटादय आत्मनि कल्पिताः, इत्यर्थः। प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात् लिङ्गाद् ब्रह्मणः प्रकृतित्वमुक्त्वा पञ्चमीश्रुत्याऽपि आह—यत इति। "यतो वा" इत्यत्र श्रुतौ यत इति पञ्चमी प्रकृतौ द्रष्टव्या इति अन्वयः। जनिकर्तुः—जायमानस्य कार्यस्य प्रकृतिः अपादानसंज्ञिका भवति इति सूत्रार्थः। संज्ञायाः फलम् "अपादाने पञ्चमी" (पा० २।३।२८) इति सूत्रात् प्रकृतौ पञ्चमीलाभः। एवं ब्रह्मणः प्रकृतित्वं प्रसाध्य कर्तृत्वं साधयति—निमित्तत्वमिति। ब्रह्म स्वातिरिक्तकर्त्रधिष्ठेयम्, प्रकृतित्वात्,

रत्नप्रभाका अनुवाद

विशेष शब्दका ग्रहण होता है। इसलिए जैसे शब्दसामान्यके ग्रहणसे ग्राह्य विशेषशब्द सामान्यमें कल्पित हैं। उसी प्रकार आत्माके भानसे भास्य जो घट आदि पदार्थ हैं, वे आत्मामें कल्पित हैं, ऐसा समझना चाहिए। प्रतिज्ञा और दृष्टान्तके अनुसारी लिंगसे ब्रह्म उपादानकारण है, ऐसा कहकर पंचमी विभक्तिका श्रवण होनेसे भी ब्रह्म उपादान कारण है। ऐसा कहते हैं—"यतः" इत्यादिसे। 'यतो वा' इस मंत्रमें 'यतः' यह पंचमी प्रकृतिरूप अर्थमें है, ऐसा अन्वय है। "जनिकर्तुः" इत्यादि। जायमान कार्यकी प्रकृति अपादान संज्ञक होती है, ऐसा सूत्रका अर्थ है। संज्ञाके फलस्वरूप 'अपादाने०' सूत्रसे प्रकृतिके अनन्तर पञ्चमी विभक्ति आती है। इस प्रकार ब्रह्म प्रकृति है, यह सिद्ध करके वह कर्ता है, यह

भाष्य

भावोऽपि प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधादेवोदितो वेदितव्यः । अधिष्ठातरि ह्युपादानादन्यस्मिन्नभ्युपगम्यमाने पुनरप्येकविज्ञानेन सर्वविज्ञानस्याऽसंभवात् प्रतिज्ञादृष्टान्तोपरोध एव स्यात् । तस्मादधिष्ठात्रन्तराभावादात्मनः कर्तृत्वमुपादानान्तराभावाच्च प्रकृतित्वम् ॥ २३ ॥

कुतश्चाऽऽत्मनः कर्तृत्वप्रकृतित्वे—

भाष्यका अनुवाद

पूर्व एक ही अद्वितीयका अवधारण है। अन्य अधिष्ठाताका अभाव भी प्रतिज्ञा और दृष्टान्तके बाधके अभावसे ही कहा गया है, क्योंकि उपादानकारणसे अन्य अधिष्ठाता स्वीकार किया जाय, तो एकविज्ञानसे सर्वविज्ञानका असंभव होनेसे प्रतिज्ञा और दृष्टान्तका बाध ही हो जायगा। इसलिए अन्य अधिष्ठाताके अभावसे आत्मा कर्ता है और अन्य उपादानके अभावसे आत्मा प्रकृति है * ॥ २३ ॥

आत्मा निमित्तकारण और उपादानकारण कैसे है ?

रत्नप्रभा

मृदादिवद्, इत्याद्यनुमानानाम् आगमबाधमाह—प्रागुत्पत्तेरिति । जगत्कर्तृ ब्रह्मैव इत्यत्रापि सूत्रं योजयति—अधिष्ठात्रन्तरेति ॥ २३ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

सिद्ध करते हैं—"निमित्तत्वम्" इत्यादिसे। ब्रह्म अपनेसे अन्य कर्तासे अधिष्ठेय है, प्रकृति होनेसे, मृत्तिका आदिके समान, इत्यादि अनुमान शास्त्रसे बाधित हैं, ऐसा कहते हैं—"प्रागुत्पत्तेः" इत्यादिसे। जगत्कर्ता ब्रह्म ही है, इसमें भी सूत्रकी योजना करते हैं—"अधिष्ठात्रन्तर" इत्यादिसे ॥ २३ ॥

* यहां यह संशय होता है कि एकविज्ञानसे सर्वविज्ञानको बतलानेवाली श्रुति ब्रह्मको उपादानकारण कैसे सिद्ध कर सकती है ? क्योंकि जैसे लोकमें राजाको देखनेपर अमात्य आदि सब दृष्ट ही हो जाते हैं, ऐसा व्यवहार होता है, उसी प्रकार ब्रह्मज्ञानसे सब कामनाओंकी प्राप्ति होनेसे ब्रह्मके ज्ञानसे सब ज्ञात हो जाता है, ऐसा श्रुतिका अभिप्राय हो सकता है। कार्यकालमें कार्याभिन्नरूपसे कार्यमें अनुवर्तमान द्रव्य ही उपादानकारण होता है, मृत्पिण्ड तो घट आदिकी तरह मृत्का अवस्थाविशेष है, वह घटमें अनुवर्तमान न होनेसे घटका उपादान नहीं हो सकता, इसलिए दृष्टान्त भी नहीं घटता। अतः एकविज्ञानसे सर्वविज्ञानप्रतिज्ञा और आत्मविज्ञानसे सर्वविज्ञानकथनसे ब्रह्ममें उपादानता सिद्ध नहीं हो सकती। इसका उत्तर है—मृत्पिण्ड ही घट बनाया गया है, इस अबाधित प्रतीतिसे मृत्पिण्ड घटका उपादान सिद्ध होता है। घटमें मृत्पिण्डकी अनुवृत्ति न होनेपर भी तदाश्रय द्रव्यकी अनुवृत्ति है। यद्यपि राजाको देखनेसे अमात्य आदि दृष्ट हो जाते हैं, तो भी राजाको सुननेसे, राजाके ज्ञानसे सब श्रुत एवं ज्ञात नहीं हो सकते हैं, अतः वह दृष्टान्त अन्यथासिद्ध है, इससे सिद्ध होता है कि दृष्टान्त एवं एकविज्ञानसे सर्वविज्ञानप्रतिज्ञा ब्रह्मको उपादान सिद्ध करती हैं।

अभिध्योपदेशाच्च ॥ २४ ॥

पदच्छेद—अभिध्योपदेशात्, च ।

पदार्थोक्ति—अभिध्योपदेशाच्च—'सोऽकामयत' इत्यात्मनो ध्यानोपदेशात कर्तृत्वम्, 'बहु स्याम्' इति ध्यानोपदेशात् प्रकृतित्वम् ।

भाषार्थ—श्रुतिमें 'सोऽकामयत' (उसने कामना की) इस प्रकारके ध्यानका उपदेश होनेसे आत्मा कर्ता अर्थात् निमित्तकारण है, 'बहु स्याम्' (मैं बहुत होऊँ) इस प्रकारके ध्यानका उपदेश होनेसे प्रकृति अर्थात् उपादानकारण है ।

भाष्य

अभिध्योपदेशश्चाऽऽत्मनः कर्तृत्वप्रकृतित्वे गमयति 'सोऽकामयत बहु स्यां प्रजायेयेति' 'तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेय' इति च । तत्राऽभिध्यानपूर्विकायाः स्वातन्त्र्यप्रवृत्तेः कर्तेति गम्यते, बहु स्यामिति प्रत्यगात्मविषयत्वाद् बहुभवनाभिध्यानस्य प्रकृतिरित्यपि गम्यते ॥ २४ ॥

भाष्यका अनुवाद

'सोऽकामयत बहु स्यां०' (उसने कामना की कि मैं बहुत होऊँ, प्रजारूपमें उत्पन्न होऊँ) और 'तदैक्षत बहु स्यां०' (उसने विचार किया कि मैं बहुत होऊँ, प्रजारूपमें उत्पन्न होऊँ) इस प्रकार सृष्टिसङ्कल्पके उपदेशसे प्रतीत होता है कि आत्मा निमित्तकारण और उपादानकरण भी है। उसमें सङ्कल्पपूर्वक स्वतंत्र प्रवृत्तिरूप कारणसे आत्मा निमित्तकारण प्रतीत होता है और 'बहु स्याम्' (बहुत होऊँ) इस प्रकार अनेक रूपमें उत्पन्न होनेका संकल्प आत्मा ही करता है, इससे प्रतीत होता है कि वह उपादानकारण भी है ॥ २४ ॥

रत्नप्रभा

एकस्य उभयरूपं कारणत्वम् अविरुद्धमिति सूत्रचतुष्टयेन साधयति—कुतश्चेत्यादिना । अभिध्या—सृष्टिसङ्कल्पः ॥ २४ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

एक ही के निमित्तकारण और उपादानकारण होनेमें कोई विरोध नहीं है, यह चार सूत्रोंसे सिद्ध करते हैं—"कुतश्च" इत्यादिसे ।

अभिध्या—सृष्टिसंकल्प, अप्राप्तकी इच्छा—संकल्प है ॥ २४ ॥

साक्षाच्चोभयाम्नानात् ॥ २५ ॥

पदच्छेद—साक्षात्, च, उभयाम्नानात्।

पदार्थोक्ति—साक्षाच्चोभयाम्नानात्—'सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्याकाशादेव समुत्पद्यन्ते आकाशं प्रत्यस्तं यन्ति' इत्याकाशशब्देन साक्षादेव ब्रह्म गृहीत्वा जगदुत्पत्तिप्रलययोराम्नानात् [ब्रह्म निमित्तप्रकृती]

भाषार्थ—'सर्वाणि ह वा इमानि०' (ये सब भूत आकाशसे ही उत्पन्न होते हैं आकाशमें ही लीन होते हैं) इस प्रकार आकाशशब्दसे ब्रह्मका ग्रहण कर साक्षात् ही जगत्की उत्पत्ति और प्रलय कहे गये हैं। अतः ब्रह्म निमित्तकारण एवं उपादानकारण है।

भाष्य

प्रकृतित्वस्याऽयमभ्युच्चयः। इतश्च प्रकृतिर्ब्रह्म, यत्कारणं साक्षाद् ब्रह्मैव कारणमुपादायोभौ प्रभवप्रलयावाम्नायेते—'सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्याकाशादेव समुत्पद्यन्ते आकाशं प्रत्यस्तं यन्ति' (छा० १।९।१) इति। यद्धि यस्मात् प्रभवति यस्मिंश्च प्रलीयते, तत् तस्योपादानं प्रसिद्धम्। यथा व्रीहियवादीनां पृथिवी। साक्षादिति चोपादानान्तरानुपादानं दर्शयत्याकाशादेवेति। प्रत्यस्तमयश्च नोपादानादन्यत्र कार्यस्य दृष्टः॥ २५ ॥

भाष्यका अनुवाद

ब्रह्म प्रकृति है, इस विषयमें यह दूसरा हेतु है। इससे भी प्रकृति है, क्योंकि 'सर्वाणि ह वा इमानि०' (ये सब भूत आकाशसे उत्पन्न होते हैं और आकाशमें ही लीन होते हैं) इस श्रुतिमें साक्षात् ब्रह्मको ही कारण मान कर सृष्टि और प्रलय कहे गये हैं। यह प्रसिद्ध है कि जो जिससे उत्पन्न होता है और जिसमें लीन होता है, वह उसका उपादान है, जैसे धान, जौं, गेहूँ आदिका पृथिवी उपादान कारण है। श्रुतिस्थ 'आकाशादेव' के एवकारसे सूचित अन्य उपादानके अग्रहणको सूत्रकार साक्षात् पदसे सूचित करते हैं। कार्यका प्रलय भी उपादानसे अन्यमें नहीं दिखाई देता है॥ २५ ॥

रत्नप्रभा

अभ्युच्चयः—हेत्वन्तरम्। आकाशादेव इत्येवकारसूचितम् उपादानान्तरानुपादानम् अग्रहणं साक्षात् इति पदेन सूत्रकारो दर्शयति इति योजना ॥२५॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

अभ्युच्चय—अन्य हेतु। श्रुतिस्थ 'आकाशादेव' के एवकारसे सूचित अन्य उपादानके अग्रहणको सूत्रकार साक्षात् पदसे दिखाते हैं, ऐसी योजना करनी चाहिए॥ २५ ॥

आत्मकृतेः परिणामात् ॥२६ ॥

पदच्छेद—आत्मकृतेः, परिणामात् ।

पदार्थोक्ति—आत्मकृतेः—'तदात्मानं स्वयमकुरुत' इत्यत्र आत्मसम्बन्धिन्याः कृतेः [आम्नानात् ब्रह्म निमित्तम् उपादानं च] परिणामात्—विवर्तात् [सिद्धस्यापि साध्यत्वमिति ब्रह्मणः कृतिकर्मत्वम्] ।

भाषार्थ—'तदात्मानं०' (उसने स्वयं अपना सृष्टिरूपसे निर्माण किया) इस श्रुतिमें आत्मसम्बन्धिनी कृति कही गई है, अतः ब्रह्म निमित्त है और उपादान भी है। सिद्ध वस्तु भी विवर्तरूपसे साध्य हो सकती है, अतः ब्रह्म कृतिका कर्म–विषय होता है।

भाष्य

इतश्च प्रकृतिर्ब्रह्म, यत्कारणं ब्रह्मप्रक्रियायाम् 'तदात्मानं स्वयमकुरुत' (तै० २।७) इत्यात्मनः कर्मत्वं कर्तृत्वं च दर्शयति, आत्मानमिति कर्मत्वम्, स्वयमकुरुतेति कर्तृत्वम् । कथं पुनः पूर्वसिद्धस्य सतः कर्तृत्वेन व्यवस्थितस्य क्रियमाणत्वं शक्यं संपादयितुम् । परिणामादिति ब्रूमः ।

भाष्यका अनुवाद

और इससे भी ब्रह्म प्रकृति है, क्योंकि ब्रह्मप्रक्रियामें 'तदात्मानं०' (उसने आत्माको सृष्टिरूपसे स्वयं रचा) इस श्रुतिमें आत्मा कर्म और कर्ता रूपसे दिखलाया गया है—'आत्मानम्' पदसे कर्म और 'स्वयमकुरुत' से कर्ता कहा गया है। परन्तु पूर्वसिद्ध एवं कर्तारूपसे व्यवस्थित पदार्थ क्रियाका विषय कैसे बनाया जा सकता है ? परिणामसे बनाया जा सकता है, ऐसा हम कहते हैं।

रत्नप्रभा

आत्मसम्बन्धिनी कृतिः आत्मकृतिः, सम्बन्धश्च आत्मनः कृतिं प्रति विषयत्वम् आश्रयत्वञ्च । ननु कृतेः आश्रयः सिद्धो भवति विषयस्तु साध्यः इति एकस्य उभयं विरुद्धम् इत्याशङ्कते—कथं पुनरिति । यथा मृदः साध्यपरिणामाभेदेन कृतिविषयत्वम्, तद्वद् आत्मन इत्याह—परिणामादिति । आत्मानमिति ।

रत्नप्रभाका अनुवाद

आत्मासे संबन्ध रखनेवाली कृति आत्मकृति है। कृतिके प्रति आत्माका संबन्ध तो विषयत्वरूप और आश्रयत्वरूप है अर्थात् आत्मा कृतिका विषय और आश्रय है। सिद्ध पदार्थ कृतिका आश्रय होता है और विषय साध्य होता है, इसलिए एक ही आत्मा कृतिका आश्रय और विषय है, यह विरुद्ध है, ऐसी आशंका करते है—"कथं पुनः" इत्यादिसे। जैसे मृत्तिका साध्य—परिणामसे अभिन्न रहकर कृतिका विषय होती है वैसे ही आत्मा भी कृतिका विषय

भाष्य

पूर्वसिद्धोऽपि हि सन्नात्मा विशेषेण विकारात्मना परिणमयामासाऽऽत्मानमिति। विकारात्मना च परिणामो मृदाद्यासु प्रकृतिषूपलब्धः, स्वयमिति च विशेषणान्निमित्तान्तरानपेक्षत्वमपि प्रतीयते। परिणामादिति वा पृथक् सूत्रम्। तस्यैषोऽर्थः—इतश्च प्रकृतिर्ब्रह्म, यत्कारणं ब्रह्मण एव विकारा-

भाष्यका अनुवाद

आत्मा यद्यपि पूर्वसिद्ध है, तो भी उसने अपनेको विशेषविकाररूपसे परिणत किया[1]। विकाररूपसे परिणाम मृत्तिका आदि उपादानकारणमें देखा जाता है। 'स्वयम्' इस विशेषणसे प्रतीत होता है कि उसे अन्य निमित्तोंकी अपेक्षा नहीं है। अथवा 'परिणामात्' इतना अंश पृथक् सूत्र है। उसका अर्थ यह है—इससे भी ब्रह्म प्रकृति है, क्योंकि 'सच्च त्यच्चाभवत्०' (ब्रह्म ही प्रत्यक्ष और

रत्नप्रभा

अविरोध इति शेषः। सिद्धस्याऽपि साध्यत्वे दृष्टान्तमाह—विकारात्मनेति। ननु ब्रह्मण आत्मानमिति द्वितीयया कार्यात्मना साध्यत्वश्रुत्या अस्तु प्रकृतित्वम्, कर्ता तु अन्योऽस्तु इत्यत आह—स्वयमिति चेति। ब्रह्मणः कृतिकर्मत्वोपपादनार्थं परिणामाद् इति पदं व्याख्याय अन्यथापि व्याचष्टे—पृथक् सूत्रमिति। मृद्घट इतिवद् ब्रह्म सच्च त्यच्चेति परिणामसामानाधिकरण्यश्रुतेः ब्रह्मणः प्रकृति-

रत्नप्रभाका अनुवाद

है, ऐसा कहते हैं—"परिणामात्" इत्यादिसे। "आत्मानम्" इस वाक्यमें 'अविरोधः' (अविरोध है) इतना शेष समझना चाहिए। सिद्ध भी साध्य होता है, इस विषयमें दृष्टान्त कहते हैं—"विकारात्मना" इत्यादिसे। यदि कोई कहे कि 'आत्मानम्' इस द्वितीयासे ब्रह्म कार्यरूपसे साध्य होता है, ऐसा श्रुति कहती है, इससे ब्रह्म प्रकृति हो, कर्ता तो अन्य होना चाहिए, इसपर कहते हैं—"स्वयमिति च" इत्यादि। ब्रह्म कृतिविषय है, इसके उपपादनके लिए 'परिणामात्' इस पदका व्याख्यान करके अब अन्य प्रकारसे व्याख्यान करते हैं—"पृथक् सूत्रम्" इत्यादिसे। आशय यह कि 'मृद्घटः' (घट मृत्तिका है) इसके समान 'ब्रह्म सच्च त्यच्च' इस प्रकार ब्रह्मका परिणाम (जगत्) के साथ सामानाधिकरण्य श्रुतिमें कहा गया है, इससे ब्रह्म

(१) यहां शंका हो सकती है कि आत्मा कूटस्थ, अचल, अविकार है, ऐसा श्रुतिसे प्रतिपादित है, तो यहां आत्माका परिणाम कैसे स्वीकार किया जा रहा है। यह युक्त नहीं है, क्योंकि श्रुतिमें विकार मिथ्या कहा गया है, इसलिए विकारके मिथ्या होनेसे आत्माको निर्विकार कहनेवाली श्रुतियोंसे कोई विरोध नहीं है, क्योंकि परिणामशब्द यहां विवर्तपरक है।

भाष्य

त्मनाऽयं परिणामः सामानाधिकरण्येनाऽऽम्नायते 'सच्च त्यच्चाभवत्। निरुक्तं चानिरुक्तं च' (तै० २।६) इत्यादिनेति ॥ २६ ॥

भाष्यका अनुवाद

परोक्ष, निर्वचन करने योग्य, निर्वचन करने अयोग्य सब पदार्थ हुआ) इत्यादिसे श्रुति ब्रह्मका ही विकारात्मामें परिणाम सामानाधिकरण्यसे दिखलाती है ॥२६॥

रत्नप्रभा

त्वमित्यर्थः । सत्—प्रत्यक्षं भूतत्रयम् । त्यत्—परोक्षं भूतद्वयम्, निरुक्तम्—वक्तुं शक्यं घटादि, अनिरुक्तम्—वक्तुमशक्यं कपोतरूपादिकं च ब्रह्मैव अभवदित्यर्थः । अत्र सूत्रे परिणामशब्दः कार्यमात्रपरः, न तु सत्यकार्यात्मकपरिणामपरः तदनन्यत्वमिति विवर्तवादस्य वक्ष्यमाणत्वात् ॥ २६ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

उपादानकारण है। सत्—प्रत्यक्ष तीन भूत—पृथिवी, जल और तेज, त्यत्-परोक्ष दो भूत-वायु और आकाश, निरुक्त—यह ऐसा, ऐसे निर्वचनके योग्य घट आदि, अनिरुक्त कहनेके अशक्य कपोतरूप आदि भी ब्रह्म ही हुआ, ऐसा अर्थ है। इस सूत्रमें परिणामशब्द कार्यमात्रवाचक है, सत्य कार्यात्मक परिणाम-वाचक नहीं है, क्योंकि 'तदनन्यत्वम्' इत्यादिसे विवर्तवाद कहा जानेवाला है ॥ २६ ॥

योनिश्च हि गीयते ॥ २७ ॥

पदच्छेद—योनिः, च, हि, गीयते ।

पदार्थोक्ति—हि—यस्माद्, योनिश्च—योनिरित्यपि गीयते—'यद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति' इत्यत्र प्रकृतिवाचकयोनिशब्देनात्मा कथ्यते [तस्मात् ब्रह्म प्रकृतिरपि]।

भाषार्थ—चूंकि 'यद्भूतयोनिं०' (धीर पुरुष जिसे भूतयोनि समझते हैं) इस श्रुतिमें प्रकृतिवाचक योनिशब्दसे आत्मा कहा गया है, इसलिए ब्रह्म उपादान-कारण भी है।

भाष्य

इतश्च प्रकृतिर्ब्रह्म, यत्कारणं ब्रह्म योनिरित्यपि पठ्यते वेदान्तेषु 'कर्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम्' (मु० ३।१।३) इति, 'यद्भूतयोनिं परि-

भाष्यका अनुवाद

और इससे भी ब्रह्म प्रकृति है, क्योंकि वह 'कर्तारमीशं०' (कर्ता, ईश, पुरुष, ब्रह्म और योनिको धीर पुरुष ध्यानसे देखते हैं) और 'यद्भूतयोनिं०' (जिसको

भाष्य

पश्यन्ति धीराः' (मु० १।१।६) इति च । योनिशब्दश्च प्रकृतिवचनः समधिगतो लोके 'पृथिवी योनिरोषधिवनस्पतीनाम्' इति । स्त्रीयोनेरप्यस्त्येवाऽवयवद्वारेण गर्भं प्रत्युपादानकारणत्वम् । क्वचित् स्थानवचनोऽपि योनिशब्दो दृष्टः—योनिष्ट इन्द्र निषदे अकारि' (ऋ० सं० १।१०४।१) इति । वाक्यशेषात् त्वत्र प्रकृतिवचनता परिगृह्यते 'यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च' (मु० १।१।७) इत्येवंजातीयकात् । तदेवं प्रकृतित्वं

भाष्यका अनुवाद

विद्वान् भूतयोनि जानते हैं) इस प्रकार वेदान्तोंमें योनि कहा गया है। 'पृथिवी योनि०' (ओषधि और वनस्पतियोंकी योनि पृथिवी है) इत्यादि स्थलोंमें देखा जाता है कि व्यवहारमें योनिशब्द प्रकृतिवाचक माना जाता है। स्त्रीकी योनिमें भी अपने अवयव—शोणित द्वारा गर्भके प्रति उपादान कारणता है ही। 'योनिष्ट इन्द्र०' (हे इन्द्र ! तुम्हारे बैठनेके लिए मैंने स्थान बनाया है) इत्यादि किसी-किसी स्थलमें योनिशब्द स्थानवाचक भी है। और 'यथोर्णनाभिः०' (जैसे मकड़ी उत्पन्न करती है और ग्रहण करती है) इस प्रकारके वाक्य-

---

रत्नप्रभा

योनिशब्दाच्च प्रकृतित्वम् इत्याह—योनिश्चेति । कर्तारम्—क्रियाशक्तिमन्तम्, ईशम्—नियन्तारम्, पुरुषम्—प्रत्यञ्चम्, ब्रह्म—पूर्णम्, योनिम्—प्रकृतिम्, धीरा ध्यानेन पश्यन्ति इत्यर्थः । ननु अनुपादानेऽपि स्त्रीयोनौ योनिशब्दो दृष्ट इत्यत आह—स्त्रीयोनेरिति । शोणितम् अवयवशब्दार्थः । योनिशब्दस्य स्थानमपि अर्थो भवति सोऽत्र भूतयोन्यादिशब्दैः न ग्राह्यः, ऊर्णनाभ्यादिप्रकृतदृष्टान्तवाक्यशेषविरोधाद् इत्याह—क्वचिदिति । हे इन्द्र ते—तव निषदे—उपवेशनाय योनिः—स्थानं मया अकारि—कृतमित्यर्थः । पूर्वपक्षोक्तानुमानानि

रत्नप्रभाका अनुवाद

और योनिशब्दसे भी ब्रह्म प्रकृति है, ऐसा कहते हैं—"योनिश्च" इत्यादिसे । कर्तारम्—क्रियाशक्तिवाले, ईशम्—नियन्ता, पुरुषम्—प्रत्यक्, ब्रह्म-पूर्णको योनि—उपादानकारण धीर पुरुष ध्यानसे देखते हैं । यदि कोई कहे कि स्त्रीकी योनिमें भी जो कि उपादानकारण नहीं है, योनिशब्दका प्रयोग देखा जाता है, इसपर कहते हैं—"स्त्रीयोनेः" इत्यादिसे । अवयवशब्दका अर्थ रक्त है । योनिशब्दका अर्थ स्थान भी होता है, 'भूतयोनि' इत्यादि शब्दमें वह अर्थ ग्राह्य नहीं है, क्योंकि ऊर्णनाभि आदि प्रकृत दृष्टान्तप्रतिपादक वाक्यशेषसे विरोध है, ऐसा कहते हैं—"क्वचित्" इत्यादिसे । हे इन्द्र ! तुम्हारे बैठनेके लिए मैंने स्थान बनाया है, ऐसा अर्थ है । पूर्वपक्षी द्वारा कहे गये अनुमानोंका अनुवाद करके आगमसे उनका बाध कहते हैं—

भाष्य

ब्रह्मणः प्रसिद्धम् । यत्पुनरिदमुक्तम्—ईक्षापूर्वकं कर्तृत्वं निमित्तकारणेष्वेव कुलालादिषु लोके दृष्टं नोपादानेषु इत्यादि, तत् प्रत्युच्यते—न लोकवदिह भवितव्यम्, नह्ययमनुमानगम्योऽर्थः । शब्दगम्यत्वात् त्वस्याऽर्थस्य यथाशब्दमिह भवितव्यम् । शब्दश्चेक्षितुरीश्वरस्य प्रकृतित्वं प्रतिपादयतीत्यवोचाम । पुनश्चैतत् सर्वं विस्तरेण प्रतिवक्ष्यामः ॥ २७ ॥

भाष्यका अनुवाद

शेषसे यहां योनिशब्द प्रकृतिवाचक लिया जाता है। इस प्रकार ब्रह्म प्रकृति है, यह सिद्ध होता है। और ईक्षापूर्वक कर्तृत्व लोकमें कुम्हार आदि निमित्त कारणोंमें ही देखा जाता है, उपादानमें नहीं देखा जाता, इत्यादि जो पीछे कहा गया है, उसका निराकरण करते हैं—यहां लोकके समान न होना चाहिए, क्योंकि यह अर्थ अनुमानगम्य नहीं है, किन्तु शब्दगम्य है इससे शब्दके अनुसार ही अर्थ होना चाहिए। शब्द तो यह प्रतिपादन करता है कि ईक्षण करनेवाला ईश्वर प्रकृति है, ऐसा हम कह चुके हैं। और यह सब विस्तारसे आगे भी कहेंगे ॥ २७ ॥

रत्नप्रभा

अनूद्याऽऽगमबाधमाह—यत्पुनरित्यादिना । ननु अनुमानस्य श्रुत्यनपेक्षत्वान्न तया बाध इत्यत आह—नहीति । जगत्कर्ता पक्षः श्रुत्यैव सिद्ध्यति, या कृतिः सा शरीरजन्येति व्याप्तिविरोधेन नित्यकृतिमतोऽनुमानासम्भवाद् अतः श्रौतमीश्वरम् पक्षीकृत्याऽनुपादानत्वसाधने भवत्येव उपजीव्यया प्रकृतित्वबोधकश्रुत्या बाध इत्यर्थः । यदुक्तं विलक्षणत्वाद् ब्रह्मणो न जगदुपादानत्वमिति, तत्राह—पुनश्चेति । "न विलक्षणत्वादस्य तथात्वं च शब्दाद्" (ब्र० सू० २।१।४) इत्यारभ्य इत्यर्थः । अत उभयरूपं कारणत्वं ब्रह्मणो लक्षणमिति सिद्धम् ॥ २७ ॥ (७) ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

"यत्पुनः" इत्यादिसे। यदि कोई कहे कि अनुमान श्रुतिकी अपेक्षा नहीं रखता है, इसलिए उसका श्रुतिसे बाध नहीं होता, इसपर कहते हैं—"नहि" इत्यादि। आशय यह है कि जगत्कर्तारूप पक्ष श्रुतिसे ही सिद्ध होता है क्योंकि जो कार्य है, वह शरीरजन्य है, इस व्याप्तिसे विरोध होनेके कारण अनुमानसे नित्य कृतिमान्‌की सिद्धि नहीं हो सकती, इससे श्रुतिप्रतिपादित ईश्वरको पक्ष करके उसमें अनुपादानत्वके अनुमानका उपजीव्य प्रकृतित्वबोधक श्रुतिसे बाध होता है। यह जो कहा है कि विलक्षण होनेसे ब्रह्म जगत्‌का उपादानकारण नहीं हो सकता है, इसपर कहते हैं—"पुनश्च" इत्यादिसे। 'न विलक्षणत्वादस्य०' सूत्रसे आरंभ करके ऐसा अर्थ है। इससे सिद्ध हुआ कि उपादानकारणत्व एवं निमित्तकारणत्व ब्रह्मका लक्षण है ॥ २७ ॥

[८ सर्वव्याख्यानाधिकरण सू० २८]

अण्वादेरपि हेतुत्वं श्रुतं ब्रह्मण एव वा ।
वटधानादिदृष्टान्तादण्वादेरपि तच्छ्रुतम् ॥१॥
शून्याण्वादिष्वेकबुद्ध्या सर्वबुद्धिर्न युज्यते ।
स्युर्ब्रह्मण्यपि धानाद्यास्ततो ब्रह्मैव कारणम्* ॥२॥

[अधिकरणसार]

सन्देह—श्रुतिमें जगत्कारण अणु आदि भी कहे गये हैं या केवल ब्रह्म ही जगत्कारण कहा गया है ।

पूर्वपक्ष—श्रुतिमें वटबीज आदि दृष्टान्तरूपसे कहे गये हैं, इससे प्रतीत होता है कि अणु आदि भी जगत्कारण कहे गये हैं ।

सिद्धान्त—एकविज्ञानसे सर्वविज्ञान शून्यवाद, अणुवाद आदिमें उपपन्न नहीं हो सकता है । वटबीज आदि दृष्टान्त ब्रह्मके भी हो सकते हैं, इसलिए ब्रह्म ही जत्कारण है ।

---

* तात्पर्य यह है—इस अधिकरणके विषय वेदान्त हैं । वेदान्तोंमें संशय होता है कि ब्रह्मके समान परमाणु, शून्य आदिमें भी कारणत्व कहा गया है अथवा सर्वत्र केवल ब्रह्म ही कारण कहा गया है ।

पूर्वपक्षी कहता है कि श्रुतिमें अणु आदि भी कारण कहे गये हैं, क्योंकि वटबीज आदि दृष्टान्तरूपसे कहे गये हैं । छान्दोग्यके छठे अध्यायमें श्वेतकेतुके प्रति उपदेश देते हुए उद्दालकने सूक्ष्मतत्त्वमें स्थूल जगत्के अन्तर्भावका प्रतिपादन करनेके लिए महावृक्षगर्भित वटबीज दृष्टान्तरूपसे कहे हैं, इसलिए महाकार्यगर्भित परमाणु दार्ष्टान्तिकरूपसे श्रुतिमें कहे गये हैं । "असद्वा इदमग्र आसीत्" (यह सारा जगत् उत्पत्तिके पूर्वमें असत् ही था) यह श्रुति साक्षात् ही असत्को जगत्-कारण बतलाती है । "स्वभावमेके कवयो वदन्ति कालं तथाऽन्ये" (कुछ लोग स्वभावको जगत्कारण कहते हैं, अन्य कुछ लोग समयको जगत्कारण कहते हैं) इस प्रकार श्रुतिमें स्वभाव तथा काल जगत्कारण कहे गये हैं । इसलिए परमाणु आदिमें जगत्कारणत्व श्रुतिसिद्ध ही है ।

सिद्धान्ती कहते हैं कि एकविज्ञानसे सर्वविज्ञान शून्य आदि मतोंमें उपपन्न नहीं होता है, क्योंकि ब्रह्मके शून्य आदिसे उत्पन्न न होनेके कारण शून्यके ज्ञानसे ब्रह्मका ज्ञान नहीं हो सकता है । वटबीज दृष्टान्त तो ब्रह्मके इन्द्रियागोचर होनेसे सूक्ष्म होनेके कारण ब्रह्मविषयक भी हो सकता है । असत् शब्दका अर्थ नाम रूपसे व्याकार न पाया हुआ है, ऐसा इस पादके चतुर्थ अधिकरणमें कह चुके हैं । श्रुतिमें स्वभावपक्ष और कालपक्ष पूर्वपक्षरूपसे कहे गये हैं । इससे सिद्ध होता है कि श्रुत्युक्त जगत्कारण ब्रह्म ही है, परमाणु आदि नहीं है ।

एतेन सर्वे व्याख्याता व्याख्याताः ॥ २८ ॥

पदच्छेद—एतेन, सर्वे, व्याख्याताः, व्याख्याताः ।

पदार्थोक्ति—एतेन—प्रधाननिराकरणेन, सर्वे—अण्वसत्स्वभावादिकारणवादाः, व्याख्याताः—निराकृतत्वेन व्याख्याताः । व्याख्याता इति पदाभ्यासोऽध्यायपरिसमाप्त्यर्थः ।

भाषार्थ—प्रधानकारणवादके निराकरणसे अणु, असत् स्वभाव आदिको जगत्‌के कारण माननेवालोंके मत भी निराकृत समझने चाहिएँ । 'व्याख्याताः' इस पदका अभ्यास अध्यायसमाप्तिका द्योतक है ।

भाष्य

'ईक्षतेर्नाशब्दम्'' (ब्र० सू० १।१।५) इत्यारभ्य प्रधानकारणवादः सूत्रैरेव पुनः पुनराशङ्क्य निराकृतः, तस्य हि पक्षस्योपोद्बलकानि कानिचिल्लिङ्गाभासानि वेदान्तेष्वापातेन मन्दमतीन् प्रतिभान्तीति । स च कार्यकारणानन्यत्वाभ्युपगमात् प्रत्यासन्नो वेदान्तवादस्य । देवलप्रभृतिभिश्च कैश्चिद् धर्मसूत्रकारैः स्वग्रन्थेष्वाश्रितः, तेन तत्प्रतिषेधे यत्नोऽतीव कृतो

भाष्यका अनुवाद

'ईक्षतेर्नाशब्दम्' सूत्रसे लेकर सूत्रों द्वारा ही बारंबार आशंका करके प्रधान कारणवादका निराकरण किया गया, क्योंकि मन्दमतियोंको उस पक्षके पोषक कुछ लिंगाभास वेदान्तोंमें साधारणरूपसे प्रतीत होते हैं । वह वाद कार्यकारणका अभेद स्वीकार करता है, इससे वेदान्तवादके अत्यन्त निकटवर्ती है । और देवल आदि कुछ धर्मसूत्रकारोंने अपने ग्रन्थोंमें उसको अवकाश दिया है । इसलिए उसके निराकरणके लिए बहुत यत्न किया गया, परन्तु

रत्नप्रभा

एतेन सर्वे व्याख्याता व्याख्याताः । अस्य अतिदेशाधिकरणस्य तात्पर्यं वक्तुं वृत्तमनुवदति—ईक्षतेरिति । प्रधानवादस्य प्राधान्येन निराकरणे हेतुमाह—तस्य हीत्यादिना । तर्हि अण्वादिवादा उपेक्षणीया दुर्बलत्वादित्यत आह—

रत्नप्रभाका अनुवाद

इस अतिदेश अधिकरणका तात्पर्य कहनेके लिए वृत्तका अनुवाद करते हैं—''ईक्षतेः'' इत्यादिसे । प्रधानवादका प्रधानतासे निराकरण करनेमें हेतु कहते हैं—''तस्य हि'' इत्यादिसे । तब अणु आदि वादोंकी उपेक्षा करनी चाहिए, क्योंकि वे दुर्बल हैं, इसपर कहते हैं—''तेपि तु''

भाष्य

नाण्वादिकारणवादप्रतिषेधे । तेऽपि तु ब्रह्मकारणवादपक्षस्य प्रतिपक्षत्वात् प्रतिषेद्धव्याः । तेषामप्युपोद्बलकं वैदिकं किंचिल्लिङ्गमापातेन मन्दमतीन् प्रतिभायादिति । अतः प्रधानमल्लनिबर्हणन्यायेनाऽतिदिशति—एतेन प्रधानकारणवादप्रतिषेधन्यायकलापेन सर्वेऽण्वादिकारणवादा अपि प्रति-

भाष्यका अनुवाद

अणु आदि कारणवादके प्रतिषेधके लिए प्रयत्न नहीं किया गया। ब्रह्म कारणवादपक्षके प्रतिपक्षी होनेसे उनका भी प्रतिषेध करना चाहिए, क्योंकि कुछ वैदिक लिङ्ग मन्दमतियोंको आपाततः उनके पोषक प्रतीत हो सकते हैं। इसलिए प्रधानमल्लनिबर्हणन्यायसे अतिदेश करते हैं—इससे अर्थात् प्रधानकरणवादके

रत्नप्रभा

तेऽपि त्विति । निर्मूलास्ते कथं प्रतिपक्षा इत्यत आह—तेषामिति । तथाहि छान्दोग्ये जगत्कारणत्वज्ञापनार्थं पिता पुत्रमुवाच—आसां वटधानानां मध्ये एकां मिन्धीति, भिन्ना भगव इत्युवाच पुत्रः, पुनः पित्रा किमत्र पश्यसि इत्युक्ते, न किञ्चन भगव इत्याह, तत्र पित्राऽणिमानं न पश्यसि इत्युक्तम्, तथा च न किञ्चन शब्दात् शून्यस्वभाववादौ प्रतीयेते, अणुशब्दात् परमाणुवाद इति । एवम् "असदेवेदमग्र आसीद्" (छा० ३।१९।१) "अणोरणीयान्" (क० २।२०) इत्यादि लिङ्गं द्रष्टव्यम् । अत्र अण्वादिवादाः श्रौता न वेति संशये सति असदण्वादिशब्दबलात् श्रौता इति प्राप्तेऽतिदिशति—एतेनेति । अस्य अतिदेशत्वाद् न पृथक् सङ्गत्याद्यपेक्षा । नकिञ्चनाऽसच्छब्दयोः प्रत्यक्षायोग्यवस्तुपरत्वाद्

रत्नप्रभाका अनुवाद

इत्यादि । यदि कोई कहे कि वे वाद यदि निमूल हैं, तो प्रतिपक्ष किस प्रकार हो सकते हैं, इसपर कहते हैं—"तेषाम्" इत्यादि । क्योंकि छान्दोग्यमें जगत्के कारणको समझानेके लिए पिताने पुत्रसे कहा—इस वड़के फलके बीजोंमेंसे एक बीजको तोड़ो, पुत्रने कहा—हे भगवन् ! तोड़ लिया, फिर पिताने कहा—उसमें क्या देखते हो ? पुत्रने कहा–हे भगवन् ! 'न किञ्चन'—कुछ नहीं, पीछे पिताने कहा–अणिमाको नहीं देखते ? इसमें 'न किञ्चन' शब्दसे शून्यवाद और स्वभाववादकी प्रतीति होती है और अणुशब्दसे परमाणुवाद प्रतीत होता है । इसी प्रकार 'असदेवेदमग्र०' (सृष्टिके पहले यह असत् ही था) 'अणोरणीयान्' (अणुसे भी अणु) इत्यादि लिंग समझने चाहिएँ । अणु आदि वाद श्रुतिसंगत हैं या नहीं, ऐसा संशय होनेपर श्रुतिमें असत्, अणु आदि पद हैं, इसलिए श्रौत हैं, ऐसा प्राप्त होनेसे अतिदेश करते हैं—"एतेन" इत्यादिसे । यह अतिदेश सूत्र है, अतः इसकी पृथक् संगति आदि कहनेकी अपेक्षा

भाष्य

पिद्धतया व्याख्याता वेदितव्याः । तेषामपि प्रधानवदशब्दत्वाच्छब्द-विरोधित्वाच्चेति । व्याख्याता व्याख्याता इति पदाभ्यासोऽध्यायपरि-समाप्तिं द्योतयति ॥२८ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमच्छङ्करभगवत्पूज्यपादकृतौ शारी-रकमीमांसाभाष्ये प्रथमाध्यायस्य चतुर्थः पादः समाप्तः ॥ ४ ॥

इति श्रीमद्ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्ये समन्वयाख्यः प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

भाष्यका अनुवाद

निषेधक न्यायोंसे सब अणु आदि कारणवाद भी निराकृत समझने चाहिएँ, क्योंकि वे भी प्रधानके समान अशब्द और शब्दविरुद्ध हैं । 'व्याख्याता व्या-ख्याताः' इस प्रकार पदका अभ्यास अध्यायकी समाप्तिका सूचक है ॥ २८ ॥

यतिवर श्रीभोलेबाबा कृत प्रथम अध्यायके चतुर्थपादके भाष्यका अनुवाद समाप्त ।

रत्नप्रभा

अणुशब्दस्य सूक्ष्माभिप्रायत्वाद् अशब्दत्वम्, तेषां वादानां प्रधानवादवद् अश्रौतत्वम् ब्रह्मकारणश्रुतिबाधितत्वञ्च, तस्माद् ब्रह्मैव परमकारणम् । तस्मिन्नेव सर्वेषां वेदान्ता-नां समन्वय इति सिद्धम् ॥ १ ॥ ४ ॥ २८ ॥ (८) ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमद्गोपालसरस्वतीपूज्यपादशिष्य-श्रीरामानन्दभगवत्पादकृतौ शारीरकमीमांसादर्शन-भाष्यव्याख्यायां भाष्यरत्नप्रभायां प्रथमाध्यायस्य चतुर्थः पादः समाप्तः ॥ १ ॥ ४ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

नहीं है । 'न किञ्चन' और 'असत्' शब्द प्रत्यक्षके अयोग्य वस्तुके प्रतिपादक हैं और अणुशब्द सूक्ष्मपरक है, इसलिए 'अणु' आदि श्रुतिप्रतिपादित नहीं हैं और ये वाद प्रधानवादके समान अश्रौत हैं और ब्रह्म कारण है, ऐसा प्रतिपादन करनेवाली श्रुतिसे बाधित हैं, इसलिए ब्रह्म ही परम कारण है और उसमें ही सब वेदान्तोंका समन्वय है, यह सिद्ध हुआ ॥२८॥

यतिवर श्रीभोलेबाबा कृत प्रथमाध्यायके चतुर्थ पादका रत्नप्रभानुवाद समाप्त ।

ॐ

ब्रह्मसूत्र

[शाङ्करभाष्य-रत्नप्रभा-भाषानुवादसहित]

द्वितीयोऽध्यायः ।

(*द्वितीये अविरोधाख्याध्याये प्रथमपादे साङ्ख्ययोगकाणादादिस्मृतिभिः साङ्ख्यादिप्रयुक्ततर्कैश्च वेदान्तसमन्वयविरोधपरिहारः*)

[१ स्मृत्यधिकरण सू० १—२]

साङ्ख्यस्मृत्याऽस्ति संकोचो न वा वेदसमन्वये । धर्मे वेदः सावकाशः संकोचोनवकाशया ॥
प्रत्यक्षश्रुतिमूलाभिर्मन्वादिस्मृतिभिः स्मृतिः। अमूला कापिली बाध्या न संकोचोनया ततः॥

[अधिकरणसार]

सन्देह—वेदसमन्वयका सांख्यस्मृतिसे संकोच होता है या नहीं ?

पूर्वपक्ष—वेद धर्ममें सावकाश है, अतः निरवकाश सांख्यस्मृतिसे वेदका संकोच होना युक्त है ।

सिद्धान्त—प्रत्यक्ष श्रुतिमूलक मनु आदि स्मृतियोंसे मूलश्रुतिरहित कापिल स्मृतिका बाध होता है, इसलिए सांख्यस्मृतिसे वेदका संकोच युक्त नहीं है ।

तात्पर्य यह है कि इस पादके सब अधिकरणोंका पूर्वाध्यायमें वर्णित समन्वय विषय है । यहांपर सन्देह किया जाता है कि उक्त वेदसमन्वयका सांख्यस्मृतिसे संकोच होता है या नहीं ?

पूर्वपक्षी कहता है कि संकोच होना युक्त है, क्योंकि सांख्यस्मृति निरवकाश होनेसे प्रबल है । सांख्यस्मृति केवल वस्तुतत्त्वका निरूपण करनेके लिए ही प्रवृत्त हुई है, कहींपर भी अनुष्ठेय धर्मका प्रतिपादन नहीं करती है । यदि वह वस्तुतत्त्व प्रतिपादनमें भी बाधित हो जाय तो निरवकाश हो जायगी । वेद धर्म और ब्रह्म दोनोंका निरूपण करता है । ब्रह्मके विषयमें बाधित होनेपर भी धर्ममें वह सावकाश है । इसलिए निरवकाश स्मृतिसे सावकाश वेदका संकोच होना ठीक है ।

सिद्धान्ती कहते हैं कि सांख्यस्मृति ब्रह्मको जगत्कारण माननेवाली मनु आदि स्मृतियोंसे बाधित है । मनु आदि स्मृतियाँ प्रत्यक्षवेदमूलक होनेसे प्रबल हैं । प्रधानको जगत्का कारण माननेवाली सांख्यस्मृतिकी मूलभूत कोई श्रुति नहीं दिखाई देती है, क्योंकि परिदृश्यमान वेदवाक्य ब्रह्मपरक हैं, ऐसा पहले ही निर्णय किया जा चुका है । इसलिए सांख्यस्मृतिसे वेदका संकोच होना ठीक नहीं है ।

भाष्य

प्रथमेऽध्याये सर्वज्ञः सर्वेश्वरो जगत उत्पत्तिकारणं मृत्सुवर्णादय इव घटरुचकादीनाम्, उत्पन्नस्य जगतो नियन्तृत्वेन स्थितिकारणम्,

भाष्यका अनुवाद

जैसे मृत्तिका सुवर्ण आदि घट, रुचक आदिके कारण हैं, वैसे ही सर्वज्ञ, सर्वेश्वर जगत् की उत्पत्तिका कारण है, जैसे मायावी मायाका नियन्तारूपसे स्थितिकारण है, वैसे ही सर्वज्ञ सर्वेश्वर नियन्तारूपसे उत्पन्न हुए जगत्का

रत्नप्रभा

सच्चिदानन्दरूपाय कृष्णायाऽक्लिष्टकारिणे ।
नमो वेदान्तवेद्याय गुरवे बुद्धिसाक्षिणे ॥ १ ॥
साङ्ख्यादिस्मृतियुक्तिभिर्न चलितो वेदान्तसिद्धान्तगो
निर्मूलैर्विविधागमैरविदितो व्योमादिजन्माप्ययः ।
उत्पत्त्यन्तविवर्जितश्चितिवपुर्व्यापी च कर्तांशको
लिङ्गेन प्रथितोऽपि नामतनुकृत् तं जानकीशं भजे ॥ २ ॥

"नामरूपे व्याकरवाणि" इति श्रुतेः नामतनुकृदपि संज्ञामूर्तिव्याकर्ताऽपि लिङ्गशरीरोपाधिना कर्तेति अंश इति च प्रथितः प्रसिद्धो यः तं प्रत्यगभिन्नं परमात्मानं मूलप्रकृतिनियन्तारं भजे इत्यर्थः । स्मृतिप्रसङ्गात् पूर्वोत्तराध्याययोः विषयविषयिभावसङ्गतिं वक्तुं वृत्तं कीर्तयति—प्रथमेऽध्याय इति । जन्मादिसूत्रमारभ्य जगदुत्पत्त्यादिकारणं ब्रह्मेति प्रतिपादितम्, "शास्त्रदृष्ट्या तूपदेशो वामदेववत्"

रत्नप्रभाका अनुवाद

केवल उपनिषदोंसे ज्ञात होनेवाले, बुद्धिके साक्षी, सुखदायक, अन्धकारनिवर्तक, सच्चिदानन्दस्वरूप कृष्णके लिए प्रणाम है ॥१॥

सांख्य आदि स्मृतियाँ और युक्तियाँ जिसके स्वरूपको अन्यथा नहीं कर सकतीं, जो केवल वेदान्तसिद्धान्तसे ज्ञात होता है, अनेक प्रकारके अवैदिक शास्त्र जिसका प्रतिपादन नहीं कर सकते, आकाश आदि जगत्के जन्म और नाशका हेतु, जन्म-मरणरहित, ज्ञानस्वरूप, व्यापक, 'नामरूपे व्याकरणवाणि' इस श्रुतिके अनुसार स्वयं नाम और रूपका स्पष्टीकरण करनेवाला होनेपर भी लिङ्गशरीररूप उपाधिसे कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदिसे विशिष्ट और परमात्माके अंशके समान भासनेवाले, मूलप्रकृतिके नियन्ता प्रत्यगभिन्न उस परमात्माको मैं नमस्कार करता हूँ ॥२॥

पूर्व और उत्तर अध्यायका विषयविषयिभाव संबन्ध दिखलानेके लिए पूर्वोक्तका अनुवाद करते हैं—"प्रथमेऽध्याये" इत्यादिसे । जन्मादि सूत्रसे लेकर ब्रह्म जगत्की उत्पत्ति आदिका कारण है, ऐसा प्रतिपादन किया जा चुका है, 'शास्त्र-दृष्ट्या०' इत्यादि सूत्रोंसे वही अद्वितीय ब्रह्म

भाष्य

मायावीव मायायाः। प्रसारितस्य जगतः पुनः स्वात्मन्येवोपसंहारकारणम् अवनिरिव चतुर्विधस्य भूतग्रामस्य। स एव च सर्वेषां न आत्मेत्येतद् वेदान्तवाक्यसमन्वयप्रतिपादनेन प्रतिपादितम्। प्रधानादिकारणवादा-श्चाऽशब्दत्वेन निराकृताः। इदानीं स्वपक्षे स्मृतिन्यायविरोधपरिहारः,

भाष्यका अनुवाद

स्थितिकारण है और जैसे पृथिवी जरायुज आदि चार प्रकारके प्राणियोंका अपनेमें उपसंहार कर लेती है, वैसे ही सर्वज्ञ सर्वेश्वर विस्तृत जगत्का अपनेमें उपसंहार कर लेता है, इसलिए उपसंहारकारण है। वही (सर्वज्ञ सर्वेश्वर) हम सबका आत्मा है, ऐसा प्रथम अध्यायमें वेदान्तवाक्योंके समन्वय-प्रतिपादनद्वारा कहा जा चुका है और प्रधान आदिको जगत्कारण माननेवालोंके मतका, श्रुतिमें प्रतिपादन न होनेसे, खण्डन किया गया है। अब अपने पक्षमें स्मृति और

रत्नप्रभा

(ब्र० सू० १।१।३१) इत्यादिसूत्रेषु, स एव अद्वितीयः सर्वात्मा इत्युक्तम्, "आनुमानिकमप्येकेषाम्" (ब्र० सू० १।४।१) इत्यादिना कारणान्तरस्य अश्रौतत्वं दर्शितमित्यर्थः। एवं प्रथमाध्यायस्य अर्थमनूद्य तस्मिन् विषये विरोध-परिहारविषयिणं द्वितीयाध्यायस्य अर्थं पादशः संक्षिप्य कथयति—इदानीमिति। अत्र प्रथमपादे समन्वयस्य साङ्ख्यादिस्मृतियुक्तिभिः विरोधपरिहारः क्रियते। द्वितीयपादे सांख्याद्यागमानां भ्रान्तिमूलत्वम् अविरोधाय कथ्यते। तृतीये पादे प्रतिवेदान्तं सृष्टिश्रुतीनां जीवात्मश्रुतीनां च व्योमादिमहाभूतानां जन्मलयक्रमादिकथनेन अविरोधः प्रतिपाद्यते। चतुर्थपादे लिङ्गशरीरश्रुतीनाम्

रत्नप्रभाका अनुवाद

सबका आत्मा है, ऐसा प्रतिपादन किया गया है और 'आनुमानिक०' इत्यादिसे ब्रह्मभिन्न कारण श्रुतिप्रतिपादित नहीं हैं, ऐसा दिखलाया गया है। इस प्रकार प्रथम अध्यायके अर्थका अनुवाद करके उसी अर्थके विरोधका परिहार करनेवाले द्वितीय अध्यायके अर्थका पादके क्रमानुसार संक्षेपसे वर्णन करते हैं—"इदानीम्" इत्यादिसे। श्रुतियोंका जो ब्रह्ममें समन्वय किया गया है उसमें सांख्य आदि स्मृतियों और युक्तियोंसे जो विरोध उपस्थित होता है, उसका इस अध्यायके प्रथम पादमें परिहार करते हैं। द्वितीय पादमें अविरोध दिखलानेके लिए सांख्य आदि शास्त्र भ्रान्तिमूलक हैं, ऐसा प्रतिपादन किया है। तृतीय पादमें प्रतिवेदान्तमें सृष्टिश्रुतियाँ और जीवात्मश्रुतियाँ व्योम आदि भूतोंका जन्म, लयक्रम आदि कहती हैं, इससे उनका अविरोध है, ऐसा दिखलाया है। इसके चतुर्थ पादमें लिङ्गशरीरश्रुतियोंका अविरोध प्रतिपादन किया है।

भाष्य

प्रधानादिवादानां च न्यायाभासोपबृंहितत्वम्, प्रतिवेदान्तं च सृष्ट्यादिप्रक्रियाया अविगीतत्वमित्यस्याऽर्थजातस्य प्रतिपादनाय द्वितीयोऽध्याय आरभ्यते। तत्र प्रथमं तावत् स्मृतिविरोधमुपन्यस्य परिहरति—

भाष्यका अनुवाद

न्यायके विरोधका परिहार, प्रधान आदि कारणवादोंकी भ्रान्तिमूलकता और उपनिषदोंमें उक्त सृष्टि आदि प्रक्रियाका अविरोध इत्यादि विषयोंका प्रतिपादन करनेके लिये दूसरा अध्याय आरंभ किया जाता है। इनमेंसे सबसे पहले स्मृतिविरोधका उपन्यास करके परिहार करते हैं—

रत्नप्रभा

अविरोध इत्यर्थः। अयमेवार्थः सुखबोधार्थं श्लोकेन संगृहीतः—

'द्वितीये स्मृतितर्काभ्यामविरोधोऽन्यदुष्टता।
भूतभोक्तृश्रुतेर्लिङ्गश्रुतेरप्यविरुद्धता ॥ १ ॥' इति।

तत्र अज्ञाते विषये विरोधशङ्कासमाध्ययोगात् समन्वयाध्यायानन्तर्यम् अविरोधाध्यायस्य युक्तम्। तत्र प्रथमाधिकरणस्य तात्पर्यमाह—तत्र प्रथममिति।

रत्नप्रभाका अनुवाद

यही विषय सुखपूर्वक ज्ञात होनेके लिए 'द्वितीये स्मृतितर्काभ्या०' (द्वितीय अध्यायमें स्मृति और तर्कसे श्रुतिका अविरोध, अन्य मतोंकी असाधुता, सृष्टिश्रुति, जीवश्रुति और लिङ्गशरीरश्रुतियोंका अविरोध कहा गया है) इस श्लोकमें संगृहीत है। अज्ञात अर्थमें विरोधकी शंका या समाधान युक्त नहीं है, इसलिए समन्वयाध्यायके अनन्तर अविरोधाध्यायका कथन युक्त है। इसमें प्रथम अधिकरणका तात्पर्य कहते हैं—"तत्र प्रथमम्" इत्यादिसे।

स्मृत्यनवकाशदोषप्रसङ्ग इति चेन्नान्यस्मृत्यनवकाशदोषप्रसङ्गात् ॥ १ ॥

पदच्छेद—स्मृत्यनवकाशदोषप्रसङ्गः, इति, चेत्, न, अन्यस्मृत्यनवकाशदोषप्रसङ्गात्।

पदार्थोक्ति—स्मृत्यनवकाशदोषप्रसङ्गः—महर्षिप्रणीतप्रधानकारणवादस्मृतीनामनवकाशरूपदोषप्रसङ्गात् समन्वयो विरुध्यते, इति चेत्, न—न समन्वयो विरुध्यते, [कुतः] अन्यस्मृत्यनवकाशरूपदोषप्रसङ्गात्—चेतनकारणवादिनीनामन्यासां स्मृतीनामनवकाशरूपदोषप्रसङ्गात् [श्रुत्यविरुद्धस्मृतिविरुद्धत्वात् साङ्ख्यस्मृतिरप्रमाणम्]।

भाषार्थ—महर्षिद्वारा रचित प्रधानको जगत्कारण कहनेवाली स्मृतियाँ व्यर्थ हो जायँगी, अतः वेदान्तोंका ब्रह्ममें समन्वय नहीं हो सकता है, ऐसा यदि कहो, तो ब्रह्ममें वेदान्तोंका समन्वय होनेमें कोई विरोध नहीं है। क्योंकि अचेतन प्रधानको कारण माननेपर चेतनको जगत्कारण कहनेवाली स्मृतियाँ निरर्थक हो जायँगी, अतः श्रुतिमूलक स्मृतियोंसे विरुद्ध होनेके कारण सांख्यस्मृति अप्रमाण है।

भाष्य

यदुक्तम्—ब्रह्मैव सर्वज्ञं जगतः कारणम् इति, तदयुक्तम्। कुतः? स्मृत्यनवकाशदोषप्रसङ्गात्। स्मृतिश्च तन्त्राख्या परमर्षिप्रणीता शिष्टपरिगृहीता, अन्याश्च तदनुसारिण्यः स्मृतयः, ता एवं सत्यनवकाशाः

भाष्यका अनुवाद

पूर्वपक्षी—सर्वज्ञ ब्रह्म ही जगत्का कारण है, ऐसा जो पीछे कहा गया है, वह युक्त नहीं है। किससे? स्मृतिके अनवकाशरूप दोषके प्रसङ्गसे। ऐसी अवस्थामें परम ऋषि द्वारा निर्मित और शिष्ट पुरुषों द्वारा स्वीकृत कपिलस्मृति

रत्नप्रभा

श्रौते समन्वये विरोधनिरासार्थत्वादस्य पादस्य श्रुतिशास्त्राध्यायसङ्गतयः। स्वमतस्थापनात्मकत्वात् सर्वेषामधिकरणानामेतत्पादसङ्गतिः। अत्र पूर्वपक्षे स्मृतिविरोधाद् उक्तसमन्वयासिद्धिः फलम्, सिद्धान्ते तत्सिद्धिरिति विवेकः। तत्र ब्रह्मणि उक्तवेदान्तसमन्वयो विषयः। स किं सांख्यस्मृत्या विरुध्यते न वेति स्मृतिप्रामाण्याप्रामाण्याभ्यां सन्देहे पूर्वपक्षमाह—यदुक्तमिति। तन्त्र्यन्ते व्युत्पाद्यन्ते तत्त्वानि अनेनेति तन्त्रम्—शास्त्रं कपिलोक्तम्, अन्याश्च पञ्चशिखादिभिः प्रोक्ताः, एवं सति वेदान्तानामद्वयब्रह्मसमन्वये निरर्थकाः स्युरित्यर्थः। तासामपि

रत्नप्रभाका अनुवाद

श्रुतियोंके समन्वयमें होनेवाले विरोधका इस पादमें परिहार किया जाता है, अतः श्रुतिसंगति, शास्त्रसंगति और अध्यायसंगतियाँ हैं। इस पादके सब अधिकरणोंसे अपने मतकी स्थापना की गई है, इसलिए सब अधिकरणोंमें पादसंगति है। यहाँ पूर्वपक्षमें स्मृतिविरोधसे पूर्वाध्यायोक्त समन्वयकी असिद्धि फल है, सिद्धान्तमें समन्वयकी सिद्धि फल है, ऐसा समझना चाहिए। यहाँ ब्रह्ममें उक्त वेदान्तोंका जो समन्वय है, वह विषय है। वह सांख्यस्मृतिसे विरुद्ध होता है या नहीं, ऐसा स्मृतिके प्रामाण्य और अप्रामाण्यमें संशय होनेपर पूर्वपक्ष करते हैं—"यदुक्तम्" इत्यादिसे। जिसके द्वारा तत्त्वोंकी व्युत्पत्ति दिखलाई जाय, वह तन्त्र—कपिलका रचा हुआ शास्त्र। अन्य—आसुरि, पञ्चशिख आदिसे रची गई स्मृतियाँ। 'एवं सति' अर्थात् वेदान्तोंका अद्वितीय ब्रह्ममें समन्वय हो, तो निरर्थक हो जायँगी। यदि

भाष्य

प्रसज्येरन् । तासु ह्यचेतनं प्रधानं स्वतन्त्रं जगतः कारणमुपनिबध्यते । मन्वादिस्मृतयस्तावच्चोदनालक्षणेनाऽग्निहोत्रादिना धर्मजातेनाऽपेक्षितमर्थं समर्पयन्त्यः सावकाशा भवन्ति । अस्य वर्णस्याऽस्मिन् कालेऽनेन विधानेनोपनयनम्, ईदृशश्चाऽऽचारः इत्थं वेदाध्ययनम्, इत्थं समावर्तनम्, इत्थं सहधर्मचारिणीसंयोग इति । तथा पुरुषार्थांश्चतुर्वर्णाश्रमधर्मान् नानाविधान् विदधति । नैवं कपिलादिस्मृतीनामनुष्ठेये विषयेऽवकाशोऽस्ति । मोक्षसाधनमेव हि सम्यग्दर्शनमधिकृत्य ताः प्रणीताः । यदि तत्राप्य-

भाष्यका अनुवाद

और तदनुसारिणी दूसरी स्मृतियाँ निरर्थक हो जायँगी, क्योंकि उनमें अचेतन प्रधान जगत् का स्वतंत्ररूपसे कारण कहा गया है । चोदनालक्षण[1] अग्निहोत्र आदि धर्मसमूहसे अपेक्षित अर्थका बोध करानेवाली मनु आदि स्मृतियाँ तो सार्थक हैं, क्योंकि वे अमुक वर्णका अमुक कालमें अमुक विधानसे उपनयन होता है, अमुक वर्णका अमुक आचार, अमुक रीतिसे वेदका अध्ययन, समावर्तन, विवाह होता है, ऐसा [बोध कराती हैं] । उसी प्रकार पुरुषार्थभूत नाना प्रकारके वर्णाश्रम धर्मका विधान करती हैं । कपिल आदि स्मृतियाँ इस प्रकार अनुष्ठानयोग्य विषयमें सावकाश नहीं हैं, क्योंकि मोक्षके साधन तत्त्वज्ञानके उद्देशसे ही उनकी रचना हुई है । यदि उसमें भी वे अवकाशरहित

रत्नप्रभा

ब्रह्मार्थकत्वम् अस्तीति अविरोध इत्यत आह—तासु हीति । ननु सांख्यस्मृतिप्रामाण्याय प्रधानवादग्रहे मन्वादिस्मृतीनाम् अप्रामाण्यं स्यादित्याशङ्क्य तासां धर्मे सावकाशत्वात् प्रामाण्यं स्यादित्याह—मन्वादीति । तर्हि सांख्यादिस्मृतीनामपि धर्मे तात्पर्येण प्रामाण्यमस्तु, तत्त्वं तु ब्रह्मैवेति अविरोध इत्यत आह—नैवमिति । तत्त्वे विकल्पनानुपपत्तेः निरवकाशस्मृत्यनुसारेण श्रुतिव्याख्यानम्

रत्नप्रभाका अनुवाद

कोई कहे कि उन स्मृतियोंमें भी ब्रह्म ही प्रतिपादित है, इसलिए विरोध नहीं है, तो इसपर कहते हैं—"तासु हि" इत्यादि । सांख्यस्मृतिको प्रमाण माननेके लिए यदि प्रधानकारणवादका स्वीकार करें तो मनु आदि स्मृतियाँ अप्रमाण हो जायँगी, ऐसी आशंका करके वे स्मृतियाँ धर्मका प्रतिपादन करती हैं, इसलिए सावकाश होनेके कारण प्रमाण हैं, ऐसा कहते हैं—"मन्वादि" इत्यादिसे । तब सांख्यस्मृतिका भी धर्ममें तात्पर्य मानकर प्रमाण मानो, तत्त्व तो ब्रह्म ही है, इसलिए कोई विरोध नहीं है, इसपर कहते हैं—"नैवम्" इत्यादि । तत्त्वमें विकल्प नहीं हो

(१) प्रेरणा जिनका लक्षण है ।

भाष्य

नवकाशाः स्युः, अनर्थक्यमेवासां प्रसज्येत । तस्मात् तद्विरोधेन वेदान्ता व्याख्यातव्याः । कथं पुनरीक्षत्यादिभ्यो हेतुभ्यो ब्रह्मैव सर्वज्ञं जगतः कारणमित्यवधारितः श्रुत्यर्थः स्मृत्यनवकाशदोषप्रसङ्गेन पुनराक्षिप्यते ? भवेदयमनाक्षेपः स्वतन्त्रप्रज्ञानाम् । परतन्त्रप्रज्ञास्तु प्रायेण जनाः स्वातन्त्र्येण श्रुत्यर्थमवधारयितुमशक्नुवन्तः प्रख्यातप्रणेतृकासु स्मृतिष्ववलम्बेरन् । तद्बलेन च श्रुत्यर्थं प्रतिपित्सेरन् । अस्मत्कृते च व्याख्याने न विश्वस्युर्बहुमानात् स्मृतीनां प्रणेतृषु । कपिलप्रभृतीनां चार्षं ज्ञानमप्रतिहतं

भाष्यका अनुवाद

हों, तो वे निरर्थक ही हो जायँगी ? इसलिए जैसे उनके साथ विरोध न हो, उस प्रकार वेदान्तोंका व्याख्यान करना चाहिए। परन्तु ईक्षण आदि हेतुओंसे सर्वज्ञ ब्रह्म ही जगत्का कारण है, इस प्रकार सुनिर्णीत श्रुतिके अर्थका स्मृतिके अनवकाशरूप दोषके प्रसंगसे फिर क्यों आक्षेप किया जाता है ? जिनकी बुद्धि स्वतंत्र है, उनके लिए यह आक्षेप नहीं है, परन्तु प्रायः मनुष्य परतंत्रबुद्धि होते हैं, इसलिए वे स्वतंत्रतासे श्रुतिके अर्थका निर्णय नहीं कर सकते, अतः प्रसिद्ध व्यक्तियों द्वारा रचित स्मृतियोंका अवलम्बन करेंगे और उन्हींके बलसे श्रुतिका अर्थ जानना चाहेंगे। स्मृतियोंके रचयिताओंपर आदर होनेके कारण हमारे व्याख्यानपर विश्वास न करेंगे। स्मृति कहती है कि कपिल आदिका ज्ञान आर्ष और अप्रतिहत है।

रत्नप्रभा

उचितम्, सावकाशनिरवकाशयोः निरवकाशं बलीय इति न्यायादित्याह— तस्मादिति । श्रुतिविरोधे स्मृत्यप्रामाण्यस्य इष्टत्वात् पूर्वपक्षो न युक्त इति शङ्कते— कथमिति । ये स्वातन्त्र्येण श्रुत्यर्थं ज्ञातुं शक्नुवन्ति, तेषामयं पूर्वपक्षो न भवेत्, साङ्ख्यवृद्धेषु श्रद्धालूनां तु भवेदित्याह—भवेदिति । तेषाम् अतीन्द्रियार्थज्ञान-

रत्नप्रभाका अनुवाद

सकता है, इसलिए निरवकाश स्मृतिके अनुसार श्रुतिका व्याख्यान करना युक्त है, क्योंकि सावकाश और निरवकाशोंमें निरवकाश विशेष बलवान् होता है, ऐसा न्याय है, ऐसा कहते हैं— "तस्माद्" इत्यादिसे। श्रुतिके साथ विरोध हो, तो स्मृतिको अप्रमाण मानना इष्ट है, इसलिए पूर्वपक्ष युक्त नहीं है, ऐसा कहते हैं—"कथम्" इत्यादिसे। जो लोग स्वतन्त्र रीतिसे श्रुतिके अर्थको जाननेमें समर्थ हैं, उनके लिए यह पूर्वपक्ष नहीं, परन्तु सांख्यवृद्धोंमें जिनकी श्रद्धा है, उनके लिए तो यह पूर्वपक्ष हो सकता है, ऐसा कहते हैं—"भवेत्" इत्यादिसे।

(१) अवकाशवाली ।

भाष्य

स्मर्यते। श्रुतिश्च भवति—'ऋषिं प्रसूतं कपिलं यस्तमग्रे ज्ञानैर्बिभर्ति जायमानं च पश्येत्' (श्वे० ५।२) इति। तस्मान्नैषां मतमयथार्थं शक्यं सम्भावयितुम्। तर्कावष्टम्भेन च तेऽर्थं प्रतिष्ठापयन्ति। तस्मादपि स्मृतिबलेन वेदान्ता व्याख्येया इति पुनराक्षेपः।

तस्य समाधिः नाऽन्यस्मृत्यनवकाशदोषप्रसङ्गादिति। यदि स्मृत्यनवकाशदोषप्रसङ्गेनेश्वरकारणवाद आक्षिप्येत, एवमप्यन्या ईश्वरकारणवादिन्यः

भाष्यका अनुवाद

'ऋषिं प्रसूतं कपिलं०' (जिसने आरम्भमें उत्पन्न किये हुए कपिल ऋषिको उत्पन्न होनेके अनन्तर स्थिति कालमें ज्ञान देकर पुष्ट किया, उस ईश्वरका दर्शन करना चाहिए) ऐसी श्रुति भी है। इसलिए उनके मतको अयथार्थ कहना युक्त नहीं है। और ये तर्कके अवलम्बनसे अपना अर्थ स्थापन करते हैं, इसलिए भी स्मृतिके बलसे वेदान्तोंका व्याख्यान करना चाहिए, ऐसा फिर आक्षेप होता है।

सिद्धान्ती—यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसा माननेपर अन्य स्मृतियाँ निरर्थक हो जायँगी। यदि सांख्यस्मृतिकी निरर्थकताके भयसे ईश्वर कारणवादका

रत्नप्रभा

वत्त्वाच्च तत्र श्रद्धा स्यादित्याह—कपिलप्रभृतीनां चेति।

'आदौ यो जायमानं च कपिलं जनयेदृषिम्।
प्रसूतं बिभृयाज्ज्ञानैस्तं पश्येत् परमेश्वरम् ॥१॥' इति श्रुतियोजना।

यथा साङ्ख्यस्मृतिविरोधाद् ब्रह्मवादस्त्याज्य इति त्वया उच्यते, तथा स्मृत्यन्तरविरोधात् प्रधानवादः त्याज्य इति मया उच्यते इति सिद्धान्तयति—तस्य समाधिरिति। तस्मात्—ब्रह्मणः सकाशाद् अव्यक्तम्—मायया लीनम्, सूक्ष्मा-

रत्नप्रभाका अनुवाद

कपिल आदिको अतीन्द्रिय पदार्थोंका ज्ञान होता है, इसलिए उनमें श्रद्धा हो सकती है, ऐसा कहते हैं—"कपिलप्रभृतीनां च" इत्यादिसे। 'आदौ यो........परमेश्वरम्' (जिसने आरम्भमें उत्पन्न किये हुए कपिल ऋषिको उत्पन्न होनेके अनन्तर ज्ञान देकर पुष्ट किया, उस परमात्माका दर्शन करना चाहिए) 'ऋषिं प्रसूतं०' इत्यादि श्रुतिकी ऐसी योजना करनी चाहिए।

जैसे तुम सांख्य स्मृतिके विरोधसे ब्रह्मवाद को त्याज्य बतलाते हो, उसी प्रकार हम भी अन्य स्मृतियोंके विरोधसे प्रधानवादको त्याज्य कहते हैं, इस प्रकार सिद्धान्त करते हैं—"तस्य समाधिः" इत्यादिसे। तस्माद्—ब्रह्मसे, अव्यक्तम्—मायामें लीन सूक्ष्मरूप जगत्।

भाष्य

स्मृतयोऽनवकाशाः प्रसज्येरन् । ता उदाहरिष्यामः—'यत्तत्सूक्ष्मम-विज्ञेयम्' इति परं ब्रह्म प्रकृत्य 'स ह्यन्तरात्मा भूतानां क्षेत्रज्ञश्चेति कथ्यते' इति चोक्त्वा 'तस्मादव्यक्तमुत्पन्नं त्रिगुणं द्विजसत्तम' इत्याह । तथाऽन्यत्रापि 'अव्यक्तं पुरुषे ब्रह्मन्निर्गुणे संप्रलीयते' इत्याह ।

'अतश्च संक्षेपमिमं शृणुध्वं नारायणः सर्वमिदं पुराणः ।
स सर्गकाले च करोति सर्वं संहारकाले च तदत्ति भूयः ॥'

इति पुराणे । भगवद्गीतासु च—

'अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा ।'

(भ०गी०७।६) इति । परमात्मानमेव च प्रकृत्याऽऽपस्तम्बः पठति—

'तस्मात् कायाः प्रभवन्ति सर्वे स मूलं शाश्वतिकः स नित्यः ।

भाष्यका अनुवाद

आक्षेप किया जाय तो ईश्वर जगत् का कारण है, ऐसा कहनेवाली दूसरी स्मृतियाँ निरर्थक हो जायँगी। उनको उद्धृत करते हैं—'यत्तत्सूक्ष्म०' (जो सूक्ष्म अविज्ञेय है) इस प्रकार परब्रह्मको प्रस्तुत करके 'स ह्यन्तरात्मा भूतानां०' (वह निश्चय प्राणियोंका अन्तरात्मा और क्षेत्रज्ञ कहलाता है) ऐसा कहकर 'तस्मादव्यक्तमुत्पन्नं' (हे द्विजश्रेष्ठ ! उससे तीन गुणवाला अव्यक्त उत्पन्न हुआ) ऐसा कहते हैं। उसी प्रकार दूसरे स्थलोंमें भी 'अव्यक्तं पुरुषे ब्रह्मन्०' (हे ब्रह्मन् ! निर्गुण पुरुषमें अव्यक्त लीन होता है) ऐसा निरूपण किया गया है। पुराणमें भी 'अतश्च संक्षेपमिमं शृणुध्वं०' (इसलिए तुम यह संक्षेपसे सुनो यह सम्पूर्ण प्रपंच पुराण पुरुष नारायणरूप है। वह सृष्टिकालमें सबको उत्पन्न करता है और संहार कालमें सबका विनाश करता है) ऐसा कहा है। 'अहं कृत्स्नस्य जगतः०' (मैं सम्पूर्ण जगत्का निर्माता और संहारकर्ता हूँ) ऐसा भगवद्गीतामें भी है। परमात्माको प्रस्तुत करके ही आपस्तम्ब कहते हैं—'तस्मात् कायाः प्रभवन्ति

रत्नप्रभा

त्मकं जगत् इति यावत् । इतिहासवाक्यानि उक्त्वा पुराणसम्मतिमाह—अतश्चेति । प्रभवत्यस्मादिति प्रभवः—जन्महेतुः । प्रलीयतेऽस्मिन्निति प्रलयः—लयाधिष्ठानम् । तस्मात्—कर्तुरीश्वरात्, कायाः—ब्रह्मादयः प्रभवन्ति स एव मूल-

रत्नप्रभाका अनुवाद

इतिहास वाक्योंको कहकर पुराण सम्मति कहते हैं—"अतश्च" इत्यादिसे। प्रभवः—उत्पत्तिका कारण। प्रलयः—लयका अधिष्ठान। तस्मात्—कर्ता ईश्वरसे, कायाः—ब्रह्मासे

भाष्य

(ध०सू०१।८।२३।२) इति एवमनेकशः स्मृतिष्वपीश्वरः कारणत्वेनोपादानत्वेन च प्रकाश्यते। स्मृतिबलेन प्रत्यवतिष्ठमानस्य स्मृतिबलेनैवोत्तरं प्रवक्ष्यामीत्यतोऽयमन्यस्मृत्यनवकाशदोषोपन्यासः। दर्शितं तु श्रुतीनामीश्वरकारणवादं प्रति तात्पर्यम्। विप्रतिपत्तौ च स्मृतीनामवश्यकर्तव्येऽन्यतरपरिग्रहेऽन्यतरपरित्यागे च श्रुत्यनुसारिण्यः स्मृतयः प्रमाणम्, अनपेक्ष्या इतराः। तदुक्तं प्रमाणलक्षणे—'विरोधे त्वनपेक्षं स्यादसति ह्यनुमानम्'

भाष्यका अनुवाद

सर्वे०' (उस ईश्वरसे सब शरीर उत्पन्न होते हैं, वह उपादान है, कूटस्थ है और नित्य है)। इस प्रकार अनेक रीतिसे स्मृतियोंमें ईश्वर निमित्त और उपादानरूपसे वर्णित है। स्मृतिबलसे विरोध करनेवालेको स्मृतिबलसे ही उत्तर दूँगा, ऐसा सोचकर अन्य स्मृतिके अनवकाशरूप दोषका उपन्यास किया है। श्रुतियोंका तात्पर्य ईश्वर कारणवादमें है, ऐसा दिखलाया गया है। और स्मृतियोंके विरोधमें एकका ग्रहण और अन्यका त्याग अवश्य कर्तव्य होनेसे श्रुतिका अनुसरण करनेवाली स्मृतियाँ प्रमाण हैं और अन्य स्मृतियाँ अप्रमाण हैं, क्योंकि प्रमाण लक्षणमें कहा है—'विरोधे त्वनपेक्षं०' (श्रुतिके साथ विरोध हो, तो स्मृतिका प्रामाण्य त्याज्य है, विरोध न हो, तो श्रुतिका अनुमान

रत्नप्रभा

मुपादानम्। किं परिणामी ? न, शाश्वतिकः कूटस्थः। अतः स नित्य इत्यर्थः। ननु श्रुतिविरोधः किमिति नोक्त इत्यत आह—स्मृतिबलेनेति। स्मृतीनां मिथो विरोधे कथं तत्त्वनिर्णयस्तत्राऽऽह—दर्शितन्त्विति। श्रुतिभिरेव तत्त्वनिर्णय इत्यर्थः। स्मृतीनां का गतिरित्यत आह—विप्रतिपत्तौ चेति। वस्तुतत्त्वे स्मृतीनां मिथो विरोधे वस्तुनि विकल्पायोगात् क्लृप्तश्रुतिमूलाः स्मृतयः

रत्नप्रभाका अनुवाद

लेकर स्तम्बपर्यन्त देह उत्पन्न होते हैं, वही मूल—उपादानकारण हैं। क्या परमात्मा परिणामी है ? नहीं, कूटस्थ है इसलिए वह नित्य है। यदि कोई कहे कि सांख्यस्मृतिसे श्रुतिका विरोध है, ऐसा क्यों नहीं कहा, इसपर कहते हैं—"स्मृतिबलेन" इत्यादि। स्मृतियोंमें परस्पर विरोध हो, तो निर्णय किस प्रकार करना चाहिए, इसपर कहते हैं—"दर्शितं तु" इत्यादि। श्रुतियोंसे ही तत्त्वका निर्णय करना चाहिए, ऐसा अर्थ है। तब स्मृतियोंकी क्या गति है, इसपर कहते हैं—"विप्रतिपत्तौ च" इत्यादि। आशय यह कि यदि पदार्थकी यथार्थतामें स्मृतियोंका परस्पर विरोध हो, तो वस्तुका विकल्प तो नहीं हो सकता, इसलिए

भाष्य

(जै०सू० १।३।३) इति । न चाऽतीन्द्रियानर्थान् श्रुतिमन्तरेण कश्चिदुपलभत इति शक्यं संभावयितुम्, निमित्ताभावात् । शक्यं कपिलादीनां सिद्धानामप्रतिहतज्ञानत्वादिति चेत्, न; सिद्धेरपि सापेक्षत्वात् । धर्मा-

भाष्यका अनुवाद

होता है) । श्रुति प्रमाणको छोड़कर अन्य प्रमाणोंसे किसीको अतीन्द्रिय अर्थका ज्ञान होता है, ऐसी संभावना नहीं की जा सकती, क्योंकि कोई निमित्त नहीं है। अप्रतिहत ज्ञान होनेके कारण कपिल आदि सिद्धोंको अतीन्द्रियार्थका ज्ञान होता है, ऐसा कहना युक्त नहीं है, क्योंकि सिद्धि भी सापेक्ष है। सिद्धिको धर्मके अनुष्ठानकी

रत्नप्रभा

प्रमाणम्, इतरास्तु कल्प्यश्रुतिमूला न प्रमाणमित्यर्थः । क्लृप्तश्रुतिविरोधे स्मृतिर्न प्रमाणमित्यत्र जैमिनीयन्यायमाह—तदुक्तमिति । "औदुम्बरीं स्पृष्ट्वोद्गायेद्" इति प्रत्यक्षश्रुतिविरुद्धा "सा सर्वा वेष्टयितव्या" इति स्मृतिर्मानं न वेति सन्देहे मूलश्रुत्यनुमानाद् मानमिति प्राप्ते, सिद्धान्तः—क्लृप्तश्रुतिविरोधे स्मृतिप्रामाण्यम् अनपेक्षम्—अपेक्षाशून्यम्, हेयमिति यावत् । हि यतः असति विरोधे श्रुत्यनुमानं भवति, अत्र तु विरोधे सति श्रुत्यनुमानायोगाद् मूलाभावात् सर्ववेष्टनस्मृतिरप्रमाणमित्यर्थः । अस्तु साङ्ख्यस्मृतिः प्रत्यक्षमूला इत्यत आह—**न चेति** । योगिनां सिद्धिमहिम्नाऽतीन्द्रियज्ञानं सम्भावयितुं शक्यमिति शङ्कते—**शक्यमिति** । कपिलादिभिः किलाऽऽदौ वेदप्रामाण्यं निश्चित्य तदर्थस्य धर्मस्याऽ-

रत्नप्रभाका अनुवाद

उपलब्ध श्रुति जिनका मूल है, वे स्मृतियाँ ही प्रमाण हैं, अनुमेय श्रुति जिनका मूल है, वे प्रमाण नहीं है। उपलब्ध श्रुतिसे विरोध हो, तो स्मृति प्रमाण नहीं हो सकती, इसमें जैमिनिका न्याय कहते हैं—"तदुक्तम्" इत्यादिसे । 'औदुम्बरीं०' (उद्गाता गूलर वृक्षकी शाखाको स्पर्श करके सामवेद गावे) इस प्रत्यक्ष श्रुतिसे विरुद्ध 'सा सर्वा०' (उसका पूर्ण वेष्टन करना चाहिए) यह स्मृति प्रमाण है या नहीं ऐसा संशय होनेपर मूल श्रुतिका अनुमान होनेसे स्मृति प्रमाण है, ऐसा पूर्वपक्ष प्राप्त होनेपर सिद्धान्त कहते हैं—उपलब्ध श्रुतिके साथ स्मृतिका विरोध हो, तो वह स्मृति प्रमाण नहीं है, किन्तु त्याज्य है, क्योंकि विरोध न हो तो श्रुतिका अनुमान होता है, यहाँ प्रत्यक्ष श्रुतिसे विरोध होनेके कारण श्रुतिका अनुमान नहीं हो सकता है, इसलिए मूल न होनेसे सर्ववेष्टन स्मृति अप्रमाण है, ऐसा अर्थ है। तब सांख्यस्मृति प्रत्यक्षमूलक हो, इसपर कहते हैं—"न च" इत्यादि । योगियोंकी सिद्धिमहिमासे अतीन्द्रियपदार्थके ज्ञानकी संभावना कर सकते हैं, ऐसी शंका करते हैं—"शक्यम्" इत्यादिसे । कपिल आदि ऋषियोंने

भाष्य

नुष्ठानापेक्षा हि सिद्धिः। स च धर्मश्चोदनालक्षणः। ततश्च पूर्वसिद्धायाश्चोदनाया अर्थो न पश्चिमसिद्धपुरुषवचनवशेनाऽतिशङ्कितुं शक्यते। सिद्धव्यपाश्रयकल्पनायामपि बहुत्वात् सिद्धानां प्रदर्शितेन प्रकारेण स्मृतिविप्रतिपत्तौ सत्यां न श्रुतिव्यपाश्रयादन्यन्निर्णयकारणमस्ति। परतन्त्रप्रज्ञ-

भाष्यका अनुवाद

अपेक्षा है और वह धर्म प्रेरणालक्षण है। इसलिए पूर्वसिद्ध प्रेरणाके अर्थका अनन्तरसिद्ध पुरुषके वचनबलसे आक्षेप नहीं किया जा सकता। सिद्धोंके वचनका आश्रय करके वेदार्थकी कल्पनामें भी सिद्ध बहुत होनेसे उक्त रीतिसे स्मृतियोंका विरोध होनेपर श्रुतिके सिवा दूसरा निर्णायक कोई नहीं है। परतंत्र-

रत्नप्रभा

नुष्ठानेन सिद्धिः सम्पादिता, तया सिद्ध्या प्रणीतस्मृत्यनुसारेणाऽनादिश्रुतिपीडा न युक्ता उपजीव्यविरोधादिति परिहरति—न सिद्धेरपीति। अतिशङ्कितुमिति। श्रुतीनां मुख्यार्थमतिक्रम्य उपचरितार्थत्वं शङ्कितुं न शक्यते इत्यर्थः। स्वतः सिद्धेर्वेदो नोपजीव्य इति चेत्, न, अनीश्वरस्य स्वतःसिद्धौ मानाभावात्। अङ्गीकृत्याऽप्याह—सिद्धेति। सिद्धानां वचनमाश्रित्य वेदार्थकल्पनायामपि सिद्धोक्तीनां मिथो विरोधे श्रुत्याश्रितमन्वाद्युक्तिभिः एव वेदार्थनिर्णयो युक्त इत्यर्थः। श्रुतिरूपाश्रयं विना सिद्धोक्तिमात्रं न तत्त्वनिर्णयकारणमिति अक्षरार्थः। ननु मन्दमतेः सांख्यस्मृतौ श्रद्धा भवति, तस्य मतिः वेदान्तमार्गे कथमानेया

रत्नप्रभाका अनुवाद

आरंभमें वेदका प्रमाण्य निश्चय करके वेदके अर्थ धर्मके अनुष्ठानसे सिद्धि प्राप्त की, उस सिद्धिसे रचित स्मृतिके अनुसार अनादि सिद्ध श्रुतिका बाध करना युक्त नहीं है, क्योंकि उपजीव्यका विरोध होता है, ऐसा परिहार करते हैं—"न सिद्धेरपि" इत्यादिसे। "अतिशङ्कितुम्" इत्यादि। श्रुतियोंके मुख्य अर्थका अतिक्रमण करके गौण अर्थकी शंका करना युक्त नहीं है, ऐसा अर्थ है। परन्तु कपिल आदि स्वयंसिद्ध हैं, उनकी सिद्धिके प्रति वेद आधारभूत नहीं है, यह कथन युक्त नहीं है, क्योंकि ईश्वरके सिवा और किसीके स्वतःसिद्ध होनेमें प्रमाण नहीं है। कपिल आदिको स्वतःसिद्ध अंगीकार करके भी कहते हैं—"सिद्ध" इत्यादि। सिद्धोंकी उक्तियोंके अनुसार श्रुतिके अर्थकी कल्पना करें, तो सिद्धोंकी उक्तियोंमें परस्पर विरोध होनेपर श्रुतिमूलक मनु आदिकी उक्तियोंसे ही वेदके अर्थका निर्णय करना युक्त है, ऐसा अर्थ है। श्रुतिरूप आश्रयके बिना सिद्धोक्तिमात्र तत्त्वके निर्णयका कारण नहीं है, ऐसा अक्षरार्थ है। परन्तु सांख्यस्मृतियोंमें श्रद्धा रखनेवाले मन्दमतिकी वेदान्तमार्गमें प्रवृत्ति किस प्रकार करानी

भाष्य

स्याऽपि नाऽकस्मात् स्मृतिविशेषविषयः पक्षपातो युक्तः। कस्यचित् क्वचित् पक्षपाते सति पुरुषमतिवैश्वरूप्येण तत्त्वाव्यवस्थानप्रसङ्गात्। तस्मात् तस्यापि स्मृतिविप्रतिपत्त्युपन्यासेन श्रुत्यनुसारानुसारविषयविवेचनेन च सन्मार्गे प्रज्ञा संग्रहणीया। या तु श्रुतिः कपिलस्य ज्ञानातिशयं प्रदर्शयन्ती प्रदर्शिता न तया श्रुतिविरुद्धमपि कापिलं मतं श्रद्धातुं शक्यम्, कपिलमिति श्रुतिसामान्यमात्रत्वात्। अन्यस्य च कपिलस्य सगरपुत्राणां प्रतप्तुर्वासुदेवनाम्नः स्मरणात्। अन्यार्थदर्शनस्य च प्राप्तिरहितस्याऽसाध-

भाष्यका अनुवाद

बुद्धि पुरुषोंका भी अकस्मात् किसी विशेष स्मृतिके ऊपर पक्षपात होना युक्त नहीं है, क्योंकि किसी एकका किसीमें पक्षपात होनेपर पुरुषबुद्धिवैचित्र्यसे तत्त्वकी अव्यवस्था हो जायगी। इसलिए स्मृतियोंके विरोधका उपन्यास करके यह स्मृति श्रुतिका अनुसरण करती है, यह श्रुतिका अनुसरण नहीं करती इस प्रकार विवेचन करके उसकी भी बुद्धि सन्मार्गमें लानी चाहिए। कपिलका अतिशय ज्ञान दिखानेवाली जो श्रुति कही गई है, उससे श्रुतिविरुद्ध कपिल मतमें श्रद्धा नहीं की जा सकती, क्योंकि सांख्य प्रणेता कपिल और श्रुत्युक्त कपिलमें केवल शब्दसादृश्य है। और सगरके पुत्रोंको जलानेवाला वासुदेव नामक अन्य कपिल भी स्मृतिमें प्रसिद्ध है। अन्य प्रमाणसे प्राप्त न होनेवाले अन्यार्थ जो

रत्नप्रभा

इत्यत आह—परतन्त्रेत्यादिना। ननु श्रुत्या कपिलस्य सर्वज्ञत्वोक्तेः तन्मते श्रद्धा दुर्वारा इत्यत आह—या त्विति। कपिलशब्दमात्रेण सांख्यकर्ता श्रौत इति भ्रान्तिः अयुक्ता, तस्य द्वैतवादिनः सर्वज्ञत्वायोगाद्। अत्र च सर्वज्ञानसम्भृतत्वेन श्रुतः कपिलो वासुदेवांश एव। स हि सर्वात्मत्वज्ञानं वैदिकं सांख्यम् उपदिशतीति सर्वज्ञ इति भावः। प्रतप्तुः—प्रदाहकस्य। किञ्च, यः कपिलं

रत्नप्रभाका अनुवाद

चाहिए, इसपर कहते हैं—'परतन्त्र' इत्यादिसे। परन्तु श्रुतिमें कपिल सर्वज्ञ कहा गया है, इसलिए उसके मतमें श्रद्धा होना दुर्वार है, इसपर कहते हैं—"या तु" इत्यादि। कपिल इस शब्दमात्रसे सांख्यकर्ता कपिल श्रुतिप्रतिपादित है, ऐसी भ्रान्ति नहीं करनी चाहिए, क्योंकि द्वैतवादी कपिलका सर्वज्ञ होना संभव नहीं है। श्रुतिमें प्रतिपादित, सर्वज्ञानसे परिपूर्ण कपिल वासुदेवका अंश ही है। वह सर्वात्मत्वज्ञानरूप वैदिक सांख्यका उपदेश करता है, इसलिए वह सर्वज्ञ है, ऐसा समझना चाहिए। प्रतप्ता—दाहक। और जो ईश्वर ज्ञानसे कपिलका

भाष्य

कत्वात्। भवति चान्या मनोर्माहात्म्यं प्रख्यापयन्ती श्रुतिः—'यद्वै किञ्च मनुरवदत्तद् भेषजम्' (तै० सं० २।२।१०।२) इति। मनुना च—

'सर्वभूतेषु चात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
संपश्यन्नात्मयाजी वै स्वाराज्यमधिगच्छति॥' (१२।९१)

इति सर्वात्मत्वदर्शनं प्रशंसता कापिलं मतं निन्द्यत इति गम्यते। कपिलो हि न सर्वात्मत्वदर्शनमनुमन्यते, आत्मभेदाभ्युपगमात्। महाभारतेऽपि च 'बहवः पुरुषा ब्रह्मन्नुताहो एक एव तु' इति विचार्य

भाष्यका अनुवाद

अनुवाद है, वह स्वार्थसाधक नहीं हो सकता। और 'यद्वै किञ्च मनु०' (जो कुछ मनुने कहा है, वह औषध है) ऐसा मनुका माहात्म्य बतलानेवाली दूसरी श्रुति है। 'सर्वभूतेषु चात्मानं०' (सब भूतोंमें आत्माको और आत्मामें सब भूतोंको देखनेवाला आत्मयाजी[1] स्वाराज्यको[2] प्राप्त करता है) इस प्रकार आत्माको सर्वस्वरूप समझनेवालेकी ही प्रशंसा करते हुए मनुने कपिलके मतकी निन्दा की है, ऐसा प्रतीत होता है। आत्मा सर्वस्वरूप है, इस दर्शनमें कपिलकी अनुमति नहीं है, क्योंकि वह आत्माका भेद स्वीकार करता है। महाभारतमें भी 'बहवः

रत्नप्रभा

ज्ञानैः बिभर्ति तमीश्वरं पश्येदिति विधीयते, तथा चाऽन्यार्थस्य ईश्वरप्रतिपत्तिशेषस्य कपिलसर्वज्ञत्वस्य दर्शनमनुवादः तस्य मानान्तरेण प्राप्तिशून्यस्य स्वार्थसाधकत्वायोगात् न अनुवादमात्रात् सर्वज्ञत्वसिद्धिरित्याह—अन्यार्थेति। द्वैतवादिनः कपिलस्य श्रौतत्वं निरस्य ब्रह्मवादिनो मनोः श्रौतत्वमाह—भवति चेति। इतिहासेऽपि कापिलमतनिन्दापूर्वकम् अद्वैतं दर्शितमित्याह—महाभारतेऽपीति।

रत्नप्रभाका अनुवाद

पोषण करता है, उसके दर्शनका विधान है। वहाँ ईश्वरज्ञानके अंगभूत जो कपिलका सर्वज्ञत्व है, उसका दर्शन अर्थात् अनुवाद है। इस प्रकार यह सर्वज्ञत्व अन्यार्थक—ईश्वरज्ञानका अंग है और वह किसी अन्य प्रमाणसे प्राप्त नहीं होता, इसलिए वह स्वार्थ साधक हो, यह युक्त नहीं है, इसलिए अनुवादमात्रसे सर्वज्ञत्वसिद्धि नहीं है, ऐसा कहते हैं—"अन्यार्थ" इत्यादिसे। द्वैतवादी कपिलके मतमें श्रुतिमूलकताका निराकरण करके अद्वैतवादी मनुके मतको श्रुतिमूलक कहते हैं—"भवति च" इत्यादिसे। इतिहासमें भी कपिलमतकी निन्दापूर्वक अद्वैत दिखलाया

(१) ब्रह्मार्पणन्यायसे ज्योतिष्टोम आदि करनेवाला।
(२) ब्रह्मत्व, 'स्वेन राजते इति स्वराट् तस्य भावस्तत्ता'।

भाष्य

'बहवः पुरुषा राजन् सांख्ययोगविचारिणाम्' इति परपक्षमुपन्यस्य तद्व्युदासेन—

'बहूनां पुरुषाणां हि यथैका योनिरुच्यते।
तथा तं पुरुषं विश्वमाख्यास्यामि गुणाधिकम्॥'

इत्युपक्रम्य—

'ममान्तरात्मा तव च ये चान्ये देहसंस्थिताः।
सर्वेषां साक्षिभूतोऽसौ न ग्राह्यः केनचित् क्वचित्॥
विश्वमूर्धा विश्वभुजो विश्वपादाक्षिनासिकः।

भाष्यका अनुवाद

पुरुषा०' (हे ब्रह्मन्! आत्मा बहुत हैं या एक ही है) ऐसा विचार कर 'बहवः पुरुषा राजन्०' (हे राजन्! सांख्य और योग दर्शनवालोंके मतमें आत्मा बहुत हैं) ऐसा परपक्षका उपन्यास करके उसका निरूपण करते हुए 'बहूनां पुरुषाणां हि यथैका०' (जैसे बहुत पुरुषाकार देहोंकी एक पृथिवी उपादान कहलाती है, वैसे ही जो उपादान होनेसे सर्वात्मक और सर्वगुणसम्पन्न उस आत्माको कहूँगा) ऐसा उपक्रम करके 'ममान्तरात्मा तव च०' (मेरा और तुम्हारा जो अन्तरात्मा है और जो अन्य आत्माएँ हैं, उन सबका वह साक्षिभूत है। कहीं भी कोई भी उसका ग्रहण नहीं कर सकता। सब सिर उसीके हैं, सब भुजाएँ उसीकी हैं, सब पाद उसके ही हैं,

---

रत्नप्रभा

पुरुषाः आत्मानः किं वस्तुतो भिन्नाः उत सर्वदृश्यानां प्रत्यगात्मा एक इति विमर्शार्थः। बहूनां पुरुषाकाराणां देहानां यथैका योनिः उपादानं पृथ्वी, तथा तं पुरुषम् आत्मानं विश्वं सर्वोपादानत्वेन सर्वात्मकं सर्वज्ञत्वादिगुणैः सम्पन्नं कथयिष्यामि। विश्वे सर्वे लोकप्रसिद्धा देवतिर्यङ्मनुष्यादीनां मूर्धानोऽस्यैवेति विश्वमूर्धा, एकस्यैव सर्वक्षेत्रेषु प्रतिबिम्बभावेन प्रविष्टत्वात्। एवं विश्वभुजत्वा-

रत्नप्रभाका अनुवाद

गया है, ऐसा कहते हैं—"महाभारतेऽपि" इत्यादिसे। पुरुष अर्थात् आत्मा क्या वस्तुतः भिन्न हैं या सब दृश्य पदार्थोंका प्रत्यगात्मा एक ही है, यह संशयका अर्थ है। जैसे बहुत पुरुषाकार देहोंकी एक पृथिवी उपादान है, वैसे ही जो सबका उपादान होनेसे सर्वात्मक है और सर्वज्ञत्व आदि गुणोंसे संपन्न है उस आत्माको आगे कहेंगे। विश्व—सब लोकप्रसिद्ध देव, पशु, मनुष्य आदिके मस्तक जिसके हैं, वह 'विश्वमूर्धा' है, क्योंकि एक ही सब क्षेत्रोंमें प्रतिबिम्बभावसे प्रविष्ट है। उसी प्रकार 'विश्वभुजः' इत्यादिका अर्थ है। सब भूतोंमें एक ही चरता—जानता

भाष्य

एकश्चरति भूतेषु स्वैरचारी यथासुखम् ॥'

इति सर्वात्मतैव निर्धारिता। श्रुतिश्च सर्वात्मतायां भवति—

'यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः ॥'

(ई० ७) इत्येवंविधा। अतश्च सिद्धमात्मभेदकल्पनयापि कापिलस्य तन्त्रस्य वेदविरुद्धत्वं वेदानुसारिमनुवचनविरुद्धत्वं च, न केवलं स्वतन्त्रप्रकृतिकल्पनयैवेति। वेदस्य हि निरपेक्षं स्वार्थे प्रामाण्यं रवेरिव रूप-

भाष्यका अनुवाद

आंखें और नासिकाएँ उसीकी हैं। अकेला स्वैरचारी—स्वतंत्र, सुखस्वरूप भूतोंमें विचरता है अर्थात् उनको जानता है) इससे सर्वात्मता ही निर्धारित की गई है। 'यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवा०' (ज्ञानकालमें सब भूत आत्मा ही हैं, ऐसा जाननेवाले, एवं एकत्वदर्शीके लिए क्या मोह और क्या शोक है) इस प्रकारकी श्रुति भी सर्वात्मता दिखलाती है। इससे यह सिद्ध होता है कि केवल स्वतंत्र प्रधानकी कल्पनासे ही नहीं किन्तु आत्मभेदकी कल्पनासे भी कापिलतंत्र वेदविरुद्ध है, और वेदानुसारी मनुवचनसे भी विरुद्ध है, क्योंकि जैसे रविका रूपके विषयमें

रत्नप्रभा

दियोजना। सर्वभूतेषु एकः चरति—अवगच्छति—सर्वज्ञ इत्यर्थः। स्वैरचारी-स्वतन्त्रः। नाऽस्य नियन्ता कश्चिदस्ति। सर्वेश्वर इत्यर्थः। यथासुखमिति। विशोकानन्दस्वरूप इति यावत्। कापिलतन्त्रस्य वेदमूलस्मृतिविरोधमुक्त्वा साक्षाद् वेदविरोधमाह—श्रुतिश्चेति। यस्मिन्—ज्ञानकाले। केवलं स्वतन्त्रप्रकृतिकल्पनयैव वेदविरुद्धं न, किन्तु आत्मभेदकल्पनयाऽपीति सिद्धमिति सम्बन्धः। स्मृतिविरोधे वेदस्यैव अप्रामाण्यं किं न स्यादित्यत आह—वेदस्य हीति।

रत्नप्रभाका अनुवाद

है अर्थात् सर्वज्ञ है। स्वैरचारी—स्वतंत्र, जिसका कोई नियन्ता नहीं है अर्थात् सर्वेश्वर। "यथासुखम्"—शोकरहित आनन्दस्वरूप। कपिलस्मृति वेदमूलक स्मृतियोंसे विरुद्ध है, ऐसा कहकर साक्षात् वेदसे भी विरुद्ध है, ऐसा कहते हैं—"श्रुतिश्च" इत्यादिसे। 'यस्मिन्'—जिस ज्ञानकालमें। सांख्य स्मृति केवल स्वतन्त्र प्रकृतिकी कल्पनासे ही वेदविरुद्ध नहीं है, किन्तु आत्मभेदकल्पनासे भी उसकी वेदविरुद्धता सिद्ध होती है, ऐसा संबन्ध है। स्मृतिके साथ विरोध होनेपर वेद ही अप्रमाण क्यों न मान लिया जाय, इसपर कहते हैं—"वेदस्य हि" इत्यादि। वेदका प्रामाण्य स्वतः सिद्ध है, क्योंकि वह अपौरुषेय है।

भाष्य

विषये। पुरुषवचसां तु मूलान्तरापेक्षं वक्तृस्मृतिव्यवहितं चेति विप्रकर्षः। तस्माद् वेदविरुद्धे विषये स्मृत्यनवकाशदोषप्रसङ्गो न दोषः ॥ १ ॥

कुतश्च स्मृत्यनवकाशदोषप्रसङ्गो न दोषः—

भाष्यका अनुवाद

निरपेक्ष प्रामाण्य है, वैसे ही अपने अर्थमें वेदका प्रामाण्य निरपेक्ष है। और पुरुषवचनोंका प्रामाण्य अन्य मूलकी अपेक्षा रखता है और उसमें वक्ताकी अर्थ स्मृतिका व्यवधान है, इस प्रकार दोनोंमें बहुत भेद है। इसलिए वेदविरुद्ध विषयमें स्मृतिका अनवकाशप्रसंग दोष नहीं है ॥१॥

और किस कारण स्मृत्यनवकाशप्रसङ्ग दोष नहीं है?

रत्नप्रभा

वेदस्य प्रामाण्यं स्वतःसिद्धम्, अपौरुषेयत्वात्। पौरुषेयवाक्यानां स्वार्थस्मृतितन्मूलानुभवयोः कल्पनया प्रामाण्यं ज्ञेयमिति व्यवहितं परतः प्रामाण्यमिति विप्रकर्षः। श्रुतिस्मृत्योः विशेष इत्यक्षरार्थः। समयोः विरोधे हि निरवकाशेन सावकाशं बाध्यम्। इह स्वतःपरतःप्रामाण्ययोः वैषम्याद् झटिति निश्चितप्रामाण्येन चाऽनुपसंजातविरोधिना वेदवाक्येन विरुद्धस्मृतेः एव बाध इति भावः। तस्मादिति। विशेषादित्यर्थः। भ्रान्तिमूलत्वसम्भवादिति भावः ॥ १ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

और पौरुषेयवाक्योंका प्रामाण्य तो उनके अर्थकी स्मृति और उस स्मृतिका मूल जो अनुभव इन दोनोंकी कल्पनासे समझा जाता है, इसलिए यह परतः प्रामाण्य है[1] और व्यवहित है अर्थात् स्मृति और अनुभवका व्यवधान है, इस प्रकार श्रुति और स्मृतिमें महान् अन्तर है, यह अक्षरार्थ है। तुल्य बलवालोंके विरोधमें निरवकाशसे सावकाशका बाध होता है। यहाँ तो स्वतःप्रामाण्य (वेदका) और परतः प्रामाण्य (स्मृतिका) ये दोनों विषम हैं, अतः जिसका प्रामाण्य निश्चित है और जिसका कोई विरोधी नहीं है, उस वेदवाक्यसे तद्विरुद्ध स्मृतिका ही बाध होता है। 'तस्माद्'—विशेष-भेद है इसलिए अर्थात् स्मृतिमें भ्रान्तिमूलकत्वका संभव है इसलिए ॥१॥

---

(१) जिन वाक्योंकी रचना अर्थज्ञानपूर्वक होती, वे वाक्य पौरुषेय कहलाते हैं। वेद यद्यपि ईश्वरोच्चरित है, तो भी अर्थज्ञानपूर्वक रचित नहीं है, इसलिए स्वतः प्रमाण है। सांख्य आदि स्मृतियाँ तो अर्थज्ञानपूर्वक रचित हैं। कापिल आदिने अर्थका स्मरण करके ही तदनुसार वाक्यकी रचना की है। स्मरण अनुभवपूर्वक होता है। अतः पूर्वानुभव और उस अनुभवसे उत्पन्न संस्कारसे संभूत स्मरणद्वारा कल्पित होनेके कारण स्मृतियाँ परतः प्रमाण हैं। स्मृतिके प्रामाण्यके निश्चयके लिए स्मृति और अनुभवकी कल्पना होनेके समय ही स्वतः प्रमाण श्रुतिके अर्थका निश्चय हो जाता है, इसलिए श्रुतिसे स्मृति बाधित हो जाती है।

इतरेषां चानुपलब्धेः ॥ २ ॥

पदच्छेद—इतरेषां, च, अनुपलब्धेः ।

पदार्थोक्ति—इतरेषां—साङ्ख्यस्मृतिप्रसिद्धानामितरेषां महदादितत्त्वानाम्, अनुपलब्धेश्च—लोके वेदे चानुपलब्धेश्च [न साङ्ख्यस्मृतेरप्रामाण्यं दोषः] ।

भाषार्थ—सांख्यस्मृतिमें प्रसिद्ध प्रधानसे भिन्न महत् आदि तत्त्वोंके लोकमें और वेदमें प्रसिद्ध न होनेके कारण सांख्यस्मृतिको अप्रमाण माननेमें कोई दोष नहीं है ।

भाष्य

प्रधानादितराणि यानि प्रधानपरिणामत्वेन स्मृतौ कल्पितानि महदादीनि न तानि वेदे लोके चोपलभ्यन्ते । भूतेन्द्रियाणि तावल्लोकवेदप्रसिद्धत्वाच्छक्यन्ते स्मर्तुम् । अलोकवेदप्रसिद्धत्वात्तु महदादीनां षष्ठस्येवे-

भाष्यका अनुवाद

प्रधानसे भिन्न महत् आदि तत्त्व जिनकी प्रधानके परिणामरूपसे स्मृतिमें कल्पना की गई है, वे वेदमें या लोकमें उपलब्ध नहीं होते । लोक और वेदमें प्रसिद्ध होनेके कारण भूत और इन्द्रियोंका स्मृतिमें प्रतिपादन हो सकता है, परन्तु लोक और वेदमें प्रसिद्ध न होनेके कारण छठे इन्द्रियार्थके समान महद् आदिका

रत्नप्रभा

महदहङ्कारौ तावदप्रसिद्धौ, अहङ्कारप्रकृतिकत्वेन तन्मात्राण्यपि अप्रसिद्धानि स्मर्तुं न शक्यन्ते इत्याह—इतरेषाञ्चेति । ननु महतः परमव्यक्तमिति श्रुति-

रत्नप्रभाका अनुवाद

महत् और अहङ्कार अप्रसिद्ध हैं और अहङ्कारका विकार होनेसे तन्मात्राएँ भी अप्रसिद्ध हैं, इसलिए उनका भी स्मृतिमें प्रतिपादन नहीं हो सकता, ऐसा कहते हैं—"इतरेषां च" इत्यादिसे । परन्तु 'महतः परमव्यक्तम्' इत्यादि श्रुतियोंमें महदादि प्रसिद्ध हैं, इस शङ्काका

(१) चक्षु, रसना, घ्राण, त्वक् और श्रोत्र, ये पांच ही इन्द्रियाँ हैं, रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द ये पांच इन्द्रियोंके विषय हैं, न छठी इन्द्रिय है और न छठा विषय ही है, इसी प्रकार महत आदि छठी इन्द्रिय आदिकी तरह न लोकमें प्रसिद्ध हैं, न वेदमें ही प्रसिद्ध हैं, अतः वे हैं ही नहीं । स्मृति तो प्रमाणमूलक है, महदादि स्मृतिके विषयमें जब न श्रुति मूल है, न प्रत्यक्ष मूल है, तब वह स्मृति भी अप्रमाण ही है । आर्षज्ञान ही स्मृतिका मूल है, यह नहीं कह सकते हैं, क्योंकि वह ज्ञान भी प्रत्यक्षविषयक अथवा शब्दविषयक होगा, महदादिका, लोक और वेदमें प्रसिद्ध न होनेके कारण, ज्ञान ही नहीं हो सकता ।

भाष्य

न्द्रियार्थस्य न स्मृतिरवकल्पते । यदपि क्वचित् तत्परमिव श्रवणमवभासते तदप्यतत्परं व्याख्यातम् 'आनुमानिकमप्येकेषाम्' (ब्र० १।४।१) इत्यत्र । कार्यस्मृतेरप्रामाण्यात् कारणस्मृतेरप्यप्रामाण्यं युक्तमित्यभिप्रायः । तस्मादपि न स्मृत्यनवकाशदोषप्रसङ्गो दोषः । तर्कावष्टम्भं तु 'न विलक्षणत्वात्' (ब्र० २।१।४) इत्यारभ्योन्मथिष्यति ॥ २ ॥

भाष्यका अनुवाद

स्मृतिमें प्रतिपादन संभव नहीं है । कहीं कहीं श्रुति महद् आदिका प्रतिपादन करती हुई-सी जो भासती है, उसका भी 'आनुमानिक०' सूत्रमें 'श्रुति महद् आदिका प्रतिपादन नहीं करती' ऐसा व्याख्यान किया गया है। कार्य-महद् आदिकी स्मृतिके अप्रमाण होनेसे कारण-प्रधानकी स्मृति भी अप्रमाण है, यह युक्त है, ऐसा अभिप्राय है। इसलिए भी स्मृत्यनवकाशप्रसंग दोष नहीं है । तर्कके अव लम्वनका तो सूत्रकार 'न विलक्षणत्वात्' इस सूत्रसे लेकर खण्डन करेंगे ॥ २ ॥

रत्नप्रभा

प्रसिद्धानि महादादीनि इत्यत आह—यदपीति । सूत्रतात्पर्यमाह—कार्येति । साङ्ख्यस्मृतेः महदादिष्विव प्रधानेऽपि प्रामाण्यं नेति निश्चीयते इत्यर्थः । सांख्यस्मृति-बाधेऽपि तदुक्तयुक्तीनां कथं बाध इत्यत आह—तर्केति ॥ २ ॥ (१) ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

निराकरण करते हैं—"यदपि" इत्यादिसे । सूत्रका तात्पर्य कहते हैं—"कार्य" इत्यादिसे । सांख्यस्मृति जैसे महदादिमें प्रमाण नहीं है, वैसे ही प्रधानमें भी प्रमाण नहीं है, ऐसा निश्चय होता है, यह अर्थ है । परन्तु सांख्यस्मृतिका बाध होनेपर भी उसमें कही हुई युक्तियोंका बाध किस प्रकार होता है ? इसपर कहते हैं—"तर्क" इत्यादि ॥२॥
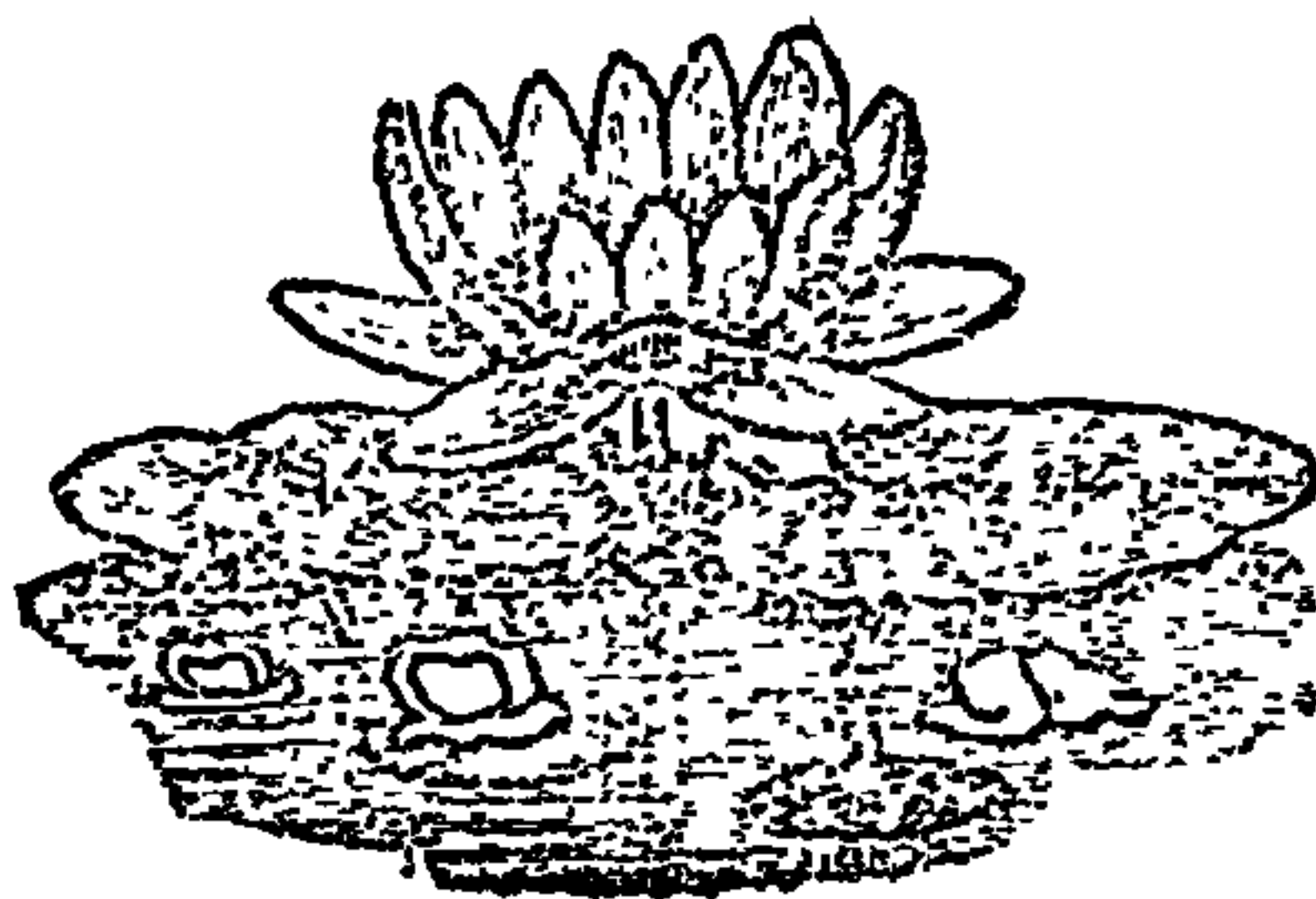
[२ योगप्रत्युक्त्यधिकरण सू० ३]

योगस्मृत्याऽस्ति संकोचो न वा योगो हि वैदिकः ।
तत्त्वज्ञानोपयुक्तश्च ततः संकुच्यते तया ॥१॥
प्रमापि योगे तात्पर्यादतात्पर्यान्न सा प्रमा ।
अवैदिके प्रधानादावसंकोचस्तयाऽप्यतः* ॥२॥

[अधिकरणसार]

सन्देह—वेदसमन्वयका योगस्मृतिसे संकोच होता है या नहीं ?

पूर्वपक्ष—योग श्रुतिप्रतिपादित है और तत्त्वज्ञानमें उपयोगी है, इसलिए योग-शास्त्रसे वेदका संकोच होना युक्त है ।

सिद्धान्त—योगस्मृति अष्टाङ्गयोगमें तात्पर्य रखती है अतः उस विषयमें प्रमाण होनेपर भी अवैदिक प्रधान आदिमें तात्पर्य न होनेके कारण प्रमाण नहीं है । इसलिए योगस्मृतिसे भी वेदका संकोच होना युक्त नहीं है ।

---

* तात्पर्य यह है कि पूर्वपक्षी कहता है कि योगस्मृति—पतञ्जलि मुनिप्रणीत योगशास्त्रमें कथित अष्टाङ्गयोग प्रत्यक्ष वेदमें भी उपलब्ध होता है, क्योंकि श्वेताश्वतर आदि शाखाओंमें योगका विस्ताररूपसे वर्णन है । और योग तत्त्वज्ञानका उपयोगी है, क्योंकि 'दृश्यते त्वग्रयया बुद्ध्या' (एकाग्र बुद्धिसे देखा जाता है) इस प्रकार श्रुतिमें योगसे साध्य चित्तैकाग्रता ब्रह्मसाक्षात्कारके प्रति कारण कही गई है । इसलिए योगशास्त्र प्रमाणभूत है । वह योगशास्त्र प्रधानको जगत्कारण कहता है, इसलिए योगशास्त्रसे वेदका संकोच होना युक्त है ।

सिद्धान्ती कहते हैं कि योगशास्त्रका अष्टाङ्गयोगमें तात्पर्य है इसलिए योगमें प्रमाणभूत है, तो भी अवैदिक प्रधानमें प्रमाण नहीं है, क्योंकि प्रधान प्रतिपादनमें योगशास्त्रका तात्पर्य नहीं है । योगशास्त्रमें 'अथ योगानुशासनम्' (योगका शासन आरम्भ होता है) ऐसी प्रतिज्ञा करके योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः' (चित्तकी वृत्तियोंका निरोध करनेवाला अवस्थाविशेष योग है) इस प्रकार योगका ही लक्षण कह कर उसी योगका सम्पूर्ण शास्त्रमें विस्ताररूपसे प्रतिपादन किया गया है, इसलिए वह योगमें प्रमाण है । प्रधान आदिके प्रतिपादनमें प्रतिज्ञा नहीं है, किन्तु यम, नियम आदि साधनोंके प्रतिपादक दूसरे पादमें त्याज्य और त्याज्यके कारण एवं दुःख और दुःखके कारणोंके प्रतिपादनके अवसरमें प्रसंगात् सांख्यस्मृतिमें प्रसिद्ध प्रधान आदि कहे गये हैं, इसलिए प्रधान आदिमें योगशास्त्रका तात्पर्य नहीं है । इस कारण योगस्मृतिसे वेदका संकोच होना युक्त नहीं है ।

एतेन योगः प्रत्युक्तः ॥ ३ ॥

पदच्छेद—एतेन, योगः, प्रत्युक्तः ।

पदार्थोक्ति—एतेन—साङ्ख्यस्मृतिप्रत्याख्यानेन, योगः—योगस्मृतिरपि, प्रत्युक्तः—प्रत्याख्याता द्रष्टव्या ।

भाषार्थ—सांख्यस्मृतिके निराकरणसे योगस्मृतिका भी निराकरण समझना चाहिए ।

भाष्य

एतेन सांख्यस्मृतिप्रत्याख्यानेन योगस्मृतिरपि प्रत्याख्याता द्रष्टव्येत्यतिदिशति । तत्रापि श्रुतिविरोधेन प्रधानं स्वतन्त्रमेव कारणम्, महदादीनि च कार्याण्यलोकवेदप्रसिद्धानि कल्प्यन्ते । नन्वेवं सति समानन्यायात्वात् पूर्वेणैवैतद्गतं किमर्थं पुनरतिदिश्यते । अस्ति ह्यत्राभ्यधिकाऽऽशङ्का । सम्यग्दर्शनाभ्युपायो हि योगो वेदे विहितः 'श्रोतव्यो मन्तव्यो

भाष्यका अनुवाद

इस सांख्यस्मृतिके निराकरणसे योगस्मृति भी निराकृत हुई, ऐसा समझना चाहिए इस प्रकार सूत्रकार इस सूत्रमें पूर्वन्यायका अतिदेश करते हैं। योगमें भी प्रधान ही स्वतंत्र कारण है, एवं लोक और वेदमें अप्रसिद्ध महत् आदि कार्य हैं, ऐसी श्रुतिविरुद्ध कल्पना की गई है। यदि ऐसा हो, तो एक ही न्याय होनेसे पूर्व अधिकरणमें ही यह आ गया, पुनः इसका अतिदेश क्यों किया जाता है ? इसलिए कि यहां अधिक शंका है, 'श्रोतव्यो मन्तव्यो०'

रत्नप्रभा

ब्रह्मणि उक्तसमन्वयः प्रधानवादियोगस्मृत्या विरुध्यते न वेति सन्देहे पूर्वन्यायम् अतिदिशति—**एतेन योगः प्रत्युक्तः** इति । अतिदेशत्वात् पूर्ववत् सङ्गत्यादिकं द्रष्टव्यम् । पूर्वत्र अनुक्तनिरासं पूर्वपक्षमाह—**अस्ति ह्यत्रेति** ।

रत्नप्रभाका अनुवाद

ब्रह्ममें जो समन्वय कहा है, उसका प्रधानको जगत्कारण माननेवाली योगस्मृतिसे विरोध है या नहीं, ऐसा संशय होनेपर पूर्वन्यायका अतिदेश करते हैं—"एतेन योगः प्रत्युक्तः"। यह अतिदेश सूत्र है, इसलिए इस अधिकरणकी अध्याय आदि संगतियाँ पूर्व अधिकरणके समान ही समझनी चाहिएँ। पूर्व अधिकरणमें जिसका निराकरण नहीं

भाष्य

निदिध्यासितव्यः' (बृ०२।४।५) इति । 'त्रिरुन्नतं स्थाप्य समं शरीरम्' (श्वे०२।८) इत्यादिना चाऽऽसनादिकल्पनापुरःसरं बहुप्रपञ्चं योगविधानं श्वेताश्वतरोपनिषदि दृश्यते। लिङ्गानि च वैदिकानि योगविषयाणि सहस्रश उपलभ्यन्ते 'तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियधारणाम्' (का०२।६।११) इति। 'विद्यामेतां योगविधिं च कृत्स्नम् (का०२।६।१८) इति चैवमादीनि। योगशास्त्रेऽपि 'अथ तत्त्वदर्शनाभ्युपायो योगः' इति

भाष्यका अनुवाद

(आत्माका श्रवण, मनन और निदिध्यासन करना चाहिए) इस प्रकार वेदमें साक्षात्कारके साधनरूपसे योगका विधान किया है। 'त्रिरुन्नतं०' (तीन—वक्षःस्थल, ग्रीवा और सिर जिसमें ऊँचे हैं, ऐसे शरीरको समान रखकर योग करे) इत्यादिसे आसन आदिकी कल्पनापूर्वक विस्ताररूपसे योगका विधान श्वेताश्वतर उपनिषद्में किया गया है। और 'तां योगमिति मन्यन्ते०' (उस स्थिर इन्द्रिय धारणाको योग कहते हैं) 'विद्यामेतां०' (इस ब्रह्मविद्या और अखिल योगविधिको मृत्युके प्रसादसे प्राप्त करके नचिकेताने ब्रह्मको प्राप्त किया) इत्यादिमें योगके वैदिक लिंग हजारों दिखाई देते हैं। योगशास्त्रमें भी 'अथ तत्त्वदर्शनाभ्युपायो०' (योग तत्त्वदर्शनका उपाय है) इस प्रकार योग

रत्नप्रभा

निदिध्यासनम्—योगः। त्रीणि उरोग्रीवाशिरांसि उन्नतानि यस्मिन् शरीरे तत् त्र्युन्नतम्। त्रिरुन्नतमिति पाठश्चेच्छान्दसः। युञ्जीतेति शेषः। न केवलं योगे विधिः, किन्तु योगस्य ज्ञापकानि अर्थवादवाक्यान्यपि सन्तीत्याह—लिङ्गानि चेति। तां पूर्वोक्तां धारणां योगविदो योगं परमं तप इति मन्यन्ते। उक्तामेतां ब्रह्मविद्यां योगविधिं ध्यानप्रकारं च मृत्युप्रसादात् नचिकेता लब्ध्वा

रत्नप्रभाका अनुवाद

किया, ऐसा पूर्वपक्ष कहते हैं—"अस्ति ह्यत्र" इत्यादिसे। निदिध्यासन—योग। तीन—वक्षःस्थल, ग्रीवा और सिर जिसमें उन्नत हैं, ऐसा शरीर 'त्र्युन्नत' है। यदि 'त्रिरुन्नतम्' पाठ हो, तो उसे छान्दस समझना चाहिए। श्वेताश्वतर उपनिषद्के मंत्रमें 'युञ्जीत' इतना शेष समझना चाहिए। वेदमें योग विषयक केवल विधिवाक्य ही नहीं है, किन्तु योगके ज्ञापक अर्थवादवाक्य भी हैं, ऐसा कहते हैं—"लिङ्गानि च" इत्यादिसे। उस पूर्वोक्त धारणाको योगवेत्ता परम तप कहते हैं। पूर्वोक्त इस ब्रह्मविद्या और योगविधि—ध्यान प्रकारको मृत्युके प्रसादसे

भाष्य

सम्यग्दर्शनाभ्युपायत्वेनैव योगोऽङ्गीक्रियते। अतः संप्रतिपन्नार्थैकदेशत्वादष्टकादिस्मृतिवद् योगस्मृतिरप्यनपवदनीया भविष्यतीति। इयमप्यधिका शङ्काऽतिदेशेन निवर्त्यते, अर्थैकदेशसम्प्रतिपत्तावप्यर्थैकदेशविप्रतिपत्तेः पूर्वोक्ताया दर्शनात्। सतीष्वप्यध्यात्मविषयासु बह्वीषु स्मृतिषु साङ्ख्ययोगस्मृत्योरेव निराकरणे यत्नः कृतः। साङ्ख्ययोगौ हि परमपुरुषार्थसाधन-

भाष्यका अनुवाद

सम्यग्दर्शनका उपाय माना गया है। इसलिए योगस्मृतिके अर्थकी एकदेशमें संप्रतिपत्ति होनेसे अष्टका आदि स्मृतियोंके समान योगस्मृति भी अनिराकरणीय सिद्ध होगी। यह भी अधिक शंका अतिदेशसे निवृत्त की जाती है, क्योंकि अर्थके एकदेशमें संप्रतिपत्ति होनेपर भी अर्थके एकदेशमें पूर्वोक्त विप्रतिपत्ति दिखाई देती है। अध्यात्मविषयक बहुत स्मृतियाँ हैं, तो भी सांख्य स्मृति और योगस्मृतिके निराकरणमें ही यत्न किया है, क्योंकि सांख्य और योग परम-

रत्नप्रभा

ब्रह्म प्राप्त इति सम्बन्धः। योगस्मृतिः प्रधानादितत्त्वांशेऽपि प्रमाणत्वेन स्वीकार्या, सम्प्रतिपन्नः—प्रामाणिकोऽर्थैकदेशो योगरूपो यस्याः तत्त्वादित्यर्थः। "अष्टकाः कर्तव्याः" "गुरुरनुगन्तव्यः" इत्यादिस्मृतीनां वेदाविरुद्धार्थकत्वाद् मूलश्रुत्यनुमानेन प्रामाण्यमुक्तं प्रमाणलक्षणे। एवं योगस्मृतेर्योगे प्रामाण्यात् तत्त्वांशेऽपि प्रामाण्यम् इति पूर्वपक्षम् अनूद्य सिद्धान्तयति—इयमपीति। ननु बौद्धादिस्मृतयोऽत्र किमिति न निराकृता इत्यत आह—सतीष्वपीति। तासां प्रतारकत्वेन प्रसिद्धत्वाद् अशिष्टैः पशुप्रायैः गृहीतत्वाद् वेदबाह्यत्वाच्च अत्रोपेक्षा इति भावः।

रत्नप्रभाका अनुवाद

जान कर नचिकेताने ब्रह्मको प्राप्त किया, ऐसा संबन्ध है। योगस्मृतिको प्रधान आदि तत्त्वोंके अंशमें भी प्रमाण मानना चाहिए, क्योंकि उसका अर्थैकदेश योग प्रामाणिक है ऐसा अर्थ है। 'अष्टकाः' (अष्टका श्राद्ध करना चाहिए) 'गुरुरनुगन्तव्यः' (गुरुका अनुसरण करना चाहिए) इत्यादि स्मृतियाँ वेदसे अविरुद्ध अर्थका प्रतिपादन करती हैं, इसलिए प्रमाणलक्षणमें मूलश्रुतिके अनुमानसे उन स्मृतियोंका प्रामाण्य कहा गया है। इसी प्रकार योगस्मृति भी योगमें प्रमाण होनेसे तत्त्वांशमें भी प्रमाण है, इस पूर्वपक्षका अनुवाद करके सिद्धान्त करते हैं—"इयमपि" इत्यादिसे। यदि कोई कहे कि यहां बौद्ध आदि स्मृतियोंका निराकरण क्यों नहीं किया गया है, इसपर कहते हैं—"सतीष्वपि" इत्यादि। आशय यह है कि बौद्ध आदि स्मृतियाँ वंचकरूपसे प्रसिद्ध हैं, वेदका प्रमाण न माननेवाले पशुप्राय नरोंसे

भाष्य

त्वेन लोके प्रख्यातौ, शिष्टैश्च परिगृहीतौ, लिङ्गेन च श्रौतेनोपबृंहितौ— 'तत्कारणं सांख्ययोगाभिपन्नं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः' (श्वे० ६।१३) इति। निराकरणं तु न सांख्यस्मृतिज्ञानेन वेदनिरपेक्षेण योगमार्गेण वा निःश्रेयसमधिगम्यत इति। श्रुतिर्हि वैदिकादात्मैकत्वविज्ञानादन्यन्निःश्रेयससाधनं वारयति 'तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय' (श्वे० ३।८) इति। द्वैतिनो हि ते सांख्या योगाश्च नाऽऽत्मैकत्वदर्शिनः। यत्तु दर्शनमुक्तम्—तत्कारणं सांख्ययोगाभिपन्नम् इति, वैदिकमेव तत्र ज्ञानं ध्यानं च सांख्ययोगशब्दाभ्यामभिलप्येते प्रत्यासत्ते-

भाष्यका अनुवाद

पुरुषार्थके साधनरूपसे लोकमें प्रख्यात हैं, शिष्टों द्वारा परिगृहीत हैं और 'तत्कारणं सांख्ययोगाभिपन्नं०' (उन कर्मोंके कारण सांख्य और योगसे प्राप्त हुए देवको जानकर पुरुष सब पाशोंसे मुक्त हो जाता है) इत्यादि श्रौतलिङ्गसे पुष्ट हैं। वेदनिरपेक्ष सांख्यज्ञानसे या योगमार्गसे मोक्ष प्राप्त नहीं होता, इस हेतुसे निराकरण किया गया है। 'तमेव विदित्वातिमृत्युमेति०' (उसीको जानकर मृत्युसे छुटकारा पाता है, मोक्षके लिए अन्य मार्ग नहीं है) यह श्रुति वैदिक आत्मैकत्वविज्ञानको छोड़कर दूसरा मोक्षका साधन नहीं है, ऐसा प्रतिपादन करती है। इसमें सन्देह नहीं है कि सांख्य और पातञ्जल द्वैतमार्गी हैं, आत्माको एक माननेवाले नहीं हैं। 'तत्कारणं साङ्ख्ययोगाभिपन्नम्' इत्यादि जो दर्शन कहा गया है, उसमें सांख्य और योगशब्दोंसे सान्निध्यके कारण

रत्नप्रभा

तत्कारणमिति। तेषां प्रकृतानां कामानां कारणं सांख्ययोगाभ्यां विवेकध्यानाभ्याम् अभिपन्नं प्रत्यक्तया प्राप्तं देवं ज्ञात्वा सर्वपाशैः अविद्यादिभिः मुच्यते इत्यर्थः। समूलत्वे स्मृतिद्वयस्य निरासः किमिति कृत इत्यत आह— निराकरणन्त्विति। इति हेतोः कृतमिति शेषः। प्रत्यासत्तेरिति। श्रुतिस्थ-

रत्नप्रभाका अनुवाद

स्वीकृत हैं और वेदबाह्य हैं, इसलिये यहाँ उनकी उपेक्षा की गई है। "तत्कारणम्" इत्यादि। उनका अर्थात् प्रकृत कामनाओंके कारण, विवेक और ध्यानसे प्रत्यग्रूपसे प्राप्त देवको जान कर अविद्या आदि पाशोंसे मुक्त हो जाता है, यह 'तत्कारणम्' इत्यादि श्रुतिका अर्थ है। यदि सांख्यस्मृति और योगस्मृति श्रुतिमूलक हैं, तो उनका निराकरण क्यों किया गया, इस पर कहते हैं—"निराकरणं तु" इत्यादि। 'इति' के बाद 'हेतोः कृतम्' (कारणसे किया गया)

भाष्य

रित्यवगन्तव्यम् । येन त्वंशेन न विरुध्येते तेनेष्टमेव सांख्ययोगस्मृत्योः सावकाशत्वम् । तद्यथा—'असङ्गो ह्ययं पुरुषः' (बृ० ४।३।१६) इत्येवमादिश्रुतिप्रसिद्धमेव पुरुषस्य विशुद्धत्वं निर्गुणपुरुषनिरूपणेन सांख्यैरभ्युपगम्यते । तथा च योगैरपि 'अथ परिव्राड् विवर्णवासा मुण्डोऽपरिग्रहः' (जाबा० ५) इत्येवमादि श्रुतिप्रसिद्धमेव निवृत्तिनिष्ठत्वं प्रव्रज्याद्युपदेशेनाऽनुगम्यते । एतेन सर्वाणि तर्कस्मरणानि प्रतिवक्तव्यानि । तान्यपि तर्कोपपत्तिभ्यां तत्त्वज्ञानायोपकुर्वन्तीति चेदुपकुर्वन्तु नाम । तत्त्वज्ञानं तु वेदान्तवाक्येभ्य एव भवति 'नावेदविन्मनुते तं बृहन्तम्'

भाष्यका अनुवाद

वैदिक ज्ञान और ध्यान ही कहे गये हैं, ऐसा समझना चाहिए। जितने अंशमें सांख्य और योगस्मृतिका श्रुतिसे विरोध नहीं है, उतने अंशमें उनका प्रामाण्य इष्ट ही है। जैसे 'असङ्गो०' (यह आत्मा निश्चय असङ्ग है) इत्यादि श्रुतियोंमें प्रसिद्ध ही आत्माके विशुद्धत्वका निर्गुण आत्माके निरूपणसे सांख्य स्वीकार करते हैं। उसी प्रकार योगदर्शनवाले भी 'अथ परिव्राड्०' (परिव्राजकको काषाय वस्त्र पहनना चाहिए, सिर मुण्डित रखना चाहिए, किसीका परिग्रह नहीं करना चाहिए) इत्यादि श्रुतिप्रसिद्ध निवृत्तिमार्गका ही प्रव्रज्या आदिके उपदेशसे अनुसरण करते हैं। इससे सब तर्कस्मृतियों का निराकरण करना चाहिए। वे भी तर्क और युक्तिसे तत्त्वज्ञानके उपकारक होते हैं, यदि ऐसा कहो, तो भले उपकारक हों। परन्तु 'नावेदविन्मनुते०' (अवेदज्ञ उस ब्रह्मको नहीं जानता)

रत्नप्रभा

सांख्ययोगशब्दयोः सजातीयश्रुत्यर्थग्राहित्वादिति यावत् । किं सर्वांशेषु स्मृत्यप्रामाण्यम्? नेत्याह—**येन त्वंशेनेति**। ब्रह्मवादस्य कणभक्षादिस्मृतिभिः विरोधमाशङ्क्याऽतिदिशति—**एतेनेति**। श्रुतिविरोधेन इत्यर्थः । उपकारकबाधो न युक्त इत्याशङ्क्य यः अंश उपकारकः स न बाध्यः किन्तु तत्त्वांश इत्याह—**तान्यपीति**।

रत्नप्रभाका अनुवाद

इतना शेष समझना चाहिए। "प्रत्यासत्तेः" अर्थात् श्रुतिस्थ सांख्य और योग शब्द सजातीय श्रुत्यर्थका ग्रहण कराते हैं। तब क्या स्मृति सभी अंशोंमें अप्रमाण है? नहीं, ऐसा कहते हैं—"येन त्वंशेन" इत्यादिसे। ब्रह्मवादका वैशेषिक आदि मतोंके साथ विरोध है, ऐसी आशंका करके पूर्व न्यायका अतिदेश करते हैं—"एतेन" इत्यादिसे। एतेन—श्रुतिविरोधसे। उपकारकका बाध करना युक्त नहीं है, ऐसी आशंका करके जो अंश

भाष्य

(तै० ब्रा० ३।१२।९।७) 'तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि' (बृ० ३।९।२६) इत्येवमादिश्रुतिभ्यः ॥३॥

भाष्यका अनुवाद

'तं त्वौपनिषदं०' (मैं उस उपनिषद्गम्य आत्माको पूछता हूँ) इत्यादि श्रुतियोंसे प्रतीत होता है कि तत्त्वज्ञान तो वेदान्तवाक्योंसे ही होता है ॥ ३ ॥

रत्नप्रभा

तर्कः—अनुमानम् । तदनुग्राहिका युक्तिः—उपपत्तिः, स्मृतीनाम् अप्रामाण्यात् ताभिः समन्वयस्य न विरोध इति सिद्धम् ॥ ३ ॥ (२)

रत्नप्रभाका अनुवाद

उपकारक है, वह बाध्य नहीं है, किन्तु तत्त्वांश बाध्य है, ऐसा कहते हैं—"तान्यपि" इत्यादिसे । तर्क—अनुमान । उपपत्ति—तर्ककी अनुग्राहिका युक्ति, स्मृतियोंके अप्रमाण होनेसे पूर्वोक्त समन्वयका उनसे विरोध नहीं है ॥३॥
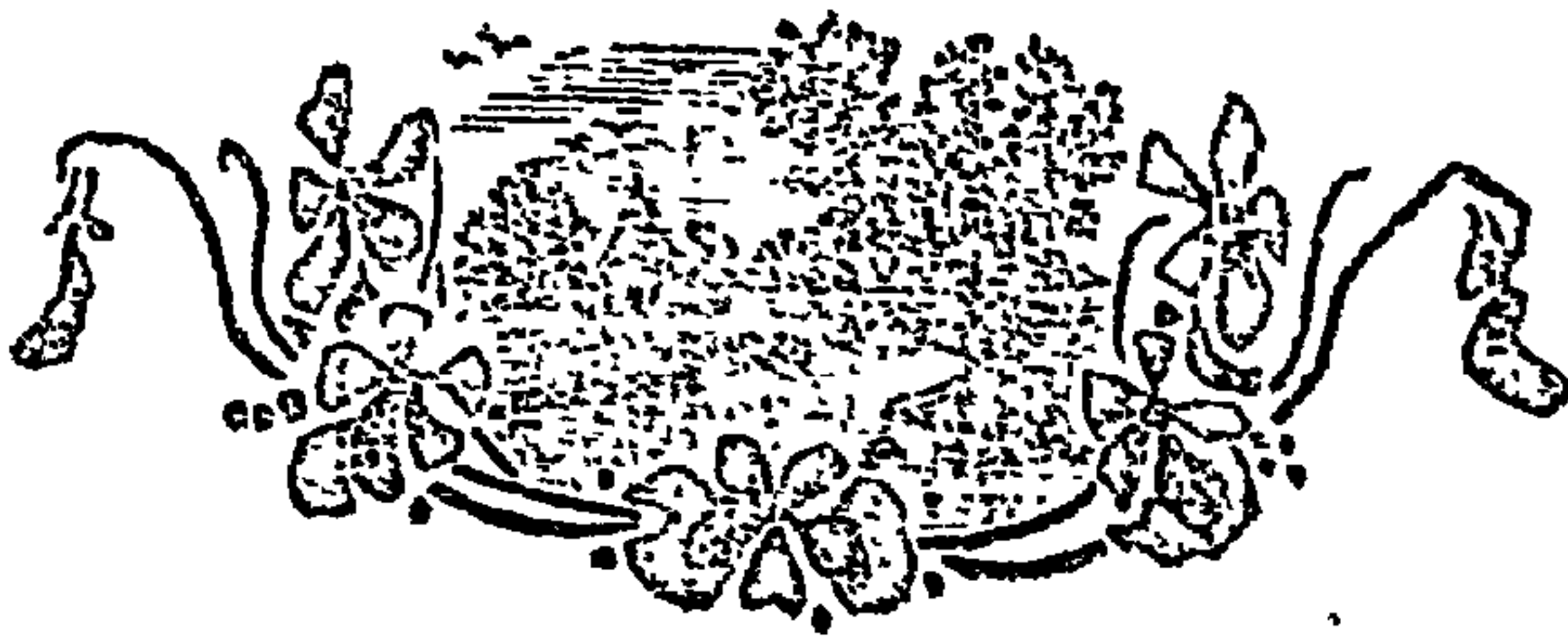
[३ विलक्षणत्वाधिकरण सू० ४—१२]

वैलक्षण्याख्यतर्केण बाध्यतेऽथ न बाध्यते ।
बाध्यते साम्यनियमात् कार्यकारणवस्तुनोः ॥१॥
मृद्घटादौ समत्वेऽपि दृष्टं वृश्चिककेशयोः ।
स्वकारणेन वैषम्यं तर्काभासो न बाधकः ॥२॥

[अधिकरणसार]

सन्देह—वेदसमन्वयका वैलक्षण्यरूप तर्कसे बाध होता है अथवा नहीं ?

पूर्वपक्ष—यह नियम है कि कार्य और कारणकी समानता होनी चाहिए, इसलिए समन्वय बाधित होता है ।

सिद्धान्त—घटरूप कार्य यद्यपि अपने कारणभूत मृत्के समान देखा जाता है, तथापि वृश्चिक और केशरूप कार्य अपने कारणसे विषम देखे जाते हैं, इसलिए वैलक्षण्य तर्काभास है बाधक नहीं है ।

---

* तात्पर्य यह है कि पूर्वपक्षी कहता है—ब्रह्ममें जो वेदान्तोंका समन्वय कहा गया है, उसमें तर्क बाधक है । अचेतन जगत् चेतन ब्रह्मसे उत्पन्न नहीं हो सकता, क्योंकि जगत् ब्रह्मसे विलक्षण है। जो जिससे विलक्षण होता है, वह उससे उत्पन्न नहीं होता, जैसे गौसे महिष, इस तर्कसे समन्वय बाधित होता है।

सिद्धान्ती कहते हैं कि कार्य और कारण समानस्वरूपवाले होते हैं, इस व्याप्तिका वृश्चिक आदिमें व्यभिचार देखा जाता है, क्योंकि अचेतन गोमयसे चेतन वृश्चिक उत्पन्न होता है और चेतन मनुष्यसे अचेतन केश, नख आदि उत्पन्न होते हैं, इसलिए वेदनिरपेक्ष शुष्क तर्क कहीं प्रतिष्ठित नहीं है । आचार्य कहते हैं—

"यत्नेनानुमितोऽप्यर्थः कुशलैरनुमातृभिः ।
अभियुक्ततरैरन्यैरन्यथैवोपपाद्यते ॥"

अर्थात् अनुमान करनेवाले कुशल पुरुषोंसे प्रयत्नपूर्वक जो अर्थ अनुमान द्वारा सिद्ध किया जाता है, उसे भी और अधिक तीक्ष्णबुद्धिवाले अन्यथा कर देते हैं । इसलिए वैलक्षण्यरूप हेतु तर्काभास होनेसे समन्वयका बाधक नहीं है ।

न विलक्षणत्वादस्य तथात्वं च शब्दात् ॥४॥

पदच्छेद—न, विलक्षणत्वात्, अस्य, तथात्वम्, च, शब्दात्।

पदार्थोक्ति—न—न जगत् चेतनप्रकृतिकम् [कुतः] अस्य—अचेतनस्य जगतः, विलक्षणत्वात्—चेतनाद्विलक्षणत्वात्। तथात्वं च—वैलक्षण्यं च, शब्दात्—'विज्ञानं चाविज्ञानं च' इत्यादिश्रुतितोऽवगम्यते।

भाषार्थ—यह जगत् चेतनप्रकृतिक अर्थात् चेतन जिसका उपादानकारण है, ऐसा नहीं है, क्योंकि अचेतन जगत् चेतन ब्रह्मसे विलक्षण है। ब्रह्म और जगत्का वैलक्षण्य तो 'विज्ञानं०' (चेतन और अचेतन) इत्यादि श्रुतिसे जाना जाता है।

भाष्य

ब्रह्माऽस्य जगतो निमित्तकारणं प्रकृतिश्चेत्यस्य पक्षस्याऽऽक्षेपः स्मृतिनिमित्तः परिहृतः। तर्कनिमित्त इदानीमाक्षेपः परिह्रियते। कुतः पुनरस्मिन्नवधारित आगमार्थे तर्कनिमित्तस्याऽऽक्षेपस्याऽवकाशः। ननु धर्म इव ब्रह्मण्यप्यनपेक्ष आगमो भवितुमर्हति। भवेदयमवष्टम्भो यदि प्रमा-

भाष्यका अनुवाद

ब्रह्म इस जगत्का निमित्तकारण और उपादानकरण है, इस पक्षमें सांख्य आदि स्मृतियोंसे होनेवाले आक्षेपका परिहार किया जा चुका है। अब तर्कसे आक्षेपका परिहार करते हैं। परन्तु निश्चित वेदार्थमें तर्कसे होनेवाले आक्षेपका अवसर ही कहां है? क्योंकि वेद जैसे धर्ममें स्वतःप्रमाण है, वैसे ही

रत्नप्रभा

न विलक्षणत्वाद्। वृत्तानुवादेनाऽस्याऽधिकरणस्य तात्पर्यमाह—ब्रह्माऽस्येति। पूर्वपक्षमाक्षिपति—कुतः पुनरिति। अनवकाशे हेतुमाह—ननु धर्म इवेति। मानान्तरानपेक्षे वेदैकसमधिगम्ये ब्रह्मणि अनुमानात्मकतर्कस्याऽप्रवेशः, तेन आक्षेपस्य अनवकाशः भिन्नविषयत्वात् तर्कवेदयोः इत्यर्थः। सिद्धस्य माना-

रत्नप्रभाका अनुवाद

"विलक्षणत्वात्"। वृत्तका अनुवाद करके इस अधिकरणका तात्पर्य कहते हैं—"ब्रह्माऽस्य" इत्यादिसे। पूर्वपक्षपर आक्षेप करते हैं—"कुतः पुनः" इत्यादिसे। अनवकाशमें हेतु कहते हैं—"ननु धर्म इव" इत्यादिसे। अन्य प्रमाणकी अपेक्षा जिसमें नहीं है और केवल वेदसे

भाष्य

णान्तरानवगाह्य आगममात्रप्रमेयोऽयमर्थः स्यादनुष्ठेयरूप इव धर्मः। परिनिष्पन्नरूपं तु ब्रह्माऽवगम्यते। परिनिष्पन्ने च वस्तुनि प्रमाणान्तराणामस्त्यवकाशो यथा पृथिव्यादिषु। यथा च श्रुतीनां परस्परविरोधे सत्येकवशेनेतरा नीयन्ते, एवं प्रमाणान्तरविरोधेऽपि तद्वशेनैव श्रुतिर्नीयेत। दृष्टसाम्येन चाऽदृष्टमर्थं समर्थयन्ती युक्तिरनुभवस्य संनिकृष्यते। विप्र-

भाष्यका अनुवाद

ब्रह्ममें भी स्वतःप्रमाण है। यह दृष्टान्त तभी घट सकता है यदि अनुष्ठेय धर्मके समान ब्रह्म भी प्रमाणान्तरसे अज्ञेय और केवल वेदसे ज्ञेय हो। ब्रह्म तो सिद्ध वेदसे समझा जाता है। पृथिवी आदिके समान सिद्ध वस्तुमें अन्य प्रमाणोंका अवकाश है। और जैसे श्रुतियोंमें परस्पर विरोध उपस्थित होनेपर एक श्रुतिके अनुसार अन्य श्रुतियोंका अर्थ किया जाता है, वैसे अन्य प्रमाणोंके साथ श्रुतिका विरोध होनेपर उनके अनुसार ही

रत्नप्रभा

न्तरगम्यत्वाद् एकविषयत्वाद् विरोध इति पूर्वपक्षं समर्थयते—भवेदयमिति। अवष्टम्भः—दृष्टान्तः। ननु एकविषयत्वेन विरोधेऽपि श्रुतिविरोधाद् मानान्तरमेव बाध्यतामित्यत आह—यथा चेति। प्रबलश्रुत्या दुर्बलश्रुतिबाधवत् निरवकाशमानान्तरेण लक्षणावृत्त्या सावकाशश्रुतिनयनं युक्तमित्यर्थः। किञ्च, ब्रह्मसाक्षात्कारस्य मोक्षहेतुत्वेन प्रधानस्य अन्तरङ्गं तर्कः तस्य अपरोक्षदृष्टान्तगोचरत्वेन प्रधानवत् अपरोक्षार्थविषयत्वात्, शब्दस्तु परोक्षार्थकत्वाद् बहिरङ्गम् अतः तर्केण बाध्य इत्याह—दृष्टेति। ऐतिह्यमात्रेण—परोक्षतयेति यावत्। अनुभवस्य

रत्नप्रभाका अनुवाद

ज्ञात होनेवाले ब्रह्ममें अनुमानरूप तर्कका प्रवेश नहीं है, इसलिए आक्षेपका अवसर नहीं है क्योंकि तर्क और वेदके विषय भिन्न हैं। जो सिद्ध वस्तु है, वह अन्य प्रमाणसे गम्य है, इसलिए तर्क और वेदका विषय एक होनेसे विरोध संभव है, इस प्रकार पूर्वपक्षका समर्थन करते हैं—"भवेदयम्" इत्यादि। अवष्टम्भ—दृष्टान्त। दोनोंका विषय एक होनेसे विरोध होनेपर भी श्रुतिका विरोध हो, तो अन्य प्रमाणका ही बाध होना चाहिए, इसपर कहते हैं—"यथा च" इत्यादि। जैसे प्रबल श्रुतिसे दुर्बल श्रुतिका बाध होता है, वैसे ही निरवकाश अन्य प्रमाणसे लक्षणावृत्ति द्वारा सावकाश श्रुतिका अर्थ करना ही युक्त है, ऐसा अर्थ है। ब्रह्मसाक्षात्कार मोक्षका साधन होनेसे प्रधान है और तर्क उसका अन्तरङ्ग है, क्योंकि वह अपरोक्ष—प्रत्यक्षभूत दृष्टान्तविषयक होता है अर्थात् प्रत्यक्ष दृष्टान्तकी अपेक्षा रखता है, अतः प्रधानभूत ब्रह्मसाक्षात्कारके समान अपरोक्षार्थ विषयक है, श्रुति तो परोक्षार्थविषयक

भाष्य

कृष्यते तु श्रुतिरैतिह्यमात्रेण स्वार्थाभिधानात्। अनुभवावसानं च ब्रह्मविज्ञानमविद्याया निवर्तकं मोक्षसाधनं च दृष्टफलतयेष्यते। श्रुतिरपि 'श्रोतव्यो मन्तव्यः' इति श्रवणव्यतिरेकेण मननं विदधती तर्कमप्यत्राऽऽदर्तव्यं दर्शयति। अतस्तर्कनिमित्तः पुनराक्षेपः क्रियते 'न विलक्षणत्वादस्य' इति। यदुक्तम्—चेतनं ब्रह्म जगतः कारणं प्रकृतिः इति। तन्नोपपद्यते। कस्मात्? विलक्षणत्वादस्य विकारस्य प्रकृत्याः। इदं हि

भाष्यका अनुवाद

श्रुतिका अर्थ करना उचित है। अनुभूत अर्थके सादृश्यसे अदृष्ट अर्थका समर्थन करनेवाली युक्ति अनुभवसे संनिकृष्ट है। श्रुति तो ऐतिह्य[1]मात्रसे स्वार्थका अभिधान करती है, इसलिए अनुभवसे दूर है और दृष्टफलक होनेके कारण अविद्या निवर्तक और मोक्षसाधन ब्रह्मविज्ञानका अन्तिम फल अनुभव ही माना गया है। श्रोतव्यो०' (श्रवण और मनन करना चाहिए) इस प्रकार श्रवणसे भिन्न मननका विधान करनेवाली श्रुति भी तर्कका आदर करना युक्त है, ऐसा दिखलाती है। इसलिए 'न विलक्षणत्वादस्य' इस सूत्रसे तर्क-

रत्नप्रभा

प्रधान्यं दर्शयति—अनुभवावसानञ्चेति। नैषा तर्केण मतिरित्यर्थवादेन तर्कस्य निषेधमाशङ्क्य विधिविरोधाद् मैवमित्याह—श्रुतिरपीति। एवं पूर्वपक्षं सम्भाव्य चेतनब्रह्मकारणवादिवेदान्तसमन्वयः, क्षित्यादिकं न चेतनप्रकृतिकम्, कार्यद्रव्यत्वाद्, घटवदिति सांख्ययोगन्यायेन विरुध्यते न वा इति सन्देहे स्मृतेः मूलाभावाद् दुर्बलत्वेऽपि अनुमानस्य व्याप्तिमूलत्वेन प्राबल्यात् तेन विरुध्यते इति प्रत्युदाहरणेन पूर्वपक्षयति—न विलक्षणत्वादिति। पूर्वोत्तरपक्षयोः

रत्नप्रभाका अनुवाद

होती है, ऐसा कहते हैं—"दृष्ट" इत्यादिसे। ऐतिह्यमात्रसे—परोक्ष रीतिसे, प्रवाहपरंपरा मात्रसे। अनुभवका प्राधान्य दिखलाते हैं—"अनुभवावसानं च" इत्यादि। 'नैषा तर्केण०' इस अर्थवादसे तर्कके निषेधकी आशंका करके "श्रुतिरपि" इत्यादिसे कहते हैं कि अर्थवाद विधिसे विरुद्ध है, अतः यह आशंका युक्त नहीं है। इस प्रकार पूर्वपक्षकी संभावना करके चेतनब्रह्मकारणवादीका वेदान्तसमन्वय सांख्य, योग सिद्धान्तसे विरुद्ध है या नहीं, ऐसा संशय होनेपर स्मृतिकी मूलभूत श्रुतिके न होनेसे उसके दुर्बल होनेपर भी 'क्षिति आदि चेतनप्रकृतिक नहीं है, कार्य द्रव्य होनेसे, घटके समान' इस अनुमानके व्याप्तिमूलक

(१) जिसका वक्ता अनिर्दिष्ट है, ऐसा परम्परागत वाक्य।

भाष्य

ब्रह्मकार्यत्वेनाऽभिप्रेयमाणं जगत् ब्रह्मविलक्षणमचेतनमशुद्धं च दृश्यते। ब्रह्म च जगद्विलक्षणं चेतनं शुद्धं च श्रूयते। न च विलक्षणत्वे प्रकृतिविकारभावो दृष्टः। नहि रुचकादयो विकारा मृत्प्रकृतिका भवन्ति शरावादयो वा सुवर्णप्रकृतिकाः। मृदैव तु मृदन्विता विकाराः क्रियन्ते सुवर्णेन च सुवर्णान्विताः। तथेदमपि जगद-चेतनं सुखदुःखमोहान्वितं सदचेतनस्यैव सुखदुःखमोहात्मकस्य कारणस्य

भाष्यका अनुवाद

निमित्तक फिर आक्षेप किया जाता है। चेतन ब्रह्म जगत्का कारण—प्रकृति है, ऐसा जो पीछे कहा गया है, वह ठीक नहीं है। क्योंकि यह विकार प्रकृतिसे विलक्षण है। ब्रह्मके कार्यरूपसे माना गया यह जगत् ब्रह्मसे विलक्षण, अचेतन और अशुद्ध दिखता है और ब्रह्म जगत्से विलक्षण, चेतन और शुद्ध है, ऐसा श्रुति कहती है। विलक्षण पदार्थोंमें परस्पर कार्यकारणभाव नहीं दिखाई देता है, क्योंकि मिट्टी रुचक आदि कार्योंकी उपादानकारण नहीं हो सकती है और शराव आदिका कारण सुवर्ण नहीं हो सकता। घट आदि मिट्टीके पदार्थ मिट्टीसे ही बनाए जाते हैं और रुचक आदि सुवर्णके पदार्थ सुवर्णसे ही बनाये जाते हैं। उसी प्रकार यह जगत् भी अचेतन एवं सुख, दुःख और मोहसे युक्त होनेके कारण अचेतन और सुख-दुःखमोहात्मक कारणका ही कार्य होना चाहिए, विलक्षण ब्रह्मका कार्य हो, यह युक्त नहीं

रत्नप्रभा

समन्वयासिद्धिः तत्सिद्धिश्चेति पूर्ववत् फलम्। जगत् न ब्रह्मप्रकृतिकम्, तद्वि-लक्षणत्वाद्, यद्यद्विलक्षणं तन्न तत्प्रकृतिकं यथा मृद्विलक्षणा रुचकादय इत्यर्थः। सुखदुःखमोहाः—सत्त्वरजस्तमांसि, तथा च जगत् सुखदुःखमोहात्मकसामान्य-प्रकृतिकम्, तदन्वितत्वाद्, यदित्थं तत्तथा यथा मृदन्विता घटादय इत्याह—

रत्नप्रभाका अनुवाद

होनेसे प्रबल होनेके कारण उससे विरुद्ध है, इस प्रकार प्रत्युदाहरणसे पूर्वपक्ष करते हैं—"न विलक्षणत्वात्" इत्यादिसे। पूर्व अधिकरणके समान इस अधिकरणमें भी पूर्वपक्षमें समन्वयकी असिद्धि और सिद्धान्तमें समन्वयकी सिद्धि फल हैं। जगत् ब्रह्मप्रकृतिक नहीं है, उससे विलक्षण होनेसे, जो जिससे विलक्षण होता है, वह उससे उत्पन्न नहीं कहा जाता, जैसे कि मृत्तिकासे विलक्षण रुचक आदि मृत्प्रकृतिवाले नहीं हैं। सुखदुःखमोह—सत्त्व, रज और तम। जगत् सुखदुःखमोहरूप एक उपादान कारणसे उत्पन्न है, क्योंकि सुख, दुःख आदिसे युक्त है, जो जिससे अन्वित होता है, वह उससे उत्पन्न होता है, जैसे मृत्तिकासे

भाष्य

कार्यं भवितुमर्हति, न विलक्षणस्य ब्रह्मणः। ब्रह्मविलक्षणत्वं चाऽस्य जगतोऽशुद्ध्यचेतनत्वदर्शनादवगन्तव्यम्। अशुद्धं हीदं जगत् सुखदुःखमोहात्मकतया प्रतीयते, प्रीतिपरितापविषादादिहेतुत्वात् स्वर्गनरकाद्युच्चावचप्रपञ्चत्वाच्च। अचेतनं चेदं जगत्, चेतनं प्रति कार्यकरणभावेनोपकरणभावोपगमात्। नहि साम्ये सत्युपकार्योपकारकभावो भवति, नहि प्रदीपौ परस्परस्योपकुरुतः। ननु चेतनमपि कार्यकरणं स्वामिभृत्यन्यायेन भोक्तुरुप-

भाष्यका अनुवाद

है। और यह जगत् ब्रह्मसे विलक्षण है, यह बात इसमें अशुद्धि, अचेतनत्व आदि देखनेसे प्रतीत होती है। इसमें सन्देह नहीं है कि यह जगत् अशुद्ध है, क्योंकि सुखदुःखमोहात्मक होनेसे प्रीति, परिताप, विषाद आदिका हेतु है और स्वर्ग, नरक आदि अनेक प्रकारके प्रपञ्चोंसे भरा है। और जगत् अचेतन है, क्योंकि शरीर, इन्द्रिय आदि रूपसे चेतनका उपकारक है। यदि साम्य—सादृश्य हो, तो उपकार्योपकारकभाव[1] ही नहीं बन सकता। दो दीपक परस्पर उपकारक नहीं होते। परन्तु जैसे सेवक स्वामीका उपकारक होता है, वैसे चेतनभूत देह, इन्द्रिय, आदि भी भोक्ताके उपकारक हो सकते हैं, नहीं, क्योंकि स्वामी और सेवकमें भी अचेतन अंश ही चेतनके प्रति उपकारक

रत्नप्रभा

मृदैवेति। जगतः ब्रह्मविलक्षणत्वं साधयति—ब्रह्मविलक्षणत्वञ्चेति। यथा हि एक एव स्त्रीपिण्डः पतिसपत्न्युपपतीनां प्रीतिपरितापविषादादीन् करोति, एवमन्येऽपि भावा द्रष्टव्याः। तत्र प्रीतिः—सुखम्, परितापः—शोकः, विषादः—भ्रमः। आदिपदाद् रागादिग्रहः। उभयोः चेतनत्वेन साम्याद् उपकार्योपकारकभावो न स्यादिति अयुक्तम्, स्वामिभृत्ययोः व्यभिचारादिति

रत्नप्रभाका अनुवाद

अन्वित घट मृत्तिकासे उत्पन्न होता है, ऐसा कहते हैं—"मृदैव" इत्यादिसे। जगत्को ब्रह्मसे विलक्षण सिद्ध करते हैं—"ब्रह्मविलक्षणत्वं च" इत्यादिसे। जैसे एक ही स्त्रीपिंड पति, सपत्नी और उपपतिके प्रेम, परिताप और विषादका हेतु होता है, उसी प्रकार अन्य पदार्थोंमें भी समझना चाहिए। प्रीति—सुख, परिताप—शोक, विषाद—भ्रम। आदि पदसे राग आदिका ग्रहण करना चाहिए। दोनों चेतन होनेसे उपकार्य-उपकारकभाव नहीं होता, यह अयुक्त है, क्योंकि स्वामी सेवकमें उक्त नियमका भंग

---

(१) एक उपकार्य और दूसरा उपकारक हो, ऐसी स्थिति।

भाष्य

करिष्यति । न, स्वामिभृत्ययोरप्यचेतनांशस्यैव चेतनं प्रत्युपकारकत्वात् । यो ह्येकस्य चेतनस्य परिग्रहो बुद्ध्यादिरचेतनभागः स एवाऽन्यस्य चेतनस्योपकरोति न तु स्वयमेव चेतनश्चेतनान्तरस्योपकरोत्यपकरोति वा । निरतिशया ह्यकर्तारश्चेतना इति साङ्ख्या मन्यन्ते । तस्मादचेतनं कार्यकरणम् । न च काष्ठलोष्टादीनां चेतनत्वे किंचित् प्रमाणमस्ति । प्रसिद्धश्चायं चेतनाचेतनविभागो लोके । तस्माद् ब्रह्मविलक्षणत्वान्नेदं जगत् तत्प्रकृतिकम् ।

योऽपि कश्चिदाचक्षीत श्रुत्वा जगतश्चेतनप्रकृतिकतां तद्बलेनैव समस्तं जगच्चेतनमवगमयिष्यामि, प्रकृतिरूपस्य विकारेऽन्वयदर्शनात् । अभिभावनं

भाष्यका अनुवाद

होता है । एक चेतनका परिग्रह—उपकारक बुद्धि आदि जो अचेतन भाग हैं, वे ही अन्य चेतनके उपकारक होते हैं, परन्तु स्वयं चेतन अन्य चेतनका उपकारक या अपकारक नहीं होता, क्योंकि चेतन अतिशय रहित और अकर्ता है, ऐसा सांख्य मानते हैं । इसलिए देह, इन्द्रिय आदि अचेतन हैं । लकड़ी और ढेले आदिके चेतन होनेमें कोई प्रमाण नहीं है । लोकमें चेतन और अचेतनका विभाग प्रसिद्ध है । इसलिए ब्रह्मसे विलक्षण होनेसे इस जगत्की प्रकृति ब्रह्म नहीं है ।

जगत्की प्रकृति चेतन है, ऐसा श्रुतिद्वारा जानकर उसके ही बलसे समस्त जगत्को चेतन सिद्ध करूँगा, क्योंकि प्रकृतिस्वरूपकी विकारमें अनुवृत्ति

रत्नप्रभा

शङ्कते—ननु चेतनमपीति । भृत्यदेहस्यैव स्वामिचेतनोपकारकत्वात् न व्यभिचार इत्याह—नेत्यादिना । उत्कर्षापकर्षशून्यत्वाच्चेतनानां मिथो न उपकारकत्वमित्याह—निरतिशया इति । तस्माद्—उपकारकत्वात् ।

श्रुतचेतनप्रकृतिकत्वबलेन जगच्चेतनमेव इत्येकदेशिमतम् उत्थापयति—योऽपीति । घटादेश्चेतनत्वमनुपलब्धिबाधितमित्यत आह—अविभावनन्त्विति ।

रत्नप्रभाका अनुवाद

दिखाई देता है, ऐसी शंका करते हैं—"ननु चेतनमपि" इत्यादिसे । सेवकका देह ही स्वामीके चेतन आत्माका उपकारक होता है, इससे व्यभिचार नहीं है, ऐसा कहते हैं—"न" इत्यादिसे । चेतन आत्मामें उत्कर्ष या अपकर्ष न होनेसे वे परस्पर उपकारक नहीं होते, ऐसा कहते हैं—"निरतिशया" इत्यादिसे । तस्माद्—उपकारक होनेसे ।

जगत् चेतनसे उत्पन्न हुआ है, ऐसा श्रुति कहती है, उस कथनके बलसे जगत् चेतन ही है ऐसा एकदेशीका मत उठाते हैं—"योऽपि" इत्यादिसे । परन्तु घट आदिका चेतनत्व

भाष्य

तु चैतन्यस्य परिणामविशेषाद् भविष्यति। यथा स्पष्टचैतन्यानामप्यात्मनां स्वापमूर्छाद्यवस्थासु चैतन्यं न विभाव्यत एवं काष्ठलोष्टादीनामपि चैतन्यं न विभावयिष्यते। एतस्मादेव च विभावितत्वाविभावितत्वकृताद् विशेषाद् रूपादिभावाभावाभ्यां च कार्यकरणानामात्मनां च चेतनत्वाविशेषेऽपि गुणप्रधानभावो न विरोत्स्यते। यथा च पार्थिवत्वाविशेषेऽपि मांसमूपौदनादीनां प्रत्यात्मवर्तिनो विशेषात् परस्परोपकारित्वं भवत्येवमिहापि भविष्यति। प्रविभागप्रसिद्धिरप्यत एव न विरोत्स्यत इति।

भाष्यका अनुवाद

देखी जाती है और विशेष परिणामके कारण चैतन्य अभिव्यक्त नहीं होता, जैसे स्पष्टतया जिनकी चेतनतामें किसीको सन्देह नहीं है, ऐसे आत्माओंका भी चैतन्य निद्रा, मूर्छा आदि अवस्थाओंमें प्रतीत नहीं होता, वैसे ही लकड़ी, पत्थर आदिका चैतन्य भी प्रतीत नहीं होता है। और इसी अभिव्यक्ति और अनभिव्यक्तिजन्य विशेषसे और रूप आदिके अस्तित्व और अभावके कारण देह, इन्द्रिय और आत्माओंमें चेतनत्वका विशेष नहीं है, तो भी गुण और प्रधानभावका निवारण कौन कर सकता है? जैसे मांस, सूप, ओदन आदि सामान्यरूपसे पृथिवीविकार होनेपर भी प्रत्यगात्मामें रहनेवाले विशेषसे परस्पर उपकारक होते हैं, वैसे ही यहां भी होगा। और इसीसे विभागकी प्रसिद्धिमें भी कोई विरोध नहीं है, ऐसा जो कोई कहे।

रत्नप्रभा

अन्तःकरणान्यपरिणामत्वात् सतोऽपि चैतन्यस्य अनुपलब्धिरित्यर्थः। अन्तःकरणाद् अन्यस्य वृत्त्युपरागदशायामेव चैतन्याभिव्यक्तिः नाऽन्यदा इति भावः। वृत्त्यभावे चैतन्यानभिव्यक्तौ दृष्टान्तः—यथेति। आत्मानात्मनोः चेतनत्वे स्वस्वामिभावः कुतः इत्यत आह—एतस्मादेवेति। साम्येऽपि प्रातिस्विकस्वरूपविशेषात् शेषशेषित्वे दृष्टान्तः—यथा चेति। चेतनाचेतनभेदः कथम्,

रत्नप्रभाका अनुवाद

उपलब्ध नहीं होता, इस अनुपलब्धिसे बाधित है,' इसपर कहते हैं—"अविभावनं तु" इत्यादि। घटादिरूप परिणाम अन्तःकरणसे भिन्न है, अतएव उसमें चैतन्य रहनेपर भी उसकी उपलब्धि नहीं होती है। अन्तःकरणसे भिन्न परिणाममें वृत्तिसंबन्धसमयमें ही चैतन्यकी अभिव्यक्ति होती है, अन्य समयमें नहीं होती है, इस विषयमें दृष्टान्त कहते हैं—"यथा" इत्यादिसे। आत्मा और अनात्मा दोनों चेतन हों, तो उनका स्वस्वामिभावसंबन्ध कैसे हो सकता है, इसपर कहते हैं—"एतस्मादेव" इत्यादि। सादृश्य रहनेपर भी अपने अपने स्वरूपके वैलक्षण्यसे अंगांगिभाव होता है, इस विषयमें दृष्टान्त कहते हैं—"यथा

भाष्य

तेनाऽपि कथंचिच्चेतनत्वाचेतनत्वलक्षणं विलक्षणत्वं परिह्रियेत। शुद्ध्यशुद्धित्वलक्षणं तु विलक्षणत्वं नैव परिह्रियते न चेतरदपि विलक्षणत्वं परिहर्तुं शक्यत इत्याह—तथात्वं च शब्दादिति। अनवगम्यमानमेव हीदं लोके समस्तस्य वस्तुनश्चेतनत्वं चेतनप्रकृतिकत्वश्रवणाच्छब्दशरणतया केवलयोत्प्रेक्ष्येत, तच्च शब्देनैव विरुध्यते। यतः शब्दादपि तथात्वमवगम्यते। तथात्वमिति प्रकृतिविलक्षणत्वं कथयति। शब्द एव 'विज्ञानं चाविज्ञानं च' (तै० २।६) इति कस्यचिद्विभागस्याऽचेतनतां श्रावयंश्चेतनाद् ब्रह्मणो विलक्षणमचेतनं जगच्छ्रावयति ॥४॥

भाष्यका अनुवाद

तो उस कथनसे भी किसी प्रकार चेतनत्व और अचेतनत्वरूप वैलक्षण्यका परिहार हो सकता है, परन्तु शुद्धि और अशुद्धिरूप वैलक्षण्यका परिहार तो हो ही नहीं सकता। इसी प्रकार दूसरी विलक्षणताका भी परिहार नहीं हो सकता, ऐसा कहते हैं—'तथात्वं च शब्दात्'। लोकमें समस्त पदार्थ चेतन नहीं प्रतीत होते हैं, श्रुतिमें चेतनसे उत्पत्ति कहनेके कारण यदि केवल श्रुतिप्रमाणसे उनमें चेतनताकी कल्पना की जाय, तो वह चेतनत्वकी कल्पना श्रुतिसे ही विरुद्ध होती है, क्योंकि श्रुतिसे भी तथात्व—वैसा स्वरूप जाननेमें आता है। तथात्वपदसे प्रकृतिसे विलक्षणताको सूत्रकार कहते हैं। 'विज्ञानं०' (विज्ञान और अविज्ञान) इस प्रकार किसी एक विभागकी अचेतनताका प्रतिपादन करनेवाली श्रुति ही चेतन ब्रह्मसे जगत् विलक्षण—अचेतन है, ऐसा प्रतिपादन करती है ॥ ४ ॥

रत्नप्रभा

इत्यत आह—प्रविभागेति। चैतन्याभिव्यक्त्यनभिव्यक्तिभ्यामित्यर्थः।

सर्वस्य चेतनत्वम् एकदेश्युक्तम् अङ्गीकृत्य सांख्यः परिहरति—तेनापि कथञ्चिदिति। अङ्गीकारं त्यक्त्वा सूत्रशेषेण परिहरति—न चेत्यादिना। इतरत्—चेतनाचेतनत्वरूपम्। वैलक्षण्यम्—तथात्वशब्दार्थः। श्रुतार्थापत्तिः शब्देन बाध्या इति भावः ॥ ४ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

च" इत्यादिसे। चेतन और अचेतनका भेद किस प्रकार है ? इसपर कहते हैं—"प्रविभाग" इत्यादि। इससे—चैतन्यकी अभिव्यक्ति और अनभिव्यक्तिसे।

एकदेशी द्वारा कथित सबकी चेतनताका अंगीकार करके सांख्य उसका परिहार करते हैं—"तेनापि कथंचित्" इत्यादिसे। अंगीकारका त्याग करके सूत्रके शेष भागसे उसका परिहार

भाष्य

ननु चेतनत्वमपि क्वचिदचेतनत्वाभिमतानां भूतेन्द्रियाणां श्रूयते, यथा 'मृदब्रवीत्' 'आपोऽब्रुवन्' (श० ब्रा० ६।१।३।२,४) इति, 'तत्तेज ऐक्षत' 'ता आप ऐक्षन्त' (छा० ६।२।३,४) इति चैवमाद्या भूतविषया चेतनत्वश्रुतिः, इन्द्रियविषयाऽपि 'ते हेमे प्राणा अहंश्रेयसे विवदमाना ब्रह्म जग्मुः' (बृ० ६।१।७) इति, 'ते ह वाचमूचुस्त्वं न उद्गायेति' (बृ० १।३।२) इत्येवमाद्येन्द्रियविषयेति । अत उत्तरं पठति—

भाष्यका अनुवाद

परन्तु अचेतनरूपसे माने हुए भूत और इन्द्रियोंमें भी कहीं कहीं श्रुतिमें चेतनत्व दिखाई देता है, जैसे 'मृदब्रवीत्' (मृत्तिका बोली) 'आपोऽब्रुवन्०' (जल बोले) इस प्रकार और 'तत्तेज०' (उस तेजने देखा) 'ता आप०' (उन जलोंने देखा) इत्यादि प्रकारसे भूतोंके लिए चेतनत्वश्रुति है । इन्द्रियोंके लिए भी है, जैसे कि 'ते हेमे प्राणा अहंश्रेयसे०' (निश्चय ये प्राण अपनी अपनी श्रेष्ठताके लिए विवाद करते हुए ब्रह्माके पास गये) 'ते ह वाचमूचुस्त्वं०' (उन देवोंने वाणीसे कहा कि तुम हमारे लिए उद्गाताका कर्म करो) इत्यादि इन्द्रियोंके लिए चेतनत्वश्रुति है । इसलिए उत्तर सूत्र पढ़ते हैं—

रत्नप्रभा

श्रुतिसाहाय्यात् न बाध्या इत्युत्तरसूत्रव्यावर्त्यं शङ्कते-नन्विति । मृदादीनां वक्तृत्वादिश्रुतेः तदभिमानिविषयत्वात् तथा "विज्ञानञ्चाविज्ञानञ्च" (तै०२।६।१) इति चेतनाचेतनविभागशब्दस्य उपचरितार्थत्वं न युक्तमिति सांख्यः समाधत्ते—

रत्नप्रभाका अनुवाद

करते है—"न च" इत्यादिसे । इतरत्—चेतनाचेतनत्वरूप । तथात्वशब्दका वैलक्षण्य अर्थ है । श्रुतार्थापत्ति शब्दसे बाध्य है, ऐसा भाव है ॥ ४ ॥

श्रुति सहायक है, इसलिए अर्थापत्तिका बाध नहीं होता है, इस प्रकार अग्रिम सूत्रसे निरसनीय शंका कहते हैं—"ननु" इत्यादिसे । मृत्तिका आदिको वक्ता कहनेवाली श्रुति उनके अधिष्ठाता देवताओंका प्रतिपादन करती है, इसलिए 'विज्ञानं चा०' (विज्ञान और अविज्ञान) इस प्रकार चेतन और अचेतनके विभागके वाचक शब्दोंका लक्ष्यार्थ युक्त नहीं है, ऐसा सांख्य समाधान करते हैं—

अभिमानिव्यपदेशस्तु विशेषानुगतिभ्याम् ॥५॥

पदच्छेद—अभिमानिव्यपदेशः, तु, विशेषानुगतिभ्याम् ।

पदार्थोक्ति—अभिमानिव्यपदेशस्तु—'ते हेमे प्राणा अहंश्रेयसे विवदमाना' इत्यादौ न प्राणादिमात्रस्य व्यपदेशः, किन्तु प्राणाद्यभिमानिनीनां देवतानां व्यपदेशः [भवति, कुतः] विशेषानुगतिभ्याम्—'एता ह वै देवता अहंश्रेयसे विवदमानाः' इति प्राणानां चेतनवाचिना देवताशब्देन विशेषितत्वात्, 'अग्नि-र्वाग्भूत्वा मुखं प्राविशत्' इत्यादिमन्त्रार्थवादादिषु सर्वत्र तदभिमानिदेवतानामनु-गतिश्रवणाच्च [तस्मादचेतनस्य जगतो वैलक्षण्यान्न चेतनप्रकृतिकत्वम्] ।

भाषार्थ—'ते हेमे प्राणा०' (ये प्राण अपनी अपनी श्रेष्ठताके बारेमें विवाद करते हुए) इत्यादि श्रुतिमें केवल प्राणका कथन नहीं है, किन्तु प्राणाद्य-भिमानी देवताओंका कथन है, क्योंकि 'एता ह वै देवता०' (ये देवता अपनी अपनी श्रेष्ठताके बारेमें विवाद करते हुए) इस प्रकार चेतनवाचक देवताशब्दसे प्राण विशेषित हैं और 'अग्निर्वाग्भूत्वा०' (अग्निने वाक् होकर मुखमें प्रवेश किया) इत्यादि मंत्र और अर्थवादोंमें सब जगह प्राणाद्यभिमानी देवताओंका अनुगमन कहा गया है । इससे प्रतीत होता है कि अचेतन जगत् चेतनसे विलक्षण होनेके कारण चेतनप्रकृतिक नहीं है ।

भाष्य

तुशब्द आशङ्कामपनुदति । न खलु मृदब्रवीदित्येवंजातीयकया श्रुत्या भूतेन्द्रियाणां चेतनत्वमाशङ्कनीयम्, यतोऽभिमानिव्यपदेश एषः । मृदा-द्यभिमानिन्यो वागाद्यभिमानिन्यश्च चेतना देवता वदनविसंवदनादिषु चेत-

भाष्यका अनुवाद

तुशब्द आशंकाका निराकरण करता है । 'मृदब्रवीत्' (मृत्तिका बोली) इस प्रकारकी श्रुतिसे भूत और इन्द्रियाँ चेतन हैं, यह शंका नहीं करनी चाहिए, क्योंकि यह कथन उनके अभिमानी देवताओंका है । मृत्तिका आदिके और वाणी आदिके अभिमानी चेतन देवताओंका वाद-विवाद आदि चेतनोचित

रत्नप्रभा

अभिमानीति । विसंवदनम्—विवादः, न भूतमात्रम् इन्द्रियमात्रं वा चेतनत्वेन

रत्नप्रभाका अनुवाद

"अभिमानि" इत्यादिसे । विसंवदन—विवाद । केवल भूतोंका या इन्द्रियोंका

भाष्य

नोचितेषु व्यवहारेषु व्यपदिश्यन्ते न भूतेन्द्रियमात्रम्। कस्मात्? विशेषानुगतिभ्याम्। विशेषो हि भोक्तॄणां भूतेन्द्रियाणां च चेतनाचेतनप्रविभागलक्षणः प्रागभिहितः। सर्वचेतनतायां चाऽसौ नोपपद्येत। अपि च कौषीतकिनः प्राणसंवादे करणमात्राशङ्काविनिवृत्तयेऽधिष्ठातृचेतनपरिग्रहाय देवताशब्देन विशिंषन्ति—'एता ह वै देवता अहंश्रेयसे विवदमानाः' इति। 'ता वा एताः सर्वा देवताः प्राणे निःश्रेयसं विदित्वा' (कौ० २।१४) इति च। अनुगताश्च सर्वत्राभिमानिन्यश्चेतना देवता मन्त्रार्थवादेतिहासपुराणादिभ्योऽ-

भाष्यका अनुवाद

व्यवहारमें अभिधान है, केवल भूत और इन्द्रियोंका अभिधान नहीं है। किससे? विशेष और अनुगतिसे। भोक्ताओं एवं भूत और इन्द्रियोंमें चेतन और अचेतन विभागरूप विशेष पहले कहा जा चुका है। और सबके चेतन होनेपर यह भेद उपपन्न नहीं होगा। और कौषीतकि शाखावाले प्राणसंवादमें केवल इन्द्रियोंकी आशंका निवृत्त करनेके लिए और चेतन अधिष्ठाताका स्वीकार करनेके लिए 'एता ह वै देवताः०' (ये प्रसिद्ध देवता अपनी अपनी श्रेष्ठताके लिए विवाद करते हुए) और 'ता वा एताः सर्वा देवताः०' (ये सब देवता प्राणमें श्रेष्ठता जानकर) इस प्रकार इन्द्रियोंके लिए 'देवताः' यह विशेषण देते हैं। अभिमानी देवता सर्वत्र अनुगत हैं, यह मंत्र, अर्थवाद, इतिहास, पुराण आदिसे

रत्नप्रभा

व्यपदिश्यते, लोकवेदप्रसिद्धविभागबाधायोगादित्यर्थः। विशेषपदस्याऽर्थान्तरमाह—अपि चेति। अहंश्रेयसे स्वस्वश्रेष्ठत्वाय प्राणाः विवदमाना इत्युक्तप्राणानां चेतनवाचिदेवतापदेन विशेषितत्वात् प्राणादिपदैः अभिमानिव्यपदेश इत्यर्थः। प्राणे निश्श्रेयसं श्रैष्ठ्यं विदित्वा प्राणाधीना जाता इत्यर्थः। अनुगतिं बहुधा व्याचष्टे—अनुगताश्चेति। तस्मै—प्राणाय, बलिहरणम्—वागादिभिः स्वीयवसिष्ठत्वादि-

रत्नप्रभाका अनुवाद

चेतनरूपसे व्यपदेश नहीं है, क्योंकि लोक और वेदमें प्रसिद्ध जो विभाग है, उसका बाध हो, यह युक्त नहीं है। विशेषपदका अन्य अर्थ कहते हैं—"अपि च" इत्यादिसे। अपनी अपनी श्रेष्ठताके लिए विवाद करनेवाले प्राण चेतनवाची देवताशब्दसे विशिष्ट हुए हैं, इसलिए प्राण आदि पदोंसे अधिष्ठाता देवताओंका व्यपदेश है, ऐसा अर्थ है। 'प्राणे निःश्रेयसं०'—प्राणमें श्रेष्ठता जानकर प्राणके अधीन हुए, ऐसा अर्थ है। अनुगतिका अनेक व्याख्यान करते हैं—"अनुगताश्च" इत्यादिसे। 'तस्मै बलिहरणम्'—प्राणके

अच्युतके उद्देश्य और नियम

उद्देश्य—

सनातन-धर्मकी उन्नति करनेवाले उत्तमोत्तम प्राचीन संस्कृत-ग्रन्थोंका भाषानुवाद प्रकाशित कर जनतामें ज्ञान और भक्तिका प्रचार करना इसका उद्देश्य है।

प्रबन्ध-सम्बन्धी नियम—

(१) 'अच्युत' प्रतिमास पूर्णिमाको प्रकाशित होता है।

(२) इसका वार्षिक मूल्य भारत के लिये ६) रु० और विदेशके लिये ८) रु० है। एक संख्याका मूल्य ।।) है।

(३) ग्राहकोंको मनीआर्डरद्वारा रुपये भेजनेमें सुविधा होगी। वी० पी० द्वारा मंगानेसे रजिस्टरीका व्यय उनके जिम्मे अधिक पड़ जायगा।

(४) मनीआर्डरसे रुपये भेजनेवाले ग्राहक महाशयोंको कूपनपर रुपयोंकी तादाद, रुपये भेजनेका मतलब, अपना पूरा पता, नये ग्राहकोंको 'नये ग्राहक' और पुराने ग्राहकोंको अपना ग्राहक-नम्बर स्पष्ट अक्षरोंमें लिख देना चाहिये।

(५) उत्तरके लिये जवाबी पोस्टकार्ड या टिकट भेजना चाहिये।

(६) जिन महाशयोंको अपना पता बदलवाना हो, उन्हें कार्यालयको पता बदलवानेके विषयमें पत्र लिखते समय अपना पुराना पता तथा ग्राहक-नम्बर लिखना नहीं भूलना चाहिये।

व्यवस्थापक

अच्युत-ग्रन्थमाला-कार्यालय,

ललिताघाट, बनारस।

Regd. No. A. 2426

विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परासुव ।
यद्भद्रं तन्न आसुव ॥

Cover printed at the Indian Press, Ltd.,
Benares.

अच्युत

वर्ष १ } संरक्षक—गौरीशङ्करगोयनका-समर्पित निधि, काशी { अङ्क ११

मार्गशीर्ष पूर्णिमा

१९९१

अच्युत

वार्षिक मूल्य—६)

एक प्रति का—॥)

सम्पादक—

पं० चण्डीप्रसाद शुक्ल, प्रिंसिपल जो० म० गोयनका संस्कृत महाविद्यालय,

स० सम्पादक तथा प्रकाशक—

पं० श्रीकृष्ण पन्त साहित्याचार्य, अच्युत-ग्रन्थमाला-कार्यालय,
ललिताघाट काशी।

मुद्रक—द० ल० निघोजकर, श्रीलक्ष्मीनारायण प्रेस, काशी।

निवेदन

रत्नप्रभाभाषानुवाद सहित ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्यका [प्रथम अध्याय तकका] प्रथम खण्ड शीघ्र प्रकाशित होनेवाला है। महामहोपाध्याय पण्डितप्रवर श्रीगोपीनाथ कविराजजी एम० ए० ने कृपापूर्वक भूमिका लिखना स्वीकार किया है। भूमिका लिखी जा रही है। इस खण्डकी विषय-सूची भी दूसरी बनेगी। हमें उसको 'अच्युत'के पूर्व अंकके साथ ही ग्राहक महोदयोंकी शुभसन्निधिमें भेज देना चाहिए था, किन्तु कुछ अनिवार्य कारणोंसे हम ऐसा नहीं कर सके। अनुग्राहक ग्राहकोंसे हमारी प्रार्थना है कि 'अच्युत' का जिल्द बँधवाना अभी स्थगित रक्खें। 'अच्युत'के अग्रिम अंकके साथ इस खण्डकी विषयसूची सबकी सेवामें पहुँचनेकी आशा है। तभी जिल्द बँधवानेमें सौकर्य होगा।

दूसरी प्रार्थना यह है कि अच्युतका प्रथम वर्ष अग्रिम मासमें समाप्त हो जायगा। यदि ग्राहक महोदय अभीसे मनिआर्डर द्वारा आगामी वर्षका चन्दा [४||)रू०] भेजनेका अनुग्रह करें, तो वी० पी० के व्यर्थ व्यय और समयकी बचत हो जायगी। जिन महाशयोंने प्रथम वर्ष में ६) रु० चन्दा दिया था, उन्हें इस वर्षके लिए ३) रु० ही भेजना चाहिए, उनका १||) रु० हमारे यहां जमा है।

निवेदक—

व्यवस्थापक।

अच्युत

विषय-सूची

ॐ सह नाववतु । सह नौ भुनक्तु । सह वीर्यं करवावहै ।
तेजस्वि नावधीतमस्तु मा विद्विषावहै ॥

कल्याण

तन्वन् श्रीश्रुतिसिद्धसन्मतमहाग्रन्थप्रकाशप्रथाम्,
ब्रह्माद्वैतसमिद्धशङ्करगिरां माधुर्य्यमुद्भावयन् ।
अज्ञानान्धतमिस्ररुद्धनयनान् दिव्यां दृशं लम्भयन्,
भक्तिज्ञानपथे स्थितो विजयतामाकल्पमेषोऽच्युतः ॥

वर्ष १ } मार्गशीर्ष पूर्णिमा १९९१ { अङ्क ११

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा
भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः ।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवांसस्तनूभि-
र्व्यशेम देवहितं यदायुः ॥

वेदसारशिवस्तवः—

पशूनां पतिं पापनाशं परेशं गजेन्द्रस्य कृत्तिं वसानं वरेण्यम् ।
जटाजूटमध्ये स्फुरद्गाङ्गवारिं महादेवमेकं स्मरामि स्मरारिम् ॥ १ ॥
महेशं सुरेशं सुरारातिनाशं विभुं विश्वनाथं विभूत्यङ्गभूषम् ।
विरूपाक्षमिन्द्वर्कवह्नित्रिनेत्रं सदानन्दमीडे प्रभुं पञ्चवक्त्रम् ॥ २ ॥
गिरीशं गणेशं गले नीलवर्णं गवेन्द्राधिरूढं गणातीतरूपम् ।
भवं भास्वरं भस्मना भूषिताङ्गं भवानीकलत्रं भजे पञ्चवक्त्रम् ॥ ३ ॥
शिवाकान्त शम्भो शशाङ्कार्धमौले महेशान शूलिन् जटाजूटधारिन् ।
त्वमेको जगद्व्यापको विश्वरूप प्रसीद प्रसीद प्रभो पूर्णरूप ॥ ४ ॥
परात्मानमेकं जगद्बीजमाद्यं निरीहं निराकारमोङ्कारवेद्यम् ।
यतो जायते पाल्यते येन विश्वं तमीशं भजे लीयते यत्र विश्वम् ॥ ५ ॥
न भूमिर्न चापो न वह्निर्न वायुर्न चाकाशमास्ते न तन्द्रा न निद्रा ।
न ग्रीष्मो न शीतं न देशो न वेषो न यस्यास्ति मूर्तिस्त्रिमूर्तिं तमीडे ॥ ६ ॥
अजं शाश्वतं कारणं कारणानां शिवं केवलं भासकं भासकानाम् ।
तुरीयं तमःपारमाद्यन्तहीनं प्रपद्ये परं पावनं द्वैतहीनम् ॥ ७ ॥
नमस्ते नमस्ते विभो विश्वमूर्ते नमस्ते नमस्ते चिदानन्दमूर्ते ।
नमस्ते नमस्ते तपोयोगगम्य नमस्ते नमस्ते श्रुतिज्ञानगम्य ॥ ८ ॥
प्रभो शूलपाणे विभो विश्वनाथ महादेव शम्भो महेश त्रिनेत्र ।
शिवाकान्त शान्त स्मरारे पुरारे त्वदन्यो वरेण्यो न मान्यो न गण्यः ॥ ९ ॥
शम्भो महेश करुणामय शूलपाणे गौरीपते पशुपते पशुपाशनाशिन् ।
काशीपते करुणया जगदेतदेकस्त्वं हंसि पासि विदधासि महेश्वरोऽसि ॥१०॥
त्वत्तो जगद्भवति देव भव स्मरारे त्वय्येव तिष्ठति जगन्मृड विश्वनाथ ।
त्वय्येव गच्छति लयं जगदेतदीश लिङ्गात्मकं हर चराचरविश्वरूपिन् ॥११॥

—श्रीशंकराचार्यः

भाष्य

वगम्यन्ते। 'अग्निर्वाग्भूत्वा मुखं प्राविशत्' (ऐ० आ० २।४।२।४) इत्येवमादिका च श्रुतिः करणेष्वनुग्राहिकां देवतामनुगतां दर्शयति। प्राणसंवादवाक्यशेषे च 'ते ह प्राणाः प्रजापतिं पितरमेत्योचुः' (छा० ५।१।७) इति श्रेष्ठत्वनिर्धारणाय प्रजापतिगमनम्, तद्वचनाच्चैकैकोत्क्रमणेनाऽन्वयव्यतिरेकाभ्यां प्राणश्रैष्ठ्यप्रतिपत्तिः, तस्मै बलिहरणम् [बृ० ६।१।१३] इति चैवंजातीयकोऽस्मदादिष्विव व्यवहारोऽनुगम्यमानोऽभिमानिव्यपदेशं द्रढयति। 'तत्तेज ऐक्षत' इत्यपि परस्या एव देवताया अधिष्ठात्र्याः स्वविकारेष्वनुगताया इयमीक्षा व्यपदिश्यत इति द्रष्टव्यम्।

भाष्यका अनुवाद

जाना जाता है। 'अग्निर्वाग्भूत्वा०' (अग्निने वाणी होकर मुखमें प्रवेश किया) इत्यादि श्रुति इन्द्रियोंके अनुग्राहक एवं इन्द्रियोंमें अनुगत देवताओंको दिखलाती है। और प्राणसंवादके वाक्यशेषमें 'ते ह प्राणाः प्रजापतिं०' (उन प्राणोंने पिता प्रजापतिके पास जाकर कहा) इस प्रकार श्रेष्ठत्व निश्चय करनेके लिए प्रजापतिके पास जाना और उनके वचनसे एक एक के उत्क्रमणसे अन्वयव्यतिरेकद्वारा प्राणकी श्रेष्ठत्वप्रतीति और उसके लिए बलि ले जाना इस प्रकारका हमारे समान जो व्यवहार देखा जाता है, वह अधिष्ठाताके व्यपदेशको दृढ़ करता है। 'तत्तेज ऐक्षत' (उस तेजने देखा) यह भी अपने विकारोंमें अनुगत हुए अन्य अधिष्ठाता देवताके ईक्षणका ही

रत्नप्रभा

गुणसमर्पणं कृतम्। तेजआदीनाम् ईक्षणं त्वयैव ईक्षत्यधिकरणे [ब्र०सू० १।१।५]

रत्नप्रभाका अनुवाद

लिए वाणी आदिने अपने वासिष्ठत्व आदि गुणका समर्पण किया है। तेज आदिका ईक्षण

(१) श्रेष्ठताका निश्चय करनेके लिए प्रजापतिके पास गये हुए प्राणोंके प्रति प्रजापतिने कहा कि तुममेंसे जिसके निकल जानेपर शरीर चेतनाशून्य होकर गिर जाय, वह श्रेष्ठ है। तब चक्षु आदि एक एक इन्द्रियके निकलनेपर अन्धत्व आदि प्राप्त हुए, परन्तु शरीरपात नहीं हुआ। जब मुख्य प्राण निकलने लगा, तब इन्द्रियां भी विकल हो गईं, शरीर भी गिरने लगा। तब सबने यह निर्णय किया कि मुख्य प्राण श्रेष्ठ है। अनन्तर चक्षु आदि इन्द्रियों ने मुख्य प्राणके लिए अपने अपने असाधारण गुणोंका समर्पण किया। यह प्राणसंवादका उपाख्यान है।

भाष्य

तस्माद् विलक्षणमेवेदं ब्रह्मणो जगत्, विलक्षणत्वाच्च न ब्रह्मप्रकृतिकम् ॥५॥

इत्याक्षिप्ते प्रतिविधत्ते—

भाष्यका अनुवाद

अभिधान है, ऐसा समझना चाहिए। इसलिए यह जगत् ब्रह्मसे विलक्षण ही है और विलक्षण होनेसे ही ब्रह्म उसकी प्रकृति नहीं है ॥ ५ ॥

ऐसा पूर्वपक्ष प्राप्त होनेपर उत्तर कहते हैं—

रत्नप्रभा

चेतननिष्ठतया व्याख्यातं द्रष्टव्यम् इत्यर्थः । यस्मात् नास्ति जगतः चेतनत्वं तस्मादिति पूर्वपक्षोपसंहारः ॥ ५ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

चेतननिष्ठ है, ऐसा तुमने (वेदान्तीने) ही ईक्षत्याधिकरणमें व्याख्यान किया है। चूँकि जगत् चेतन नहीं है, इसलिए [चेतन प्रकृतिक नहीं है] ऐसा पूर्वपक्षका उपसंहार है ॥५॥

दृश्यते तु ॥६॥

पदच्छेद—दृश्यते, तु ।

पदार्थोक्ति—तु–किन्तु चेतनात् तद्विलक्षणानामचेतनानाम्, तथा अचेतनात् तद्विलक्षणानां चेतनानाञ्चोत्पत्तिः, दृश्यते, [अतः अचेतनं जगत् चेतनप्रकृतिकं भवितुमर्हति] ।

भाषार्थ—चेतनसे चेतनविलक्षण अचेतन पदार्थोंकी एवं अचेतनसे तद्विलक्षण चेतन पदार्थोंकी उत्पत्ति देखी जाती है, इसलिए अचेतन जगत् चेतन-प्रकृतिक हो सकता है ।

भाष्य

तुशब्दः पक्षं व्यावर्तयति । यदुक्तं विलक्षणत्वान्नेदं जगद् ब्रह्मप्रकृति-

भाष्यका अनुवाद

'तु' शब्द पूर्वपक्षके निराकरणका द्योतक है। विलक्षण होनेसे यह

रत्नप्रभा

किं यत्किंचिद् वैलक्षण्यं हेतुः बहुवैलक्षण्यं वा। आद्ये व्यभिचारमाह—

रत्नप्रभाका अनुवाद

वैलक्षण्यरूप जो हेतु कहा गया है, वह क्या यत्किञ्चित् विलक्षणता है अथवा बहु विलक्षणता

भाष्य

कम् इति । नाऽयमेकान्तः । दृश्यते हि लोके चेतनत्वेन प्रसिद्धेभ्यः पुरुषादिभ्यो विलक्षणानां केशनखादीनामुत्पत्तिः, अचेतनत्वेन च प्रसिद्धेभ्यो गोमयादिभ्यो वृश्चिकादीनाम् । नन्वचेतनान्येव पुरुषादिशरीराण्यचेतनानां केशनखादीनां कारणानि, अचेतनान्येव च वृश्चिकादिशरीराण्यचेतनानां गोमयादीनां कार्याणीति ? उच्यते—एवमपि किञ्चिदचेतनं चेतनस्याऽऽयतनभावमुपगच्छति किञ्चिन्नेत्यस्त्येव वैलक्षण्यम् । महांश्चायं पारिणामिकः स्वभावविप्रकर्षः पुरुषादीनां केशनखादीनां च स्वरूपादि-

भाष्यका अनुवाद

जगत् ब्रह्मसे उत्पन्न हुआ नहीं है, ऐसा जो कहा है, वह नियम सार्वत्रिक नहीं है, क्योंकि लोकमें चेतनरूपसे प्रसिद्ध पुरुष आदिसे विलक्षण केश, नख आदिकी उत्पत्ति दिखाई देती है और अचेतनरूपसे प्रसिद्ध गोमय आदिसे वृश्चिक आदिकी उत्पत्ति दिखाई देती है। परन्तु पुरुष आदिके अचेतन शरीर ही अचेतन केश, नख आदिके कारण हैं और अचेतन गोमय आदि वृश्चिक आदिके अचेतन शरीरके ही कारण हैं ? कहते हैं— इस प्रकार भी कुछ अचेतन चेतनके आश्रय होते हैं और कुछ नहीं होते, ऐसी विलक्षणता है ही। और यह परिणामात्मक स्वभावकी विलक्षणता बहुत बड़ी है, क्योंकि पुरुष आदि और केश, नख आदिके स्वरूप आदिमें भेद है। उसी

रत्नप्रभा

नाऽयमेकान्तः। दृश्यते हीति। हेतोरसत्त्वात् न व्यभिचार इति शङ्कते— नन्विति। यत्किञ्चिद् वैलक्षण्यम् अस्तीति व्यभिचार इत्याह—उच्यते इति। शरीरस्य केशादीनाञ्च प्राणित्वाप्राणित्वरूपं वैलक्षण्यमस्तीत्यर्थः। द्वितीयेऽपि तत्रैव व्यभिचारमाह—महानिति। पारिणामिकः—केशादीनां स्वगतपरिणामात्मक इत्यर्थः। किञ्च ययोः प्रकृतिविकारभावः तयोः सादृश्यं वदता वक्तव्यं

रत्नप्रभाका अनुवाद

है ? प्रथम पक्षमें हेतुका व्यभिचार कहते हैं—"नायमेकान्तः"। "दृश्यते हि" इत्यादिसे। हेतुके न होनेसे व्यभिचार नहीं है, ऐसी शंका करते हैं—"ननु" इत्यादिसे। थोड़ीसी विलक्षणता है, इसलिए व्यभिचार होता है, ऐसा कहते हैं—"उच्यते" इत्यादिसे। शरीर प्राणयुक्त है, केश आदि प्राणयुक्त नहीं है, इस प्रकार शरीर और केश आदिमें प्राणित्व, अप्राणित्व रूप विलक्षणता है, ऐसा समझना चाहिए। दूसरे पक्षमें भी उसी स्थलमें हेतुका व्यभिचार दिखलाते हैं—"महान्" इत्यादिसे। पारिणामिक—केश आदिका स्वगत परिणामात्मक। और जिन दो पदार्थोंमें प्रकृति-विकारभाव है, उन पदार्थोंका सादृश्य कहनेवालेसे

भाष्य

भेदात्। तथा गोमयादीनां वृश्चिकादीनां च। अत्यन्तसारूप्ये च प्रकृतिविकारभाव एव प्रलीयेत। अथोच्येत—अस्ति कश्चित् पार्थिवत्वादिस्वभावः पुरुषादीनां केशनखादिष्वनुवर्तमानो गोमयादीनां च वृश्चिकादिषु इति ? ब्रह्मणोऽपि तर्हि सत्तालक्षणः स्वभाव आकाशादिष्वनुवर्तमानो दृश्यते। विलक्षणत्वेन च कारणेन ब्रह्मप्रकृतिकत्वं जगतो दूषयता किमशेषस्य ब्रह्मस्वभावस्याऽननुवर्तनं विलक्षणत्वमभिप्रेयत उत यस्य कस्यचिदथ चैतन्यस्येति वक्तव्यम्। प्रथमे विकल्पे समस्तप्रकृतिविकारभावो-

भाष्यका अनुवाद

प्रकार गोमय आदि और वृश्चिक आदिकी परिणामात्मक विलक्षणता भी बहुत बड़ी है। अत्यन्त सादृश्य होनेपर तो कार्यकारणभाव ही नष्ट हो जायगा। यदि कोई कहे कि पुरुष आदिके कुछ पार्थिवत्व आदि स्वभाव केश, नख आदिमें अनुवर्तमान हैं और गोमय आदिके भी पार्थिवत्व आदि स्वभाव वृश्चिक आदिमें अनुवर्तमान हैं ? तब तो ब्रह्मका भी सत्तात्मक स्वभाव आकाश आदिमें अनुवर्तमान दिखाई देता है। और विलक्षणत्वरूप कारणसे जगत्‌के ब्रह्मप्रकृतिकत्वमें दोष कहनेवालेको कहना चाहिए कि अशेष ब्रह्मस्वभावकी अनुवृत्तिका अभाव विलक्षणत्वरूपसे अभीष्ट है या चाहे किसी स्वभावकी अनुवृत्तिका अभाव या चैतन्यकी अनुवृत्तिका अभाव अभिप्रेत है। प्रथम पक्षमें समस्त प्रकृतिविकृति-

---

रत्नप्रभा

किम् आत्यन्तिकं यत्किञ्चिद् वा इति, आद्ये दोषमाह—**अत्यन्तेति**। द्वितीयम् आशङ्क्य ब्रह्मजगतोरपि तत्सत्त्वात् प्रकृतिविकृतित्वसिद्धिरित्याह—**अथेत्यादिना**। विलक्षणत्वं विकल्प्य दूषणान्तरमाह—**विलक्षणत्वेनेत्यादिना**। जगति समस्तस्य ब्रह्मस्वभावस्य चेतनत्वादेरननुवर्तनात् न ब्रह्मकार्यत्वमिति पक्षे सर्वसाम्ये प्रकृतिविकारत्वमित्युक्तं स्यात् तदसङ्गतमित्याह—**प्रथमे इति**।

रत्नप्रभाका अनुवाद

यह पूछना चाहिए कि क्या सादृश्य आत्यन्तिक—सर्वांशमें पूर्ण है अथवा यत्किञ्चित् है। प्रथम पक्षमें दोष कहते हैं—"अत्यन्त" इत्यादिसे। द्वितीय पक्षकी आशंका करके ब्रह्म और जगत्‌में भी यत्किञ्चित् सादृश्य होनेसे प्रकृतिविकारभाव सिद्ध होता है, ऐसा कहते हैं—"अथ" इत्यादिसे। विलक्षणतामें विकल्प करके दूसरा दोष बतलाते हैं—"विलक्षणत्वेन" इत्यादिसे। ब्रह्मके चेतनत्व आदि सब स्वभावोंकी जगत्‌में अनुवृत्ति नहीं होती है, इसलिए जगत् ब्रह्मकार्य नहीं है, इस पक्षमें पूर्ण समानता होनेसे ही प्रकृतिविकारभाव होता है, ऐसा कहा

भाष्य

च्छेदप्रसङ्गः । नह्यसत्यतिशये प्रकृतिविकारभाव इति भवति । द्वितीये चाऽसिद्धत्वम्, दृश्यते हि सत्तालक्षणो ब्रह्मस्वभाव आकाशादिष्वनुवर्तमान इत्युक्तम् । तृतीये तु दृष्टान्ताभावः, किं हि यच्चैतन्येनाऽनन्वितं तद्ब्रह्म-प्रकृतिकं दृष्टमिति ब्रह्मकरणवादिनं प्रत्युदाह्रियेत, समस्तस्याऽस्य वस्तुजात-स्य ब्रह्मप्रकृतिकत्वाभ्युपगमात् । आगमविरोधस्तु प्रसिद्ध एव, चेतनं ब्रह्म जगतः कारणं प्रकृतिश्चेत्यागमतात्पर्यस्य प्रसाधितत्वात् । यत्तूक्तम्–

भाष्यका अनुवाद

भावका उच्छेद हो जायगा । प्रकृति और विकारमें अतिशय न होनेपर यह प्रकृति है, यह विकार है, ऐसा भेद ही नहीं रह जायगा । द्वितीय पक्षमें असिद्धि है, क्योंकि सत्तारूप ब्रह्मस्वभावकी आकाश आदिमें अनुवृत्ति देखी जाती है, ऐसा कहा गया है । तृतीय पक्षमें तो कोई दृष्टान्त ही नहीं है । जो चैतन्यसे युक्त नहीं है, वह ब्रह्मप्रकृतिक नहीं देखा जाता, ऐसा कौन-सा उदाहरण ब्रह्मवादीके प्रति देंगे ? क्योंकि समस्त वस्तुसमूह ब्रह्मप्रकृतिक माना गया है । शास्त्रविरोध तो प्रसिद्ध ही है, क्योंकि चेतन ब्रह्म जगत्का कारण और प्रकृति है, यह आगमका तात्पर्य है, ऐसा सिद्ध किया है । ब्रह्म सिद्ध

रत्नप्रभा

तृतीये तु दृष्टान्ताभाव इति । न च जगत् न ब्रह्मप्रकृतिकम्, अचेतनत्वाद्, अविद्यावदिति दृष्टान्तोऽस्तीति वाच्यम्, अनादित्वस्य उपाधित्वात् । न च ध्वंसे साध्याव्यापकता, तस्याऽपि कार्यसंस्कारात्मकस्य भावत्वेन ब्रह्मप्रकृतिकत्वाद् अभावत्वाग्रहे च अनादिभावत्वस्य उपाधित्वादिति । सम्प्रति कल्पत्रयसाधारणं दोषमाह—आगमेति । पूर्वोक्तमनूद्य ब्रह्मणः शुष्कतर्कविषयत्वासम्भवात् न

रत्नप्रभाका अनुवाद

गया है, वह असंगत है, ऐसा कहते हैं—"प्रथमे" इत्यादिसे । "तृतीये तु दृष्टान्ताभावः" इत्यादि । जगत् ब्रह्मप्रकृतिक नहीं है, अचेतन होनेसे, अविद्याके समान, यह दृष्टान्त है, यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि उक्त अनुमानमें अनादित्व उपाधि है । ध्वंसमें साध्यव्यापकता नहीं है, ऐसा नहीं कहना चाहिए, क्योंकि ध्वंस भी कार्यसंस्काररूप होनेसे भाव है, अतः ब्रह्मप्रकृतिक है, यदि यह आग्रह हो कि ध्वंस भाव नहीं है, अभाव ही है, तो अनादिभावत्वको उपाधि समझना चाहिए । अब तीनों पक्षोंमें रहनेवाला दोष कहते हैं—"आगम" इत्यादिसे । पूर्वोक्तका अनुवाद करके ब्रह्म शुष्क तर्कका विषय नहीं हो सकता है,

भाष्य

परिनिष्पन्नत्वाद् ब्रह्मणि प्रमाणान्तराणि संभवेयुः इति, तदपि मनोरथमात्रम्। रूपाद्यभावाद्धि नाऽयमर्थः प्रत्यक्षस्य गोचरः। लिङ्गाद्यभावाच्च नाऽनुमानादीनाम्। आगममात्रसमधिगम्य एव त्वयमर्थो धर्मवत्। तथा च श्रुतिः—'नैषा तर्केण मतिरापनेया प्रोक्तान्येनैव सुज्ञानाय प्रेष्ठ' (का० १।२।९) इति। 'को अद्धा वेद क इह प्रवोचत्' 'इयं विसृष्टिर्यत

भाष्यका अनुवाद

वस्तु होनेसे इसमें अन्य प्रमाण संभव हों, ऐसा जो कहा है, वह भी मनोरथमात्र ही है, क्योंकि रूप आदिका अभाव होनेसे ब्रह्मवस्तु प्रत्यक्ष प्रमाणका विषय नहीं है और लिंग आदिके अभावसे अनुमान आदिका विषय नहीं है। यह अर्थ तो धर्मके समान आगममात्रसे ज्ञातव्य है। इस विषयमें 'नैषा तर्केण मतिरापनेया०' (हे प्रियतम ! यह मति तर्कसे प्राप्त की जा सके, या दूर की जा सके, ऐसी नहीं है, कुतार्किकसे अन्यकी कही हुई मति सुज्ञानके लिए होती है) इत्यादि श्रुति है। 'को अद्धा वेद०' (कौन साक्षात् उसे जानता है और कौन उसे ठीक-ठीक समझा सकता) 'इयं विसृष्टिर्यत०' (यह विविध सृष्टि जिससे उत्पन्न

रत्नप्रभा

तर्केण आक्षेप इत्याह—यत्तूक्तमित्यादिना। लिङ्गसादृश्यपदप्रवृत्तिनिमित्तानाम् अभावात् अनुमानोपमानशब्दानाम् अगोचरः, ब्रह्म लक्षणया वेदैकवेद्यमित्यर्थः। एषा ब्रह्मणि मतिः तर्केण स्वतन्त्रेण नाऽपनेया न संपादनीया। यद्वा, कुतर्केण न बाधनीया कुतार्किकाद् अन्येनैव वेदविदाऽऽचार्येण प्रोक्ता मतिः सुज्ञानाय—अनुभवाय फलाय भवति। हे प्रेष्ठ प्रियतम! इति नचिकेतसं प्रति मृत्योर्वचनम्। इयं विविधा सृष्टिर्यतः आ समन्ताद् बभूव तं को वा अद्धा साक्षाद् वेद, तिष्ठतु वेदनम्, क इह लोके तं प्रवोचत् प्रावोचत्, छान्दसो

रत्नप्रभाका अनुवाद

इसलिए तर्कसे आक्षेप नहीं हो सकता, ऐसा कहते हैं—"यत्तूक्तम्" इत्यादिसे। आशय यह कि हेतु न होनेसे ब्रह्म अनुमानका विषय नहीं है, सादृश्य न होनेसे उपमानका एवं पद न होनेसे शब्दप्रमाणका विषय नहीं है, परन्तु लक्षणासे केवल वेदसे ही उसका ज्ञान होता है। [नैषा तर्केण०—] ब्रह्मबुद्धि स्वतंत्र तर्कसे प्राप्त नहीं की जा सकती। अथवा कुतर्कसे बाधित नहीं हो सकती, कुतार्तिकसे अन्य वेदज्ञ आचार्यसे कथित बुद्धि ही अनुभवरूप फलदायक होती है। हे प्रेष्ठ! (हे प्रियतम!) यह नचिकेताके प्रति मृत्युका वचन है। यह विविध सृष्टि जिससे हुई है, उसको कौन साक्षात् जानता है, उसको जानना तो दूर रहा, इस लोकमें उसका यथार्थ स्वरूप कौन कह सकता है अर्थात् उसका यथार्थ रूपसे उपदेश देनेवाला भी कोई नहीं है। 'प्रवोचत्' यहां दीर्घका लोप छान्दस

भाष्य

आवभूव' (ऋ० सं० १।३०।६) इति चैते ऋचौ सिद्धानामपीश्वराणां दुर्बोधतां जगत्कारणस्य दर्शयतः। स्मृतिरपि भवति—'अचिन्त्याः खलु ये भावा न तांस्तर्केण योजयेत्' इति। 'अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते' (गी० २।२५) इति च।

'न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः।
अहमादिर्हि देवानां महर्षीणां च सर्वशः ॥' (गी० १०।२)

इति चैवंजातीयका। यदपि—श्रवणव्यतिरेकेण मननं विदधच्छब्द एव तर्कमप्यादर्तव्यं दर्शयति इत्युक्तम्। नाऽनेन मिषेण शुष्कतर्कस्याऽत्राऽऽत्मलाभः संभवति, श्रुत्यनुगृहीत एव ह्यत्र तर्कोऽनुभवाङ्गत्वेनाऽऽश्रीयते। स्वप्नान्तबुद्धान्तयोरुभयोरितरेतरव्यभिचारादात्मनोऽनन्वागतत्वम्, सं-

भाष्यका अनुवाद

हुई) ये दोनों ऋचाएँ जगत्का कारण सिद्ध ब्रह्म योगियोंके लिए भी दुर्बोध है, ऐसा दिखलाती हैं। 'अचिन्त्याः खलु ये भावा०' (जो पदार्थ अचिंत्य हैं, उन्हें तर्करूप कसौटीसे कसना उचित नहीं है) और 'अव्यक्तोऽयमचिन्त्यो०' (यह अव्यक्त है, यह अचिन्त्य है और यह अविकार्य कहलाता है) 'न मे विदुः सुरगणाः०' (देवगण या महर्षि मेरे जन्मको नहीं जानते, मैं सब देवों और महर्षियोंका आदि हूँ) इत्यादि स्मृतियाँ भी हैं। श्रवणसे भिन्न मननका विधान करती हुई श्रुति ही तर्कका भी आदर करना चाहिए, ऐसा दिखलाती है, यह जो पीछे कहा गया है, उस कथनसे यहां शुष्क तर्क अवकाश नहीं पा सकता, यहां श्रुतिसे अनुगृहीत तर्कका अनुभवके सहायकरूपसे स्वीकार किया जा सकता है। स्वप्नावस्था और जाग्रदवस्था इन दोनोंमें परस्पर व्यभिचार होनेसे

रत्नप्रभा

दीर्घलोपः, यथावद् वक्तापि नास्तीत्यर्थः। प्रभवम्—जन्म न विदुः, मम सर्वादित्वेन जन्माभावात्। मिषेण—मननविधिव्याजेन, शुष्कः—श्रुत्यनपेक्षः। श्रुत्या तत्त्वे निश्चिते सति अनु—पश्चात् पुरुषदोषस्य असम्भावनादेः निरासाय

रत्नप्रभाका अनुवाद

है। मेरे प्रभव—उत्पत्तिको नहीं जानते हैं, सबका कारण होनेसे मेरा जन्म ही नहीं है। मिषेण—मननविधिके बहानेसे, शुष्क–श्रुतिकी अपेक्षा न रखनेवाला। श्रुतिसे तत्त्वका निश्चय करनेके अनन्तर असंभावना आदि पुरुषदोषोंका निरास करनेके लिए स्वीकृत तर्क श्रुत्यनुगृहीत कहलाता है,

भाष्य

प्रसादे च प्रपञ्चपरित्यागेन सदात्मना सम्पत्तेर्निष्प्रपञ्चसदात्मकत्वम्, प्रपञ्चस्य ब्रह्मप्रभवत्वात् कार्यकारणानन्यत्वन्यायेन ब्रह्माव्यतिरेक इत्येवंजाती-

भाष्यका अनुवाद

आत्मा इनसे संस्पृष्ट नहीं है, सुषुप्तिमें प्रपञ्चका परित्याग होनेसे आत्मा सत्स्वरूप आत्माके साथ एक होकर निष्प्रपञ्च ब्रह्मस्वरूप हो जाता है, और प्रपञ्च ब्रह्मसे उत्पन्न होता है, इसलिए कारण कार्यसे अभिन्न है, इस न्यायसे ब्रह्मसे प्रपञ्च

रत्नप्रभा

गृहीतः श्रुत्यनुगृहीतः, तमाह—स्वप्नान्तेति। जीवस्य अवस्थावतो देहादि-प्रपञ्चयुक्तस्य निष्प्रपञ्चब्रह्मैक्यम् असम्भवि, द्वैतग्राहिप्रमाणविरोधाद् ब्रह्मणश्च अद्वितीयत्वमयुक्तम् इत्येवं श्रौतार्थासम्भावनायां तन्निरासाय सर्वासु अवस्थासु आत्मन अनुगतस्य व्यभिचारिणीभिः अवस्थाभिः अनन्वागतत्वम्—असंस्पृष्टत्वम् अवस्थानां स्वाभाविकत्वे वह्न्यौष्ण्यवद् आत्मव्यभिचारायोगात्, सुषुप्तौ प्रपञ्चभ्रान्त्यभावे "सता सोम्य" [छा० ६।८।१] इत्युक्ताभेददर्शनात् निष्प्रपञ्चब्रह्मैक्यसम्भवः, यथा घटादयो मृदभिन्नाः, तथा जगद् ब्रह्माभिन्नम् तज्जत्वाद्, इत्यादिः तर्कः आश्रीयते इत्यर्थः। इतोऽन्यादृशस्य तर्कस्याऽत्र ब्रह्मणि अप्रवेशात् अस्य चाऽनुकूलत्वात् न तर्केण आक्षेपावकाश इति भावः। ब्रह्मणि शुष्कतर्कस्याऽप्रवेशः सूत्रसम्मत

रत्नप्रभाका अनुवाद

उसको कहते हैं—"स्वप्नान्त" इत्यादिसे। जीव अवस्थावाला और देह आदि प्रपंचसे युक्त है, इसलिए निष्प्रपंच ब्रह्मके साथ उसका ऐक्य नहीं हो सकता और द्वैतके ग्राहक प्रमाणोंसे विरुद्ध होनेसे ब्रह्मको अद्वितीय मानना उचित नहीं है, इस प्रकार श्रुतिप्रतिपादित अर्थका असंभव प्राप्त होनेपर उसके निराकरणके लिए सब अवस्थाओंसे अनुगत आत्मा परस्पर व्यभिचरित अवस्थाओंसे अस्पृष्ट है, अवस्थाएँ यदि स्वाभाविक हों तो वह्निगत उष्णताके समान उनका व्यभिचार नहीं हो सकता, सुषुप्तिमें प्रपंचभ्रान्ति न होनेसे 'सता सोम्य' (हे प्रियदर्शन ! सुषुप्त्यवस्थामें जीव ब्रह्मके साथ ऐक्यको प्राप्त होता है) इस श्रुतिसे कथित अभेद दिखाई देता है, इसलिए निष्प्रपंच ब्रह्मके साथ एकताका संभव है, जैसे मृत्तिकासे उत्पन्न होनेसे घट आदि मृत्तिकासे अभिन्न हैं, उसी प्रकार ब्रह्मजन्य होनेसे जगत् ब्रह्मसे अभिन्न है, इत्यादि तर्क स्वीकृत होते हैं, ऐसा अर्थ है। इससे भिन्न प्रकारके तर्कका ब्रह्ममें प्रवेश न होनेसे और उक्त प्रकारके तर्क सिद्धान्तानुकूल होनेसे तर्कसे आक्षेपका अवकाश ही नहीं है, यह आशय है। ब्रह्ममें शुष्क तर्कका प्रवेश नहीं है, यह बात सूत्रसंमत है, ऐसा कहते हैं—

भाष्य

यकः। 'तर्काप्रतिष्ठानात्' (ब्र० सू० २।१।११) इति च केवलस्य तर्कस्य विप्रलम्भकत्वं दर्शयिष्यति। योऽपि चेतनकारणश्रवणबलेनैव समस्तस्य जगतश्चेतनतामुत्प्रेक्षेत तस्यापि 'विज्ञानं चाविज्ञानं च' इति चेतनाचेतनविभागश्रवणं विभावनाविभावनाभ्यां चैतन्यस्य शक्यत एव योजयितुम्। परस्यैव त्विदमपि विभागश्रवणं न युज्यते। कथम्? परमकारणस्य ह्यत्र समस्तजगदात्मना समवस्थानं श्राव्यते 'विज्ञानं चाविज्ञानं चाभवत्' इति। तत्र यथा चेतनस्याचेतनभावो नोपपद्यते विलक्षणत्वात्, एवम-

भाष्यका अनुवाद

अभिन्न है, इस प्रकारके तर्कका स्वीकार किया जाता है। और "तर्काप्रतिष्ठानात्" इस सूत्रमें केवल तर्क प्रमापक नहीं है, ऐसा दिखलाया जायगा। जो कोई चेतनको कारण कहनेवाली श्रुतिके बलसे ही समस्त जगत् चेतन है, ऐसी उत्प्रेक्षा करता है, उसके मतमें भी 'विज्ञानं चाविज्ञानं च' (विज्ञान और अविज्ञान) इस प्रकार चेतन और अचेतनका विभाग करनेवाली श्रुतिकी योजना चैतन्यकी अभिव्यक्ति और अनभिव्यक्तिसे की जा सकती है। परन्तु परके (सांख्यके) मतमें ही इस विभागश्रुतिकी योजना नहीं हो सकती। किस प्रकार? क्योंकि 'विज्ञानं चावि०' (विज्ञान और अविज्ञान हुआ) यह श्रुति परम कारणकी

रत्नप्रभा

इत्याह—तर्काप्रतिष्ठानादिति। विप्रलम्भकत्वम्—अप्रमापकत्वम्। यदुक्तम् एकदेशिना सर्वस्य जगतः चेतनत्वोक्तौ विभागश्रुत्यनुपपत्तिः इति दूषणं सांख्येन। तत् न, तत्र तेन एकदेशिना विभागश्रुतेः चैतन्याभिव्यक्त्यनभिव्यक्तिभ्यां योजयितुं शक्यत्वात्। सांख्यस्य त्विदं दूषणं वज्रलेपायते, प्रधानकार्यत्वे सर्वस्याऽचेतनत्वेन चेतनाचेतनकार्यविभागासम्भवाद् इत्याह—योऽपीत्यादिना।

रत्नप्रभाका अनुवाद

"तर्काप्रतिष्ठानात्" इत्यादिसे। विप्रलम्भकत्व—यथार्थ-ज्ञानको उत्पन्न न करना। सांख्यने जो यह दूषण दिखलाया है कि एकदेशीसे कथित सारे जगत्की चेतनता माननेपर प्रविभाग-श्रुति उपपन्न नहीं होगी, वह ठीक नहीं है, क्योंकि एकदेशी तो चैतन्यकी अभिव्यक्ति और अनभिव्यक्तिसे विभागश्रुतिकी योजना कर सकता है। परन्तु सांख्यके मतमें तो यह दूषण वज्रलेपसा है, क्योंकि जगत्को प्रधानका कार्य माननेपर सम्पूर्ण जगत्के अचेतन होनेसे चेतन कार्य और अचेतन कार्यका विभाग हो ही नहीं सकेगा, ऐसा कहते हैं—"योऽपि" इत्यादिसे।

भाष्य

चेतनस्यापि चेतनभावो नोपपद्यते। प्रत्युक्तत्वात्तु विलक्षणत्वस्य यथाश्रुत्येव चेतनं कारणं ग्रहीतव्यं भवति ॥ ६ ॥

भाष्यका अनुवाद

समस्त जगत्‌स्वरूपसे स्थिति है, ऐसा दिखलाती है। उसमें जैसे विलक्षणतासे चेतनका अचेतनभाव नहीं बन सकता, वैसे ही अचेतनका भी चेतनभाव उपपन्न नहीं होता। परन्तु विलक्षणताका निराकरण किया है, इसलिए श्रुतिके अनुसार ही चेतन कारणका ग्रहण करना चाहिए ॥ ६ ॥

रत्नप्रभा

सिद्धान्ते चेतनाचेतनवैलक्षण्याङ्गीकारे कथं ब्रह्मणः प्रकृतित्वमित्यत आह—प्रत्युक्तत्वादिति। अप्रयोजकत्वव्यभिचाराभ्यां निरस्तत्वाद् इत्यर्थः ॥६॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

जगत्‌में चेतनाचेतन वैलक्षण्य माननेसे सिद्धान्तमें ब्रह्म जगदुपादान कैसे हो सकता है, इसपर कहते हैं—"प्रत्युक्तत्वात्" इत्यादि। अर्थात् अप्रयोजकत्व और व्यभिचारसे निराकरण करनेके कारण ॥ ६ ॥

असदिति चेन्न प्रतिषेधमात्रत्वात् ॥ ७ ॥

पदच्छेद—असत्, इति, चेत्, न, प्रतिषेधमात्रत्वात्।

पदार्थोक्ति—असत्—उत्पत्तेः प्राक् जगत् असत् स्यात्, इति चेत्, न, प्रतिषेधमात्रत्वात्—'असत् स्यात्' इति प्रतिषेधमात्रत्वात् [कार्यसत्तायाः कारणाव्यतिरेकात् स्थितिदशायामिवोत्पत्तेः पूर्वमपि ब्रह्मात्मकमेवेदं जगत्, नासत् इति भावः]।

भावार्थ—उत्पत्तिके पहले यह जगत् असत् हो जायगा यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि 'असत् होगा' यह केवल प्रतिषेध ही है अर्थात् प्रतिषेध्य न होनेसे यह निरर्थक है, क्योंकि कार्य-सत्ता कारण-सत्तासे भिन्न नहीं है, इसलिए स्थितिकालके समान उत्पत्तिके पहले यह जगत् ब्रह्मरूप ही था, असत् नहीं था।

भाष्य

यदि चेतनं शुद्धं शब्दादिहीनं च ब्रह्म तद्विपरीतस्याऽचेतनस्याऽशुद्धस्य शब्दादिमतश्च कार्यस्य कारणमिष्येत, असत्तर्हि कार्यं प्रागुत्पत्तेरिति प्रसज्येत। अनिष्टं चैतत् सत्कार्यवादिनस्तवेति चेत्। नैष दोषः। प्रतिषेधमात्रत्वात्। प्रतिषेधमात्रं हीदं नाऽस्य प्रतिषेधस्य प्रतिषेध्यमस्ति, नह्ययं प्रतिषेधः प्रागुत्पत्तेः सत्त्वं कार्यस्य प्रतिषेद्धुं शक्नोति। कथम्? यथैव हीदानीमपीदं कार्यं कारणात्मना सदेवं प्रागुत्पत्तेरपीति गम्यते। नहीदानीमपीदं कार्यं कारणात्मानमन्तरेण स्वतन्त्रमेवास्ति, 'सर्वं तं परादाद्योऽ-

भाष्यका अनुवाद

यदि चेतन, शुद्ध, शब्दादिरहित ब्रह्म अपनेसे विपरीत अचेतन, अशुद्ध, शब्दादियुक्त कार्यका कारण माना जाय, तो उत्पत्तिसे पूर्व कार्य नहीं था, ऐसा मानना पड़ेगा। और सत्कार्यवादको माननेवाले तुम्हारे लिए यह अनिष्ट होगा, ऐसा कहो, तो यह दोष नहीं है, क्योंकि प्रतिषेधमात्र है। निस्सन्देह यह प्रतिषेध ही है, इस प्रतिषेधका प्रतिषेध्य[1] कोई पदार्थ नहीं है। यह प्रतिषेध उत्पत्तिके पूर्व कार्यके सत्त्व[2]का प्रतिषेध नहीं कर सकता। किस प्रकार? क्योंकि जिस प्रकार अब भी यह कार्य कारणरूपसे विद्यमान है, उसी प्रकार उत्पत्तिके पूर्व भी विद्यमान था, ऐसा समझा जाता है। अब भी कार्य कारणस्वरूपके विना स्वतंत्र नहीं है, क्योंकि 'सर्वं तं परादा०' (जो आत्मासे भिन्न सबको

रत्नप्रभा

कार्यम् उत्पत्तेः प्राग् असदेव स्यात् स्वविरुद्धकारणात्मना सत्त्वायोगाद् इत्यपसिद्धान्तापत्तिमाशङ्क्य मिथ्यात्वात् कार्यस्य कालत्रयेऽपि कारणात्मना सत्त्वम् अविरुद्धमिति समाधत्ते—असदिति चेदित्यादिना। असत् स्यादिति सत्त्वप्रतिषेधो निरर्थक इत्यर्थः। कार्यसत्यत्वाभावे श्रुतिमाह—सर्वं तमिति।

रत्नप्रभाका अनुवाद

उत्पत्तिके पहले कार्य असत् ही होगा, क्योंकि अपनेसे विरुद्ध कारणरूपसे रह नहीं सकता, इस प्रकार अपसिद्धान्त होगा, ऐसी आशंका कर कार्य मिथ्या होनेसे तीनों कालोंमें भी कारणरूपसे उसका रहना अविरुद्ध है, ऐसा समाधान करते हैं—"असदिति चेत्" इत्यादिसे। असत् होगा, इस प्रकार सत्ताका निषेध व्यर्थ है, ऐसा अर्थ है। कार्य सत्य नहीं है, इस

(१) जिसका प्रतिषेध किया जा सके। (२) सत्ता।

भाष्य

न्यत्राऽऽत्मनः सर्वं वेद' (बृ० २।४।६) इत्यादिश्रवणात् । कारणात्मना तु सत्त्वं कार्यस्य प्रागुत्पत्तेरविशिष्टम् । ननु शब्दादिहीनं ब्रह्म जगतः कारणम् । बाढम् । न तु शब्दादिमत्कार्यं कारणात्मना हीनं प्रागुत्पत्तेरिदानीं वाऽस्ति, तेन न शक्यते वक्तुं प्रागुत्पत्तेरसत् कार्यमिति । विस्तरेण चैतत् कार्य-कारणानन्यत्ववादे वक्ष्यामः ॥ ७ ॥

भाष्यका अनुवाद

जानता है, उसका सब पराकरण[1] करते हैं) ऐसी श्रुति है । उत्पत्तिसे पूर्व कार्यके कारणस्वरूपसे होनेमें तो स्थितिकालसे कोई विशेष नहीं है । परन्तु क्या शब्दादि रहित ब्रह्म जगत्का कारण है ? हाँ है, किन्तु शब्दादियुक्त कार्य कारणरूपसे रहित न उत्पत्तिके पूर्व था, न अब है, इसलिए उत्पत्तिके पहले कार्य विद्यमान नहीं था, ऐसा नहीं कह सकते । कार्यकारणके अभेदका प्रतिपादन करनेके अवसरपर इसका विस्ताररूपसे वर्णन करेंगे ॥ ७ ॥

रत्नप्रभा

मिथ्यात्वमजानतः शङ्काम् अनूद्य परिहरति—नन्वित्यादिना । विस्तरेण चैतदिति । मिथ्यात्वमित्यर्थः ॥७॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

विषयमें श्रुति कहते हैं—"सर्वं तम्" इत्यादिसे । मिथ्यात्वको नहीं जाननेवालेकी आशंकाका अनुवाद कर उसका परिहार करते हैं—"ननु" इत्यादिसे । "विस्तरेण चैतत्" । एतत्—मिथ्यात्व ॥ ७ ॥

अपीतौ तद्वत्प्रसंगादसमञ्जसम् ॥ ८ ॥

पदच्छेद—अपीतौ, तद्वत्, प्रसङ्गात्, असमञ्जसम् ।

पदार्थोक्ति—अपीतौ—प्रलयसमये, तद्वत्—कार्यवत्, प्रसङ्गात्—कारणस्यापि ब्रह्मणोऽशुद्धत्वादिप्रसङ्गात्, असमञ्जसम्—शुद्धत्वादिगुणकं ब्रह्म जगदुपादानमित्ययुक्तम् ।

भाषार्थ—शुद्धत्व आदि गुणवाला ब्रह्म जगत्का उपादानकारण हो, यह अयुक्त है, क्योंकि प्रलयकालमें कार्यके समान कारण ब्रह्म भी अशुद्धि आदि धर्मवाला हो जायगा ।

(१) पुरुषार्थसे भ्रष्ट करते हैं ।

भाष्य

अत्राऽऽह—यदि स्थौल्यसावयवत्वाचेतनत्वपरिच्छिन्नत्वाशुद्ध्यादिधर्मकं कार्यं ब्रह्मकारणकमभ्युपगम्येत तदपीतौ प्रलये प्रतिसंसृज्यमानं कार्यं कारणाविभागमापद्यमानं कारणमात्मीयेन धर्मेण दूषयेदित्यपीतौ कारणस्यापि ब्रह्मणः कार्यस्येवाऽशुद्ध्यादिरूपताप्रसङ्गात् सर्वज्ञं ब्रह्म जगत्कारणमित्यसमञ्जसमिदमौपनिषदं दर्शनम्। अपि च समस्तस्य विभागस्याऽविभागप्राप्तेः पुनरुत्पत्तौ नियमकारणाभावाद् भोक्तृभोग्यादिविभागेनोत्पत्तिर्न प्राप्नोतीत्यसमञ्जसम्। अपि च भोक्तृणां परेण ब्रह्मणाऽविभागं

भाष्यका अनुवाद

यहां कहते हैं—स्थूलता, अवयवयोग, अचेतनत्व, परिच्छिन्नत्व, अशुद्धि आदि धर्मवाले कार्यका कारण ब्रह्म है, ऐसा यदि स्वीकार किया जाय, तो प्रलयमें लीन होता हुआ अर्थात् कारणसे पृथक् प्रतीत न होता हुआ कार्य कारणको अपने धर्मसे दूषित करेगा, इस प्रकार प्रलयमें कारण ब्रह्मकी भी कार्यके समान अशुद्धि आदि रूपका प्रसंग आनेसे सर्वज्ञ ब्रह्म जगत्का कारण है, यह उपनिषद्दर्शन अयुक्त हो जायगा। और समस्त विभागका अविभाग प्राप्त होनेपर पुनः उत्पत्तिमें नियम कारणका अभाव होनेसे भोक्ता, भोग्य आदि विभागसे उत्पत्ति प्राप्त न होगी, यह अयुक्त है। और परब्रह्मके साथ

रत्नप्रभा

सत्कार्यवादसिद्ध्यर्थं कार्याभेदे कारणस्यापि कार्यवदशुद्ध्यादिप्रसङ्ग इति शङ्कासूत्रं व्याचष्टे—अत्राऽऽहेति। प्रतिसंसृज्यमानपदस्य व्याख्या—कारणाविभागेति। यथा जले लीयमानं लवणद्रव्यं जलं दूषयति तद्वदित्यर्थः। सूत्रस्य योजनान्तरमाह—अपि चेति। सर्वस्य कार्यस्याऽपीतौ कारणवत् एकरूपत्वप्रसङ्ग इत्यर्थः। अर्थान्तरमाह—अपि चेति। कर्मादीनाम् उत्पत्तिनिमित्तानां प्रलयेऽपि

रत्नप्रभाका अनुवाद

सत्कार्यवादकी सिद्धिके लिए कार्यको कारणसे अभिन्न माननेपर कारण भी कार्यके समान अशुद्धि आदि गुणवाला हो जायगा, इस अर्थके प्रतिपादक शंकासूत्रका व्याख्यान करते हैं—"अत्राऽऽह" इत्यादिसे। "कारणाविभाग" इत्यादि प्रतिसंसृज्यमान पदका व्याख्यान है। जैसे जलमें प्रलीन लवण जलको दूषित करता है, वैसे कार्य ब्रह्ममें लीन होकर अपने धर्मसे ब्रह्मको दूषित करेगा यह अर्थ है। सूत्रकी दूसरी योजना कहते हैं—"अपि च" इत्यादिसे। अर्थात् सब कार्योंका प्रलयमें कारणके समान एक रूप होनेका प्रसंग हो जायगा। सूत्रका अन्य अर्थ कहते हैं—"अपि च" इत्यादिसे।

भाष्य

गतानां कर्मादिनिमित्तप्रलयेऽपि पुनरुत्पत्तावभ्युपगम्यमानायां मुक्तानामपि पुनरुत्पत्तिप्रसङ्गादसमञ्जसम्। अथेदं जगदपीतावपि विभक्तमेव परेण ब्रह्मणाऽवतिष्ठेत, एवमप्यपीतिश्च न संभवति, कारणाव्यतिरिक्तं च कार्यं न संभवतीत्यसमञ्जसमेवेति ॥ ८ ॥

अत्रोच्यते—

भाष्यका अनुवाद

अभेदको प्राप्त हुए भोक्ताओंकी, कर्म आदि निमित्तका प्रलय होनेपर भी, पुनरुत्पत्ति मानी जाय, तो मुक्तोंकी भी पुनरुत्पत्ति माननी पड़ेगी यह अनुचित है। यदि यह जगत् प्रलयमें भी परब्रह्मसे विभक्त ही अवस्थित रहे, तो इस प्रकार प्रलयका ही संभव नहीं होगा और कारणसे अभिन्न कार्यका संभव नहीं होगा, इसलिए यह औपनिषद दर्शन अयुक्त ही हो जायगा ॥ ८ ॥

इस पर कहते हैं—

रत्नप्रभा

भोक्तृणाम् उत्पत्तौ तद्वदेव मुक्तानाम् अपि उत्पत्तिप्रसङ्गादित्यर्थः। शङ्कापूर्वकं व्याख्यान्तरमाह—अथेति। यदि लयकालेऽपि कार्यं कारणाद् विभक्तं तर्हि स्थितिकालवत् लयाभावप्रसङ्गात् कार्येण द्वैतापत्तेश्च असमञ्जसमिदं दर्शनमित्यर्थः ॥८॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

उत्पत्तिके कारणभूत कर्म आदिका प्रलय होनेपर भी भोक्ता जीवात्माओंकी उत्पत्ति माननेसे उसी प्रकार मुक्त आत्माओंकी भी उत्पत्ति माननी होगी, ऐसा अर्थ है। शंकापूर्वक अन्य व्याख्यान कहते हैं—"अथ" इत्यादिसे। यदि प्रलय कालमें भी कार्य कारणसे भिन्न हो, तो स्थिति कालके समान कभी लय ही नहीं होगा और कारणसे कार्य भिन्न हो, तो द्वैतकी आपत्ति होगी, इसलिए यह दर्शन असंगत हो जायगा, ऐसा अर्थ है ॥८॥

न तु दृष्टान्तभावात् ॥ ९ ॥

पदच्छेद—न, तु, दृष्टान्तभावात्।

पदार्थोक्ति—न तु—असमञ्जसं नास्त्येव [कुतः] दृष्टान्तभावात्—कारणे लीयमानं कार्यं कारणं न दूषयतीत्यर्थे शतशो दृष्टान्तानां सत्त्वात्।

भाषार्थ—पूर्वोक्त असामञ्जस्य है नहीं, क्योंकि कारणमें लीन कार्य अपने कारणको दूषित नहीं करता है, इस विषयमें सैकड़ों दृष्टान्त हैं।

भाष्य

नैवाऽस्मदीये दर्शने किञ्चिदसामञ्जस्यमस्ति। यत्तावदभिहितं कारणमपिगच्छत् कार्यं कारणमात्मीयेन धर्मेण दूषयेद् इति, तददूषणम्। कस्मात्? दृष्टान्तभावात्। सन्ति हि दृष्टान्ता यथा कारणमपिगच्छत्कार्यं कारणमात्मीयेन धर्मेण न दूषयति। तद्यथा शरावादयो मृत्प्रकृतिका विकारा विभागावस्थायामुच्चावचमध्यमप्रभेदाः सन्तः पुनः प्रकृतिमपिगच्छन्तो न तामात्मीयेन धर्मेण संसृजन्ति। रुचकादयश्च सुवर्णविकारा अपीतौ न पुनः सुवर्णमात्मीयेन धर्मेण संसृजन्ति। पृथिवीविकारश्चतुर्विधो भूतग्रामो न पृथिवीमपीतावात्मीयेन धर्मेण संसृजति। त्वत्पक्षस्य तु न कश्चिद् दृष्टान्तोऽस्ति। अपीतिरेव हि न संभवेद्यदि कारणे कार्यं स्वधर्मेणैवावतिष्ठेत।

भाष्यका अनुवाद

हमारे दर्शनमें कुछ भी अनौचित्य नहीं है। कारणमें लीन होता हुआ कार्य अपने धर्मसे कारणको दूषित करे, ऐसा जो कहा है, वह दूषण नहीं है। किससे? दृष्टान्तके अस्तित्वसे। कारणमें लीन हुआ कार्य कारणको अपने धर्मसे दूषित नहीं करता, इस विषयमें दृष्टान्त हैं। जैसे मिट्टीसे बने हुए शरावादि स्थितिकालमें छोटे, बड़े और मझले आकारके होकर पुनः प्रकृतिमें लीन होते हुए उसको अपने धर्मसे मिश्रित नहीं करते। और रुचक आदि सुवर्ण विकार प्रलयमें सुवर्णको अपने धर्मसे संसृष्ट नहीं करते। उसी प्रकार चार प्रकारके पृथिवीके विकार भूतसमुदाय पृथिवीको प्रलयमें अपने धर्मसे संसृष्ट नहीं करते। तुम्हारे पक्षमें तो कोई दृष्टान्त नहीं है। यदि कारणमें

रत्नप्रभा

अपीतौ जगत् स्वकारणं न दूषयति कारणे लीनत्वाद् मृदादिषु लीनघटादिवदिति सिद्धान्तसूत्रं व्याचष्टे—नैवेत्यादिना। अपिगच्छत्—लीयमानम्, विभागावस्था—स्थितिकालः। त्वत्पक्षस्येति। मधुरजलं लवणस्य अकारणम् इत्यदृष्टान्तः। किञ्च, दूषकत्वे कार्यस्य स्थितिः स्यात् लवणवद् इत्याह—अपीतिरेवेति।

रत्नप्रभाका अनुवाद

प्रलयमें जगत् अपने कारणको दूषित नहीं करता है, क्योंकि कारणमें लीन होता है, मृत् आदिमें लीन घट आदिके समान, इस प्रकार सिद्धान्त सूत्रका व्याख्यान करते हैं—"नैव" इत्यादिसे। अपिगच्छत्—लीन होता हुआ। विभागावस्था स्थितिसमय। "त्वत्पक्षस्य" इत्यादि। मधुर जल लवणका कारण नहीं है, इसलिए वह दृष्टान्त नहीं हो सकता। और कार्य यदि अपने धर्मसे कारणको दूषित करे, तो लवणके समान सर्वदा कार्यकी स्थिति हो,

भाष्य

अनन्यत्वेऽपि कार्यकारणयोः कार्यस्य कारणात्मत्वं न तु कारणस्य कार्यात्मत्वं 'आरम्भणशब्दादिभ्यः' इत्यत्र वक्ष्यामः (ब्र० सू० २।१।१४)। अत्यल्पं चेदमुच्यते—कार्यमपीतावात्मीयेन धर्मेण कारणं संसृजेत् इति। स्थितावपि हि समानोऽयं प्रसङ्गः, कार्यकारणयोरनन्यत्वाभ्युपगमात्। 'इदं सर्वं यदयमात्मा' (बृ० २।४।६), 'आत्मैवेदं सर्वम्' (छा० ७।२५।२), 'ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्तात्' (मु० २।२।११), 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' (छा० ३।१४।१) इत्येवमाद्याभिर्हि

भाष्यका अनुवाद

कार्य अपने धर्मसे ही अवस्थित रहे तो प्रलय ही न हो। कार्य और कारण अनन्य हैं, तो भी कार्य कारणात्मक है, परन्तु कारण कार्यात्मक नहीं है, ऐसा 'आरम्भणशब्दादिभ्यः' में कहेंगे। और प्रलयमें कार्य अपने धर्मसे कारणको संसृष्ट करता है, यह कथन बहुत थोड़ा है, स्थितिमें भी यह प्रसंग समान ही है, क्योंकि कार्य और कारण अनन्य हैं, ऐसा स्वीकार है। 'इदं सर्वं यदयमात्मा' (दृश्यमान सब पदार्थ यह आत्मा ही है), 'आत्मैवेदं सर्वम्' (यह सब आत्मा ही है), 'ब्रह्मैवेदममृतं०' (यह अमृत ब्रह्म ही पूर्व दिशामें है) 'सर्वं खल्विदं०' (यह सब ब्रह्म ही है) इत्यादि श्रुतियां तीनों

रत्नप्रभा

असति कार्ये तद्धर्मेण कारणस्य योगो न सम्भवति धर्म्यसत्त्वे धर्माणामपि असत्त्वादिति भावः। ननु सत्कार्यवादे लयेऽपि कार्यस्य कारणाभेदेन सत्त्वाद् दूषकत्वं स्याद् इत्यत आह–अनन्यत्वेऽपीति। कल्पितस्य अधिष्ठानधर्मवत्त्वम् अभेदात् न त्वधिष्ठानस्य कल्पितकार्यधर्मवत्त्वम् तस्य कार्यात् पृथक् सत्त्वादित्यर्थः। किञ्च, अपीतौ इति विशेषणं व्यर्थमिति प्रतिबन्द्या समाधत्ते–अत्यल्पं

रत्नप्रभाका अनुवाद

लय ही न हो, ऐसा कहते हैं—"अपीतिरेव" इत्यादिसे। कार्य न हो, तो उसके धर्मके साथ कारणका संबन्ध ही न हो सकेगा, क्योंकि धर्मी ही न हो, तो उसके धर्म ही नहीं रह सकेंगे, ऐसा आशय है। परन्तु सत्कार्यवादमें प्रलयकालमें भी कार्य कारणाभिन्न रहता है, इसलिए कारणको दूषित कर सकता है, इसपर कहते हैं—"अनन्यत्वेऽपि" इत्यादि। कल्पित वस्तुमें अधिष्ठानके धर्म रहते हैं, क्योंकि वह उससे अभिन्न है, परन्तु अधिष्ठानमें कल्पित कार्यका कोई धर्म नहीं रहता है, क्योंकि वह कार्यसे भिन्न है, ऐसा अर्थ है। और 'अपीतौ' यह विशेषण व्यर्थ भी है, इस प्रकार प्रतिवन्दी उत्तर देकर समाधान करते हैं—"अत्यल्पं

भाष्य

श्रुतिभिरविशेषेण त्रिष्वपि कालेषु कार्यस्य कारणादनन्यत्वं श्राव्यते। तत्र यः परिहारः—कार्यस्य तद्धर्माणां चाऽविद्याध्यारोपितत्वान्न तैः कारणं संसृज्यते–इति, अपीतावपि स समानः। अस्ति चायमपरो दृष्टान्तो यथा स्वयं प्रसारितया मायया मायावी त्रिष्वपि कालेषु न संस्पृश्यते, अवस्तुत्वात्, एवं परमात्माऽपि संसारमायया न संस्पृश्यत इति। यथा च स्वप्नदृगेकः स्वप्नदर्शनमायया न संस्पृश्यते प्रबोधसंप्रसादयोरनन्वागतत्वात्, एवमवस्थात्रयसाक्ष्येकोऽव्यभिचार्यवस्थात्रयेण व्यभिचारिणा न

भाष्यका अनुवाद

कालमें एकरूपसे कार्यका कारणसे अभेद प्रतिपादन करती हैं। उसमें कार्य और उसके धर्मोंका अविद्या द्वारा कारणमें अध्यारोप होनेसे उनके साथ कारण संस्पृष्ट नहीं होता, ऐसा जो परिहार है, वह प्रलयमें भी समान है। और यह दूसरा दृष्टान्त है कि जैसे अपनी फैलाई हुई मायासे तीनों कालमें मायावी संस्पृष्ट नहीं होता, क्योंकि माया अवस्तु है, वैसे ही परमात्मा भी संसारकी मायासे स्पृष्ट नहीं होता। और जैसे एक स्वप्न देखनेवाला स्वप्नदर्शनकी मायासे संस्पृष्ट नहीं होता, क्योंकि जाग्रत् और सुषुप्तिमें वह मायासे अनुगम्यमान नहीं है, इसी प्रकार तीनों अवस्थाओंका साक्षी, एक जो अव्यभिचारी है, वह तीनों व्यभिचारी

रत्नप्रभा

चेति। परिणामदृष्टान्तं व्याख्याय विवर्तदृष्टान्तं व्याचष्टे–अस्ति चेति। मायावी अनुपादानमिति अरुच्या दृष्टान्तान्तरमाह–यथा चेति। अस्त्येव स्वप्नकाले दृष्टः संसर्ग इत्यत आह–प्रबोधेति। जाग्रत्सुषुप्त्योः स्वप्नेनाऽऽत्मनः अस्पर्शात् तत्कालेऽपि अस्पर्श इत्यर्थः। यदा अज्ञस्य जीवस्य अवस्थाभिः असंसर्गः, तदा सर्वज्ञस्य किं वाच्यमिति दार्ष्टान्तिकमाह–एवमिति। यद्वा, जगज्जन्मस्थितिलया ईश्वरस्य अवस्थात्रयम्

रत्नप्रभाका अनुवाद

च" इत्यादिसे। परिणाममें दृष्टान्तका व्याख्यान करके विवर्तमें दृष्टान्तका व्याख्यान करते हैं—"अस्ति च" इत्यादिसे। प्रथम दृष्टान्तमें उक्त मायावी मायाका उपादान कारण नहीं है, इस अरुचिसे दूसरा दृष्टान्त कहते हैं—"यथा च" इत्यादिसे। स्वप्नकालमें तो आत्माका स्वप्नके साथ संसर्ग देखा जाता है, इसपर कहते हैं—"प्रबोध" इत्यादि। जाग्रत् और सुषुप्त्यवस्थामें स्वप्नके साथ आत्माका संसर्ग नहीं रहता, इसलिए स्वप्नावस्थामें भी स्वप्नके साथ आत्माका संसर्ग नहीं है, ऐसा अर्थ है। जब अज्ञ जीवका ही अवस्थाओंसे संबन्ध नहीं है, तब सर्वज्ञके बारेमें कहना ही क्या है, ऐसा दार्ष्टान्तिक कहते हैं—"एवम्" इत्यादिसे। जगत्की उत्पत्ति,

भाष्य

संस्पृश्यते । मायामात्रं ह्येतद्यत्परमात्मनोऽवस्थात्रयात्मनाऽवभासनं रज्ज्वा इव सर्पादिभावेनेति । अत्रोक्तं वेदान्तार्थसंप्रदायविद्भिराचार्यैः—

'अनादिमायया सुप्तो यदा जीवः प्रबुध्यते ।
अजमनिद्रमस्वप्नमद्वैतं बुध्यते तदा ॥' (गौडपा० कारि० १।१६)

इति । यदुक्तम्—अपीतौ कारणस्याऽपि कार्यस्येव स्थौल्यादिदोषप्रसङ्ग इति, एतदयुक्तम् । यत्पुनरेतदुक्तम्—समस्तस्य विभागस्याऽविभागप्राप्तेः पुनर्विभागेनोत्पत्तौ नियमकारणं नोपपद्यत इति । अयमप्यदोषः । दृष्टान्तभावादेव । यथा हि सुषुप्तिसमाध्यादावपि सत्यां स्वाभाविक्यामविभाग-

भाष्यका अनुवाद

दशाओंसे संस्पृष्ट नहीं होता। जैसे रज्जुका सर्प आदि रूपमें अवभास है, वैसे परमात्माका तीनों अवस्थाओंके स्वरूपमें अवभास होना मायामात्र है। इस विषयमें वेदान्त संप्रदायको जाननेवाले आचार्योंने कहा है—'अनादिमायया सुप्तो०' (जब अनादिमायासे सोया हुआ जीव जागता है, तब जन्म, निद्रा, स्वप्न और द्वैतरहित परमात्माको जानता है)। प्रलयमें कार्यके समान कारणमें भी स्थूलता आदि दोष प्राप्त होंगे, ऐसा जो कहा है, वह अयुक्त है। उसी प्रकार समस्त विभागका प्रलयकालमें अविभाग होनेपर फिरसे विभागसे उत्पत्तिमें नियम कारण उपपन्न नहीं होता, ऐसा भी जो कहा है, यह भी दोष नहीं है, क्योंकि दृष्टान्त है ही। जैसे सुषुप्ति, समाधि आदिमें भी

रत्नप्रभा

तदसङ्गित्वे वृद्धसम्मतिमाह—अत्रोक्तमिति । यदा—तत्त्वमसीति उपदेशकाले प्रबुध्यते—मायानिद्रां त्यजति तदा जन्मलयस्थित्यवस्थाशून्यम् अद्वैतमीश्वरम् आत्मत्वेनाऽनुभवति इत्यर्थः । फलितमाह—तत्रेति । द्वितीयम् असामञ्जस्यम् अनूद्य तेनैव सूत्रेण परिहरति—यत्पुनरिति । सुषुप्तौ अज्ञानसत्त्वे पुनर्विभागोत्पत्तौ च

रत्नप्रभाका अनुवाद

स्थिति और लय ईश्वरकी तीन अवस्थाएँ हैं, ईश्वरका अवस्थाओंसे संबन्ध नहीं है, इस विषयमें वृद्धोंकी सम्मति कहते हैं—"अत्रोक्तम्" इत्यादिसे । जब जीव 'तत्त्वमसि' इस उपदेशके समय मायानिद्राको छोड़ देता है, तब उत्पत्ति, नाश, स्थिति रूप तीन अवस्थाओंसे शून्य अद्वितीय ईश्वरका स्वस्वरूपसे अनुभव करता है, ऐसा कारिकाका अर्थ है। "तत्र" इत्यादिसे फलित कहते हैं। दूसरे असामञ्जस्यका अनुवाद करके उसी सूत्रसे उसका परिहार करते हैं—"यत्पुनः" इत्यादिसे। सुषुप्तिमें अज्ञान रहता है और पुनः विभाग उत्पन्न होता

भाष्य

प्राप्तौ मिथ्याज्ञानस्याऽनपोदितत्वात् पूर्ववत् पुनः प्रबोधे विभागो भवत्येव-मिहापि भविष्यति। श्रुतिश्चाऽत्र भवति—'इमाः सर्वाः प्रजाः सति संपद्य न विदुः सति संपद्यामह इति त इह व्याघ्रो वा सिंहो वा वृको वा वराहो वा कीटो वा पतङ्गो वा दंशो वा मशको वा यद्यद्भवन्ति तत्तदा भवन्ति' (छा० ६।९।२,३) इति। यथा ह्यविभागेऽपि परमात्मनि मिथ्याज्ञान-प्रतिबद्धो विभागव्यवहारः स्वप्नवदव्याहतः स्थितो दृश्यते, एवमपीतावपि

भाष्यका अनुवाद

स्वाभाविक अविभाग प्राप्त होनेपर भी मिथ्याज्ञान दूर न होनेसे पुनः प्रबोध होनेपर पूर्वके समान विभाग होता ही है, उसी प्रकार यहां भी होगा। इसमें श्रुति भी है—'इमाः सर्वाः प्रजाः सति सम्पद्य०' (ये सब जीव ब्रह्ममें एक होकर हम ब्रह्ममें एक हुए हैं, ऐसा नहीं जानते। यहां सुषुप्तिके पूर्व प्रबोध समयमें बाघ या सिंह या भेड़िया या शूकर या कीड़े या पतंगे या डांस या मच्छर आदि जो रहता है, सुषुप्तिसे उठनेके बाद वह वही होता है)। जैसे परमात्मामें अविभाग है, तो भी स्थितिकालमें मिथ्याज्ञानसे मिले हुए विभागका व्यवहार स्वप्नके समान अव्याहत देखनेमें आता है, वैसे प्रलयमें भी मिथ्याज्ञानसे

रत्नप्रभा

मानमाह—श्रुतिश्चेति। सति ब्रह्मणि एकीभूय न विदुः इत्यज्ञानोक्तिः, इह सुषुप्तेः प्राक् प्रबोधे येन येन जात्यादिना विभक्ता भवन्ति तदा पुनः उत्थान-काले तथैव भवन्तीति विभागोक्तिः। ननु सुषुप्तौ पुनर्विभागशक्त्यज्ञानसत्त्वेऽपि सर्वप्रलये तत्सत्त्वं कुत इत्यत आह—यथा हीति। यथा सुषुप्तौ परमात्मनि सर्वकार्याणाम् अविभागेऽपि पुनर्विभागहेत्वज्ञानशक्तिरस्ति, एवम् अपीतौ महा-प्रलयेऽपि मिथ्याभूताज्ञानसम्बद्धा पुनः सृष्टिविभागशक्तिः अनुमास्यते। यतः

रत्नप्रभाका अनुवाद

है, इस विषयमें प्रमाण कहते हैं—"श्रुतिश्च" इत्यादिसे। ब्रह्ममें एकता प्राप्त करके भी उसे नहीं जानते हैं, इस प्रकार अज्ञानका कथन है, सुषुप्तिके पहले जाग्रदवस्थामें जो जिस जाति आदिसे विभक्त रहते हैं, पुनः सुषुप्तिसे उत्थान कालमें भी वे उसी जाति आदिसे विभक्त होते हैं, इस प्रकार विभागका कथन है। यदि कोई कहे कि सुषुप्तिमें पुनर्विभागकी शक्ति अज्ञानके रहनेपर भी सर्वप्रलयमें वह विभागशक्ति रहती है, इसमें क्या प्रमाण है, इसपर कहते हैं—"यथा हि" इत्यादि। जैसे सुषुप्त्यवस्थामें ब्रह्ममें सब कार्योंका विभाग न रहनेपर भी पुनः विभागहेतु अज्ञान-शक्ति रहती है, उसी प्रकार महाप्रलयमें भी मिथ्याभूत अज्ञानसे संबन्ध रखनेवाली पुनः सृष्टिकी

भाष्य

मिथ्याज्ञानप्रतिबद्धैव विभागशक्तिरनुमास्यते। एतेन मुक्तानां पुनरुत्पत्तिप्रसङ्गः प्रत्युक्तः, सम्यग्ज्ञानेन मिथ्याज्ञानस्याऽपोदितत्वात् । यः पुनरयमन्तेऽपरो विकल्प उत्प्रेक्षितः—अथेदं जगदपीतावपि विभक्तमेव परेण ब्रह्मणाऽवतिष्ठेत—इति, सोऽप्यनभ्युपगमादेव प्रतिषिद्धः। तस्मात् समञ्जसमिदमौपनिषदं दर्शनम् ॥९॥

भाष्यका अनुवाद

मिली हुई विभागशक्तिकी अनुमिति होती है। इससे मुक्तोंकी पुनरुत्पत्तिके प्रसंगका निराकरण हुआ समझना चाहिए, क्योंकि सम्यग्ज्ञानसे मिथ्याज्ञानका नाश हो गया है। और अन्तमें जो दूसरे विकल्पकी उत्प्रेक्षा की है कि यह जगत् प्रलयमें भी परब्रह्मके साथ विभक्त ही रहेगा; इसका भी अस्वीकारसे ही प्रतिषेध हुआ है। इससे यह औपनिषद दर्शन समंजस है ॥ ९ ॥

रत्नप्रभा

स्थितौ इदानीं मिथ्याज्ञानकार्यो विभागव्यवहारः तत्त्वबोधाभावात् स्वप्नवद् अबाधितो दृश्यते, अतः कार्यदर्शनात् कारणसत्त्वसिद्धिः इत्यर्थः। अज्ञानां जीवानां महाप्रलयेऽपि अज्ञानशक्तिनियमात् पुनर्जन्मनियम इति भावः। एतेनेति। जन्मकारणाज्ञानशक्त्यभावेन इत्यर्थः ॥ ९ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

विभागशक्तिका अनुमान होता है। चूंकि इस स्थितिकालमें तत्त्वज्ञान न होनेसे मिथ्याज्ञानसे उत्पन्न विभागव्यवहार स्वप्नके समान अबाधित प्रतीत होता है, इसलिए कार्यज्ञानसे कारणकी सत्ता सिद्ध होती है, ऐसा अर्थ है। अज्ञ जीवोंको महाप्रलयमें भी अज्ञानशक्ति रहती है, इसलिए उनकी पुनः उत्पत्ति होती है, ऐसा आशय है। "एतेन" अर्थात् उत्पत्तिके कारणभूत अज्ञानशक्तिके न होनेसे ॥ ९ ॥

स्वपक्षदोषाच्च ॥१०॥

पदच्छेद—स्वपक्षदोषात्, च।

पदार्थोक्ति—स्वपक्षदोषाच्च–साङ्ख्येनोद्भावितानां दोषाणां साङ्ख्यपक्षेऽपि सद्भावात् [दोषपरिहारोपायौ समानौ]।

भाषार्थ—सांख्य ने जो दोष कहे हैं, वे सांख्यमतमें भी हैं, अतः दोष एवं उसके परिहारका उपाय दोनों मतमें समान हैं।

भाष्य

स्वपक्षे चैते प्रतिवादिनः साधारणा दोषाः प्रादुःष्युः। कथमिति? उच्यते—यत्तावदभिहितं विलक्षणत्वान्नेदं जगद् ब्रह्मप्रकृतिकम् इति, प्रधानप्रकृतिकतायामपि समानमेतत्, शब्दादिहीनात् प्रधानाच्छब्दादिमतो जगत उत्पत्त्यभ्युपगमात्। अत एव च विलक्षणकार्योत्पत्त्यभ्युपगमात् समानः प्रागुत्पत्तेरसत्कार्यवादप्रसङ्गः। तथाऽपीतौ कार्यस्य कारणविभागाभ्युपगमात् तद्वत् प्रसङ्गोऽपि समानः। तथा मृदितसर्वविशेषेषु विकारेष्वपीतावविभागात्मतां गतेष्विदमस्य पुरुषस्योपादानमिदमस्येति प्राक्

भाष्यका अनुवाद

प्रतिवादीके पक्षमें भी ये दोष साधारण हैं। किस प्रकार? कहते हैं—पीछे जो यह आक्षेप किया गया है कि विलक्षण होनेके कारण यह जगत् ब्रह्मसे उत्पन्न नहीं हुआ है, वह आक्षेप प्रधानसे जगत्की उत्पत्ति माननेपर भी समान है, क्योंकि सांख्य शब्द आदिसे रहित प्रधानसे शब्दादियुक्त जगत्की उत्पत्ति मानते हैं। इसीसे—विलक्षण कार्यकी उत्पत्ति माननेसे उत्पत्तिके पूर्व असत्कार्यवादका प्रसंग समान है। उसी प्रकार प्रलयमें कार्यका कारणसे अभेद माना गया है, अतएव कार्यके धर्मोंका कारणके साथ संबद्ध होना भी समान है। उसी प्रकार जिनके सब विशेष नष्ट हो गये हैं, प्रलयमें कारणके साथ अभेदको प्राप्त हुए उन विकारोंको प्रलयके पूर्व प्रत्येक पुरुषके प्रति यह अमुकका उपादान है, यह

रत्नप्रभा

वैलक्षण्यादीनां सांख्यपक्षेऽपि दोषत्वात् न अस्माभिः तन्निरासप्रयासः कार्य इत्याह—**स्वपक्षेति**। सूत्रं व्याचष्टे—**स्वेति**। प्रादुःष्युः प्रादुर्भवेयुः। **अत एवेति**। सत्यकार्यस्य विरुद्धकारणात्मना सत्त्वायोगात् सांख्यस्यैव अयं दोषो न कार्यमिथ्यात्ववादिनः इति मन्तव्यम्। अपीतौ इति सूत्रोक्तदोषचतुष्टयम् आह—**तथापीताविति**। कार्यवत् प्रधानस्य रूपादिमत्त्वप्रसङ्गः। इदं कर्मादिकम् अस्य उपा-

रत्नप्रभाका अनुवाद

वैलक्षण्य आदि दोष सांख्यमतमें भी होते हैं, अतः उनका निराकरण करनेके लिए हमको प्रयास करनेकी आवश्यकता नहीं है, ऐसा कहते हैं—"स्वपक्ष" इत्यादिसे। "स्व" इत्यादिसे सूत्रका व्याख्यान करते हैं। प्रादुःष्युः—उत्पन्न होंगे। "अत एव" इत्यादि। सत्य कार्य अपनेसे विरुद्ध कारणरूपसे नहीं रह सकता है, यह दोष सांख्यके मतमें ही है, कार्यको मिथ्या माननेवाले वेदान्तियोंके मतमें नहीं है। 'अपीतौ' सूत्रमें कथित चार दोषोंको कहते हैं—"तथापीतौ" इत्यादिसे। प्रलयमें कार्यको कारणाभिन्न माननेसे कार्यके समान

भाष्य

प्रलयात् प्रतिपुरुषं ये नियता भेदा न ते तथैव पुनरुत्पत्तौ नियन्तुं शक्यन्ते कारणाभावात्। विनैव च कारणेन नियमेऽभ्युपगम्यमाने कारणाभावसाम्यान्मुक्तानामपि पुनर्बन्धप्रसङ्गः। अथ केचिद्भेदा अपीतावविभागमापद्यन्ते केचिन्नेति चेत्। ये नापद्यन्ते तेषां प्रधानकार्यत्वं न प्राप्नोतीत्येवमेते दोषाः साधारणत्वान्नान्यतरस्मिन् पक्षे चोदयितव्या भवन्तीत्यदोषतामेवैषां द्रढयति अवश्याश्रयितव्यत्वात् ॥ १० ॥

भाष्यका अनुवाद

अमुकका, इस प्रकार जो नियत भेद हैं, वे पुनरुत्पत्तिमें उसी प्रकार रहते हैं, ऐसा नियम नहीं कर सकते, क्योंकि ऐसा नियम करनेमें कोई कारण नहीं है। कारणके बिना नियम माना जाय, तो कारणके अभावके समान होनेसे मुक्त भी पुनः बद्ध हो जायंगे। कुछ भेद प्रलयमें अविभागको प्राप्त होते हैं और कुछ नहीं होते, ऐसा कहो, तो जो अविभागको प्राप्त नहीं होते, वे प्रधानके कार्य नहीं होंगे। इस प्रकार ये दोष साधारण होनेसे एक ही पक्षमें लागू नहीं हो सकते, इसलिए सूत्रकार दृढ़तापूर्वक कहते हैं कि ये हमारे ही मतमें दोष नहीं हैं, क्योंकि वे अवश्य मन्तव्य हैं ॥१०॥

रत्नप्रभा

दानं भोग्यम् अस्य न इत्यनियमः। बद्धमुक्तव्यवस्था च। यदि व्यवस्थार्थं मुक्तानां भेदाः—सङ्घातविशेषाः प्रधाने लीयन्ते बद्धानां भेदास्तु न लीयन्ते इति उच्येत, तर्हि अलीनानां पुरुषवत् कार्यत्वव्याघात इत्यर्थः ॥ १० ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

प्रधानको भी रूपादिसे युक्त मानना होगा। अमुक कर्म अमुकका उपादान है, अमुकका भोग्य है, और अमुकका नहीं है इत्यादि नियम नहीं रहेंगे। बद्ध और मुक्तकी व्यवस्था भी नहीं रहेगी। यदि उस व्यवस्थाके लिए मुक्तोंके भेद—समूहविशेष प्रधानमें लीन होते हैं, और बद्धोंके भेद नहीं लीन होते, ऐसा कहो तो अलीन भेदोंमें पुरुषोंके समान कार्यत्वका व्याघात होगा अर्थात् वे कार्य नहीं हो सकेंगे ॥ १० ॥

तर्काप्रतिष्ठानादप्यन्यथानुमेयमिति चेदेवमप्यविमोक्षप्रसङ्गः ॥११॥

पदच्छेद—तर्काप्रतिष्ठानात्, अपि, अन्यथा, अनुमेयम्, इति, चेत्, एवम्, अपि, अविमोक्षप्रसङ्गः।

पदार्थोक्ति—तर्काप्रतिष्ठानादपि—केवलस्य तर्कस्य अप्रतिष्ठितत्वाच्च, [न ब्रह्मणि वेदान्तसमन्वयविरोधः] कस्यचित् तर्कस्याऽप्रतिष्ठितत्वेऽपि, अन्यथा—अप्रतिष्ठिततर्कादन्येन प्रकारेण प्रतिष्ठिततर्केण, अनुमेयम्—समन्वयविरोधादिकम् [अनुमेयम्], इति चेत, एवमपि—कस्यचित् तर्कस्य प्रतिष्ठितत्वेऽपि, आविमोक्षप्रसङ्गः—प्रकृतविषये तर्कस्य अप्रतिष्ठितत्वदोषादविमोक्षप्रसङ्गः। यद्वा, अविमोक्षप्रसङ्गः—कपिलकणभुगादीनां परस्परविप्रतिपन्नैस्तर्कैः तत्त्वनिर्णयाभावात् संसारादविमोक्षप्रसङ्गः।

भाषार्थ—केवल तर्ककी प्रतिष्ठा न होनेसे भी ब्रह्ममें वेदान्तवाक्य-समन्वयका कोई विरोध नहीं है। किसी तर्कके अप्रतिष्ठित होनेपर भी अन्य रीतिसे अर्थात् प्रतिष्ठित तर्कसे वेदान्तसमन्वयके विरोधका अनुमान करना चाहिये, यदि ऐसा कहो, तो कुछ तर्कोंके प्रतिष्ठित होनेपर भी प्रकृत विषयमें तर्क अप्रतिष्ठितत्वरूप दोषसे मुक्त नहीं हो सकता। अथवा कपिल, कणाद आदिके परस्पर विरुद्ध तर्कोंसे तत्त्वनिर्णय ही नहीं हो सकता, इसलिए कभी संसारसे मुक्ति ही नहीं हो सकती।

भाष्य

इतश्च नाऽऽगमगम्येऽर्थे केवलेन तर्केण प्रत्यवस्थातव्यम् यस्मान्निरागमाः पुरुषोत्प्रेक्षामात्रनिबन्धनास्तर्का अप्रतिष्ठिता भवन्ति उत्प्रेक्षाया निरङ्कुशत्वात्। तथा हि कैश्चिदभियुक्तैर्यत्नेनोत्प्रेक्षितास्तर्का अभियुक्ततरैरन्यै-

भाष्यका अनुवाद

और इससे भी केवल वेदसे जानने योग्य वस्तुमें वेदनिरपेक्ष तर्कसे विरोध करना उचित नहीं है, क्योंकि शास्त्रके प्रमाणसे रहित और पुरुष कल्पनामात्रमूलक तर्क अस्थिर होते हैं, क्योंकि कल्पना निरंकुश है। जैसे कि कुछ

रत्नप्रभा

किञ्च, तर्कस्य सम्भावितदोषत्वात् तेन निर्दोषवेदान्तसमन्वयो न बाध्य इत्याह—तर्काप्रतिष्ठानादपीति। पुरुषमतीनां विचित्रत्वेऽपि कपिलस्य सर्वज्ञ-

रत्नप्रभाका अनुवाद

किञ्च, तर्कमें दोषोंकी संभावना है, इसलिए तर्कसे दोषरहित वेदान्तोंके समन्वयका बाध नहीं होता, ऐसा कहते हैं—"तर्काप्रतिष्ठानादपि" इत्यादिसे। पुरुषबुद्धियोंके विचित्र होनेपर

भाष्य

राभास्यमाना दृश्यन्ते। तैरप्युत्प्रेक्षिताः सन्तस्ततोऽन्यैराभास्यन्त इति न प्रतिष्ठितत्वं तर्काणां शक्यमाश्रयितुम्, पुरुषमतिवैरूप्यात्। अथ कस्यचित् प्रसिद्धमाहात्म्यस्य कपिलस्य चाऽन्यस्य वा संमतस्तर्कः प्रतिष्ठित इत्याश्रीयेत, एवमप्यप्रतिष्ठितत्वमेव। प्रसिद्धमाहात्म्यानुमतानामपि तीर्थकराणां कपिलकणभुक्प्रभृतीनां परस्परविप्रतिपत्तिदर्शनात्। अथोच्येत अन्यथा वयमनुमास्यामहे यथा नाऽप्रतिष्ठादोषो भविष्यति, नहि प्रतिष्ठितस्तर्क एव नास्तीति शक्यते वक्तुम्, एतदपि हि तर्काणा-

भाष्यका अनुवाद

विद्वानोंसे यत्न द्वारा कल्पित तर्क उनसे विशेष विद्वानोंकी दृष्टिमें तर्काभाससे प्रतीत होते हैं, और उनके तर्क उनसे बढ़े चढ़े विद्वानोंकी दृष्टिमें तर्काभाससे प्रतीत होते हैं। इस कारण तर्कोंकी स्थिरता कदापि नहीं मानी जा सकती, क्योंकि पुरुषमति विलक्षण है। यदि किसी प्रसिद्ध माहात्म्यवाले कपिल या किसी अन्यका तर्क प्रतिष्ठित कहो, [तो सो नहीं कह सकते] वह भी अप्रतिष्ठित ही है, क्योंकि जिनका माहात्म्य प्रसिद्ध समझा गया है, ऐसे शास्त्रकार कपिल, कणाद आदिमें भी परस्पर विप्रतिपत्ति देखी जाती है। यदि ऐसा कहा जाय कि जिस प्रकार अप्रतिष्ठादोष नहीं आवे, उस प्रकार अन्य रीतिसे हम अनुमान करेंगे, क्योंकि प्रतिष्ठित तर्क है ही नहीं, ऐसा नहीं कहा

रत्नप्रभा

त्वात् तदीयतर्के विश्वास इति शङ्कते—अथेति। 'कपिलो यदि सर्वज्ञः कणादो नेति का प्रमा' इति न्यायेन परिहरति—एवमपीति। सूत्रमध्यस्थशङ्काभागं व्याचष्टे—अथोच्येतेति। विलक्षणत्वादितर्काणाम् अप्रतिष्ठितत्वेऽपि व्याप्तिपक्षधर्मतासम्पन्नः कश्चित् तर्कः प्रतिष्ठितो भविष्यति तेन प्रधानम् अनुमेयमित्यर्थः। ननु सोऽपि अप्रतिष्ठितः तर्कजातीयत्वाद् विलक्षणत्वादिवत् इत्यत आह—नहीति।

रत्नप्रभाका अनुवाद

भी कपिलके सर्वज्ञ होनेसे उनके तर्कमें विश्वास रखना चाहिए, ऐसी शंका करते हैं—"अथ" इत्यादिसे। 'कपिलो यदि०' (यदि कपिल मुनि सर्वज्ञ हैं, तो कणाद मुनि सर्वज्ञ नहीं है, इसमें क्या प्रमाण है) इस न्यायसे शंकाका परिहार करते हैं—"एवमपि" इत्यादिसे। सूत्रगत शंका भागका व्याख्यान करते हैं—"अथोच्येत" इत्यादिसे। विलक्षणत्व आदि तर्क अप्रतिष्ठित होनेपर भी व्याप्ति, पक्षधर्मता आदिसे संपन्न तर्क प्रतिष्ठित है, उससे प्रधानका अनुमान करना चाहिए, ऐसा अर्थ है। यदि कोई कहे कि वह तर्क भी अप्रतिष्ठित है, तर्क सजातीय होनेसे, विलक्षणत्व आदि तर्कके समान, इसपर कहते हैं—"नहि" इत्यादि।

भाष्य

मप्रतिष्ठितत्वं तर्केणैव प्रतिष्ठाप्यते । केषांचित् तर्काणामप्रतिष्ठितत्वदर्शने-नाऽन्येषामपि तज्जातीयकानां तर्काणामप्रतिष्ठितत्वकल्पनात् । सर्वतर्काप्रतिष्ठायां च लोकव्यवहारोच्छेदप्रसङ्गः । अतीतवर्तमानाध्वसाम्येन ह्यनागतेऽप्यध्वनि सुखदुःखप्राप्तिपरिहाराय प्रवर्तमानो लोको दृश्यते । श्रुत्यर्थ-

भाष्यका अनुवाद

जा सकता, तर्कका अप्रतिष्ठितत्व तर्कसे ही ठहराया जाता है, कुछ तर्कोंको अप्रतिष्ठित देखकर तज्जातीय अन्य तर्क भी अप्रतिष्ठित हैं, ऐसी कल्पनाकी जाती है। और सभी तर्कोंके अप्रतिष्ठित होनेपर लोकव्यवहार ही उच्छिन्न हो जायगा, क्योंकि भूत और वर्तमान विषयके सादृश्यसे भविष्यत् विषयमें भी सुख प्राप्त करने और दुःखका परिहार करनेमें प्रवृत्त होते हुए लोग देखे

रत्नप्रभा

तर्कजातीयत्वाद् इति तर्कः प्रतिष्ठितो न वा, आद्ये अत्रैव अप्रतिष्ठितत्वसाध्याभावाद् व्यभिचारः । द्वितीयेऽपि न सर्वतर्काणाम् अप्रतिष्ठितत्वं हेत्वभावाद् इत्यभिसन्धिमान् आह—एतदपीति । किञ्च, अनागतपाकः इष्टसाधनम्, पाकत्वाद्, अतीतपाकवत्, इत्यादीष्टानिष्टसाधनानुमानात्मकतर्कस्य प्रवृत्तिनिवृत्तिव्यवहारहेतुत्वात् न अप्रतिष्ठा इत्याह—सर्वतर्केति । अध्वा—विषयः, पाकभोजनादिः विषभक्षणादिश्च तत्सामान्येन पाकत्वादिना अनागतविषये पाकादौ सुखदुःखहेतुत्वानुमित्या प्रवृत्त्यादिः इत्यर्थः । किञ्च, पूर्वोत्तरमीमांसयोः तर्केणैव वाक्यतात्पर्यनिर्णयस्य क्रियमाणत्वात् तर्कः प्रतिष्ठित इत्याह—श्रुत्यर्थेति । मनुरपि

रत्नप्रभाका अनुवाद

'तर्क सजातीय होनेसे' यह तर्क प्रतिष्ठित है या नहीं ? यदि अप्रतिष्ठित है तो इसीमें अप्रतिष्ठितत्वरूप साध्य न होनेसे व्यभिचार होता है, यदि प्रतिष्ठित है, तो सब तर्कोंमें अप्रतिष्ठितत्वरूप हेतु नहीं है, इस अभिप्रायसे पूर्वपक्षी कहता है—"एतदपि" इत्यादि । और भविष्य पाक इष्ट साधन है, पाक होनेसे, अनुभूत पाकके समान, इत्यादि इष्टसाधनानुमानरूप तर्क प्रवृत्ति, निवृत्ति आदि व्यवहारका हेतु है, इसलिए तर्ककी अप्रतिष्ठा नहीं है, ऐसा कहते हैं—"सर्वतर्क" इत्यादिसे । अध्वा—विषय—पाकभोजन, विषभक्षण आदि, पाक आदिमें स्थित पाकत्व आदि हेतुसे भविष्य पाकमें भी सुखहेतुत्व, दुःखहेतुत्व आदिकी अनुमिति होकर उससे प्रवृत्ति आदि होते हैं, ऐसा अर्थ है । और पूर्वमीमांसा और उत्तरमीमांसाओंमें तर्कसे ही वाक्यके तात्पर्यका निर्णय किया जाता है, इसलिए तर्क प्रतिष्ठित है, ऐसा कहते हैं—"श्रुत्यर्थ" इत्यादिसे । मनु भी कुछ तर्कोंको प्रतिष्ठित मानते

भाष्य

विप्रतिपत्तौ चार्थाऽऽभासनिराकरणेन सम्यगर्थनिर्धारणं तर्केणैव वाक्यवृत्ति-निरूपणरूपेण क्रियते। मनुरपि चैवमेव मन्यते—

'प्रत्यक्षमनुमानं च शास्त्रं च विविधागमम्।
त्रयं सुविदितं कार्यं धर्मशुद्धिमभीप्सता॥ इति।
आर्षं धर्मोपदेशं च वेदशास्त्राविरोधिना।
यस्तर्केणानुसंधत्ते स धर्मं वेद नेतरः॥' (१२।१०५,१०६)

इति च ब्रुवन्। अयमेव च तर्कस्याऽलङ्कारो यदप्रतिष्ठितत्वं नाम। एवं हि सावद्यतर्कपरित्यागेन निरवद्यस्तर्कः प्रतिपत्तव्यो भवति। नहि पूर्वजो मूढ आसीदित्यात्मनाऽपि मूढेन भवितव्यमिति किंचिदस्ति प्रमा-

भाष्यका अनुवाद

जाते हैं। श्रुतिके अर्थमें विप्रतिपत्ति हो, तो अर्थाभासका निराकरण करके सत्य अर्थका निर्णय वाक्यतात्पर्यका निरूपण करनेवाले तर्कसे ही किया जाता है। 'प्रत्यक्षमनुमानं च०' (धर्मका अधर्मसे भेद जाननेकी इच्छा करनेवाले पुरुषको प्रत्यक्ष, अनुमान और विविध संप्रदायोंसे युक्त शास्त्रका भली भाँति मनन करना चाहिए) और 'आर्षं धर्मोपदेशं च०' (ऋषिप्रणीत धर्मोपदेशका वेद और शास्त्रसे अविरुद्ध तर्क द्वारा जो विचार करता है, वह धर्मके यथार्थरूपको जानता है, अन्य नहीं जानता) ऐसा कहते हुए मनु भी कुछ तर्कोंको प्रतिष्ठित कहते हैं। अप्रतिष्ठित होना तर्कका भूषण है, क्योंकि इस प्रकारसे निन्द्य तर्कका परित्याग करके निर्दुष्ट तर्क स्वीकार किया जाता है। पूर्वजोंके मूढ होनेसे हमको भी मूढ होना चाहिए, इसमें कोई प्रमाण नहीं है।

रत्नप्रभा

केषाञ्चित् तर्काणां प्रतिष्ठां मन्यते इत्याह—मनुरिति। धर्मस्य शुद्धिः अधर्माद् भेदनिर्णयः। कस्यचित् तर्कस्य अप्रतिष्ठितत्वमङ्गीकरोति—अयमेवेति। सर्व-तर्काणां प्रतिष्ठायां पूर्वपक्ष एव न स्यादिति भावः। पूर्वपक्षतर्कवत् सिद्धान्त-तर्कोऽपि अप्रतिष्ठितः तर्कत्वाविशेषादिति वदन्तम् उपहसति—नहीति।

रत्नप्रभाका अनुवाद

हैं, ऐसा कहते हैं—"मनुः" इत्यादिसे। धर्मकी शुद्धि—अधर्मसे भेदका निश्चय। कुछ तर्कोंको अप्रतिष्ठित मानते हैं—"अयमेव" इत्यादिसे। आशय यह है कि सब तर्कोंकी प्रतिष्ठा होनेपर पूर्वपक्ष ही न हो सकेगा। पूर्वपक्ष तर्कके समान सिद्धान्त तर्क भी अप्रतिष्ठित है, क्योंकि सब तर्क ही हैं, ऐसा कहते हुए सिद्धान्तीका सांख्य उपहास करता है—"नहि" इत्यादिसे। कहींपर तर्कके

भाष्य

णम् । तस्मान्न तर्काप्रतिष्ठानं दोष इति चेत् । एवमप्यविमोक्षप्रसङ्गः । यद्यपि क्वचिद्विषये तर्कस्य प्रतिष्ठितत्वमुपलक्ष्यते तथापि प्रकृते तावद् विषये प्रसज्यत एवाऽप्रतिष्ठितत्वदोषादविमोक्षस्तर्कस्य । नहीदमतिगम्भीरं भावयाथात्म्यं मुक्तिनिबन्धनमागममन्तरेणोत्प्रेक्षितुमपि शक्यम् । रूपाद्यभावाद्धि नाऽयमर्थः प्रत्यक्षगोचरः, लिङ्गाद्यभावाच्च नाऽनुमानादीनामिति चाऽवोचाम । अपि च सम्यग्ज्ञानान्मोक्ष इति सर्वेषां मोक्षवादिनामभ्युपगमः । तच्च सम्यग्ज्ञानमेकरूपं वस्तुतन्त्रत्वात् । एकरूपेण ह्यवस्थितो योऽर्थः स परमार्थः । लोके तद्विषयं ज्ञानं सम्यग्ज्ञानमित्युच्यते यथाग्निरुष्ण इति ।

भाष्यका अनुवाद

इसलिए तर्ककी अप्रतिष्ठा कोई दोष नहीं है, ऐसा कहो, तो तर्क दोषमुक्त नहीं हो सकता । यद्यपि किसी एक विषयमें तर्क प्रतिष्ठित दीखता है, तो भी प्रकृत विषयमें तर्क अप्रतिष्ठितत्व दोषसे विमुक्त नहीं हो सकता । इस अति गंभीर मुक्तिके हेतु कारणकी अद्वितीयताका अवधारण शास्त्रके विना नहीं हो सकता, क्योंकि रूपादिरहित होनेसे यह अर्थ प्रत्यक्ष प्रमाणका विषय नहीं है और लिंग आदिके अभावसे अनुमान आदिका विषय नहीं है, ऐसा भी हम पीछे कह चुके हैं । और सम्यग्ज्ञानसे मोक्ष प्राप्त होता है, ऐसा सब मोक्षवादी स्वीकार करते हैं । और वह सम्यग्ज्ञान एकरूप है, क्योंकि वह वस्तुके अधीन है । सदा एक रूपसे रहनेवाला पदार्थ परमार्थ है और उसका ज्ञान लोकमें सम्यग्ज्ञान कहलाता है, जैसे कि अग्नि उष्ण है, यह ज्ञान सम्यग्ज्ञान है ।

रत्नप्रभा

क्वचित् तर्कस्य प्रतिष्ठायामपि जगत्कारणविशेषे तर्कस्य स्वातन्त्र्यं नास्तीति सूत्रशेषं व्याचष्टे—यद्यपीत्यादिना । अतिगम्भीरत्वं ब्रह्मणो वेदान्यमानागम्यत्वम् । भावस्य जगत्कारणस्य याथात्म्यम् अद्वयत्वं दर्शयति—रूपादीति । अविमोक्षो मुक्त्यभाव इत्यर्थान्तरमाह—अपि चेत्यादिना । एकरूपवस्तुज्ञानस्य सम्यग्ज्ञानत्वेऽपि तर्क-

रत्नप्रभाका अनुवाद

प्रतिष्ठित होनेपर भी जगत्कारणके विषयमें वह स्वतंत्र नहीं है, इस प्रकार सूत्रशेषका व्याख्यान करते हैं—"यद्यपि" इत्यादिसे । अतिगंभीरत्व—ब्रह्मका वेदभिन्न प्रमाणसे अज्ञेयत्व । भावयाथात्म्य—जगत्कारणकी अद्वितीयता । मुक्तिनिबन्धन—मुक्तिका आश्रय । ब्रह्म वेदभिन्न प्रमाणसे ज्ञेय नहीं है, इस बातको दिखलाते हैं—"रूपादि" इत्यादिसे । अविमोक्षपदका मुक्त्यभावरूप अन्य अर्थ कहते हैं—"अपि च" इत्यादिसे । एकरूपसे स्थित वस्तुका ज्ञान सम्यग्ज्ञान होने-

भाष्य

तत्रैवं सति सम्यग्ज्ञाने पुरुषाणां विप्रतिपत्तिरनुपपन्ना । तर्कज्ञानानां त्वन्योन्यविरोधात् प्रसिद्धा विप्रतिपत्तिः । यद्धि केनचित् तार्किकेणेदमेव सम्यग्ज्ञानमिति प्रतिष्ठापितं तदपरेण व्युत्थाप्यते, तेनापि प्रतिष्ठापितं ततोऽपरेण व्युत्थाप्यत इति च प्रसिद्धं लोके । कथमेकरूपानवस्थित-विषयं तर्कप्रभवं सम्यग्ज्ञानं भवेत् । न च प्रधानवादी तर्कविदामुत्तम इति सर्वैस्तार्किकैः परिगृहीतो येन तदीयं मतं सम्यग्ज्ञानमिति प्रतिपद्येमहि । न च शक्यन्तेऽतीतानागतवर्तमानास्तार्किका एकस्मिन् देशे काले च समाहर्तुं

भाष्यका अनुवाद

ऐसी अवस्थामें सम्यग्ज्ञानके विषयमें पुरुषोंकी विप्रतिपत्ति अयुक्त है । तर्कज्ञानोंमें तो अन्योन्य विरोध होनेसे विप्रतिपत्ति प्रसिद्ध है और यह लोकमें प्रसिद्ध है कि किसी एक तार्किक द्वारा सम्यग्ज्ञानरूपसे निर्णीत तर्कका दूसरा खण्डन कर देता है और दूसरेके द्वारा निर्णीत तर्कका तीसरा खण्डन कर देता है । इसलिए एक रूपसे जिसका विषय अवस्थित न हो, ऐसे तर्कसे उत्पन्न हुआ ज्ञान किस प्रकार सम्यग्ज्ञान हो सकता है । प्रधानवादी तर्कवेत्ताओंमें उत्तम है, ऐसा सब तार्किक नहीं कहते हैं जिससे कि हम उसके मतको सम्यग्ज्ञान मान सकें । और अतीत, अनागत और वर्तमान तार्किक एक देशमें और

रत्नप्रभा

जन्यत्वं किं न स्यात् इत्यत आह—तत्रैवं सतीति । तर्कोत्थज्ञानानां मिथो विप्रति-पत्तेः न सम्यग्ज्ञानत्वं सम्यग्ज्ञाने विप्रतिपत्त्ययोगादित्यर्थः । एकरूपेण अनवस्थितो विषयो यस्य तत् तर्कप्रभवम्, कथं सम्यग्ज्ञानं भवेदिति योजना। ननु सांख्यस्य श्रेष्ठत्वात् तज्ज्ञानं सम्यग् इत्याशङ्क्य हेत्वसिद्धिमाह—न च प्रधानेति । ननु सर्वतार्किकैः मिलित्वा निश्चिततर्कोत्था मतिः मुक्तिहेतुः इत्यत आह—न च

रत्नप्रभाका अनुवाद

पर भी वह तर्कजन्य क्यों नहीं होगा ? इसपर कहते हैं—"तत्रैवं सति" इत्यादि । तर्कसे उत्पन्न ज्ञानोंमें परस्पर विरोध है, इसलिए वे सम्यग्ज्ञान नहीं हो सकते हैं, सम्यग्ज्ञानमें कोई विप्रतिपत्ति नहीं रहती अर्थात् सम्यग्ज्ञान हों, तो परस्पर विरोध नहीं रहेगा । जिस ज्ञानका विषय एकरूपसे अवस्थित नहीं रहता, वह तर्कजन्य ज्ञान सम्यग्ज्ञान कैसे हो सकता है, ऐसी योजना करनी चाहिए । परन्तु सांख्य सर्वापेक्षया श्रेष्ठ है, उसका ज्ञान तो यथार्थ है, ऐसी आशंका कर हेतुकी असिद्धि कहते हैं—"न च प्रधान" इत्यादिसे । यदि कोई कहे कि सब तार्किक मिलकर विचारपूर्वक जिस तर्कको निश्चित करेंगे, उस तर्कसे उत्पन्न ज्ञान मुक्तिका

भाष्य

येन तन्मतिरेकरूपैकार्थविषया सम्यङ्मतिरिति स्यात्। वेदस्य तु नित्यत्वे विज्ञानोत्पत्तिहेतुत्वे च सति व्यवस्थितार्थविषयत्वोपपत्तेस्तज्जनितस्य ज्ञानस्य सम्यक्त्वमतीतानागतवर्तमानैः सर्वैरपि तार्किकैरपह्नोतुमशक्यम्। अतः सिद्धमस्यैवौपनिषदस्य ज्ञानस्य सम्यग्ज्ञानत्वम्। अतोऽन्यत्र सम्यग्ज्ञानत्वानुपपत्तेः संसाराविमोक्ष एव प्रसज्येत। अत आगमवशेनाऽऽगमानुसारितर्कवशेन च चेतनं ब्रह्म जगतः कारणं प्रकृतिश्चेति स्थितम् ॥११॥

भाष्यका अनुवाद

एक कालमें एकत्र नहीं किये जा सकते, जिससे कि एक अर्थमें उनकी मति एकसी होकर सम्यग्ज्ञान हो सके। वेद तो नित्य है और विज्ञानकी उत्पत्तिका हेतु है, अतः वह व्यवस्थित अर्थका प्रतिपादक है, उससे उत्पन्न हुए ज्ञानकी यथार्थताका अतीत, अनागत और वर्तमानके किसी भी तार्किक द्वारा निषेध नहीं किया जा सकता। इससे यह सिद्ध हुआ कि यह उपनिषद्गम्य ज्ञान ही सम्यग्ज्ञान है। औपनिषद् ज्ञानको छोड़कर और ज्ञान सम्यग्ज्ञानं नहीं हो सकते। इसलिए अन्य ज्ञानोंसे संसारसे मुक्ति नहीं हो सकेगी। इससे यह सिद्ध हुआ कि आगमके बलसे और आगमानुकूल तर्कके बलसे चेतन ब्रह्म जगत्का कारण और प्रकृति है ॥११॥

रत्नप्रभा

शक्यन्त इति। तस्मात् तर्कोत्थज्ञानात् मुक्त्योगात् तर्केण वेदान्तसमन्वयबाधो न युक्तः, तद्बाधे सम्यग्ज्ञानालाभेन अनिर्मोक्षप्रसङ्गाद् इति सूत्रांशार्थम् उपसंहरति—अतोऽन्यत्रेति। समन्वयस्य तर्केणाऽविरोधे फलितमधिकरणार्थमुपसंहरति—अत आगमेति ॥ ११ ॥ (३)

रत्नप्रभाका अनुवाद

हेतु हो, इसपर कहते हैं—"न च शक्यन्ते" इत्यादि। अतः तर्कजन्यज्ञानसे मुक्तिके न हो सकनेके कारण तर्कसे वेदान्तसमन्वयका बाध करना उचित नहीं है, क्योंकि वेदान्तसमन्वयका बाध होनेसे सम्यग्ज्ञान उपपन्न ही नहीं हो सकेगा, इसलिए संसारसे कभी छुटकारा नहीं हो सकेगा, इस प्रकार सूत्रांशके अर्थका उपसंहार करते हैं—"अतोऽन्यत्र" इत्यादिसे। तर्कसे समन्वयका विरोध न होनेपर फलित अधिकरणके अर्थका उपसंहार करते हैं—"अत आगम" इत्यादिसे ॥ ११ ॥

[४ शिष्टापरिग्रहाधिकरण सू० १२]

बाधोऽस्ति परमाण्वादिमतैर्नो वा यतः पटः।
न्यूनतन्तुभिरारब्धो दृष्टोऽतो बाध्यते मतैः॥
शिष्टेष्टापि स्मृतिस्त्यक्ता शिष्टत्यक्तमतं किमु।
नातो बाधो विवर्ते तु न्यूनत्वनियमो नहि॥

[अधिकरणसार]

सन्देह—काणाद आदि मतोंसे वेदसमन्वयका बाध होता है या नहीं?

पूर्वपक्ष—लोकमें देखा गया है कि पट अपनी अपेक्षा अल्प परिमाण तन्तुओंसे उत्पन्न होता है, अतः परममहत्परिमाणवाला ब्रह्म किसी कार्य द्रव्यका कारण नहीं हो सकता। इसलिए काणाद आदि मतोंसे ब्रह्ममें वेदसमन्वयका बाध होता है।

सिद्धान्त—जब शिष्टसम्मत स्मृति ही निराकृत हो गई, तब शिष्टोंसे वर्जित मतके विषयमें कहना ही क्या है। और विवर्तवादमें यह नियम नहीं है कि कार्यसे कारण अल्प परिमाणवाला होना चाहिए। इसलिए काणाद आदि मतोंसे अद्वैत ब्रह्ममें वेदसमन्वयका बाध नहीं होता है।

तात्पर्य यह है कि पूर्वपक्षी कहता है—सांख्य, योगस्मृतियोंसे और उनके तर्कोंसे वेदसमन्वयका बाध भले ही न हो, किन्तु काणाद आदि स्मृतियोंसे और उनके तर्कोंसे तो समन्वयका बाध होना चाहिए, क्योंकि कणाद महर्षि कहते हैं कि परमाणु जगत्कारण हैं, उस विषयमें 'द्व्यणुक आदि अपनी अपेक्षा अल्प परिमाणवाले द्रव्यसे उत्पन्न हैं, कार्यद्रव्य होनेसे, तन्तुओंसे उत्पन्न पटके समान' इत्यादि युक्तियाँ भी उपस्थित करते हैं। बुद्ध भगवान् विष्णुके अवतार हैं। वे अभावको जगत्का कारण मानते हैं। अपने मतकी पुष्टिके लिए 'भावरूप जगत् अभावसे उत्पन्न है, भावरूप होनेसे, सुषुप्तिपूर्वक स्वप्न प्रपंचके समान' इत्यादि युक्तियाँ भी उपस्थित करते हैं। इसलिए प्रबल काणाद आदि मतोंसे वेदसमन्वयका बाध होगा।

सिद्धान्ती कहते हैं कि जब वैदिकशिरोमणि पुराणकर्ताओंसे प्रसंगवशात् कहीं कहीं उदाहृत प्रकृति, पुरुष आदिका प्रतिपादन करनेवाली सांख्यस्मृति और योगस्मृति जगत्के कारणके प्रतिपादनमें दुर्बल होनेसे त्याग दी गई हैं, तब अखिल शिष्टोंसे उपेक्षित काणाद आदि मतोंके दौर्बल्यके बारेमें कहना ही क्या है? ब्राह्म, पाद्म आदि पुराणोंमें कहींपर भी किसी प्रसंगवश भी द्व्यणुक आदि प्रक्रियाका उल्लेख नहीं है। किन्तु इसके विपरीत 'हैतुकान् बकवृत्तींश्च वाङ्मात्रेणापि नार्चयेत्' (हेतुवादी और बकवृत्तिवालोंका केवल वाणीसे भी उपचार नहीं करना चाहिए) इत्यादि बहुतसे निन्दावचन मिलते हैं। यह जो कहा है कि कार्यद्रव्य अपनी अपेक्षा न्यून परिमाणवाले द्रव्यसे उत्पन्न होता है, यह नियम विवर्तवादमें नहीं है, क्योंकि पर्वतके अग्रभागमें रहनेवाले महान् वृक्षोंमें दूरस्थ पुरुषको दूर्वाग्रभागका भ्रम होता है। अभावपूर्वक जगदुत्पत्तिका अनुमान जो कहा गया है, उसमें दृष्टान्तमें साध्य ही नहीं है, क्योंकि सुषुप्ति तो अवस्था है, अवस्थाओंमें अनुगत सद्रूप आत्माका स्वीकार किया गया है, अतः स्वप्न भी अभावपूर्वक नहीं है। इस कारण काणाद आदि मतोंसे भी वेदसमन्वयका बाध नहीं हो सकता है।

एतेन शिष्टापरिग्रहा अपि व्याख्याताः ॥ १२ ॥

पदच्छेद—एतेन, शिष्टापरिग्रहाः, अपि, व्याख्याताः ।

पदार्थोक्ति—एतेन—देवलादिशिष्टैः केनचिदंशेन परिगृहीतप्रधानवाद-निराकरणेन, शिष्टापरिग्रहाः अपि—शिष्टैः केनाऽप्यंशेनाऽपरिगृहीता अण्वादिकारण-वादा अपि, व्याख्याताः—निरस्ताः [वेदितव्याः] ।

भाषार्थ—देवल आदि शिष्टोंसे किसी अंशमें परिगृहीत प्रधानकारणवादके निराकरणसे शिष्टों द्वारा किसी भी अंशसे अपरिगृहीत अणु आदि कारणवादोंका भी निराकरण समझना चाहिए ।

भाष्य

वैदिकस्य दर्शनस्य प्रत्यासन्नत्वाद् गुरुतरतर्कबलोपेतत्वाद् वेदानु-

भाष्यका अनुवाद

वैदिकदर्शनके निकटवर्ती होनेसे, अनेक प्रबल तर्कोंसे युक्त होनेसे और

रत्नप्रभा

ब्रह्म जगदुपादानमिति ब्रुवन् वेदान्तसमन्वयो विषयः, स किं "यद्विभु तन्न द्रव्योपादानम्" इति वैशेषिकादिन्यायेन विरुध्यते न वेति सन्देहे सांख्यवृद्धानां तर्काकुशलमतित्वेऽपि वैशेषिकादीनां तर्कमतिकुशलत्वप्रसिद्धेः तदीयन्यायस्य अबाधितत्वाद् विरुद्ध्यते इति प्रत्युदाहरणेन प्राप्तेऽतिदिशति—एतेनेति । फलं पूर्ववत् । ननु सांख्यमतस्य उपदेशः तार्किकमतस्य अतिदेशः किमिति कृतः, वैपरीत्यस्यापि सम्भवाद् इत्याशङ्क्य पूर्वोत्तरयोः उपदेशातिदेशभावे कारणमाह—

रत्नप्रभाका अनुवाद

ब्रह्मको जगत्का उपादान कारण बतलानेवाला वेदान्तसमन्वय इस अधिकरणका विषय है । जो विभु—व्यापक है, वह किसी द्रव्यका समवायिकारण नहीं होता, इत्यादि वैशेषिक आदिके न्यायोंसे उस समन्वयका विरोध होता है या नहीं, ऐसा संशय होनेपर सांख्यवृद्धोंमें तर्ककी प्रवीणता न होनेपर भी वैशेषिक आदिका तर्कज्ञानमें नैपुण्य प्रसिद्ध है, अतः उनके न्याय अबाधित हैं, इसलिए उनके न्यायोंसे समन्वयका विरोध होता है, इस प्रकार प्रत्युदाहरण संगतिसे पूर्वपक्ष प्राप्त होनेपर अतिदेश करते हैं—"एतेन" इत्यादिसे । पूर्वपक्ष और उत्तरपक्षके फल पूर्वाधिकरणके समान हैं । परन्तु सांख्यमतका उपदेश और तार्किक मतका अतिदेश कैसे किया है, क्योंकि इसके विपरीतका भी संभव है । ऐसी आशंका करके पूर्वाधिकरणके उपदेश और इस अधिकरणके अतिदेशमें कारण कहते हैं—

भाष्य

सारिमिश्च कैश्चिच्छिष्टैः केनचिदंशेन परिगृहीतत्वात् प्रधानकारणवादं तावद् व्यपाश्रित्य यस्तर्कनिमित्त आक्षेपो वेदान्तवाक्येषूद्भावितः स परिहृतः। इदानीमण्वादिवादव्यपाश्रयेणाऽपि कैश्चिन्मन्दमतिभिर्वेदान्तवाक्येषु पुनस्तर्कनिमित्त आक्षेप आशङ्क्येत इत्यतः प्रधानमल्लनिबर्हण-

भाष्यका अनुवाद

वेदके अनुसारी कुछ शिष्टोंसे किसी एक अंशसे स्वीकृत होनेसे प्रधानकारणवादके आधारपर जो तर्कनिमित्त आक्षेप वेदान्तवाक्योंमें उठाया गया था, उसका परिहार किया जा चुका है। अब अणुवाद आदिके आधारपर भी कुछ मन्दमति फिर भी वेदान्तवाक्यों पर आक्षेपकी आशंका कर सकते हैं, इसलिए

रत्नप्रभा

वैदिकस्येति। सत्कार्यत्वात्मासङ्गत्वस्वप्रकाशत्वाद्यंशैः वेदान्तशास्त्रस्य प्रत्यासन्नः प्रधानवादः शिष्टैः देवलादिभिः सत्कार्यत्वांशेन स्वीकृत इति प्रबलत्वाद् उपदेशः। अण्वादिवादानां निर्मूलत्वेन दुर्बलत्वाद् अतिदेश इति भावः।

रत्नप्रभाका अनुवाद

"वैदिकस्य" इत्यादिसे। आशय यह कि वेदान्तवादके समान प्रधानवाद भी सत्कार्यवादी है, आत्माको असंग और स्वप्रकाश कहता है इत्यादि कुछ अंशोंसे प्रधानवाद वेदान्तवादके समीप है और देवल आदि शिष्टोंने सत्कार्यत्वांशमें उसका स्वीकार भी किया है। इसलिए प्रबल होनेके कारण उसका उपदेश किया है, अणु आदि कारणवाद निर्मूल होनेके कारण

(१) वाद अर्थात् स्वाभिमत अर्थका कथन। यह दो प्रकारका है, सत्कार्यवाद और असत्कार्यवाद। सत्कार्यवाद भी दो प्रकारका है परिणामवाद और विवर्तवाद। सांख्य और रामानुजोंका परिणामवाद है। उनके मतमें कारण ही कार्यरूपमें परिणत होता है, इसलिए कार्य और कारण अभिन्न हैं और सत्य हैं। जैसे कि दूध दहीके रूपमें परिणत होता है, इसलिए दही कार्यान्तर है और दूधसे भिन्न नहीं है। ब्रह्मवादी वेदान्तियोंका विवर्तवाद है। उनके मतमें कारण ही कार्यरूपमें भासता है, इसलिए कारण ही सत्य है, कार्य सत्य नहीं है। जैसे शुक्तिमें 'यह रजत है' ऐसा ज्ञान होनेके अनन्तर अधिष्ठानभूत शुक्तिका ज्ञान होनेसे पूर्वमें ज्ञात रजत निवृत्त हो जाता है, उसी प्रकार ब्रह्मका ज्ञान होनेपर जगत् आदि भेदप्रपंच निवृत्त हो जाता है। नैयायिक और माध्वोंका असत्कार्यवाद है। उसको आरम्भवाद भी कहते हैं। उनके मतमें पूर्वमें असत् कार्य उत्पन्न होता है। जैसे कि पहले न रहनेवाले घट आदि कार्य दण्ड, चक्र, कुलाल आदि सामग्रियोंसे युक्त मृत् आदि कारणोंसे भिन्न उत्पन्न होते हैं, इसलिए कार्य और कारण भिन्न हैं। इसी प्रकार योगाचार बौद्धोंका क्षणिक विज्ञानवाद है, माध्यमिक बौद्धोंका शून्यवाद है, आर्हतोंका स्याद्वाद है इत्यादि समझने चाहिएँ।

भाष्य

न्यायेनातिदिशति। परिगृह्यन्त इति परिग्रहाः, न परिग्रहा अपरिग्रहाः, शिष्टानामपरिग्रहाः शिष्टापरिग्रहाः, एतेन प्रकृतेन प्रधानकारणवादनिराकरणकारणेन, शिष्टैर्मनुव्यासप्रभृतिभिः केनचिदप्यंशेनापरिगृहीता येऽण्वादिकारणवादास्तेऽपि प्रतिषिद्धतया व्याख्याता निराकृता द्रष्टव्याः। तुल्यत्वान्निराकरणकारणस्य नात्र पुनराशङ्कितव्यं किञ्चिदस्ति। तुल्यमत्रापि परमगम्भीरस्य जगत्कारणस्य तर्कानवगाह्यत्वं तर्कस्य चाप्रतिष्ठितत्वमन्यथाऽनुमानेऽप्यविमोक्ष आगमविरोधश्चेत्येवंजातीयकं निराकरणकारणम् ॥ १२ ॥

भाष्यका अनुवाद

प्रधानमल्लनिवर्हणन्यायसे अतिदेश करते हैं। जिनका परिग्रहण किया जाता है, वे परिग्रह कहलाते हैं, जो परिग्रहसे भिन्न हैं, वे अपारग्रह हैं, जिनका शिष्टों द्वारा परिग्रहण नहीं किया जाता, वे शिष्टापरिग्रह हैं। इससे अर्थात् प्रकृत प्रधानकारणवादके निराकरणके हेतुसे शिष्ट अर्थात् मनु, व्यास आदि द्वारा किसी एक अंशमें भी अस्वाकृत अणु आदि कारणवादोंका खण्डन किया गया, ऐसा समझना चाहिए। निराकरणका कारण समान होनेसे यहां समन्वयपर किसी प्रकारकी आशंका नहीं होती। यहां भी परम गंभीर जगत्कारणकी तर्कसे अगम्यता, तर्कका अप्रतिष्ठितपना, अन्यथा अनुमान करनेपर भी अविमोक्ष और आगमका विरोध, इत्यादि निराकरणके कारण समान हैं ॥ १२ ॥

रत्नप्रभा

किं निराकरणकारणमिति प्रष्टव्यं नास्ति इत्याह—तुल्यत्वादिति। कारणमेवाह—तुल्यमिति। यदुक्तं विभुत्वात् न द्रव्योपादानं ब्रह्मेति, तत्र पक्षसाधकत्वेन श्रुतेः उपजीव्यत्वात् तया बाधः। महापरिमाणवत्त्वस्य सर्वसंयोगित्वरूपविभुत्वस्य निर्गुणे ब्रह्मणि असिद्धेश्च इति द्रष्टव्यम्। अतः समन्वयस्य तार्किकन्यायेन न विरोध इति सिद्धम् ॥ १२ ॥ (४)

रत्नप्रभाका अनुवाद

दुर्बल हैं, अतः उनका अतिदेश है। निराकारणका कारण क्या है, यह पूछनेकी आवश्यकता नहीं है, ऐसा कहते हैं—"तुल्यत्वात्" इत्यादिसे। कारण ही कहते हैं—"तुल्यम्" इत्यादिसे। विभु होनेके कारण ब्रह्म द्रव्यका उपादान कारण नहीं हो सकता है, यह जो कहा है, उसका पक्षका साधक होनेके कारण उपजीव्य श्रुतिसे बाध होता है। और परममहत्परिमाण, सर्वसंयोगित्वरूप विभुत्व निर्गुण ब्रह्ममें नहीं, है ऐसा समझना चाहिए। इससे सिद्ध हुआ कि तार्किकन्यायसे समन्वयका विरोध नहीं होता है ॥१२॥

भोक्त्रापत्तेरविभागश्चेत्स्याल्लोकवत् ॥ १३ ॥

पदच्छेद—भोक्त्रापत्तेः, अविभागः, चेत, स्यात्, लोकवत् ।

पदार्थोक्ति—भोक्त्रापत्तेः–[अद्वितीयब्रह्मणो जगदुपादानत्वे सर्वस्य ब्रह्मानन्यत्वेन] भोग्यशब्दादीनां भोक्त्रात्मकत्वापत्तेः, अविभागश्चेत्–प्रत्यक्षसिद्धः परस्परविभागो न स्यात्, इति चेत्, लोकवत्–लोके मृदात्मनाऽभिन्नानां घटादीनां परस्परभेदवत् स्यात्—भोक्तृभोग्यप्रपञ्चस्यापि परस्परविभागः स्यात् ।

भाषार्थ—अद्वितीय ब्रह्म यदि जगत्‌का उपादान हो, तो सब पदार्थ ब्रह्माभिन्न होनेके कारण भोग्य—शब्द आदि विषय भी भोक्तासे अभिन्न हो जायंगे, इससे प्रत्यक्ष-सिद्ध भोक्ता, भोग्य आदि विभाग ही न रहेगा, ऐसा यदि कहो, तो जैसे व्यवहारमें घट आदि कार्य यद्यपि मृत्‌से अभिन्न हैं, तो भी परस्पर भिन्न हैं, उसी प्रकार कारणसे अभेद होनेपर भी भोक्ता, भोग्य आदि प्रपञ्चका परस्पर विभाग रहेगा ।

[५ भोक्त्रापत्त्यधिकरण सू० १३]

अद्वैतं बाध्यते नो वा भोक्तृभोग्यविभेदतः ।
प्रत्यक्षादिप्रमासिद्‌धो भेदोऽसावन्यबाधकः ॥१॥
तरङ्गफेनभेदेऽपि समुद्रेऽभेद इष्यते ।
भोक्तृभोग्यविभेदेऽपि ब्रह्माद्वैतं तथाऽस्तु तत् ॥२॥*

[अधिकरणसार]

सन्देह—भोक्ता, भोग्य आदि भेदसे अद्वैत बाधित होता है अथवा नहीं ?

पूर्वपक्ष—प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंसे सिद्ध भेद अद्वैतका बाधक है ।

सिद्धान्त—जैसे तरङ्ग, फेन आदिमें परस्पर भेद होनेपर भी उनके साथ समुद्रका भेद नहीं माना जाता, उसी प्रकार भोक्ता, भोग्य आदिमें परस्पर भेद होनेपर भी उनके साथ ब्रह्मका भेद नहीं है ।

---

*तात्पर्य यह है कि पूर्वपक्षी कहता है—वेदान्तसमन्वयसे प्रतीयमान अद्वैतका प्रत्यक्ष, अनुमान आदि प्रमाणोंसे सिद्ध भोक्ता, भोग्य आदि भेदसे बाध होगा ।

सिद्धान्ती कहते हैं कि एक ही जलका तरङ्ग, फेन आदि रूपसे भेद, समुद्ररूपसे अभेद देखा जाता है, इसलिए भेद और अभेदमें विरोध नहीं है । भेदाभेदविरोधव्यवहार तो आकारभेदसे रहित केवल एक वस्तुमें भी हो सकता है। इसलिए ब्रह्मरूपसे अद्वैत है और भोक्ता, भोग्य आदिरूपसे द्वैत है, इस प्रकार आकारभेदसे व्यवस्था हो सकती है, अतः बाध नहीं है ।

भाष्य

अन्यथा पुनर्ब्रह्मकारणवादस्तर्कबलेनैवाक्षिप्यते। यद्यपि श्रुतिः प्रमाणं स्वविषये भवति तथापि प्रमाणान्तरेण विषयापहारेऽन्यपरा भवितुमर्हति,

भाष्यका अनुवाद

पुनः अन्य प्रकारसे ब्रह्मकारणवादका तर्कबलसे ही आक्षेप किया जाता है। यद्यपि अपने विषयमें श्रुति प्रमाण है, तो भी जहां अन्य प्रमाणसे उसके विषयका बाध होता है, वहां अन्यविषयक होती है, जैसे कि मंत्र

रत्नप्रभा

अद्वितीयाद् ब्रह्मणो जगत्सर्गादिवादी वेदान्तसमन्वयो विषयः। स किं यत् मिथो भिन्नं तत् न अद्वितीयकारणाभिन्नं यथा मृत्तन्तुजौ घटपटौ इति तर्कसहित-भेदप्रत्यक्षादिना विरुध्यते न वा इति सन्देहे ब्रह्मणि तर्कस्य अप्रतिष्ठितत्वेऽपि जगद्भेदे प्रतिष्ठितत्वाद् विरुध्यते इति पूर्वपक्षयति—**भोक्त्रापत्तेरिति**। विरोधाद् अद्वैतासिद्धिः पूर्वपक्षफलम्, सिद्धान्ते तत्सिद्धिरिति भेदः। अनपेक्ष-श्रुत्या स्वार्थनिर्णयात् तर्केण आक्षेपो न युक्त इत्युक्तम् इति शङ्कते—**यद्यपीति**। मानान्तरायोग्यश्रुत्यर्थे भवत्यनाक्षेपः। यस्तु अद्वितीयब्रह्माभेदाद् भूजलादीनाम-भेदो ब्रह्मोपादानकत्वश्रुतिविषयः, स "आदित्यो यूपः" इत्यर्थवादार्थवत् मानान्तरयोग्य एवेति द्वैतप्रमाणैः अपह्रियत इति समाधत्ते—**तथापीति**। अन्य-

रत्नप्रभाका अनुवाद

अद्वितीय ब्रह्मसे जगत्की उत्पत्ति कहनेवाला वेदान्तसमन्वय इस अधिकरणका विषय है। जो परस्पर भिन्न हैं, वे अद्वितीय कारणसे अभिन्न नहीं होते हैं, जैसे मृत्तिकासे उत्पन्न घट और तन्तुसे उत्पन्न वस्त्र, इत्यादि तर्कसहित भेदप्रत्यक्ष आदिसे युक्त वेदान्तसमन्वयका विरोध होता है या नहीं, ऐसा सन्देह होनेपर ब्रह्ममें तर्क अप्रतिष्ठित होनेपर भी जगत्के भेदमें प्रतिष्ठित होनेके कारण उससे विरोध होता है, ऐसा पूर्वपक्ष करते हैं—"भोक्त्रापत्तेः" इत्यादिसे। समन्वयके विरोधसे अद्वैतकी असिद्धि पूर्वपक्षमें फल है, अद्वैतकी सिद्धि सिद्धान्तमें फल है। अन्यानपेक्ष श्रुतिसे अपने अर्थका निर्णय होता है, इसलिए तर्कसे आक्षेप युक्त नहीं है, ऐसा पहले कहा गया है, ऐसी शंका करते हैं—"यद्यपि" इत्यादिसे। प्रमाणान्तरसे अज्ञेय श्रुत्यर्थके विषयमें आक्षेप नहीं होता है। परन्तु अद्वितीय ब्रह्मके अभेदसे भूमि, जल आदिका अभेद जो ब्रह्मको जगत्का उपादान कारण कहनेवाली श्रुतियोंका विषय है, वह 'आदित्यो यूपः' (आदित्य यज्ञस्तम्भ है) इत्यादि अर्थवादके अर्थके समान प्रमाणान्तर योग्य ही है, इसलिए द्वैत प्रमाणोंसे अद्वैत श्रुतिका बाध होता है, इस प्रकार समाधान करते हैं—

भाष्य

यथा मन्त्रार्थवादौ। तर्कोऽपि हि स्वविषयादन्यत्राऽप्रतिष्ठितः स्यात् यथा धर्माधर्मयोः। किमतो यद्येवम्? अत इदमयुक्तं यत्प्रमाणान्तरप्रसिद्धार्थबाधनं श्रुतेः। कथं पुनः प्रमाणान्तरप्रसिद्धोऽर्थः श्रुत्या बाध्यत इति? अत्रोच्यते—प्रसिद्धो ह्ययं भोक्तृभोग्यविभागो लोके—भोक्ता चेतनः शारीरो भोग्याः शब्दादयो विषया इति, यथा भोक्ता देवदत्तो भोज्य ओदन इति। तस्य च विभागस्याऽभावः प्रसज्येत, यदि भोक्ता भोग्यभावमापद्येत, भोग्यं वा भोक्तृभावमापद्येत। तयोश्चेतरेतरभावापत्तिः परमकारणाद् ब्रह्म-

भाष्यका अनुवाद

और अर्थवाद अन्यविषयक होते हैं। तर्क भी स्वविषयसे अन्यत्र अप्रतिष्ठित होता है, जैसे धर्म और अधर्ममें। यदि ऐसा हो, तो इससे क्या? इससे यह अयुक्त है कि अन्य प्रमाणसे प्रसिद्ध अर्थका श्रुति बाध करे। अन्य प्रमाणसे प्रसिद्ध अर्थका श्रुति बाध करती है यह किस प्रकार कहते हो? इसपर कहते हैं—लोकमें यह भोक्तृभोग्यविभाग प्रसिद्ध है, भोक्ता चेतन शारीर है और भोग्य शब्द आदि विषय हैं। जैसे कि देवदत्त भोक्ता है और ओदन भोज्य है। यदि भोक्ता भोग्यभावको प्राप्त हो और भोग्य भोक्तृभावको प्राप्त हो, तो उस विभागका अभाव हो जायगा। और इन दोनोंके परमकारण ब्रह्मसे अभेद होनेके कारण आपसमें भी

रत्नप्रभा

परत्वं गौणार्थकत्वम्। स्वविषये जगद्भेदे तर्कस्य प्रतिष्ठितत्वात् तेनाऽऽक्षेप इत्याह—तर्कोऽपीति। तर्कादेः द्वैते प्रामाण्येऽपि ततः समन्वयविरोधे किमायातम् इति शङ्कते—किमत इति। पूर्वपक्षी समाधत्ते—अत इति। तर्कादेः प्रामाण्याद् द्वैतबाधकत्वं श्रुतेरयुक्तम् इत्यद्वैतसमन्वयबाधो युक्त इत्यर्थः। इममर्थं शङ्कापूर्वकं स्पष्टयति—कथमित्यादिना। ननु भोक्तृभोग्ययोः मिथः एकत्वं

रत्नप्रभाका अनुवाद

"तथापि" इत्यादिसे। अन्यपरत्व—गौणार्थक होना। अपने विषय जगत्के भेदमें तर्कके प्रतिष्ठित होनेसे उससे आक्षेप होता है, ऐसा कहते हैं—"तर्कोऽपि" इत्यादिसे। तर्क आदि द्वैतमें प्रमाण होनेपर भी उससे समन्वयविरोधमें क्या आया अर्थात् समन्वयका विरोध कैसे हो सकता है, ऐसी शंका करते हैं—"किमतः" इत्यादिसे। पूर्वपक्षी समाधान करता है—"अतः" इत्यादिसे। तर्क आदि प्रमाण होनेके कारण श्रुतिसे द्वैतका बाध करना उचित नहीं है, इसलिए अद्वैतसमन्वयका तर्कसे बाध युक्त है, ऐसा अर्थ है। इसी विषयको शंकापूर्वक स्पष्ट करते हैं—"कथम्" इत्यादिसे। परन्तु भोक्ता और भोग्यका परस्पर अभेद किसने

भाष्य

णोऽनन्यत्वात् प्रसज्येत । न चाऽस्य प्रसिद्धस्य विभागस्य बाधनं युक्तम् ।

भाष्यका अनुवाद

अभेद हो जायगा। इस प्रसिद्ध विभागका बाधित होना युक्त नहीं है। जिस

रत्नप्रभा

केनोक्तमित्याशङ्क्य श्रुतार्थापत्त्या इत्याह--तयोश्चेति । तयोः एकब्रह्माभेदश्रवणाद् एकत्वं कल्प्यते एकस्मादभिन्नयोः भेदे एकस्याऽपि भेदापत्तेः । ततश्च भेदो बाध्येत इत्यर्थः । इष्टापत्तिं वारयति--न चाऽस्येति । श्रुतेः गौणार्थत्वेन सावकाशत्वात् निरवकाशद्वैतमानबाधो न युक्त इत्यर्थः । ननु विभागस्य आधुनिकत्वाद्

रत्नप्रभाका अनुवाद

कहा? ऐसी आशंका कर यह बात श्रुतार्थापत्तिसे सिद्ध होती है, ऐसा कहते हैं—"तयोश्च" इत्यादिसे। भोक्ता और भोग्य एक ब्रह्मसे अभिन्न हैं अतः उनमें भी अभेदकी कल्पना होती है, एक पदार्थसे अभिन्न दो पदार्थोंमें यदि भेद हो, तो एक पदार्थका भी भेद हो जायगा, इसलिए भेदका बाध होता है, यह अर्थ है। इष्टापत्तिका निवारण करते हैं—"न चाऽस्य" इत्यादिसे। आशय यह है कि श्रुति गौणार्थक होनेसे सावकाश है, उससे निरवकाश, द्वैतप्रमाणका बाध युक्त नहीं है। यदि कोई कहे कि विभाग तो आधुनिक है, इसलिए अनादि

१ उपपाद्यके ज्ञानसे उपपादककी कल्पना अर्थापत्ति है। जिसके विना जो अनुपपन्न होता है, वह उपपाद्य है, जैसे—रात्रि भोजनके विना दिनमें भोजन न करनेवालेका पीनत्व (मोटाई) अनुपपन्न है, इसलिए वह पीनत्व उपपाद्य है। जिसके न होनेसे जिसकी अनुपपत्ति होती है, वह उपपादक है, जैसे—रात्रिभोजन न होनेसे उस पीनत्वकी उपपत्ति नहीं होती, इसलिए रात्रिभोजन उस पीनत्वका उपपादक है। अर्थापत्ति दो प्रकारकी है, दृष्टार्थापत्ति और श्रुतार्थापत्ति। पुरोवर्ती पदार्थमें पहले ज्ञात होनेवाले रजतका 'यह रजत नहीं है' ऐसा जो उत्तर क्षणमें निषेध होता है, वह रजतकी सत्यतामें अनुपपन्न है, इसलिए उससे रजतके मिथ्यात्वकी कल्पना होती है, यह दृष्टार्थापत्ति है। श्रूयमाण वाक्यके स्वार्थकी अनुपपत्ति द्वारा अन्य अर्थकी जो कल्पना होती है वह श्रुतार्थापत्ति है, जैसे-'तरति शोकमात्मवित्' में श्रुत शोकपदवाच्य बन्धसमूह यदि वस्तुतः है तो उसका ज्ञानसे नाश होना असम्भव है, इसलिए श्रुतिके अर्थकी अनुपपत्ति होगी, इस अनुपपत्तिसे बन्धमें मिथ्यात्वकी कल्पना होती है। यह श्रुतार्थापत्ति भी दो प्रकारकी है—अभिधानानुपपत्ति और अभिहितानुपपत्ति। जहां वाक्यके एकदेशके श्रवणसे अन्वयाभिधान उपपन्न नहीं होता है, उससे अन्वयाभिधानके उपयोगी पदान्तरकी कल्पना होती है, वहां अभिधानानुपपत्ति होती है। जैसे--'द्वारम्' इस जगह 'पिधेहि' का अध्याहार होता है। जहां वाक्यसे अवगत अर्थ अनुपपन्न ज्ञात होकर अर्थान्तरकी कल्पना करता है, वहां अभिहितानुपपत्ति होती है। जैसे—'स्वर्गकामो ज्योतिष्टोमेन यजेत' इत्यादिमें क्षणिक याग कालान्तरभावी स्वर्गका साधन हो, यह अनुपपन्न है, इसलिए मध्यमें अपूर्वकी कल्पना होती है।

भाष्य

यथा त्वद्यत्वे भोक्तृभोग्ययोर्विभागो दृष्टस्तथाऽतीतानागतयोरपि कल्पयितव्यः। तस्मात् प्रसिद्धस्याऽस्य भोक्तृभोग्यविभागस्याऽभावप्रसङ्गादयुक्तमिदं ब्रह्मकारणतावधारणम्।

इति चेत् कश्चिच्चोदयेत् तं प्रति ब्रूयात्—स्याल्लोकवदिति। उप-

भाष्यका अनुवाद

प्रकार वर्तमान कालमें भोक्ता और भोग्यका विभाग देखनेमें आता है, इसी प्रकार अतीत और अनागत कालमें भी कल्पना युक्त है। इसलिए इस प्रसिद्ध भोक्तृभोग्यविभागका अभाव प्रसक्त होनेसे जगत्का ब्रह्म कारण है, यह निश्चय अयुक्त है।

ऐसी यदि कोई शंका करे, तो उसके प्रति कहना चाहिए कि—'स्याल्लोकवत्' (लोकके समान विभाग होगा) हमारे पक्षमें विभाग उपपन्न

रत्नप्रभा

अनाद्यद्वैतश्रुत्या बाध इत्यत आह—यथेति। अतीतानागतकालौ भोक्त्रादिविभागाश्रयौ, कालत्वात्, वर्तमानकालवत्, इत्यनुमानाद् विभागोऽनाद्यनन्त इत्यर्थः।

एवं प्राप्ते परिणामदृष्टान्तेन आपाततः सिद्धान्तमाह—स्याल्लोकवदिति।

रत्नप्रभाका अनुवाद

अद्वैतश्रुतिसे बाध होता है, इसपर कहते हैं—"यथा" इत्यादि। तात्पर्य यह है कि अतीत और अनागत काल भोक्ता, भोग्य आदि विभागके आश्रय हैं, काल होनेसे, वर्तमान कालके समान, इस अनुमानसे विभाग भी अनादि एवं अनन्त है। इस प्रकार पूर्वपक्ष प्राप्त होनेपर परिणाम दृष्टान्तसे आपाततः सिद्धान्त कहते हैं—"स्याल्लोकवत्" इत्यादिसे। दृष्टान्तमें

(१) सिद्धान्तीका आशय यह है—जैसे तार्किक उपादानकारण रूप द्रव्यसे कार्य घट आदि द्रव्यको भिन्न मानते हैं एवं दोनोंका समवाय संबन्ध मानते हैं, उसी प्रकार सिद्धान्तमें उपादानोपादेयभावस्थलमें दो द्रव्य नहीं माने जाते हैं। किन्तु एक ही मृत्तिकारूप द्रव्य पिण्डावस्थारूप धर्मका त्याग कर कम्बुग्रीवादि संस्थानवाला हो जाता है, ऐसा माना जाता है। इसीलिए मृत्पिण्ड ही घट हुआ ऐसी सामानाधिकरण्य प्रतीति होती है। "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" (यह सब ब्रह्म ही है) इत्यादि वाक्योंसे तो "अस्ति भाति प्रियं रूपं नाम चेत्यंशपञ्चकम्। आद्यं त्रयं ब्रह्मरूपं जगद्रूपं ततो द्वयम्" (सत्, प्रकाश, प्रिय, नाम और रूप, इस प्रकार पांच अंश हैं, इनमें प्रथम तीन ब्रह्मरूप हैं, अवशिष्ट दो जगद्रूप हैं) इस उक्तिके अनुसार जगद्रूपसे अनुप्रविष्ट ब्रह्मरूप धर्मोंको लेकर ही अभेद उपपन्न होता है। नाम, रूप, इन अंशोंका ब्रह्मके साथ केवल तादात्म्य है, ऐक्य नहीं है। इसलिए ब्रह्म और जगत्में सांकर्य नहीं है। यदि कोई कहे कि नाम, रूप, इन अंशोंका स्वरूपके साथ ऐक्य न माननेपर भी जीव और ब्रह्मके स्वरूपैक्य माननेसे सांकर्य होगा, तो यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि दोनोंका परमार्थमें स्वरूपैक्य होनेपर भी औपाधिक भेद होनेके कारण सांकर्य नहीं होगा।

भाष्य

पद्यत एवाऽयमस्मत्पक्षेऽपि विभागः, एवं लोके दृष्टत्वात् । तथा हि—समुद्रादुदकात्मनोऽनन्यत्वेऽपि तद्विकाराणां फेनवीचीतरङ्गबुद्बुदादीनामितरेतरविभागः इतरेतरसंश्लेपादिलक्षणश्च व्यवहार उपलभ्यते । न च समुद्रादुदकात्मनोऽनन्यत्वेऽपि तद्विकाराणां फेनतरङ्गादीनामितरेतरभावापत्तिर्भवति, न च तेषामितरेतरभावानापत्तावपि समुद्रात्मनोऽन्यत्वं भवति, एवमिहापि न च भोक्तृभोग्ययोरितरेतरभावापत्तिः न च परस्माद् ब्रह्मणोऽन्यत्वं भविष्यति । यद्यपि भोक्ता न ब्रह्मणो विकारः

भाष्यका अनुवाद

होता ही है, क्योंकि लोकमें ऐसा देखनेमें आता है । जैसे कि उदकस्वरूप समुद्रसे, झाग, बड़ी तरङ्ग, लहर, बुलबुले आदि विकार अनन्य हैं, तो भी उनका अन्योन्य भेद और संश्लेप आदि व्यवहार उपलब्ध होता है । उदकस्वरूप समुद्रसे फेन, तरंग आदि उसके विकार अनन्य हैं, तो भी उनके अन्योन्यभाव होनेका प्रसंग नहीं होता । वे अन्योन्यभावको प्राप्त न होनेपर भी समुद्रस्वरूपसे अन्य नहीं होते । इसी प्रकार यहां भी भोक्ता और भोग्य अन्योन्यभाव नहीं पावेंगे और ब्रह्मसे अन्य भी नहीं होंगे । यद्यपि भोक्ता ब्रह्मका

रत्नप्रभा

दृष्टान्तेऽपि कथम् एकसमुद्राभिन्नानां परिणामानां मिथो भेदः कथं वा तेषां भेदे सति एकस्मादभिन्नत्वम् इत्याशङ्क्य नहि दृष्टेऽनुपपत्तिः इति न्यायेनाह–न चेति । एवं भोक्तृभोग्ययोः मिथो भेदो ब्रह्माभेदश्च इत्याह–एवमिहेति । जीवस्य ब्रह्मविकारत्वाभावाद् दृष्टान्तवैषम्यमिति शङ्कते–यद्यपीति । औपाधिकं जन्म

रत्नप्रभाका अनुवाद

भी एक समुद्रसे अभिन्न परिणामोंका परस्पर भेद किस प्रकार है और वे परस्पर भिन्न हों, तो भी एक समुद्रसे अभिन्न कैसे हैं ? ऐसी आशंका करके 'नहि दृष्टे०' न्यायसे कहते हैं—"न च" इत्यादि । इसी प्रकार भोक्ता और भोग्यमें परस्पर भेद है और ब्रह्माभेद भी है, ऐसा कहते हैं—"एवमिह" इत्यादिसे । जीव ब्रह्मका विकार नहीं है, इसलिए दृष्टान्तविषमता है, ऐसी

(१) प्रत्यक्षविषयमें प्रामाणान्तरके अन्वेषणकी आवश्यकता नहीं होती है, ऐसी विवक्षा जहां होती है, वहां यह न्याय प्रवृत्त होता है । प्रत्यक्ष अन्य सब प्रमाणोंका बाधक है । अनुपपत्ति अर्थापत्तिरूप या व्यतिरेकानुमितिरूप होनेसे प्रत्यक्षबाध्य है । इसलिए प्रत्यक्षविषयमें प्रत्यक्षविरोधिनी अनुपपत्तिका सम्भव नहीं है ।

भाष्य

'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्' (तै० २।६) इति स्रष्टुरेवाऽविकृतस्य कार्यानुप्रवेशेन भोक्तृत्वश्रवणात्, तथापि कार्यमनुप्रविष्टस्याऽस्त्युपाधिनिमित्तो विभाग आकाशस्येव घटाद्युपाधिनिमित्त इत्यतः परमकारणाद् ब्रह्मणाऽनन्यत्वेऽप्युपपद्यते भोक्तृभोग्यलक्षणो विभागः समुद्रतरङ्गादिन्यायेनेत्युक्तम् ॥ १३ ॥

भाष्यका अनुवाद

विकार नहीं है, क्योंकि 'तत्सृष्ट्वा०' (उसको उत्पन्न करके उसमें ही अनुप्रवेश किया) इस प्रकार विकारको प्राप्त न हुए स्रष्टाका ही कार्यमें अनुप्रवेश होनेसे श्रुति उसे भोक्ता कहती है। तो भी जिसने कार्यमें अनुप्रवेश किया है, उसका उपाधिकृत विभाग है, जैसे कि घट आदि उपाधिकृत विभाग आकाशका है। इससे परम कारण ब्रह्मसे अनन्य होनेपर भी भोक्तृभोग्यलक्षण विभाग समुद्र-तरंगन्यायसे उपपन्न होता है, ऐसा कहा है ॥ १३ ॥

रत्नप्रभा

अस्तीति तरङ्गादिसाम्यमाह--तथापीति। विभागः जन्म, यद्वा, तथापीतिशब्देनैव उक्तः परिहारः। ननु भोक्तुः प्रतिदेहं विभागः कथमित्यत आह--कार्यमनुप्रविष्टस्येति। औपाधिकविभागे फलितमुपसंहरति--इत्यत इति। एकब्रह्माभिन्नत्वेऽपि भोक्त्रादेः तरङ्गादिवद् भेदाङ्गीकारात् न द्वैतमानेन अद्वैतसमन्वयस्य विरोध इत्यर्थः ॥ १३ ॥ (५)

रत्नप्रभाका अनुवाद

शंका करते हैं—"यद्यपि" इत्यादिसे। उपाधिनिमित्तक जन्म है, इस विषयमें तरङ्ग आदि दृष्टान्त कहते हैं—"तथापि" इत्यादिसे। विभाग—जन्म। अथवा 'तथापि' शब्दसे ही आक्षेपका परिहार कहा गया समझना चाहिए। यदि कोई कहे कि भोक्ता आत्माका प्रतिदेह विभाग कैसे हो सकता है, इसपर कहते हैं—"कार्यमनुप्रविष्टस्य" इत्यादि। उपाधिनिमित्तक विभाग माननेपर जो फल निकला, उसका उपसंहार करते हैं—"इत्यतः" इत्यादिसे। आशय यह है कि एक ब्रह्मसे अभिन्न होनेपर भी भोक्ता, भोग्य आदिमें तरङ्ग, फेन आदिके समान भेद स्वीकार किया गया है, इसलिए द्वैत प्रमाणसे अद्वैत समन्वयका विरोध नहीं है ॥१३॥

[६ आरम्भणाधिकरण सू० १४-२०]

भेदाभेदौ तात्त्विकौ स्तो यदि वा व्यावहारिकौ।
समुद्रादाविव तयोर्बाधाभावेन तात्त्विकौ ॥१॥
बाधितौ श्रुतियुक्तिभ्यां तावेतौ व्यावहारिकौ।
कार्यस्य कारणाभेदादद्वैतं ब्रह्म तात्त्विकम्* ॥२॥

[अधिकरणसार]

सन्देह—कार्य एवं कारणमें भेद और अभेद पारमार्थिक हैं अथवा व्यावहारिक हैं?

पूर्वपक्ष—जैसे समुद्र, तरंग आदिके भेद और अभेदमें परस्पर कोई विरोध नहीं है, उसी प्रकार उनका कहीं बाध नहीं होता है, अतः पारमार्थिक हैं।

सिद्धान्त—भेद और अभेद श्रुति और युक्तियोंसे बाधित हैं, इसलिए व्यावहारिक हैं। कार्य कारणसे भिन्न नहीं हैं, इसलिए अद्वितीय ब्रह्म ही पारमार्थिक है।

---

* तात्पर्य यह है कि पूर्वपक्षी कहता है—लोकमें देखा जाता है कि जिसका बाध नहीं होता वह वस्तु पारमार्थिक होती है, जब एक ही वस्तुका ब्रह्मरूपसे अभेद है और भोक्ता आदि रूपसे भेद है, तो भेद और अभेदमें परस्पर विरोध नहीं है, एक ही वस्तुमें दोनों रह सकते हैं, अतः उनके बाधित न होनेके कारण दोनों पारमार्थिक हैं।

सिद्धान्ती कहते हैं कि "नेह नानाऽस्ति किञ्चन" (ब्रह्ममें कुछ भी भेद नहीं है) इस श्रुतिसे भेदका बाध होता है। परस्पर विरोधी भेद और अभेद एकत्र नहीं रह सकते हैं यह युक्ति भी है, क्योंकि एक चन्द्रमा कभी दो नहीं हो सकता। पूर्वाधिकारणमें जो यह कहा गया है कि आकारभेदसे भेद है, वह भी युक्त नहीं है, क्योंकि अद्वितीय पदार्थमें आकारभेद ही नहीं हो सकता। समुद्र आदिमें तो दोनों देखे जाते हैं, अतः 'नहि दृष्टेऽनुपपन्नं नाम' इस न्यायसे वहाँ दोनोंका स्वीकार किया जाता है। यदि कहो कि अद्वितीय वस्तुमें भी ब्रह्माकार और जगदाकार देखे जाते हैं, तो वह ठीक नहीं, क्योंकि ब्रह्म शास्त्रैकवेद्य है, प्रत्यक्ष दृष्ट नहीं है। इस कारण भेद और अभेद श्रुति और युक्तियोंसे बाधित होनेसे पारमार्थिक नहीं हैं, किन्तु व्यावहारिक हैं। तब तत्त्व क्या है? अद्वैत ही तत्त्व है, क्योंकि कार्य कारणसे भिन्न नहीं है, इसलिए केवल कारण ही परमार्थ सत् है। "यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृण्मयं विज्ञातं स्याद्वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्, एवं सोम्य स आदेशः" इत्यादि श्रुति मृत्तिका आदि दृष्टान्तोंसे कारणको ही सत्य कहती है। श्रुतिका अर्थ इस प्रकार है—मृत्पिण्ड कारण है, घट, शराव आदि उसके विकार हैं। यहाँ मृत्तिका भिन्न है और घट आदि पदार्थ भिन्न हैं, ऐसा तार्किक मानते हैं। घट आदि पृथक् पदार्थ नहीं हैं, ऐसा समझानेके लिए श्रुति विकार शब्दसे उनका ग्रहण करती है। देवदत्तसे भिन्न वैसे ही घट आदि मृत्तिकाके ही आकारविशेष हैं, मृत्तिकासे भिन्न नहीं हैं। जैसे देवदत्तकी बाल्य, यौवन, वार्धक्य आदि अवस्थाएँ हैं। ऐसी स्थितिमें घटादिके आकारसे प्रतीत होनेपर भी केवल मृत्तिका ही स्वतंत्र पदार्थ है, इसलिए मृत्तिकाके ज्ञान होनेपर उसके विकारभूत घट

तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः ॥ १४ ॥

पदच्छेद—तदनन्यत्वम्, आरम्भणशब्दादिभ्यः।

पदार्थोक्ति—तदनन्यत्वम्—कार्यस्य जगतः कारणाद् ब्रह्मणः पृथक्-सत्ताराहित्यम् [कुतः] आरम्भणशब्दादिभ्यः—'वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्', 'ऐतदात्म्यमिदं सर्वं तत् सत्यं स आत्मा' 'ब्रह्मैवेदं सर्वम्' इत्यादिशब्देभ्यः।

भाषार्थ—कारण ब्रह्मसे कार्य जगत्की पृथक् सत्ता नहीं है, क्योंकि वाचारम्भणं विकारो० (विकार केवल वाचारम्भण मात्र है, मृत्तिका ही सत्य है अर्थात् कारण ही सत्य है), 'ऐतदात्म्यमिदं०' (यह सब सद्रूप है, वह सत् सत्य है, वह आत्मा है,) 'ब्रह्मैवेदं०' (यह सब ब्रह्म ही है) इत्यादि वचनोंसे ऐसा ही प्रतीत होता है।

भाष्य

अभ्युपगम्य चेमं व्यावहारिकं भोक्तृभोग्यलक्षणं विभागं स्याल्लोकव-

भाष्यका अनुवाद

इस व्यावहारिक भोक्तृभोग्यलक्षण विभागका स्वीकार करके 'स्याल्लोकवत्'

रत्नप्रभा

पूर्वस्मिन्नेव पूर्वपक्षे विवर्तवादेन मुख्यं समाधानमाह—तदनन्यत्वमिति।

रत्नप्रभाका अनुवाद

पूर्वाधिकरणमें उक्त पूर्वपक्षका विवर्तवादके आधारपर मुख्य समाधान करते हैं—"तदनन्यत्वम्"

आदिका पारमार्थिक स्वरूप ज्ञात हो जाता है। यदि कहो कि आकारविशेषका ज्ञान नहीं होता है, मत हो, हानि क्या है? आकार तो कोई पदार्थ नहीं है, इसलिए उसकी जिज्ञासा करना ही ठीक नहीं है। विकार यद्यपि चक्षुरिन्द्रियसे देखे जाते हैं; तो भी मृत्तिकासे अतिरिक्त उनका कुछ स्वरूप ही नहीं है। यह घट है, यह शराव है, इस प्रकार केवल वागिन्द्रियसे उच्चार्यमाण नाममात्र हैं। जो वास्तविक स्वरूपवाला न हो, और उपलभ्यमान हो, वह मिथ्या पदार्थ कहलाता है। यह लक्षण विकारोंमें भी है, अतः विकार मिथ्या हैं। मृत्तिकाका तो विकारके विना भी स्वरूप है, इसलिए वह सत्य है। इसी प्रकार ब्रह्मके विषयमें भी समझना चाहिए, क्योंकि मृत्तिकान्यायकी ब्रह्ममें और घटादिन्यायकी जगत्में योजना हो सकती है। इसलिए जगत् ब्रह्मसे अभिन्न होनेके कारण अद्वितीय ब्रह्म ही पारमार्थिक है। इस प्रकारके विचारोंसे रहित पुरुषोंके लिए साधारण दृष्टिसे वेदमें प्रतिपादित अद्वितीय ब्रह्मका भी ज्ञान होता है, प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंसे भेद भी प्रतीत होता है, इसलिए समुद्रतरंगन्यायसे भेद और अभेद दोनों प्रतीत होते हैं, इसीलिए वे केवल व्यावहारिक हैं।

भाष्य

दिति परिहारोऽभिहितः, न त्वयं विभागः परमार्थतोऽस्ति यस्मात् तयोः कार्यकारणयोरनन्यत्वमवगम्यते । कार्यमाकाशादिकं बहुप्रपञ्चं जगत्, कारणं परं ब्रह्म, तस्मात् कारणात् परमार्थतोऽनन्यत्वं व्यतिरेकेणाऽभावः कार्यस्याऽवगम्यते । कुतः ? आरम्भणशब्दादिभ्यः । आरम्भणशब्दस्तावत्

भाष्यका अनुवाद

ऐसा परिहार किया गया है, परन्तु यह विभाग वास्तविक नहीं है, क्योंकि वे कार्य और कारण अभिन्न समझे जाते हैं। आकाश आदि बहुत विस्तारवाला जगत् कार्य है और परब्रह्म कारण है। उस कारणसे वास्तवमें कार्यका अनन्यत्व—अभेद समझा जाता है। किससे ? आरम्भणशब्द आदिसे।

रत्नप्रभा

समानविषयत्वं सङ्गतिं वदन् उभयोः परिहारयोः परिणामविवर्ताश्रयत्वेन अर्थभेदमाह—अभ्युपगम्येति । प्रत्यक्षादीनाम् औत्सर्गिकप्रामाण्यमङ्गीकृत्य स्थूलबुद्धिसमाधानार्थं परिणामदृष्टान्तेन भेदाभेदौ उक्तौ । सम्प्रति अङ्गीकृतं प्रामाण्यं तत्त्वावेदकत्वात् प्रच्याव्य व्यावहारिकत्वे स्थाप्यते, तथा च मिथ्याद्वैतग्राहिप्रमाणैः अद्वैतश्रुतेः न बाधः, एकस्यां रज्ज्वां दण्डस्रगादिद्वैतदर्शनाद् इत्ययं मुख्यः परिहार इति भावः । एवम् अद्वैतसमन्वयस्य अविरोधार्थं द्वैतस्य मिथ्यात्वं साधयति—**यस्मात्तयोरिति** । स्वरूपैक्ये कार्यकारणत्वव्याघात इत्यत आह—**व्यतिरेकेणेति** ।

रत्नप्रभाका अनुवाद

इत्यादिसे । दोनों अधिकरणोंकी समानविषयत्वरूप संगति कहते हुए "अभ्युपगम्य" इत्यादिसे कहते हैं—पूर्वाधिकरणमें वर्णित समाधान परिणामवादके आधारपर और इस अधिकरणमें वर्णित समाधान विवर्तवादके आधारपर किया गया है । इस प्रकार दोनोंमें अर्थभेद है, तात्पर्य यह है कि प्रत्यक्ष आदिका स्वाभाविक प्रामाण्य स्वीकार करके स्थूल बुद्धिवालोंकी शङ्काकी निवृत्तिके लिए परिणामदृष्टान्तसे भेद और अभेद कहे गये हैं । अब स्वीकृत प्रामाण्यको तत्त्वके प्रतिपादन करनेमें असमर्थ कहकर व्यावहारिक तत्त्वमें स्थापित करते हैं । इसलिए मिथ्याभूत द्वैतके ग्राहक प्रमाणोंसे अद्वैत श्रुतिका बाध नहीं है, क्योंकि एक ही रज्जुमें दंड, माला आदि द्वैतका दर्शन होता है, इसलिए यह मुख्य परिहार है । इस प्रकार अद्वैत समन्वयके अविरोधके लिए द्वैतका मिथ्यात्व सिद्ध करते हैं—"यस्मात्तयोः" इत्यादिसे । स्वरूप एक ही हो, तो कार्यकारणभावका व्याघात हो जायगा, इसपर कहते हैं—"व्यतिरेकेण" इत्यादि ।

भाष्य

एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानं प्रतिज्ञाय दृष्टान्तापेक्षायामुच्यते—'यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृन्मयं विज्ञातं स्याद्वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्' (छा० ६।१।१) इति । एतदुक्तं भवति—एकेन मृत्पिण्डेन परमार्थतो मृदात्मना विज्ञातेन सर्वं मृन्मयं घटशरावोदञ्चनादिकं मृदात्मकत्वाविशेषाद् विज्ञातं भवेत्, यतो वाचारम्भणं विकारो नामधेयं वाचैव केवलमस्तीत्यारभ्यते—विकारो घटः शराव उदञ्चनं चेति, न तु वस्तुवृत्तेन विकारो नाम कश्चिदस्ति, नामधेयमात्रं ह्येतदनृतं मृत्तिकेत्येव सत्यमिति । एष ब्रह्मणो दृष्टान्त आम्नातः । तत्र श्रुताद् वाचारम्भणशब्दाद् दार्ष्टान्तिकेऽपि ब्रह्मव्यतिरेकेण कार्यजातस्याऽभाव इति गम्यते । पुनश्च तेजोबन्नानां ब्रह्मकार्यतामुक्त्वा तेजोबन्न-

भाष्यका अनुवाद

एक विज्ञानसे सर्वविज्ञानकी प्रतिज्ञा करके दृष्टान्त की अपेक्षामें—'यथा सोम्यैकेन०' (हे सोम्य ! जैसे एक मृत्तिकापिण्डसे सब मृत्तिकाविकार ज्ञात हो जाते हैं, क्योंकि विकार वाणीके अवलम्बनसे हैं और नाममात्र हैं, मृत्तिका ही सत्य है, इस प्रकार आरम्भण शब्द कहा है । तात्पर्य यह है कि मृत्तिकारूपसे ज्ञात एक मृत्तिकापिंडसे सब मृत्तिकानिर्मित घड़ा, सकोरा, डोल आदि, मृत्तिकास्वरूप होनेसे वस्तुतः विज्ञात होते हैं, क्योंकि वाचारम्भण विकार केवल नाममात्र है । विकार—घट, शराव और उदञ्चन । विकार वस्तुतः कुछ नहीं है । नामधेयमात्र ये सब असत्य हैं, मृत्तिका ही सत्य है । यह ब्रह्मका दृष्टान्त श्रुतिमें कहा गया है । उस श्रुतिमें कहे गये वाचारम्भणशब्दसे दार्ष्टान्तिकमें भी ब्रह्मसे व्यतिरिक्त कार्य नहीं है, ऐसा समझा जाता है और श्रुति तेज, जल और अन्न ब्रह्मके कार्य हैं, ऐसा कहकर

रत्नप्रभा

कारणात् पृथक् सत्त्वशून्यत्वं कार्यस्य साध्यते न ऐक्यमित्यर्थः । वागारभ्यं नाममात्रं विकारो न कारणात् पृथग् अस्ति इत्येवकारार्थ इति श्रुतिं योजयति—एतदुक्तमिति । आरम्भणशब्दार्थान्तरमाह—पुनश्चेति । अपागाद् अग्नित्वम् अप-

रत्नप्रभाका अनुवाद

कारणसे कार्यकी पृथक् सत्ता नहीं है, इसको सिद्ध करते हैं, दोनोंकी एकता सिद्ध नहीं करते ऐसा अर्थ है । केवल वाणीसे आरंभ किया जानेवाला विकार नाममात्र है, वह कारणसे पृथक् नहीं है, यह एवकारका अर्थ है, इस प्रकार श्रुतिकी योजना करते हैं—"एतदुक्तम्"

भाष्य

कार्याणां तेजोबन्नव्यतिरेकेणाभावं ब्रवीति—'अपागादग्नेरग्नित्वं वाचारम्भणं विकारो नामधेयं त्रीणि रूपाणीत्येव सत्यम्' (छा० ६।४।१) इत्यादिना। आरम्भणशब्दादिभ्य इत्यादिशब्दात् 'ऐतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि' (छा० ६।७), 'इदं सर्वं यदयमात्मा' (बृ० २।४।६), 'ब्रह्मैवेदं सर्वम्' (मु० २।२।११), 'आत्मैवेदं सर्वम्' (छा० ७।२५।२), 'नेह नानास्ति किंचन' (बृ० ४।४।१९) इत्येवमाद्यप्यात्मैकत्वप्रतिपादनपरं वचनजातमुदाहर्तव्यम्। न चाऽन्यथैकविज्ञानेन सर्वविज्ञानं संपद्यते। तस्माद् यथा घटकरकाद्याकाशानां महाकाशानन्यत्वं, यथा च मृगतृष्णिकोदकादीनामूपरादिभ्योऽनन्यत्वं दृष्टनष्टस्वरूपत्वात् स्वरूपेणाऽनुपाख्यत्वात्,

भाष्यका अनुवाद

तेज, जल और अन्नके कार्योंका तेज, जल और अन्नसे भेदाभाव कहती है—'अपागादग्नेरग्नित्वं०' (अग्निसे अग्नित्व गया, क्योंकि उसका वाणीसे ही आरम्भ किया जाता है, विकार नाममात्र हैं, तीन रूप ही सत्य हैं) इत्यादिसे। 'आरम्भणशब्दादिभ्यः' इसमें आदि शब्दसे 'ऐतदात्म्यमिदं०' (यह सब सद्रूप है, वह सत्य है, वह आत्मा है, वह तू है) 'इदं सर्वं यदयमात्मा' (यह सब प्रपञ्च आत्मा—सद्रूप ही है) 'ब्रह्मैव इदं सर्वम्' यह सब आत्मा ही है), 'नेह नानास्ति किंचन' (ब्रह्ममें कुछ भेद नहीं है), इत्यादि आत्मैकत्वका प्रतिपादन करनेवाले वचन भी उद्धृत करने चाहिएँ। नहीं तो एकविज्ञानसे सर्वज्ञान संपन्न नहीं होगा। इसलिए जैसे घटाकाश, करकाकाश आदि महाकाशसे अभिन्न हैं, जैसे जलसी भासनेवाली मृगतृष्णा ऊपरसे अभिन्न है, क्योंकि उनका स्वरूप दृष्टिगोचर होकर नष्ट हो जाता

रत्नप्रभा

गतं कारणमात्रत्वात्, त्रीणि तेजोऽबन्नानां रूपाणि रूपतन्मात्रात्मकानि सत्यम्, तेषामपि सन्मात्रत्वात् सदेव शिष्यते इत्यभिप्रायः। जीवजगतोः ब्रह्मान्यत्वे प्रतिज्ञाबाधः। इत्याह--न चाऽन्यथेति। तयोः अनन्यत्वे क्रमेण दृष्टान्तौ आह--

रत्नप्रभाका अनुवाद

इत्यादिसे। आरम्भण शब्दका अन्य अर्थ कहते हैं—"पुनश्च" इत्यादिसे। अग्नित्व केवल कारण रूप होनेसे नष्ट हो गया। तेज, जल और अन्नके तीन रूप, रूपतन्मात्र स्वरूप होनेसे सत्य हैं। वे भी केवल सद्रूप हैं अतः सत् ही बाकी रह जाता है, ऐसा अभिप्राय है। जीव और जगत् यदि ब्रह्मसे भिन्न माने जायँ, तो प्रतिज्ञाका बाध होगा, ऐसा कहते हैं—"न चान्यथा" इत्यादिसे।

भाष्य

एवमस्य भोग्यभोक्त्रादिप्रपञ्चजातस्य ब्रह्मव्यतिरेकेणाऽभाव इति द्रष्टव्यम् ।

नन्वनेकात्मकं ब्रह्म, यथा वृक्षोऽनेकशाख एवमनेकशक्तिप्रवृत्तियुक्तं ब्रह्म, अत एकत्वं नानात्वं चोभयमपि सत्यमेव । यथा वृक्ष इत्येकत्वं शाखा इति च नानात्वम् । यथा च समुद्रात्मनैकत्वं फेनतरङ्गाद्यात्मना नानात्वम् । यथा च मृदात्मनैकत्वम्, घटशरावाद्यात्मना नानात्वम् । तत्रैकत्वांशेन ज्ञानान्मोक्षव्यवहारः सेत्स्यति । नानात्वांशेन तु कर्मकाण्डाश्रयौ लौकिकवैदिकव्यवहारौ सेत्स्यत इति । एवञ्च मृदादिदृष्टान्ता अनुरूपा भविष्यन्तीति । नैवं स्यात्, 'मृत्तिकेत्येव सत्यम्' इति

भाष्यका अनुवाद

है और वे सत्तारहित हैं, उसी प्रकार यह भोक्तृ, भोग्य आदि प्रपंच ब्रह्मसे भिन्न नहीं है, ऐसा समझना चाहिए है ।

परन्तु ब्रह्म अनेक स्वरूप है जैसे वृक्ष अनेक शाखायुक्त है वैसेही ब्रह्म अनेकशक्तिप्रवृत्तियुक्त है । अतः नानात्व अनेकत्व दोनों सत्य ही हैं । जैसे वृक्षस्वरूपसे वृक्ष एक है और शाखास्वरूपसे नाना है । जैसे समुद्र समुद्रस्वरूपसे एक है और फेन, तरंग आदिस्वरूपसे नाना है, जैसे मृत्तिका मृत्तिकास्वरूपसे एक है और घट, शराव आदि स्वरूपसे नाना है, वैसेही ब्रह्मकारण स्वरूपसे एक और कारण जगत् रूपसे अनेक है । उक्त दो अंशोंमें एकत्व अंशके ज्ञानसे मोक्षव्यवहार सिद्ध होगा और नानात्व अंशके ज्ञानसे कर्मकाण्डसे सम्बन्ध रखनेवाले लौकिक और वैदिक व्यवहार सिद्ध होंगे और इसी प्रकार मृत्तिका आदि दृष्टान्त अनुकूल होंगे । ऐसा

रत्नप्रभा

तस्माद्यथेति । प्रतिज्ञाबलाद् इत्यर्थः । दृष्टं प्रातीतिकं नष्टम् अनित्यं यत्स्वरूपं तद्रूपेण अनुपाख्यत्वात् सत्तास्फूर्तिशून्यत्वात् अनन्यत्वमिति सम्बन्धः ।

शुद्धाद्वैतं स्वमतम् उक्त्वा भेदाभेदमतम् उत्थापयति—नन्विति । अनेकाभिः

रत्नप्रभाका अनुवाद

जीव और जगत् ब्रह्मसे भिन्न नहीं हैं, इस विषयमें क्रमसे दृष्टान्त कहते हैं—"तस्माद्यथा" इत्यादिसे । तस्मात्—प्रतिज्ञाके बलसे । कार्यका स्वरूप केवल आभासित होता है और नश्वर है अर्थात् अनित्य है, उसके रूपयुक्त होने एवं सत्ता और स्फूर्ति रहित होनेके कारण कार्य कारणसे भिन्न नहीं है, ऐसा संबन्ध है ।

अपना मत—शुद्धाद्वैत कह कर भेदाभेद मतको उठाते हैं—"ननु" इत्यादिसे । अनेक

भाष्य

प्रकृतिमात्रस्य दृष्टान्ते सत्यत्वावधारणात्। वाचारम्भणशब्देन च विकारजातस्याऽनृतत्वाभिधानात्। दार्ष्टान्तिकेऽपि 'ऐतदात्म्यमिदं सर्वं, तत्सत्यम्' इति च परमकारणस्यैवैकस्य सत्यत्वावधारणात्, 'स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो' इति च शारीरस्य ब्रह्मभावोपदेशात्। स्वयंप्रसिद्धं ह्येतच्छारीरस्य ब्रह्मात्मत्वमुपदिश्यते न यत्नान्तरप्रसाध्यम्। अतश्चेदं शास्त्रीयं ब्रह्मात्मत्व-

भाष्यका अनुवाद

नहीं है। 'मृत्तिकेत्येव सत्यम्' (मृत्तिका ही सत्य है) इस प्रकार दृष्टान्तमें आकृतिमात्रका सत्यरूपसे निर्णय किया है और वाचारम्भण शब्दसे विकारसमूह असत्य कहा गया है, दार्ष्टान्तिकमें भी 'ऐतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यम्' (यह सब आत्मस्वरूप है, वह सत्य है) इस प्रकार एक परम कारण ही सत्यरूपसे निश्चित किया गया है। 'स आत्मा०' (हे श्वेतकेतो! वह आत्मा है, वह तू है) इस प्रकार शारीर ब्रह्म है, ऐसा उपदेश है। इस जीवका स्वयंसिद्ध जो ब्रह्मात्मत्व है, उसीका उपदेश किया जाता है, अन्य यत्नसे साध्य ब्रह्मात्मत्वका उपदेश नहीं किया जाता। इससे जैसे रज्जु आदिबुद्धि सर्प आदिबुद्धि की

रत्नप्रभा

शक्तिभिः तदधीनप्रवृत्तिभिः—परिणामैः युक्तमित्यर्थः। भेदाभेदमते सर्वव्यवस्थासिद्धिः अत्यन्ताभेदे द्वैतमानबाध इत्यभिमानः। नैवं स्यादिति। एवकारवाचारम्भणशब्दाभ्यां विकारसत्तानिषेधात् परिणामवादः श्रुतिबाह्य इत्यर्थः। किञ्च, संसारस्य सत्यत्वे तद्विशिष्टस्य जीवस्य ब्रह्मैक्योपदेशो न स्याद् विरोधाद् इत्याह—स आत्मेति। एकत्वं ज्ञानकर्मसमुच्चयसाध्यम् इत्युपदेशार्थम् इत्याशङ्क्य असीति पदविरोधात् नैवम् इत्याह—स्वयमिति। अतः तत्त्वज्ञानबाध्यत्वात्

रत्नप्रभाका अनुवाद

शक्तियोंसे और उसके अधीनमें रहनेवाली प्रवृत्ति अर्थात् परिणामोंसे युक्त है, ऐसा अर्थ है। भेदाभेदमतमें सब व्यवस्थाओंकी सिद्धि होती है, और अत्यन्त अभेद माननेसे द्वैत प्रमाणोंका बाध होता है, ऐसा समझकर भेदाभेद मतका खण्डन करते हैं—"नैवं स्यात्" इत्यादिसे। 'एवकार और 'वाचारम्भण' शब्दोंसे विकारकी सत्ताका निषेध होता है, इसलिए परिणामवाद श्रुतिबाह्य है, ऐसा तात्पर्य है। और संसार यदि सत्य हो, तो संसारयुक्त जीवका ब्रह्मके साथ अभेदोपदेश नहीं हो सकेगा, क्योंकि विरोध है, ऐसा कहते हैं—"स आत्मा" इत्यादिसे। एकत्व ज्ञान और कर्मके समुच्चयसे साध्य है, ऐसा उपदेश करनेके लिए ऐक्यका कथन है, ऐसी आशंका कर 'असि' पदके विरोधसे यह बात नहीं हो सकती, ऐसा कहते हैं—"स्वयम्" इत्यादिसे। इसलिए तत्त्वज्ञानसे बाधित होनेके कारण संसारित्व

भाष्य

सवगम्यमानं स्वाभाविकस्य शारीरात्मत्वस्य बाधकं संपद्यते, रज्ज्वादिबुद्धय इव सर्पादिबुद्धीनाम्। बाधिते च शारीरात्मत्वे तदाश्रयः समस्तः स्वाभाविको व्यवहारो बाधितो भवति, यत्प्रसिद्धये नानात्वांशोऽपरो ब्रह्मणः कल्प्येत। दर्शयति च—'यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्येत्' (बृ० ४।५।१५) इत्यादिना ब्रह्मात्मत्वदर्शिनं प्रति समस्तस्य क्रियाकारकफललक्षणस्य व्यवहारस्याऽभावम्। न चाऽयं व्यवहाराभावोऽवस्था-

भाष्यका अनुवाद

बाधिका होती है, वैसे, यह जो शास्त्रीय ब्रह्मात्मत्व की अवगति होती है, वह स्वाभाविक शारीरात्मा की बाधिका है। शारीरात्मत्वका बाध होनेपर उसके आश्रित समस्त स्वाभाविक व्यवहार, जिनकी प्रसिद्धिके लिये एकत्वसे अन्य ब्रह्मके नानात्व अंशकी कल्पना करनी पड़े, बाधित हो जाते हैं। 'यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्त' (जिस ज्ञानावस्थामें इसकी सब आत्मा ही हो जाते हैं, वहां किस साधनसे किसको देखे) इत्यादिसे ब्रह्मको ही आत्मा समझनेवालेके प्रति श्रुति क्रिया, कारक और फलस्वरूप समस्त व्यवहारका अभाव दिखलाती है। विशिष्ट

रत्नप्रभा

संसारित्वं मिथ्या इत्याह--अतश्चेति। स्वतस्सिद्धोपदेशाद् इत्यर्थः। यदुक्तं व्यवहारार्थं नानात्वं सत्यमिति, तत् किं ज्ञानादूर्ध्वं प्राग्वा? नाद्य इत्याह--बाधिते चेति। स्वभावोऽत्र अविद्या, तया कृतः स्वाभाविकः, ज्ञानादूर्ध्वं प्रमातृत्वादिव्यवहारस्य अभावात् नानात्वं न कल्प्यमित्यर्थः। न द्वितीयः--ज्ञानात् प्राक् कल्पितनानात्वेन व्यवहारोपपत्तौ नानात्वस्य सत्यत्वासिद्धेः। यत्तु प्रमातृत्वादिव्यवहारः सत्य एव मोक्षावस्थायां निवर्तते इति तन्न इत्याह—न चाऽयमिति। संसारसत्य-

रत्नप्रभाका अनुवाद

मिथ्या है, ऐसा कहते हैं—"अतश्च" इत्यादिसे। अतः—स्वतःसिद्ध वस्तुके उपदेशसे। यह जो पीछे कहा गया है कि व्यवहारके लिए नानात्वको सत्य मानना चाहिए, वह क्या ज्ञानोत्पत्तिके अनन्तरके व्यवहारके लिए है अथवा तत्पूर्वके व्यवहारके लिए? प्रथम पक्ष ठीक नहीं है, ऐसा कहते हैं—"बाधिते च" इत्यादिसे। यहां स्वभावका अर्थ अविद्या है, स्वाभाविक—अविद्यासे कृत। ज्ञानोत्पत्तिके अनन्तर प्रमातृत्व आदि व्यवहार नहीं होते हैं, इसलिए नानात्वकल्पनाकी आवश्यकता नहीं है, ऐसा अर्थ है। दूसरा पक्ष भी ठीक नहीं है, क्योंकि ज्ञानोत्पत्तिसे पहले कल्पित नानात्वसे ही व्यवहार उपपन्न हो सकता है, उससे नानात्वकी सत्यता सिद्ध नहीं होती। यह जो कथन है कि प्रमातृत्व आदि व्यवहार सत्य ही है, परन्तु मोक्षावस्थामें निवृत्त हो जाता है, वह ठीक नहीं है, ऐसा कहते हैं—"न चाऽयम्" इत्यादिसे। संसार यदि सत्य

भाष्य

विशेषनिबद्धोऽभिधीयत इति युक्तं वक्तुम्, 'तत्त्वमसि' इति ब्रह्मात्मभावस्याऽनवस्थाविशेषनिबन्धनत्वात्। तस्करदृष्टान्तेन चाऽनृताभिसन्धस्य बन्धनं सत्याभिसन्धस्य च मोक्षं दर्शयन्नेकत्वमेवैकं पारमार्थिकं दर्शयति [छा० ६।१६] मिथ्याज्ञानविजृम्भितं च नानात्वम्। उभयसत्यतायां हि कथं व्यवहारगोचरोऽपि जन्तुरनृताभिसन्ध इत्युच्येत। 'मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य

भाष्यका अनुवाद

अवस्थाके आधारपर यह व्यवहारका अभाव कहा गया है, ऐसा कहना युक्त नहीं है, क्योंकि 'तत्त्वमसि' (वह तू है) इस प्रकार जीवका जो ब्रह्मभाव कहा गया है, वह अवस्थाविशेषके आधारपर नहीं कहा गया। और चोरके दृष्टान्तसे मिथ्या भाषण करनेवालेका बन्धन और सत्यभाषीका मोक्ष दिखलानेवाली श्रुति केवल एकत्व ही पारमार्थिक है और नानात्व मिथ्याज्ञानसे कल्पित है, ऐसा दिखलाती है। यदि भेद और अभेद ये दोनों सत्य हों, तो भेदव्यवहार करनेवाला पुरुष असत्यभाषी कैसे कहा जा सकेगा ? 'मृत्योः स०'

रत्नप्रभा

त्वे तदवस्थायां जीवस्य ब्रह्मत्वं न स्यात्, भेदाभेदयोः एकदा एकत्र विरोधात्। अतः असंसारिब्रह्माभेदस्य सदातनत्वावगमात् संसारोऽपि मिथ्यैव इत्यर्थः। किञ्च, यथा लोके कश्चित् तस्करबुद्ध्या भटैः गृहीतः अनृतवादी चेत् तप्तपरशुं गृह्णाति स दह्यते बध्यते च तथा नानात्ववादी बध्यते, सत्यवादी चेत् न दह्यते मुच्यते च। तथा ऐतदात्म्यमिदं सर्वम् इत्येकत्वदर्शी मुच्यते इति श्रुतदृष्टान्तेन एकत्वं सत्यम्, नानात्वं मिथ्या इत्याह--तस्करेति। व्यवहारगोचरो नानात्वव्यवहा-

रत्नप्रभाका अनुवाद

हो, तो संसारावस्थामें जीव ब्रह्म नहीं हो सकता, क्योंकि भेद और अभेद एक समयमें इकट्ठे नहीं रह सकते। इसलिए असंसारी ब्रह्मके साथ जीवका अभेद सदातन प्रतीत होता है अतः संसार भी मिथ्या है, ऐसा तात्पर्य है। और जैसे लोकमें किसी मनुष्यको चोर समझकर राजभट पकड़ लेते हैं, तब वह अपने छुटकारेके लिए तपाये हुए फरसेको हाथमें लेता है, वह यदि अनृतवादी होता है तो उससे जल जाता है और बन्दीगृहमें रक्खा जाता है, उसी प्रकार नानात्ववादी बद्ध होता है, यदि वह सत्यवादी होता है, तो जलता नहीं और मुक्त हो जाता है। उसी प्रकार यह सब सत्स्वरूप ही है, इस प्रकार एकत्व देखनेवाला मुक्त हो जाता है, श्रुतिमें वर्णित इस दृष्टान्तके अनुसार एकत्व सत्य है, नानात्व मिथ्या है, ऐसा कहते हैं—"तस्कर" इत्यादिसे। व्यवहारगोचर—नानात्व व्यवहारका आश्रय। श्रुतिमें नानात्वकी निन्दा की

भाष्य

इह नानेव पश्यति' (बृ० ४।४।१९) इति च भेददृष्टिमपवदन्नेतदेव दर्शयति। न चाऽस्मिन् दर्शने ज्ञानान्मोक्ष इत्युपपद्यते, सम्यग्ज्ञानापनोद्यस्य कस्यचिन्मिथ्याज्ञानस्य संसारकारणत्वेनाऽनभ्युपगमात्। उभयसत्यतायां हि कथमेकत्वज्ञानेन नानात्वज्ञानमपनुद्यत इत्युच्यते। नन्वेकत्वैकान्ताभ्युपगमे नानात्वाभावात् प्रत्यक्षादीनि लौकिकानि प्रमाणानि व्याहन्येरन्

भाष्यका अनुवाद

(जो ब्रह्ममें भेद-सा देखता है, वह जन्ममरणपरम्पराको प्राप्त होता है) इस प्रकार भेददृष्टिका निषेध करके श्रुति यही बात सिद्ध करती है। और इस दर्शनमें ज्ञानसे मोक्ष होता है, ऐसा उपपन्न नहीं होता, क्योंकि सम्यग् ज्ञानसे निषेध्य कोई मिथ्या ज्ञान संसारका कारण नहीं माना गया है, क्योंकि दोनोंके सत्य होनेपर यह कैसे कहा जा सकता है कि एकत्वज्ञानसे भेदज्ञान दूर होता है। परन्तु केवल एकत्वका ही स्वीकार करें तो भेदके अभावसे प्रत्यक्ष आदि लौकिक प्रमाण निर्विषयक होनेसे बाधित हो जायँगे। जैसे कि

रत्नप्रभा

राश्रयः। नानात्वनिन्दयाऽपि एकत्वमेव सत्यम् इत्याह--मृत्योरिति। किञ्च, अस्मिन् भेदाभेदमते जीवस्य ब्रह्माभेदज्ञानाद् भेदज्ञाननिवृत्तेः मुक्तिः इष्टा, सा न युक्ता, भेदज्ञानस्य भ्रमत्वानभ्युपगमात्, प्रमायाः प्रमान्तराबाध्यत्वाद् इत्याह--न चाऽस्मिन्निति। वैपरीत्यस्याऽपि सम्भवाद् इति भावः। इदानीं प्रत्यक्षादिप्रामाण्यान्यथानुपपत्त्या नानात्वस्य सत्यत्वमिति पूर्वपक्षबीजम् उद्घाटयति--नन्वित्यादिना। एकत्वस्य एकान्तः—कैवल्यम्, व्याहन्येरन्—न प्रमाणानि स्युः। उपजीव्यप्रत्यक्षादिप्रामाण्याय वेदान्तानां भेदाभेदपरत्वम् उचितमिति भावः। ननु

रत्नप्रभाका अनुवाद

गई है, इससे भी सिद्ध होता है कि एकत्व ही सत्य है, ऐसा कहते हैं—"मृत्योः" इत्यादिसे। और जीवका ब्रह्मके साथ अभेदज्ञान होनेसे अज्ञाननिवृत्ति द्वारा मुक्ति मानी गई है, वह भेदाभेदमतमें ठीक नहीं है, क्योंकि भेदज्ञानको भ्रम नहीं मानते हैं, एक प्रमाज्ञानका अन्य प्रमाज्ञानसे बाध नहीं हो सकता है, ऐसा कहते हैं—"न चाऽस्मिन्" इत्यादिसे। विपरीत भी हो सकता है, ऐसा तात्पर्य है। अब प्रत्यक्ष आदिके प्रामाण्यकी अन्यथा उपपत्ति नहीं हो सकती, इसलिए नानात्व सत्य है, इस प्रकार पूर्वपक्षबीजको प्रकाशित करते हैं—"ननु" इत्यादिसे। एकत्वका एकान्त अर्थात् केवलता। व्याहन्येरन्—अप्रमाण हो जायंगे। उपजीव्य प्रत्यक्ष आदिके प्रामाण्यके लिए वेदान्तोंको भेदाभेदपरक मानना उचित है, ऐसा तात्पर्य है। परन्तु

भाष्य

निर्विषयत्वात्, स्थाण्वादिष्विव पुरुषादिज्ञानानि। तथा विधिप्रतिषेध-शास्त्रमपि भेदापेक्षत्वात् तदभावे व्याहन्येत। मोक्षशास्त्रस्यापि शिष्य-शासित्रादिभेदापेक्षत्वात् तदभावे व्याघातः स्यात्। कथं चाऽनृतेन मोक्ष-शास्त्रेण प्रतिपादितस्याऽऽत्मैकत्वस्य सत्यत्वमुपपद्येतेति। अत्रोच्यते—नैष दोषः, सर्वव्यवहाराणामेव प्राग् ब्रह्मात्मताविज्ञानात् सत्यत्वोपपत्तेः स्वप्न-व्यवहारस्येव प्राक् प्रबोधात्। यावद्धि न सत्यात्मैकत्वप्रतिपत्तिस्तावत् प्रमाणप्रमेयफललक्षणेषु विकारेष्वनृतत्वबुद्धिर्न कस्यचिदुत्पद्यते, विकारानेव

भाष्यका अनुवाद

स्थाणु आदिमें पुरुष आदिका ज्ञान बाधित हो जाता है। इसी प्रकार भेदकी अपेक्षा रखनेके कारण विधिप्रतिषेधशास्त्र भी भेदके अभावमें बाधित हो जायँगे। मोक्षशास्त्र भी गुरु, शिष्य आदि भेदकी अपेक्षा रखता है, अतः भेदके अभावमें वह बाधित हो जायगा और असत्य मोक्षशास्त्रसे प्रतिपादित आत्मैकत्व सत्य है, यह किस प्रकार उपपन्न हो सकेगा? इसपर कहते हैं—यह दोष नहीं है, जैसे जागनेके पूर्व सब स्वप्नव्यवहार सत्य होते हैं, वैसे ही ब्रह्मात्मैकत्वज्ञानके पूर्व सभी व्यवहार सत्य हो सकते हैं। जब तक सत्य आत्मैकत्वप्रतीति नहीं होती, तब तक प्रमाण, प्रमेय और फलरूप विकार असत्य हैं, ऐसी बुद्धि किसीको भी नहीं

रत्नप्रभा

कर्मकारकाणां यजमानादीनां विद्याकारकाणां शिष्यादीनां च कल्पितभेदम् आश्रित्य कर्मज्ञानकाण्डयोः प्रवृत्तेः स्वप्रमेयस्य धर्मादेः अबाधात् प्रामाण्यम् अव्याह-तमित्याशङ्क्य आह—कथं चाऽनृतेनेति। धूलिकल्पितधूमेन अनुमितस्य वह्नेरिव प्रमेयबाधापत्तेः इति भावः। तत्र द्वैतविषये प्रत्यक्षादीनां यावद्बाधं व्यावहारिकं प्रामाण्यम् उपपद्यते इत्याह—अत्रोच्यत इत्यादिना।

रत्नप्रभाका अनुवाद

यज्ञ आदि कर्म करनेवाले यजमान आदिके और विद्याका अध्ययन करनेवाले शिष्य आदिके कल्पित भेदसे कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्डकी प्रवृत्ति है, इसलिए अपने प्रमेयभूत धर्म आदिका बाध न होनेसे वेदका प्रामाण्य अव्याहत है, ऐसी शंका करके कहते हैं—"कथं चाऽनृतेन" इत्यादि। आशय यह है कि धूलिमें कल्पित धूमसे अनुमित वह्निके समान प्रमेयका भी बाध हो जायगा। जब तक बाध नहीं होता तब तक प्रत्यक्ष आदिका द्वैतके विषयमें व्यावहारिक प्रामाण्य हो सकता है, ऐसा कहते हैं—"अत्रोच्यते" इत्यादिसे। सत्यत्व—बाधका अभाव।

भाष्य

त्वहं ममेत्यविद्ययात्मात्मीयेन भावेन सर्वो जन्तुः प्रतिपद्यते स्वाभाविकीं ब्रह्मात्मतां हित्वा, तस्मात् प्राग् ब्रह्मात्मताप्रतिबोधादुपपन्नः सर्वो लौकिको वैदिकश्च व्यवहारः। यथा सुप्तस्य प्राकृतस्य जनस्य स्वप्ने उच्चावचान् भावान् पश्यतो निश्चितमेव प्रत्यक्षाभिमतं विज्ञानं भवति प्राक् प्रबोधात्, न च प्रत्यक्षाभासाभिप्रायस्तत्काले भवति, तद्वत्। कथं त्वसत्येन वेदान्तवाक्येन सत्यस्य ब्रह्मात्मत्वस्य प्रतिपत्तिरुपपद्येत ? नहि रज्जुसर्पेण

भाष्यका अनुवाद

होती। स्वाभाविक ब्रह्मात्मताका त्याग करके अविद्यासे सब जन्तु विकारोंमें ही 'मैं,' 'मेरा' इस प्रकार आत्मभाव और आत्मीयभाव रखते हैं, इसलिए ब्रह्मात्मताके ज्ञानके पूर्व सब लौकिक और वैदिक व्यवहार उपपन्न होते हैं। जैसे कि सोता हुआ साधारण मनुष्य स्वप्नमें भिन्न भिन्न पदार्थोंको देखता है और उनके प्रत्यक्ष ज्ञानको जागनेके पहिले निश्चित ही समझता है। उस समय उनके प्रत्यक्षको आभास नहीं समझता। परन्तु असत्य वेदान्तवाक्योंसे सत्य ब्रह्मात्मत्व ज्ञान कैसे हो सकता है? क्योंकि रज्जुरूप सर्पसे

रत्नप्रभा

सत्यत्वम्—बाधाभावः, बाधः—मिथ्यात्वनिश्चयः। वस्तुतो मिथ्यात्वेऽपि विकारेषु तन्निश्चयाभावेन प्रत्यक्षादिव्यवहारोपपत्तौ उक्तदृष्टान्तं विवृणोति—**यथा सुप्तस्य प्राकृतस्येति**। एवं द्वैतप्रमाणानां व्यवहारकाले बाधशून्यार्थबोधकत्वं व्यावहारिकं प्रामाण्यम् उपपाद्य अद्वैतप्रमाणानां वेदान्तानां सर्वकालेषु बाधशून्यब्रह्मबोधकत्वं तात्त्विकं प्रामाण्यम् उपपादयितुम् उक्तशङ्काम् अनुवदति—**कथं त्वसत्येनेति**। किम् असत्यात् सत्यं न जायते, किमुत सत्यस्य ज्ञानं न ? आद्य इष्ट एव, नहि

रत्नप्रभाका अनुवाद

बाध—मिथ्यात्वका निश्चय। वस्तुतः मिथ्या होनेपर भी विकारोंमें मिथ्यात्वनिश्चय न होनेके कारण प्रत्यक्ष आदि व्यवहार हो सकता है, इस विषयमें उक्त दृष्टान्तका विवरण करते हैं—"यथा सुप्तस्य प्राकृतस्य" इत्यादिसे। इस प्रकार व्यवहारकालमें बाधरहित अर्थबोधकतारूप द्वैतप्रमाणोंके व्यावहारिक प्रामाण्यका उपपादन करके अद्वैतप्रमाणभूत वेदान्तोंके सब कालोंमें बाधरहित ब्रह्मबोधकतारूप पारमार्थिक प्रामाण्यका उपपादन करनेके लिए पूर्वोक्त शंकाका अनुवाद करते हैं—"कथं त्वसत्येन" इत्यादिसे। क्या असत्यसे सत्य उत्पन्न नहीं होता है अथवा सत्यका ज्ञान नहीं होता है ? प्रथम पक्ष तो इष्ट ही है, क्योंकि

भाष्य

दष्टो म्रियते, नापि मृगतृष्णिकाम्भसा पानावगाहनादि प्रयोजनं क्रियत इति। नैष दोषः, शङ्काविषादिनिमित्तमरणादिकार्योपलब्धेः। स्वप्नदर्शनावस्थस्य च सर्पदंशनोदकस्नानादिकार्यदर्शनात् तत्कार्यमप्यनृतमेवेति

भाष्यका अनुवाद

डँसा हुआ नहीं मरता और मृगतृष्णाके जलका पान तथा उससे स्नान आदि नहीं किये जाते। यह दोष नहीं है, क्योंकि विषकी शंका होनेपर मरण आदि कार्य देखे जाते हैं और जो स्वप्नावस्थामें सर्पद्वारा डँसा जाना, जलस्नान आदि कार्य

रत्नप्रभा

वयं वाक्योत्थज्ञानं सत्यमिति अङ्गीकुर्मः। अङ्गीकृत्याऽपि दृष्टान्तमाह—नैष दोष इति। सर्पेण अदष्टस्यापि दष्टत्वभ्रान्तिकल्पितविषात् सत्यमरणमूर्च्छादिदर्शनाद् असत्यात् सत्यं न जायत इति अनियम इत्यर्थः। दृष्टान्तान्तरमाह—स्वप्नेति। असत्यात् सर्पोदकादेः सत्यस्य दंशनस्नानादिज्ञानस्य कार्यस्य दर्शनाद् व्यभिचार

रत्नप्रभाका अनुवाद

हम वाक्योत्पन्न ज्ञानको सत्य नहीं मानते हैं। अङ्गीकार करके भी दृष्टान्त कहते हैं—"नैष दोषः" इत्यादिसे। आशय यह है कि सर्पके न काटनेपर भी सर्पने काटा है, इस भ्रान्तिसे कल्पित विषसे पुरुषके सत्य मरण, मूर्छा आदि देखे जाते हैं[1], इसलिए यह कोई नियम नहीं है कि असत्यसे सत्य उत्पन्न नहीं होता। अन्य दृष्टान्त कहते हैं—"स्वप्न" इत्यादिसे। असत्य सर्प, जल आदिसे सत्य दंशन, स्नान आदि ज्ञानरूप कार्य देखे जाते हैं, इसलिए

(१) यदि कोई कहे कि अनृतभूत शंकित विष मरणहेतु नहीं है, किन्तु शंका ही मरणहेतु है, शंका तो सत्य है; स्वाप्निक पदार्थका ज्ञान साक्षिरूप है, वह किसी असत्यका कार्य नहीं है, इसलिए अनृतसे सत्यकी उत्पत्ति होती है, इस विषयमें ये दृष्टान्त नहीं हो सकते, तो यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि, विषशंका विषके बिना मरणहेतु नहीं हो सकती है, किन्तु विष-विशिष्ट होकर ही मरणहेतु होती है, अन्यथा किसी शंकासे भी मरण होनेका प्रसंग आ जायगा, और मन्द विषकी शंका होती है, तो कुछ भय होता है, तीव्र विषकी शंका होती है, तो तीव्र भय होता है, तीव्रतर विषकी शंका होती है, तो मरण होता है, इस प्रकार विषके उत्कर्ष और अपकर्षसे कार्यमें भी उत्कर्ष और अपकर्ष दिखाई देते हैं, इसलिए विषविशिष्ट शंका ही कारण है, वह तो असत्य है। यद्यपि स्वप्नमें जो साक्षिरूप ज्ञान होता है, वह नित्य है, तो भी चाक्षुष, स्पार्शन आदि ज्ञान नित्य नहीं हैं, इसलिए स्वप्नमें भी असत्य (स्वप्नमें कल्पित) चक्षु आदि ही कारण हैं। यदि कहो कि तो भी असत्यसे सत्यकी उत्पत्तिमें यह दृष्टान्त नहीं घट सकता, क्योंकि असत्य चक्षु आदिसे उत्पन्न होनेवाले चाक्षुष आदि ज्ञान भी असत्य ही हैं, तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि उस ज्ञानके चाक्षुषत्व आदि धर्मोंके आश्रय साक्षिरूप प्रतीतिका बाध नहीं होता है, इसलिए उस अंशको लेकर प्रतीतिकी सत्यता है ही। इस प्रकार दोनों दृष्टान्त युक्त हैं।

भाष्य

चेद् ब्रूयात्, तत्र ब्रूमः—यद्यपि स्वप्नदर्शनावस्थस्य सर्पदंशनोदकस्नानादिकार्यमनृतं तथापि तदवगतिः सत्यमेव फलम्, प्रतिबुद्धस्याऽप्यबाध्यमानत्वात्। नहि स्वप्नादुत्थितः स्वप्नदृष्टं सर्पदंशनोदकस्नानादिकार्यं मिथ्येति मन्यमानस्तदवगतिमपि मिथ्येति मन्यते कश्चित्। एतेन स्वप्नदृशोऽवगत्यबाधनेन देहमात्रात्मवादो दूषितो वेदितव्यः। तथा च श्रुतिः—

'यदा कर्मसु काम्येषु स्त्रियं स्वप्नेषु पश्यति।

भाष्यका अनुवाद

देखे जाते हैं, वे कार्य भी असत्य ही हैं, ऐसा यदि कहो, तो उसपर कहते हैं—यद्यपि स्वप्नावस्थामें पुरुषके सर्पदंश, उदकस्नान आदि कार्य असत्य हैं, तथापि उनका ज्ञानरूप फल सत्य है, क्योंकि जागनेके बाद भी उसका बाध नहीं होता। स्वप्नसे उठा हुआ पुरुष जिन सर्पदंशन, उदकस्नान आदि कार्योंको मिथ्या मानता है, वह उनकी अवगतिको मिथ्या नहीं मानता। इससे अर्थात् स्वप्न देखनेवालेकी अवगतिका बाध न होनेसे, देहमात्र आत्मा है, इस मतका खण्डन हुआ समझना चाहिये। उसी प्रकार 'यदा कर्मसु काम्येषु०'

रत्नप्रभा

इत्यर्थः। यथाश्रुतम् आदाय शङ्कते—तत्कार्यमपीति। उक्तमर्थं प्रकटयति—तत्र ब्रूम इत्यादिना। अवगतिः वृत्तिः घटादिवत् सत्यापि प्रातिभासिकस्वप्नदृष्टवस्तुनः फलम्, चैतन्यं वा वृत्त्यभिव्यक्तम् अवगतिशब्दार्थः। प्रसङ्गाद् देहात्मवादोऽपि निरस्तः इत्याह—एतेनेति। स्वप्नस्थावगतेः स्वप्नदेहधर्मत्वे उत्थितस्य "मया तादृशः स्वप्नोऽवगतः" इत्यबाधितावगतिप्रतिसन्धानं न स्यात्, अतो देहभेदेऽपि अनुसन्धानदर्शनाद् देहादन्यः अनुसन्धाता इत्यर्थः। असत्यात् सत्यस्य ज्ञानं न जायते इति द्वितीयनियमस्य श्रुत्या व्यभिचारमाह—

रत्नप्रभाका अनुवाद

व्यभिचार है, ऐसा अर्थ है। यथाश्रुत अर्थको लेकर शंका करते हैं—"तत्कार्यमपि" इत्यादिसे। उक्त अर्थका स्पष्टीकरण करते हैं—"तत्र ब्रूमः इत्यादिसे। अवगति—अन्तःकरणकी वृत्ति, वह व्यवहार दशामें घटके तुल्य सत्य ही काल्पनिक स्वप्नमें दृष्ट वस्तुका फल है, अथवा वृत्तिमें अभिव्यक्त चैतन्य ही सत्य फल अवगति शब्दका अर्थ है। प्रसंगसे देहात्मवाद—चार्वाक मतका भी निरास हो गया, ऐसा कहते हैं—"एतेन" इत्यादिसे। स्वप्नमें होनेवाला ज्ञान यदि स्वप्नदेहका धर्म हो, तो उठनेके अनन्तर पुरुषको 'मुझे अमुक स्वप्न ज्ञात हुआ' इस प्रकार अबाधित ज्ञानका प्रतिसंधान नहीं होगा। इसलिए देहभेद होनेपर भी अनुसंधान दिखाई देनेके कारण देहसे अन्य अनुसंधाता है, ऐसा अर्थ है। असत्यसे सत्यका ज्ञान नहीं होता, इस द्वितीय नियमका व्यभिचार श्रुतिसे दिखलाते

भाष्य

समृद्धिं तत्र जानीयात्तस्मिन् स्वप्ननिदर्शने ॥' (छा० ५।२।९) इत्यसत्येन स्वप्नदर्शनेन सत्यायाः समृद्धेः प्रतिपत्तिं दर्शयति। तथा प्रत्यक्षदर्शनेषु केषुचिदरिष्टेषु जातेषु 'न चिरमिव जीविष्यतीति विद्यात्' इत्युक्त्वा 'अथ स्वप्ने यः पुरुषं कृष्णं कृष्णदन्तं पश्यति स एनं हन्ति' इत्यादिना तेनाऽसत्येनैव स्वप्नदर्शनेन सत्यं मरणं सूच्यत इति दर्शयति। प्रसिद्धं चेदं लोकेऽन्वयव्यतिरेककुशलानामीदृशेन स्वप्नदर्शनेन साध्वागमः सूच्यते ईदृशेनाऽसाध्वागमः इति। तथाऽकारादिसत्याक्षरप्रतिपत्तिर्दृष्टा

भाष्यका अनुवाद

(जब किसी कामनाके लिए कर्म करता हुआ पुरुष स्वप्नमें स्त्रीको देखता है, तब यह समझना चाहिए कि उसके कर्ममें सफलता होगी) यह श्रुति असत्य स्वप्नदर्शनसे सत्य समृद्धिकी प्राप्ति दिखलाती है। इसी प्रकार कितने ही अरिष्ट पदार्थोंका प्रत्यक्ष दर्शन होनेपर 'न चिरमिव०' (चिरकाल तक न जीएगा) ऐसा कहकर 'अथ यः स्वप्ने पुरुषं कृष्णं०' (जो स्वप्नमें कोई काले दांतवाले काले पुरुषको देखता है, तो वह इसको मारता है) इत्यादिसे श्रुति असत्य स्वप्न दर्शनसे ही सत्य मरणकी सूचना करती है। यह लोकमें प्रसिद्ध है कि अन्वय-व्यतिरेकमें कुशल पुरुषोंको—अमुक स्वप्नदर्शनसे शुभप्राप्तिकी सूचना होती है, अमुकसे अशुभ प्राप्तिकी सूचना होती है, ऐसा ज्ञान होता है। इसी प्रकार रेखाओंमें असत्य अक्षरोंके ज्ञानसे अकार आदि सत्य अक्षरोंका ज्ञान होता

रत्नप्रभा

तथा च श्रुतिरिति। न च स्त्रियो मिथ्यात्वेऽपि तद्दर्शनात् सत्यायाः समृद्धेः ज्ञानमिति वाच्यम्, विषयविशिष्टत्वेन दर्शनस्यापि मिथ्यात्वात्, प्रकृतेऽपि सत्ये ब्रह्मणि मिथ्यावेदानुगतचैतन्यात् ज्ञानसम्भवाच्च इति भावः। असत्यात् सत्यस्य इष्टस्य ज्ञानमुक्त्वा अनिष्टस्य ज्ञानमाह—तथेति। असत्यात सत्यस्य

रत्नप्रभाका अनुवाद

हैं—"तथा च श्रुतिः" इत्यादिसे। स्वप्नमें स्त्रीके मिथ्या होनेपर भी उसका दर्शन सत्य है, उस सत्य दर्शनसे ही सत्य समृद्धिका ज्ञान होता है, यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि विषयविशिष्ट दर्शन भी मिथ्या ही है, प्रकृतमें भी मिथ्याज्ञानमें अनुगत चैतन्यसे सत्य ब्रह्मका ज्ञान हो सकता है, यह तात्पर्य है। असत्यसे सत्यरूप इष्टका ज्ञान कहकर अनिष्टका ज्ञान कहते हैं—"तथा" इत्यादिसे। असत्यसे सत्यका ज्ञान होता है, इस विषयमें अन्य दृष्टान्त कहते

रत्नप्रभा

ज्ञाने दृष्टान्तान्तरम् आह—तथाऽकारादिति । रेखासु अकारत्वादिभ्रान्त्या सत्या अकारादयो ज्ञायन्ते इति प्रसिद्धम् इत्यर्थः । एवम् असत्यात् सत्यस्य जन्मोक्त्या यद् अर्थक्रियाकारि तत्सत्यम् इति नियमो भग्नः । अनृतात् सत्यस्य ज्ञानोक्त्या यद् अनृतकारणगम्यम्, तद् बाध्यम्, कूटलिङ्गानुमितवह्निवत् इति व्याप्तिः भग्ना । तथा च कल्पितानामपि वेदान्तानां सत्यब्रह्मबोधकत्वं सम्भवति इति तात्त्विकं प्रामाण्यमिति भावः । यदुक्तम् एकत्वनानात्वव्यवहारसिद्धये उभयं सत्यमिति । तन्न । भेदस्य लोकसिद्धस्य अपूर्वफलवदभेदविरोधेन सत्यत्वकल्पनायोगात् । किञ्च, यदि उभयोरेकदा व्यवहारः स्यात्, तदा स्यादपि सत्यत्वं नैवमस्ति,

रत्नप्रभाका अनुवाद

है—"तथाऽकारादि" इत्यादिसे । रेखाओंमें अकारत्व आदिके भ्रमसे सत्य अकार आदिका ज्ञान होता है, यह प्रसिद्ध है, ऐसा अर्थ है[२] । इस प्रकार असत्यसे सत्यकी उत्पत्ति कहनेसे जो अर्थक्रियाकारक है, वह सत्य है, इस नियमका उच्छेद होता है। असत्यसे सत्यका ज्ञान होता है, इस कथनसे जो असत्य करणोंसे ज्ञात होता है, वह बाध्य है, कूट लिंगोंसे अनुमित वह्निके समान, इस व्याप्तिका भंग होता है । इस प्रकार कल्पित वेदान्त भी सत्य ब्रह्मका बोध करा सकते हैं, इसलिए उनमें पारमार्थिक प्रामाण्य है, यह तात्पर्य है । यह जो कहा है कि एकत्व और नानात्व व्यवहारकी सिद्धिके लिए दोनों सत्य हैं, वह ठीक नहीं है, क्योंकि लोकसिद्ध भेद अपूर्वफलके तुल्य अभेदसे विरुद्ध है, अतः वह सत्य नहीं माना जा सकता । और दोनोंका यदि एक ही समयमें व्यवहार हो, तो सत्य हो भी सकें, परन्तु ऐसा नहीं है, क्योंकि अन्तके

---

(१) लिङ्गज्ञान ही अनुमितिकरण है, ज्ञायमान लिङ्ग अनुमितिकरण नहीं है, इस मतमें शुभाशुभ स्वप्न अनुमापक नहीं हैं । इसलिए स्वप्न भ्रमरूप होनेपर भी उसका ज्ञान प्रमा होनेसे असत्यसे सत्यके ज्ञानकी उत्पत्तिमें यह दृष्टान्त युक्त नहीं हो सकता है, इसलिए अन्य दृष्टान्त कहते हैं—"तथाकारादि" इत्यादिसे ।

(२) रेखासे अकार आदि अक्षरोंकी अभिव्यक्ति होती है, ऐसा ज्ञान होता है, रेखा ही अक्षर हैं, ऐसा भ्रम तो नहीं होता । यदि पामरोंको होनेवाली रेखा ही अक्षर है, इस प्रतीतिके अनुसार भ्रम माना जाय, तो रेखाक्षरसे अतिरिक्त रेखाक्षर ज्ञानसे जन्य किस सत्य अक्षरकी प्रतीति होगी ? ऐसी शंका ठीक नहीं है, क्योंकि पुस्तकको देखनेवाले पुरुषको रेखाक्षर ज्ञानके बाद रेखाको विषय न करनेवाली जो प्रमारूप पद और वाक्यकी प्रतीति होती है, वह उदाहरणरूपसे विवक्षित है ।

वस्तुतस्तु धूलीपटलमें धूमभ्रम होनेके अनन्तर उत्पन्न परामर्शमें जायमान वह्निकी अनुमिति असन्दिग्ध परामर्शसे उत्पन्न होनेपर भी प्रमा होती है और कोई बाधक हो, तो सल्लिंग परामर्शसे उत्पन्न होनेपर भी कांचनमय पर्वत वह्निमान् है, इत्यादि अनुमिति अप्रमा होती है । इसलिए कारणगत प्रमात्व ज्ञानके प्रामाण्य और अप्रामाण्यका प्रयोजक नहीं है, किन्तु बाध अप्रामाण्यका और बाधाभाव प्रामाण्यका प्रयोजक है ।

भाष्य

रेखानृताक्षरप्रतिपत्तेः। अपि चाऽन्त्यमिदं प्रमाणमात्मैकत्वस्य प्रतिपादकं नाऽतः परं किञ्चिदाकाङ्क्ष्यमस्ति। यथा हि लोके यजेतेत्युक्ते किं केन कथमित्याकाङ्क्ष्यते नैवं 'तत्त्वमसि' 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्युक्ते किञ्चिदन्यदाकाङ्क्ष्यमस्ति, सर्वात्मैकत्वविषयत्वावगतेः। सति ह्यन्यस्मिन्नवशिष्यमाणेऽर्थे आकाङ्क्षा स्यात्, न त्वात्मैकत्वव्यतिरेकेणाऽवशिष्यमाणोऽन्योऽर्थोऽस्ति य आकाङ्क्ष्येत। न चेयमवगतिर्नोत्पद्यत इति शक्यं वक्तुम्, 'तद्धाऽस्य विजज्ञौ' (छा० ६।१६।३) इत्यादिश्रुतिभ्यः। अवगतिसाधनानां च

भाष्यका अनुवाद

है। और आत्माके एकत्वका प्रतिपादन करनेवाला यह प्रमाण सब प्रमाणोंमें अन्तिम है, इस एकत्वज्ञानके बाद कुछ भी अवशिष्ट नहीं रहता, जिसकी आकांक्षा हो। जैसे लोकमें 'यजेत' (यजन करे) ऐसा कहनेसे, किस फलके लिए, किससे और किस प्रकार ऐसी आकांक्षा होती है, इस प्रकार 'तत्त्वमसि' (वह तू है) 'अहं ब्रह्मास्मि' (मैं ब्रह्म हूँ) ऐसा बोध होनेपर कोई आकांक्षा नहीं होती, क्योंकि सर्वात्मा एक ही है, वह इस अवगतिका विषय है। कोई अन्य पदार्थ अवशिष्ट रहे, तो उसकी आकांक्षा हो, किन्तु आत्मैकत्वसे भिन्न अन्य पदार्थ शेष नहीं रहता, जिसकी आकांक्षा की जाय। यह अवगति उत्पन्न नहीं होती, ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि 'तद्धास्य०' (पिताके उपदेशसे श्वेतकेतुने आत्मतत्त्व-

रत्नप्रभा

एकत्वज्ञानेन चरमेण अनपेक्षेण नानात्वस्य निश्शेषं बाधात् शुक्तिज्ञानेनेव रजतस्य इत्याह—अपि चाऽन्त्यमिति। ननु उपजीव्यद्वैतप्रमाणविरोधात् एकत्वावगतिर्नोत्पद्यते इत्यत आह—न चेयमिति। तत् किल आत्मतत्त्वम् अस्य पितुः वाक्यात् श्वेतकेतुः विज्ञातवान् इति ज्ञानोत्पत्तेः श्रुतत्वात्, सामग्रीसत्त्वाच्च इत्यर्थः। व्यावहारिकगुरुशिष्यादिभेदम् उपजीव्य जायमानवाक्यार्थावगतेः

रत्नप्रभाका अनुवाद

निरपेक्ष एकत्वज्ञानसे नानात्वका निःशेष बाध हो जाता है, जैसे कि शुक्तिज्ञानसे रजतका बाध होता है, ऐसा कहते हैं—"अपि चान्त्यम्" इत्यादिसे। परन्तु उपजीव्य द्वैत प्रमाणसे विरोध होनेके कारण एकत्वज्ञान उत्पन्न नहीं हो सकता है, इसपर कहते हैं—"न चेयम्" इत्यादि। अपने पिताके वाक्यसे श्वेतकेतुने आत्मतत्त्वको जाना, इस प्रकार ज्ञानोत्पत्ति श्रुतिमें कही गई है और ज्ञानोत्पत्तिकी सामग्रियाँ भी हैं, यह तात्पर्य है। व्यावहारिक गुरु,

भाष्य

श्रवणादीनां वेदानुवचनादीनां च विधानात्। न चेयमवगतिरनर्थिका भ्रान्तिर्वेति शक्यं वक्तुम्, अविद्यानिवृत्तिफलदर्शनात्, बाधकज्ञानान्तरा-

भाष्यका अनुवाद

को यथार्थरूपसे जाना) इत्यादि श्रुतियां हैं । और श्रवण आदि अवगति-के साधन एवं वेदके पठन आदिका विधान है । और यह अवगति प्रयोजन-रहित है या भ्रान्ति है, ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उसका अविद्या-

रत्नप्रभा

प्रत्यक्षादिगतं व्यावहारिकं प्रामाण्यम् उपजीव्यम्, तच्च पारमार्थिकैकत्वावगत्या न विरुध्यते, किन्तु तया विरोधानुपजीव्यं प्रत्यक्षादेः तात्त्विकं प्रामाण्यं बाध्यते इति भावः । किञ्च, एकत्वावगतेः फलवत्प्रमात्वात् निष्फलो द्वैतभ्रमो बाध्य इत्याह— न चेयमिति । ननु सर्वस्य द्वैतस्य मिथ्यात्वे स्वप्नो मिथ्या जाग्रत् सत्यमित्यादि-लौकिको व्यवहारः सत्यं चाऽनृतं च सत्यमभवत् इति वैदिकश्च कथम् इति आशङ्कय

रत्नप्रभाका अनुवाद

शिष्य आदि भेदका आश्रय करके होनेवाले वाक्यार्थज्ञानमें प्रत्यक्षादिगत व्यावहारिक प्रामाण्य उपजीव्य है, वह पारमार्थिक एकत्वज्ञानसे विरुद्ध नहीं है, किन्तु उससे विरोधका अनुपजीव्य प्रत्यक्षादिगत पारमार्थिक प्रामाण्यका बाध होता है, ऐसा आशय है। और एकत्वावगति सफल यथार्थज्ञान है, उससे निष्फल द्वैतभ्रमका बाध होता है, ऐसा कहते हैं— "न चेयम्" इत्यादिसे । यदि सब द्वैत मिथ्या हों, तो स्वप्न मिथ्या है, जाग्रत् सत्य है, इत्यादि लौकिक व्यवहार और 'सत्यं चानृतं च०' (सत्य और असत्य सब सत्य ब्रह्म ही है)

(१) यदि कोई कहे कि निष्प्रपंच, चैतन्यमात्र परमार्थ है, ऐसा जो वेदान्तोंमें प्रतिपादित है, उसका भी सर्वशून्यताप्रतिपादक अवैदिक आगमसे बाध-सा प्रतीत होता ही है । सर्व-शून्यताप्रतिपादक आगम पौरुषेय होनेसे दोषमूलक हो सकता है, इसलिए दुर्बल है, उससे निर्दोष, अपौरुषेय वेदप्रतिपाद्य अर्थका बाध नहीं होता है, ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि सब प्रपंच अविद्यात्मकदोषमूलक है, इस मतमें वेद भी प्रपंचान्तर्गत होनेके कारण दोषमूलक है, इस प्रकार दोनोंमें दोषमूलकत्व समान है, अतः बाधक ज्ञानान्तर है। यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि चैतन्यमात्र परमार्थ है, जड़समूह उस चैतन्यमें अध्यस्त है, एवं अनृत है, यह वेदान्तोंका अर्थ है। इस अर्थका उपपादक होनेसे ही प्रपञ्च अविद्यानामकदोषमूलक है, ऐसी कल्पना की जाती है, क्योंकि असत्य शुक्तिरजत आदि दोषमूलक देखे जाते हैं। वेदान्तार्थके ज्ञानके पहले ही प्रपंच दोषमूलक है, यह ज्ञान नहीं होता है। इसलिए वेदान्तार्थके प्रामाण्यके उपपादनके लिए कल्प्यमान दोषमूलताकी उस प्रकार कल्पना होगी, जैसे प्रामाण्यका बाध न हो, जैसे कि स्वर्ग और यागमें साध्यसाधनभावके निर्वाहके लिए कल्प्यमान अपूर्वकी व्यापाराविधया कल्पना की जाती है। दोष

भाष्य

भावाच्च। प्राक्चाऽऽत्मैकत्वावगतेरव्याहतः सर्वः सत्यानृतव्यवहारो लौकिको वैदिकश्चेत्यवोचाम। तस्मादन्त्येन प्रमाणेन प्रतिपादिते आत्मैकत्वे समस्तस्य प्राचीनस्य भेदव्यवहारस्य बाधितत्वान्नाऽनेकात्मकब्रह्मकल्पनावकाशोऽस्ति। ननु मृदादिदृष्टान्तप्रणयनात् परिणामवद् ब्रह्म शास्त्रस्याऽभिमतमिति गम्यते, परिणामिनो हि मृदादयोऽर्था लोके समधिगता इति।

भाष्यका अनुवाद

निवृत्तिरूप फल देखा जाता है और अन्य कोई बाधक ज्ञान भी नहीं है। आत्मैकत्वकी अवगतिके पूर्व सत्य और अनृत, लौकिक और वैदिक सब व्यवहार ज्योंके त्यों रहते हैं ऐसा हम पीछे कह चुके हैं। सर्वोत्कृष्ट प्रमाणसे आत्मैकत्वका प्रतिपादन होनेपर पूर्वके समस्त भेदव्यवहार बाधित हो जाते हैं, अतः अनेकस्वरूपवाले ब्रह्मकी कल्पनाके लिए अवकाश नहीं है। परन्तु मृत्तिका आदि दृष्टान्त दिये हैं, उनसे परिणामयुक्त ब्रह्म शास्त्रका अभिमत है, ऐसा समझा जाता है, क्योंकि लोकमें मृत्तिका आदि पदार्थ परि-

---

रत्नप्रभा

यथा स्वप्ने इदं सत्यम् इदम् अनृतमिति तात्कालिकबाधाबाधाभ्यां व्यवहारः, तथा दीर्घस्वप्नेऽपि इति उक्तस्वप्नदृष्टान्तं स्मारयति—**प्राक्चेति**। व्यवहारार्थं नानात्वं सत्यमिति कल्पनम् असङ्गतम् इत्युपसंहरति—**तस्मादिति**। नेदं कल्पितं किन्तु श्रुतम् इति शङ्कते—**नन्विति**। कार्यकारणयोः अनन्यत्वांशे अयं दृष्टान्तः, न परिणामित्वे ब्रह्मणः कूटस्थत्वश्रुतिविरोधाद् इति परिहरति—

रत्नप्रभाका अनुवाद

इत्यादि वैदिक व्यवहार कैसे उपपन्न होते हैं, ऐसी आशंका कर जैसे स्वप्नमें यह सत्य है, यह असत्य है, इस प्रकार तत्कालजन्य बाध और बाधाभावसे व्यवहार होता है, उसी प्रकार दीर्घ स्वप्नमें भी है, ऐसा पूर्वकथित दृष्टान्तका स्मरण कराते हैं—"प्राक् च" इत्यादिसे। व्यवहारके लिए नानात्वके सत्यत्वकी कल्पना असंगत है, ऐसा उपसंहार करते हैं—"तस्माद्" इत्यादिसे। यह कल्पित नहीं है, किन्तु श्रुत्युक्त है, ऐसी शंका करते हैं—"ननु" इत्यादिसे। कार्य और कारण अभिन्न हैं, इस विषयमें यह दृष्टान्त है, परिणामित्वमें नहीं, क्योंकि ब्रह्मको

बहुविध हैं। उनमें अविद्याख्य दोष असंग चैतन्यमें प्रपंचका केवल आरोप करता है, वेदान्तजन्य ज्ञानमें बाधितार्थत्वका आपादन नहीं करता, क्योंकि उसकी उसी प्रकार कल्पना की जाती है। इसलिए अप्रमाणभूत शून्यवादसे प्रमाणभूत वेदान्तार्थका बाध नहीं होता।

भाष्य

नेत्युच्यते, 'स वा एष महानज आत्माऽजरोऽमरोऽमृतोऽभयो ब्रह्म' (बृ० ४।५।२५) 'स एष नेति नेत्यात्मा' (बृ० ३।९।२६) 'अस्थूलमनणु' (बृ० ३।८।८) इत्याद्याभ्यः सर्वविक्रियाप्रतिषेधश्रुतिभ्यो ब्रह्मणः कूटस्थत्वावगमात् । नह्येकस्य ब्रह्मणः परिणामधर्मत्वं तद्रहितत्वं च शक्यं प्रतिपत्तुम् । स्थितिगतिवत्स्यादिति चेत् । न । कूटस्थस्येति विशेषणात् । नहि कूटस्थस्य ब्रह्मणः स्थितिगतिवदनेकधर्माश्रयत्वं सम्भवति । कूटस्थं च नित्यं ब्रह्म

भाष्यका अनुवाद

णामयुक्त उपलब्ध होते हैं । नहीं, ऐसा कहते हैं, क्योंकि 'स वा एष महानज०' (यह आत्मा महान्, जन्मरहित, जरारहित, मरणरहित, अमृत, अभय ब्रह्म है) 'स एष नेति०' (यह नहीं, इस प्रकार अन्यके निषेध द्वारा मधुकांडमें आत्मा निर्दिष्ट है) 'अस्थूल०' (स्थूल नहीं, सूक्ष्म नहीं) इत्यादि सब विक्रियाओंका प्रतिषेध करनेवाली श्रुतियोंसे ब्रह्म कूटस्थ है, ऐसा समझा जाता है। एक ही ब्रह्म परिणामी और परिणामरहित नहीं माना जा सकता । स्थिति और गतिके समान होगा, यह कथन भी ठीक नहीं है, क्योंकि 'कूटस्थस्य' (कूटस्थका) ऐसा विशेषण है । कूटस्थ ब्रह्म स्थिति और गतिके समान अनेक धर्मोंका आश्रय हो, यह नहीं हो सकता, ब्रह्म कूटस्थ और नित्य है, क्योंकि सब विक्रियाओंका

रत्नप्रभा

नेत्युच्यत इति । सृष्टौ परिणामित्वम्, प्रलये तद्राहित्यं च क्रमेण अविरुद्धम् इति दृष्टान्तेन शङ्कते—स्थितीति । कूटस्थस्य कदाचिदपि विक्रिया न युक्ता, कूटस्थत्वव्याघाताद् इत्याह—नेति । कूटस्थत्वासिद्धिम् आशङ्क्य आह—कूटस्थस्येति । कूटस्थस्य निरवयवस्य पूर्वरूपत्यागेन अवस्थान्तरात्मकपरिणाम-

रत्नप्रभाका अनुवाद

कूटस्थ कहनेवाली श्रुतिसे विरोध होता है, इस प्रकार शंकाका परिहार करते हैं—"नेत्युच्यते" इत्यादिसे । सृष्टिकालमें ब्रह्म परिणामधर्मवाला है, प्रलयमें उस धर्मसे रहित है, इस प्रकार दोनों क्रमसे होनेके कारण अविरुद्ध हैं, दृष्टान्तप्रदर्शनपूर्वक ऐसी शंका करते हैं—"स्थिति" इत्यादिसे। कूटस्थका कभी विकार नहीं हो सकता है, यदि हो जाय तो कूटस्थत्वका ही व्याघात हो जायगा, ऐसा कहते हैं—"न" इत्यादिसे । कूटस्थत्वकी असिद्धिकी आशंका करके कहते हैं— "कूटस्थस्य" इत्यादि । आशय यह कि अवयवरहित कूटस्थका पूर्वरूपके परित्यागसे रूपान्तरप्राप्तिरूप परिणाम नहीं हो सकता है, इसलिए प्रपंच शुक्तिरजतके समान विवर्त ही है । और

भाष्य

सर्वविक्रियाप्रतिषेधादित्यवोचाम। न च यथा ब्रह्मण आत्मैकत्वदर्शनं मोक्षसाधनमेवं जगदाकारपरिणामित्वदर्शनमपि स्वतन्त्रमेव कस्मैचित् फलायाऽभिप्रेयते, प्रमाणाभावात्। कूटस्थब्रह्मात्मत्वविज्ञानादेव हि फलं दर्शयति शास्त्रम्—'स एष नेति नेत्यात्मा' इत्युपक्रम्य 'अभयं वै जनक प्राप्तोऽसि' (बृ० ४।२।४) इत्येवंजातीयकम्। तत्रैतत् सिद्धं भवति—ब्रह्मप्रकरणे सर्वधर्मविशेषरहितब्रह्मदर्शनादेव फलसिद्धौ सत्यां यत् तत्राऽफलं श्रूयते ब्रह्मणो जगदाकारपरिणामित्वादि तद् ब्रह्मदर्शनोपायत्वेनैव विनियुज्यते, फलवत्संनिधावफलं तदङ्गमितिवत्, न तु स्वतन्त्रम् फलाय कल्प्यत इति। नहि परिणामवत्त्वविज्ञानात् परिणामवत्त्वमात्मनः फलं

भाष्यका अनुवाद

प्रतिषेध है, ऐसा हमने कहा है। और जैसे ब्रह्म आत्मासे अभिन्न है यह ज्ञान मोक्षका साधन है, वैसे ब्रह्म जगद्रूपसे परिणत होता है, यह ज्ञान स्वतंत्र ही किसी भी फलके लिये अभिप्रेत नहीं है, क्योंकि इसमें प्रमाण नहीं है। कूटस्थ ब्रह्म आत्मा है, इस विज्ञानसे ही 'स एष नेति नेत्यात्मा' (नहीं, नहीं, ऐसा जो [चतुर्थ मधुकांडमें निर्दिष्ट है] वह आत्मा है) ऐसा उपक्रमकरके 'अभयं वै' (हे जनक तुम! अभयको प्राप्त हुए हो) इत्यादि शास्त्र फल दिखलाता है। यहां यह सिद्ध है—ब्रह्मप्रकरणमें सर्वधर्मविशेषरहित ब्रह्मके ज्ञानसे ही फलसिद्धि होती है, इसलिए वहां जो ब्रह्म जगद्रूपसे परिणत होता है, इत्यादि अफल रूपसे प्रतिपादित है, उसका ब्रह्मदर्शनके उपायरूपसे ही विनियोग है, जैसे कि फलवालेकी संनिधिमें अफल उसका अंग होता है, परन्तु स्वतंत्र रूपसे फल देनेके लिए उसकी कल्पना नहीं की जाती। निश्चय, ब्रह्म परिणामवाला है,

रत्नप्रभा

योगात् शुक्तिरजतवद् विवर्त एव प्रपञ्च इति भावः। किञ्च, निष्फलस्य जगतः फलवन्निष्प्रपञ्चब्रह्मधीशेषत्वेन अनुवादात् न सत्यता इत्याह—न च यथेत्यादिना। "तं यथा यथोपासते तदेव भवति" इति श्रुतेः ब्रह्मणः परिणामित्व-

रत्नप्रभाका अनुवाद

सफल प्रपंच रहित ब्रह्मज्ञानके अंगरूपसे निष्फल जगत्का अनुवाद है, इसलिए जगत् सत्य नहीं है, ऐसा कहते हैं—"न च यथा" इत्यादिसे। 'तं यथा यथोपासते०' (ब्रह्मकी जिस जिस रूपसे उपासना करता है, उसी रूपको प्राप्त करता है) इस श्रुतिसे ज्ञात होता है कि ब्रह्म परिणामी है, अतः वह परिणाम ही विद्वानको फल प्राप्त होता है, ऐसी आशंका कर कहते हैं—

भाष्य

स्यादिति वक्तुं युक्तं, कूटस्थनित्यत्वान्मोक्षस्य। ननु ब्रह्मात्मवादिन एकत्वैकान्त्यादीशित्रीशितव्याभावे ईश्वरकारणप्रतिज्ञाविरोध इति चेत्, न; अविद्यात्मकनामरूपबीजव्याकरणापेक्षत्वात् सर्वज्ञत्वस्य। 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः' (तै० २।१) इत्यादिवाक्येभ्यो नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वरूपात् सर्वज्ञात् सर्वशक्तेरीश्वराज्जगज्जनिस्थितिप्रलयाः, नाऽचेतनात् प्रधानादन्यस्माद् वेत्येषोऽर्थः प्रतिज्ञातः 'जन्मा-

भाष्यका अनुवाद

इस विज्ञानसे आत्मा परिणामवाला है, यह फल होगा, ऐसा कहना युक्त नहीं है, क्योंकि मोक्ष कूटस्थ नित्य है। कूटस्थ ब्रह्म आत्मा है, ऐसा जिसका मत है, उसके मतमें अव्यभिचरित एकत्व होनेसे ईशिता[1] और ईशितव्य[2]का अभाव होनेसे ईश्वर जगत्कारण है, इस प्रतिज्ञासे विरोध होगा, ऐसा कहो, तो ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि सर्वज्ञत्वको अविद्यात्मक नाम और रूप बीजके स्पष्टीकरण करनेकी अपेक्षा है, 'तस्माद्वा०' (उस आत्मासे आकाश उत्पन्न हुआ) इत्यादि वाक्योंसे नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्तस्वरूप, सर्वज्ञ, सर्वशक्तियुक्त, ईश्वरसे जगत्के जन्म, स्थिति और प्रलय होते हैं, अचेतन प्रधानसे या अन्यसे नहीं, इस

रत्नप्रभा

विज्ञानात् तत्प्राप्तिः विदुषः फलम् इति आशङ्क्य आह—नहि परिणामवत्त्वेति। "ब्रह्मविदाप्नोति परम्" (तै० २।१।१) इति श्रुतकूटस्थनित्यमोक्षफलसंभवे दुःखानित्यपरिणामित्वफलकल्पनायोगाद् इति भावः। ननु पूर्वं "जन्माद्यस्य यतः" (ब्र० सू० १।१।२) इति ईश्वरकारणप्रतिज्ञा कृता अधुना "तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः" (ब्र० सू० २।१।१४) इत्यत्यन्ताभेदप्रतिपादने ईशित्रीशितव्यभेदाभावात् तद्विरोधः स्याद् इति शङ्कते—कूटस्थेति। कल्पितद्वैतम्

रत्नप्रभाका अनुवाद

"नहि परिणामवत्त्व" इत्यादि। 'ब्रह्मविदाप्नोति०' (ब्रह्मवेत्ता पर ब्रह्मको प्राप्त करता है) इस श्रुतिसे कथित कूटस्थ, नित्य मोक्षरूप फलका संभव है तो दुःख, अनित्य, परिणामी रूप फलकी कल्पना उचित नहीं है, ऐसा आशय है। परन्तु पहले 'जन्माद्यस्य यतः' से ईश्वर कारण है, ऐसी प्रतिज्ञा की गई है, अब 'तदनन्यत्व०' सूत्रसे अत्यन्त अभेदका प्रतिपादन करनेसे ईशिता और ईशितव्यमें कोई भेद न होनेसे उस प्रतिज्ञाका विरोध होगा, ऐसी शंका करते हैं—"कूटस्थ" इत्यादिसे। कल्पित द्वैतकी अपेक्षासे ईश्वरत्व आदि कहे गये हैं, परमार्थतः अभेद है, इस प्रकार अविरोध कहते हैं—"न" इत्यादिसे। जीवात्मक,

[1] नियम में रखनेवाला। [2] नियम्य, जिसको नियममें रक्खा जाय।

भाष्य

द्यस्य यतः' (ब्र० सू० १।१।४) इति। सा प्रतिज्ञा तदवस्थैव न तद्विरुद्धोऽर्थः पुनरिहोच्यते। कथं नोच्यतेऽत्यन्तमात्मन एकत्वमद्वितीयत्वं च ब्रुवता? शृणु यथा नोच्यते—सर्वज्ञस्येश्वरस्याऽऽत्मभूत इवाऽविद्याकल्पिते नामरूपे तत्त्वान्यत्वाभ्यामनिर्वचनीये संसारप्रपञ्चबीजभूते सर्वज्ञस्येश्वरस्य मायाशक्तिः प्रकृतिरिति च श्रुतिस्मृत्योरभिलप्येते, ताभ्यामन्यः सर्वज्ञ ईश्वरः 'आकाशो वै नाम नामरूपयोर्निर्वहिता ते यदन्तरा तद् ब्रह्म'

भाष्यका अनुवाद

अर्थकी 'जन्माद्यस्य यतः' इस सूत्रमें प्रतिज्ञा की गई है। वह प्रतिज्ञा वैसी ही है, यहां उससे कुछ विरुद्ध नहीं कहा जाता। आत्मा अत्यन्त एक और अद्वितीय है, ऐसा तुम्हारे प्रतिपादन करनेसे यह कथन विरुद्ध क्यों नहीं है? ऐसा यदि कहो तो सुनो, सर्वज्ञ ईश्वरके आत्मभूतसे, अविद्यासे कल्पित, तत्त्व या अन्यत्वसे अनिर्वचनीय एवं संसाररूप प्रपंचके बीजभूत नाम और रूप सर्वज्ञ ईश्वरकी मायाशक्ति और प्रकृतिरूपसे श्रुति और स्मृतिमें कहे गये हैं। उन दोनोंसे भिन्न सर्वज्ञ ईश्वर है, क्योंकि 'आकाशो वै नाम०' (आकाश—आत्मा नाम और रूपका व्याकरण—निर्माण करनेवाला है, ये दोनों

रत्नप्रभा

अपेक्ष्य ईश्वरत्वादिकं परमार्थतः अनन्यत्वमिति अविरोधमाह—नेत्यादिना। अविद्यात्मके चिदात्मनि लीने नामरूपे एव बीजम्, तस्य व्याकरणं स्थूलात्मना सृष्टिः, तदपेक्षत्वाद् ईश्वरत्वादेः न विरोध इत्यर्थः। संगृहीतार्थं विवृणोति—तस्मादित्यादिना। तत्त्वान्यत्वाभ्यामिति। नामरूपयोः ईश्वरत्वं वक्तुमशक्यम्, जडत्वात्; नापि ईश्वराद् अन्यत्वम्, कल्पितस्य पृथक् सत्तास्फूर्त्योः अभावाद् इत्यर्थः। संस्कारात्मकनामरूपयोः अविद्यैक्यविवक्षया ब्रूते—मायेति। नामरूपे चेद् ईश्वरस्य

रत्नप्रभाका अनुवाद

चिदात्मामें लीन नाम और रूप ही बीज हैं, नाम और रूपका व्याकरण—स्थूलरूपसे सृष्टि, उसकी अपेक्षासे ईश्वरत्व आदि है, इसलिए विरोध नहीं है, ऐसा अर्थ है। संगृहीत अर्थका विवरण करते हैं—"तस्माद्" इत्यादिसे। "तत्त्वान्यत्वाभ्याम्" इत्यादि। नाम और रूपको ईश्वर नहीं कह सकते, क्योंकि वे जड हैं, ईश्वरसे भिन्न भी नहीं कह सकते, क्योंकि कल्पित पदार्थकी अधिष्ठानसे पृथक् सत्ता और स्फूर्ति नहीं रहती, यह अर्थ है। संस्कारात्मक नाम और रूपको अविद्यासे अभिन्न कहते हैं—"माया" इत्यादिसे। यदि नाम और रूप ईश्वरके

भाष्य

(छा० ८।१४।१) इति श्रुतेः । नामरूपे व्याकरवाणि' (छा० ६।३।२), 'सर्वाणि रूपाणि विचित्य धीरो नामानि कृत्वाऽभिवदन्यदास्ते' (तै० आ० ३।१२।७), 'एकं बीजं बहुधा यः करोति' (श्वे० ६।१२) इत्यादिश्रुतिभ्यश्च । एवमविद्याकृतनामरूपोपाध्यनुरोधीश्वरो भवति, व्योमेव घटकरकाद्युपाध्यनुरोधि । स च स्वात्मभूतानेव घटाकाशस्थानीयानविद्याप्रत्युपस्थापितनामरूपकृतकार्यकरणसंघातानुरोधिनो जीवाख्यान् विज्ञानात्मनः प्रतीष्टे व्यवहारविषये । तदेवमविद्यात्मकोपाधिप-

भाष्यका अनुवाद

जिसके भीतर हैं, वह ब्रह्म है) ऐसी श्रुति है, और 'नामरूपे व्याकरवाणि' (मैं नाम और रूपको व्यक्त करूँगा,) 'सर्वाणि रूपाणि विचित्य०' (धीर—परमात्मा ही सब रूपोंको उत्पन्न करके सबका नाम रखकर और उनमें प्रविष्ट होकर बोलना-चालना आदि व्यवहारोंको करता हुआ स्थित है। 'एकं बीजं बहुधा०' (एक बीजको जो बहुधा करता है) इत्यादि श्रुतियां हैं। इस प्रकार अविद्याजन्य नामरूप उपाधिका अनुरोधी ईश्वर होता है, जैसे कि घट करक आदि उपाधियोंका अनुरोधी आकाश होता है, और घटाकाशसदृश अविद्या द्वारा उत्थापित नाम और रूपसे किये हुये कार्यकारण संघातका अनुरोधी स्वात्मभूत जीवसंज्ञक विज्ञानात्माके ऊपर ही व्यवहारके विषयमें शासन करता है। इसलिये इस प्रकार अविद्यारूप उपाधिके परिच्छेदको

रत्नप्रभा

आत्मभूते, तर्हि ईश्वरो जड इत्यत आह—ताभ्यामन्य इ त । अन्यत्वे व्याकरणे च श्रुतिमाह—आकाश इत्यादिना । अविद्याद्युपाधिना कल्पितभेदेन बिम्बस्थानस्य ईश्वरत्वम्, प्रतिबिम्बभूतानां जीवानां नियम्यत्वम् इत्याह—स च स्वात्मभूतानिति । न चाऽत्र नानाजीवा भाष्योक्ता इति भ्रमितव्यम्, बुद्ध्यादि-

रत्नप्रभाका अनुवाद

स्वरूप हों, तो ईश्वर जड है, इसपर कहते हैं—"ताभ्यामन्यः" इत्यादि। ईश्वर नाम और रूपसे भिन्न है, नाम और रूपकी सृष्टि होती है, इस विषयमें श्रुति कहते हैं—"आकाश" इत्यादिसे। अविद्या आदि उपाधि द्वारा कल्पित भेदसे बिम्बस्थानीय ईश्वर है, प्रतिबिम्बभूत जीव नियम्य हैं, ऐसा कहते हैं—"स च स्वात्मभूतान्" इत्यादिसे। यहां भाष्यमें नाना जीव कहे गये हैं, ऐसा भ्रम नहीं करना चाहिए, क्योंकि बुद्धि आदिके समूहके भेदसे जीवोंका भेद कहा गया है, अविद्याप्रतिबिम्ब जीव तो एक ही है, यह कहा गया है। परमार्थमें तो ईश्वर आदि

भाष्य

रिच्छेदापेक्षमेवेश्वरस्येश्वरत्वं सर्वज्ञत्वं सर्वशक्तित्वं च न परमार्थतो विद्ययाऽपास्तसर्वोपाधिस्वरूपे आत्मनीशित्रीशितव्यसर्वज्ञत्वादिव्यवहार उपपद्यते। तथा चोक्तम्—'यत्र नान्यत् पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमा' (छा० ७।२४।१) इति, 'यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्येत्' (बृ० ४।५।१५) इत्यादिना च। एवं परमार्थावस्थायां सर्वव्यवहाराभावं वदन्ति वेदान्ताः सर्वे। तथेश्वरगीतास्वपि—

'न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः।
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते॥
नाऽऽदत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः।

भाष्यका अनुवाद

से ही ईश्वरका ईश्वरत्व, सर्वज्ञत्व और सर्वशक्तित्व है, परमार्थतः विद्या द्वारा सब उपाधियोंसे रहित आत्मामें ईशितृ, ईशितव्य, सर्वज्ञत्व आदि सब व्यवहार उपपन्न नहीं होते हैं। इसी प्रकार कहा है—'यत्र नान्यत् पश्यति' (जिसमें किसी दूसरेको नहीं देखता, किसी दूसरेको नहीं सुनता, किसी दूसरेको नहीं जानता, वह भूमा—ब्रह्म है) और 'यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत् तत् केन कं पश्येत्' (जिस कालमें इसका सब आत्मा ही हो गया, उस कालमें किससे किसको देखे) इत्यादिसे। इस प्रकार पारमार्थ अवस्थामें सब वेदान्त सब व्यवहारोंका अभाव कहते हैं। इसी प्रकार भगवान् गीतामें भी—'न कर्तृत्वं न कर्माणि' (प्रभु लोकोंका कर्तृत्व या कर्म अथवा कर्मफलका संयोग उत्पन्न नहीं करता, परन्तु स्वभाव (माया) प्रवृत्त होता है। विभु किसीके पाप या पुण्यका

रत्नप्रभा

संघातभेदेन भेदोक्तेः, अविद्याप्रतिबिम्बस्तु एक एव जीव इत्युक्तम्। परमार्थत ईश्वरत्वादिद्वैताभावे श्रुतिमाह—तथा चेति। कथं तर्हि कर्तृत्वादिकम् इत्यत आह—स्वभावस्त्विति। अनाद्यविद्यैव कर्तृत्वादिरूपेण प्रवर्तते इत्यर्थः। भक्ताभक्तयोः पापसुकृतनाशकत्वाद् ईश्वरस्य वास्तवम् ईश्वरत्वम् इत्यत आह—नाऽऽदत्त

रत्नप्रभाका अनुवाद

द्वैत नहीं है, इस विषयमें श्रुति कहते हैं—"तथा च" इत्यादिसे। तब ईश्वरमें कर्तृत्व आदि कैसे हैं, इसपर कहते हैं—"स्वभावस्तु" इत्यादि। अनादि अविद्या ही कर्तृत्व आदि रूपसे प्रवृत्त होती है, यह आशय है। ईश्वर भक्तोंके पापका नाश करता है और अभक्तोंके पुण्यका नाश करता है, इसलिए उसमें ईश्वरत्व वास्तविक है, इसपर कहते हैं—"नाऽऽदत्ते" इत्यादि।

भाष्य

अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः ॥' (गी० ५।१४।१५)

इति परमार्थावस्थायामीशित्रीशितव्यादिव्यवहाराभावः प्रदर्श्यते । व्यवहारावस्थायां तूक्तः श्रुतावपीश्वरादिव्यवहारः 'एष सर्वेश्वर एष भूताधिपतिरेष भूतपाल एष सेतुर्विधरण एषां लोकानामसंभेदाय' (बृ० ४।४।२२) । इति । तथा चेश्वरगीतास्वपि—

'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ।

भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥' (गी० १८।६१) इति । सूत्रकारोऽपि परमार्थाभिप्रायेण तदनन्यत्वमित्याह । व्यवहाराभिप्रायेण तु स्याल्लोकवदिति महासमुद्रस्थानीयतां ब्रह्मणः कथयति । अप्र-

भाष्यका अनुवाद

नाश नहीं करता, अज्ञानसे ज्ञान ढका हुआ है, उससे जन्तु मोहित होते हैं) इस प्रकार पारमार्थिक अवस्थामें ईशितृ, ईशितव्य आदि व्यवहारका अभाव दिखलाते हैं। व्यवहारावस्थामें तो श्रुतिमें भी ब्रह्मका ईश्वर आदि रूपसे व्यवहार कहा गया है—"एष सर्वेश्वर एष०" (यह सबका ईश्वर है, यह सब भूतोंका अधिपति है, यह भूतोंका पालक है। लोकोंकी मर्यादा असंभिन्न न होनेके लिये यह व्यवस्था करनेवाला सेतु है)। इसी प्रकार भगवद्गीतामें भी— 'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति' (हे अर्जुन, यन्त्रारूढ जैसे सब प्राणियोंको मायासे घुमाता हुआ ईश्वर सब भूतोंके हृदयस्थानमें रहता है) सूत्रकार भी परमार्थके अभिप्रायसे 'तदनन्यत्वम्'० (कार्यकारणका अनन्यत्व—अभेद) ऐसा सूत्रमें कहते हैं। व्यवहारके अभिप्रायसे 'स्याल्लोकवत्' (विभाग होगा लोकके समान) इस प्रकार ब्रह्मको महा समुद्र जैसा कहते हैं। और कार्य प्रपंचका

रत्नप्रभा

इति । न संहरति इत्यर्थः । तेन स्वरूपज्ञानावरणेन कर्ताऽहम् ईश्वरो मे नियन्ता इत्येवं भ्रमन्ति । उक्तार्थः सूत्रकारसम्मत इत्याह—सूत्रकारोऽपीति । न केवलं लौकिकव्यवहारार्थं परिणामप्रक्रियाश्रयणम्, किन्तु उपासनार्थं च इत्याह—

रत्नप्रभाका अनुवाद

नादत्ते—नाश नहीं करता है। अपने स्वरूपज्ञानके आवृत होनेसे मैं कर्ता हूँ, ईश्वर मेरा नियन्ता है, इस प्रकार भ्रममें पड़े रहते हैं। पूर्वोक्त विषय सूत्रकारको भी सम्मत है, ऐसा कहते हैं—"सूत्रकारोऽपि" इत्यादिसे। केवल लौकिक व्यवहारके लिए ही परिणामप्रक्रिया नहीं

भाष्य

त्याख्यायैव कार्यप्रपञ्चं परिणामप्रक्रियां चाऽऽश्रयति सगुणेषूपासनेषूपयोक्ष्यत इति ॥१४॥

भाष्यका अनुवाद

प्रत्याख्यान किये विना सगुण उपासनामें उपयोगी हो सकेगा, ऐसा विचारकर परिणामप्रक्रियाका आश्रयण करते हैं ॥ १४ ॥

रत्नप्रभा

परिणामप्रक्रियां चेति । तदुक्तम्—"कृपणधीः परिणाममुदीक्षते क्षपितकल्मषधीस्तु विवर्तताम्" इति ॥१४॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

मानी गई, किन्तु उपासनाके लिए भी मानी गई है, ऐसा कहते हैं—"परिणामप्रक्रियां च" इत्यादिसे। उसी विषयको आचार्य कहते हैं—"कृपणधीः परिणाम०" (जिसकी चित्तशुद्धि नहीं हुई है, वह इस जगत्को ब्रह्मका परिणामरूपसे देखता है, जिसके चित्तसे कालुष्य हट गया है, वह इस जगत्को ब्रह्मका विवर्त देखता है ॥१४॥

भावे चोपलब्धेः ॥१५॥

पदच्छेद—भावे, च, उपलब्धेः ।

पदार्थोक्ति—भावे च—कारणस्य सत्त्व एव उपलब्धेः—कार्यस्योपलब्धेः [कार्यस्य कारणानन्यत्वम्] ।

भाषार्थ—कारणके रहनेसे ही कार्यकी उपलब्धि होती है, इससे भी सिद्ध होता है कि कार्य कारणसे भिन्न नहीं है ।

भाष्य

इतश्च कारणादनन्यत्वं कार्यस्य, यत्कारणं भाव एव कारणस्य कार्य-

भाष्यका अनुवाद

इससे भी कारणसे कार्य अभिन्न है, क्योंकि कारणके अस्तित्वमें ही कार्य

रत्नप्रभा

एवं तदनन्यत्वे प्रत्यक्षादिविरोधं परिहृत्य अनुमानम् आह—भावे चेति । कारणस्य भावे—सत्त्वे उपलब्धौ च कार्यस्य सत्त्वादेः उपलब्धेः च अनन्यत्वम्

रत्नप्रभाका अनुवाद

इस प्रकार कार्य कारणसे अभिन्न है, इस विषयमें प्रत्यक्ष आदिके विरोधका परिहार करके अब अनुमान कहते हैं—"भावे च" इत्यादिसे । कारणके रहनेपर और कारणकी

भाष्य

मुपलभ्यते, नाऽभावे। तद्यथा सत्यां मृदि घट उपलभ्यते, सत्सु च तन्तुषु पटः। न च नियमेनाऽन्यभावेऽन्यस्योपलब्धिर्दृष्टा, नह्यश्वो गोरन्यः सन् गोर्भाव एवोपलभ्यते। न च कुलालभाव एव घट उपलभ्यते, सत्यपि

भाष्यका अनुवाद

उपलब्ध होता है, कारणके अभावमें उपलब्ध नहीं होता। वह इस प्रकार है—मृत्तिकाके रहते घट उपलब्ध होता है और तन्तुओंके रहते पट उपलब्ध होता है। अन्य पदार्थकी सत्तामें अन्य पदार्थकी उपलब्धि नियमसे नहीं होती। अश्व गौसे भिन्न है, अतः गौके अस्तित्वमें ही अश्व उपलब्ध होता है, ऐसा नियम नहीं है। उसी प्रकार कुलालके अस्तित्वमें ही घट उपलब्ध होता है, ऐसा नियम

रत्नप्रभा

इति सूत्रार्थः। घटो मृदनन्यः, मृत्सत्त्वोपलब्धिक्षणनियतसत्त्वोपलब्धिमत्त्वात् मृद्वत्। अन्यत्वेऽपि अयं हेतुः किं न स्याद् इत्यप्रयोजकत्वम् आशङ्क्य निरस्यति—न चेति। मृद्घटयोः अन्यत्वे गवाश्वयोः इव हेतूच्छित्तिः स्याद् इत्यर्थः। गवाश्वयोः निमित्तनैमित्तिकत्वाभावाद् हेत्वभावः, अतो मृद्घटयोः तेन हेतुना निमित्तादिभावः सिध्यति, न अनन्यत्वम् इति अर्थान्तरताम् आशङ्क्य आह— न च कुलालेति। न च उपादानोपादेयभावेन अर्थान्तरता, मृद्दृष्टान्ते तद्भावाभावेऽपि हेतुसत्त्वाद् अन्यत्वे गवाश्ववत् तद्भावायोगाच्च इति भावः। कुलालघटयोः निमित्तादिभावे सत्यपि अन्यत्वात् कुलालसत्त्वनियतोपलब्धिः

रत्नप्रभाका अनुवाद

उपलब्धि होनेपर ही कार्यकी सत्ता और उपलब्धि होती है, इसलिए कार्य कारणसे अभिन्न है, यह सूत्रका अर्थ है। घट मृत्तिकासे अभिन्न है, क्योंकि मृत्तिकाकी सत्ता और उपलब्धि क्षणमें ही रहता है और उपलब्ध होता है, मृत्के समान। घट मृत्तिकासे भिन्न है, इसमें भी यह हेतु क्यों नहीं होगा, इस प्रकार अप्रयोजकत्वकी आशंका कर उसका निराकरण करते हैं—"न च" इत्यादिसे। मृत्तिका और घट यदि भिन्न भिन्न हों, तो गाय और घोड़ेके समान उसमें हेतु ही नहीं रहेगा, यह अर्थ है। गाय और घोड़ेमें कार्यकारणभाव नहीं है, इसलिए हेतु नहीं है, इस कारण उस हेतुसे मृत्तिका और घटमें कार्यकारणभावकी सिद्धि होती है, अभेद तो सिद्ध नहीं होता, इस प्रकार अर्थान्तरत्वकी आशंका कर कहते हैं—"न च कुलाल" इत्यादिसे। आशय यह है कि उपादानोपादेयभावसे कार्यकारणभाव अर्थान्तर नहीं है, मृत्तिकारूप दृष्टान्तमें कार्यकारणभाव नहीं रहनेपर भी हेतु है, यदि कार्यकारण भिन्न हों, तो गाय और घोड़ेके समान कार्य और कारणमें कार्यकारणभाव ही नहीं रहेगा। घट और कुलालमें कार्यकारणभाव रहनेपर भी भिन्न भिन्न होनेके कारण नियमतः कुलालकी

भाष्य

निमित्तनैमित्तिकभावेऽन्यत्वात् । नन्वन्यस्य भावेऽप्यन्यस्योपलब्धिर्नियता दृश्यते, यथाग्निभावे धूमस्येति । नेत्युच्यते । उद्वापितेऽप्यग्नौ गोपालघुटिकादिधारितस्य धूमस्य दृश्यमानत्वात् । अथ धूमं कयाचिदवस्थया विशिंष्यादीदृशो धूमो नाऽसत्यग्नौ भवतीति । नैवमपि कश्चिद्दोषः, तद्भा-

भाष्यका अनुवाद

नहीं है, क्योंकि कार्यकारणभाव रहनेपर भी दोनों परस्पर भिन्न हैं । परन्तु अन्यकी सत्तामें अन्यकी उपलब्धि नियमसे देखी जाती है, जैसे कि अग्निके रहते ही धूमकी उपलब्धि होती है । इसपर कहते हैं कि ऐसा नहीं है, क्योंकि अग्नि बुझनेके पीछे भी गोपालघुटिका (घटिका) आदिमें धारण किया हुआ धूम देखनेमें आता है । यदि धूमको किसी विशेषणसे विशिष्ट कर दें कि ऐसा धूम अग्निके अभावमें नहीं होता, तो ऐसा निवेश करनेपर भी कोई दोष नहीं है,

---

रत्नप्रभा

घटस्य नैव इत्यक्षरार्थः । यथाश्रुतसूत्रस्थस्य हेतोः व्यभिचारं शङ्कते—नन्विति । अग्निभाव एव धूमोपलब्धिरिति नियमात्मको हेतुः तत्र नास्ति इत्याह—नेति । अविच्छिन्नमूलदीर्घरेखावस्थधूमे नियमोऽस्तीति व्यभिचार इति आशङ्कते—अथेति । तद्भावनियतभावत्वे सति तद्बुद्ध्यनुरक्तबुद्धिविषयत्वस्य हेतोः विवक्षितत्वात् न व्यभिचार इत्याह—नैवमिति । आलोकबुद्ध्यनुरक्तबुद्धिग्राह्ये रूपे व्यभिचारनिरासाय सत्यन्तम्, आलोकाभावेऽपि घटादिरूपसत्त्वात् न व्यभिचारः उक्तधूमविशेषस्य अग्निबुद्धिं विनापि उपलम्भात् न तत्र व्यभिचार इत्यर्थः ।

रत्नप्रभाका अनुवाद

सत्ता और उपलब्धिकालमें ही घटकी उपलब्धि नहीं होती है, यह अक्षरार्थ है । यथाश्रुत सूत्रमें रहनेवाले हेतुके व्यभिचारकी शंका करते हैं—"ननु" इत्यादिसे । अग्निके रहनेपर ही धूमकी उपलब्धि होती है, यह नियमरूप हेतु अग्निधूमस्थलमें नहीं है, ऐसा कहते हैं—"न" इत्यादिसे । अविच्छिन्नमूल दीर्घरेखारूपसे रहनेवाले धूममें नियम है, इसलिए सूत्रोक्त हेतुका व्यभिचार है, ऐसी शंका करते हैं—"अथ" इत्यादिसे । कारणसत्तानियतसत्ताक होते हुए कारणबुद्धिसे अनुरक्त बुद्धिका विषय होना हेतु विवक्षित है, इसलिए व्यभिचार नहीं है, ऐसा कहते हैं—"नैवम्" इत्यादिसे आलोकबुद्धिसे अनुरक्त बुद्धिसे ग्राह्य रूपमें व्यभिचारका निरास करनेके लिए हेतुमें 'तद्भावनियतभावत्वे सति' दिया गया है, आलोक न रहनेपर भी घट आदिमें रूप रहता है, इसलिए व्यभिचार नहीं है । उक्त धूम अग्निबुद्धिके

भाष्य

वानुरक्तां हि बुद्धिं कार्यकारणयोरनन्यत्वे हेतुं वयं वदामः । न चाऽसावग्निधूमयोर्विद्यते । भावाच्चोपलब्धेरिति वा सूत्रम् । न केवलं शब्दादेव कार्यकारणयोरनन्यत्वं, प्रत्यक्षोपलब्धिभावाच्च तयोरनन्यत्वमित्यर्थः । भवति हि प्रत्यक्षोपलब्धिः कार्यकारणयोरनन्यत्वे । तद्यथा—तन्तुसंस्थाने पटे तन्तुव्यतिरेकेण पटो नाम कार्यं नैवोपलभ्यते केवलास्तु तन्तव आतान-

भाष्यका अनुवाद

क्योंकि कार्यकारणकी सत्तासे अनुरक्त बुद्धिको हम कार्यकारणके अभेदमें हेतु कहते हैं । और ऐसी बुद्धि अग्नि और धूममें नहीं है । अथवा 'भावाच्चोपलब्धेः' ऐसा सूत्र है । केवल शब्दसे ही कार्य और कारण अभिन्न नहीं हैं, किन्तु प्रत्यक्षसे भी उनका अभेद उपलब्ध होता है, ऐसा अर्थ है । कार्यकारणके अभेदकी प्रत्यक्षतः उपलब्धि होती है । वह इस प्रकार है—तन्तुरचनाविशेषरूप पटमें तन्तुसे व्यतिरिक्त पट नामका कार्य उपलब्ध होता ही नहीं, केवल आतान

रत्नप्रभा

तथा च तयोः कार्यकारणयोः भावेन सत्तया अनुरक्तां सहकृताम् इति भाष्यार्थः । यद्वा, तद्भावः सामानाधिकरण्यं तद्विषयकबुद्धिग्राह्यत्वं हेतुं वदामः । मृद्घट इति सामानाधिकरण्यबुद्धिदर्शनाद् अग्निर्धूम इति अदर्शनाद् इत्यर्थः । अनुमानार्थत्वेन सूत्रं व्याख्याय पाठान्तरेण प्रत्यक्षपरतया व्याचष्टे—भावाच्चेति । पूर्वसूत्रोक्तारम्भणशब्दसमुच्चयार्थः चकारः । न च एकः पट इति प्रत्यक्षं पटस्य तन्तुभ्यः पृथक् सत्त्वे प्रमाणम्, अपृथक्सत्ताकमिथ्याकार्यविषयत्वेनाऽपि उपपत्तेः ।

रत्नप्रभाका अनुवाद

विना भी उपलब्ध होता है, इसलिए उसमें व्यभिचार नहीं है । कार्य और कारणकी सत्तासे सहकृत, यह भाष्यगत 'तद्भावानुरक्त' पदका अर्थ है । अथवा तद्भाव—सामानाधिकरण्य, तद्विषयक बुद्धिसे ग्राह्यत्व हेतु है, क्योंकि 'मृद्घटः' इस प्रकार सामानाधिकरण्यबुद्धि देखनेमें आती है, 'अग्निर्धूमः' इस प्रकार तो नहीं दिखाई देती है । अनुमानपरतया सूत्रका व्याख्यान करके पाठान्तरसे प्रत्यक्षपरतया व्याख्यान करते हैं—"भावाच्च" इत्यादिसे । पूर्व सूत्रमें कथित आरम्भण शब्दके समुच्चयके लिए सूत्रमें चकार है । यह एक पट है, यह प्रत्यक्ष ही तन्तुओंसे पृथक् पटके रहनेमें प्रमाण है, ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि कारणसत्तापेक्षया अभिन्नसत्ताक मिथ्या कार्यको उक्त प्रत्यक्षका विषय माननेपर भी यह एक पट है, यह बुद्धि

भाष्य

वितानवन्तः प्रत्यक्षमुपलभ्यन्ते, तथा तन्तुष्वंशवोंऽशुषु तदवयवाः। अनया प्रत्यक्षोपलब्ध्या लोहितशुक्लकृष्णानि त्रीणि रूपाणि ततो वायुमात्र-माकाशमात्रं चेत्यनुमेयम् [छा०६।४], ततः परं ब्रह्मैकमेवाद्वितीयं, तत्र सर्वप्रमाणानां निष्ठामवोचाम ॥ १५ ॥

भाष्यका अनुवाद

और वितानवाले तन्तु ही उपलब्ध होते हैं, उसी प्रकार तन्तुओंमें उनके अव-यवभूत अंशु ही उपलब्ध होते हैं और अंशुओंमें उनके अवयव उपलब्ध होते हैं। इस प्रत्यक्ष उपलब्धिसे लोहित, शुक्ल और कृष्ण ये तीन रूप हैं तदनन्तर वायु और उसके अनन्तर आकाशमात्र है, ऐसा अनुमान करना चाहिए। तदु-परान्त केवल अद्वितीय परब्रह्म ही शेष रह जाता है, उसमें सब प्रमाणोंकी परि-समाप्ति हमने कह दी है ॥१५॥

रत्नप्रभा

अतः आतानवितानसंयोगवन्तः तन्तवः एव पट इति प्रत्यक्षोपलब्धेः सत्त्वाद् अनन्यत्वमित्यर्थः। पटन्यायं तन्त्वादौ अतिदिशति—तथेत्यादिना। प्रत्यक्षो-पलब्ध्या तत्तत्कार्ये कारणमात्रं परिशिष्यत इत्यर्थः। यत्र प्रत्यक्षं नास्ति तत्र कार्यं विमतं कारणादभिन्नं कार्यत्वात् पटवद् इत्यनुमेयम् इत्याह—अनयेति। कारणपरिशेषे प्रधानादिकं परिशिष्यताम् न ब्रह्म इत्यत आह—तत्र सर्वेति। ब्रह्मणि वेदान्तानां सर्वेषां तात्पर्यस्य उक्तत्वात् तदेव अद्वितीयं परिशिष्यते न कारणान्तरम् अप्रामाणिकत्वाद् इति भावः ॥ १५ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

उत्पन्न हो सकती है। आतानवितानरूपसे संयुक्त तन्तु ही पट है, ऐसा प्रत्यक्ष होता है, इसलिए कार्य कारणसे अभिन्न है। पटन्यायका तन्तु आदिमें अतिदेश कहते हैं—"तथा" इत्यादिसे। यह प्रत्यक्षज्ञानसे प्रतीत होता है कि सब कार्योंमें कारणमात्र ही अवशिष्ट रहता है, जहां प्रत्यक्षका अवकाश नहीं है, वहां सन्देहविषयीभूत कार्य कारणसे अभिन्न है, कार्य होनेसे पटके समान, ऐसा अनुमान करना चाहिए, ऐसा कहते हैं—"अनया" इत्यादिसे। यदि कारणका परिशेष हो, तो प्रधानादि ही परिशिष्ट हों, ब्रह्म न हो, इसपर कहते हैं—"तत्र सर्व" इत्यादिसे। सब वेदान्तोंका तात्पर्य ब्रह्ममें ही है, ऐसा कहा गया है, इसलिए वह अद्वितीय ब्रह्म ही परिशिष्ट होता है, अन्य कारण नहीं, क्योंकि कारणान्तरकी सत्तामें कोई प्रमाण नहीं है यह आशय है ॥ १५ ॥

सत्त्वाच्चावरस्य ॥ १६ ॥

पदच्छेद—सत्त्वात्, च, अवरस्य।

पदार्थोक्ति—अवरस्य—कार्यस्य, सत्त्वाच्च—उत्पत्तेः प्राक् 'ब्रह्म वा इदमग्र आसीत्' इत्यादौ सत्त्वश्रवणादपि [कार्यस्य कारणानन्यत्वम्]।

भाषार्थ—'ब्रह्म वा०' (यह सारा जगत् उत्पत्तिके पहले ब्रह्मरूप ही था) इत्यादि श्रुतियोंसे प्रतीत होता है कि उत्पत्तिके पहले कार्यकी सत्ता है, इससे भी सिद्ध होता है कि कार्यकी सत्ता कारणसे पृथक् नहीं है।

भाष्य

इतश्च कारणात् कार्यस्याऽनन्यत्वं यत्कारणं प्रागुत्पत्तेः कारणात्मनैव कारणे सत्त्वमवरकालीनस्य कार्यस्य श्रूयते। 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्' (छा० ६।२।१), 'आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्' (ऐ०आ०२।४।१।१) इत्यादाविदंशब्दगृहीतस्य कार्यस्य कारणेन सामानाधिकरण्यात्। यच्च यदात्मना यत्र न वर्तते न तत्तत उत्पद्यते, यथा सिकताभ्यस्तैलम्,

भाष्यका अनुवाद

और इससे भी कारणसे कार्य अभिन्न है, क्योंकि अर्वाचीन कार्य उत्पत्तिके पहले कारणरूपसे कारणमें ही विद्यमान था। कारण कि 'सदेव सोम्येदमग्र०' (हे सोम्य ! सृष्टिसे पहले यह जगत् सत्स्वरूप ही था), 'आत्मा वा इदमेक०' (सृष्टिसे पूर्वमें यह जगत् केवल आत्मरूप ही था) इत्यादिमें 'इदम्' शब्दसे गृहीत कार्यका कारणके साथ सामानाधिकरण्य कहा गया है। जो जिस स्वरूपसे जिसमें नहीं होता, वह उससे उत्पन्न नहीं होता, जैसे बालूसे तेल उत्पन्न नहीं

रत्नप्रभा

इदं जगत् सद्—आत्मैव इति सामानाधिकरण्यश्रुत्या सृष्टेः प्राक् कार्यस्य कारणात्मना सत्त्वं श्रुतम् तदन्यथानुपपत्त्या उत्पन्नस्यापि जगतः कारणाद् अनन्यत्वम् इत्याह सूत्रकारः—सत्त्वाच्चेति। श्रुत्यर्थे युक्तिमप्याह—यच्च यदात्मनेति। घटादिकं प्राक् मृदाद्यात्मना वर्तते तत उत्पद्यमानत्वात् सामान्यतो

रत्नप्रभाका अनुवाद

यह जगत् सद्रूप आत्मा ही है, इस प्रकार सामानाधिकरण्य श्रुतिसे सृष्टिके पहले कारणरूपसे कार्यकी सत्ता सुनी गई है, वह अन्यथा उपपन्न नहीं हो सकती है, इसलिए उत्पन्न जगत् भी कारणसे अभिन्न है, ऐसा सूत्रकार कहते हैं—"सत्त्वाच्च" इत्यादिसे। श्रुतिप्रतिपादित अर्थमें युक्ति भी कहते हैं—"यच्च यदात्मना" इत्यादिसे। घट आदि

भाष्य

तस्मात् प्रागुत्पत्तेरनन्यत्वादुत्पन्नमप्यनन्यदेव कारणात् कार्यमित्यवगम्यते। यथा च कारणं ब्रह्म त्रिषु कालेषु सत्त्वं न व्यभिचरत्येवं कार्यमपि जगत् त्रिषु कालेषु सत्त्वं न व्यभिचरति। एकं च पुनः सत्त्वमतोऽप्यनन्यत्वं कारणात् कार्यस्य ॥ १६ ॥

भाष्यका अनुवाद

होता। इसलिए उत्पत्तिके पूर्वमें अभिन्न होनेसे उत्पत्तिके अनन्तर भी कार्य कारणसे अभिन्न है, ऐसा समझा जाता है। जैसे कारण ब्रह्म तीनों कालोंमें सत्तासे व्यभिचरित नहीं होता, उसी प्रकार कार्य जगत् भी तीनों कालोंमें सत्तासे व्यभिचरित नहीं होता है। सत्त्व तो एक है, इससे भी कार्य कारणसे अभिन्न है ॥ १६ ॥

रत्नप्रभा

व्यतिरेकेण सिकताभ्यः तैलवत् इत्यर्थः। कारणवत् कार्यस्यापि सत्त्वात् सत्त्वभेदे मानाभावात् कार्यस्य कारणात् अभिन्नसत्ताकत्वम् इति सूत्रस्यार्थान्तर-माह—यथा चेति। इदानीं सतः कार्यस्य प्रागुत्तरकालयोः असत्त्वायोगात् सत्त्वाव्यभिचारः, तच्च सत्त्वं सर्वानुस्यूतचिन्मात्रम् एकम् तदभेदेन सती मृत् सन् घट इति भासमानयोः कार्यकारणयोः अनन्यत्वम् इत्यर्थः। न चैवं घटपटयोरपि एकसत्त्वाभेदात् अनन्यत्वं स्यादिति वाच्यम्। वस्तुत एकसत्त्वा-त्मनाऽनन्यत्वस्य इष्टत्वात्। तर्हि मृद्घटयोः को विशेषः? तादात्म्यमिति ब्रूमः। वस्तुतः सर्वत्र सत्त्वैक्येऽपि घटपटयोः भेदेन सत्ताया भिन्नत्वात् न

रत्नप्रभाका अनुवाद

उत्पत्तिसे पूर्व मृद् आदि कारणरूपसे रहते हैं, क्योंकि उससे उत्पन्न होते हैं, जो जिस रूपमें नहीं रहता, वह उससे उत्पन्न नहीं होता, जैसे वालुओंसे तैल, यह अर्थ है। कारणके समान कार्य भी सत् है, क्योंकि सत्ताके भेदमें कोई प्रमाण नहीं है, इसलिए कार्य कारणाभिन्नसत्ताक है, इस प्रकार सूत्रका अन्य अर्थ कहते हैं,—"यथा च" इत्यादिसे। वर्तमान समयमें रहनेवाले कार्यकी भूतकालमें और भविष्य कालमें सत्ता न हो, यह नहीं हो सकता है, इसलिए सत्ताका व्यभिचार नहीं है, वह सत्ता सब पदार्थोंमें अनुस्यूत एक चिन्मात्र है, उससे अभिन्न होनेके कारण मृत् सत् है, घट सत् है, इस प्रकार प्रतीयमान मृत्तिका, घट आदि कार्य, और कारणमें अभेद है। यदि ऐसा हो, तो घट और पट भी एक सत्तासे अभिन्न हैं, इसलिए दोनों अभिन्न हों, यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि वस्तुतः एक सत्तारूपसे दोनोंका अभेद इष्ट ही है। तब मृत्तिका और घटमें क्या विशेष है? उन दोनोंमें तादात्म्य है। वस्तुतः सर्वत्र सत्ता एक होनेपर भी घट और पट भिन्न होनेसे दोनोंकी सत्ता भी भिन्न है, इसलिए दोनोंमें तादात्म्य

असद्व्यपदेशान्नेति चेन्न धर्मान्तरेण वाक्यशेषात् ॥ १७ ॥

पदच्छेद—असद्व्यपदेशात्, न, इति, चेत्, न, धर्मान्तरेण, वाक्यशेषात्।

पदार्थोक्ति—असद्व्यदेशात्—'असद्वा इदमग्र आसीत्' इत्यादिना उत्पत्तेः प्राक् जगदसत्त्वकथनात् [न कार्यस्य कारणात्मना सत्त्वम्] इति चेत्, न, धर्मान्तरेण—अव्याकृतत्वरूपान्यधर्मेण [अयमसत्त्वोपदेशः, कुतः] वाक्यशेषात्—'तत् सदासीत्' इत्यादिवाक्यशेषात् [अतः सिद्धं कार्यस्य कारणानन्यत्वम्]।

भाषार्थ—'असद्वा०' इत्यादिसे कहा गया है कि उत्पत्तिके पहले यह जगत् असत् था, इसलिए कार्यकी सत्ता कारणस्वरूपसे नहीं है, यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि यह असत्त्वकथन अव्याकृतत्व (नाम और रूपसे स्पष्ट न होना) रूप अन्य धर्मसे है, क्योंकि 'तत्सदासीत्' इत्यादि वाक्यशेषमें कहा गया है कि यह जगत् उत्पत्तिके पूर्वमें सत् था। इससे सिद्ध होता है कि कार्यकी सत्ता कारणसे पृथक् नहीं है।

भाष्य

ननु क्वचिदसत्त्वमपि प्रागुत्पत्तेः कार्यस्य व्यपदिशति श्रुतिः—'असदेवेदमग्र आसीत्' (छा० ३।१९।१) इति, 'असद्वा इदमग्र आसीत्'

भाष्यका अनुवाद

परन्तु कहीं कहीं श्रुति उत्पत्तिके पूर्वमें कार्यका असत्त्व भी कहती है, जैसे कि 'असदेवेदमग्र०' (सृष्टिसे पूर्वमें यह जगत् असत् ही था), 'असद्वा इद०'

रत्नप्रभा

तादात्म्यम् कार्यकारणयोः भेदस्य सत्ताभेदकत्वाभावाद् अभिन्नसत्ताकत्वं तादात्म्यमिति विशेषः ॥ १६ ॥

उक्तं कार्यस्य प्राक् कारणात्मना सत्त्वम् असिद्धमिति आशङ्क्य समाधत्ते—असदिति। "अक्ताः शर्करा उपदध्याद्" इत्युपक्रमे केन अक्ता इति

रत्नप्रभाका अनुवाद

नहीं है, कार्य और कारणका भेद तो सत्ताका भेदक नहीं है, इसलिए कार्य और कारणमें अभिन्न सत्ताकत्वरूप तादात्म्य है, यह विशेष है ॥ १६ ॥

उत्पत्तिके पूर्व कार्यकी कारणरूपसे सत्ता जो कही गई है, वह असिद्ध है, ऐसी शंका करके समाधान करते हैं—"असद्" इत्यादिसे। आशय यह कि 'अक्ताः शर्करा०' (भिगोई हुई

भाष्य

(तै० २।७।१) इति च। तस्मादसद्व्यपदेशान्न प्रागुत्पत्तेः कार्यस्य सत्त्वमिति चेत्। नेति ब्रूमः। न ह्ययमत्यन्तासत्त्वाभिप्रायेण प्रागुत्पत्तेः कार्यस्याऽसद्व्यपदेशः, किं तर्हि? व्याकृतनामरूपत्वाद् धर्मादव्याकृतनामरूपत्वं धर्मान्तरं तेन धर्मान्तरेणाऽयमसद्व्यपदेशः प्रागुत्पत्तेः सत एव कार्यस्य कारणरूपेणाऽनन्यस्य। कथमेतदवगम्यते? वाक्यशेषात्, यदुपक्रमे संदिग्धार्थं वाक्यं तच्छेषान्निश्चीयते। इह च तावत् 'असदेवेदमग्र आसीत्' इत्यसच्छब्देनोपक्रमे निर्दिष्टं यत् तदेव पुनस्तच्छब्देन परामृश्य सदिति विशिनष्टि 'तत् सदासीत्' इति। असतश्च पूर्वापरकालासम्बन्धादासीच्छब्दानुप-

भाष्यका अनुवाद

(सृष्टिके पूर्वमें यह जगत् असत् ही था)। इसलिए असत्का अभिधान होनेसे उत्पत्तिके पहले कार्यकी सत्ता नहीं है, ऐसा यदि कहो, तो हम कहते हैं कि नहीं, क्योंकि उत्पत्तिके पूर्वमें कार्यका यह जो असद्रूपसे अभिधान है, वह अत्यन्त असत्त्वके अभिप्रायसे नहीं है। तब किस अभिप्रायसे है? व्याकृतनामरूपत्वरूप धर्मसे अव्याकृतनामरूपत्व धर्म भिन्न है, उस भिन्न धर्मसे उत्पत्तिके पूर्व कारणस्वरूपसे अभिन्न सत् कार्य असत् कहा गया है। यह किस प्रकार समझा जाता है? वाक्यशेषसे। उपक्रममें जिस वाक्यका अर्थ सन्दिग्ध हो, उसका वाक्यशेषसे निश्चय किया जाता है। यहां 'असदेवेदमग्र आसीत्' इस उपक्रममें 'असत्' शब्दसे जो निर्दिष्ट है उसीका पीछे 'तत्' शब्दसे परामर्श करके 'तत्सदासीत्' (वह सत् था) इस प्रकार 'सत्' ऐसा उसका विशेषण कहा है। 'असत्' का पूर्व और उत्तर कालसे संबन्ध न होनेसे 'आसीत्' (था) शब्दकी

रत्नप्रभा

सन्देहे "तेजो वै घृतमिति" वाक्यशेषात् घृतेन इति यथा निश्चयः, एवमत्राऽपि "तत्सद्" इति वाक्यशेषात् सन्निश्चय इत्यर्थः। आसीत् इति अतीतकालसम्बन्धोक्तेः च सत् अव्याकृतमेव न शून्यमित्याह—**असतश्च पूर्वापरेति**।

रत्नप्रभाका अनुवाद

चीनीको रक्खे) इस उपक्रममें किससे भिगोई हुई, रखना चाहिए? ऐसा सन्देह होनेपर 'तेजो वै घृतम्' (घृत तेज ही है) इस वाक्यशेषसे जैसे घृतसे भिगोना चाहिए, ऐसा निश्चय होता है उसी प्रकार यहाँ भी 'तत्सत्' (था) इस प्रकार भूतकालसम्बन्ध कहा गया है, इसलिए 'असत्' का अर्थ अव्याकृत ही है, शून्य नहीं है, ऐसा कहते हैं—"असतश्च पूर्वापर"

भाष्य

पत्तेश्च । 'असद्वा इदमग्र आसीत्' इत्यत्रापि 'तदात्मानं स्वयमकुरुत' इति वाक्यशेषे विशेषणान्नात्यन्तासत्त्वम् । तस्माद् धर्मान्तरेणैवाऽयमसद्व्यपदेशः प्रागुत्पत्तेः कार्यस्य । नामरूपव्याकृतं हि वस्तु सच्छब्दार्हं लोके प्रसिद्धम् । अतः प्राङ्नामरूपव्याकरणादसदिवाऽऽसीदित्युपचर्यते ॥१७॥

भाष्यका अनुवाद

अनुपपत्ति हो जायगी । 'असद्वा इदमग्र आसीत्' इसमें भी 'तदात्मानं स्वयमकुरुत' (उसने स्वयं अपनेको जगद्रूपसे रचा) ऐसा वाक्यशेषमें विशेषण है, इसलिए अत्यन्त असत्त्व नहीं है । अतएव उत्पत्तिसे पूर्व अन्य धर्मसे ही कार्यका यह असत्त्वका कथन है । नाम और रूपसे व्याकृत वस्तु सत् शब्दके योग्य है, ऐसा लोकमें प्रसिद्ध है । इसलिए नाम और रूपसे व्याकृत होनेसे पहले असत्-सा था, इससे असत् शब्दका उपचार किया गया है ॥ १७ ॥

रत्नप्रभा

उक्तन्यायं वाक्यान्तरे अतिदिशति—असद्वेति । क्रियमाणत्वविशेषणं शून्यस्य असम्भवि इति भावः ॥ १७ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

इत्यादिसे । उक्त न्यायका वाक्यान्तरमें भी अतिदेश कहते हैं—"असद्वा" इत्यादिसे । 'अकुरुत' इस प्रकार क्रियमाणत्वरूप जो विशेषण कहा गया है, वह शून्यमें नहीं घट सकता है, यह तात्पर्य है ॥ १७ ॥

युक्तेः शब्दान्तराच्च ॥ १८ ॥

पदच्छेद—युक्तेः, शब्दान्तरात्, च ।

पदार्थोक्ति—युक्तेः—मृदात्मना पूर्वं घटस्याऽसम्भवे मृदेव घटार्थिना नोपादीयेत असत्त्वाविशेषात् यत्किञ्चिदेवोपादीयेतेत्येवमाद्याया युक्तेः, शब्दान्तराच्च—'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्' इत्यादौ विद्यमानसच्छब्दान्तराच्च [सिद्धं कार्यस्य कारणानन्यत्त्वं सत्त्वं च] ।

भाषार्थ—उत्पत्तिके पहले घट मृत्तिकारूपसे न होता, तो घटको बनानेकी इच्छा रखनेवाला मृत्तिकाको ही नियमसे ग्रहण नहीं करता और पदार्थोंको भी ग्रहण करता, क्योंकि घटकी सत्ताको उसकी उत्पत्तिके पहले न माने पर मृत्तिका और अन्य पदार्थोंमें कोई विशेषता नहीं रहेगी, इत्यादि युक्तियोंसे और 'सदेव०' (हे प्रियदर्शन ! यह जगत् उत्पत्तिके पहले सद्रूप ही था) इत्यादि श्रुतियोंमें विद्यमान 'सत्' शब्दसे यह बात सिद्ध होती है कि कार्यकी सत्ता कारणसे पृथक् नहीं है । उत्पत्तिके पहले भी कार्य कारणरूपमें विद्यमान है ।

भाष्य

युक्तेश्च प्रागुत्पत्तेः कार्यस्य सत्त्वमनन्यत्वं च कारणादवगम्यते, शब्दान्तराच्च। युक्तिस्तावद् वर्ण्यते—दधिघटरुचकार्थिभिः प्रतिनियतानि कारणानि क्षीरमृत्तिकासुवर्णादीन्युपादीयमानानि लोके दृश्यन्ते। नहि दध्यर्थिभिर्मृत्तिकोपादीयते, न घटार्थिभिः क्षीरम्, तदसत्कार्यवादे नोपपद्येत। अविशिष्टे हि प्रागुत्पत्तेः सर्वत्र सर्वस्यासत्त्वे कस्मात् क्षीरादेव दध्युत्पद्यते न मृत्तिकायाः, मृत्तिकाया एव च घट उत्पद्यते न क्षीरात्। अथाऽविशिष्टेऽपि प्रागसत्त्वे क्षीरे एव दध्नः कश्चिदतिशयो न

भाष्यका अनुवाद

युक्तिसे और अन्य श्रुतिसे भी उत्पत्तिके पूर्व कार्यकी सत्ता और कारणसे अभेद ज्ञात होता है। प्रथम युक्तिका वर्णन किया जाता है—व्यवहारमें देखा जाता है कि दधि, घट, रुचक आदिकी इच्छावाले दूध, मृत्तिका, सुवर्ण आदि नियत कारणोंका ग्रहण करते हैं। दधिकी इच्छावाले मृत्तिकाका ग्रहण नहीं करते और घटकी इच्छावाले दूधका ग्रहण नहीं करते। यह असत्कार्यवादमें उपपन्न नहीं होगा, क्योंकि उत्पत्तिके पूर्व सबका सर्वत्र असत्त्व साधारण होनेसे दूधसे ही दधि क्यों उत्पन्न होता है और मृत्तिकासे क्यों नहीं होता, उसी प्रकार मृत्तिकासे ही घट क्यों उत्पन्न होता है, दूधसे क्यों नहीं होता। पूर्वमें असत्त्वके

रत्नप्रभा

सत्त्वानन्यत्वयोः हेत्वन्तरमाह सूत्रकारः—युक्तेरिति। दध्याद्यर्थिनां क्षीरादौ प्रवृत्त्यन्यथानुपपत्तिः युक्तिः, तया कार्यस्य प्राक् कारणानन्यत्वेन सत्त्वं सिध्यति इत्यर्थः। असतोऽपि कार्यस्य तस्माद् उत्पत्तेः कारणत्वधिया तत्र प्रवृत्तिः इति अन्यथोपपत्तिमाशङ्क्य आह—अविशिष्टे हीति। असत उत्पत्त्यभावाद् उत्पत्तौ वा सर्वस्मात् सर्वोत्पत्तिप्रसङ्गात् तत्तदुपादानविशेषे प्रवृत्तिः न स्यादित्यर्थः।

रत्नप्रभाका अनुवाद

कार्य उत्पत्तिसे पूर्व सत् है और कारणसे अभिन्न है, इस विषयमें सूत्रकार अन्य हेतु कहते हैं—'युक्तेः' इत्यादिसे। दधि आदि चाहनेवालोंकी क्षीर आदिमें प्रवृत्तिकी अन्यथानुपपत्ति युक्ति है, उस युक्तिसे उत्पत्तिसे पूर्व कार्यकी कारणाभेदसे सत्ता सिद्ध होती है। दधि आदि कार्य उत्पत्तिके पहले विद्यमान न होनेपर भी क्षीर आदिसे उत्पन्न होता है, इसलिए कारणत्वज्ञानसे क्षीर आदिमें प्रवृत्ति होती है, इस प्रकार अन्यथा उपपत्तिकी आशंका करके कहते हैं—"अविशिष्टे हि" इत्यादि। तात्पर्य यह है कि असत् पदार्थ उत्पन्न नहीं हो सकता, यदि असत्की उत्पत्ति मानी जाय तो सबसे सबकी उत्पत्ति होने लगेगी, अतः कारणविशेषमें किसीकी प्रवृत्ति नहीं होगी। यही बात

भाष्य

मृत्तिकायां, मृत्तिकायामेव च घटस्य कश्चिदतिशयो न क्षीर इत्युच्येत,

भाष्यका अनुवाद

साधारण होनेपर भी दूधमें ही दहीका कुछ गुणविशेष है, मृत्तिकामें नहीं है और मृत्तिकामें ही घटका कुछ गुणविशेष है, दूधमें नहीं है, ऐसा कहोगे, तो

रत्नप्रभा

तदुक्तं सांख्यवृद्धैः—असदकरणादुपादानग्रहणात्सर्वसम्भवाभावात् ।
शक्तस्य शक्यकरणात्कारणभावाच्च सत्कार्यम् ॥

(सा०का० ९) इति। शक्तस्य कारणस्य शक्यकार्यकारित्वात् शक्तिविषयस्य कार्यस्य सत्त्वम्, असत अशक्यत्वात्। किञ्च, सत्कारणाभेदात् कार्यसद् इति उत्तरार्द्धार्थः। कार्यस्य असत्त्वेऽपि कुतश्चिदतिशयात् प्रवृत्तिनियमोपपत्तिः इति शङ्कते—

रत्नप्रभाका अनुवाद

सांख्यवृद्धोंसे अर्थात् ईश्वरकृष्णने—'असदकरणाद्०' इस कारिकामें कही है। शक्तिविशिष्ट कारण शक्तिसंबद्ध कार्यका उत्पादक है, इसलिए शक्तिसम्बद्ध कार्यकी सत्ता उत्पत्तिके पहले माननी चाहिए, यदि कार्य असत् हो, तो शक्तिसंबद्ध नहीं होगा। और कारण सत् है, उससे अभिन्न होनेके कारण कार्य भी सत् है, यह कारिकाके उत्तरार्धका अर्थ है। उत्पत्तिके पहले कार्य न रहनेपर भी किसी अतिशय विशेषसे प्रवृत्तिका नियम उपपन्न हो सकता है,

(१) कारिकाका तात्पर्य संक्षेपसे इस प्रकार है—असत् पदार्थ किसीसे किया नहीं जा सकता। यदि कारणव्यापारसे पूर्व कार्य असत् हो, तो किसी प्रकार भी उसकी सत्ता नहीं की जा सकती, जैसे कि हजार शिल्पी मिलकर भी नीलको पीत नहीं कर सकते, हजार युक्तियाँ भी घटको पट नहीं कर सकतीं, अतः कार्य सत् है। कारणका कार्यके साथ संबन्ध है अर्थात् कार्यसे संबद्ध कारण ही कार्यका जनक होता है, यदि कार्य पूर्व असत् हो, तो असत्का संबन्ध ही न हो सकनेके कारण कारणसे कार्यकी उत्पत्ति ही न हो सकेगी, अतः कार्य सत् है। यदि असंबद्ध कार्य ही कारणसे उत्पन्न होता हो, तो सबसे असंबद्ध होनेसे सब कारणोंसे सब कार्योंकी उत्पत्ति होनी चाहिए, अर्थात् मृत्तिकासे पट, तन्तुओंसे घट आदि कार्य होने चाहिएँ, ऐसा तो नहीं होता है, इसलिए कार्य पूर्वमें भी सत् ही है। जिस कार्यको उत्पादन करनेकी शक्ति जिस कारणमें रहती है, उस कारणसे उसी कार्यकी उत्पत्ति होती है, यदि कार्य पूर्वमें असत् हो, तो कार्य कारणमें रहनेवाली शक्तिसे सम्बद्ध न होनेके कारण उत्पन्न ही न हो सकेगा, यदि उत्पन्न होगा, तो सब कारणोंसे सब कार्योंकी उत्पत्ति होने लगेगी, इसलिए उस शक्तिको कार्यसम्बद्ध मानना चाहिए। असत् कार्यसे तो संबन्ध नहीं हो सकता, इसलिए कार्य पूर्व भी सत् है। कार्य कारणस्वरूप है, कारणसे भिन्न नहीं है। यदि कारणसे भिन्न हो, तो कारणसे अन्यत्र उपलब्ध हो, तन्तु आदि कारणोंसे अन्यत्र पट आदि कार्य उपलब्ध नहीं होते हैं, अतः कारणरूप है। कारण तो कार्यकी उत्पत्तिके पहले भी सत् है, अतः कारणस्वरूप कार्य भी उत्पत्तिके पहले सत् है।

भाष्य

तद्धतिशयवत्त्वात् प्रागवस्थाया असत्कार्यवादहानिः सत्कार्यवादसिद्धिश्च। शक्तिश्च कारणस्य कार्यनियमार्था कल्प्यमाना नान्याऽसती वा कार्यं नियच्छेत्, असत्त्वाविशेषादन्यत्वाविशेषाच्च। तस्मात् कारणस्याऽऽत्मभूता शक्तिः शक्तेश्चाऽऽत्मभूतं कार्यम्। अपि च कार्यकारणयोर्द्रव्यगुणादीनां चाऽश्वमहिषवद् भेदबुद्ध्यभावात् तादात्म्यमभ्युपगन्तव्यम्।

भाष्यका अनुवाद

इससे पूर्वकी अवस्थाके गुणविशिष्ट होनेसे असत्कार्यवादकी हानि और सत्कार्यवादकी सिद्धि होगी। और कार्यके नियमनके लिए कल्प्यमान कारणशक्ति अन्य या असत् होनेसे कार्यका नियमन नहीं कर सकेगी, क्योंकि असत्त्वमें कोई विशेष नहीं है और अन्यत्वमें भी कोई विशेष नहीं है। इसलिए कारणकी आत्मभूत शक्ति है और शक्तिका आत्मभूत कार्य है। और कार्य कारणमें तथा द्रव्य, गुण आदिमें अश्व और महिषके समान भेद बुद्धि नहीं है, इसलिए उनमें तादात्म्यका स्वीकार करना चाहिए।

रत्नप्रभा

अथेति। अतिशयः कार्यधर्मः कारणधर्मो वा। आद्ये धर्मित्वात् प्रागवस्थारूपस्य कार्यस्य सत्त्वं दुर्वारम् इत्याह—तद्धतिशयवत्त्वादिति। द्वितीयेऽपि कार्यसत्त्वम् आयातीत्याह—शक्तिश्चेति। कार्यकारणाभ्याम् अन्या कार्यवद् असती वा शक्तिः न कार्यनियामिका, यस्य कस्यचिदन्यस्य नरशृङ्गस्य वा नियामकत्वप्रसङ्गाद्, अन्यत्वासत्त्वयोः शक्तौ अन्यत्र च अविशेषात्; तस्मात् कारणात्मना लीनं कार्यमेव अभिव्यक्तिनियामकतया शक्तिः इति एष्टव्यम्। ततः

रत्नप्रभाका अनुवाद

ऐसी शंका करते हैं—"अथ" इत्यादिसे। अतिशय कार्यका धर्म है अथवा कारणका धर्म है? यदि कार्यका धर्म हो तो उसके धर्मी होनेके कारण धर्मके पहले धर्मीका रहना अवश्य है, अतः उत्पत्तिके पूर्व कार्यकी सत्ता नहीं हटाई जा सकेगी, ऐसा कहते हैं—"तद्धतिशयवत्त्वाद्" इत्यादिसे। यदि कारणका धर्म हो, तो भी कार्यकी सत्ता सिद्ध होती है, ऐसा कहते हैं—"शक्तिश्च" इत्यादिसे। शक्ति यदि कार्य और कारणसे अन्य हो, अथवा कार्यके समान असत् हो तो कार्यका नियामक नहीं हो सकती, अन्यथा कोई एक पदार्थ, या नरशृंग भी नियामक हो जायगा, क्योंकि कार्य और कारणसे भेद एवं असत्ता शक्तिके समान नरशृंगमें भी है, इसलिए कारणस्वरूपसे लीन कार्य ही अपनी अभिव्यक्तिका नियामक होनेसे शक्ति कहलाता है, ऐसा मानना चाहिए, इससे सत्कार्यकी सिद्धि होती है, यह अर्थ

भाष्य

समवायकल्पनायामपि समवायस्य समवायिभिः सम्बन्धेऽभ्युपगम्यमाने तस्य तस्याऽन्योऽन्यः सम्बन्धः कल्पयितव्य इत्यनवस्थाप्रसङ्गः, अन-

भाष्यका अनुवाद

समवायकी कल्पनामें भी समवायका समवायियोंके साथ संबन्ध स्वीकार करनेपर उनके भिन्न भिन्न संबन्धोंकी कल्पना करनी पड़ेगी,

रत्नप्रभा

सत्कार्यसिद्धिः इत्यर्थः। किञ्च, कार्यकारणयोः अन्यत्वे मृद्घटौ भिन्नौ सन्तौ इति भेदबुद्धिः स्याद् इत्याह—अपि चेति।

तयोः अन्यत्वेऽपि समवायवशात् तथा बुद्धिः भवति इत्याशङ्क्य समवायं दूषयति—समवायेति। समवायः समवायिभिः सम्बद्धो न वा? आद्ये सम्बन्धः किं समवायः उत स्वरूपम्। आद्ये समवायानवस्था, द्वितीये मृद्घट-

रत्नप्रभाका अनुवाद

है। और कार्य, कारण भिन्न हों, तो मृत्तिका और घट भिन्न हैं, इस प्रकार भेदबुद्धि होगी, ऐसा कहते हैं—"अपि च" इत्यादिसे।

कार्य और कारणके भिन्न होनेपर भी समवायके वशसे भेदबुद्धि उत्पन्न नहीं होती है, ऐसी आशंका करके समवायका निराकरण करते हैं—"समवाय" इत्यादिसे। समवाय समवायी पदार्थोंसे संबद्ध है या नहीं? यदि संबद्ध है, तो समवायसंबन्धसे संबद्ध है अथवा स्वरूपसंबन्धसे? यदि समवायसंबन्धसे संबद्ध है, तो समवायकी अनवस्था होगी, यदि

(१) युतसिद्ध (पहले परस्पर असम्बद्ध) दो पदार्थोंका जैसे संयोग संबन्ध माना जाता है, उसी प्रकार अयुतसिद्ध दो पदार्थोंका समवाय संबन्ध मानना आवश्यक है। अयुतसिद्ध, आधाराधेयभूत पदार्थोंका जो संबन्ध 'इह' (इसमें) इस ज्ञानका जनक होता है, वह समवाय है। द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेषोंमें जो अयुतसिद्ध आधाराधेयभावसे स्थित है, उनमें 'इसमें यह पदार्थ है' ऐसी बुद्धि जिससे होती है, अन्यत्वेन अधिगत किन्तु पृथग् न रहनेवाले पदार्थोंका 'इसमें यह है' ऐसी बुद्धि जिससे होती है, वह समवाय है। जैसे 'भूतलमें घट है' यह बुद्धि भूतल और घटका सबन्ध रहनेसे होती है उसी प्रकार 'तन्तुओंमें पट है, द्रव्यमें, द्रव्य, गुण, कर्म, हैं, द्रव्य, गुण और कर्ममें सत्ता है' इत्यादि प्रत्यय भी संबन्धसत्तासे ही होते हैं। यह संबन्ध संयोग तो नहीं है, क्योंकि संयोग युतसिद्ध द्रव्योंमें ही होता है, कर्मजन्य होता है और विभागसे नष्ट होता है, इसलिए यह समवाय है। समवाय एक है, नित्य है, अतीन्द्रिय है, 'इह' (इसमें) बुद्धिसे अनुमेय है, ऐसा वैशेषिक मानते हैं। नैयायिक समवायको प्रत्यक्ष मानते हैं। प्राभाकर समवायको नाना एवं अनित्य मानते हैं। समवायके स्थानमें स्वरूपसंबन्धसे कार्यनिर्वाह हो सकता है, इसलिए समवाय पदार्थान्तर नहीं है, ऐसा भाट्ट और सांख्य कहते हैं।

भाष्य

भ्युपगम्यमाने च विच्छेदप्रसङ्गः। अथ समवायः स्वयं सम्बन्धरूपत्वा-दनपेक्ष्यैवापरं सम्बन्धं सम्बद्ध्येत, संयोगोऽपि तर्हि स्वयं सम्बन्धरूपत्वा-

भाष्यका अनुवाद

ऐसा करनेसे अनवस्था हो जायगी और न स्वीकार करनेपर कार्य और कारण तथा द्रव्य और गुण आदिका विच्छेद हो जायगा। समवाय स्वयं संबन्धरूप होनेसे दूसरे संबन्धकी अपेक्षाके विना ही संबद्ध होता है, ऐसा यदि कहो, तो

रत्नप्रभा

योरपि स्वरूपसम्बन्धादेव उपपत्तेः समवायासिद्धिः। असम्बद्ध इति पक्षे दोष-माह—अनभ्युपगम्यमाने इति। द्रव्यगुणादीनां विशिष्टधीविरहप्रसङ्गः अस-म्बद्धस्य विशिष्टधीनियामकत्वायोगाद् इत्यर्थः। विशिष्टधीनियामको हि सम्बन्धः, न तस्य नियामकान्तरापेक्षा अनवस्थानात्, अतः स्वपरनिर्वाहकः समवाय इति शङ्कते—अथेति। सम्बध्यते—स्वस्य स्वसम्बन्धिनश्च विशिष्टधियं करोति इत्यर्थः। प्रतिवन्द्या दूषयति—संयोगोऽपीति। यत्तु गुणत्वात् संयोगस्य समवायापेक्षा न सम्बन्धत्वात् इति, तत् न; धर्मत्वात् समवायस्यापि सम्बन्धान्तरापत्तेः अस-म्बद्धस्य अश्वत्वस्य गोधर्मत्वादर्शनात्। किञ्च, 'निष्पापत्वादयो गुणाः' इति श्रुतिस्मृत्यादिषु व्यवहाराद् 'इष्टधर्मो गुणः' इति परिभाषया समवायस्यापि गुण-त्वाच्च। 'जातिविशेषो गुणत्वम्' इति परिभाषा तु समवायसिद्ध्युत्तरकालीना,

रत्नप्रभाका अनुवाद

स्वरूपसंबन्धसे संबद्ध है, तो मृत् और घटका भी स्वरूप संबन्ध ही हो सकता है, अतः समवाय असिद्ध है। समवाय पदार्थोंसे संबद्ध नहीं है, इस पक्षमें दोष कहते हैं—"अनभ्यु-पगम्यमाने" इत्यादिसे। द्रव्य, गुण आदिकी विशिष्ट बुद्धि न होगी, क्योंकि असंम्बद्ध संबन्ध विशिष्टज्ञानका जनक नहीं हो सकता है, यह अर्थ है। संबन्ध विशिष्टज्ञानका नियामक है, उसके लिए अन्य नियामककी अपेक्षा नहीं है, क्योंकि अनवस्था हो जायगी, इसलिए समवाय अपना और अन्यका निर्वाहक है, ऐसी शंका करते हैं—"अथ" इत्यादिसे। सम्बध्यते—अपना तथा अपने संबन्धीका विशिष्टज्ञान कराता है, ऐसा अर्थ है। उक्त पूर्वपक्षका प्रतिवन्दीसे निराकरण करते हैं—"संयोगोऽपि" इत्यादिसे। संयोग गुण होनेसे समवायकी अपेक्षा रखता है, संबन्ध होनेसे नहीं, यह कथन ठीक नहीं है, समवाय भी धर्म है, अतः उसके लिए अन्य संबन्धकी अपेक्षा होगी, क्योंकि गौसे संबन्ध न रखनेवाला अश्वत्व गौका धर्म नहीं दिखाई पड़ता। और 'निष्पापत्वादयो०' (पापराहित्य आदि गुण हैं) इत्यादि श्रुति और स्मृतिमें 'व्यवहार होनेसे 'इष्ट०' (अभिप्रेत धर्म गुण है) इस परिभाषासे समवाय भी गुण हो सकता

भाष्य

दनपेक्ष्यैव समवायं सम्बध्येत, तादात्म्यप्रतीतेश्च द्रव्यगुणादीनां समवाय-कल्पनानर्थक्यम्। कथं च कार्यमवयविद्रव्यं कारणेष्ववयवद्रव्येषु वर्तमानं वर्तेत, किं समस्तेष्ववयवेषु वर्तेतोत प्रत्यवयवम्। यदि तावत्

भाष्यका अनुवाद

संयोग भी स्वयं संबन्धरूप होनेसे समवायकी अपेक्षाके विना ही संबद्ध हो जायगा। और तादात्म्यकी प्रतीतिसे द्रव्य, गुण आदिमें समवायकी कल्पना अनर्थक है। और कार्य—अवयवी द्रव्य जो कारण—अवयव द्रव्योंमें रहता है, वह किस प्रकार रहता है? क्या समस्त अवयवोंमें रहता है अथवा

रत्नप्रभा

नित्याऽनेकसमवेता जातिः इति ज्ञानस्य समवायज्ञानाधीनत्वात्, अतः समवाय-सिद्धेः प्राक् संयोगस्य गुणत्वम् असिद्धमिति दिक्। किञ्च, प्रतीत्यनुसारेण वस्तु स्वीकार्यम् अन्यथा गोप्रतीतेः अश्व आलम्बनमित्यस्यापि सुवचत्वात्। तथा च मृत् घट इत्यभेदप्रतीतेः अभेद एव स्वीकार्यः। ताभ्याम् अत्यन्तभिन्नस्य समवायस्य तन्नियामकत्वासम्भवाद् इत्याह—तादात्म्येति। एवं प्रतीत्यनुसारेण कार्यस्य कारणात्मना सत्त्वं स्वरूपेण तु मिथ्यात्वम् इत्युक्तम्। वृत्त्यनिरूपणाच्च तस्य मिथ्यात्वमित्याह—कथं चेति। तत्र आद्यम् अनूद्य अवयविनः पटादेः तन्त्वादिषु अवयवेषु त्रित्वादिवत् स्वरूपेण वृत्तिः, उत अवयवश इति विकल्प्य आद्यं दूषयति—यदीत्यादिना। व्यासज्यवृत्तिवस्तुप्रत्यक्षस्य यावदाश्रयप्रत्यक्ष-

रत्नप्रभाका अनुवाद

है। जातिविशेष गुण है, यह परिभाषा तो समवायसिद्धिके उत्तरकालीन है, क्योंकि नित्य और अनेक पदार्थोंमें समवायसंबन्धसे रहनेवाला धर्म जाति कहलाता है, यह ज्ञान समवायज्ञानके अधीन है। इसलिए समवायसिद्धिके पहले संयोग गुण है, यह बात सिद्ध नहीं हो सकती, इत्यादि समझना चाहिए। और प्रतीतिके अनुसार पदार्थका स्वीकार करना चाहिए, अन्यथा 'गौः' इस प्रतीतिका विषय अश्व भी हो जायगा। अतः 'मृत् घटः' इस प्रकार अभेदकी प्रतीति होती है, इसलिए मृत्तिका और घटमें अभेद ही स्वीकार करना चाहिए। मृत्तिका और घटसे अत्यन्त भिन्न समवाय 'मृत् घटः' इस ज्ञानका नियामक नहीं हो सकता है, ऐसा कहते हैं—"तादात्म्य" इत्यादिसे। इस प्रकार प्रतीतिके अनुसार कार्य कारणस्वरूपसे विद्यमान है, अपने स्वरूपसे मिथ्या है, यह कहा गया। कारणमें कार्यका रहना भी उपपन्न नहीं हो सकता है, इसलिए कार्य मिथ्या है, ऐसा कहते—"कथं च" इत्यादिसे। उक्त पक्षोंमें प्रथमका अनुवाद कर तन्तु आदि अवयवोंमें पट आदि अवयवकी वृत्ति त्रित्व आदिके समान स्वरूपसे है अथवा प्रत्येक अवयवमें अलग अलग है, ऐसा विकल्प करके प्रथम पक्षको दूषित करते हैं—"यदि"

भाष्य

समस्तेषु वर्तेत ततोऽवयव्यनुपलब्धिः प्रसज्येत, समस्तावयवसंनिकर्षस्याश-क्यत्वात्, नहि बहुत्वं समस्तेष्वाश्रयेषु वर्तमानं व्यस्ताश्रयग्रहणेन गृह्यते। अथावयवशः समस्तेषु वर्तेत, तदाप्यारम्भकावयवव्यतिरेकेणावयविनोऽव-यवाः कल्प्येरन् यैरारम्भकेष्ववयवेष्ववयवशोऽवयवी वर्तेत। कोशावयव-व्यतिरिक्तैर्ह्यवयवैरसिः कोशं व्याप्नोति। अनवस्था चैवं प्रसज्येत, तेषु तेष्ववयवेषु वर्तयितुमन्येषामन्येषामवयवानां कल्पनीयत्वात्। अथ प्रत्य-वयवं वर्तेत तदैकत्र व्यापारोऽन्यत्राऽव्यापारः स्यात्, नहि देवदत्तः स्रुघ्ने

भाष्यका अनुवाद

प्रत्येक अवयमें रहता है? यदि समस्त अवयवोंमें रहे, तो अवयवीकी अनुप-लब्धि हो जायगी, क्योंकि समस्त अवयवोंका इन्द्रियके साथ संनिकर्ष नहीं होता, जैसे कि समस्त आश्रयोंमें रहनेवाले बहुत्वका किसी एक आश्रयके ग्रहणसे ग्रहण नहीं होता। यदि समस्त अवयवोंमें अवयवावच्छेदसे रहे, तो जिन आरम्भक अवयवोंमें अवयवी अवयवावच्छेदसे रहता है, उन आरम्भक अवयवोंसे भिन्न अवयवीके अवयवोंकी कल्पना करनी पड़ेगी। यह प्रसिद्ध है कि कोशके अवयवोंसे भिन्न अवयवोंसे तलवार कोशको व्याप्त करती है। ऐसी अवस्थामें अनवस्थाका दोष होगा, क्योंकि उन उन अवयवोंमें रहनेके लिए अन्य अन्य अवयवोंकी कल्पना करनी पड़ेगी। यदि प्रत्येक अवयमें रहे, तो एक स्थानपर व्यापार होनेपर दूसरे स्थानमें व्यापार न होगा, क्योंकि स्रुघ्नमें

रत्नप्रभा

जन्यत्वात् संवृतपटादेः यावदवयवानाम् अप्रत्यक्षत्वाद् अप्रत्यक्षत्वं प्रसज्येत इत्यर्थः। द्वितीयं शङ्कते—अथेति। यथा हस्ते कोशे च अवयवशः खड्गो वर्तमानो हस्त-मात्रग्रहेऽपि गृह्यते, एवं यत्किञ्चिदवयवग्रहेण अवयविनो ग्रहसम्भवेऽपि अवयवानाम् अनवस्था स्याद् इति दूषयति—तदापीति। आद्यद्वितीयम्

रत्नप्रभाका अनुवाद

इत्यादिसे। व्यासज्यवृत्ति[1] पदार्थका प्रत्यक्ष उसके सब आश्रय पदार्थोंके प्रत्यक्षसे होता है, इसलिए संवृत पटके सब अवयवोंका प्रत्यक्ष न होनेसे पटका प्रत्यक्ष नहीं होगा, ऐसा अर्थ है। दूसरे पक्षकी शंका करते हैं—"अथ" इत्यादिसे। जैसे हाथमें और म्यानमें अवयवशः रहनेवाली तलवार केवल हाथके ग्रहणसे भी गृहीत हो जाती है, उसी प्रकार कुछ अवयवोंके ग्रहणसे अवयवीका ग्रहण संभव होनेपर भी अवयवोंकी अनवस्था हो जायगी, ऐसा दूषित करते हैं—"तदापि"

(१) अनेक पदार्थोंमें व्याप्त।

भाष्य

संनिधीयमानस्तदहरेव पाटलिपुत्रेऽपि संनिधीयते युगपदनेकत्र वृत्तावनेकत्व-प्रसङ्गः स्यात् देवदत्तयज्ञदत्तयोरिव स्रुघ्नपाटलिपुत्रनिवासिनोः। गोत्वादिवत् प्रत्येकं परिसमाप्तेर्न दोष इति चेत्। न; तथा प्रतीत्यभावात्। यदि गोत्वादिवत् प्रत्येकं परिसमाप्तोऽवयवी स्याद् यथा गोत्वं प्रतिव्यक्ति गृह्यते एवमवयव्यपि प्रत्यवयवं प्रत्यक्षं गृह्येत, न चैवं नियतं गृह्यते। प्रत्येकपरिसमाप्तौ चावयविनः कार्येणाधिकारात् तस्य चैकत्वाच्छृङ्गेणापि-

भाष्यका अनुवाद

रहता हुआ देवदत्त उसी दिन पाटलिपुत्रमें नहीं रह सकता। एक ही समय अनेक स्थानमें रहे, तो स्रुघ्न और पाटलिपुत्रमें रहनेवाले देवदत्त और यज्ञदत्तके समान अनेकत्वका प्रसंग आवेगा। गोत्व आदिके समान प्रत्येकमें परिसमाप्ति होनेसे दोष नहीं है, ऐसा कहो तो, नहीं, ऐसा नहीं कह सकते। क्योंकि वैसी प्रतीति नहीं होती। यदि गोत्व आदिके समान अवयवी प्रत्येकमें परिसमाप्त हो, तो जैसे गोत्वका प्रत्येक व्यक्तिमें प्रत्यक्ष ग्रहण होता है, वैसे ही अवयवीका भी प्रत्येक अवयवमें प्रत्यक्ष ग्रहण होगा। परन्तु ऐसा नियमसे ग्रहण नहीं होता। प्रत्येकमें परिसमाप्ति हो, तो अवयवीको कार्यके साथ अधिकार होनेसे और उसके एक होनेसे गाय सींगसे भी स्तनकार्य करेगी और छातीसे पीठ-

---

रत्नप्रभा

उद्भाव्य दूषयति—अथ प्रत्यवयवमित्यादिना। एकस्मिन् तन्तौ पटवृत्तिकाले तन्त्वन्तरे वृत्तिः न स्यात्, वृत्तौ अनेकत्वापत्तेः इत्यर्थः। यथा युगपदनेकव्यक्तिषु वृत्तौ अपि जातेः अनेकत्वदोषो नास्ति, तथाऽवयविन इत्याशङ्कते—गोत्वेति। जातिवद् अवयविनो वृत्तिः असिद्धा अनुभवाभावाद् इति परिहरति—न तथेति। दोषान्तरमाह—प्रत्येकेति। अधिकारात्—सम्बन्धात्। यथा देवदत्तः स्वकार्यम्

रत्नप्रभाका अनुवाद

इत्यादिसे। कार्य प्रत्यवयवमें रहता है, इस पक्षको उठाकर दूषित करते हैं—"अथ प्रत्यवयवम्" इत्यादिसे। एक तन्तुमें जब पट रहता है, तब अन्य तन्तुमें वह नहीं रह सकेगा, यदि रहे तो अनेक हो जायगा, यह तात्पर्य है। जैसे एक ही समय अनेक व्यक्तियोंमें रहनेपर भी जातिमें अनेकत्व दोष नहीं है, उसी प्रकार अवयवीमें भी नहीं है, ऐसी शंका करते हैं—"गोत्व" इत्यादिसे। जातिके समान अवयवीकी वृत्ति असिद्ध है, क्योंकि ऐसा अनुभव नहीं है, इस प्रकार शंकाका परिहार करते हैं—"न तथा" इत्यादिसे। अन्य दोष कहते हैं—"प्रत्येक" इत्यादिसे। अधिकार—सबन्ध।

भाष्य

स्तनकार्यं कुर्यादुरसा च पृष्ठकार्यम्। नचैवं दृश्यते।

प्रागुत्पत्तेश्च कार्यस्यासत्त्व उत्पत्तिरकर्तृका निरात्मिका च स्यात्। उत्पत्तिश्च नाम क्रिया, सा सकर्तृकैव भवितुमर्हति गत्यादिवत्, क्रिया च नाम स्यादकर्तृका चेति विप्रतिपिध्येत। घटस्य चोत्पत्तिरुच्यमाना न

भाष्यका अनुवाद

का कार्य करेगी। परन्तु ऐसा देखा नहीं जाता।

और उत्पत्तिके पूर्व कार्य अविद्यमान हो, तो उत्पत्ति कर्तृरहित और निरात्मक हो जायगी। उत्पत्ति क्रिया है, वह गति आदिके समान सकर्तृक ही हो सकती है। क्रिया अकर्तृक हो यह विरुद्ध है। घटकी

रत्नप्रभा

अध्ययनं ग्रामे अरण्ये वा करोति; तथा गौः अवयवी स्वकार्यं क्षीरादिकं शृङ्ग-पुच्छादौ अपि कुर्याद् इत्यर्थः।

एवं वृत्त्यनिरूपणाद् अनिर्वाच्यत्वं कार्यस्य दर्शितम्, सम्प्रति असत्कार्यवादे दोषान्तरमाह—**प्रागिति**। यथा घटः चलति इत्युक्ते चलनक्रियां प्रति आश्रयत्व-रूपं कर्तृत्वं घटस्य भाति तथा पटो जायत इति जनिक्रियाकर्तृत्वमनुभूयते, अतो जनिकर्तुः जनेः प्राक् सत्त्वं वाच्यम् कर्तुः असत्त्वे क्रियाया अपि असत्त्वापत्तेः इत्यर्थः। जनेः अनुभवसिद्धेऽपि सकर्तृकत्वे क्रियात्वेन अनुमानमाह—**उत्पत्तिश्चेति**। असतो घटस्य उत्पत्तौ कर्तृत्वासम्भवेऽपि कुलालादेः सत्त्वात् कर्तृत्वम् इत्याशङ्क्य आह—**घटस्य चेति**। घटोत्पत्तिवद् असत्कपालाद्युत्पत्तिः

रत्नप्रभाका अनुवाद

जैसे देवदत्त अपने कार्य—अध्ययनको ग्राममें अथवा अरण्यमें करता है उसी प्रकार गाय भी अपने कार्य—क्षीर आदिका शृंग, पूँछ आदि अवयवोंमें सम्पादन करेगी यह अर्थ है।

इस प्रकार कार्यकी कारणमें वृत्तिका निरूपण नहीं किया जा सकता, इसलिए कार्य अनिर्वाच्य है, यह दिखलाया गया, अब असत्कार्यवादमें अन्य दोष कहते हैं—"प्राग्" इत्यादिसे। जैसे घट चलता—हिलता है, ऐसा कहनेपर चलनक्रियाका आश्रयत्वरूप कर्तृत्व घटमें भासता है, उसी प्रकार पट उत्पन्न होता है, इसमें जनन-क्रियाका कर्तृत्व अनुभवमें आता है, इसलिए यह कहना चाहिए कि जननक्रियाके पहले जननक्रियाका कर्ता है, यदि पहले कर्ता न हो, तो क्रिया भी नहीं होगी, ऐसा अर्थ है। जननक्रियाके अनुभवसिद्ध होनेपर भी वह सकर्तृक है, इस विषयमें क्रियात्वरूप हेतुसे अनुमान कहते हैं—"उत्पत्तिश्च" इत्यादिसे। असत् घट उत्पत्तिक्रियाका कर्ता न हो सकनेपर भी पूर्व विद्यमान कुलाल आदि कर्ता होंगे, ऐसी शंका कर कहते हैं—"घटस्य

भाष्य

घटकर्तृका किं तर्ह्यन्यकर्तृकेति कल्प्या स्यात्। तथा कपालादीनामप्युत्पत्तिरुच्यमानाऽन्यकर्तृकैव कल्प्येत, तथा च सति घट उत्पद्यत इत्युक्ते कुलालादीनि कारणान्युत्पद्यन्त इत्युक्तं स्यात्। न च लोके घटोत्पत्तिरित्युक्ते कुलालादीनामप्युत्पद्यमानता प्रतीयते, उत्पन्नताप्रतीतेश्च। अथ स्वकारणसत्तासम्बन्ध एवोत्पत्तिरात्मलाभश्च कार्यस्येति चेत्, कथमलब्धा-

भाष्यका अनुवाद

उत्पत्ति घटकर्तृक नहीं है, किन्तु अन्यकर्तृक है, ऐसी कल्पना करनी पड़ेगी। इसी प्रकार कपाल आदिकी उत्पत्ति भी तो अन्यकर्तृक ही है, ऐसी कल्पना करनी होगी। ऐसा होनेसे घट उत्पन्न होता है, ऐसा कहनेसे कुलाल आदि कारण उत्पन्न होते हैं, ऐसा कहा जायगा। परन्तु लोकमें घटकी उत्पत्ति ऐसा कहनेसे कुलाल आदिकी भी उत्पत्ति प्रतीत नहीं होती, क्योंकि घट उत्पन्न होता है, इस ज्ञानके अनन्तर कुलाल आदि उत्पन्न हुए हैं, ऐसा ज्ञान नहीं होता। यदि उत्पत्तिका अर्थ अपने कारण या सत्ताके साथ अपना संबन्ध और कार्यका आत्मलाभ हो तो जिसने सत्ता प्राप्त नहीं की वह

रत्नप्रभा

इत्यतिदिशति—तथेति। शङ्कामनूद्य दोषमाह—तथा चेति। अनुभवविरोध इत्यर्थः। उत्पत्तिः भावस्य आद्या विक्रिया इति स्वमतेन कार्यसत्त्वम् आनीतम्, सम्प्रति कार्यस्य उत्पत्तिर्नाम स्वकारणे समवायः स्वस्मिन् सत्तासमवायो वा इति तार्किकमतम् आशङ्कते—अथेति। तन्मतेनापि कार्यस्य सत्त्वम् आवश्यकम् असतः सम्बन्धित्वायोगाद् इत्याह—कथमिति। असतोर्वा इति दृष्टान्तोक्तिः। ननु नरशृङ्गादिवत् कार्यं सर्वदा सर्वत्र असत् न भवति, किन्तु उत्पत्तेः प्राग्

रत्नप्रभाका अनुवाद

च" इत्यादि। घटकी उत्पत्तिके समान कपाल आदिकी भी उत्पत्ति है, ऐसा अतिदेश करते हैं—"तथा" इत्यादिसे। शंकाका अनुवाद कर दोष कहते हैं—"तथा च" इत्यादिसे। आशय यह कि अनुभव विरोध है। उत्पत्ति—कारणका प्रथम विकार, इस प्रकार अपने मतमें उत्पत्तिके पूर्व कार्यसत्ता कही गई, अब कार्यकी उत्पत्तिका अर्थ अपने कारणमें अपना समवाय है अथवा अपनेमें सत्तासमवाय है? इस प्रकार तार्किक मतसे शंका करते हैं—"अथ" इत्यादिसे। तार्किकोंके मतसे भी कार्यकी सत्ता आवश्यक है, क्योंकि असत्का संबन्ध नहीं हो सकता है, ऐसा कहते हैं—"कथम्" इत्यादिसे। 'असतोर्वा' यह दृष्टान्तके लिए कहा गया है। नरशृंग आदिके समान कार्य सर्वदा सर्वत्र असत् नहीं होता है, किन्तु उत्पत्तिके

भाष्य

त्मकं सम्बध्येतेति वक्तव्यम्। सतोर्हि द्वयोः सम्बन्धः सम्भवति न सदसतो-रसतोर्वा। अभावस्य च निरुपाख्यत्वात् प्रागुत्पत्तेरिति मर्यादाकरणमनुपपन्नम्, सतां हि लोके क्षेत्रगृहादीनां मर्यादा दृष्टा नाभावस्य। नहि वन्ध्यापुत्रो राजा बभूव प्राक् पूर्णवर्मणोऽभिषेकादित्येवंजातीयकेन मर्यादा-करणेन निरुपाख्यो वन्ध्यापुत्रो राजा बभूव भवति भविष्यतीति वा विशे-ष्यते। यदि च वन्ध्यापुत्रोऽपि कारकव्यापारादूर्ध्वमभविष्यत् तत इदम-प्युपापत्स्यत कार्याभावोऽपि कारकव्यापारादूर्ध्वं भविष्यतीति। वयं तु

भाष्यका अनुवाद

कैसे संबद्ध होगा, यह कहना चाहिए, क्योंकि दो विद्यमान पदार्थोंमें संबन्ध होता है, विद्यमान और अविद्यमान या दो अविद्यमानोंमें नहीं होता। और अभावके असत् होनेसे, उत्पत्तिके पूर्व ऐसी अवधि करना युक्त नहीं है, क्योंकि लोकमें विद्यमान क्षेत्र, गृह आदिकी मर्यादा देखी जाती है, अभावकी नहीं देखी जाती। पूर्णवर्माके अभिषेकके पूर्व वन्ध्यापुत्र राजा था, इस प्रकारकी मर्यादा करनेसे असत् वन्ध्यापुत्र राजा था, है या होगा, ऐसा नहीं कहा जा सकता। यदि वन्ध्यापुत्र भी कारकके व्यापारके अनन्तर उत्पन्न होता, तो असत् कार्य भी कारकके व्यापारके अनन्तर होता है, यह कथन भी उपपन्न होता। हम तो ऐसा

रत्नप्रभा

ध्वंसानन्तरं च असत् मध्ये तु सदेव इति वैषम्यात् सम्बन्धित्वोपपत्तिः इत्याशङ्क्य आह—अभावस्येति। अत्र अभावशब्दा असच्छब्दापरपर्याया व्याख्येयाः। असतः कालेन असम्बन्धात् प्राक्त्वं न युक्तमित्यर्थः। ननु कारकव्यापाराद् ऊर्ध्व-भाविनः कार्यस्य वन्ध्यापुत्रतुल्यत्वं कथम् इत्यत आह—यदि चेति। कार्याभावः असत्कार्यमित्यर्थः, इति उपापत्स्यत—उपपन्नमभविष्यद् इत्यन्वयः। कः तर्हि

रत्नप्रभाका अनुवाद

पहले और नाशके अनन्तर असत् रहता है, मध्यमें तो सत् ही होता है, इस प्रकार अत्यन्त असत् पदार्थसे कार्यमें विषमता है, इसलिए संबन्धित्व उपपन्न होता है, ऐसी आशंका कर कहते हैं—"अभावस्य" इत्यादि। इस प्रकरणमें कथित अभावशब्दको असत्शब्दका पर्याय समझना चाहिए। असत्का कालसे सबन्ध नहीं रहता, इसलिए उसका प्राथम्य और आनन्तर्य कहना ठीक नहीं है, यह आशय है। कारक व्यापारके अनन्तर होनेवाला कार्य वंध्यापुत्र-सदृश कैसे है? इसपर कहते हैं—"यदि च" इत्यादि। कार्याभाव—असत्कार्य। 'इति उपापत्स्यत' (ऐसा उपपन्न होता) ऐसा अन्वय समझना चाहिए। तव क्या निर्णय है? इस-

भाष्य

पश्यामो वन्ध्यापुत्रस्य कार्याभावस्य चाभावत्वाविशेषाद्यथा वन्ध्यापुत्रः कारकव्यापारादूर्ध्वं न भविष्यत्येवं कार्याभावोऽपि कारकव्यापारादूर्ध्वं न भविष्यतीति। नन्वेवं सति कारकव्यापारोऽनर्थकः प्रसज्येत। यथैव हि प्राक्सिद्धत्वात् कारणस्य स्वरूपसिद्धये न कश्चिद् व्याप्रियते, एवं प्राक्सिद्धत्वात् तदनन्यत्वाच्च कार्यस्य स्वरूपप्रसिद्धयेऽपि न कश्चिद् व्याप्रियेत, व्याप्रियते च, अतः कारकव्यापारार्थवत्त्वाय मन्यामहे प्रागुत्पत्तेरभावः कार्यस्येति चेत्। नैष दोषः। यतः कार्याकारेण कारणं व्यवस्थापयतः

भाष्यका अनुवाद

देखते हैं कि वन्ध्यापुत्र और कार्याभाव दोनों अभाव हैं, इसलिए जैसे कारकके व्यापारके अनन्तर वन्ध्यापुत्र नहीं होता, वैसे कार्याभाव भी कारकके व्यापारके अनन्तर नहीं होगा। परन्तु ऐसी परिस्थितिमें तो कारकके व्यापार निरर्थक हो जायंगे। जैसे पूर्वमें सिद्ध होनेसे कारणस्वरूप की सिद्धिके लिए कोई व्यापार नहीं करता, वैसे ही कार्यके भी पूर्वमें सिद्ध होने और उससे अनन्य होनेसे उसके स्वरूपकी सिद्धिके लिए भी कोई व्यापार न करेगा। परन्तु व्यापार तो करता है, इससे कारणका व्यापार सप्रयोजन होनेके लिए उत्पत्तिके पूर्व कार्यका अभाव है, ऐसा हम मानते हैं। यह दोष नहीं है, क्योंकि कार्य स्वरूपसे

रत्नप्रभा

निर्णयः तत्राह—वयं त्विति। "नासतो विद्यते भावः" (भ० गी० २।१६) इति स्मृतेः इति भावः। सत्कार्यवादे कारकवैयर्थ्यं शङ्कते—नन्विति। सिद्धकारणानन्यत्वाच्च कार्यस्य सिद्धत्वम् इत्याह—तदनन्यत्वाच्चेति। अनिर्वाच्यकार्यात्मना कारणस्य अभिव्यक्त्यर्थः कारकव्यापार इत्याह—नैष दोष इति। कार्यसत्यत्वम् इच्छतां सांख्यानां सत्कार्यवादे कारकवैयर्थ्यं दोष आपतति अभिव्यक्तेः अपि सत्त्वात्, अद्वैतवादिनां तु अघटितघटनावभासनचतुरमाया-

रत्नप्रभाका अनुवाद

पर कहते हैं—"वयं तु" इत्यादि। 'नासतो विद्यते०' (असत् पदार्थकी सत्ता नहीं है) ऐसी स्मृति है, इसलिए, यह भाव है। सत्कार्यवादमें कारकवैयर्थ्यकी शंका करते हैं—"ननु" इत्यादिसे। सिद्ध कारणसे अभिन्न होनेसे कार्य सिद्ध है, ऐसा कहते हैं—"तदनन्यत्वाच्च" इत्यादिसे। अनिर्वाच्य कार्यरूपसे कारणकी अभिव्यक्तिके लिए कारकव्यापार है, ऐसा कहते हैं—"नैष दोषः" इत्यादिसे। कार्यको सत्य माननेवाले सांख्यके मतमें सत्कार्यवादमें कारकवैयर्थ्य होता है, क्योंकि अभिव्यक्ति भी सत् है, अद्वैतवादियोंके मतमें तो अघटितकी घटनाकर उसका

भाष्य

कारकव्यापारस्यार्थवत्त्वमुपपद्यते। कार्याकारोऽपि कारणस्याऽऽत्मभूत एवा-नात्मभूतस्याऽनारभ्यत्वादित्यभाणि। न च विशेषदर्शनमात्रेण वस्त्वन्यत्वं भवति। नहि देवदत्तः संकोचितहस्तपादः प्रसारितहस्तपादश्च विशेषेण दृश्यमानोऽपि वस्त्वन्यत्वं गच्छति, स एवेति प्रत्यभिज्ञानात्। तथा

भाष्यका अनुवाद

कारणकी व्यवस्था करनेवालेको कारकव्यापार सप्रयोजन है, ऐसी उपपत्ति होगी। कार्यका स्वरूप भी कारणका आत्मभूत ही है, क्योंकि जो अनात्म-भूत है वह अनारभ्य है, ऐसा कहा है। और वस्तु विशेष दर्शनमात्रसे अन्य नहीं हो जाती। हाथ-पैरोंको सिकोड़े हुए और हाथ-पैरोंको फैलाये हुए देवदत्तमें यद्यपि कुछ विशेषता दीखती है, तथापि वास्तवमें कुछ भेद नहीं है, क्योंकि वही है, ऐसी प्रत्यभिज्ञा होती है। उसी प्रकार प्रति-

रत्नप्रभा

महिम्ना स्वप्नवद् यथादर्शनं सर्वमुपपन्नम्। विचार्यमाणे सर्वमयुक्तम्, युक्तत्वे द्वैतापत्तिरिति मुख्यं समाधानम् समाधानान्तराभावात्। ननु कारणाद् भिन्नम् असदेव उत्पद्यते इति समाधानं किं न स्याद् इति आशङ्क्य असत्पक्षस्य दूषणमुक्तं स्मर इत्याह—कार्याकारोऽपीति। अतः कारणाद् भेदाभेदाभ्यां दुर्निरूपस्य सदसद्विलक्षणस्य अनिर्वाच्याभिव्यक्तिः अनि-र्वाच्यकारकव्यापाराणां फलमिति पक्ष एव श्रेयान् इति भावः। ननु मृदि अदृष्टः पृथुबुध्नत्वाद्यवस्थाविशेषो घटे दृश्यते, तथा च घटो मृद्भिन्नः तद्विरुद्ध-विशेषवत्त्वाद् वृक्षवद् इत्यत आह—न चेति। वस्तुनोऽन्यत्वं सत्यो भेदः।

रत्नप्रभाका अनुवाद

अवभास करानेमें चतुर मायाकी महिमासे स्वप्नके समान जो कुछ दिखता है, वह सब उपपन्न होता है। परन्तु कुछ विचार करनेपर वह सब अयुक्त ठहर जाता है, क्योंकि यदि वह युक्त हो, तो द्वैतकी आपत्ति होगी, यहाँ यही मुख्य समाधान है, क्योंकि इसकी अपेक्षा अच्छा समाधान दूसरा नहीं है। परन्तु कारणसे भिन्न असत् ही उत्पन्न होता है यह समाधान क्या नहीं है? ऐसी आशंका कर असत्पक्षमें जो दूषण कहा गया है, उसका स्मरण करो, ऐसा कहते हैं—"कार्याकारोऽपि" इत्यादिसे। इसलिए कारणसे भिन्न है या अभिन्न है, ऐसा निरूपण करनेके अयोग्य सत् और असत्से विलक्षण कार्यकी अनिर्वाच्य अभिव्यक्ति ही अनिर्वाच्य कारकव्यापारोंका फल है, यह पक्ष ही श्रेयस्कर है, ऐसा अर्थ है। मृत्तिकामें न दिखाई देने वाला पृथुबुध्नत्व आदि अवस्थाविशेष घटमें दिखाई देता है, अतः घट मृत्तिकासे भिन्न है, मृत्तिकासे विरुद्ध आकारविशेषवाला होनेसे, वृक्षके समान, ऐसा अनुमान होता है, इसपर कहते

भाष्य

प्रतिदिनमनेकसंस्थानानामपि पित्रादीनां न वस्त्वन्यत्वं भवति, मम पिता मम भ्राता मम पुत्र इति प्रत्यभिज्ञानात्। जन्मोच्छेदानन्तरितत्वात् तत्र युक्तं नाऽन्यत्रेति चेत् न, क्षीरादीनामपि दध्याद्याकारसंस्थानस्य प्रत्यक्षत्वात्। अदृश्यमानानामपि वटधानादीनां समानजातीयावयवान्तरोपचितानाम-

भाष्यका अनुवाद

दिन आकृतियोंमें भेद आनेपर भी पिता आदि अन्य नहीं हो जाते, क्योंकि मेरा पिता, मेरा भ्राता, मेरा पुत्र ऐसी प्रत्यभिज्ञा होती है। जन्म और उच्छेदका व्यवधान नहीं है इससे वहां यह युक्त है, अन्यत्र नहीं, ऐसा कहो, तो नहीं कह सकते, क्योंकि दूध आदि दही आदिके आकारमें हैं, ऐसा प्रत्यक्ष है। वटके बीज आदि जो अदृश्यमान हैं, वे भी अन्य समानजातीय अवयवोंसे वृद्धि

रत्नप्रभा

हेतोः व्यभिचारस्थलान्तरमाह—तथा प्रतिदिनमिति। प्रत्यहं पित्रादिदेहस्य अवस्थाभेदेऽपि जन्मनाशयोः अभावाद् अभेदो युक्तः, दार्ष्टान्तिके तु मृदादिनाशे सति घटादिकं जायते इति जन्मविनाशरूपविरुद्धधर्मवत्त्वात् कार्यकारणयोः अभेदो न युक्त इति शङ्कते—जन्मेति। कारणस्य नाशाभावाद् हेत्वसिद्धिः इति परिहरति—नेति। दधिघटादिकार्यान्वितत्वेन क्षीरमृदादीनां प्रत्यक्षत्वात् नाशासिद्धिः इत्यर्थः। ननु यत्र अन्वयो दृश्यते तत्र हेत्वसिद्धौ अपि यत्र अङ्कुरादौ वटबीजादीनाम् अन्वयो न दृश्यते तत्र हेतुसत्त्वाद् वस्त्वन्यत्वं स्याद् इत्यत आह—अदृश्येति। तत्रापि अङ्कुरादौ बीजाद्यवयवानाम् अन्वयात् न स्त एव

रत्नप्रभाका अनुवाद

हैं—"न च" इत्यादि। वस्तुका अन्यत्व—सत्य भेद। हेतुका अन्य व्यभिचारस्थल कहते हैं—"तथा प्रतिदिनम्" इत्यादिसे। प्रतिदिन पिता आदिके देहमें अवस्था भेद होता है, तो भी देहके जन्म और नाश प्रतिदिन नहीं होते हैं, इसलिए देहका अभेद कहना युक्त है। दार्ष्टान्तिकमें तो मृत्तिका आदिका नाश होनेपर घट आदि उत्पन्न होता है, इस प्रकार जन्म और नाशरूप विरुद्ध धर्म होनेसे कार्य और कारणमें अभेद कहना युक्त नहीं है, ऐसी शंका करते हैं—"जन्म" इत्यादिसे। कारणका नाश नहीं होता है, इसलिए हेतु असिद्ध है, इस प्रकार शंकाका परिहार करते हैं—"न" इत्यादिसे। तात्पर्य यह है कि दधि, घट आदि कार्योंमें अनुगत होनेसे क्षीर, मृत्तिका आदिका प्रत्यक्ष होता है, इसलिए उनका नाश होना असिद्ध है। यदि कोई कहे कि जहाँ अनुवृत्ति देखी जाती है, वहां हेतु असिद्ध होनेपर भी जहाँ अंकुर आदिमें वटबीज आदिकी अनुवृत्ति नहीं देखी जाती है, वहां हेतु होनेसे वस्तुभेद हो, इसपर कहते हैं—

भाष्य

ङ्कुरादिभावेन दर्शनगोचरतापत्तौ जन्मसंज्ञा, तेषामेवाऽवयवानामपचय-वशाददर्शनापत्तावुच्छेदसंज्ञा। तत्रेदृग्जन्मोच्छेदान्तरितत्वाच्चेदसतः सत्त्वा-पत्तिः सतश्चासत्त्वापत्तिस्तथा सति गर्भवासिन उत्तानशायिनश्च भेदप्रसङ्गः। तथा च बाल्ययौवनस्थाविरेष्वपि भेदप्रसङ्गः, पित्रादिव्यवहारलोपप्रसङ्गश्च। एतेन क्षणभङ्गवादः प्रतिवदितव्यः। यस्य तु पुनः प्रागुत्पत्तेरसत्कार्यं तस्य निर्विषयः कारकव्यापारः स्यात्, अभावस्य विषयत्वानुपपत्तेराकाशहनन-

भाष्यका अनुवाद

पाकर अंकुरादि भावोंसे दृष्टिगोचर होते हैं, तब उनकी जन्मसंज्ञा होती है और वे ही अवयव क्षय हो जानेसे जब अदर्शनता प्राप्त करते हैं, तब उनकी उच्छेद-संज्ञा होती है। उनमें ऐसे जन्म और उच्छेदका व्यवधान होनेसे असत् सत् हो और सत् असत् हो, तो ऐसा होनेसे गर्भमें रहनेवाले और उत्तान होकर सोने वाले इन दोनोंमें भेद होगा। इसी प्रकार बाल्य, यौवन और स्थाविरमें भेदका प्रसंग हो जायगा। इसी प्रकार पिता आदि व्यवहार लुप्त हो जायँगे। इससे क्षण-भंगवादका प्रत्याख्यान हुआ समझना चाहिए। परन्तु जिसके मतमें उत्पत्तिके पूर्व कार्य अविद्यमान हैं, उसके मतमें आकाशको मारनेके लिये खड्गादि अनेक

रत्नप्रभा

जन्मविनाशौ, किन्तु अवयवान्तरोपचयापचयाभ्यां तद्व्यवहार इत्यर्थः। अस्तु उप-चयापचयलिङ्गेन वस्तुभेदानुमानम्, ततोऽसत उत्पत्तिः, सतो नाश इति आशङ्क्य व्यभिचारमाह—तत्रेदृगिति। पितृदेहेऽपि भेदसत्त्वात् न व्यभिचार इत्यत्र बाधकमाह—पित्रादीति। एतेनेति। कारणस्य सर्वकार्येषु अन्वयकथनेन इत्यर्थः। स्वपक्षे दोषं परिहृत्य परपक्षे प्रसञ्जयति—यस्यतु पुनरिति। असतः कार्यस्य

रत्नप्रभाका अनुवाद

"अदृश्य" इत्यादिसे। वहां अंकुर आदिमें भी बीज आदिके अवयवोंकी अनुवृत्ति होनेसे कारणके जन्म और नाश नहीं होते हैं, किन्तु अन्य अवयवोंकी वृद्धि और क्षयसे जन्म और नाशका व्यवहार होता है, यह अर्थ है। वृद्धि और क्षय रूप हेतुसे वस्तुभेदका अनुमान हो, इससे जगत्की उत्पत्ति एवं सत्का नाश सिद्ध होते हैं, ऐसी आशंका कर व्यभिचार कहते हैं—"तत्रेदम्" इत्यादिसे। पितृदेहमें भी भेद है, इसलिए व्यभिचार नहीं है, इस विषयमें बाधक कहते हैं—"एतेन" इत्यादिसे। एतेन—सब कार्योंमें कारणकी अनुवृत्तिके कथनसे। अपने मतमें दोषका परिहार करके अन्य मतमें दोपका आपादन करते हैं—"यस्य तु पुनः" इत्यादिसे। परन्तु असत् कार्य कारकव्यापारसे उत्पाद्यमान विशेषका

भाष्य

प्रयोजनखड्गाद्यनेकायुधप्रयुक्तिवत् । समवायिकारणविषयः कारकव्यापारः स्यादिति चेत्, न; अन्यविषयेण कारकव्यापारेणाऽन्यनिष्पत्तेरतिप्रसङ्गात् समवायिकारणस्यैवाऽऽत्मातिशयः कार्यमिति चेत्, न; सत्कार्यतापत्तेः। तस्मात् क्षीरादीन्येव द्रव्याणि दध्यादिभावेनाऽवतिष्ठमानानि कार्याख्यां लभन्त इति न कारणादन्यत् कार्यं वर्षशतेनाऽपि शक्यं कल्पयितुम् । तथा मूलकारणमेवाऽन्त्यात् कार्यात् तेन तेन कार्याकारेण नटवत् सर्वव्यवहारास्पदत्वं प्रतिपद्यते । एवं युक्तेः कार्यस्य प्रागुत्पत्तेः सत्त्वमनन्यत्वं च

भाष्यका अनुवाद

आयुधोंके समान कारक व्यापार निर्विषय हो जायगा, क्योंकि अभाव विषय नहीं हो सकता। कारक व्यापारका विषय समवायी कारण होगा, ऐसा कहो, तो ऐसा नहीं कह सकते। अन्य विषयकारक व्यापारसे अन्यकी निष्पत्ति हो, तो अति प्रसंग होगा। कार्य समवायी कारणका ही अतिशय है, ऐसा कहो, तो ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि सत्कार्यवाद सिद्ध हो जायगा। इसलिए दूध आदि पदार्थ दधि आदिके स्वरूपसे रहते हुए कार्यकी संज्ञा प्राप्त करते हैं। कारणसे कार्यको सौ वर्षमें भी अन्य करना शक्य नहीं है। उसी प्रकार मूल कारण ही अन्त्यकार्यपर्यन्त उस कार्यके आकारसे नटके समान सब व्यवहारका आश्रय होता है। इस प्रकार उत्पत्तिके पूर्व कार्यका सत्त्व और

रत्नप्रभा

कारकव्यापाराऽऽहितातिशयाश्रयत्वायोगाद् अविषयत्वेऽपि मृदादेर्विषयत्वं स्याद् इति शङ्कते—**समवायीति**। समवायिकारणात् कार्यं भिन्नमभिन्नं वा इति विकल्प्य आद्यं निरस्यति—**नेत्यादिना**। द्वितीयम् आशङ्क्य इष्टापत्तिमाह—**समवायीति**। कार्याणाम् अवान्तरकारणानन्यत्वमुपसंहरति—**तस्मादिति**। परमकारणानन्यत्वं फलितमाह— **तथा मूलेति**।

रत्नप्रभाका अनुवाद

आश्रय न होनेसे उसका विषय न होनेपर भी मृत्तिका आदि उसके विषय हो सकते हैं, ऐसी शंका करते हैं—"समवायि" इत्यादिसे। समवायिकारणसे कार्य भिन्न है अथवा अभिन्न है, ऐसा विकल्प करके प्रथम पक्षका निराकरण करते हैं—"न" इत्यादिसे। द्वितीय पक्षकी आशंकाकर उसमें इष्टापत्ति कहते हैं—"समवायि" इत्यादिसे। कार्य अवान्तर कारणोंसे अभिन्न है, इस सिद्धान्तका उपसंहार करते हैं—"तस्माद्" इत्यादिसे। परम कारण ब्रह्मसे अभेदरूप फलित कहते हैं—"तथा मूल" इत्यादिसे।

भाष्य

कारणादवगम्यते। शब्दान्तराच्चैतदवगम्यते। पूर्वसूत्रेऽसद्व्यपदेशिनः शब्दस्योदाहृतत्वात् ततोऽन्यः सद्व्यपदेशी शब्दः शब्दान्तरम्—'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्' इत्यादि। 'तद्धैक आहुरसदेवेदमग्र आसीत्' इति चाऽसत्पक्षमुपक्षिप्य 'कथमसतः सज्जायेत' इत्याक्षिप्य सदेव सोम्येदमग्र आसीत्' (छा० ६।२।१) इत्यवधारयति। तत्रेदंशब्दवाच्यस्य कार्यस्य प्रागुत्पत्तेः सच्छब्दवाच्येन कारणेन सामानाधिकरण्यस्य श्रूयमाणत्वात् सत्त्वानन्यत्वे प्रसिध्यतः। यदि तु प्रागुत्पत्तेरसत्कार्यं स्यात् पश्चाच्चोत्पद्यमानं कारणे समवेयात् तदान्यत् कारणात् स्यात्,। तत्र 'येनाश्रुतं श्रुतं भवति' (छा० ६।१।३) इतीयं प्रतिज्ञा पीड्येत। सत्त्वानन्यत्वावगतेस्त्वियं प्रतिज्ञा समर्थ्यते॥ १८॥

भाष्यका अनुवाद

कारणसे अनन्यत्व युक्तिसे समझा जाता है और अन्य शब्दसे भी यह समझा जाता है। पूर्व सूत्रमें असत्का व्यपदेश करनेवाला शब्द कहा गया है, इससे अन्य अर्थात् जिनमें सत्का व्यपदेश है, वे अन्य शब्द हैं—"सदेव सोम्येदमग्र०" (हे सोम्य, पूर्वमें यह सत्स्वरूप एक अद्वितीय था) इत्यादि। 'तद्धैक आहुरसदेवेदम०' (कुछ लोग कहते हैं कि पूर्वमें यह असत्स्वरूप ही था) इस प्रकार असत्पक्षका उपक्षेप करके 'कथमसतः०' (असत्से सत् कैसे उत्पन्न हो) ऐसा आक्षेप करके 'सदेव सोम्येदमग्र०' (हे सोम्य, पूर्वमें यह सत्स्वरूप ही था) ऐसा श्रुति निर्णय करती है। उसमें इदम् शब्दका वाच्य जो कार्य है, उसका उत्पत्तिके पूर्व सत्शब्दवाच्य कारणके साथ सामानाधिकरण्य श्रुतिमें कहा गया है, उससे सत्त्व और कारणाभेद स्पष्टतया सिद्ध होते हैं। यदि उत्पत्तिके पूर्व कार्य असत् हो और पीछेसे उत्पन्न होकर कारणमें समवेत हो, तो कारणसे अन्य हो। ऐसा होनेसे 'येनाश्रुतं०' (जिससे अश्रुत भी श्रुत हो जाता है) इस प्रतिज्ञाका बाध हो जायगा। सत्त्व और अभेदकी अवगतिसे तो इस प्रतिज्ञाका समर्थन होता है॥ १८॥

रत्नप्रभा

असत्कार्यवादे प्रतिज्ञाबाधः स्याद् इत्याह—यदि तु प्रागुत्पत्तेरिति॥१८॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

असत्कार्यवादमें प्रतिज्ञा बाधित हो जायगी, ऐसा कहते हैं—"यदि तु प्रागुत्पत्तेः" इत्यादिसे॥ १८॥

पटवच्च ॥ १९ ॥

पदच्छेद—पटवत्, च ।

पदार्थोक्ति—पटवच्च—तथा संवेष्टितप्रसारितपटस्य विलक्षणप्रतीतिविषयत्वेऽपि न भेदस्तथा मृद्घटयोरपि ।

भाषार्थ—जैसे लपेटे हुए और फैलाये हुए एक ही वस्त्रमें तत्तत् समयोंमें विलक्षणता प्रतीत होनेपर भी वस्त्रमें कोई भेद नहीं आता, उसी प्रकार मृत्तिका और घटमें भी भेद नहीं है ।

भाष्य

यथा च संवेष्टितः पटो न व्यक्तं गृह्यते किमयं पटः किं वाऽन्यद् द्रव्यमिति, स एव प्रसारितो यत् संवेष्टितं द्रव्यं तत् पट एवेति प्रसारणेनाऽभिव्यक्तो गृह्यते । यथा च संवेष्टनसमये पट इति गृह्यमाणोऽपि न विशिष्टायामविस्तारो गृह्यते, स एव प्रसारणसमये विशिष्टायामविस्तारो गृह्यते न संवेष्टितरूपादन्योऽयं भिन्नः पट इति । एवं तन्त्वादिकारणावस्थं

भाष्यका अनुवाद

जैसे लपेटे हुए वस्त्रका ठीक ठीक परिज्ञान नहीं होता कि यह वस्त्र है या कोई अन्य पदार्थ है । उसको फैला देनेके बाद यह स्पष्टतया प्रतीत होता है कि लपेटी हुई वस्तु वस्त्र ही है । और जिस प्रकार संवेष्टनके समय वस्त्र रूपसे प्रतीत होनेपर भी विशिष्ट लम्बाई और चौड़ाईके ज्ञानपूर्वक उसकी प्रतीति नहीं होती, उसी प्रकार प्रसारण समयमें विशिष्ट लम्बाई और चौड़ाईकी प्रतीति होती है और संवेष्टित वस्त्रसे भिन्न यह दूसरा वस्त्र है, ऐसी प्रतीति नहीं होती है ।

रत्नप्रभा

कार्यम् उपादानाद् भिन्न तदुपलब्धौ अपि अनुपलभ्यमानत्वात् ततोऽधिकपरिमाणत्वाच्च मशकादिव शशक इत्यत्र व्यभिचारार्थं सूत्रम्—पटवच्चेति । द्वितीयहेतोः व्यभिचारं स्फुटयति—यथा च संवेष्टनेति । आयामः—दैर्घ्यम् ॥१९॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

कार्य उपादान कारणसे भिन्न है, क्योंकि कारणकी उपलब्धि होनेपर भी कार्य उपलब्ध नहीं होता है और कारणकी अपेक्षा अधिक परिणामवाला है, मशकसे भिन्न शशके समान, इस अनुमानके व्यभिचार दिखलानेके लिए "पटवच्च" सूत्र है । "यथा च संवेष्टन" इत्यादिसे द्वितीय हेतुमें व्यभिचार स्पष्ट करते हैं । आयाम—दीर्घता ॥ १९ ॥

भाष्य

पटादिकार्यमस्पष्टं सत् तुरीवेमकुविन्दादिकारकव्यापारादिभिर्व्यक्तं स्पष्टं गृह्यते। अतः संवेष्टितप्रसारितपटन्यायेनैवाऽनन्यत् कारणात् कार्यमित्यर्थः ॥ १९ ॥

भाष्यका अनुवाद

उसी प्रकार तन्तु आदि कारण रूपसे स्थित पट आदि कार्य होकर तुरी, वेम, कुविन्द आदि कारक व्यापार आदिसे व्यक्त होकर स्पष्ट गृहीत होता है। इसलिए संवेष्टित और प्रसारित पटके न्यायसे ही कारण कार्यसे अनन्य है, ऐसा अर्थ है ॥ १९ ॥

यथा च प्राणादिः ॥ २० ॥

पदच्छेद—यथा, च, प्राणादिः।

पदार्थोक्ति—यथा च प्राणादिः—यथा च प्राणायामादिना निरुद्धः प्राणापानादिः जीवनमात्रं कार्यं निष्पादयति, अनिरुद्धस्त्वाकुञ्चनप्रसारणादिकं कार्यं निर्वर्तयति, नैतावता प्राणादेर्भेदोऽस्ति, तद्वत् कार्यभेदेऽपि कारणैक्ये न विरोधः।

भाषार्थ—जैसे प्राणायाम आदिसे निरुद्ध प्राण अपान आदि केवल जीवन रूप कार्यको संपन्न करते हैं, अनिरुद्ध होकर वे ही प्राणादि आकुञ्चन, प्रसारण आदि कार्यको भी संपन्न करते हैं, परन्तु प्राण आदिमें भेद नहीं है। इसी प्रकार कार्यमें भेद होनेपर भी कारणकी एकतामें कोई विरोध नहीं है।

भाष्य

यथा च लोके प्राणापानादिषु प्राणभेदेषु प्राणायामेन निरुद्धेषु कारणमात्ररूपेण वर्तमानेषु जीवनमात्रं कार्यं निर्वर्त्यते नाकुञ्चनप्रसारणादिकं कार्यान्तरम्। तेष्वेव प्राणभेदेषु प्रवृत्तेषु जीवनादधिकमाकुञ्चनप्रसारणादिकमपि कार्यान्तरं निर्वर्त्यते। न च प्राणभेदानां प्रभेदवतः प्राणादन्यत्वम्,

भाष्यका अनुवाद

और जैसे लोकमें प्राण, अपान आदि प्राणभेदोंके प्राणायाम द्वारा निरुद्ध होनेपर और कारणमात्र रूपसे रहनेपर जीवनमात्र कार्य होता है, आकुञ्चन, प्रसारण आदि अन्य कार्य नहीं होते परन्तु वे ही प्राणभेद फिर प्रवृत्त होते हैं, उनके प्रवृत्त होनेके बाद जीवनसे अधिक आकुंचन, प्रसारण आदि अन्य कार्य

भाष्य

समीरणस्वभावाविशेषात् । एवं कार्यस्य कारणादनन्यत्वम् । अतश्च कृत्स्नस्य जगतो ब्रह्मकार्यत्वात् तदनन्यत्वाच्च सिद्धैषा श्रौती प्रतिज्ञा 'येनाश्रुतं श्रुतं भवत्यमतं मतमविज्ञातं विज्ञातम्' (छा० ६।१।१) इति ॥ २० ॥

भाष्यका अनुवाद

भी होते हैं और कार्य भेदविशिष्ट प्राणसे प्राणभेद अन्य नहीं हैं, क्योंकि पवनस्वभाव सबमें तुल्य है । इसी प्रकार कार्य कारणसे अनन्य है । इसलिए सम्पूर्ण जगत् ब्रह्मकार्य होनेसे और उससे अनन्य होनेसे 'येनाश्रुतं श्रुतं भवति, (जिससे अश्रुत श्रुत हो जाता है, मनन न किया हुआ मनन किया हुआ हो जाता है और अज्ञात ज्ञात हो जाता है) यह श्रुतिप्रतिज्ञा सिद्ध होती है ॥ २० ॥

रत्नप्रभा

तत्रैव विलक्षणकार्यकारित्वं हेतुम् आशङ्क्य व्यभिचारमाह—यथा च प्राणादिरिति । एवं जीवजगतोः ब्रह्मानन्यत्वात् प्रतिज्ञासिद्धिः इत्यधिकरणार्थम् उपसंहरति—अतश्च कृत्स्नस्येति ॥२०॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

उसी अनुमानमें विलक्षणकार्यकारित्व हेतु है, ऐसी आशंका कर सूत्रकार व्यभिचार कहते हैं,—"यथा च प्राणादिः" इत्यादिसे । इस प्रकार जीव और जगत् ब्रह्माभिन्न होनेसे प्रतिज्ञा सिद्ध है, ऐसा अधिकरणके अर्थका उपसंहार करते हैं—"अतश्च कृत्स्नस्य" इत्यादिसे ॥२०॥

अच्युतके उद्देश्य और नियम

उद्देश्य—

सनातन-धर्मकी उन्नति करनेवाले उत्तमोत्तम प्राचीन संस्कृत-ग्रन्थोंका भाषानुवाद प्रकाशित कर जनतामें ज्ञान और भक्तिका प्रचार करना इसका उद्देश्य है।

प्रबन्ध-सम्बन्धी नियम—

(१) 'अच्युत' प्रतिमास पूर्णिमाको प्रकाशित होता है।

(२) इसका वार्षिक मूल्य भारत के लिये ६) रु० और विदेशके लिये ८) रु० है। एक संख्याका मूल्य ॥) है।

(३) ग्राहकोंको मनीआर्डरद्वारा रुपये भेजनेमें सुविधा होगी। वी० पी० द्वारा मंगानेसे रजिस्टरीका व्यय उनके जिम्मे अधिक पड़ जायगा।

(४) मनीआर्डरसे रुपये भेजनेवाले ग्राहक महाशयोंको कूपनपर रुपयोंकी तादाद, रुपये भेजनेका मतलब, अपना पूरा पता, नये ग्राहकोंको 'नये ग्राहक' और पुराने ग्राहकोंको अपना ग्राहक-नम्बर स्पष्ट अक्षरोंमें लिख देना चाहिये।

(५) उत्तरके लिये जबावी पोस्टकार्ड या टिकट भेजना चाहिये।

(६) जिन महाशयोंको अपना पता बदलवाना हो, उन्हें कार्यालयको पता बदलवानेके विषयमें पत्र लिखते समय अपना पुराना पता तथा ग्राहक-नम्बर लिखना नहीं भूलना चाहिये।

व्यवस्थापक

अच्युत-ग्रन्थमाला-कार्यालय,

ललिताघाट, बनारस।

विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परासुव ।
यद्भद्रं तन्न आसुव ॥

Cover printed at the Indian Press, Ltd.,
Benares.

अच्युत

संरक्षक—गौरीशङ्करगोयनका-समर्पित निधि, काशी

वर्ष १ } {अङ्क १२

पौष पूर्णिमा

१९९१

अच्युत

वार्षिक मूल्य—६)

एक प्रति का—॥)

सम्पादक—

पं० चण्डीप्रसाद शुक्ल, प्रिंसिपल जो० म० गोयनका संस्कृत महाविद्यालय,

स० सम्पादक तथा प्रकाशक—

पं० श्रीकृष्ण पन्त साहित्याचार्य, अच्युत-ग्रन्थमाला-कार्यालय,
ललिताघाट काशी।

मुद्रक—द० ल० निघोजकर, श्रीलक्ष्मीनारायण प्रेस, काशी।

निवेदन

—:○:—

प्रथम खण्ड की विषय-सूची इस अंकके साथ सेवा में भेजी जा रही है। भूमिकामें अभी कुछ विलम्ब है अतएव उसे अगले अंकके साथ ही ग्राहकोंकी शुभ सन्निधिमें भेजना हमने उचित समझा। उसके साथ ही प्रथम खण्डके लिए कपड़ेकी सुन्दर जिल्द भी ग्राहकोंको भेंट करनेका हमारा विचार है। इसलिए अनुग्राहक ग्राहकोंसे हमारी प्रार्थना है कि 'अच्युत' का जिल्द बँधवाना अभी कुछ दिन और स्थगित रक्खें।

दूसरी प्रार्थना यह है कि 'अच्युत'का प्रथम वर्ष समाप्त हो गया है। आगामी वर्षका वार्षिक चन्दा जिनका मनिआर्डर द्वारा हमें प्राप्त नहीं होगा, उनके लिए हम दूसरे वर्षका प्रथम अंक वी० पी० से भेजेंगे। हमें आशा नहीं है कोई महाशय उसे लेनेसे इनकार करेंगे, तथापि इतना निवेदन कर देते हैं कि अनुग्राहक ग्राहक उसे वापिस कर वृथा हानि उठानेका अवसर उपस्थित न होने दें। यदि कदाचित् कोई महाशय आगेके लिए ग्राहक होना पसन्द न करें, तो उन्हें कृपया पोष्टकार्ड द्वारा सूचना दे देनी चाहिए।

निवेदक—

व्यवस्थापक।

अच्युत

विषय-सूची

ॐ सह नाववतु । सह नौ भुनक्तु । सह वीर्यं करवावहै ।
तेजस्वि नावधीतमस्तु मा विद्विषावहै ॥

अच्युत

तन्वन् श्रीश्रुतिसिद्धसन्मतमहाग्रन्थप्रकाशप्रथाम्,
ब्रह्माद्वैतसमिद्धशङ्करगिरां माधुर्य्यमुद्भावयन् ।
अज्ञानान्धतमिस्ररुद्धनयनान् दिव्यां दृशं लम्भयन्,
भक्तिज्ञानपथे स्थितो विजयतामाकल्पमेषोऽच्युतः ॥

वर्ष १ } पौष पूर्णिमा १९९१ { अङ्क १२

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा
भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः ।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवांसस्तनूभि-
र्व्यशेम देवहितं यदायुः ॥

गङ्गाष्टकम् ।

भगवति भवलीलामौलिमाले तवाम्भः-
कणमणुपरिमाणं प्राणिनो ये स्पृशन्ति ।
अमरनगरनारीचामरग्राहिणीनां
विगतकलिकलङ्कातङ्कमङ्के लुठन्ति ॥ १ ॥

ब्रह्माण्डं खण्डयन्ती हरशिरसि जटावल्लिमुल्लासयन्ती
स्वर्लोकादापतन्ती कनकगिरिगुहागण्डशैलात् स्खलन्ती ।
क्षोणीपृष्ठे लुठन्ती दुरितचयचमूर्निर्भरं भर्त्सयन्ती
पाथोधिं पूरयन्ती सुरनगरसरित्पावनी नः पुनातु ॥ २ ॥

मज्जन्मातङ्गकुम्भच्युतमदमदिरामोदमत्तालिजालं
स्नानैः सिद्धाङ्गनानां कुचयुगविगलत्कुङ्कुमासङ्गपिङ्गम् ।
सायं प्रातर्मुनीनां कुशकुसुमचयैश्छिन्नतीरस्थनीरं
पायान्नो गाङ्गमम्भः करिकरमकराक्रान्तरंहस्तरङ्गम् ॥ ३ ॥

आदावादिपितामहस्य नियमव्यापारपात्रे जलं
पश्चात्पन्नगशायिनो भगवतः पादोदकं पावनम् ।
भूयः शम्भुजटाविभूषणमणिर्जह्नोर्महर्षेरियं
कन्या कल्मषनाशिनी भगवती भागीरथी पातु माम् ॥ ४ ॥

शैलेन्द्रादवतारिणी निजजले मज्जज्जनोत्तारिणी
पारावारविहारिणी भवभयश्रेणीसमुत्सारिणी ।
शेषाङ्गैरनुकरिणी हरशिरोवल्लीदलाकारिणी
काशीप्रान्तविहारिणी विजयते गङ्गामनोहारिणी ॥ ५ ॥

कुतो वीची वीचिस्तव यदि गता लोचनपथं
त्वमापीता पीताम्बरपुरनिवासं वितरसि ।
त्वदुत्सङ्गे गङ्गे पतति यदि कायस्तनुभृतां
तदा मातः शातक्रतवपदलाभोऽप्यतिलघुः ॥ ६ ॥

भगवति तव तीरे नीरमात्राशनोऽहं विगतविषयतृष्णः कृष्णमाराधयामि ।
सकलकलुषभङ्गे स्वर्गसोपानसङ्गे तरलतरतरङ्गे देवि गङ्गे प्रसीद ॥ ७ ॥

मातर्जाह्नवि शम्भुसङ्गमिलिते मौलौ निधायाञ्जलिं
त्वत्तीरे वपुषोऽवसानसमये नारायणाङ्घ्रिद्वयम् ।
सानन्दं स्मरतो भविष्यति मम प्राणप्रयाणोत्सवे
भूयाद्भक्तिरविच्युता हरिहराद्वैतात्मिका शाश्वती ॥ ८ ॥

—श्रीशङ्कराचार्यः ।

[७ इतरव्यपदेशाधिकरण सू० २१—२३]

हितक्रियादि स्यान्नो वा जीवाभेदं प्रपश्यतः ।
जीवाहितक्रिया स्वार्था स्यादेषा नहि युज्यते ॥१॥
अवस्तु जीवसंसारस्तेन नास्ति मम क्षतिः ।
इति पश्यत ईशस्य न हिताहितभागता* ॥२॥

[अधिकरणसार]

सन्देह—अपनेसे और जीवोंमें अभेद देखनेवाले ईश्वरमें हिताकरण, अहितकरण आदि दोष लागू होते हैं या नहीं ?

पूर्वपक्ष—जीवके हितका न करना और अहितका करना अपना ही अहित करना और हित न करना है, वह युक्त नहीं है, इसलिए हिताकरण आदि दोष ईशमें लागू होते हैं ।

सिद्धान्त—जीवका संसार मिथ्या है, उससे मेरी कोई हानि नहीं है, ऐसा जाननेवाले ईश्वरमें हिताकरण आदि दोष लागू नहीं होते हैं ।

इतरव्यपदेशाद्धिताकरणादिदोषप्रसक्तिः ॥ २१ ॥

पदच्छेद—इतरव्यपदेशात्, हिताकरणादिदोषप्रसक्तिः ।

पदार्थोक्ति—इतरव्यपदेशात्—जीवस्य 'तत्त्वमसि' इत्यादिना ब्रह्मत्वव्यपदेशात् अथवा ब्रह्मणः 'अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि' इत्यादिना जीवत्वव्यपदेशात् । [ब्रह्मणः स्रष्टृत्वे जीवस्यैव स्रष्टृत्वात्] हिताकरणादिदोषप्रसक्तिः—अहितजरामरणादिबहुविधानर्थकरणदोषप्रसक्तिः [ब्रह्मणः, इत्यतः चेतनं ब्रह्म जगत्कारणं न भवितुमर्हति] ।

भाषार्थ—श्रुतिमें 'तत्त्वमसि' इत्यादिसे जीव ब्रह्म कहा गया है, अथवा अनेन जीवेनात्मना०' (इस जीवरूप आत्मासे अनुप्रवेश करके नाम और रूपको अभिव्यक्त करूँगा) इत्यादिसे ब्रह्म ही जीव कहा गया है, इसलिए ब्रह्म स्रष्टा हो तो जीव ही स्रष्टा हुआ, इससे ब्रह्मको अपना अहित जरा, मरण आदि अनेक अनर्थ करणरूप दोषकी प्रसक्ति होगी, इसलिए चेतन ब्रह्म जगत्का कारण नहीं हो सकता ।

* तात्पर्य यह है—पूर्वपक्षी कहता है कि परमेश्वर संसारमें आसक्त जीवोंके लिए वैराग्य आदि हितका निर्माण नहीं करता है और नरकका जनक अधर्म आदि अहितका निर्माण करता है । और निर्माण करता हुआ भी सर्वज्ञ होनेके कारण अपनेसे जीवोंका अभेद देखता है, इससे उसमें अपने ही हितका अकरण और अहितका करण प्राप्त होता है । यह उचित

भाष्य

अन्यथा पुनश्चेतनकारणवाद आक्षिप्यते । चेतनाद्धि जगत्प्रक्रियायामाश्रीयमाणायां हिताकरणादयो दोषाः प्रसज्यन्ते । कुतः ? इतरव्यपदेशात् । इतरस्य शारीरस्य ब्रह्मात्मत्वं व्यपदिशति श्रुतिः—'स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो' इति प्रतिबोधनात् । यद्वा, इतरस्य च ब्रह्मणः शारीरात्मत्वं व्यपदिशति 'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्' (तै० २।६) इति स्रष्टुरेवाऽविकृतस्य ब्रह्मणः कार्यानुप्रवेशेन शारीरात्मत्वप्रदर्शनात् । 'अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि' (छा० ६।३।२)

भाष्यका अनुवाद

चेतनकारणवादका प्रकारान्तरसे फिर आक्षेप करते हैं । चेतनसे ही जगत्‌की यदि सृष्टि मानें, तो अपना हित न करना आदि दोष प्राप्त होंगे । किससे ? इतरव्यपदेशसे । इतर अर्थात् जीवका ब्रह्मरूपसे श्रुति व्यपदेश करती है, क्योंकि 'स आत्मा तत्त्वमसि०' (हे श्वेतकेतो ! वह आत्मा है, वह तू है) श्रुति ऐसा बोध कराती है । अथवा इतर अर्थात् ब्रह्मका जीवरूपसे व्यपदेश करती है, क्योंकि 'तत्सृष्ट्वा०' (उसको उत्पन्न कर उसीमें अनुप्रवेश किया) इस प्रकार श्रुतिने स्रष्टा अविकृत ब्रह्म ही कार्यमें अनुप्रवेश करनेसे जीव है, ऐसा दिखलाया है । 'अनेन जीवेनात्मना० (इस जीवरूप आत्मासे अनुप्रवेश करके नाम और

रत्नप्रभा

इतरेति । जीवाभिन्नं ब्रह्म जगत्कारणमिति वदन् वेदान्तसमन्वयो विषयः । स यदि तादृग् ब्रह्म जगद् जनयेत् तर्हि स्वानिष्टं नरकादिकं न जनयेत्, स्वतन्त्रचेतनत्वादिति न्यायेन विरुध्यते न वेति सन्देहे पूर्वोक्तजीवानन्यत्वमुपजीव्य जीवदोषा ब्रह्मणि प्रसज्येरन् इति पूर्वपक्षसूत्रं गृहीत्वा व्याचष्टे—**इतरव्यपदेशादित्या**-

रत्नप्रभाका अनुवाद

"इतर" इत्यादि । जीवसे अभिन्न ब्रह्म जगत्‌का कारण है, ऐसा प्रतिपादन करनेवाला वेदान्तसमन्वय इस अधिकरणका विषय है । यदि जीवाभिन्न ब्रह्म जगत्‌को उत्पन्न करता, तो अपने अनिष्टभूत नरक आदिको उत्पन्न न करता, इस न्यायसे समन्वयका विरोध होता है अथवा नहीं ? ऐसा सन्देह होनेपर पूर्वोक्त जीवाभेदके आधारपर जीवदोष ब्रह्ममें प्रसक्त होंगे,

नहीं है । ऐसा कोई भी बुद्धिमान् नहीं है जो अपने हितको न करे और अहितको करे । इसलिए परमेश्वरमें हिताकरणादि दोष लागू होते हैं ।

सिद्धान्ती कहते हैं कि ईश्वर सर्वज्ञ है, इसलिए वह जीवका संसार मिथ्या है और वह स्वयं निर्लेप है, इस बातका जानता है । अतः उसमें हिताकरण आदि दोष लागू नहीं है ।

भाष्य

इति च परा देवता जीवमात्मशब्देन व्यपदिशन्ती न ब्रह्मणो भिन्नः शारीर इति दर्शयति। तस्माद् यद् ब्रह्मणः स्रष्टृत्वं तच्छारीरस्यैवेति। अतः स स्वतन्त्रः कर्ता सन् हितमेवाऽऽत्मनः सौमनस्यकरं कुर्यान्नाऽहितं जन्ममरणजरारोगाद्यनेकानर्थजालम्। नहि कश्चिदपरतन्त्रो बन्धनागारमात्मनः कृत्वाऽनुप्रविशति। न च स्वयमत्यन्तनिर्मलः सन्नत्यन्तमलिनं देहमात्मत्वेनोपेयात्, कृतमपि कथंचिद् यद् दुःखकरं तदिच्छया जह्यात्, सुखकरं चोपाददीत, स्मरेच्च मयेदं जगद्बिम्बं विचित्रं विरचितमिति, सर्वो हि लोकः स्पष्टं कार्यं कृत्वा स्मरति मयेदं कृतमिति। यथा च

भाष्यका अनुवाद

रूपको स्पष्ट करूँगा) इस प्रकार परब्रह्म जीवका आत्मशब्दसे व्यपदेश कर जीव ब्रह्मसे अभिन्न है, ऐसा दिखलाता है। इसलिए ब्रह्मका जो स्रष्टृत्व है वह जीवका ही है। इसलिए जीव स्वतंत्र कर्ता होकर अपना सुखप्रद हित ही करेगा, और जन्म, मरण, जरा, रोग आदि अनेक अनर्थरूप अहित न करेगा। क्योंकि स्वतंत्र होकर कोई भी अपने लिए स्वयं बन्धनगृह बनाकर उसमें प्रवेश नहीं करता। इसी प्रकार स्वयं अत्यन्त निर्मल होकर अत्यन्त मलिन देहको अपनी आत्मा नहीं समझता। किसी प्रकार दुःखकारक जगत्‌की सृष्टि करनेपर भी उसका इच्छानुसार त्याग कर देता और जो सुखकारक है, उसका ग्रहण करता। और मैंने यह विचित्र जगद्‌बिम्ब रचा है, ऐसा स्मरण करता। क्योंकि सब लोग कार्य करके मैंने यह किया है, ऐसा स्पष्ट स्मरण करते हैं। और जैसे मायावी

रत्नप्रभा

दिना। पूर्वपक्षे जीवाभिन्ने समन्वयाऽसिद्धिः, सिद्धान्ते तत्सिद्धिरिति फलम्। हिताकरणेत्यत्र नञ्व्यत्यासेनाऽहितकरणं दोषो व्याख्यातः। आदिपदोक्तं भ्रान्त्यादिकमापादयति—न च स्वयमित्यादिना ॥ २१ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

इस पूर्वपक्षसूत्रका व्याख्यान करते हैं—"इतरव्यपदेशाद्" इत्यादिसे। जीवाभिन्न ब्रह्ममें समन्वयकी असिद्धि पूर्वपक्षमें फल है, समन्वयकी सिद्धि सिद्धान्तमें फल है। सूत्रगत हिताकरण शब्दके नञ्‌का व्यत्यास करके अहितकरण दोषका व्याख्यान किया गया है। आदिपदसे उक्त भ्रान्ति आदिका आपादन करते हैं—"न च स्वयम्" इत्यादिसे ॥२१॥

भाष्य

मायावी स्वयं प्रसारितां मायामिच्छयाऽनायासेनैवोपसंहरति, एवं शारीरोऽपीमां सृष्टिमुपसंहरेत्, स्वकीयमपि तावच्छरीरं शारीरो न शक्नोत्यनायासेनोपसंहर्तुम्। एवं हितक्रियाद्यदर्शनादन्याय्या चेतनाज्जगत्प्रक्रियेति गम्यते ॥ २१ ॥

भाष्यका अनुवाद

अपनी फैलाई हुई मायाका इच्छानुसार विना कठिनाईके उपसंहार करता है, उसी प्रकार जीव भी इस सृष्टिका उपसंहार करता। परन्तु जीव अपने शरीरका भी अनायास उपसंहार करनेकी शक्ति नहीं रखता। इस प्रकार हितक्रिया आदि नहीं देखी जाती, इसलिए चेतनसे जगत्की सृष्टिकी कल्पना अन्याय्य है, ऐसा समझा जाता है ॥ २१ ॥

अधिकं तु भेदनिर्देशात् ॥ २२ ॥

पदच्छेद—अधिकम्, तु, भेदनिर्देशात्।

पदार्थोक्ति—अधिकं तु—शारीराद् भिन्नं [सर्वज्ञं सर्वशक्ति ब्रह्म जगत्स्रष्टृ ब्रूमस्ततो] न हिताकरणादिदोषप्रसक्तिः [कुतः जीवब्रह्मभेदः ?] भेदनिर्देशात्—'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः' इत्यादिना कल्पितभेदस्य व्यपदेशात् [नित्यमुक्तस्य च ब्रह्मणो हिताहिताभावात्]।

भाषार्थ—जीवसे भिन्न सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् ब्रह्मको हम जगत्का स्रष्टा कहते हैं, इसलिए उसके हिताकरण आदि दोष नहीं हैं। जीव और ब्रह्ममें भेद किस प्रमाणसे है? क्योंकि 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः०' (हे मैत्रेयि! आत्माका दर्शन करना चाहिए, उसके लिए श्रवण, मनन और निदिध्यासन करना चाहिए) इत्यादिसे कल्पित भेद कहा गया है। नित्यमुक्त ब्रह्मका तो कोई पदार्थ हित या अहित है ही नहीं।

भाष्य

तुशब्दः पक्षं व्यावर्तयति। यत् सर्वज्ञं सर्वशक्ति ब्रह्म नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावं शारीरादधिकमन्यत्, तद्वयं जगतः स्रष्टृ ब्रूमः। न तस्मिन् हिताकरणादयो दोषाः प्रसज्यन्ते, नहि तस्य हितं किंचित्कर्तव्यमस्त्यहितं वा परिहर्तव्यं, नित्यमुक्तस्वभावत्वात्। न च तस्य ज्ञानप्रतिबन्धः शक्तिप्रतिबन्धो वा क्वचिदप्यस्ति, सर्वज्ञत्वात् सर्वशक्तित्वाच्च। शारीरस्त्वनेवंविधस्तस्मिन् प्रसज्यन्ते हिताकरणादयो दोषाः, न तु तं वयं जगतः स्रष्टारं ब्रूमः। कुत एतत्? भेदनिर्देशात्, 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो

भाष्यका अनुवाद

'तु' शब्द पूर्वपक्षका निराकरण करता है। जो सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, नित्य, शुद्ध, बुद्ध और मुक्त ब्रह्म जीवसे भिन्न है, उसे हम जगत्का उत्पादक कहते हैं। उसमें हित न करना आदि दोष प्रसक्त नहीं होते, क्योंकि उसे न तो कोई अपना हित करना है और न अहितका परिहार करना है, क्योंकि वह मुक्तस्वरूप है। उसके ज्ञान और शक्तिका कहीं भी प्रतिबन्ध नहीं है, क्योंकि वह सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् है। जीव तो ऐसा नहीं है, अतः उसमें हित न करना आदि दोष प्रसक्त होते हैं। परन्तु उसको हम जगत्का उत्पादक नहीं कहते हैं। यह किससे? भेदका निर्देश होनेसे। 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः०' (हे मैत्रेयि! आत्माका दर्शन

रत्नप्रभा

अधिकन्त्विति। जीवेशयोरभेदाद् जीवगताः दोषा ब्रह्मणि स्युः, ब्रह्मगताश्च सृष्टिसंहारसर्वस्मर्तृत्वादयो गुणा जीवे स्युः, न चेष्टापत्तिः, जीवस्य स्वशरीरेऽपि संहारसामर्थ्यादर्शनादिति प्राप्ते सिद्धान्तसूत्रं व्याचष्टे—तुशब्द इत्यादिना। जीवेश्वरयोर्लोके बिम्बप्रतिबिम्बयोरिव कल्पितभेदाङ्गीकाराद् धर्मव्यवस्थेति सिद्धान्तग्रन्थार्थः। यदि वयं जीवं स्रष्टारं ब्रूमः, तदा दोषाः प्रसज्यन्ते न तु तं ब्रूमः

रत्नप्रभाका अनुवाद

"अधिकं तु" इत्यादि। जीव और ईश्वर यदि अभिन्न हों, तो जीवके दोष ब्रह्ममें प्रसक्त होंगे और ब्रह्ममें रहनेवाले सृष्टिकर्तृत्व, संहारकर्तृत्व और सर्वज्ञत्व आदि धर्म जीवमें प्रसक्त होंगे, इसमें इष्टापत्ति तो नहीं हो सकती है, क्योंकि जीव अपने शरीरका संहार करनेकी भी सामर्थ्य नहीं रखता है, ऐसा प्राप्त होनेपर सिद्धान्तसूत्रका व्याख्यान करते हैं—"तु शब्दः" इत्यादिसे। सिद्धान्तग्रन्थका आशय यह है कि बिम्ब और प्रतिबिम्बमें जैसे भेदका स्वीकार किया जाता है, उसी प्रकार व्यवहारमें जीव और ईश्वरमें भी कल्पित भेदका अंगीकार किया जाता है, इससे धर्मोंकी व्यवस्था होती है। यदि हम जीवको स्रष्टा कहें, तो दोष प्रसक्त होंगे, जीवको तो हम

भाष्य

मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः' (बृ० २।४।५), 'सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः' (छा० ८।७।१), 'सता सोम्य तदा संपन्नो भवति' (छा० ६।८।१), 'शारीर आत्मा प्राज्ञेनात्मनान्वारूढः' (बृ० ४।३।३५) इत्येवंजातीयकः कर्तृकर्मादिभेदनिर्देशो जीवादधिकं ब्रह्म दर्शयति। नन्वभेदनिर्देशोऽपि दर्शितः 'तत्त्वमसि' इत्येवंजातीयकः कथं भेदाभेदौ विरुद्धौ संभवेताम्। नैष दोषः। महाकाशघटाकाशन्यायेनोभयसंभवस्य तत्र तत्र प्रतिष्ठापितत्वात्। अपि च यदा तत्त्वमसीत्येवंजातीयकेनाऽभेदनिर्देशेनाऽभेदः प्रतिबोधितो भवत्यपगतं भवति तदा जीवस्य संसारित्वं ब्रह्मणश्च स्रष्टृत्वम्, समस्तस्य मिथ्याज्ञानविजृम्भितस्य भेदव्यवहारस्य सम्यग्ज्ञानेन बाधितत्वात्। तत्र कुत एव सृष्टिः कुतो वा

भाष्यका अनुवाद

करना चाहिए, उसके लिए श्रवण, मनन और निदिध्यासन करना चाहिए) 'सोऽन्वेष्टव्यः०' (उसकी खोज करनी चाहिए, उसकी जिज्ञासा करनी चाहिए) 'सता सोम्य तदा०' (हे सोम्य ! सुषुप्ति समयमें जीव सत्के साथ संपन्न हो जाता है), 'शारीर आत्मा०' (मरणकालमें जीवात्मा परमात्मासे अधिष्ठित होकर घोर शब्द करता हुआ जाता है) इस प्रकार कर्ता, कर्म आदिके भेदका निर्देश जीवसे ब्रह्ममें भेद दिखलाता है। परन्तु 'तत्त्वमसि' (वह तू है) इत्यादि अभेद निर्देश भी दिखलाया गया है तो भेद और अभेद जो परस्पर विरुद्ध हैं उन दोनोंका किस प्रकार संभव हो सकता है ? यह दोष नहीं है, क्योंकि महाकाश, और घटाकाशके न्यायसे भेद और अभेद दोनोंका संभव तत्तत् स्थलोंमें दिखलाया गया है। और जब 'तत्त्वमसि' इस प्रकार अभेद निर्देशसे अभेद प्रतिबोधित होता है तब जीवका संसारित्व और ब्रह्मका स्रष्टृत्व जाता रहता है, क्योंकि मिथ्याज्ञानसे जन्य समस्त भेदव्यवहार सम्यग् ज्ञानसे बाधित हो जाता है। ऐसी अवस्थामें सृष्टि,

---

रत्नप्रभा

इति अन्वयः। किञ्च, भेदज्ञानाद् ऊर्ध्वं वा दोषा आपाद्यन्ते पूर्वं वा ? नाऽऽद्य

रत्नप्रभाका अनुवाद

स्रष्टा कहते हैं नहीं, ऐसा अन्वय है। और अभेदज्ञानके अनन्तर दोषोंका आपादन किया जाता है अथवा पहले ? प्रथम पक्ष नहीं हो सकता, ऐसा कहते हैं—"अपि च" इत्यादिसे।

भाष्य

हिताकरणादयो दोषाः। अविद्याप्रत्युपस्थापितनामरूपकृतकार्यकरण-संघातोपाध्यविवेककृता हि भ्रान्तिर्हिताकरणादिलक्षणः संसारो न तु परमार्थतोऽस्तीत्यसकृदवोचाम जन्ममरणच्छेदनभेदनाद्यभिमानवत्। अबाधिते तु भेदव्यवहारे 'सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः' इत्येवंजातीयकेन भेदनिर्देशेनाऽवगम्यमानं ब्रह्मणोऽधिकत्वं हिताकरणादिदोषप्रसक्तिं निरुणद्धि ॥ २२ ॥

भाष्यका अनुवाद

हितका न करना आदि दोष कहांसे हो सकते हैं ? हित न करने आदिसे लक्षित हुआ संसार अविद्यासे खड़े किए हुए नामरूपसे उत्पन्न हुई शरीर और इन्द्रियरूप उपाधिके अविवेकसे जनित भ्रान्ति है, पारमार्थिक नहीं है, ऐसा हम पीछे अनेक बार कह चुके हैं, जैसे कि शरीरका जन्म, मरण, छेदन, भेदन आदिकी आत्मामें प्रतीति होती है। परन्तु जब तक भेदव्यवहार बाधित न हो, तब तक व्यवहार दशामें 'सोऽन्वेष्टव्यः०' (उसका अन्वेषण करना चाहिए) उसकी जिज्ञासा करनी चाहिए) इस प्रकारके भेदनिर्देशसे ज्ञात होनेवाला ब्रह्मगत भेद हित न करने आदि दोषोंकी प्राप्तिको रोकता है ॥ २२ ॥

रत्नप्रभा

इत्याह—अपि चेति। उक्तं मिथ्याज्ञानविजृम्भितत्वं स्फुटयति—अविद्येति। कर्तृत्वादिबुद्धिधर्माध्यासे देहधर्माध्यासं दृष्टान्तयति—जन्मेति। द्वितीयं प्रत्याह—अबाधिते त्विति। ज्ञानाद् ऊर्ध्वं स्रष्टृत्वादिधर्माणां बाधात् पूर्वं च कल्पितभेदेन व्यवस्थोपपत्तेर्न किञ्चिद् अवद्यमित्यर्थः ॥२२॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

पूर्वोक्त मिथ्याज्ञानविजृम्भितत्वको स्पष्ट करते हैं—"अविद्या" इत्यादिसे। कर्तृत्व आदि बुद्धिके धर्मोंके अध्यासमें देहके धर्मोंके अध्यासको दृष्टान्तरूपसे कहते हैं—"जन्म" इत्यादिसे। द्वितीय पक्षके विषयमें कहते हैं—"अबाधिते तु" इत्यादि। ज्ञानके अनन्तर स्रष्टृत्व आदि धर्मोंका बाध हो जाता है और ज्ञानसे पहले कल्पित भेदसे व्यवस्था हो सकती है, इसलिए कोई दोष नहीं है, ऐसा तात्पर्य है ॥२२॥

अश्मादिवच्च तदनुपपत्तिः ॥ २३ ॥

पदच्छेद—अश्मादिवत्, च, तदनुपपत्तिः ।

पदार्थोक्ति—अश्मादिवच्च—एकपृथिवीजन्यानां अश्मनां यथा वज्रवैडूर्यादिभेदेन वैचित्र्यम् [तथा ब्रह्मकार्याणां स्वरूपवैचित्र्यं युज्यते, अतः] तदनुपपत्तिः—परपरिकल्पितदोषानुपपत्तिः ।

भाषार्थ—एक पृथिवीसे उत्पन्न हुए पत्थरोंमें जैसे वज्र, वैडूर्य आदि भेदसे विचित्रता होती है, उसी प्रकार ब्रह्मके कार्योंका भी स्वरूपवैचित्र्य युक्त ही है, इसलिए अन्यकल्पित दोष संगत नहीं हैं ।

भाष्य

यथा च लोके पृथिवीत्वसामान्यान्वितानामप्यश्मनां केचिन्महार्हा मणयो वज्रवैडूर्यादयोऽन्ये मध्यमवीर्याः सूर्यकान्तादयोऽन्ये प्रहीणाः श्ववायसप्रक्षेपणार्हाः पाषाणा इत्यनेकविधं वैचित्र्यं दृश्यते । यथा चैकपृथिवीव्यपाश्रयाणामपि बीजानां बहुविधं पत्रपुष्पफलगन्धरसादिवैचित्र्यं चन्दनकिंपाकचम्पकादिषूपलक्ष्यते । यथा चैकस्याऽप्यन्नरसस्य लोहितादीनि

भाष्यका अनुवाद

और जैसे लोकमें सभी पत्थरोंके साधारणतया पृथिवीत्व जातिसे युक्त होनेपर भी उनमें कितने ही वज्र, वैडूर्य आदि अति मूल्यवान् पत्थर हैं, दूसरे सूर्यकान्त आदि मध्यम मूल्यके हैं और दूसरे निकृष्ट पत्थर कुत्ते और कौओंपर फेंकनेके काममें आते हैं, ऐसा अनेक प्रकारका वैचित्र्य दिखाई देता है । और जैसे एकही पृथिवीमें बोये गये बीजोंके पत्ते, फूल, फल, गन्ध, रस आदिमें अनेक प्रकारका वैचित्र्य चन्दन, ताड़ आदिके वृक्षोंमें दिखाई देता

रत्नप्रभा

ननु अखण्डैकरूपे ब्रह्मणि कथं जीवेश्वरवैचित्र्यं कथञ्च तत्कार्यवैचित्र्यम् इति अनुपपत्तिं दृष्टान्तैः परिहरति सूत्रकारः—अश्मादिवच्चेति । किंपाकः—महातालफलम् । तत्तत्कार्यसंस्काररूपानादिशक्तिभेदाद् वैचित्र्यमिति भावः । सूत्रस्थ-

रत्नप्रभाका अनुवाद

अखण्ड एकरूप ब्रह्ममें जीवेश्वरभेद किस प्रकार है और उसके कार्योंकी विचित्रता किस-प्रकार है, सूत्रकार दृष्टान्तप्रदर्शन द्वारा इस अनुपपत्तिका परिहार करते हैं—"अश्मादिवच्च" इत्यादिसे । किम्पाक—बड़ा ताड़का फल । तत्तत् कार्यसंस्काररूप अनादि शक्तियोंके भेदसे

भाष्य

केशलोमादीनि च विचित्राणि कार्याणि भवन्ति। एवमेकस्याऽपि ब्रह्मणो जीवप्राज्ञपृथक्त्वं कार्यवैचित्र्यं चोपपद्यत इत्यतस्तदनुपपत्तिः—परपरिकल्पितदोषानुपपत्तिरित्यर्थः। श्रुतेश्च प्रामाण्याद् विकारस्य च वाचारम्भणमात्रत्वात्। स्वप्नदृश्यभाववैचित्र्यवच्चेत्यभ्युच्चयः॥ २३॥

भाष्यका अनुवाद

है और इसी प्रकार जैसे एकही अन्नरसके रुधिर आदि और केश, लोम आदि विचित्र कार्य होते हैं, उसी प्रकार एकही ब्रह्मका भी जीव और प्राज्ञरूपसे पृथक्त्व और कार्यवैचित्र्य उपपन्न होता है, इससे वह दोष अनुपपन्न है, पर परिकल्पित दोष अनुपपन्न ऐसा भावार्थ है। श्रुतिके प्रमाण होनेसे और विकारके केवल वागारम्भण-मात्र होनेसे स्वप्नमें दिखाई देनेवाले पदार्थोंके वैचित्र्यके समान ऐसा अभ्युच्चय है॥ २३॥

रत्नप्रभा

चकारार्थमाह—श्रुतेश्चेति। ब्रह्म जीवगतदोषवत्, जीवाभिन्नत्वात्, जीववद् इत्यादि अनुमानं स्वतःप्रमाणनिरवद्यत्वादिश्रुतिबाधितम्। किञ्च, कर्तृत्वभोक्तृत्वादिविकारस्य मिथ्यात्वाद् जीवस्यैव तावद् दोषो नास्ति कुतो बिम्बस्थानीयस्य अशेषविशेषदर्शिनः परमेश्वरस्य दोषप्रसक्तिः। यत्तु ब्रह्म न विचित्रकार्यप्रकृति, एकरूपत्वाद्, व्यतिरेकेण मृत्तन्त्वादिवद्, इति तन्न एकरूपे स्वप्नदृशीव विचित्रदृश्यवस्तुवैचित्र्यदर्शनेन व्यभिचारादित्यर्थः। तस्मात् प्रत्यगभिन्ने ब्रह्मणि समन्वयस्य अविरोध इति सिद्धम्॥२३॥ (७)॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

विचित्रता है, यह भाव है। सूत्रगत चकारका अर्थ कहते हैं—"श्रुतेश्च" इत्यादिसे। ब्रह्म जीवगतदोषयुक्त है, जीवसे अभिन्न होनेके कारण, जीवके समान, इत्यादि अनुमान स्वतः प्रमाण होनेसे निर्दुष्ट श्रुतिसे बाधित है। और कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि विकारोंके मिथ्या होनेसे जब जीवमें ही दोष नहीं है; तब बिम्बस्थानीय, सब विशेषोंको देखनेवाले परमेश्वरमें दोषका प्रसंग कहांसे होगा। यह जो कथन है कि ब्रह्म विचित्र कार्यका उपादान कारण नहीं है, एकरूप होनेसे, व्यतिरेकसे मृत्, तन्तु आदिके समान, वह ठीक नहीं है, क्योंकि एकरूप स्वप्नद्रष्टामें विचित्र दृश्य वस्तुओंकी विचित्रता देखनेमें आती है, इसलिए हेतुका व्यभिचार है। इससे सिद्ध हुआ कि जीवाभिन्न ब्रह्ममें वेदान्तसमन्वयका विरोध नहीं है॥२३॥

[८ उपसंहारदर्शनाधिकरण २४—२५]

न संभवेत् संभवेद्वा सृष्टिरेकाद्वितीयतः ।
नानाजातीयकार्याणां क्रमाज्जन्म न सम्भवि ॥
अद्वैतं तत्त्वतो ब्रह्म तच्चाऽविद्यासहायवत् ।
नानाकार्यकरं कार्यक्रमोऽविद्यास्थशक्तिभिः* ॥२॥

सन्देह—एक अद्वितीय ब्रह्मसे सृष्टि हो सकती है या नहीं ?

पूर्वपक्ष—विचित्र कार्योंकी क्रमसे उत्पत्ति एक कारणसे नहीं हो सकती है ।

सिद्धान्त—यद्यपि परमार्थतः ब्रह्म एक ही है, तथापि वह अविद्याकी सहायतासे अनेक विचित्र कार्योंको उत्पन्न कर सकता है । और अविद्याकी शक्तियोंसे कार्यक्रमकी व्यवस्था हो सकती है ।

उपसंहारदर्शनान्नेति चेन्न क्षीरवद्धि ॥ २४ ॥

पदच्छेद—उपसंहारदर्शनात्, न, इति, चेत्, न, क्षीरवत्, हि ।

पदार्थोक्ति—उपसंहारदर्शनात्—लोके कर्तुः कुलालस्य दण्डचक्राद्युपसंहारदर्शनात्, न—नासहायं ब्रह्म जगतः प्रकृतिर्निमित्तं वा, इति चेत्, न, क्षीरवद्धि—यथा क्षीरं अन्यानपेक्षं दध्याकारेण परिणमते तथा ब्रह्मापि [अन्यानपेक्षं जगत्सर्जनादि करोति] ।

भाषार्थ—लोकमें घटादि कार्योंके कर्ता कुलालका दण्ड, चक्र आदि सामग्रियोंको जुटाना दिखाई देता है, इसलिए असहाय ब्रह्म जगत्का उपादान या निमित्त कारण नहीं हो सकता, यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि जैसे दूध अन्य पदार्थकी अपेक्षाके विना ही दही आदिके रूपसे परिणत हो जाता है, उसी प्रकार ब्रह्म भी अन्यकी अपेक्षाके विना ही जगत्की सृष्टि आदि करता है ।

---

* तात्पर्य यह है—पूर्वपक्षी कहता है कि 'एकमेवाद्वितीयम्' इस श्रुतिसे ब्रह्म स्वगत, सजातीय और विजातीय भेदोंसे रहित प्रतीत होता है । सृष्टव्य पदार्थ आकाश, वायु, अग्नि आदि तो विचित्र हैं । यदि कारण विचित्र न हो, तो कार्यमें विचित्रता नहीं आ सकती है । अन्यथा केवल दूध हीसे दही, तेल, आदि अनेक विचित्र कार्य उत्पन्न हो जाने चाहिएँ । श्रुतिसे आकाश आदिकी सृष्टिमें क्रम प्रतीत होता है । परन्तु क्रमका व्यवस्थापक कोई नहीं है । इसलिए अनेक कार्योंकी क्रमसे उत्पत्ति एक अद्वितीय ब्रह्मसे नहीं हो सकती ।

सिद्धान्ती कहते हैं कि यद्यपि वस्तुतः ब्रह्म एक ही है, तो भी 'मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्' (मायाको प्रकृति जानो; महेश्वरको मायावी जानो) इत्यादि श्रुति, युक्ति और

भाष्य

चेतनं ब्रह्मैकमद्वितीयं जगतः कारणमिति यदुक्तं तन्नोपपद्यते। कस्मात्? उपसंहारदर्शनात्। इह हि लोके कुलालादयो घटपटादीनां कर्तारो मृद्दण्डचक्रसूत्रसलिलाद्यनेककारकोपसंहारेण संगृहीतसाधनाः सन्तस्तत्तत्कार्यं कुर्वाणा दृश्यन्ते। ब्रह्म चाऽसहायं तवाऽभिप्रेतं तस्य साधना-

भाष्यका अनुवाद

चेतन ब्रह्म, एक, अद्वितीय और जगत्का कारण है ऐसा जो कहा है वह उपपन्न नहीं होता। किससे? इससे कि उपसंहार देखनेमें आता है। इस लोकमें घट, पट, आदिके कर्त्ता, कुलाल आदि मृत्तिका, दण्ड, चक्र, सूत, जल आदि अनेक प्रकारके साधनोंके सम्मेलनसे साधनयुक्त होकर उस उस कार्यको करते हुए दिखाई देते हैं। तुम्हारे मतमें ब्रह्म असहाय है, ऐसी परिस्थितिमें अन्य साध-

रत्नप्रभा

उपसंहारदर्शनादिति। असहायाद् ब्रह्मणो जगत्सर्गं ब्रुवन् समन्वयो विषयः। स किं 'यदसहायं तन्न कारणम्' इति लौकिकन्यायेन विरुध्यते न वेति सन्देहे पूर्वमौपाधिकजीवभेदाद् ब्रह्मणि जीवदोषा न प्रसज्यन्ते इत्युक्तम्, सम्प्रति उपाधितोऽपि विभक्तस्य ब्रह्मण प्रेरकादिकं सहकारि नास्ति ईशनानात्वाभावादिति प्रत्युदाहरणेन पूर्वपक्षसूत्रांशं व्याचष्टे—चेतनमित्यादिना। फलं पूर्ववत्। कारकाणाम् उपसंहारः—मेलनम्। उक्तन्यायस्य क्षीरादौ व्यभिचार इति सिद्धा-

रत्नप्रभाका अनुवाद

"उपसंहारदर्शनात्" इत्यादि। असहाय ब्रह्मसे जगत्की सृष्टिका प्रतिपादन करनेवाला वेदान्तसमन्वय इस अधिकरणका विषय है। उक्त समन्वयका, जो असहाय है, वह कारण नहीं हो सकता इस लौकिक न्यायसे विरोध है, या नहीं, ऐसा सन्देह होनेपर पूर्वाधिकरणमें औपाधिक जीवसे भेद होनेके कारण ब्रह्ममें जीवदोष प्रसक्त नहीं होंगे, ऐसा कहा है, अब उपाधिसे भिन्न भी ब्रह्मका प्रेरक आदि सहकारि पदार्थ कोई नहीं है, क्योंकि ईश्वर अनेक नहीं है, इस प्रकार प्रत्युदाहरण संगतिसे पूर्वपक्षसूत्रके एक भागका व्याख्यान करते हैं—"चेतनम्" इत्यादिसे। पूर्वपक्ष और सिद्धान्तका फल पूर्वाधिकरणके समान समझना चाहिए। कारकोंका उपसंहार—मेलन। उक्त न्याय क्षीर

अनुभवोंसे ज्ञात होता है कि अविद्या उसकी सहायक है। यह शंका नहीं करनी चाहिए कि मायाका अंगीकार करनेसे द्वैतकी आपत्ति होगी, क्योंकि वास्तवमें द्वितीय पदार्थ नहीं है। इसलिए ब्रह्म एक होनेपर भी अविद्याकी सहायतासे अनेक कार्योंको करता है। यह बात नहीं है कि कार्यक्रमका कोई व्यवस्थापक नहीं है, क्योंकि अविद्याकी शक्तियां कार्यक्रमकी व्यवस्थापिका हैं। इससे सिद्ध है कि अद्वितीय ब्रह्मसे अनेक कार्योंकी क्रमसे सृष्टि होती है।

भाष्य

न्तरानुपसंग्रहे सति कथं स्रष्टृत्वमुपपद्येत। तस्मान्न ब्रह्म जगत्कारणमिति चेत्, नैष दोषः। यतः क्षीरवद् द्रव्यस्वभावविशेषादुपपद्यते। यथा हि लोके क्षीरं जलं वा स्वयमेव दधिहिमकरकादिभावेन परिणमतेऽनपेक्ष्य बाह्यं साधनम्, तथेहापि भविष्यति। ननु क्षीराद्यपि दध्यादिभावेन परिणममानमपेक्षत एव बाह्यं साधनमौष्ण्यादिकम्। कथमुच्यते क्षीरवद्धीति? नैष दोषः। स्वयमपि हि क्षीरं यां च यावतीं च परिणाममात्रामनुभवति तावत्येव त्वार्यते त्वौष्ण्यादिना दधिभावाय। यदि च स्वयं दधिभावशीलता

भाष्यका अनुवाद

नोंके संग्रहके बिना वह स्रष्टा हो, यह कैसे उपपन्न हो सकता है। इसलिए ब्रह्म जगत्का कारण नहीं है, ऐसा कहोगे तो हम कहते हैं कि यह दोष नहीं है, क्योंकि क्षीरके समान द्रव्यके स्वभाव विशेषसे उपपन्न होगा, जैसे लोकमें क्षीर या जल बाह्य साधनोंकी अपेक्षाके बिना स्वयं ही दही या बरफ बन जाता है, वैसे यहां भी होगा। परन्तु दूध आदि भी दही आदिके रूपसे परिणत होनेके लिए उष्णता आदि बाह्य साधनोंकी अपेक्षा रखते ही हैं। इसलिए 'क्षीरके समान, ऐसा क्यों कहा है? यह दोष नहीं है। क्षीर स्वयं ही जिस और जितनी परिणाममात्राको प्राप्त होता है, उष्णता आदि द्वारा भी उतनी ही परिणाममात्रा प्राप्त होती है, किन्तु उनसे उसमें दही बननेके लिए त्वरा की जाती है। यदि उसका स्वयं दधि बननेका स्वभाव न हो, तो

रत्नप्रभा

न्तयति—नैष दोष इति। शुद्धस्य ब्रह्मणोऽकारणत्वमिष्टमेव विशिष्टस्य ईश्वरस्य तु मायैव सहाय इति भावेनाऽऽह—बाह्यमिति। क्षीरस्याऽप्यातञ्चनादिसहायोऽस्तीत्यसहायत्वहेतोर्न व्यभिचार इत्याशङ्क्य सहायाभावेऽपि यस्य कस्यचित् परिणामस्य क्षीरे दर्शनाद्व्यभिचारतादवस्थ्यमित्याह—नन्वित्यादिना। तर्हि सहायो व्यर्थस्तत्राह—त्वार्यते इति। ननु त्वार्यते क्षीरं दधिभावाय शैघ्र्यं कार्यते इति किमर्थं

रत्नप्रभाका अनुवाद

आदिमें व्यभिचरित है; ऐसा सिद्धान्त करते हैं—"नैष दोषः" इत्यादिसे। शुद्ध ब्रह्मका कारण न होना इष्ट ही है, मायाविशिष्ट ईश्वरकी तो माया ही सहाय है, इस अभिप्रायसे कहते हैं—"बाह्यम्" इत्यादिसे। क्षीरके जोरन डालना आदि सहाय हैं, इसलिए असहायत्व हेतुका व्यभिचार नहीं है, ऐसी आशंका कर कोई सहाय न रहने पर भी क्षीरका कुछ न कुछ परिणाम होता ही है, इसलिए व्यभिचार ज्योंका त्यों है, ऐसा कहते हैं—"ननु" इत्यादिसे। तब क्षीरके परिणामके लिए सहाय व्यर्थ है, इसपर कहते हैं—"त्वार्यते" इत्यादि। परन्तु

भाष्य

न स्यान्नैवौष्ण्यादिनापि बलाद् दधिभावमापद्येत। नहि वायुराकाशो वौष्ण्यादिना बलाद् दधिभावमापद्यते। साधनसामग्र्या च तस्य पूर्णता संपाद्यते। परिपूर्णशक्तिकं तु ब्रह्म न तस्याऽन्येन केनचित् पूर्णता संपादयितव्या। श्रुतिश्च भवति—'न तस्य कार्यं करणं च विद्यते न तत्समश्चाऽभ्यधिकश्च दृश्यते। परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च' (श्वे० ६।२) इति। तस्मादेकस्यापि ब्रह्मणो विचित्रशक्तियोगात् क्षीरादिवद् विचित्रपरिणाम उपपद्यते॥ २४॥

भाष्यका अनुवाद

उष्णता आदि बलात्कारसे उसे दहीके रूपमें परिणत नहीं कर सकते, क्योंकि वायु अथवा आकाशको उष्णता आदि बलात्कारसे दही कदापि नहीं बना सकते हैं। साधन सामग्रीसे उसकी पूर्णता होती है। परन्तु ब्रह्म तो परिपूर्ण शक्तिवाला है। उसकी पूर्णता अन्य किसीसे सम्पादित नहीं होती। श्रुति भी है—'न तस्य कार्यं करणं च विद्यते०' (उसके कार्य—शरीर या करण—नेत्र आदि इन्द्रियसमूह विद्यमान नहीं है, उसका तुल्य—सजातीय या उससे अधिक—विजातीय नहीं दीखता, शक्ति—मूल कारण माया—महान् और विविध ही सुनी जाती है और उसकी ज्ञानक्रिया और बलक्रिया स्वाभाविक है) इसलिए एक भी ब्रह्मका विचित्र शक्तिके योगसे दूध आदिके समान विचित्र परिणाम उपपन्न होता है॥ २४॥

रत्नप्रभा

कल्प्यते, स्वतोऽशक्तं क्षीरं सहायेन शक्तं क्रियते इति किं न स्यात्? तत्राह—यदि चेति। शक्तस्य सहायसम्पदा किं कार्यमित्यत्राह—साधनेति। सहायविशेषाभावे कश्चिद्विकारः क्षीरस्य भवति, तत्र आतञ्चनप्रक्षेपौष्ण्याभ्यां तु उत्तमदधिभावसामर्थ्यं व्यज्यते इत्यर्थः। तर्हि शक्तिव्यञ्जकोऽपि सहायो ब्रह्मणो वाच्यः तत्राऽऽह—परिपूर्णेति। निरपेक्षमायाशक्तिकमित्यर्थः। तादृशशक्तौ मानमाह—श्रुतिश्चेति॥२४॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

'त्वार्यते' का क्षीर दधि होनेके लिए शीघ्रतायुक्त किया जाता है, ऐसे अर्थकी कल्पना क्यों की जाती है, स्वयं असमर्थ क्षीर सहायसे समर्थ किया जाता है, ऐसा अर्थ क्यों नहीं है, इसपर कहते हैं—"यदि च" इत्यादि। यदि क्षीर स्वयं समर्थ हो, तो उसको सहायकी क्यों आवश्यकता है, इसपर कहते हैं—"साधन" इत्यादि। सहायविशेष न हो, तो भी क्षीरका कोई विकार हो जाता है, परन्तु क्षीरको गरम करना, जोरन डालना आदिसे उत्तम दधि होनेकी सामर्थ्य उसमें व्यक्त की जाती है, ऐसा अर्थ है। तब शक्तिको व्यक्त करनेवाला कोई सहायक ब्रह्मके लिए भी कहना चाहिए, इसपर कहते हैं—"परिपूर्ण" इत्यादिसे। अन्यकी अपेक्षा न करनेवाली मायारूप शक्तिसे विशिष्ट है, ऐसा अर्थ है। ब्रह्मकी ऐसी शक्ति है, इस विषयमें प्रमाण कहते हैं—"श्रुतिश्च" इत्यादिसे॥२४॥

देवादिवदपि लोके ॥ २५ ॥

पदच्छेद—देवादिवत्, अपि, लोके ।

पदार्थोक्ति—लोके—मन्त्रार्थवादेतिहासादौ, देवादिवत्—यथा देवाः, पितरः, ऋषय इत्येवमादयश्चेतना बाह्यं साधनमनपेक्ष्य सङ्कल्पमात्रेणैव नानाविधकार्यकर्तार उपलभ्यन्ते तद्वत् [ब्रह्म] अपि [असहायमेव जगदुपादानं कर्तृ च] ।

भाषार्थ—जैसे मंत्र, अर्थवाद, इतिहास आदिमें चेतन देवता, पितृगण, ऋषि आदि बाह्य साधनके बिना संकल्पमात्रसे ही अनेकविध कार्य करनेवाले उपलब्ध होते हैं, उसी प्रकार ब्रह्म भी असहाय होकर ही जगत्का उपादान एवं निमित्तकारण होता है ।

भाष्य

स्यादेतत्, उपपद्यते क्षीरादीनामचेतनामनपेक्ष्याऽपि बाह्यं साधनं दध्यादिभावः, दृष्टत्वात् । चेतनाः पुनः कुलालादयः साधनसामग्रीमपेक्ष्यैव तस्मै तस्मै कार्याय प्रवर्तमाना दृश्यन्ते । कथं ब्रह्म चेतनं सदसहायं प्रवर्तेतेति । देवादिवदिति ब्रूमः । यथा लोके देवाः, पितरः, ऋषय

भाष्यका अनुवाद

ठीक है, क्षीर आदि अचेतन पदार्थ बाह्य साधनोंकी अपेक्षाके बिना भी दहीके रूपमें परिणत हो सकते हैं क्योंकि ऐसा देखा गया है । परन्तु चेतन कुलाल आदि साधन सामग्रीकी अपेक्षा करके ही उस उस कार्यमें प्रवृत्त होते हुए देखे जाते हैं, तो ब्रह्म चेतन होकर साधनसामग्रीके बिना किस प्रकार प्रवृत्त होगा ? हम कहते हैं कि देवता आदिके समान । जैसे लोकमें देवता, पितर,

---

रत्नप्रभा

ननु ब्रह्म न कारणं चेतनत्वे सति असहायत्वाद् मृदादिशून्यकुलालादिवदिति न क्षीरादौ व्यभिचार इति सूत्रव्यावर्त्यां शङ्कामाह—स्यादेतदिति । तस्याऽपि हेतोः देवादौ व्यभिचार इत्याह—देवादिवदिति । लोक्यते ज्ञाप्यतेऽर्थोऽनेनेति

रत्नप्रभाका अनुवाद

ब्रह्म कारण नहीं है, चेतन होकर असहाय होनेसे, मृत्तिका आदिसे रहित कुलाल आदिके समान, इस अनुमानका क्षीर आदिमें व्यभिचार नहीं होता है, इस प्रकार सूत्रसे निवर्तनीय शंकाको कहते हैं—"स्यादेतत्" इत्यादिसे । उक्त हेतुका भी देवता आदिमें व्यभिचार है, ऐसा

भाष्य

इत्येवमादयो महाप्रभावाश्चेतना अपि सन्तोऽनपेक्ष्यैव किंचिद्बाह्यं साधनमैश्वर्यविशेषयोगादभिध्यानमात्रेण स्वत एव बहूनि नानासंस्थानानि शरीराणि प्रासादादीनि रथादीनि च निर्मिमाणा उपलभ्यन्ते मन्त्रार्थवादेतिहासपुराणप्रामाण्यात्। तन्तुनाभश्च स्वत एव तन्तून् सृजति, बलाका चाऽन्तरेणैव शुक्रं गर्भं धत्ते, पद्मिनी च, अनपेक्ष्य किंचित्प्रस्थानसाधनं सरोन्तरात् सरोन्तरं प्रतिष्ठते एवं चेतनमपि ब्रह्माऽनपेक्ष्य बाह्यं साधनं स्वत एव जगत्स्रक्ष्यति। स यदि ब्रूयाद्य एते देवादयो ब्रह्मणो दृष्टान्ता

भाष्यका अनुवाद

ऋषि आदि महाप्रभाव चेतन होते हुए भी किसी भी बाह्य साधनकी अपेक्षा न करके ऐश्वर्य्य विशेषके सम्बन्धसे केवल सङ्कल्पमात्रसे अपने आपही विभिन्न आकारवाले अनेक शरीर, प्रासाद आदि और रथ आदिका निर्माण करते हुए उपलब्ध होते हैं, क्योंकि मन्त्र, अर्थवाद, इतिहास और पुराणोंसे यह प्रमाणित होता है। और मकड़ी अपने आप ही तन्तु उत्पन्न करती है, बगुली शुक्र-वीर्यके बिना ही गर्भधारण करती है, पद्मिनी भी किसी गमन-साधनकी अपेक्षाके बिना एक तालाबसे दूसरे तालाबको जाती है, इस प्रकार चेतन ब्रह्म भी बाह्य साधनोंकी अपेक्षाके बिना अपने आप ही जगत्की सृष्टि करेगा। वह यदि ऐसा कहे कि ब्रह्मके जो देवता आदि दृष्टान्तरूपसे उप-

रत्नप्रभा

लोको मन्त्रार्थवादादिशास्त्रं वृद्धव्यवहारश्च। अभिध्यानम्—संकल्पः। ननु देवाद्यूर्णनाभान्तदृष्टान्तेषु शरीरेषु चेतनत्वं नास्ति, बलाकापद्मिनीचेतनयोः गर्भप्रस्थानकर्तृत्वे मेघशब्दः शरीरं च सहायोऽस्ति, अतो विशिष्टहेतोः न व्यभिचार इति शङ्कते—स यदि ब्रूयादित्यादिना। व्यभिचारोऽस्ति इति परिहरति—

रत्नप्रभाका अनुवाद

कहते हैं—"देवादिवत्" इत्यादिसे। अर्थ जिससे ज्ञात होता है, वह लोक अर्थात् मंत्र, अर्थवाद आदि शास्त्र और वृद्धोंका व्यवहार, अभिध्यान-संकल्प। परन्तु देवता आदिसे लेकर ऊर्णनाभ तक दृष्टान्तोंमें शरीरोंमें चैतन्य नहीं है, बलाका और पद्मिनी यद्यपि चेतन हैं, तो भी बलाकाके गर्भधारणमें मेघका शब्द सहायक है, पद्मिनीके गमनमें शरीर सहायक है, इसलिए उक्त हेतुका व्यभिचार नहीं है, ऐसी शंका करते हैं—"स यदि ब्रूयात्" इत्यादिसे। व्यभिचार

भाष्य

उपात्तास्ते दार्ष्टान्तिकेन ब्रह्मणा न समाना भवन्ति, शरीरमेव ह्यचेतनं देवादीनां शरीरान्तरादिविभूत्युत्पादने उपादानं न तु चेतन आत्मा, तन्तुनाभस्य च क्षुद्रतरजन्तुभक्षणाल्लाला कठिनतामापद्यमाना तन्तुर्भवति। बलाका च स्तनयित्नुरवश्रवणाद्गर्भं धत्ते। पद्मिनी च चेतनप्रयुक्ता सत्यचेतनेनैव शरीरेण सरोन्तरात् सरोन्तरमुपसर्पति वल्लीव वृक्षम्, न तु स्वयमेवाऽचेतना सरोन्तरोपसर्पणे व्याप्रियते, तस्मान्नैते ब्रह्मणो दृष्टान्ता इति। तं प्रति ब्रूयान्नायं दोषः, कुलालादिदृष्टान्तवैलक्षण्यमात्रस्य विवक्षित-

भाष्यका अनुवाद

स्थित किये गये हैं उनकी दार्ष्टान्तिक ब्रह्मके साथ समता नहीं है, क्योंकि देवता आदि का अचेतन शरीर ही अन्य शरीर आदि विभूति उत्पन्न करनेमें उपादान होता है, चेतन आत्मा उपादान नहीं है, मकड़ा क्षुद्रतर जन्तुओंका भक्षण करता है, इससे उसकी राल कठिन होकर तन्तु वन जाती है। वगुली मेघगर्जन सुनकर गर्भ धारण करती है। पद्मिनी भी जैसे बेल एक वृक्षसे दूसरे वृक्षपर जाती है वैसे ही चेतनसे प्रयुक्त होकर अचेतन शरीरसे ही एक तालावसे दूसरे तालावको जाती है। परन्तु स्वयं अचेतन ही अन्य तालावमें जानेका व्यापार नहीं करती, इसलिए ये ब्रह्मके दृष्टान्त नहीं हैं, ऐसा जो कहे, उसके प्रति कहना चाहिये कि यह दोष नहीं है, क्योंकि कुलाल आदि दृष्टान्तोंका वैलक्षण्यमात्र विवक्षित है।

रत्नप्रभा

तं प्रति ब्रूयादिति। अयं दोषः दृष्टान्तवैषम्याख्यः। अत्र हि हेतौ चेतनत्वम् अहंधीविषयत्वरूपं चिदात्म्यापन्नदेहसाधारणं ग्राह्यम्, न तु मुख्यात्मत्वम्, तव कुलालदृष्टान्ते साधनवैकल्यापत्तेः। असहायत्वं च चेतनस्य स्वातिरिक्तहेतुशून्यत्वम्, तदुभयं देवादिषु अस्तीति व्यभिचारः, देहस्य स्वान्तःपातित्वेन स्वातिरिक्तत्वाभावात्। तथा च कुलालवैलक्षण्यं देवादीनाम्, घटादिकार्ये स्वातिरिक्तान-

रत्नप्रभाका अनुवाद

दिखलाते हुए उक्त आशंकाका परिहार करते हैं—"तं प्रति ब्रूयात्" इत्यादिसे। यह दोष—दृष्टान्तविषमतारूप दोष। उक्त हेतुमें चेतनत्व मुख्य आत्मत्व नहीं है, किन्तु 'अहं' इस बुद्धिके विषयतारूप चित्के तादात्म्यको प्राप्त देहमें भी रहनेवाला चेतनत्व है, अन्यथा पूर्वपक्षीसे कथित कुलालरूप दृष्टान्तमें भी हेतु नहीं रहेगा। चेतनका असहायत्व अपनेसे भिन्न साधनशून्यत्व है, इस प्रकार चेतनत्व और असहायत्व, दोनों देवता आदिमें हैं, इसलिए व्यभिचार है, क्योंकि देह भी स्वपदार्थके अन्तगर्त होनेसे स्वातिरिक्त नहीं है। इस प्रकार देवता आदि

भाष्य

त्वादिति। यथा हि कुलालादीनां देवादीनां च समाने चेतनत्वे कुलालादयः कार्यारम्भे बाह्यं साधनमपेक्षन्ते न देवादयः, तथा ब्रह्म चेतनमपि न बाह्यं साधनमपेक्षिष्यत इत्येतावद् वयं देवाद्युदाहरणेन विवक्ष्यामः। तस्माद् यथैकस्य सामर्थ्यं दृष्टं तथा सर्वेषामेव भवितुमर्हतीति नास्त्येकान्त इत्यभिप्रायः॥ २५॥

भाष्यका अनुवाद

जैसे कुलाल आदि और देवता आदिमें चेतनत्व समान है, तो भी कुलाल आदि कार्य आरम्भ करनेमें बाह्य साधनों की अपेक्षा रखते हैं, देवता आदि नहीं रखते, वैसे ही ब्रह्म चेतन है, तो भी बाह्य साधनों की अपेक्षा नहीं रक्खेगा, इतना ही हम देवता आदि उदाहरणोंसे कहना चाहते हैं। इसलिए जैसे एककी सामर्थ्य देखी गई है, वैसी ही सबकी सामर्थ्य हो, ऐसा नियम नहीं है, यह अभिप्राय है॥२५॥

रत्नप्रभा

पेक्षत्वाद्, देववैलक्षण्यं ब्रह्मणः देहस्याऽपि अनपेक्षणात्, नरदेवादीनां कार्यारम्भे नास्ति एकरूपा सामग्री। श्रूयते हि महाभारते श्रीकृष्णस्य संकल्पमात्रेण द्रौपद्याः पटपरम्परोपपत्तिः। अतः सिद्धम् असहायस्याऽपि ब्रह्मणः कारणत्वम्॥२५॥ (८)॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

कुम्हारसे विलक्षण हैं, क्योंकि उनके घट आदि कार्यमें अपनेसे अतिरिक्त किसी भी पदार्थकी अपेक्षा नहीं है, और ब्रह्म देवताओंसे भी विलक्षण है, क्योंकि उसको देहकी भी अपेक्षा नहीं है, इसलिए मनुष्य, देवता आदिके कार्यमें सामग्री एकरूप नहीं होती है। महाभारतमें सुना जाता है कि श्रीकृष्ण भगवान्‌के संकल्पमात्रसे द्रौपदीकी वस्त्रपरम्परा उत्पन्न हो गई थी। इससे सिद्ध हुआ कि असहाय भी ब्रह्म जगत्‌का कारण है॥२५॥
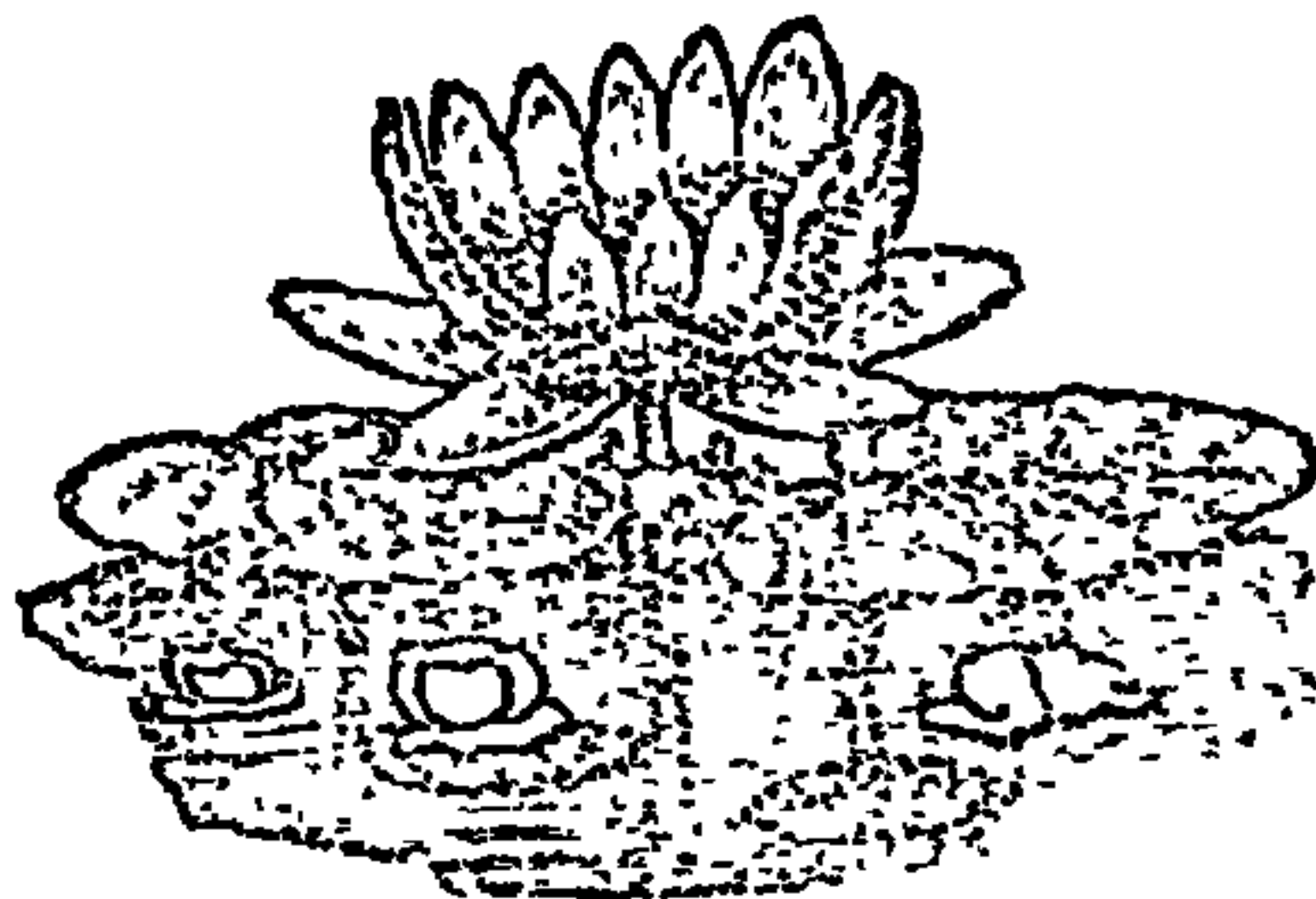
[९ कृत्स्नप्रसक्त्यधिकरण सू० २६—२९]

न युक्तो युज्यते वाऽस्य परिणामो न युज्यते ।
कार्त्स्न्यादि् ब्रह्मानित्यतासेरंशात्सावयवं भवेत् ॥१॥
मायाभिर्बहुरूपत्वं न कार्त्स्न्यान्नापि भागतः ।
युक्तोऽनवयवस्याऽपि परिणामोऽत्र मायिकः* ॥२॥

सन्देह—ब्रह्मका परिणाम होता है या नहीं ?

पूर्वपक्ष—यदि ब्रह्मका सम्पूर्णरूपसे परिणाम हो, तो ब्रह्म अनित्य हो जायगा, और यदि अंशतः परिणाम हो, तो सावयव हो जायगा, इसलिए ब्रह्मका परिणाम नहीं होता है ।

सिद्धान्त—ब्रह्मकी मायासे बहुरूपता होती है, सम्पूर्णरूपसे एवं अंशतः नहीं होती । मायासे निरवयव ब्रह्मका भी परिणाम युक्त ही है ।

कृत्स्नप्रसक्तिर्निरवयवत्वशब्दकोपो वा ॥ २६ ॥

पदच्छेद—कृत्स्नप्रसक्तिः, निरवयवत्वशब्दकोपः, वा ।

पदार्थोक्ति—कृत्स्नप्रसक्तिः—निरवयवब्रह्मपरिणामे कृत्स्नस्य ब्रह्मणः कार्याकारेण परिणामप्रसक्तिः, निरवयवत्वशब्दकोपो वा—एकांशपरिणामे 'निष्कलम्' इत्यादिनिरवयवत्वशब्दकोपः [उभयथापि अनित्यत्वापत्त्या ब्रह्म नोपादानं भवितुमर्हति] ।

भाषार्थ—यदि निरवयव ब्रह्मका परिणाम हो तो सम्पूर्ण ब्रह्मका कार्यरूपसे परिणाम प्रसक्त होगा, और यदि एक अंशसे परिणाम हो, तो ब्रह्मके सावयव होनेसे 'निष्कलम्' इत्यादि ब्रह्मको निरवयव प्रतिपादन करनेवाले शब्दोंका विरोध होगा, दोनों प्रकारसे ब्रह्म अनित्य हो जायगा, इसलिए ब्रह्म जगत्का उपादान कारण नहीं हो सकता ।

---

* तात्पर्य यह है—पूर्वपक्षी कहता है कि आरम्भणाधिकरणमें कार्य और कारणका अभेद प्रतिपादित है । इससे मालूम होता है वैशेषिक आदिके समान ब्रह्मवादी आरम्भवादको नहीं मानते हैं, किन्तु क्षीरदधिन्यायसे परिणामवादको मानते हैं ब्रह्मका यदि संपूर्णरूपसे परिणाम हो जाय, तो वह क्षीर आदिके समान अनित्य हो जायगा । और यदि एकदेशसे परिणाम हो, तो सावयव हो जायगा, इसलिए ब्रह्मका परिणाम होना युक्त नहीं है ।

सिद्धान्ती कहते हैं कि 'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते' (परमेश्वर मायाशक्तियोंसे अनेक रूपवाला होता है) इस श्रुतिसे ज्ञात होता है कि मायाशक्तिसे अनायास ब्रह्मका जगद्रूपसे परिणाम होता है । इस परिणामके वास्तविक न होनेसे संपूर्णरूपसे परिणत होता है या एकदेशसे इत्यादि विकल्पका अवसर ही नहीं है । इसलिए ब्रह्मका एतादृश परिणाम युक्त है ।

भाष्य

चेतनमेकमद्वितीयं ब्रह्म क्षीरादिवद् देवादिवच्चाऽनपेक्ष्य बाह्यं साधनं स्वयं परिणममानं जगतः कारणमिति स्थितम्। शास्त्रार्थपरिशुद्धये तु पुनराक्षिपति–कृत्स्नप्रसक्तिः, कृत्स्नस्य ब्रह्मणः कार्यरूपेण परिणामः प्राप्नोति, निरवयवत्वात्। यदि ब्रह्म पृथिव्यादिवत् सावयवमभविष्यत् ततोऽस्यैकदेशः पर्यणंस्यदेकदेशश्चाऽवास्थास्यत्, निरवयवं तु ब्रह्म श्रुति-

भाष्यका अनुवाद

चेतन एक अद्वितीय ब्रह्म दूध आदिके और देवता आदिके समान बाह्य साधनोंकी अपेक्षा किये विना ही स्वयं परिणत होता हुआ जगत्का कारण है, ऐसा निष्कर्ष है। परन्तु शास्त्रार्थके स्पष्टीकरणके लिये फिर आक्षेप करते हैं। कृत्स्नप्रसक्ति अर्थात् यदि ब्रह्मको जगत्का कारण मानें, तो समस्त ब्रह्म कार्यरूप में परिणत होता है, ऐसा मानना पड़ेगा, क्योंकि वह निरवयव है। पृथिवी आदिके समान यदि ब्रह्म सावयव होता, तो उसके एक देशका परिणाम होता और एक देश ज्योंका त्यों बना रहता। परन्तु ब्रह्म तो निरवयव है, ऐसा श्रुतियोंसे प्रतीत

रत्नप्रभा

कृत्स्नप्रसक्तिरिति। क्षीरदृष्टान्तेन ब्रह्म परिणामि इति भ्रमोत्पत्त्या पूर्वपक्षे प्राप्ते शास्त्रार्थो विवर्तः, न परिणाम इति निर्णयार्थम् इदम् अधिकरणमिति पूर्वाधिकरणेन उत्तराधिकरणस्य कार्यत्वं सङ्गतिमाह—चेतनमिति। निरवयवाद् ब्रह्मणो जगत्सर्गं वदन् समन्वयो विषयः, स किं यत् निरवयवं तन्न परिणामीति न्यायेन विरुध्यते न वेति? सन्देहे विरुध्यते इति पूर्वपक्षसूत्रं व्याचष्टे—कृत्स्नेति। ब्रह्म परिणामीति वदता वक्तव्यं ब्रह्म निरवयवं सावयवं वा? आद्ये सर्वस्य ब्रह्मणः परिणामात्मना स्थितिः स्यादित्युक्तं व्यतिरेकदृष्टान्तेन विवृणोति—यदि

रत्नप्रभाका अनुवाद

"कृत्स्नप्रसक्तिः" इत्यादि। दूधके दृष्टान्तसे ब्रह्म परिणामी है, इस प्रकार भ्रमकी उत्पत्ति होनेसे पूर्वपक्षप्राप्ति होनेपर वेदान्तसिद्धान्त विवर्तवाद है परिणामवाद नहीं है, ऐसा निर्णय करनेके लिए यह अधिकरण है। इस प्रकार पूर्वाधिकरणके साथ इस अधिकरणकी कार्यत्वरूप संगति कहते हैं—"चेतनम्" इत्यादिसे। निरवयव ब्रह्मसे जगत्की सृष्टिका प्रतिपादन करनेवाला वेदान्तसमन्वय इस अधिकरणका विषय है, उक्त समन्वयका जो निरवयव है, वह परिणामी नहीं है, इस न्यायसे विरोध होता है या नहीं? ऐसा सन्देह होनेपर विरोधप्रतिपादक पूर्वपक्ष सूत्रका व्याख्यान करते हैं—"कृत्स्न" इत्यादिसे। ब्रह्मको परिणामी कहनेवालेको कहना चाहिए कि ब्रह्म निरवयव है अथवा सावयव है? यदि निरवयव, हो तो सम्पूर्ण ब्रह्मकी परिणामरूपसे स्थिति होगी, ऐसा जो कहा है, उसका व्यतिरेक दृष्टान्तसे

भाष्य

भ्योऽवगम्यते—'निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरञ्जनम्' (श्वे० ६।१९), 'दिव्यो ह्यमूर्तः पुरुषः स बाह्याभ्यन्तरो ह्यजः' (मु० २।१।२), 'इदं महद् भूतमनन्तमपारं विज्ञानघन एव' (बृ० २।४।१२), 'स एष नेति नेत्यात्मा' (बृ० ३।९।२६), 'अस्थूलमनणु' (बृ० ३।८।८) इत्याद्याभ्यः सर्वविशेषप्रतिषेधिनीभ्यः । ततश्चैकदेशपरिणामासम्भवात् कृत्स्नपरिणामप्रसक्तौ सत्यां मूलोच्छेदः प्रसज्येत । द्रष्टव्यतोपदेशानर्थक्यं चाऽऽपद्येत, अयत्नदृष्टत्वात् कार्यस्य, तद्व्यतिरिक्तस्य च ब्रह्मणोऽसम्भवात्,

भाष्यका अनुवाद

होता है—'निष्कलं निष्क्रियं०' (ब्रह्म अवयवरहित, क्रियाशून्य शान्त दोषरहित निरञ्जन है) दिव्यो ह्यमूर्त्त पुरुषः०' (यह अक्षरपुरुष दिव्य है, मूर्तिरहित है, बाह्य और आभ्यन्तरमें वर्तमान और जन्मरहित है) 'इदं महद् भूतमनन्तमपारं० (यह महान् है, परिनिष्पन्न है, अनन्त है, अपार है, विज्ञानघन ही है) 'स एष नेति०' (जो नहीं नहीं इस प्रकार निषेध द्वारा निर्दिष्ट है, वह आत्मा है) 'अस्थूलमनणु०' (जो न स्थूल है, न अणु है) इत्यादि श्रुतियां सब उपाधियोंका निषेध करती हैं । इसलिए एक देशके परिणामका असम्भव होनेसे समस्त ब्रह्मके परिणामकी प्राप्ति होनेपर मूलका ही उच्छेद हो जायगा और ब्रह्मका साक्षात्कार करना चाहिए, यह उपदेश ही निरर्थक हो जायगा, क्योंकि कार्य तो विना प्रयत्नके दिखाई देता है और कार्यसे अतिरिक्त ब्रह्मका सम्भव

रत्नप्रभा

ब्रह्मेत्यादिना । पर्यणंस्यत्—परिणतोऽभविष्यत्, एकदेशश्च अवास्थास्यद्—अपरिणतोऽभविष्यत् । उक्तश्रुतिभ्यो निरवयवत्वसिद्धेः फलितं दोषमाह—ततश्चेति । यदा परिणामव्यतिरेकेण मूलब्रह्मात्मा नाऽस्ति तदाऽऽत्मा द्रष्टव्य इत्युपदेशोऽर्थशून्यः स्यादिति दोषान्तरमाह—द्रष्टव्यतेति । ब्रह्मणः परिणामात्मना जन्मनाशाङ्गीकारे "अजोऽमरः" (बृ०४।४।२५) इति श्रुतिविरोधः

रत्नप्रभाका अनुवाद

विवरण करते हैं—"यदि ब्रह्म" इत्यादिसे । पर्यणंस्यत्—परिणत होता, एकदेशश्चाऽवास्थास्यत्—एकदेश परिणत न होता । उक्त श्रुतियोंसे निरवयवत्वकी सिद्धि होनेपर फलित दोष कहते हैं—"ततश्च" इत्यादिसे । जब परिणामके अतिरिक्त मूल ब्रह्म नहीं है, तब 'आत्मा द्रष्टव्यः' (आत्माका साक्षात्कार करना चाहिए) यह उपदेश अनर्थक हो जायगा, इस प्रकार अन्य दोष कहते हैं—"द्रष्टव्य" इत्यादिसे । परिणामरूपसे ब्रह्मका जन्म और

भाष्य

अजत्वादिशब्दव्याकोपश्च । अथैतद्दोषपरिजिहीर्षया सावयवमेव ब्रह्माऽभ्युपगम्येत, तथापि ये निरवयवत्वस्य प्रतिपादकाः शब्दा उदाहृतास्ते प्रकुप्येयुः । सावयवत्वे चाऽनित्यत्वप्रसङ्ग इति सर्वथाऽयं पक्षो न घटयितुं शक्यत इत्याक्षिपति ॥ २६ ॥

भाष्यका अनुवाद

नहीं है । उसी प्रकार श्रुतिमें ब्रह्मके लिए जो अज आदि शब्दोंका प्रयोग है वह बाधित हो जायगा । यदि इस दोषका परिहार करनेकी इच्छासे ब्रह्मको सावयव ही मानें, तो एक तो ब्रह्मको निरवयव कहनेवाली पूर्वोद्धृत श्रुतियोंका बाध हो जायगा । दूसरे, सावयवत्व माननेसे ब्रह्ममें अनित्यता प्राप्त हो जायगी । इसलिए यह पक्ष किसी प्रकार भी नहीं घट सकता, पूर्वपक्षी इस प्रकार आक्षेप करता है ॥ २६ ॥

रत्नप्रभा

च इत्याह—अजत्वादीति । सावयवत्वपक्षम् आशङ्क्य सूत्रशेषेण परिहरति—अथेत्यादिना ॥२६॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

नाश अंगीकार करनेसे 'अजोऽमरः' (जन्मरहित है, मरणरहित है) इस श्रुतिसे विरोध भी होगा, ऐसा कहते हैं—"अजत्वादि" इत्यादिसे । सावयवत्वकी आशंका कर सूत्रशेषसे परिहार करते हैं—"अथ" इत्यादिसे ॥ २६ ॥

श्रुतेस्तु शब्दमूलत्वात् ॥ २७ ॥

पदच्छेद—श्रुतेः, तु, शब्दमूलत्वात् ।

पदार्थोक्ति—तुः-पूर्वपक्षनिरासार्थः, श्रुतेः—ब्रह्मणो जगदुपादानत्वश्रवणात् 'तावानस्य महिमा' इत्यादौ कार्यव्यतिरेकेण सत्ताश्रवणात् [न कृत्स्नप्रसक्तिः] । शब्दमूलत्वात्-ब्रह्मणः शब्दैकप्रमाणत्वात् [न युक्त्या श्रुतेर्बाधः सम्भवति, अतो यथाश्रुति ब्रह्मणः कार्योपादानत्वं तद्व्यतिरेकेण सत्त्वं चाऽविरुद्धम्] ।

भावार्थ—तुशब्द पूर्वपक्षके निरासके लिए है । श्रुतिमें ब्रह्म जगत्का उपादानकारण कहा गया है । 'तावानस्य महिमा' (उतनी उसकी महिमा है) इत्यादि श्रुतिमें ब्रह्मकी कार्यसे पृथक् सत्ता कही गई है, अतः ब्रह्मकी सर्वात्मना कार्यरूपमें परिणति नहीं हो सकती । पूर्वोक्त युक्तिसे श्रुतिका बाध नहीं हो सकता, क्योंकि ब्रह्म श्रुतिमूलकही है अतः श्रुतिके अनुसार ब्रह्मका जगदुपादान होना और जगत्से पृथक् रहना अविरुद्ध है ।

भाष्य

तुशब्देनाऽऽक्षेपं परिहरति । न खल्वस्मत्पक्षे कश्चिदपि दोषोऽस्ति । न तावत् कृत्स्नप्रसक्तिरस्ति । कुतः ? श्रुतेः । यथैव हि ब्रह्मणो जगदुत्पत्तिः श्रूयत एवं विकारव्यतिरेकेणाऽपि ब्रह्मणोऽवस्थानं श्रूयते, प्रकृतिविकारयोर्भेदेन व्यपदेशात् 'सेयं देवतैक्षत हन्ताहमिमास्तिस्रो देवता अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि' (छा० ६।३।२) इति,

'तावानस्य महिमा ततो ज्यायांश्च पूरुषः ।
पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि ॥'

भाष्यका अनुवाद

तु शब्दसे सूत्रकार आक्षेपका परिहार करते हैं । वास्तवमें हमारे पक्षमें कोई भी दोष नहीं है, क्योंकि हमारे पक्षमें सम्पूर्ण ब्रह्मकी कार्यरूपमें परिणत होने की नौबत नहीं आती । किससे ? श्रुतिसे । जिस प्रकार जगत्की उत्पत्ति श्रुतिमें वर्णित है, उसी प्रकार विकारसे भिन्नरूपसे ब्रह्मकी अवस्थिति श्रुतिमें कही गई है, क्योंकि प्रकृति और विकारका भेदसे व्यपदेश किया है—'सेयं देवतैक्षत हन्ताहमिमा०' (उस देवताने विचार किया कि मैं इन तीन देवताओंमें इस जीवात्मा द्वारा अनुप्रवेश करके नामरूपका स्पष्टीकरण करूँ) और 'तावानस्य महिमा ततो०' (इस गायत्री संज्ञक ब्रह्मकी इतनी महिमा है, पुरुष इससे भी महान् है, सम्पूर्ण प्राणी इसका एक पाद और उसके निर्विकार तीन पाद स्वप्रका-

रत्नप्रभा

परिणामपक्षो दुर्घट इति यदुक्तम्, तत् असदिष्टम् एव इति विवर्तवादेन सिद्धान्तयति—श्रुतेरिति । स्वपक्षे पूर्वोक्तदोषद्वयं नास्तीति सूत्रयोजनया दर्शयति—तुशब्देनेत्यादिना । ईक्षितृत्वेन व्याकर्तृत्वेन च ईक्षणीयव्याकर्तव्यप्रपञ्चात् पृथगीश्वरसत्त्वश्रुतेर्न कृत्स्नप्रसक्तिरित्याह—सेयं देवतेति । न्यूनाधिकभावेनाऽपि पृथ-

रत्नप्रभाका अनुवाद

परिणाम पक्ष दुर्घट है ऐसा जो तुमने कहा है वह हमें इष्ट ही है इस अभिप्रायसे सूत्रकार विवर्तवादसे सिद्धान्त करते हैं—"श्रुतेः" इत्यादिसे । अपने पक्षमें पूर्वोक्त दोनों दोषोंमेंसे एक भी नहीं है इस बातको सूत्रकी योजना द्वारा दिखलाते हैं—"तुशब्देन" इत्यादिसे । द्रष्टा और व्याकर्ताके रूपसे ईश्वरकी ईक्षण और स्पष्टीकरणके योग्य प्रपञ्चसे पृथक् सत्ता श्रुतिमें कही गई है, अतएव ईश्वरका सर्वात्मना परिणाम नहीं होता, ऐसा कहते हैं—"सेयं देवता" इत्यादिसे । श्रुतिमें जगत् ब्रह्मका एक अंश कहा गया है इससे भी ब्रह्मकी

भाष्य

(छा० ३।१२।६) इति चैवंजातीयकात् । तथा हृदयायतनत्ववचनात् सत्सम्पत्तिवचनाच्च । यदि च कृत्स्नं ब्रह्म कार्यभावेनोपयुक्तं स्यात् 'सता सोम्य तदा सम्पन्नो भवति' (छा० ६।८।१) इति सुषुप्तिगतं विशेषणमनुपपन्नं स्यात्, विकृतेन ब्रह्मणा नित्यसम्पन्नत्वादविकृतस्य च ब्रह्मणोऽभावात्, तथेन्द्रियगोचरत्वप्रतिषेधाद् ब्रह्मणो विकारस्य चेन्द्रियगोचरत्वोपपत्तेः, तस्मादस्त्यविकृतं ब्रह्म । न च निरवयवत्वशब्दव्याको-

भाष्यका अनुवाद

शस्वरूपमें स्थित हैं) इस प्रकारका व्यपदेश है । और हृदय ब्रह्मका स्थान कहा गया है और सत्के साथ ब्रह्मकी एकता कही गई है । यदि सम्पूर्ण ब्रह्म कार्यरूपमें परिणत हो जाय, तो 'सता सोम्य ! तदा०' (हे सोम्य ! तब जीव सता—परमात्माके साथ एकीभूत हो जाता है) इस प्रकार सुषुप्ति सम्बन्धी विशेषण अनुपपन्न हो जायगा। क्योंकि विकृत—विकारको प्राप्त ब्रह्म नित्य प्राप्त है और अविकृत ब्रह्म है ही नहीं जिसे वह प्राप्त करे । दूसरी बात यह भी है कि ब्रह्म इन्द्रियका अविषय भी कहा गया है और विकार इन्द्रियगोचर हो सकता है, इससे सिद्ध हुआ कि अविकृत ब्रह्म अवश्य है । ब्रह्मको निरवयव कहनेवाली

रत्नप्रभा

वसत्त्वं श्रुतमित्याह—तावानिति । इतश्च अस्ति अविकृतं ब्रह्मेत्याह—तथेति । "स वा एष आत्मा हृदि" (छा० ८।३।३) इति श्रुतेरस्ति दृश्यातिरिक्तं ब्रह्म । तदेति सुषुप्तिकालरूपविशेषणाच्चेत्यर्थः । लिङ्गान्तरमाह—तथेन्द्रियेति । भूम्यादेर्विकारस्येन्द्रियगोचरत्वात् "न चक्षुषा गृह्यते" (मु० ३।१।८) इत्यादिश्रुत्या ब्रह्मणस्तत्प्रतिषेधादवाङ्मनसगोचरत्वश्रुतेश्चाऽस्ति कूटस्थं ब्रह्मेत्यर्थः । कृत्स्नप्रसक्तिदोषो नास्ति

रत्नप्रभाका अनुवाद

पृथक् सत्ता है, ऐसा कहते हैं—"तावान्" इत्यादिसे । ब्रह्म अविकारी है इसमें यह भी प्रमाण है, ऐसा कहते हैं—"तथा" इत्यादिसे । 'स वा एष आत्मा हृदि' (वह आत्मा हृदयमें है ऐसी श्रुति है इससे प्रतीत होता है कि ब्रह्म दृश्य प्रपञ्चसे भिन्न है । 'तदा'—सुषुप्तिकालमें । सुषुप्तिकालरूप विशेषण होनेसे भी ब्रह्म प्रपञ्चसे भिन्न है । अविकृत ब्रह्मकी पृथक् सत्ता सिद्ध करनेके लिए दूसरे हेतु उपस्थित करते हैं—"तथेन्द्रिय" इत्यादिसे । भूमि आदि विकार इन्द्रियगोचर हैं, किन्तु 'न चक्षुषा गृह्यते' (नेत्रसे ब्रह्मका दर्शन नहीं होता) इत्यादि श्रुतियोंसे ब्रह्मके इन्द्रियगोचरत्वका निषेध किया गया है और ब्रह्म वाणी और मनका अगोचर है ऐसी दूसरी श्रुति भी है, अतएव कूटस्थ—अविकारी ब्रह्मका पृथक् अस्तित्व सिद्ध होता है । इस प्रकार ब्रह्मका सर्वथा परिणाम होनेका दोष नहीं है ऐसा

भाष्य

पोऽस्ति, श्रूयमाणत्वादेव निरवयवत्वस्याऽप्यभ्युपगम्यमानत्वात्। शब्दमूलं च ब्रह्म शब्दप्रमाणकं नेन्द्रियादिप्रमाणकं तद्यथाशब्दमभ्युपगन्तव्यम्। शब्दश्चोभयमपि ब्रह्मणः प्रतिपादयत्यकृत्स्नप्रसक्तिं निरवयवत्वं च। लौकिकानामपि मणिमन्त्रौषधिप्रभृतीनां देशकालनिमित्तवैचित्र्यवशाच्छक्तयो विरुद्धानेककार्यविषया दृश्यन्ते, ता अपि तावन्नोपदेशमन्तरेण केवलेन

भाष्यका अनुवाद

श्रुतिका बाध नहीं होता, क्योंकि श्रुतिप्रमाणसे ही निरवयवत्वका स्वीकार किया जाता है और श्रुतिमूलक ब्रह्ममें श्रुति ही प्रमाण है, इन्द्रिय आदि प्रमाण नहीं हैं, इसलिए श्रुतिके अनुसार उसका स्वीकार करना चाहिए। श्रुति समस्त ब्रह्मका कार्यरूपमें परिणाम और निरवयवत्व दोनोंका प्रतिपादन करती है। लौकिक मणि, मंत्र, ओषधि आदिकी शक्तियां भी काल और निमित्तकी विलक्षणतासे परस्पर विरुद्ध अनेक कार्योंको करती हुई दिखाई देती हैं। वे शक्तियां भी उपदेश

रत्नप्रभा

इति उक्त्वा द्वितीयदोषोऽपि नास्तीत्याह—**न चेति**। ननु ब्रह्म कार्यात्मनाऽप्यस्ति, पृथगप्यस्ति चेत् सावयवत्वं दुर्वारम्, निरवयवस्यैकस्य द्विधा सत्त्वायोगात्, अतो यद् द्विधाभूतं तत्सावयवमिति तर्कविरुद्धं ब्रह्मणो निरवयवत्वमिति विवर्तम् अजानतः शङ्कां गूढाशय एव परिहरति—**शब्दमूलश्चेति**। यदा लौकिकानां प्रत्यक्षदृष्टानामपि शक्तिः अचिन्त्या तदा शब्दैकसमधिगम्यस्य ब्रह्मणः किमु वक्तव्यम्। अतो ब्रह्मणो निरवयवत्वं द्विधाभावश्च इत्युभयं यथाशब्दम् अभ्युपन्तव्यम्, न तर्केण बाधनीयमित्यर्थः, प्रकृतिभ्यः प्रत्यक्षदृष्टवस्तुस्वभावेभ्यो यत्परं विलक्षणं केवलोपदेशगम्यं तदचिन्त्यस्वरूपमिति स्मृत्यर्थः।

रत्नप्रभाका अनुवाद

कहकर अन्य दोष भी नहीं है ऐसा कहते हैं—"न च" इत्यादिसे। यदि कोई कहे कि ब्रह्म कार्यरूपसे भी है और पृथक् भी है ऐसा यदि कहो तो उसमें सावयत्व दोषका निराकरण करना कठिन हो जायगा, क्योंकि निरवयव एक पदार्थ दो रूपसे रहे यह संभव नहीं है। जो दो रूपसे रहता है वह सावयव है इस युक्तिसे ब्रह्मको निरवयव कहना विरुद्ध है विवर्तवाद न जाननेवालेकी इस शङ्काका आचार्य गूढ़ अभिप्रायसे परिहार करते हैं—"शब्दमूलं च" इत्यादिसे। जब प्रत्यक्ष दृष्ट लौकिक पदार्थोंकी भी शक्तियाँ अचिन्त्य होती हैं तब केवल श्रुति से जानने योग्य ब्रह्मकी शक्ति अचिन्त्य हो तो इसमें आश्चर्य ही क्या है। इसलिये ब्रह्मका निरवयव होना और दो रूपसे रहना जैसा श्रुति कहती है वैसेही स्वीकार करना चाहिए। इस विषयमें तर्कसे बाधा उपस्थित नहीं करनी चाहिए। प्रकृतिसे अर्थात्

भाष्य

तर्केणाऽवगन्तुं शक्यन्तेऽस्य वस्तुन एतावत्य एतत्सहाया एतद्विषया एतत्प्रयोजनाश्च शक्तय इति। किमुताऽचिन्त्यप्रभावस्य ब्रह्मणो रूपं विना शब्देन न निरूप्येत। तथा चाऽऽहुः पौराणिकाः—

'अचिन्त्याः खलु ये भावा न तांस्तर्केण योजयेत्।
प्रकृतिभ्यः परं यच्च तदचिन्त्यस्य लक्षणम्॥' इति।

तस्मात् शब्दमूल एवाऽतीन्द्रियार्थयाथात्म्याधिगमः। ननु शब्देनाऽपि न शक्यते विरुद्धोऽर्थः प्रत्याययितुं निरवयवं च ब्रह्म परिणमते न च कृत्स्नमिति। यदि निरवयवं ब्रह्म स्यान्नैव परिणमेत। कृत्स्नमेव वा परिणमेत। अथ केनचिद्रूपेण परिणमेत केनचिच्चाऽवतिष्ठेतेति रूपभेदकल्पनात् सावयवमेव प्रसज्येत। क्रियाविषये हि 'अति-

भाष्यका अनुवाद

के विना केवल तर्कसे ज्ञात नहीं हो सकतीं कि इस वस्तुकी इतनी शक्तियाँ हैं, उनके ये सहायक हैं, उनका यह काम है और यह प्रयोजन है। तो जिसका प्रभाव अचिन्त्य है, उस ब्रह्मके रूपका श्रुतिके उपदेशके विना निरूपण नहीं हो सके, तो इसमें आश्चर्य ही क्या है। पौराणिक भी कहते हैं—'अचिन्त्याः खलु ये भावा०' (जो पदार्थ अचिन्त्य हैं, उन्हें तर्ककी कसौटीमें नहीं कसना चाहिए, जो प्रकृतिसे पर है, वही अचिन्त्य है) इत्यादि। इसलिए अतीन्द्रिय अर्थके यथार्थ स्वरूपकी प्रतीति श्रुतिमूलक ही है। परन्तु निरवय ब्रह्मका परिणाम होता है, किन्तु सम्पूर्ण ब्रह्म परिणत नहीं होता ऐसे विरुद्ध अर्थकी प्रतीति श्रुति भी नहीं करा सकती। यदि ब्रह्म निरवयव है तो उसका परिणाम ही नहीं होगा, होगा तो सम्पूर्णका होगा। यदि कुछ रूपसे ब्रह्मका परिणाम होता है और कुछसे वह अवस्थित रहता है यह माना जाय, तो रूपभेदकी कल्पनासे ब्रह्म सावयव सिद्ध हो जायगा। क्रियाके सम्बन्ध

रत्नप्रभा

आशयानवबोधेन शङ्कते—ननु शब्देनाऽपीति। यद्वा, ब्रह्म परिणामि इत्येकदेशिनामियं सिद्धान्तसूत्रव्याख्या दर्शिता, तामाक्षिपति—नन्विति। शब्दस्य

रत्नप्रभाका अनुवाद

प्रत्यक्ष दृष्ट वस्तुस्वभावसे जो पर अर्थात् विलक्षण है अर्थात् केवल उपदेशगम्य है, वह अचिन्त्य स्वरूप है यह श्रुतिका अर्थ है। आशयको ठीक-ठीक न समझकर पूर्वपक्षी शंका करता है—"ननु शब्देनापि" इत्यादिसे। अथवा सिद्धान्तसूत्रकी एकदेशीकी 'ब्रह्म परिणामी है' ऐसी व्याख्या दिखलाकर उसपर आक्षेप करता है—"ननु" इत्यादिसे। योग्यताके ज्ञानकी शब्दको अपेक्षा होनेसे,

भाष्य

रात्रे षोडशिनं गृह्णाति' 'नातिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति' इत्येवंजातीयकायां विरोधप्रतीतावपि विकल्पाश्रयणं विरोधपरिहारकरणं भवति, पुरुषतन्त्रत्वाच्चाऽनुष्ठानस्य। इह तु विकल्पाश्रयणेनाऽपि न विरोधपरिहारः संभवति, अपुरुषतन्त्रत्वाद् वस्तुनः। तस्माद् दुर्घटमेतदिति।

नैष दोषः अविद्याकल्पितरूपभेदाभ्युपगमात्। नह्यविद्याकल्पितेन

भाष्यका अनुवाद

में 'अतिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति०' (अतिरात्रमें षोडशीका ग्रहण करता है), 'नातिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति' (अतिरात्रमें षोडशीका ग्रहण नहीं करता) इस प्रकारकी विरोधप्रतीतिमें भी विकल्पका आश्रयण विरोधके परिहारके लिए किया जाता है, क्योंकि अनुष्ठान पुरुषके अधीन है। यहां तो विकल्पके आश्रयसे भी विरोधका परिहार नहीं हो सकता, क्योंकि वस्तु पुरुषके अधीन नहीं है। इसलिये यह दुर्घट है।

नहीं, यह दोष नहीं है, क्योंकि अविद्याकल्पित रूपभेदका स्वीकार किया

रत्नप्रभा

योग्यताज्ञानसापेक्षत्वादित्यर्थः। ननु ब्रह्म सावयवं निरवयवं वेति विकल्पाश्रयणे सर्वश्रुतिसमाधानं स्यादित्यत आह—क्रियेति।

निरवयवत्वे ब्रह्मणः प्रकृतित्वश्रुतिविरोधः, सावयवत्वे निरवयवत्वशब्दविरोधः, विकल्पश्च वस्तुन्ययुक्तः, अतः प्रकारान्तरानुपलम्भात् श्रुतीनां प्रामाण्यं दुर्घटमिति प्राप्ते स्वाशयम् उद्घाटयति—नैष दोष इति। निरवयवस्य वस्तुनः कूटस्थस्याऽपि अविद्यया कल्पितनामरूपविकाराङ्गीकाराद् दुर्घटत्वदोषो नास्ति, वास्तवकौटस्थ्यस्य कल्पितविकारप्रकृतित्वेनाऽविरोधादित्यर्थः। रूपभेदाङ्गीकारे

रत्नप्रभाका अनुवाद

ऐसा अर्थ है। परन्तु ब्रह्म सावयव है या निरवयव है? ऐसे विकल्पका आश्रय करनेसे सब श्रुतियोंका समाधान होगा, इसपर कहते हैं—"क्रिया" इत्यादिसे।

ब्रह्मको निरवयव माननेमें ब्रह्मको प्रकृति कहनेवाली श्रुतिका विरोध होता है, सावयव माननेमें निरवयत्वका प्रतिपादन करनेवाली श्रुतिका विरोध होता है, वस्तुमें विकल्प अयुक्त है और प्रकारान्तर उपलब्ध नहीं होता, इससे श्रुतिका प्रामाण्य दुर्घट है, ऐसा प्राप्त होनेपर अपने आशयका उद्घाटन करते हैं—"नैष दोषः" इत्यादिसे। निरवयव कूटस्थ वस्तुके भी अविद्यासे कल्पित नाम-रूप विकारका अंगीकार है, अतः दुर्घटत्व दोष नहीं है। अर्थात् वास्तवमें जो कूटस्थ है, उसके कल्पित विकारकी प्रकृति होनेमें कोई

भाष्य

रूपभेदेन सावयवं वस्तु संपद्यते। नहि तिमिरोपहतनयनेनाऽनेक इव चन्द्रमा दृश्यमानोऽनेक एव भवति। अविद्याकल्पितेन च नामरूपलक्षणेन रूपभेदेन व्याकृताव्याकृतात्मकेन तत्त्वान्यत्वाभ्यामनिर्वचनीयेन ब्रह्म परिणामादिसर्वव्यवहारास्पदत्वं प्रतिपद्यते। पारमार्थिकेन च रूपेण सर्वव्यवहारातीतमपरिणतमवतिष्ठते। वाचारम्भणमात्रत्वाच्चाऽविद्याकल्पितस्य नामरूपभेदस्येति न निरवयवत्वं ब्रह्मणः कुप्यति। न चेयं परिणामश्रुतिः परिणामप्रतिपादनार्था, तत्प्रतिपत्तौ फलानवगमात्। सर्वव्यवहारहीनब्रह्मात्मभावप्रतिपादनार्था त्वेषा, तत्प्रतिपत्तौ फलावगमात्। 'स

भाष्यका अनुवाद

है। अविद्याकल्पित रूप भेदसे वस्तु सावयव नहीं होती। तिमिर रोगसे जिसके नेत्रका प्रकाश नष्ट हो गया है, उसकी दृष्टिमें चन्द्रमाके अनेकसे दिखाई देने पर भी वास्तवमें चन्द्रमा अनेक नहीं ही होता। और अविद्यासे कल्पित नामरूप लक्षण व्याकृत और अव्याकृत स्वरूप और तत्त्व या अतत्त्वसे अनिर्वचनीय रूपभेद द्वारा ब्रह्म परिणामादि सब व्यवहारोंका स्थान होता है, परन्तु पारमार्थिक रूपसे ब्रह्म सब व्यवहारोंसे अतीत और परिणामशून्य अवस्थित है। और अविद्याकल्पित नामरूपभेद केवल वाचारम्भण मात्र है, अतः ब्रह्ममें निरवयवत्व बाधित नहीं होता। और इस परिणाम श्रुतिका प्रयोजन परिणामका प्रतिपादन करना नहीं है, क्योंकि परिणामका ज्ञान होनेसे फलकी प्राप्ति नहीं होती किन्तु सब व्यवहारोंसे रहित ब्रह्मात्मत्वका प्रतिपादन करना ही उक्त श्रुतिका प्रयोजन है, उसके ज्ञानमें

रत्नप्रभा

सावयवत्वं स्यादित्याशङ्क्य उक्तं विवृणोति—नहीत्यादिना। कृत्स्नप्रसक्तिं निरस्य दोषान्तरं निरस्यति—वाचारम्भणेति। ननु श्रुतिप्रतिपाद्यस्य परिणामस्य कथं मिथ्यात्मत्वं तत्राऽऽह—न चेयमिति। निष्प्रपञ्चब्रह्मधीशेषत्वेन सृष्टिरनूद्यते, न

रत्नप्रभाका अनुवाद

विरोध नहीं है। स्वरूपभेदका अंगीकार करनसे ब्रह्म सावयव है ऐसा मानना होगा ऐसी आशङ्का कर पूर्वोक्तका स्पष्टीकरण करते हैं—"नहि" इत्यादिसे। ब्रह्मका सम्पूर्ण रूपसे परिणाम होता है इसका निराकरण करके अन्य दोषका खण्डन करते हैं—"वाचारम्भण" इत्यादिसे। यदि कोई कहे कि श्रुतिप्रतिपादित परिणाम मिथ्या किस प्रकार है? उसपर कहते हैं—"न चेयम्" इत्यादिसे। निष्प्रपञ्च ब्रह्मप्रतीतिके अङ्गरूपसे सृष्टिका अनुवाद किया जाता है, सृष्टिका

भाष्य

एष नति नेत्यात्मा' इत्युपक्रम्याऽऽह—'अभयं वै जनक प्राप्तोऽसि' (बृ० ४।२।४) इति तस्मादस्मत्पक्षे न कश्चिदपि दोषप्रसङ्गोऽस्ति ॥२७॥

भाष्यका अनुवाद

फलप्राप्ति है, क्योंकि 'स एष नेति नेत्यात्मा' (जो श्रुतिमें नहीं नहीं, इस प्रकार निषेधमुखसे निर्दिष्ट है, वह आत्मा है) ऐसा उपक्रम करके कहते हैं—'अभयं वै जनक०' (हे जनक ! तुम निश्चय, भयरहित—ब्रह्मको प्राप्त हो) इत्यादि । इसलिए हमारे मतमें कुछ भी दोष नहीं है ॥ २७ ॥

रत्नप्रभा

प्रतिपाद्यते इति असकृदावेदितम् । अतो विवर्तवादे न कश्चिद् दोष इति उपसंहरति—तस्मादिति ॥ २७ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

प्रतिपादन नहीं किया जाता, ऐसा अनेक वार कहा जा चुका है । इसलिए विवर्तवादमें कोई दोष नहीं है, ऐसा उपसंहार करते हैं—"तस्मात्" इत्यादिसे ॥२७॥

आत्मनि चैवं विचित्राश्च हि ॥ २८ ॥

पदच्छेद—आत्मनि, च, एवम्, विचित्राः, च, हि ।

पदार्थोक्ति—हि—यस्मात् 'न तत्र रथा न योगाः, इत्यादौ आत्मनि—स्वप्नदृशि एकस्मिन् आत्मनि, विचित्राः—विविधाः सृष्टयः [श्रूयन्ते] । च—लोके मायाविनि स्वरूपानुपमर्देनैव हस्त्यश्वादिविचित्राः सृष्टयो दृश्यन्ते, एवम्—एकस्मिन् ब्रह्मणि अपि [विविधसृष्टिः भवितुमर्हति] ।

भाषार्थ—चूँकि 'न तत्र रथा न रथयोगाः' (स्वप्नमें न रथ हैं न घोड़े हैं) इत्यादि श्रुतिमें स्वप्नद्रष्टा एक आत्मामें अनेक प्रकारकी सृष्टियाँ कही गई हैं और लोकमें एक ऐन्द्रजालिकमें उसके स्वरूपके नाश हुए विना हाथी, घोड़े आदि विचित्र सृष्टि दिखाई देती है, उसी प्रकार एक ब्रह्ममें विविध सृष्टियाँ हो सकती हैं।

भाष्य

अपि च नैवाऽत्र विवदितव्यं कथमेकस्मिन् ब्रह्मणि स्वरूपानुपमर्देनैवाऽनेकाकारा सृष्टिः स्यादिति, यत आत्मन्यप्येकस्मिन् स्वप्नदृशि स्वरूपानुपमर्देनैवाऽनेकाकारा सृष्टिः पठ्यते—'न तत्र रथा न रथयोगा न पन्थानो भवन्त्यथ रथान् रथयोगान् पथः सृजते' (बृ० ४।३।१०) इत्यादिना। लोकेऽपि देवादिषु च मायाव्यादिषु च स्वरूपानुपमर्देनैव विचित्रा हस्त्यश्वादिसृष्टयो दृश्यन्ते, तथैकस्मिन्नपि ब्रह्मणि स्वरूपानुपमर्देनैवाऽनेकाकारा सृष्टिर्भविष्यतीति ॥ २८ ॥

भाष्यका अनुवाद

और अपने रूपका नाश हुए विना एक ही ब्रह्ममें अनेक प्रकारवाली सृष्टि किस प्रकार हो सकती है, इस विषयमें इस प्रकार विवाद करना उचित नहीं है, क्योंकि एक स्वप्न द्रष्टा आत्मामें भी स्वरूपका नाश हुए विना ही अनेक प्रकारकी सृष्टि श्रुतिमें कही गई है—'न तत्र रथा न रथयोगा० (स्वप्नमें रथ नहीं हैं, घोड़े नहीं हैं, मार्ग नहीं हैं, किन्तु स्वप्नद्रष्टा रथोंका, घोड़ों और उनके मार्गोंका निर्माण करता है) इत्यादिसे। लोकमें भी देवता आदिमें और मायावी आदिमें अपने स्वरूपके नाशके विना ही हाथी, घोड़े आदि विचित्र सृष्टियाँ देखनेमें आती हैं। उसी प्रकार अखण्ड ब्रह्ममें भी स्वरूपका नाश हुए विना ही विविध प्रकारकी सृष्टि होगी ॥ २८ ॥

रत्नप्रभा

पूर्वावस्थानाशेनाऽवस्थान्तरम्—परिणामः, यथा दुग्धस्य दधिभावः। पूर्वरूपानुपमर्देन अवस्थान्तरम्—विवर्तः, यथा शुक्तेः रजतभावः। तत्र ब्रह्मणो विवर्तोपादानत्वं स्वप्नसाक्षिदृष्टान्तेन द्रढयन् मायावादं स्फुटयति सूत्रकारः—आत्मनि चेति। रथयोगाः—अश्वाः ॥ २८ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

पूर्व अवस्थाके नाशसे अन्य अवस्थाकी प्राप्ति परिणाम है जैसे दूधका दहीके रूपमें परिणत होना। पूर्व अवस्थाके नाश हुए विना अन्य अवस्थाकी प्राप्ति विवर्त है जैसे सीप चाँदीके रूपमें दिखाई देती है। यहाँपर स्वप्नसाक्षीके दृष्टान्तसे ब्रह्मको विवर्तका उपादान सिद्धकर सूत्रकार मायावादको स्फुट करते हैं—"आत्मनि" इत्यादिसे। रथयोग—घोड़े ॥२८॥

स्वपक्षदोषाच्च ॥ २९ ॥

पदच्छेद—स्वपक्षदोषात्, च ।

पदार्थोक्ति—च—अपि, स्वपक्षदोषात्–सांख्यादीनां पक्षेऽप्यस्य दोषस्य सत्त्वात् [एकस्मिन्नेव पक्षे नोपक्षेप्तव्यो भवति । तस्मादुपपन्नो ब्रह्मकारणतावादः] ।

भाषार्थ—और सांख्य आदिके पक्षमें भी यह दोष है, इसलिए हमारे ही पक्षमें यह दोष लगाना उचित नहीं है । इसलिए ब्रह्मकारणतावाद उपपन्न है ।

भाष्य

परेषामप्येषः समानः स्वपक्षे दोषः, प्रधानवादिनोऽपि हि निरवयवमपरिच्छिन्नं शब्दादिहीनं प्रधानं सावयवस्य परिच्छिन्नस्य शब्दादिमतः कार्यस्य कारणमिति स्वपक्षः। तत्राऽपि कृत्स्नप्रसक्तिर्निरवयवत्वात् प्रधानस्य प्राप्नोति निरवयवत्वाभ्युपगमकोपो वा । ननु नैव तैर्निरवयवं प्रधानमभ्युप-

भाष्यका अनुवाद

दूसरे वादियोंके पक्षमें भी यह दोष समान है, क्योंकि प्रधानवादीका भी अपना पक्ष यह है कि निरवयव, अपरिच्छिन्न शब्द आदिरहित प्रधान सावयव, परिच्छिन्न और शब्द आदियुक्त कार्यका कारण है । उसके मतमें भी प्रधानके निरवयव होनेसे सम्पूर्ण प्रधानकी कार्यरूपमें परिणति होती है अथवा प्रधान की निरवयवताके स्वीकारका बाध होता है । परन्तु वे प्रधानको निरवयव नहीं

रत्नप्रभा

किञ्च, कृत्स्नप्रसक्त्यादीनां सांख्यादिपक्षेऽपि दोषत्वात् न अस्मान् प्रत्युद्भावनीयत्वम्, 'यश्चोभयोः समो दोषः, इति न्यायादित्याह सूत्रकारः—स्वपक्षेति । प्रधानस्य निरवयवत्वे कृत्स्नप्रसक्तिः, सावयवत्वे च निरवयवत्वाभ्युपगमविरोध इति अत्र शङ्कते—नन्विति । किं साम्यावस्था गुणानां विकारः समुदायो वा ?

रत्नप्रभाका अनुवाद

और सम्पूर्णरूपसे परिणाम होना आदि सांख्य आदिके मतमें भी दोष हैं, इसलिए हमारे पक्षमें ही उनका उद्घाटन करना युक्त नहीं है, क्योंकि 'यश्चोभयोः०' (जो दोष दोनों मतमें समान हैं, और उनका परिहार भी समान ही है । उसके विषयमें केवल एक पक्षवालेसे पूछना उचित नहीं है) यह न्याय है ऐसा सूत्रकार कहते हैं—"स्वपक्ष" इत्यादिसे । प्रधानको निरवयव मानो तो उसका सर्वथा परिणाम हो जायगा, यदि सावयव मानो तो उसको जो निरवयव माना है वह बाधित होगा—यहांपर यह शङ्का करते हैं—"ननु"

भाष्य

गम्यते, सत्त्वरजस्तमांसि हि त्रयो गुणा नित्यास्तेषां साम्यावस्था प्रधानम्, तैरेवाऽवयवैस्तत्सावयवमिति। नैवंजातीयकेन सावयवत्वेन प्रकृतो दोषः परिहर्तुं पार्यते, यतः सत्त्वरजस्तमसामप्येकैकस्य समानं निरवयवत्वम्, एकैकमेव चेतरद्वयानुगृहीतं सजातीयस्य प्रपञ्चस्योपादानमिति समानत्वात् स्वपक्षदोषप्रसङ्गस्य। तर्काप्रतिष्ठानात् सावयवत्वमेवेति चेत्। एव-

भाष्यका अनुवाद

मानते, सत्त्व, रज और तम—तीन नित्य गुण हैं, उनकी साम्यावस्था ही प्रधान है, उन्हीं गुणरूप अवयवोंसे वह सावयव है, ऐसा स्वीकार करते हैं। इस प्रकारके सावयवत्वसे प्रकृत दोषका परिहार नहीं किया जा सकता, क्योंकि सत्त्व, रज और तममें भी प्रत्येकका निरवयवत्व समान है। एक गुण ही शेष दो गुणोंसे युक्त होकर सजातीय प्रपञ्चका उपादान है, इस प्रकार स्वपक्षमें उक्त दोषकी प्राप्ति समान है। उक्त तर्कके प्रतिष्ठित न होनेसे

रत्नप्रभा

आद्ये तस्या न मूलप्रकृतित्वम्, विकारत्वात्। द्वितीये प्रपञ्चाभावः, समुदायस्याऽवस्तुत्वेन मूलाभावात्। अथ निरवयवा गुणा एव विविधपरिणामानां प्रकृतिरिति चेत्, तर्हि कृत्स्नप्रसक्तेः मूलोच्छेदो दुर्वार इत्यभिप्रेत्य परिहरति—नैवमित्यादिना। इति—यतः, अतः समानत्वात् न वयं पर्यनुयोज्या इत्यन्वयः। प्रत्येकं सत्त्वादिकम् इतरगुणद्वयसचिवं निरवयवं यदि उपादानम्, तर्हि कृत्स्नस्य उपादानस्य कार्यरूपत्वप्रसक्तेर्मूलोच्छेद इत्युक्ते निरवयवत्वसाधकतर्कस्य आभासत्वाद् गुणानां सावयवत्वमेव परिणामित्वेन मृदादिवत्, अतो न कृत्स्नप्रसक्तिरेकदेशपरिणाम-

रत्नप्रभाका अनुवाद

इत्यादिसे। साम्यावस्था गुणोंका विकार है अथवा समुदाय? प्रथम पक्ष यदि स्वीकार करो तो वह मूलप्रकृतिही नहीं हो सकेगी, क्योंकि वह विकार है। दूसरा पक्ष ग्रहण करो तो प्रपञ्चका अभाव हो जायगा, क्योंकि समुदाय अवस्तुरूप होनेसे किसीका मूल नहीं हो सकता। निरवयव गुण ही विविध परिणामोंकी प्रकृति हैं ऐसा यदि कहा जाय तो सर्वथा परिणाम होनेसे मूलोच्छेद किसी प्रकार नहीं टल सकेगा इस अभिप्रायसे परिहार करते हैं—"नैवम्" इत्यादिसे। इसलिए समान दोष होनेसे हमसे ही प्रश्न नहीं करना चाहिए ऐसा अन्वय है। यदि प्रत्येक सत्त्व आदि अन्य दो गुणोंके साथ निरवयव होकर ही उपादान कारण हों तो समस्त उपादानका कार्यरूपमें परिणाम होनेके कारण मूलोच्छेद हो जायगा ऐसा कहा है, इसलिए निरवयत्वका साधक तर्क तर्काभास ही है अतएव गुण परिणाम होनेसे मिट्टी आदिके समान सावयव ही हैं। इसलिए कृत्स्नप्रसक्ति (सर्वथा परिणाम) नहीं होगी, क्योंकि

भाष्य

भ्प्यनित्यत्वादिदोषप्रसङ्गः । अथ शक्तय एव कार्यवैचित्र्यसूचिता अवयवा इत्यभिप्रायः तास्तु ब्रह्मवादिनोऽप्यविशिष्टाः, तथाऽणुवादिनोऽप्यणुरण्वन्तरेण संयुज्यमानो निरवयवत्वाद्यदि कार्त्स्न्येन संयुज्येत ततः प्रथिमानुपपत्तेरणुमात्रत्वप्रसङ्गः । अथैकदेशेन संयुज्येत, तथापि निरवयवत्वाभ्युपगमकोप

भाष्यका अनुवाद

सावयवत्व ही है ऐसा कहो तो सावयवत्व होनेपर भी अनित्यता आदि दोषोंका प्रसङ्ग आवेगा । यदि कार्यवैचित्र्यसे ज्ञात होनेवाली शक्तियाँ ही अवयव हैं, ऐसा अभिप्राय हो, तो वही तो ब्रह्मवादी भी मानते हैं । इसी प्रकार अणुवादीके मतमें भी एक अणु दूसरे अणुसे संयुक्त होता हुआ निरवयव होनेसे यदि सम्पूर्णतया संयुक्त हो, तो प्रथिमा—अधिक परिमाणके अनुपपन्न होनेसे उसमें केवल अणुमात्र होनेका प्रसंग आवेगा और यदि एक

रत्नप्रभा

सम्भवादिति शङ्कते—तर्केति । एतद्दोषाभावेऽपि दोषान्तरं स्यादिति परिहरति—एवमपीति । ननु गुणानामवयवाः तन्तुवदारम्भका न भवन्ति, किन्तु कार्यवैचित्र्यानुमितास्तद्गताः शक्तय इत्याशङ्क्य मायिकशक्तिभिः ब्रह्मणोऽपि सावयवत्वं तुल्यमित्याह—अथेत्यादिना । अणुवादेऽपि दोषसाम्यमाह—तथेति । सांख्यवद् दोषः समान इति सम्बन्धः । निरवयवयोः परमाण्वोः संयोगो व्याप्यवृत्तिः अव्याप्यवृत्तिर्वा ? आद्ये तत्कार्यस्य द्व्यणुकस्य एकपरमाणुमात्रत्वापत्तिः प्रथिम्नोऽधिकपरिमाणस्याऽनुपपत्तेः । नहि अणोः अण्वन्तरेण उपर्यधः पार्श्वतश्च व्याप्तौ

रत्नप्रभाका अनुवाद

एक देशके परिणामका संभव है ऐसी शंका करते हैं—"तर्क" इत्यादिसे । इस दोषका अभाव होनेसे भी अन्य दोष होंगे इस प्रकार शंकाका परिहार करते हैं—"एवम्" इत्यादिसे । यदि कोई कहे कि गुणोंके अवयव तन्तुओंके समान आरम्भक नहीं होते, किन्तु कार्यवैचित्र्यसे अनुमित उनमें रहनेवाली शक्तियाँ आरम्भिका होती हैं तो मायिक शक्तियों द्वारा ब्रह्म भी सावयव है ही ऐसा कहते हैं—"अथ" इत्यादिसे । अणुवादमें भी इस दोषकी समानता दिखलाते हैं—"तथा" इत्यादिसे । सांख्यमतके समान अणुवादमें भी दोष समान है ऐसा सम्बन्ध है । निरवयव दो परमाणुओंका संयोग व्याप्यवृत्ति है या अव्याप्यवृत्ति है ? प्रथम पक्षमें परमाणुओंसे उत्पन्न द्व्यणुक एक परमाणुमात्र ही होगा प्रथिमा—अधिक परिमाण युक्त न होगा । एक अणुकी अन्य अणुके साथ नीचे, ऊपर और बगलसे व्याप्ति होनेसे इससे अधिक द्रव्य नहीं हो सकता । संयोग यदि अव्याप्यवृत्ति माना जाय तो परमाणुओंके

भाष्य

इति स्वपक्षेऽपि समान एष दोषः। समानत्वाच्च नान्यतरस्मिन्नेव पक्षे उपक्षेप्तव्यो भवति। परिहृतस्तु ब्रह्मवादिना स्वपक्षे दोषः॥ २९॥

भाष्यका अनुवाद

देशसे संयोग पावे, तो भी निरवयत्वस्वीकार बाधित हो जायगा, इसलिए अपने पक्षमें भी वह दोष समान है, दोनोंके समान होनेपर दोमें से एक पक्षमें दोष लगाना युक्त नहीं है। ब्रह्मवादी तो अपने पक्षमें दोषका परिहार कर चुका है॥ २९॥

रत्नप्रभा

ततोऽधिकद्रव्यं सम्भवति। द्वितीये परमाण्वोः सावयवत्वापत्तिः इत्यर्थः। ननु 'त्वं चोरः' इत्युक्ते 'त्वमपि चोरः' इतिवद् दोषसाम्योक्तिः अयुक्ता इत्यत आह— परिहृतस्त्विति। उक्तं हि मायावादे स्वप्नवत् सर्वं सामञ्जस्यम्, अतो निरवयवे ब्रह्मणि समन्वयस्याऽविरोध इति सिद्धम्॥ २९॥ (९)॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

सावयव होनेकी नौबत आ जायगी यह तात्पर्य है। यदि कोई कहे 'तुम चोर हो' ऐसा किसीके कहनेपर 'तुम भी चोर हो' इस कथनके समान दोषकी समानताका उल्लेख करना अयुक्त है तो इसपर कहते हैं—"परिहृतस्तु" इत्यादिसे। मायावादमें स्वप्नके समान सब सामञ्जस्य कहा गया है इसलिए निरवयव ब्रह्ममें समन्वयका कोई विरोध नहीं है ऐसा तात्पर्य है॥ २९॥
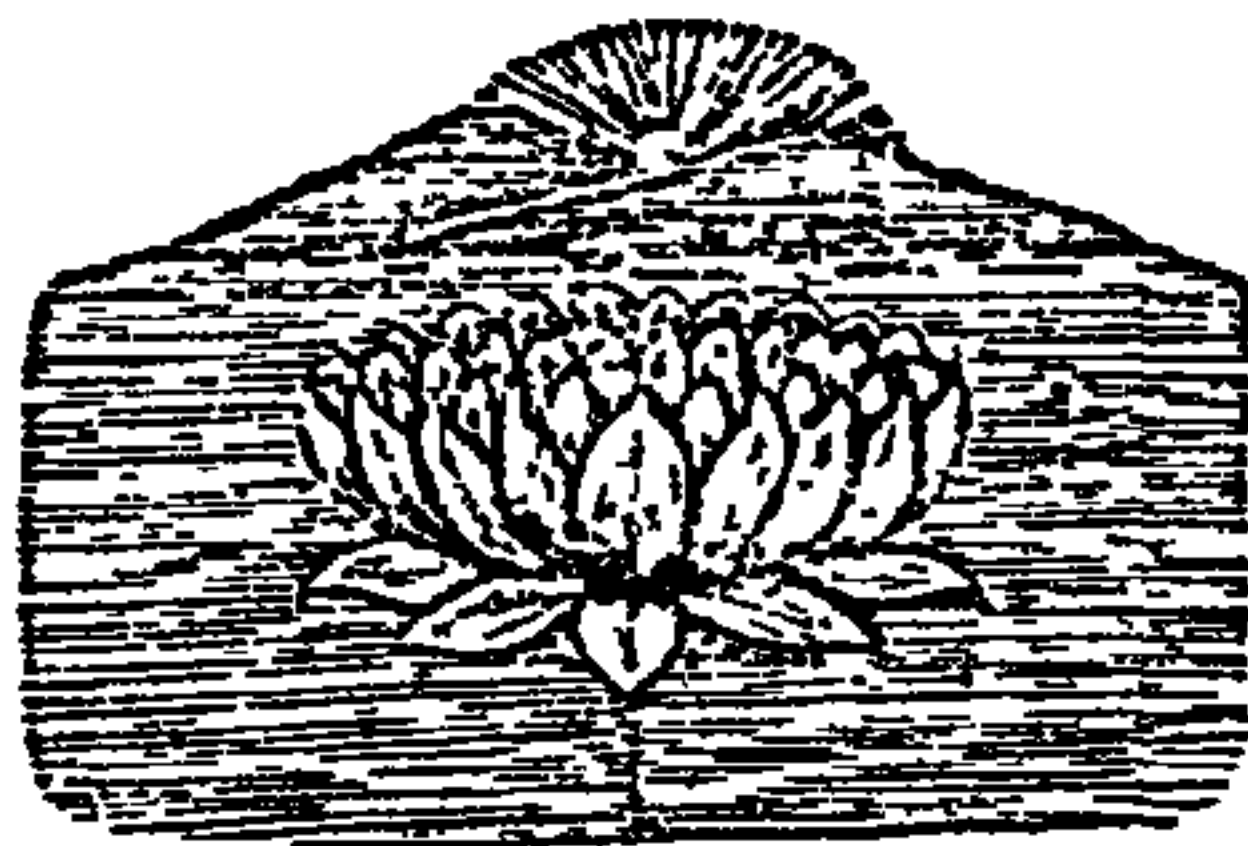
[१० सर्वोपेताधिकरण सू० ३०—३१]

नाशरीरस्य मायाऽस्ति यदि वाऽस्ति न विद्यते ।
ये हि मायाविनो लोके ते सर्वेऽपि शरीरिणः ॥१॥
बाह्यहेतुनृते यद्वन्मायया कार्यकारिता ।
ऋतेऽपि देहं मायैवं ब्रह्मण्यस्तु प्रमाणतः* ॥२॥

[अधिकरणसार]

सन्देह—शरीररहित ब्रह्ममें माया है या नहीं ?

पूर्वपक्ष—लोकमें जितने मायावी—ऐन्द्रजालिक हैं, वे सब शरीरधारी ही हैं, अतः शरीररहित ब्रह्ममें माया नहीं हो सकती ।

सिद्धान्त—जैसे बाह्य साधनोंके बिना भी ऐन्द्रजालिक मायासे विविध पदार्थ बना लेते हैं, वैसे ही 'मायिनं तु महेश्वरम्' (परं ब्रह्म परमात्मा माया युक्त है) इस श्रुति प्रमाणसे शरीरके बिना भी ब्रह्ममें माया हो सकती है ।

सर्वोपेता च तद्दर्शनात् ॥ ३० ॥

पदच्छेद—सर्वोपेता च तद्दर्शनात् ।

पदार्थोक्ति—च—अपि, सर्वोपेता—सर्वशक्तियुक्ता परा देवता, [कुतः] तद्दर्शनात्—तस्य सर्वशक्तियोगस्य 'सर्वकर्मा सर्वकामः' इत्यादिश्रुतौ दर्शनात् ।

भाषार्थ—और परा देवता सर्वशक्तियुक्त है, क्योंकि 'सर्वकर्मा सर्वकामः' (वह सबका कर्ता है और उसमें सब कामनाएँ हैं) इत्यादि श्रुतिमें उसका सर्वशक्तियोग देखा गया है ।

---

* तात्पर्य यह है कि पूर्वपक्षी कहता है—लोकमें देखा जाता है कि जितने ऐन्द्रजालिक आदि हैं वे सब शरीरधारी हैं, अतएव शरीररहित ब्रह्ममें मायाका संभव नहीं है ।

सिद्धान्ती कहते हैं—यद्यपि लोकमें यह देखा जाता है कि घर आदि बनानेवाले सभी लोगोंको अपनेसे अतिरिक्त मिट्टी, लकड़ी, घास-फूस आदि बाह्य साधनों की अपेक्षा रहती है, तथापि ऐन्द्रजालिक जैसे उक्त साधनोंके बिना भी गृह आदिका निर्माण कर लेता है, वैसे ही लौकिक मायावीके शरीर की अपेक्षा रखनेपर भी ब्रह्ममें माया की सिद्धिके लिए शरीर की अपेक्षा नहीं है । यदि कहो कि ऐन्द्रजालिकका बाह्य वस्तुओं की अपेक्षाके बिना वस्तुओंका निर्माण करना प्रत्यक्ष सिद्ध है तो ब्रह्ममें भी शरीर की अपेक्षाके बिना मायावत्त्वमें 'मायिनं तु महेश्वरम्' यह श्रुति प्रमाण है ।

भाष्य

एकस्याऽपि ब्रह्मणो विचित्रशक्तियोगादुपपद्यते विचित्रो विकारप्रपञ्च इत्युक्तम्, तत्पुनः कथमवगम्यते विचित्रशक्तियुक्तं परं ब्रह्मेति। तदुच्यते—सर्वोपेता च तद्दर्शनात्। सर्वशक्तियुक्ता च परा देवतेत्यभ्युपगन्तव्यम्। कुतः? तद्दर्शनात्। तथा हि दर्शयति श्रुतिः सर्वशक्तियोगं परस्या देवतायाः—'सर्वकर्मा सर्वकामः सर्वगन्धः सर्वरसः सर्वमिदमभ्यात्तोऽवाक्यनादरः' (छा० ३।१४।४), 'सत्यकामः सत्यसङ्कल्पः' (छा० ८।७।१), 'यः सर्वज्ञः सर्ववित्' (मु० १।१।९), 'एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठतः' (बृ० ३।८।९) इत्येवंजातीयका ॥ ३० ॥

भाष्यका अनुवाद

ब्रह्म यद्यपि एक ही है, तथापि उसका विचित्र शक्तियोंके साथ योग होनेसे विचित्र विकार प्रपञ्च उपपन्न होता है, ऐसा कहा है। परन्तु परब्रह्म विचित्रशक्तियुक्त है, यह कैसे ज्ञात होता है? उसे कहते हैं—'सर्वोपेता च तद्दर्शनात्'। पर देवता सर्वशक्तियुक्त है, ऐसा स्वीकार करना उचित है। किससे? उसके दर्शनसे। क्योंकि श्रुति पर देवताका सर्वशक्तियोग दिखलाती है—'सर्वकर्मा सर्वकामः' (सम्पूर्ण विश्व जिसका कर्म है, जिसके सब मनोरथ दोषरहित हैं, सब गन्ध जिसके सुखकर हैं, जिसके सब रस सुखकर हैं, जो इस सम्पूर्ण जगत्को व्याप्त करके स्थित है, वाग्-इन्द्रियरहित और निष्काम है) 'सत्यकामः सत्यसङ्कल्पः' (सत्यकामनावाला, सत्यसङ्कल्पवाला) 'यः सर्वज्ञः सर्ववित्, (जो सर्वज्ञ और सर्ववेत्ता है) 'एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने०' (हे गार्गि, इसी नाशरहित ब्रह्मकी आज्ञामें सूर्य और चन्द्र धारण किये हुए रहते हैं) इस प्रकारकी श्रुतियाँ हैं ॥३०॥

रत्नप्रभा

सर्वोपेता। मायाशक्तिमतो ब्रह्मणो जगत्सर्गं वदतः समन्वयस्य अशरीरस्य न मायेति न्यायेन विरोधोऽस्ति न वेति सन्देहे न्यायस्य अनाभासत्वादस्तीति पूर्वपक्षे पूर्वोक्तशक्तिमत्त्वसमर्थनाद् एकविषयत्वं सङ्गतिं वदन् सिद्धान्तसूत्रं व्याचष्टे—एकस्येत्यादिना। पूर्वोत्तरपक्षयोर्विरोधाविरोधौ फलमित्युक्तमेवाऽऽपादसमाप्तेः अवगन्तव्यम्। अभ्यात्तः—अभितो व्याप्तः, अवाकी—वागिन्द्रियशून्यः, अनादरः—निष्कामः ॥३०॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

"सर्वोपेता"। मायाशक्तियुक्त ब्रह्मसे जगत्की सृष्टि कहनेवाले समन्वयका शरीररहितमें माया नहीं है, इस न्यायके साथ विरोध है, या नहीं? ऐसा सन्देह होनेपर न्याय आभासरूप न होनेसे विरुद्ध है, ऐसा पूर्वपक्ष होनेपर पूर्वोक्त शक्तिमत्त्वके समर्थनसे एकविषयत्वरूप पूर्व अधिकरणके साथ संगति कहते हुए सिद्धान्तसूत्रका व्याख्यान करते हैं—"एकस्य" इत्यादिसे। अभ्यात्तः—चारों ओरसे व्याप्त हुआ। अवाकी—वागिन्द्रियरहित। अनादर—निष्काम ॥३०॥

विकरणत्वान्नेति चेत्तदुक्तम् ॥ ३१ ॥

पदच्छेद—विकरणत्वात्, न, इति, चेत्, तत्, उक्तम् ।

पदार्थोक्ति—विकरणत्वात्—'अचक्षुष्कमश्रोत्रम्' इत्यादिना ब्रह्मणः करणराहित्यावगमात् न—न कर्तृत्वम्, इति चेत्, तदुक्तम्—अत्र यदुत्तरं वक्तव्यं तत् पूर्वमेव 'देवादिवदपि लोके' इत्यत्र उक्तम् ।

भाषार्थ—'अचक्षुष्क०' (उसके नेत्र नहीं हैं कान नहीं हैं) इत्यादि श्रुतिसे ब्रह्मके इन्द्रियरहित प्रतीत होनेसे ब्रह्म कर्ता नहीं है ऐसा यदि कहो तो इस विषयमें जो कहना था वह हम पीछे 'देवादिवदपि लोके' इस सूत्रमें कह चुके हैं ।

भाष्य

स्यादेतत्, विकरणां परां देवतां शास्ति शास्त्रम्—'अचक्षुष्कमश्रोत्रमवागमनः' (बृ० ३।९।८) इत्येवंजातीयकम् । कथं सा सर्वशक्तियुक्ताऽपि सती कार्याय प्रभवेत्, देवादयो हि चेतनाः सर्वशक्तियुक्ता अपि सन्त आध्यात्मिककार्यकरणसम्पन्ना एव तस्मै तस्मै कार्याय प्रभवन्तो विज्ञायन्ते, कथं च 'नेति नेति' (बृ० ३।९।२६) इति प्रतिषिद्धसर्वविशेषाया देवतायाः सर्वशक्तियोगः सम्भवेदिति चेत्,

भाष्यका अनुवाद

ठीक है । परन्तु 'अचक्षुष्कमश्रोत्रमवागमनः' (वह नेत्ररहित, कर्णरहित, वाणीरहित और मनरहित है) इत्यादि श्रुतियाँ पर देवताको करणरहित कहती हैं । वह देवता यद्यपि सर्वशक्तिशाली है, तथापि कार्यके लिए किस प्रकार समर्थ होगा, क्योंकि देवता आदि चेतन, सर्वशक्तियुक्त हैं, तो भी आध्यात्मिक शरीर और इन्द्रियोंसे सम्पन्न होकर ही वे तत् तत् कार्य करनेकी शक्तिवाले देखे जाते हैं, तो 'नेति नेति' (ऐसा नहीं, ऐसा नहीं) इस प्रकार श्रुतिने

रत्नप्रभा

पूर्वपक्षन्यायमनूद्य दूषयति—विकरणत्वादिति । देवादिचेतनानां शक्तानामपि देहाभिमाने सत्येव कर्तृत्वं दृष्टम्, तदभावे सुषुप्तौ तन्न दृष्टम्, अतो ब्रह्मणः शक्तत्वेऽपि अदेहत्वाद् न कर्तृत्वम्, नाऽप्यदेहस्य शक्तिः सम्भवतीति शङ्कार्थः ।

रत्नप्रभाका अनुवाद

पूर्वपक्षन्यायका अनुवाद करके उसको दूषित करते हैं—"विकरणत्वात्" इत्यादिसे । देवता आदि चेतन समर्थ हैं, तो देहाभिमान रहनेपर ही वे कुछ कार्य करते दिखाई देते हैं, उसका अभाव होनेसे सुषुप्तिमें तो वैसा करते नहीं दिखाई देते, इसलिए ब्रह्मके समर्थ

भाष्य

यदत्र वक्तव्यं तत्पुरस्तादेवोक्तम् । श्रुत्यवगाह्यमेवेदमतिगम्भीरं ब्रह्म न तर्कावगाह्यम्, न च यथैकस्य सामर्थ्यं दृष्टं तथाऽन्यस्याऽपि सामर्थ्येन भवितव्यमिति नियमोऽस्तीति प्रतिषिद्धसर्वविशेषस्याऽपि ब्रह्मणः सर्वशक्तियोगः सम्भवतीत्येतदप्यविद्याकल्पितरूपभेदोपन्यासेनोक्तमेव । तथा च शास्त्रम्—'अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः' (श्वे० ३।१९) इत्यकरणस्याऽपि ब्रह्मणः सर्वसामर्थ्ययोगं दर्शयति ॥ ३१ ॥

भाष्यका अनुवाद

जिसके सब विशेषोंका प्रतिषेध किया है, उस देवतामें सर्वशक्तिका योग किस प्रकार हो सकता है ? ऐसा यदि कहो,

तो इस विषयमें जो हमें कहना था, उसे हम पहले ही कह चुके हैं। यह अति गम्भीर ब्रह्म श्रुतिसे ही जाना जा सकता है, तर्कोंसे वह ज्ञातव्य नहीं है। और एककी सामर्थ्य जैसी देखी गई हो, वैसी ही दूसरेकी सामर्थ्य होनी चाहिए, ऐसा कोई नियम नहीं है। जिसके सब विशेषोंका प्रतिषेध किया गया है, उस ब्रह्ममें भी शक्तियोग सम्भव है, यह बात भी अविद्यासे कल्पित रूपभेदके उपन्याससे कही गई है। उसी प्रकार 'अपाणिपादो जवनो ग्रहीता०' (उसके हाथ नहीं, तो भी वह सर्वग्राही है, और पैर नहीं हैं, तो भी वह दूरगामी है, आँखें नहीं हैं, तो भी वह देखता है और कान नहीं हैं तो भी वह सुनता है) यह शास्त्र करणरहित—इन्द्रियरहित ब्रह्ममें भी सर्वसामर्थ्यका योग दिखलाता है ॥ ३१ ॥

रत्नप्रभा

विकरणस्य जीवस्य कर्तृत्वासम्भवेऽपीश्वरस्य सम्भवतीति "देवादिवदपि लोके" (ब्र० सू० २।१।२५) इत्यत्रोक्तम्, तत्र शरीरस्य कल्पितस्य मायाश्रयत्वायोगात् निर्विशेषचिन्मात्रस्यैव मायाधिष्ठानत्वं युक्तमिति समाधानार्थः ॥ ३१ ॥ (१०) ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

होनेपर भी देहरहित होनेसे वह कर्ता नहीं हो सकता। देहरहितमें सामर्थ्यका सम्भव भी नहीं है ऐसा शङ्काका अर्थ है। करणरहित जीवमें यद्यपि कर्तृत्व सम्भव नहीं है, तथापि 'देवादिवदपि लोके' इसमें ईश्वरके कर्तृत्वका सम्भव कहा गया है। उसमें शरीरकल्पित होनेसे मायाका आश्रय हो, यह युक्त नहीं है, अतः निर्विशेष चिन्मात्र ही मायाका अधिष्ठान है, यह युक्त है; ऐसा समाधानका अर्थ है ॥३१॥

[११ प्रयोजनवत्त्वाधिकरण सू० ३२–३३]

तृप्तोऽस्रष्टाऽथवा स्रष्टा न स्रष्टा फलवाञ्छने ।
अतृप्तः स्यादवाञ्छायामुन्मत्तनरतुल्यता ॥१॥
लीलाश्वासवृथाचेष्टा अनुद्दिश्य फलं यतः ।
अनुन्मत्तैर्विरच्यन्ते तस्मात् तृप्तस्तथा सृजेत् ॥२॥*

[अधिकरणसार]

सन्देह—नित्यतृप्त ब्रह्म स्रष्टा है अथवा नहीं ?

पूर्वपक्ष—ब्रह्म स्रष्टा नहीं है, क्योंकि फलकी इच्छा होनेपर उसमें अतृप्ति हो जायगी, और यदि फलकी इच्छा न हो तो उसमें उन्मत्त नरतुल्यता हो जायगी ।

सिद्धान्त—जैसे लीला, श्वासप्रश्वास आदि निरर्थक चेष्टाएँ फलके उद्देश्यके बिना विवेकी लोगोंसे भी की जाती हैं, उसी प्रकार नित्यतृप्त ब्रह्म भी किसी फलकी इच्छाके बिना जगत्की सृष्टि करता है ।

न प्रयोजनवत्त्वात् ॥ ३२ ॥

पदच्छेद—न, प्रयोजनवत्त्वात् ।

पदार्थोक्ति—न—न ब्रह्मणो जगत्कर्तृत्वं संभवति नित्यतृप्तत्वेन प्रयोजनवत्त्वात्—प्रेक्षावत्प्रवृत्तेः प्रयोजनवत्त्वाभ्युपगमात् [ब्रह्मणो जगत्सर्गं वदन् समन्वयो विरुद्ध्यते]।

भावार्थ—ब्रह्मके जगत्कर्तृत्वका संभव नहीं है, क्योंकि नित्यतृप्त होनेसे उसे किसी प्रयोजनकी अपेक्षा नहीं है विवेकी जनोंकी प्रवृत्ति प्रयोजनवती मानी गई है, अतः ब्रह्मसे जगत्की सृष्टिका प्रतिपादन करनेवाला समन्वय विरुद्ध है ।

---

* तात्पर्य यह है कि पूर्वपक्षी कहता है—'आनन्दो ब्रह्म' (ब्रह्म आनन्दस्वरूप है) इत्यादि श्रुति और युक्तिसे प्रतीत होता है कि परमेश्वर नित्यतृप्त है। नित्यतृप्त ब्रह्ममें सृष्टिविषयिणी इच्छा यदि मानी जाय तो नित्यतृप्तिका व्याघात हो जायगा । यदि कोई इच्छा न मानी जाय तो अबुद्धिपूर्वक सृष्टि करते हुए ब्रह्मकी उन्मत्तपुरुषसमानता हो जायगी ।

सिद्धान्ती कहते हैं—जैसे विवेकशील राजा आदिकी भी प्रयोजनके बिना क्रीडासे शिकार खेलनेमें प्रवृत्ति देखी गई है, निरर्थक श्वास-प्रश्वास व्यवहार तो सब लोगोंमें देखा ही जाता है और व्यर्थ चेष्टाएँ भी बहुधा बालकोंसे की जाती हैं। इसी प्रकार नित्यतृप्त परमेश्वर भी किसी प्रयोजनके बिना ही विवेकपूर्वक सकल जगत्की सृष्टि करता है ।

भाष्य

अन्यथा पुनश्चेतनकर्तृत्वं जगत आक्षिपति, न खलु चेतनः परमात्मेदं जगद्बिम्बं विरचयितुमर्हति। कुतः? प्रयोजनवत्त्वात् प्रवृत्तीनाम्। चेतनो हि लोके बुद्धिपूर्वकारी पुरुषः प्रवर्तमानो न मन्दोपक्रमामपि तावत् प्रवृत्तिमात्मप्रयोजनानुपयोगिनीमारभमाणो दृष्टः, किमुत गुरुतरसंरम्भाम्। भवति च लोकप्रसिद्धानुवादिनी श्रुतिः—'न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति' (बृ० २।४।५) इति। गुरुतर-

भाष्यका अनुवाद

और चेतन जगत्का कर्ता है, इसका दूसरे प्रकारसे आक्षेप करते हैं। चेतन परमात्मा इस जगद्बिम्बकी रचना करे, यह युक्त नहीं है, क्योंकि प्रवृत्तियां प्रयोजनवती होती हैं। लोकमें बुद्धिपूर्वक कार्य करनेवाला चेतन पुरुष कार्यमें प्रवृत्त होता हुआ अपने प्रयोजनके अनुपयोगी सहज कामोंको भी आरम्भ करते नहीं दिखाई देता, फिर गुरुतरप्रयत्नसाध्य कामोंको विना प्रयोजन आरम्भ न करे, इसमें कहना ही क्या है? लोकप्रसिद्धिके अनुसार श्रुति भी है—'न वा अरे सर्वस्य कामाय०, (अरे मैत्रेयि! यह प्रसिद्ध है कि सबके प्रयोजनके लिए सब प्रिय नहीं होते, किन्तु आत्माके प्रयोजनके लिए सब प्रिय होते हैं)। यह प्रवृत्ति गुरुतरप्रयत्नसाध्य

रत्नप्रभा

न प्रयोजनवत्त्वात्। परितृप्ताद् ब्रह्मणो जगत्सर्गं वदन् समन्वयो विषयः, स 'किमभ्रान्तश्चेतनो यः स निष्फलं वस्तु न रचयति' इति न्यायेन विरुध्यते न वेति सन्देहे पूर्वमदेहस्याऽपि श्रुतिबलात् शक्तत्वोक्त्या कर्तृत्वमुक्तम्, तदाक्षेपसङ्गत्या पूर्वपक्षसूत्रं व्याचष्टे—अन्यथेत्यादिना। ईश्वरस्य फलाभावेऽपि परप्रयोजनाय सृष्टौ प्रवृत्तिरस्तु इत्याशङ्क्य श्रुतिमाह—भवति चेति। या प्रेक्षावत्प्रवृत्तिः सा स्वफलार्थेति लोकप्रसिद्धिः। न च दयालुप्रवृत्तौ व्यभिचारः, तस्या अपि पर-

रत्नप्रभाका अनुवाद

"न प्रयोजनवत्त्वात्"। परितृप्त ब्रह्मसे जगत्की सृष्टि कहनेवाला वेदान्तसमन्वय विषय है। 'जो अभ्रान्त चेतन है, वह निष्फल वस्तुकी रचना नहीं करता' इस न्यायसे उसका विरोध है, या नहीं? ऐसा सन्देह होनेपर पूर्व अधिकरणमें श्रुतिसामर्थ्यसे देहरहित ब्रह्म समर्थ होनेसे कर्ता है, ऐसा जो कहा है, उसका आक्षेप करता है, इससे इस अधिकरणकी पूर्व अधिकरणके साथ आक्षेप सङ्गति है, और इस संगतिसे पूर्वपक्षसूत्रका व्याख्यान करते हैं—"अन्यथा" इत्यादिसे। ईश्वरको स्वयं फलकी इच्छा नहीं है, तो भी वह दूसरेके प्रयोजनके लिए सृष्टिमें प्रवृत्त होता है, ऐसी शंका करके श्रुतिको उद्धृत करते हैं—"भवति च" इत्यादिसे। जो विचार-

भाष्य

संरम्भा चेयं प्रवृत्तिर्यदुच्चावचप्रपञ्चं जगद्बिम्बं विरचयितव्यम्। यदीयमपि प्रवृत्तिश्चेतनस्य परमात्मन आत्मप्रयोजनोपयोगिनी परिकल्प्येत परितृप्तत्वं परमात्मनः श्रूयमाणं बाध्येत, प्रयोजनाभावे वा प्रवृत्त्यभावोऽपि स्यात्। अथ चेतनोऽपि सन्नुन्मत्तो बुद्ध्यपराधादन्तरेणैवाऽऽत्मप्रयोजनं प्रवर्तमानो दृष्टस्तथा परमात्माऽपि प्रवर्तिष्यत इत्युच्येत। तथा सति सर्वज्ञत्वं परमात्मनः श्रूयमाणं बाध्येत, तस्मादश्लिष्टा चेतनात् सृष्टिरिति ॥ ३२ ॥

भाष्यका अनुवाद

है क्योंकि अनेक प्रकारके प्रपञ्चोंसे युक्त जगत्की रचना करनी है। यदि यह प्रवृत्ति भी चेतन परमात्माके लिए अपने किसी प्रयोजनकी उपयोगिनी है, ऐसी कल्पना की जाय, तो परमात्मा परितृप्त है, ऐसा जो श्रुतिमें कहा गया है, उसका बाध हो जायगा और प्रयोजनके अभावमें प्रवृत्तिका भी अभाव हो जायगा। जैसे चेतन होता हुआ भी उन्मत्त पुरुष बुद्धिके अपराधसे अपने किसी प्रयोजनके बिना भी प्रवृत्त होता दिखाई देता है, उसी प्रकार परमात्मा भी प्रवृत्त होगा, ऐसा यदि कहो, तो ऐसी परिस्थितिमें श्रुतिमें वर्णित परमात्माकी सर्वज्ञताका बाध हो जायगा। इसलिए चेतनसे सृष्टि नहीं घटती ॥ ३२ ॥

रत्नप्रभा

दुःखासहनप्रयुक्तस्वचित्तव्याकुलतानिवृत्त्यार्थित्वादिति भावः। किञ्च, गुरुतरायासस्य फलं वाच्यमित्याह—गुरुतरेति। तर्हि अस्तीश्वरस्याऽपि प्रवृत्तिः स्वार्था इत्यत आह—यदीयमपीति। अस्वार्थत्वे प्रवृत्त्यभावः पूर्वोक्तः स्यादित्यर्थः। ईश्वरः प्रेक्षावान्न भवतीति आशङ्क्य श्रुतिविरोधमाह—अथेत्यादिना। बुद्धेरपराधः—विवेकाभावः ॥ ३२ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

पूर्वक प्रवृत्ति होती है, वह अपने किसी प्रयोजनके लिए होती है, ऐसी लोकप्रसिद्धि है। दयालु पुरुषकी प्रवृत्तिमें व्यभिचार है, ऐसा कहना उचित नहीं है, क्योंकि दूसरेका दुःख सहन न होनेसे अपने चित्तमें जो व्याकुलता होती है, उसकी निवृत्ति करना उसका भी प्रयोजन है और गुरुतर आयासका फल तो कहना ही चाहिए, ऐसा कहते हैं—"गुरुतर" इत्यादिसे। तब ईश्वरकी भी प्रवृत्ति स्वार्थके लिए है, उसपर कहते हैं—"यदीयमपि" इत्यादि। अर्थात् उसका स्वार्थ न माननेसे पूर्वोक्त प्रवृत्तिका अभाव हो जायगा। ईश्वर प्रेक्षावान्—विचारवान् नहीं है, ऐसी आशंका करके उसके लिए श्रुतिका विरोध कहते हैं—"अथ" इत्यादिसे। बुद्धिका अपराध—विवेकका अभाव ॥३२॥

लोकवत्तु लीलाकैवल्यम् ॥ ३३ ॥

पदच्छेद—लोकवत्, तु, लीलाकैवल्यम् ।

पदार्थोक्ति—तुः—पूर्वपक्षनिरासार्थः । लोकवत्—यथा लोके राजतदमात्यादीनां फलं विनैव केवललीलारूपाः प्रवृत्तयो दृश्यन्ते [यथा वा उच्छ्वासादयः स्वभावादेवोत्पद्यन्ते तथा ब्रह्मणो विचित्रकार्यरचना] लीलाकैवल्यम्—लीलामात्रमेव न फलसापेक्षम् [अतः समन्वयो न विरुद्ध्यते] ।

भाषार्थ—तुशब्द पूर्वपक्षकी निवृत्तिका सूचक है । जैसे लोकमें राजा और उसके अमात्य आदिकी फलविशेषकी आकाङ्क्षाके विना ही क्रीडामें प्रवृत्तियां देखी जाती हैं और जैसे श्वासोच्छ्वास स्वाभवतः होते हैं, उसी प्रकार ब्रह्मकी विचित्रकार्यरचना केवल लीलामात्र ही है । उसका कोई फल नहीं है, अतः उक्त समन्वय विरुद्ध नहीं है ।

भाष्य

तुशब्देनाऽऽक्षेपं परिहरति । यथा लोके कस्यचिदाप्तैषणस्य राज्ञो राजामात्यस्य वा व्यतिरिक्तं किञ्चित् प्रयोजनमनभिसन्धाय केवलं लीलारूपाः

भाष्यका अनुवाद

तुशब्दसे आक्षेपका परिहार करते हैं । जैसे लोकेमें कोई राजा या राजाका मन्त्री जिसकी सब कामनाएँ पूरी हो गई हैं, क्रीडाक्षेत्रमें उसकी प्रवृत्तियाँ किसी दूसरे प्रयोजनकी अभिलाषा न करके केवल लीलारूप ही होती हैं और

रत्नप्रभा

उक्तन्यायस्य राज्ञां लीलायां व्यभिचार इति सिद्धान्तसूत्रं व्याचष्टे—तुशब्देनेति । व्यतिरिक्तम्—लीलातिरिक्तम् । क्रीडारूपा विहारा येषु रम्यदेशेषु तेषु इत्यर्थः । कदाचिद् राजादीनां लीलाया अपि किञ्चित् फलं सुखोल्लासादिकं

रत्नप्रभाका अनुवाद

पूर्व उक्त न्यायका राजाओंकी लीलामें व्यभिचार है, ऐसा सिद्धान्तसूत्रका व्याख्यान करते हैं—"तुशब्देन" इत्यादिसे । व्यातिरिक्त—दूसरा अर्थात् लीलासे दूसरा । क्रीडारूप विहार जिन रम्य देशोंमें होता है, उनमें ऐसा अर्थ है । कदाचित् राजाओंकी लीलामें भी कुछ फल—सुख, उल्लास आदि हो सके, तो भी निःश्वास आदिमें प्रेक्षावत्की प्रवृत्ति है, परन्तु अपने

भाष्य

प्रवृत्तयः क्रीडाविहारेषु भवन्ति, यथा चोच्छ्वासप्रश्वासादयोऽनभिसन्धाय बाह्यं किञ्चित् प्रयोजनं स्वभावादेव सम्भवन्ति, एवमीश्वरस्याऽप्यनपेक्ष्य किञ्चित् प्रयोजनान्तरं स्वभावादेव केवलं लीलारूपा प्रवृत्तिर्भविष्यति । न-हीश्वरस्य प्रयोजनान्तरं निरूप्यमाणं न्यायतः श्रुतितो वा सम्भवति, न च स्वभावः पर्यनुयोक्तुं शक्यते । यद्यप्यस्माकमियं जगद्बिम्बरचना गुरुतर-संरम्भेवाऽऽभाति तथापि परमेश्वरस्य लीलैव केवलेयम्, अपरिमितशक्ति-

भाष्यका अनुवाद

जैसे उच्छ्वास, प्रश्वास आदि किसी बाह्य प्रयोजनकी अभिसन्धिके विना स्वभावसे ही उत्पन्न होते हैं, इसी प्रकार किसी अन्य प्रयोजनकी अपेक्षाके विना स्वभावसे ही ईश्वरकी भी केवल लीलारूप प्रवृत्ति होगी, क्योंकि युक्ति या श्रुति-से ईश्वरके अन्य प्रयोजनका निरूपण करना संभव नहीं है और स्वभावके विषय-में प्रश्न करना नहीं बनता अर्थात् इसका ऐसा स्वभाव क्यों है ? यह प्रश्न करना उचित नहीं है । यद्यपि जगद्बिम्बकी रचना हम लोगोंको गुरुतर आयाससाध्य प्रतीत होती है, तो भी परमेश्वरकी यह केवल लीला ही है, क्योंकि उसकी

रत्नप्रभा

सम्भाव्येत, तथापि निःश्वासादौ प्रेक्षावत्प्रवृत्तित्वमस्ति न तु स्वस्य तन्नोद्देश्यं फलं किञ्चिदस्तीति व्यभिचारस्थलान्तरमाह—यथा चेति । प्राणस्य स्वभावः—चलत्वं प्रारब्धं वा उच्छ्वासादिहेतुः, ईश्वरस्य स्वभावः—कालकर्मसहितमाया । ननु ईश्वरस्य जगद्रचनायाः केवललीलात्वं किमिति उच्यते, फलमेव किञ्चित् कल्प्यतां तत्राह—नहीति । आप्तकामत्वव्याघातादित्यर्थः । ननु ईश्वरस्तूष्णीं किमिति न तिष्ठति किमिति स्वस्याऽफलां परेषां दुःखावहां सृष्टिं करोति, तत्राह—न च स्वभाव इति । कालधर्मादिसामग्र्यां सत्यां सृष्टेरपरिहार्यत्वादित्यर्थः ।

रत्नप्रभाका अनुवाद

उद्देशसे कुछ फल नहीं है, ऐसा दूसरा व्यभिचार स्थल कहते हैं—"यथा च" इत्यादिसे । प्राणका स्वभाव—चलत्व या प्रारब्ध—उच्छ्वास आदिका हेतु है, ईश्वरका स्वभाव—कालकर्म-सहित माया है । परन्तु जगद्रचना केवल ईश्वरकी लीला है, ऐसा क्यों कहते हो, किसी फलकी भी कल्पना करो, उसपर कहते हैं—"नहि" इत्यादि । क्योंकि ईश्वर श्रुतिमें आप्तकाम कहा गया है, उसका व्याघात हो जायगा, यह अर्थ है । और यदि कोई कहे कि ईश्वर शान्त क्यों नहीं बैठा रहता, अपनेको कुछ फल न देनेवाली और दूसरोंको दुःख देनेवाली सृष्टि किसलिए करता है, उसपर कहते हैं—"न च स्वभाव" इत्यादिसे । काल, धर्म आदि सामग्री होनेसे सृष्टिका परिहार

भाष्य

स्यात्। यदि नाम लोके लीलास्वपि किञ्चित् सूक्ष्मं प्रयोजनमुत्प्रेक्ष्येत, तथापि नैवात्र किञ्चित् प्रयोजनमुत्प्रेक्षितुं शक्यते, आप्तकामश्रुतेः। नाप्य-प्रवृत्तिरुन्मत्तप्रवृत्तिर्वा, सृष्टिश्रुतेः, सर्वज्ञत्वश्रुतेश्च। न चेयं परमार्थविषया सृष्टिश्रुतिः, अविद्याकल्पितनामरूपव्यवहारगोचरत्वात्, ब्रह्मात्मभावप्रति-पादनपरत्वाच्चेत्येतदपि नैव विस्मर्तव्यम् ॥ ३३ ॥

भाष्यका अनुवाद

शक्ति अपरिमित है। यद्यपि लोकमें लीलाओंमें भी किसी सूक्ष्म प्रयोजनकी उत्प्रेक्षा की जा सकती है, तो भी परमात्माके विषयमें किसी भी प्रयोजनकी उत्प्रेक्षा नहीं की जा सकती, क्योंकि परमेश्वर आप्तकाम है, ऐसी श्रुति है, इसी प्रकार अप्रवृत्ति या उन्मत्तकीसी प्रवृत्ति भी नहीं है, क्योंकि श्रुति सृष्टिका-प्रतिपादन करती है और सर्वज्ञत्वका भी प्रतिपादन करती है। और यह सृष्टि-श्रुति परमार्थविषयिणी है यह भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि अविद्यासे कल्पित नामरूप व्यवहार इस श्रुतिका विषय है और यह ब्रह्मात्मभावका प्रतिपादन करनेके लिए है, यह न भूल जाना चाहिए ॥ ३३ ॥

रत्नप्रभा

यदुक्तं गुरुतरायासस्य फलं वाच्यमिति, तत्र हेत्वसिद्धिमाह—यद्यपीत्यादिना। अल्पप्रवृत्तेरपि फलं वाच्यं लोके तथा दर्शनादित्यादितर्कस्याऽऽगमबाधमाह—यदि नामेति। सृष्टिश्रुतेरप्रवृत्तिर्नास्ति, सर्वज्ञत्वश्रुतेरुन्मत्तता नास्तीति विभागः। स्वप्नसृष्टिवदस्याः सृष्टेर्मायामात्रत्वान्न फलापेक्षेत्याह—न चेयमिति। न च निष्फ-लसृष्टिश्रुतीनामानर्थक्यम्, सफलब्रह्मधीशेषत्वेनाऽर्थवत्त्वादित्युक्तं न विस्मर्तव्यम् इत्यर्थः ॥ ३३ ॥ (११)

रत्नप्रभाका अनुवाद

नहीं हो सकता, ऐसा अर्थ है। और गुरुतर आयासका फल कहना चाहिए, ऐसा जो कहा है, उसमें हेतु असिद्ध है, ऐसा कहते हैं—"यद्यपि" इत्यादिसे। 'अल्प प्रवृत्तिका भी फल कहना चाहिए, क्योंकि लोकमें ऐसा देखनेमें आता है, यह तर्क आगमसे बाधित है, ऐसा कहते हैं—"यदि नाम" इत्यादिसे। सृष्टिकी श्रुति होनेसे अप्रवृत्ति नहीं है और सर्वज्ञत्वकी श्रुति होनेसे उन्मत्तता नहीं है, ऐसा समझना चाहिए। स्वप्नसृष्टिके समान यह सृष्टि भी मायामात्र है, इसलिए फलकी अपेक्षा नहीं है, ऐसा कहते हैं—"न चेयम्" इत्यादिसे। और निष्फल सृष्टिश्रुतियाँ अनर्थक हों, ऐसा भी नहीं है, क्योंकि सफल ब्रह्म प्रतीतिकी अंगभूत होनेसे वे सप्रयोजन हैं, ऐसा कहा गया है, उसको नहीं भूलना चाहिए, ऐसा अर्थ है ॥ ३३ ॥

[१२ वैषम्यनैर्घृण्याधिकरण सू० ३४–३६]

वैषम्याद्यापतेन्नो वा सुखदुःखे नृभेदतः ।
सृजन्विषम ईशः स्यान्निर्घृणश्चोपसंहरन् ॥१॥
प्राण्यनुष्ठितधर्मादिमपेक्ष्येशः प्रवर्तते ।
नातो वैषम्यनैर्घृण्ये संसारस्तु न चादिमान्* ॥२॥

[अधिकरणसार]

सन्देह—ब्रह्ममें वैषम्य आदि दोषोंका संभव है, या नहीं ?

पूर्वपक्ष—मनुष्य आदिके भेदसे सुख, दुःख आदिकी सृष्टि करता हुआ ईश्वर विषम होगा और सबका संहार करता हुआ निर्घृण होगा ।

सिद्धान्त—प्राणियों द्वारा अनुष्ठित धर्म आदिकी अपेक्षासे ईश्वर प्रवृत्त होता है, इसलिए वैषम्य, नैर्घृण्य दोष नहीं है और संसार अनादि है ।

---

* तात्पर्य यह कि—पूर्वपक्षी कहता है कि ईश्वर देवता आदिको अत्यन्त सुखी उत्पन्न करता है, पशु आदियोंको अत्यन्त दुःखी उत्पन्न करता है, मनुष्योंको सुखदुःखसाधारण उत्पन्न करता है, इस प्रकार तारतम्यसे प्राणिविशेषमें सुख, दुःख उत्पन्न करता हुआ ईश्वर विषम क्यों न होगा और नीचोंसे भी अत्यन्त जुगुप्सित देव, पशु, मनुष्य आदि सम्पूर्ण जगत् का संहार करता हुआ निर्घृण क्यों न होगा। इसलिए ईश्वरमें वैषम्य और नैर्घृण्य दोष प्रसक्त होते हैं।

सिद्धान्ती कहते हैं कि ईश्वरमें वैषम्य दोष लागू नहीं है, क्योंकि प्राणियोंके उत्तम, मध्यम और अधम रूप वैषम्यमें उनके कर्म ही प्रयोजक हैं। इससे ईश्वरकी स्वतंत्रता नष्ट नहीं हो जाती, क्योंकि वह अन्तर्यामी होनेके कारण कर्माध्यक्ष है। यदि ऐसा हो, तो घट्टकुटी-प्रभातन्याय प्राप्त होगा, क्योंकि ईश्वरमें वैषम्यका परिहार करनेके लिए कर्मोंको वैषम्यका हेतु कहकर पुनः ईश्वरकी स्वतंत्रताकी सिद्धिके लिए उसे कर्मनियामक माननेसे अन्ततोगत्वा ईश्वरमें ही वैषम्यका प्रसंग होगा। यह दोष नहीं है, क्योंकि नियामकत्वका अर्थ उन उन वस्तु शक्तियों की अव्यवस्थाका परिहारमात्र है, शक्तियां तो मायाकी शरीरभूत हैं उनका उत्पादक ईश्वर नहीं है। इसलिए अपनी अपनी शक्तिके वशसे कर्म वैषम्यके हेतु होनेपर भी उनके व्यवस्थापक ईश्वरके वैषम्यका प्रसंग नहीं है। संहार तो सुषुप्तिके समान दुःखका कारण नहीं है, किन्तु उसके विपरीत सब क्लेशोंका निवर्तक होनेसे दयालु ही है। अवान्तर सृष्टियोंमें पूर्व पूर्व कर्मोंकी अपेक्षासे सृष्टि करते हुए ईश्वरमें वैषम्य न होनेपर भी प्रथम सृष्टिमें पूर्व कर्मके संभव न होनेसे वैषम्य दोष ज्योंका त्यों है, यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि सृष्टिपरम्परा अनादि है। इसमें "नान्तो न चादिः" (न इसका अन्त है, न आदि है) इत्यादि स्मृति प्रमाण है। इससे कोई दोष नहीं है।

वैषम्यनैर्घृण्ये न सापेक्षत्वात्तथाहि दर्शयति ॥ ३४ ॥

पदच्छेद—वैषम्यनैर्घृण्ये, न, सापेक्षत्वात्, तथा, हि, दर्शयति ।

पदार्थोक्ति—वैषम्यनैर्घृण्ये न—ब्रह्मणो वैषम्यनैर्घृण्ये न स्याताम्, [कुतः] सापेक्षत्वात्—प्राणिकर्मसापेक्षत्वात् [ननु कस्मात् ब्रह्मणः कर्मसापेक्षत्वम् ? अत आह] तथाहि दर्शयति—'एष ह्येव साधु कर्म कारयति' इत्याद्या श्रुतिः ।

भाषार्थ—ब्रह्ममें विषमता और निष्करुणता दोष लागू नहीं होते, क्योंकि जो कुछ प्राणियोंको दुःख ही दुःख, कुछको सुख और दुःख और कुछको अतिसुख प्राप्त होता है वह उनके कर्मोंपर निर्भर है । ब्रह्म कर्मके अनुसार सुखदुःख देता है इस विषयमें 'एष ह्येव साधु कर्म कारयति' (यही साधु कर्म कराता है) इत्यादि श्रुति प्रमाण है ।

भाष्य

पुनश्च जगज्जन्मादिहेतुत्वमीश्वरस्याऽऽक्षिप्यते स्थूणानिखननन्यायेन प्रतिज्ञातस्याऽर्थस्य दृढीकरणाय । नेश्वरो जगतः कारणमुपपद्यते । कुतः ? वैषम्यनैर्घृण्यप्रसङ्गात् । कांश्चिदत्यन्तसुखभाजः करोति देवादीन्, कांश्चि-

भाष्यका अनुवाद

ईश्वर जगत् के जन्म आदिका हेतु है, इस प्रतिज्ञात अर्थको स्थूणानिखनन-न्यायसे दृढ़ करनेके लिए फिर आक्षेप करते हैं । ईश्वर जगत्का कारण है, यह उपपन्न नहीं होता । किससे ? वैषम्य और नैर्घृण्यके प्रसंगसे । वह कुछको—

रत्नप्रभा

वैषम्यनैर्घृण्ये नेति । निर्दोषाद् ब्रह्मणो जगत्सर्गं ब्रुवन् समन्वयो विषय स किं 'यो विषमकारी स दोषवान्' इति न्यायेन विरुध्यते न वेति सन्देहे पूर्वत्र लीलया यत्स्रष्टृत्वमुक्तं तदेव कर्मादिसापेक्षस्य न युक्तम्, अनीश्वरत्वापत्तेः, निरपे-क्षत्वे रागादिदोषापत्तेः इत्याक्षेपसङ्गत्या पूर्वपक्षयति—पुनश्चेत्यादिना । ब्रह्मैव

रत्नप्रभाका अनुवाद

निर्दोष ब्रह्मसे जगत्की सृष्टि कहनेवाला वेदान्त समन्वय इस अधिकरणका विषय है, वह क्या 'जो विषम कार्य करता है, वह दोषवान् है' इस न्यायसे विरुद्ध है या नहीं ? ऐसा सन्देह होनेपर पूर्व अधि-करणमें लीलासे जो स्रष्टृत्व कहा गया है, वही कर्मादिकी अपेक्षा रखनेवाले ईश्वरमें युक्त नहीं है, क्योंकि ऐसी अवस्थामें उसमें अनीश्वरत्व प्रसंग आवेगा और निरपेक्ष होकर स्रष्टा माननेसे रागादि दोष उसमें प्रसक्त होंगे, इस प्रकार आक्षेप संगतिसे पूर्वपक्ष करते हैं—"पुनश्च" इत्यादिसे । ब्रह्म ही

भाष्य

दत्यन्तदुःखभाजः पश्वादीन्, कांश्चिन्मध्यमभोगभाजो मनुष्यादीनित्येवं विषमां सृष्टिं निर्मिमाणस्येश्वरस्य पृथग्जनस्येव रागद्वेषोपपत्तेः श्रुतिस्मृत्यवधारितस्वच्छत्वादीश्वरस्वभावविलोपः प्रसज्येत। तथा खलजनैरपि जुगुप्सितं निर्घृणत्वमतिक्रूरत्वं दुःखयोगविधानात् सर्वप्रजोपसंहाराच्च प्रसज्येत। तस्माद्वैषम्यनैर्घृण्यप्रसङ्गान्नेश्वरः कारणमिति।

एवं प्राप्ते ब्रूमः—वैषम्यनैर्घृण्ये नेश्वरस्य प्रसज्येते। कस्मात्? सापेक्षत्वात्। यदि हि निरपेक्षः केवल ईश्वरो विषमां सृष्टिं निर्मिमीते

भाष्यका अनुवाद

देवता आदिको वह अत्यन्त सुखी बनाता है, कुछको—पशु आदिको अत्यन्त दुःखी बनाता है और कुछको—मनुष्य आदिको सुख-दुःख भोगनेवाला बनाता है। इस प्रकार विषम सृष्टिका निर्माण करनेवाले ईश्वरमें साधारण मनुष्यके समान राग और द्वेषकी उपपत्ति होनेसे श्रुति और स्मृतिमें कहे गये स्वच्छतादि ईश्वरस्वभावका लोप हो जायगा। इसी प्रकार उसने सब प्राणियोंको दुःखी बनाया है और वह सब प्रजाका संहार करता है, इसलिए उसमें दुष्टजनोंसे भी गर्हित निर्घृणत्व—अतिक्रूरताकी प्राप्ति होगी। इसलिए वैषम्य और नैर्घृण्यके प्रसंगसे ईश्वर कारण नहीं है, ऐसा प्राप्त होनेपर कहते हैं—वैषम्य और नैर्घृण्य ईश्वरमें प्रसक्त नहीं होते। किससे? सापेक्ष होनेसे। यदि ईश्वर केवल निरपेक्ष होकर विषम सृष्टिका निर्माण

रत्नप्रभा

जगत्कारणमिति जन्मादिसूत्रे प्रतिज्ञातोऽर्थः। पृथग्जनः—पामरः। 'निरवद्यं निरञ्जनम्' इति श्रुतिः, 'न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः' इति स्मृतिः, स्वच्छत्वादीति आदिपदेन कूटस्थत्वग्रहः। स्वच्छत्वादिश्चासौ ईश्वरस्वभावश्चेति विग्रहः।

निमित्तमनपेक्ष्य विषमकारित्वे वैषम्यादिदोषः स्यात्, न तु अनपेक्षत्वमीश्वरस्यास्तीति सिद्धान्तयति—**एवं प्राप्त इत्यादिना**। न च सापेक्षत्वे अनीश्वरत्वम्,

रत्नप्रभाका अनुवाद

जगत्का कारण है, ऐसा जन्मादि सूत्रमें प्रतिज्ञात अर्थ है। पृथग्जन—पामर। 'निरवद्यं निरञ्जनम्' ऐसी श्रुति है और 'न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः' ऐसी स्मृति है। 'स्वच्छत्वादि'में आदि पदसे कूटस्थत्वका ग्रहण है। 'स्वच्छत्वादिश्चासौ ईश्वरस्वभावश्च' ऐसा विग्रह है।

यदि निमित्तकी अपेक्षाके विना ईश्वर विषम सृष्टि करे, तो वैषम्य आदि दोष होंगे, परंतु ईश्वर सृष्टि करनेमें निरपेक्ष नहीं है, ऐसा सिद्धान्त करते हैं—"एवं प्राप्ते" इत्यादिसे। ईश्वरके सापेक्ष होनेसे वह

भाष्य

स्यातामेतौ दोषौ वैषम्यं नैर्घृण्यं च, न तु निरपेक्षस्य निर्मातृत्वमस्ति, सापेक्षो हीश्वरो विषमां सृष्टिं निर्मिमीते। किमपेक्षत इति चेत्। धर्माधर्मावपेक्षत इति वदामः। अतः सृज्यमानप्राणिधर्माधर्मापेक्षा विषमा सृष्टिरिति नायमीश्वरस्याऽपराधः। ईश्वरस्तु पर्जन्यवद् द्रष्टव्यः। यथा हि पर्जन्यो व्रीहियवादिसृष्टौ साधारणं कारणं भवति, व्रीहियवादिवैषम्ये तु तत्तद्बीजगतान्येवाऽसाधारणानि सामर्थ्यानि कारणानि भवन्ति, एवमीश्वरो देवमनुष्यादिसृष्टौ साधारणं कारणं भवति, देवमनुष्यादिवैषम्ये तु तत्तज्जीवगतान्येवासाधारणानि कर्माणि कारणानि भवन्त्येवमीश्वरः सापेक्षत्वान्न वैषम्यनैर्घृण्याभ्यां दुष्यति। कथं पुनरवगम्यते सापेक्ष ईश्वरो नीचमध्य-

भाष्यका अनुवाद

करता, तो वैषम्य और नैर्घृण्य ये दो दोष होते। परन्तु वह निरपेक्ष होकर निर्माण नहीं करता, बल्कि सापेक्ष होकर विषम सृष्टिका निर्माण करता है। किसकी अपेक्षा रखता है, ऐसा कहो, तो धर्म और अधर्मकी अपेक्षा रखता है, ऐसा हम कहते हैं। सृज्यमान प्राणियोंके धर्म और अधर्मकी अपेक्षासे सृष्टि विषम होती है, अतः ईश्वरका कोई अपराध नहीं है। ईश्वरको तो पर्जन्यके समान समझो। जैसे व्रीहि, यव आदिकी सृष्टिमें पर्जन्य साधारण कारण है और व्रीहि, यव आदिकी विषमतामें तो उस बीजमें रहनेवाली सामर्थ्य असाधारण कारण है। इस प्रकार देव, मनुष्य आदिकी सृष्टिका ईश्वर साधारण कारण है और देव, मनुष्य आदि की विषमतामें तो तत् तत् जीवमें रहनेवाले कर्म असाधारण कारण होते हैं। इस प्रकार ईश्वर कर्मकी अपेक्षा रखनेसे वैषम्य और नैर्घृण्यरूप दोषोंका

रत्नप्रभा

सेवामपेक्ष्य फलदातरि राज्ञि ईश्वरत्वानपायात्। ननु तर्हि धर्माधर्माभ्यामेव विचित्रा सृष्टिरस्तु, किमीश्वरेण? इत्यत आह—ईश्वरस्तु पर्जन्यवदिति। साधारणहेतुसहितस्यैव असाधारणहेतोः कार्यकारित्वाद् न ईश्वरवैयर्थ्यम्, अन्यथा पर्जन्यवैयर्थ्यप्रसङ्गादिति

रत्नप्रभाका अनुवाद

अनीश्वर हो जायगा यह कहना अयुक्त है, क्योंकि सेवाके अनुसार फल देनेवाले राजाका ईश्वरत्व नष्ट नहीं होता। तब धर्म और अधर्मसे ही विचित्र सृष्टि हो, ईश्वरका क्या प्रयोजन है? इसपर कहते हैं—"ईश्वरस्तु पर्जन्यवत्" इत्यादिसे। साधारण हेतुके साथ ही असाधारण हेतु कार्य करता है, इसलिए ईश्वर व्यर्थ नहीं है, ऐसा न हो, तो पर्जन्यको भी व्यर्थ मानना पड़ेगा।

भाष्य

मोत्तमं संसारं निर्मिमीत इति । तथा हि दर्शयति श्रुतिः—'एष ह्येव साधु कर्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्य उन्निनीषत एष उ एवासाधु कर्म कारयति तं यमधो निनीषते' (कौ० ब्रा० ३।८) इति । 'पुण्यो वै पुण्येन कर्मणा भवति पापः पापेन' (बृ० ३।२।१३) इति च । स्मृतिरपि प्राणिकर्मविशेषापेक्षमेवेश्वरस्याऽनुग्रहीतृत्वं निग्रहीतृत्वं च दर्शयति—'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्' (भ० गी० ४।११) इत्येवं जातीयका ॥ ३४ ॥

भाष्यका अनुवाद

भाजन नहीं होता। परन्तु सापेक्ष ईश्वर नीच, मध्यम और उत्तम संसारका निर्माण करता है, यह कैसे समझा जाता है ? श्रुति उसी प्रकार को दर्शाती है—'एष ह्येव साधु कर्म कारयति०' (जिसको इस लोकसे ऊंचा ले जाना चाहता है, उससे यही साधु कर्म कराता है और जिसको नीचे ले जाना चाहता है, उससे यही बुरे कर्म कराता है) और 'पुण्यो वै पुण्येन कर्मणा०' (पुण्य कर्मसे पुण्यशाली और पाप कर्मसे पापी होता है) । स्मृति भी प्राणियोंके कर्म विशेषकी अपेक्षा रखकर ही ईश्वर अनुग्रह और निग्रह करता है, ऐसा दिखलाती है—'ये यथा मां प्रपद्यन्ते०' (जो जैसे मुझको प्राप्त करता है, उसको मैं वैसे ही भजता हूँ) इस प्रकारकी स्मृति है ॥ ३४ ॥

रत्नप्रभा

भावः । यं जनम् उन्निनीषते ऊर्ध्वं नेतुमिच्छति तं साधु कारयति, एष ईश्वर इत्यन्वयः । न च कञ्चिद् जनं साधु कञ्चिदसाधु कर्म कारयतो वैषम्यं तदवस्थमिति वाच्यम् । अनादिपूर्वार्जितसाध्वसाधुवासनया स्वाभावेन जनस्य तत्तत्कर्मसु प्रवृत्तौ ईश्वरस्य साधारणहेतुत्वात्, अतोऽनवद्य ईश्वर इति भावः ॥ ३४ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

जिस मनुष्यको ऊँची स्थितिमें ले जाना चाहता है, उससे यह ईश्वर साधु कर्म कराता है, ऐसा अन्वय समझना चाहिए, परन्तु किसी एक पुरुषसे साधु कर्म कराता है और किसीसे असाधु कर्म कराता है, इसलिए ईश्वरमें वैषम्य ज्यों का त्यों है यह कहना युक्त नहीं है, अनादि कालसे पूर्वसंचित साधु या असाधु वासनाओंसे पुरुष स्वभावसे ही तत् तत् कर्मोंमें प्रवृत्त होता है, इसमें ईश्वर साधारण हेतु है, इससे ईश्वर दोषरहित है, ऐसा अर्थ है ॥ ३४ ॥

न कर्माविभागादिति चेन्नानादित्वात् ॥ ३५ ॥

पदच्छेद—न, कर्म, अविभागात्, इति, चेत्, न अनादित्वात् ।

पदार्थोक्ति—अविभागात्—'सदेव सोम्येदमग्र आसीदकेमेव' इत्यादिश्रुत्या सृष्टेः प्राक् अविभागावधारणात्, न कर्म—न तदानीं कर्मास्ति [अतः 'कर्मापेक्षया विषमा सृष्टिः' इति असंगतम्] इति चेत्, न, अनादित्वात्—संसारस्य अनादित्वात् तयोः बीजाङ्कुरवद् हेतुहेतुमद्भावोपपत्तेः । [अतः कर्मापेक्षयैव सृष्टिः विषमा भवति] ।

भाषार्थ—'सदेव सोम्ये०' (हे सोम्य ! सृष्टिके पूर्व यह जगत् एक सत् रूप ही था) इत्यादि श्रुतिसे सृष्टिके पूर्व भेदका अभाव कहा गया है, अतः उस समय कर्म नहीं था, इसलिए कर्म की अपेक्षासे विषम सृष्टि है यह कथन असंगत है ऐसा कहो, तो ऐसा नहीं कह सकते; क्योंकि संसारके अनादि होनेसे सृष्टि और कर्मका बीज और अंकुरके समान कार्यकारणभाव है । इससे सिद्ध हुआ कि कर्मकी अपेक्षासे सृष्टि विषम है ।

भाष्य

'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्' (छा० ६।२।१) इति प्राक्सृष्टेरविभागावधारणान्नास्ति कर्म यदपेक्ष्य विषमा सृष्टिः स्यात् । सृष्ट्युत्तरकालं हि शरीरादिविभागापेक्षं कर्म, कर्मापेक्षश्च शरीरादिविभाग

भाष्यका अनुवाद

'सदेव सोम्येदमग्र०' (हे सोम्य ! सृष्टिके पूर्वमें यह एक अद्वितीय सत्स्वरूप ही था) इस प्रकार सृष्टिके पूर्वमें भेदका अभाव निश्चित किया है, इससे कर्म ही नहीं है जिसकी अपेक्षासे विषम सृष्टि हो । शरीरादि विभागकी अपेक्षा रखनेवाला

रत्नप्रभा

प्रथमसर्गस्य वैषम्यहेतुकर्माभावादेकरूपत्वं स्यात्, तथा तदुत्तरकल्पानामपीति आक्षिप्य समाधत्ते सूत्रकारः—न कर्मेति । प्रथमसृष्टेः पश्चाद् भाविकर्मकृतं वैषम्यमित्याशङ्क्य अन्योन्याश्रयमाह—सृष्ट्युत्तरेति । आद्या सृष्टिरिति उपलक्षणम्,

रत्नप्रभाका अनुवाद

प्रथम सृष्टिमें वैषम्यके हेतु कर्मोंके अभावसे एकरूप ही सृष्टि हो और पीछेके कल्पोंमें भी ऐसी ही हो, ऐसा आक्षेप करके सूत्रकार समाधान करते हैं—"न कर्म" इत्यादिसे । प्रथम सृष्टिमें पीछेसे होनेवाले कर्मोंसे जनित वैषम्य है, ऐसी आशंका करके अन्योन्याश्रय कहते

भाष्य

इतीतरेतराश्रयत्वं प्रसज्येत । अतो विभागादूर्ध्वं कर्मापेक्ष ईश्वरः प्रवर्ततां नाम, प्राग्विभागाद्वैचित्र्यनिमित्तस्य कर्मणोऽभावात् तुल्यैवाऽऽद्या सृष्टिः प्राप्नोतीति चेत् ।

नैष दोषः । अनादित्वात् संसारस्य । भवेदेष दोषो यद्यादिमान् संसारः स्यात् । अनादौ तु संसारे बीजाङ्कुरवद्धेतुहेतुमद्भावेन कर्मणः सर्गवैषम्यस्य च प्रवृत्तिर्न विरुध्यते ॥ ३५ ॥

कथं पुनरवगम्यतेऽनादिरेष संसार इति । अत उत्तरं पठति—

भाष्यका अनुवाद

कर्म सृष्टिके उत्तर कालमें होता है और शरीरादि विभागको कर्मकी अपेक्षा है, ऐसा इतरेतराश्रय प्रसक्त होगा । इस कारणसे विभागके बाद कर्मकी अपेक्षा रखनेवाला ईश्वर प्रवृत्तिमान् भले हो, परन्तु विभागके पूर्व वैचित्र्यका निमित्त जो कर्म है, उसके अभावसे आद्य सृष्टि तो तुल्य ही प्राप्त होती है, ऐसा यदि कहो,

तो यह दोष नहीं है, क्योंकि संसार अनादि है । यह संसार सादि होता, तो यह दोष होता । परन्तु संसारके अनादि होनेसे बीज और अंकुरके समान हेतुहेतुमद्भावसे कर्म और विषम सृष्टिकी प्रवृत्तिमें कोई विरोध नहीं है ॥ ३५ ॥

यह संसार अनादि है यह कैसे जाना जाता है ? इसपर उत्तर कहते हैं—

रत्नप्रभा

आदौ एकरूपत्वे मध्ये विषमकर्मोत्पत्तौ हेत्वभावेन उत्तरसृष्टीनामपि तुल्यत्वस्य दुर्वारत्वादिति द्रष्टव्यम् । परिहारः सुगमः ॥ ३५ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

हैं—'सृष्ट्युत्तर" इत्यादिसे । आद्य सृष्टि यह उपलक्षण है । आरंभमें सृष्टि एकरूप हो, तो मध्यमें विषम कर्मकी उत्पत्तिके लिए हेतु न होनेसे उत्तर सृष्टियोंका भी तुल्यत्व दुर्निवार होगा, ऐसा समझना चाहिए । इसका खण्डन सहज है[१] ॥ ३५ ॥

---

(१) यदि संसार सादि होता तो विचित्रताके निमित्तोंका अभाव होनेके कारण उसमें एकरूपता होती । लेकिन संसार अनादि है, अतः पूर्व-पूर्व कर्मोंकी विचित्रतासे उत्तर-उत्तर विचित्र सृष्टि होती है ऐसा सिद्धान्तीका अभिप्राय है ।

उपपद्यते चाप्युपलभ्यते च ॥ ३६ ॥

पदच्छेद—उपपद्यते, च, अपि, उपलभ्यते, च।

पदार्थोक्ति—उपपद्यते च—संसारस्याऽनादित्वमुपपद्यते च, [अन्यथाऽकस्मादेव सृष्ट्यङ्गीकारे मुक्तस्यापि पुनर्जन्म प्रसंगात्, पूर्वसृष्टिसादृश्यानुपपत्तेश्च] उपलभ्यते च—संसारस्याऽनादित्वमुपलभ्यते च ["धाता यथापूर्वमकल्पयत्" इत्यादिश्रुतेः, 'न रूपमस्येह तथोपलभ्यते नान्तो न चादिर्न च संप्रतिष्ठा' इत्यादिस्मृतेश्च]

भाषार्थ—संसारकी अनादिता उपपन्न है, सृष्टिकी अनादिता न मानकर यदि अकस्मात् सृष्टि मान ली जाय, तो मुक्तोंका भी पुनर्जन्म होनेकी नौबत आयेगी और पूर्व सृष्टिका सादृश्य अनुपपन्न हो जायगा। श्रुति और स्मृतिमें संसारकी अनादिता उपलब्ध होती है, क्योंकि 'धाता यथापूर्वम्०' (ब्रह्माने पूर्वके अनुसार ही जगत्की सृष्टि की) इत्यादि श्रुति और "न रूपमस्येह०" (इस कल्पित जगत्का पारमार्थिक अधिष्ठान पर ब्रह्मको प्राकृत पुरुष घट, पट आदिके समान नहीं देख सकते। इस जगत्का न अन्त है, न आदि है और न मध्य है) इत्यादि स्मृति है।

भाष्य

उपपद्यते च संसारस्याऽनादित्वम्। आदिमत्त्वे हि संसारस्याऽकस्मादुद्भूतेर्मुक्तानामपि पुनः संसारोद्भूतिप्रसङ्गः। अकृताभ्यागमप्रसङ्गश्च, सुख-

भाष्यका अनुवाद

संसारकी अनादिता, उपपन्न है। यदि संसार सादि हो, तो उसके अकस्मात् उत्पन्न होनेसे मुक्त पुरुषोंके भी संसारमें फिरसे जन्म होनेकी नौबत आ जायगी।

रत्नप्रभा

प्रथमसर्गः कश्चिद् नास्ति इत्यत्र प्रमाणं पृच्छति—कथं पुनरिति। उपपत्तिसहितश्रुत्यादिकं प्रमाणमिति सूत्रव्याख्यया दर्शयति—उपद्यते इति। हेतुं विनैव सर्गाङ्गीकारे ज्ञानकर्मकाण्डवैयर्थ्यं स्यादित्यर्थः। ननु सुखादिवैषम्ये ईश्वरोऽविद्या वा

रत्नप्रभाका अनुवाद

प्रथम सृष्टि कोई नहीं है, इसमें प्रमाण पूछते हैं—"कथं पुनः" इत्यादिसे। उपपत्तिसहित श्रुति आदि प्रमाण हैं, ऐसा सूत्रकी व्याख्यासे दिखलाते हैं—'उपपद्यते' इत्यादिसे। हेतुके बिना सृष्टिका अंगीकार करनेसे ज्ञानकांड और कर्मकांड व्यर्थ हो जायँगे ऐसा अर्थ है। परंतु

भाष्य

दुःखादिवैषम्यस्य निर्निमित्तत्वात्। न चेश्वरो वैषम्यहेतुरित्युक्तम्। न चाऽविद्या केवला वैषम्यस्य कारणम्, एकरूपत्वात्। रागादिक्लेशवासनाक्षिप्तकर्मापेक्षा त्वविद्या वैषम्यकरी स्यात्। न च कर्मान्तरेण शरीरं सम्भवति, न च शरीरमन्तरेण कर्म सम्भवतीतीतरेतराश्रयत्वप्रसङ्गः। अनादित्वे तु बीजाङ्कुरन्यायेनोपपत्तेर्न कश्चिद्दोषो भवति। उपलभ्यते च संसारस्याऽना-

भाष्यका अनुवाद

अकृत पाप पुण्य की प्राप्ति होगी, क्योंकि ऐसी अवस्थामें सुख, दुःख आदि विषमता अनिमित्त होगी। ईश्वर वैपम्यका हेतु नहीं है, यह पीछे कहा गया है। इसी प्रकार केवल अविद्या भी वैपम्यकी कारण नहीं है, क्योंकि वह एकरूप है। रागादि क्लेशोंकी वासनाओंसे उत्पन्न हुए कर्मोंकी अपेक्षासे तो अविद्या वैषम्य उत्पन्न करनेवाली हो सकती है। कर्मके विना शरीर नहीं हो सकता और शरीरके विना कर्म नहीं हो सकता, इस प्रकार अन्योन्याश्रयका प्रसंग आवेगा। परन्तु संसार अनादि है यह माननेमें बीजांकुरन्यायसे उपपत्ति होनेसे कुछ भी दोष नहीं है। संसार अनादि है

रत्नप्रभा

हेतुरस्तु इत्याशङ्क्य क्रमेण दूषयति—न चेश्वर इत्यादिना। कस्तर्हि हेतुः, तत्राह—रागादीति। रागद्वेषमोहाः क्लेशाः, तेषां वासनाभिराक्षिप्तानि कर्माणि धर्माधर्मव्यामिश्ररूपाणि, तदपेक्षा तु अविद्या सुखादिसर्गवैचित्र्यहेतुः, तस्मादविद्यासहकारित्वेन क्लेशकर्मणाम् अनादिप्रवाहोऽङ्गीकर्तव्य इति भावः। किञ्च, सृष्टेः सादित्वे प्रथमशरीरस्योत्पत्तिर्न सम्भवति हेत्वभावात्, न च कर्म हेतुः शरीरात् प्राक् कर्मासम्भवात्, तस्मात् कर्मशरीरयोरन्योन्याश्रयपरिहाराय सर्वैरेव वादिभिः संसारस्य अनादित्वम्

रत्नप्रभाका अनुवाद

सुखादि वैपम्यका ईश्वर या अविद्या हेतु हो, ऐसी आशंका करके क्रमशः दूषित करते हैं— "न चेश्वरः" इत्यादिसे। विषम सृष्टिमें कौन कारण है? इसपर कहते हैं—"रागादि" इत्यादिसे। रागादि ही क्लेश हैं उनकी वासना कर्मप्रवृत्तिके अनुगुण है। वासनाओंसे आक्षिप्त अर्थात् प्रवर्तित हुए कर्म धर्म-अधर्मसे मिश्रित होते हैं उनकी अपेक्षासे अविद्या सुखादि विचित्र सृष्टिमें हेतु है। इसलिए अविद्याके सहकारी होनेसे क्लेश कर्मोंका अनादि प्रवाह स्वीकार करना चाहिए ऐसा भाव है। और सृष्टि सादि—आदिमान् हो, तो प्रथम शरीरकी उत्पत्ति संभव नहीं है, क्योंकि हेतुका अभाव है। कर्म भी हेतु नहीं है, क्योंकि शरीरके पूर्व कर्मका असंभव है, इसलिए कर्म और शरीरके अन्योन्याश्रयका परिहार करनेके लिए सर्ववा-

भाष्य

दित्वं श्रुतिस्मृत्योः। श्रुतौ तावत् "अनेन जीवेनात्मना" (छा० ६।३।२) इति सर्गप्रमुखे शारीरमात्मानं जीवशब्देन प्राणधारणनिमित्तेनाऽभिलपन्ननादिः संसार इति दर्शयति। आदिमत्त्वे तु प्रागनवधारितप्राणः सन् कथं प्राणधारणनिमित्तेन जीवशब्देन सर्गप्रमुखेऽभिलप्येत। न च धारयिष्यतीत्यतोऽभिलप्येत, अनागताद्धि सम्बन्धादतीतः सम्बन्धो बलीयान् भवति, अभिनिष्पन्नत्वात्। 'सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्' (ऋ०सं० १०।१९०।३) इति च मन्त्रवर्णः पूर्वकल्पसद्भावं दर्शयति। स्मृतावप्यनादित्वं संसारस्योपलभ्यते—'न रूपमस्येह तथोपलभ्यते नान्तो न चादिर्न

भाष्यका अनुवाद

ऐसा श्रुति और स्मृतिमें उपलब्ध होता है। श्रुतिमें 'अनेन जीवेनात्मना' (उस जीवरूप आत्मा द्वारा) इस प्रकार सृष्टिके आरंभमें शारीर आत्मा को प्राणधारण कर्ता होनेके कारण जीवशब्दसे कहकर संसार अनादि है, ऐसा दिखलाते हैं। परन्तु संसार आदिमान् हो, तो पूर्वमें प्राणधारण न करनेपर प्राणधारण निमित्त जीवशब्दसे सृष्टिके आरंभमें उसका किस प्रकार निर्देश होगा? 'धारयिष्यति' (धारण करेगा) इससे ऐसा निर्देश है, ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि अनागत संबन्धसे अतीत संबंध अभिनिष्पन्न—सिद्ध होनेके कारण बलवान् है। 'सूर्याचन्द्रमसौ धाता' (सूर्य और चन्द्रमाकी धाताने पूर्वके अनुसार कल्पना की) यह मंत्रवर्ण पूर्व कल्पका सद्भाव दिखलाता है। स्मृतिमें भी संसार अनादि है, ऐसा उपलब्ध होता है—'न रूपमस्येह०' (यहां उसका वैसा रूप उपलब्ध नहीं

रत्नप्रभा

अङ्गीकार्यमित्याह—न चेति। सर्गप्रमुखे सृष्ट्यादौ प्रागनवधारितप्राणोऽपि सन् प्रत्यगात्मा भाविधारणनिमित्तेन जीवशब्देनोच्यतामित्यत्राह—न च धारयिष्यतीति। "गृहस्थः सदृशीं भार्यामुपेयाद्" इत्यादावगत्या भाविवृत्त्याश्रयणमिति भावः। अस्य संसारवृक्षस्य स्वरूपं सत्यं मिथ्या वेति उपदेशं विना नोपलभ्यते, ज्ञानं विना-

रत्नप्रभाका अनुवाद

दियोंको संसारका अनादित्व स्वीकार करना चाहिए, ऐसा कहते हैं—'न च" इत्यादिसे। पूर्वमें सृष्टिके आरंभमें प्राणधारण नहीं करनेपर भी प्रत्यगात्माको भावी प्राणधारणनिमित्त जीवशब्दसे कहो, इसपर कहते हैं—"न च धारयिष्यति" इत्यादिसे। 'गृहस्थ अपने सदृश भार्यासे विवाह करे' इत्यादिमें अगत्या भविष्य वृत्तिका आश्रयण किया गया है यह भाव है। इस संसारवृक्षका स्वरूप सत्य है या मिथ्या यह उपदेशके विना समझमें नहीं

भाष्य

च सम्प्रतिष्ठा' (गी० १५।३) इति । पुराणे चाऽतीतानामनागतानां च कल्पानां न परिमाणमस्तीति स्थापितम् ॥ ३६ ॥

भाष्यका अनुवाद

होता, उसका अन्त, आदि और मध्य नहीं है)। और पुराणोंमें अतीत और अनागत कल्पोंका परिमाण नहीं है, ऐसा कहा गया है ॥ ३६ ॥

रत्नप्रभा

ऽन्तोऽपि नास्ति, नाप्यादिरुपलभ्यते, असत्त्वादेव; न च सम्प्रतिष्ठा—मध्ये स्थितिः दृष्टनष्टस्वरूपत्वादिति गीतावाक्यार्थः । संसारस्य अनादित्वेऽपि मिथ्यात्वाद् "एकमेवाद्वितीयम्" [छा० ६।२।१] इत्यवधारणमुपपन्नम् । तस्मात् निरवद्ये ब्रह्मणि समन्वयाविरोध इति सिद्धम् ॥ ३६ ॥ (१२)

रत्नप्रभाका अनुवाद

आता, ज्ञानके विना इसका अंत भी नहीं है, उसका आदि भी उपलब्ध नहीं है, क्योंकि अस्तित्व ही नहीं है; संप्रतिष्ठा—स्थिति भी नहीं है, क्योंकि दृष्टनष्टस्वरूप है, ऐसा गीतावाक्यका अर्थ है। संसार अनादि है, तो भी मिथ्या होनेसे 'एकमेवाद्वितीयम्' (एक ही अद्वितीय) यह अवधारण उपपन्न है। इसलिए निर्दोष ब्रह्ममें समन्वयका अविरोध है, ऐसा सिद्ध हुआ ॥३६॥

[१३ सर्वधर्मोपपत्त्यधिकरण ३७]

नास्ति प्रकृतिता यद्वा निर्गुणस्याऽस्ति नास्ति सा ।
मृदादेः सगुणस्यैव प्रकृतित्वोपलम्भनात् ॥१॥
भ्रमाधिष्ठानताऽस्माभिः प्रकृतित्वमुपेयते ।
निर्गुणेऽप्यस्ति जात्यादौ सा ब्रह्म प्रकृतिस्ततः* ॥२॥

[अधिकरणसार]

सन्देह—निर्गुण प्रकृति—उपादानकारण हो सकता है या नहीं ?

पूर्वपक्ष—लोकमें मृत्तिका आदि सगुण ही—उपादानकारण देखे गये हैं। इसलिए निर्गुण उपादान कारण नहीं हो सकता है ।

सिद्धान्त—हम भ्रमके अधिष्ठानको प्रकृति कहते हैं, निर्गुण जाति आदि भी प्रकृति हैं, इसलिए ब्रह्म प्रकृति हो सकता है ।

सर्वधर्मोपपत्तेश्च ॥ ३७ ॥

पदच्छेद—सर्वधर्मोपपत्तेः, च ।

पदार्थोक्ति—सर्वधर्मोपपत्तेश्च—जगत्कारणत्वसर्वज्ञत्वादीनां सर्वेषां कारण-धर्माणां पूर्वोक्तप्रकारेण ब्रह्मण्येवोपपत्तेः निर्गुणं सदपि ब्रह्मैव जगत्कारणं भवितुमर्हति ।

भाषार्थ—जगत्कारणत्व, सर्वज्ञत्व आदि सब कारण धर्मोंकी पूर्वोक्त प्रकार से ब्रह्ममें उपपत्ति होनेसे निर्गुण भी ब्रह्म जगत्का कारण हो सकता है ।

---

* तात्पर्य यह है कि पूर्वपक्षी कहता है—कार्यके आकारसे विकृत—परिणत होनेवाली वस्तु प्रकृति है । लोकमें सगुण मिट्टी आदि ही प्रकृति देखे गये हैं, इसलिए निर्गुण ब्रह्म प्रकृति नहीं हो सकता ।

सिद्धान्ती कहते हैं—यद्यपि 'प्रक्रियतेऽनया प्रकृतिः' इस व्युत्पत्तिसे कार्यरूपसे प्रकृत—परिणत होनेवाली वस्तु ही प्रकृति प्रतीत होती है, तथापि विकृत होना दो प्रकारसे संभव होता है—जैसे दूध आदि दही आदिके रूपमें परिणत होते हैं और जैसे रस्सी आदि सर्प आदि भ्रमके अधिष्ठान होते हैं । निर्गुण ब्रह्म यद्यपि परिणामी नहीं है तथापि भ्रमका अधिष्ठान तो वह हो ही सकता है। निर्गुण जाति आदिमें भ्रमकी अधिष्ठानता देखी जाती है। क्योंकि मलिन ब्राह्मणको देख कर 'यह शूद्र है' ऐसा भ्रमरूप व्यवहार होता है । इससे निर्गुण ब्रह्म भी प्रकृति है यह सिद्ध हुआ ।

भाष्य

चेतनं ब्रह्म जगतः कारणं प्रकृतिश्चेत्यस्मिन्नवधारिते वेदार्थे परैरुपक्षिप्तान् विलक्षणत्वादीन् दोषान् पर्यहार्षीदाचार्यः, इदानीं परपक्षप्रतिषेधप्रधानं प्रकरणं प्रारिप्समानः स्वपक्षपरिग्रहप्रधानं प्रकरणमुपसंहरति। यस्मादस्मिन् ब्रह्मणि कारणे परिगृह्यमाणे प्रदर्शितेन प्रकारेण सर्वे कारणधर्मा

भाष्यका अनुवाद

चेतन ब्रह्म जगत्का कारण और प्रकृति है, इस निश्चित वेदार्थमें प्रतिपक्षियों द्वारा लगाये गये विलक्षणत्व आदि दोषोंका आचार्यने परिहार किया। अब जिसमें परपक्षका निषेध प्रधान है, ऐसे प्रकरणके आरंभ करनेकी इच्छा करते हुए (आचार्य) जिस प्रकरणमें स्वपक्षका परिग्रह प्रधान है, उसका उपसंहार करते

रत्नप्रभा

सर्वधर्मोपपत्तेश्च। निर्गुणस्य ब्रह्मणो जगदुपादानत्ववादिवेदान्तसमन्वयो विषयः, स किं यत् निर्गुणं तन्नोपादानं यथा रूपमिति न्यायेन विरुध्यते न वेति सन्देहे भवत्वीश्वरस्य विषमसृष्टिनिमित्तत्वम्, तत्प्रयोजकस्य कर्मणः सत्त्वान्न तूपादानत्वम्, तद्व्यापकस्य सगुणत्वस्य अभावादिति प्रत्युदाहरणेन प्राप्ते सिद्धान्तसूत्रतात्पर्यमाह—चेतनमिति। विवर्तोपादानत्वं निर्गुणस्याऽप्यविरुद्धम्, अज्ञातत्वस्य भ्रमाधिष्ठानत्वप्रयोजकस्य सत्त्वात्, सगुणत्वं त्वव्यापकम् शब्दादिगुणेषु नित्यत्वादिभ्रमदर्शनादिति भावः। यद्यपि सर्वज्ञत्वं सर्वशक्तित्वं च लोके कारणधर्मत्वेन अप्रसिद्धम्, तथापि यो यस्य कर्ता स तस्य सर्वस्य ज्ञाता शक्तश्चेति प्रसिद्धम्, ईश्वरस्यापि सर्वकर्तृत्वश्रवणात् प्रसिद्ध्यनुसारेणाऽर्थान्निरतिशयसर्वज्ञत्वं सर्वशक्तित्वं

रत्नप्रभाका अनुवाद

"सर्व धर्मोपपत्तेश्च"। निर्गुण ब्रह्मको जगत्का उपादान कहनेवाला वेदान्त समन्वय विषय है, वह 'जो निर्गुण है, वह उपादान नहीं है, जैसे रूप', इस न्यायसे विरुद्ध है या नहीं ऐसा सन्देह होनेपर ईश्वर विषम सृष्टिका निमित्त कारण हो सकता, क्योंकि उसका प्रयोजक कर्म है, परन्तु उपादान नहीं हो सकता, क्योंकि उसके व्यापक सगुणत्वका अभाव है, ऐसा प्रत्युदाहरणसे प्राप्त होनेपर सिद्धान्त सूत्रका तात्पर्य कहते हैं—"चेतनम्" इत्यादिसे। विवर्तका उपादानत्व निर्गुणमें भी अविरुद्ध है, क्योंकि जो अज्ञात है, वह भ्रमके अधिष्ठानका प्रयोजक हो सकता है। सगुणत्व तो अव्यापक है, क्योंकि शब्दादि गुणोंमें नित्यत्वादि भ्रम देखनेमें आता है, यह अर्थ है। यद्यपि सर्वज्ञत्व और सर्वशक्तिमत्त्व लोकमें कारणरूपसे अप्रसिद्ध है, तो भी जो जिसका कर्ता है, वह उस सबका ज्ञाता है और समर्थ है, यह प्रसिद्ध है। ईश्वर भी सबका कर्ता है, ऐसा श्रुति कहती है। इसलिए प्रसिद्धिके अनुसार अर्थात् निरतिशय सर्वज्ञत्व और सर्वशक्तित्व सिद्ध होता है, ऐसा विचार कर

भाष्य

उपपद्यन्ते "'सर्वज्ञं सर्वशक्ति महामायं च ब्रह्म' इति, तस्मादनतिशङ्कनीयमिदमौपनिषदं दर्शनमिति ॥ ३७ ॥

इति श्रीगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यशङ्करभगवत्पूज्यपादकृतौ शारीरकमीमांसाभाष्ये द्वितीयाध्यायस्य प्रथमः पादः समाप्तः ॥ १ ॥

भाष्यका अनुवाद

हैं। इस ब्रह्मका कारणरूपसे स्वीकार करनेपर पूर्वोक्त प्रकारसे 'सर्वज्ञं सर्वशक्ति०' (ब्रह्म सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् महामायायुक्त है) ऐसे सब कारणधर्म उपपन्न होते हैं, इसलिए औपनिषद दर्शनपर शंका करना ठीक नहीं है ॥३७॥

यतिवर श्री भोलेबाबा विरचित शांकरभाष्य भाषानुवादमें द्वितीय अध्यायका प्रथम पाद समाप्त।

रत्नप्रभा

च—सिध्यतीति अभिसन्धायाऽऽह—सर्वज्ञं सर्वशक्तीति । महामायमिति कर्तृत्वोपादानत्वकथने सर्वशङ्कापङ्कक्षालनायोक्तम् । तस्मादौपनिषदसिद्धान्ते न कश्चिद् दोष इति सिद्धम् ॥३७॥२।१॥ (१३) ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमद्गोपालसरस्वतीपूज्यपादशिष्य-श्रीरामानन्दभगवत्पादकृतौ शारीरकमीमांसादर्शन-भाष्यव्याख्यायां रत्नप्रभायां द्वितीयस्याध्यायस्य प्रथमः पादः समाप्तः ॥ २ ॥ १ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

कहते हैं "सर्वज्ञं सर्वशक्ति" इत्यादि। ब्रह्म कर्ता और उपादान है, यह कहनेमें सब शंका रूपी पंकका प्रक्षालन करनेके लिए "महामायम्" ऐसा कहा है, इसलिए औपनिषद दर्शनमें कुछ भी दोष नहीं है, ऐसा सिद्ध हुआ ॥३७॥

यतिवर श्रीभोलेबाबा विरचित द्वितीय अध्यायके प्रथम पादका रत्नप्रभा भाषानुवाद समाप्त।

ॐ ब्रह्मणे नमः ।

द्वितीयाध्याये द्वितीयः पादः ।

[अत्र पादे सांख्यादिमतानां दुष्टत्वप्रदर्शनम् ।]

[१ रचनानुपपत्त्यधिकरण सू० १–१०]

प्रधानं जगतो हेतुर्न वा सर्वे घटादयः ।
अन्विताः सुखदुःखाद्यैर्यतो हेतुरतो भवेत् ॥१॥
न हेतुर्योग्यरचनाप्रवृत्त्यादेरसम्भवात् ।
सुखाद्या आन्तरा बाह्या घटाद्यास्तु कुतोऽन्वयः* ॥२॥

सन्देह—प्रधान जगत् का हेतु है अथवा नहीं ?

पूर्वपक्ष—चूंकि घट, पट आदि सब पदार्थ सुख, दुःख और मोह से युक्त हैं, अतः प्रतीत होता है कि (सुख-दुःख-मोहात्मक) प्रधान जगत्का हेतु है ।

सिद्धान्त—विचित्र जगत् की रचना और उसमें प्रवृत्तिका संभव न होनेसे अचेतन प्रधान जगत्का हेतु नहीं है । सुख, दुःख आदि आन्तर हैं, और घट, पट आदि बाह्य हैं, अतः घट, पट आदि सुख-दुःख-मोहात्मक कैसे हो सकते हैं ?

---

* तात्पर्य यह है कि सांख्य लोग कहते हैं—सुख-दुःख-मोहात्मक प्रधान जगत्का कारण है, क्योंकि जगत्में सभी पदार्थ सुख-दुःखसे युक्त दिखाई देते हैं । जब घट, पट आदि पदार्थ प्राप्त होते हैं तब उनसे सुख होता है, क्योंकि उनसे जल लाना, शरीर आच्छादन आदि कार्यों का निर्वाह होता है । जब उन्हीं घट आदिको कोई चुरा ले जाता है, तब उसीको वे दुःख देते हैं । जिसे जल लाना आदि कार्यों की अपेक्षा नहीं है, उसे सुख और दुःख नहीं देते, किन्तु केवल उपेक्षणीयरूपसे स्थित रहते हैं । उपेक्षाका विषय होना ही मोह है । वैचित्यार्थक 'मुह' धातुसे मोहशब्दकी निष्पत्ति हुई है, अतएव उपेक्षणीय वस्तुओंमें चित्तवृत्ति नहीं जाती है । इसलिए सुख, दुःख और मोहका अन्वय—सम्बन्ध देखनेसे प्रधान प्रकृति है ।

सिद्धान्ती कहते हैं—नहीं, प्रधान जगत्का हेतु नहीं है, क्योंकि देह, इन्द्रिय, पर्वत आदि [illegible] अवयवसंगठनसे युक्त जगत्की रचना करना अचेतन प्रधानकी योग्यताके बाहर है । [illegible] में विचित्र महल आदि प्रतिनियत कार्यके निर्माता कोई अन्यन्त बुद्धिमान् व्यक्ति ही देखे जाते हैं । रचनाकी बात जाने दीजिए । रचनाकी सिद्धिके लिए अचेतनकी प्रवृत्ति भी नहीं हो सकती, क्योंकि चेतनसे अनधिष्ठित गाड़ी आदिमें प्रवृत्ति नहीं देखी जाती । यदि चेतन पुरुषको प्रकृति—प्रधानका अधिष्ठाता मानें तो पुरुषकी असङ्गताकी हानि होती है । इससे सिद्धान्त ही चौपट होता है । और जो यह कहा है कि घट, पट आदि सुख, दुःख और मोहसे युक्त है, यह कथन भी ठीक नहीं है, क्योंकि सुख, दुःख आदि आन्तर हैं और घट, पट आदि बाह्य हैं, अतः उनका समन्वय ही नहीं हो सकता । इससे सिद्ध हुआ कि प्रधान जगत् का हेतु नहीं है ॥

रचनानुपपत्तेश्च नानुमानम् ॥१॥

पदच्छेद—रचनानुपपत्तेः, च, न, अनुमानम् ।

पदार्थोक्ति—अनुमानम्—'जगत् सुखदुःखमोहात्मकवस्तूपादानकं तदन्वितत्वात् मृदन्वितघटवत्' इत्यनुमानसिद्धं प्रधानम्, न—न जगदुपादानम्, [कुतः] रचनानुपपत्तेः—अचेतनात् स्रष्टव्यज्ञानशून्यात् प्रधानात् अनेकविधविचित्ररचनानुपपत्तेः । च—सुखादीनामान्तरत्वप्रतिपत्तेश्च [तदन्वितत्वं जगतोऽसिद्धम्, तस्मान्नास्ति सांख्यसिद्धान्तः प्रामाणिकः] ।

भाषार्थ—जगत् सुख-दुःख-मोहात्मक वस्तुसे बना हुआ है, सुख-दुःख-मोहसे युक्त होनेके कारण, मिट्टीसे बने हुए मृत्तिकायुक्त घटके समान, इस अनुमानसे सिद्ध प्रधान जगत्का उपादान कारण नहीं है, क्योंकि स्रष्टव्यके ज्ञानसे रहित अचेतन प्रधानसे विविध विचित्र रचनाएँ नहीं बन सकतीं। दूसरी बात यह है कि सुख, दुःख आदि आभ्यन्तर हैं उनसे बाह्य जगत्का अन्वित होना असिद्ध है, इसलिए सांख्यसिद्धान्त प्रामाणिक नहीं है ।

भाष्य

यद्यपीदं वेदान्तवाक्यानामैदंपर्यं निरूपयितुं शास्त्रं प्रवृत्तं न तर्कशास्त्रवत् केवलाभिर्युक्तिभिः कञ्चित्सिद्धान्तं साधयितुं दूषयितुं वा प्रवृत्तम्,

रत्नप्रभाका अनुवाद

यद्यपि यह शास्त्र वेदान्तवाक्योंका तात्पर्य निरूपण करनेके लिए प्रवृत्त हुआ है, तर्कशास्त्र की भाँति केवल युक्तियोंसे किसी सिद्धान्तका प्रतिपादन करने या

रत्नप्रभा

सांख्यतार्किकबौद्धाश्च जैनाः पाशुपतादयः ।
यस्य तत्त्वं न जानन्ति तं वन्दे रघुपुङ्गवम् ॥ १ ॥

ब्रह्मणि सर्वधर्मोपपत्तिवत् प्रधानेऽपि तदुपपत्तिम् आशङ्क्य निराचष्टे—रचनानुपपत्तेश्च नानुमानम् । ननु मुमुक्षूणां वाक्यार्थनिर्णयप्रतिबन्धनिरासाय वेदान्तानां तात्पर्यं निश्चेतुमिदं शास्त्रम् आरब्धम्, तच्च निर्दोषतया निश्चितम्,

रत्नप्रभाका अनुवाद

सांख्य, नैयायिक, बौद्ध, जैन, पाशुपत आदि जिनके तत्त्वको नहीं जानते उन रघुपुंगव (श्रीरामचन्द्रजी) को मैं प्रणाम करता हूँ ॥ १ ॥

ब्रह्ममें जैसे सब धर्मोंकी उपपत्ति संभव है उसी प्रकार प्रधानमें भी सबधर्मोंकी उपपत्ति सम्भव है ऐसी आशङ्का करके निराकरण करते हैं—"रचनानुपपत्तेश्चनानुमानम्" । यद्यपि मुमुक्षुओंके वाक्यार्थके निर्णय करनेमें जो प्रतिवन्धक हैं उनके निराकरण द्वारा वेदान्तोंके तात्पर्य्यका निर्णय करनेके लिए इस शास्त्रका आरम्भ किया गया है ।

भाष्य

तथापि वेदान्तवाक्यानि व्याचक्षाणैः सम्यग्दर्शनप्रतिपक्षभूतानि सांख्यादिदर्शनानि निराकरणीयानीति तदर्थः परः पादः प्रवर्तते । वेदान्तार्थनिर्णयस्य च सम्यग्दर्शनार्थत्वात् तन्निर्णयेन स्वपक्षस्थापनं प्रथमं कृतं तदभ्यर्हितं परपक्षप्रत्याख्यानादिति । ननु मुमुक्षूणां मोक्षसाधनत्वेन सम्यग्दर्शननिरूपणाय स्वपक्षस्थापनमेव केवलं कर्तुं युक्तं किं परपक्षनिराकरणेन

भाष्यका अनुवाद

किसीको दूषित करनेके लिए प्रवृत्त नहीं हुआ है, तथापि वेदान्तवाक्योंका व्याख्यान करनेवालेको सम्यग्दर्शनके प्रतिपक्षभूत सांख्य आदि दर्शनोंका निराकरण करना चाहिए, इसीके लिए यह पाद प्रवृत्त हुआ है। वेदान्तवाक्योंके अर्थका ठीक ठीक निर्णय करनेका प्रयोजन तत्त्वज्ञानकी प्राप्ति ही है, इसलिए निर्णयसे पहले अपने पक्षकी स्थापना की, क्योंकि अन्य मतके खण्डन करने की अपेक्षा वह अभ्यर्हित—श्रेष्ठ है। परन्तु मुमुक्षुओंके मोक्षप्राप्तिके साधन रूपसे तत्त्वज्ञानके निरूपण करनेके लिए केवल स्वपक्षका स्थापन करना ही युक्त है, दूसरेके

रत्नप्रभा

ततः परपक्षनिरासात्मकोऽयं पादः अस्मिन् शास्त्रे न सङ्गतः, तन्निरासस्य मुमुक्ष्वनपेक्षितत्वाद् इति आक्षिपति—यद्यपीति । परपक्षनिराकरणं विना स्वपक्षस्थैर्यायोगात् तत् कर्तव्यम् इत्याह—तथापीति । तर्हि स्वपक्षस्थापनात् प्रागेव परपक्षप्रत्याख्यानं कार्यमित्यत आह—वेदान्तार्थेति । वेदान्ततात्पर्यनिर्णयस्य फलवज्ज्ञानकरणान्तर्भावाद् अभ्यर्हितत्वम् । ननु रागद्वेषकरत्वात् परमतनिराकरणं न कार्यमिति शङ्कते—नन्विति । तत्त्वनिर्णयप्रधाना खल्वियं कथा आरब्धा, तत्त्वनिर्णयश्च परमतेषु अश्रद्धां विना न सिध्यति, सा च तेषु भ्रान्तिमूलत्वनिश्चयं

रत्नप्रभाका अनुवाद

क्योंकि अन्यमतोंके खण्डन की मुमुक्षुओंको अपेक्षा नहीं है ऐसा आक्षेप करते हैं—"यद्यपि" इत्यादिसे। पर पक्षका निराकरण किये विना अपना मत स्थिर नहीं हो सकता इसलिए परपक्षका निराकरण करना चाहिए ऐसा कहते हैं—"तथापि" इत्यादिसे। तब अपने पक्ष का स्थापन करनेके पहले परपक्षका खण्डन करना चाहिए था इसपर कहते हैं—"वेदान्तार्थ" इत्यादि। वेदान्ततात्पर्यका निर्णय सफल तत्त्वज्ञानके साधनोंके अन्तर्गत होनेसे श्रेष्ठ है। परपक्षके खण्डन से रागद्वेष होता है इसलिए उसका खण्डन नहीं करना चाहिए ऐसी शङ्का करते हैं—"ननु" इत्यादिसे। इस शास्त्रका जो आरम्भ किया गया है, उसका प्रधान फल तत्त्वका निर्णय करना ही है। और तत्त्वनिर्णयकी तबतक सिद्धि होनी कठिन है जबतक कि पर मतमें

भाष्य

परविद्वेषकरणेन। बाढमेवम्, तथापि महाजनपरिगृहीतानि महान्ति सांख्यादितन्त्राणि सम्यग्दर्शनापदेशेन प्रवृत्तान्युपलभ्य भवेत् केषांचिन्मन्दमतीनामेतान्यपि सम्यग्दर्शनायोपादेयानीत्यपेक्षा। तथा युक्तिगाढत्वसम्भवेन सर्वज्ञभाषितत्वाच्च श्रद्धा च तेषु इत्यतस्तदसारतोपपादनाय प्रय-

भाष्यका अनुवाद

साथ द्वेष फलानेवाले अन्य मतका खण्डन करनेसे क्या प्रयोजन है? आपका कथन ठीक है, तो भी सांख्य आदि तन्त्र—शास्त्र महाजनों द्वारा परिगृहीत—स्वीकृत हैं, और तत्त्वज्ञानके निरूपणके व्याजसे प्रवृत्त हुए हैं, उनको प्राप्त करके कितने ही मन्दमतियों की यह अपेक्षा हो कि ये भी तत्त्वज्ञानके लिए उपादेय—ग्राह्य हैं। उसी प्रकार उनमें दृढतर युक्तियोंका होना सम्भव है और वे सर्वज्ञसे उपदिष्ट हैं, अतएव उनमें मन्दमतियों की श्रद्धा भी हो सकती है, इसलिए 'वे शास्त्र असार हैं' ऐसा उपपादन करनेके लिए प्रयत्न

रत्नप्रभा

विना न सिध्यति, स चेमं पादं विना नेति स्वसिद्धान्तसंरक्षणार्थत्वात् प्रधानसिद्ध्यर्थत्वाद् अयं पादः अस्मिन् शास्त्रे संगतः, संगतत्वाद् वीतरागेणापि कर्तव्य इत्यभिसन्धाय उक्ताङ्गीकारेण समाधत्ते—बाढमित्यादिना। अपदेशेन—व्याजेन, मन्दमतीनां तेषु श्रद्धानिमित्तानि बहूनि सन्तीति तन्निरासाय यत्नः क्रियते इत्यर्थः। स्वमतश्रद्धापरमतद्वेषौ तु प्रधानसिद्ध्यर्थत्वाद् अङ्गीकृतौ, नापि अयं द्वेषः, परपक्षत्वबुद्ध्या हि निरासो द्वेषमावहति—न तु तत्त्वनिर्णयेच्छया कृत इति

रत्नप्रभाका अनुवाद

अश्रद्धा न हो जाय। और अश्रद्धा तबतक नहीं हो सकती जबतक परपक्षोंकी भ्रान्तिमूलकताका निश्चय न हो जाय। इस पादके विना यह निश्चय नहीं हो सकता, इसलिए अपने सिद्धान्तका संरक्षण करने और ब्रह्मकी सिद्धि करनेके लिए यह पाद इस शास्त्रमें संगत है। संगत होनेसे वीतरागपुरुषोंको भी इसका अध्ययन करना चाहिए ऐसा विचार कर पूर्वोक्तके अंगीकारसे समाधान करते हैं—'बाढम्' इत्यादिसे। अपदेश—व्याज। मन्दमतियोंकी उन दर्शनोंमें श्रद्धा होनेके अनेक कारण हैं। उनका खण्डन करनेके लिए यह प्रयत्न किया जाता है ऐसा तात्पर्य है। मुख्य सिद्धान्तकी सिद्धिके निमित्त अपने मतमें श्रद्धा और पर पक्षमें द्वेषका स्वीकार किया गया है। परन्तु वास्तवमें यह द्वेष नहीं है। यह दूसरेका पक्ष है इस बुद्धिसे यदि उसका खण्डन किया जाय तो वह द्वेषका कारण हो सकता है किन्तु तत्त्व निर्णयकी इच्छासे परपक्षका खण्डन द्वेष नहीं हो सकता ऐसा समझना चाहिए। पुनरुक्तिकी शङ्का करते

भाष्य

स्यते। ननु 'ईक्षतेर्नाशब्दम्' (ब्र० सू० १।१।५), 'कामाच्च नानुमानापेक्षा' (ब्र० सू० १।१।१८) 'एतेन सर्वे व्याख्याता व्याख्याताः' (ब्र० सू० १।४।२८) इति च पूर्वत्रापि सांख्यादिपक्षप्रतिक्षेपः कृतः, किं पुनः कृतकरणेनेति। तदुच्यते—सांख्यादयः स्वपक्षस्थापनाय वेदान्तवाक्यान्यप्युदाहृत्य स्वपक्षानुगुण्येनैव योजयन्तो व्याचक्षते, तेषां यद्व्याख्यानं तद्व्याख्यानाभासं न सम्यग्व्याख्यानमित्येतावत् पूर्वं कृतम्। इह तु वाक्यनिरपेक्षः स्वतन्त्रस्तद्युक्तिप्रतिषेधः क्रियते इत्येष विशेषः।

भाष्यका अनुवाद

किया जाता है। परन्तु 'ईक्षतेर्नाशब्दम्' 'कामाच्च नानुमानापेक्षा' 'एतेन सर्वे व्याख्याता व्याख्याताः' इत्यादि सूत्रोंसे पूर्वमें भी साँख्य आदि पक्षोंका खण्डन किया गया है, सो फिर पिष्टपेषण करनेसे क्या लाभ है? इसका उत्तर कहते हैं। सांख्य आदि अपने अपने मतकी स्थापना करनेके लिए वेदान्तवाक्योंको उद्धृत कर स्वपक्षके अनुसार उनकी योजना करते हुए व्याख्यान करते हैं। उनका जो व्याख्यान है, वह व्याख्यानका आभास है, सम्यग् व्याख्यान नहीं है, इतना ही पूर्वमें प्रतिपादन किया गया है। इस पादमें तो वेदान्तवाक्यों की अपेक्षा न रखते हुए स्वतन्त्ररूपसे उनकी युक्तियोंका प्रतिपेध किया जाता है, पूर्वके प्रतिपेध और इस प्रतिपेधमें इतना विशेष है।

रत्नप्रभा

मन्तव्यम्। पौनरुक्त्यं शङ्कते—नन्वीक्षतेरिति। पूर्वं सांख्यादीनां श्रुत्यर्थानुग्राहकतर्कनिरासाद् अश्रौतत्वमुक्तम्, संप्रति श्रुत्यनपेक्षाः तदीयाः स्वतन्त्रा युक्तयो निरस्यन्त इति अर्थभेदात् न पुनरुक्तिः इत्याह—तदुच्यत इति।

प्रधानम् अचेतनं जगदुपादानमिति सांख्यसिद्धान्तः अत्र विषयः, स किं प्रमाणमूलो भ्रान्तिमूलो वा इति सन्देहे "सर्वधर्मोपपत्तेश्च" इत्युक्तधर्माणां प्रधाने सम्भवात्

रत्नप्रभाका अनुवाद

हैं—"नन्वीक्षतेः" इत्यादिसे पहले सांख्य आदिके श्रुत्यनुग्राहक तर्कोंका खण्डन कर उनका मत अश्रौत (श्रुतिविरुद्ध) कहा गया है, अब उनकी श्रुतिकी अपेक्षा न रखनेवाली स्वतन्त्र युक्तियोंका खण्डन किया जाता है। इस प्रकार अर्थभेद—विषयभेद होनेसे पुनरुक्ति नहीं है ऐसा कहते हैं—"तदुच्यते" इत्यादिसे। अचेतन प्रधान जगत्का उपादान कारण है यह सांख्य सिद्धान्त इस अधिकरणका विषय है। वह प्रमाणमूलक है या भ्रान्तिमूलक है? ऐसा सन्देह उपस्थित होनेपर 'सर्वधर्मोपपत्तेश्च' इस सूत्रमें कहे गये सब धर्मोंका प्रधानमें संभव

भाष्य

तत्र सांख्या मन्यन्ते—यथा घटशरावादयो भेदा मृदात्मनाऽन्वीयमाना मृदात्मकसामान्यपूर्वका लोके दृष्टाः तथा सर्व एव बाह्याध्यात्मिका भेदाः सुखदुःखमोहात्मतयाऽन्वीयमानाः सुखदुःखमोहात्मकसामान्यपूर्वका भवितुमर्हन्ति । यत् सुखदुःखमोहात्मकं सामान्यं तत् त्रिगुणं प्रधानं मृद्व-

भाष्यका अनुवाद

सांख्योंका यह मत है कि जैसे घट, शराव आदि विकार मिट्टीसे युक्त होनेके कारण मृत्तिकारूप असाधारणवाले कारण हैं, ऐसा लोकमें देखा जाता है, वैसे ही सब बाह्य और आध्यात्मिक विकार सुखदुःखमोहात्मकतासे युक्त हैं। इससे उनके असाधारण कारण सुख, दुःख और मोहात्मक ही हो सकते हैं। जो वह सुखदुःख-

---

रत्नप्रभा

तदेव उपादानमिति आक्षेपसंगत्या प्रमाणमूलत्वं दर्शयन् पूर्वपक्षमाह—तत्र सांख्या इति। स्वसिद्धान्तज्ञानस्य परगतनिरासं प्रति उपजीव्यत्वात् पादयोः संगतिः। परमतनिरासात्मकत्वात् सर्वेषाम् अधिकरणानां एतत्पादसंगतिः। पूर्वपक्षे प्रमाणमूलगतविरोधाद् उक्तश्रुत्यर्थसमन्वयासिद्धिः फलम्, सिद्धान्ते तत्सिद्धिरिति आपादं द्रष्टव्यम्। मूलश्रौतसमन्वयदार्ढ्यार्थत्वाद् अस्य पादस्य श्रुतिसंगतिः इति विवेकः। भिद्यन्ते इति भेदाः विकाराः, ये विकारा येन अन्विताः ते तत्प्रकृतिका इति व्याप्तिमाह—यथेति। सर्वं कार्यं सुखदुःखमोहात्मकवस्तुप्रकृतिकम्, तदन्वितत्वाद्, घटादिवद्, इति अनुमानमाह—तथेति। किमर्थं प्रधानं परिणमते तत्राह—

रत्नप्रभाका अनुवाद

होनेसे प्रधान ही जगत्का उपादान कारण है इस प्रकार आक्षेप संगतिसे सांख्यसिद्धान्त प्रमाणमूलक है ऐसा दिखलाते हुए पूर्वपक्ष करते हैं—"तत्र सांख्या" इत्यादिसे। स्वसिद्धान्तका ज्ञान परमतके खण्डन करनेमें उपजीव्य—आधारभूत है इससे दोनों पादोंकी संगति जाननी चाहिए। इस पादके सब अधिकरण परमत खण्डनात्मक हैं, इसलिए सब अधिकरणोंकी पाद-संगति है। पूर्वपक्षमें प्रमाणमूलक सांख्यके विरोधसे ब्रह्ममें कहे गये श्रुत्यर्थसमन्वयकी असिद्धि फल है और सिद्धान्तमें उसकी सिद्धि फल है ऐसा पादसमाप्ति तक समझना चाहिए। श्रुति-समन्वयको दृढ़ करना इस पादका प्रयोजन है, अतः इस पादकी श्रुतिके साथ संगति है ऐसा विवेक है। भिद्यन्ते—जो भिन्न होते हैं इस व्युत्पत्तिसे भेदका अर्थ विकार है। जो विकार जिससे अन्वित होते हैं, उनकी प्रकृति—उपादानकारण वही है ऐसी व्याप्ति कहते हैं—"यथा" इत्यादिसे। सब कार्य सुख-दुःख-मोहात्मक वस्तुसे बने हैं, उससे अन्वित होनेसे, घट आदिके समान, ऐसा अनुमान कहते हैं—"तथा" इत्यादिसे। प्रधान किसलिए परिणामको प्राप्त होता

भाष्य

दचेतनं चेतनस्य पुरुषस्यार्थं साधयितुं स्वभावेनैव विचित्रेण विकारात्मना प्रवर्तते इति । तथा परिमाणादिभिरपि लिङ्गैस्तदेव प्रधानमनुमिमते ।

भाष्यका अनुवाद

मोहात्मक सामान्य है, वह त्रिगुणात्मक प्रधान है, मृत्तिकाके समान वह अचेतन पुरुषके भोग और मोक्षरूप अर्थको सिद्ध करनेके लिए स्वभावसे ही विचित्र विकाररूपसे प्रवृत्त होता है। उसी प्रकार कार्यगत परिमाण आदि लिंगोंसे उसी प्रधानका वे अनुमान करते हैं।

रत्नप्रभा

चेतनस्येति । अर्थः—भोगापवर्गरूपः, तदर्थं स्वभावत एव प्रवर्तते, न तु केनचित् चेतनेन प्रेर्य्यते इत्यर्थः । तदुक्तम्—"पुरुषार्थ एव हेतुर्न केनचित् कार्यते करणम्" (सां० का० श्लो० ३१) इति । अनुमानान्तराणि तैरुक्तानि स्मारयति—तथेति । उक्तं हि—

'भेदानां परिमाणात् समन्वयाच्छक्तितः प्रवृत्तेश्च ।

कारणकार्यविभागादविभागाद् वैश्वरूप्यस्य ॥' (सां०का०श्लो० १५)

इति । अत्र कारिकायां समन्वयादिति लिङ्गं व्याख्यातम्, शिष्टानि व्याख्यायन्ते । तथा हि—क्षित्यादीनां भेदानां कारणम्, अव्यक्तमस्ति, परिमितत्वाद्, घटवत् । न च दृष्टान्ते साध्यवैकल्यम्, घटोत्पत्तेः प्रागनभिव्यक्तघटादिरूपकार्यविशिष्टत्वेन मृदः अपि अव्यक्तत्वात् । तथा घटादीनां कारणशक्तितः प्रवृत्तेः

रत्नप्रभाका अनुवाद

है ? इसपर कहते हैं—"चेतनस्य" इत्यादिसे । अर्थात् चेतनके भोग और मोक्षरूप प्रयोजनके लिए प्रधान अपने आप प्रवृत्त होता है किसी चेतन द्वारा प्रेरित नहीं किया जाता। सांख्यकारिकामें—पुरुषार्थ एव०' (भावी भोग और मोक्षरूप पुरुषार्थ ही करणोंको प्रवृत्त करता है, वे किसी चेतन द्वारा प्रवृत्त नहीं किये जाते) ऐसा कहा है। सांख्योंने जो अन्य अनुमान कहे हैं उनका स्मरण कराते हैं—"तथा" इत्यादिसे। कहा है कि 'भेदानां परिमाणात्०' (विकारोंके परिमाणसे, समन्वयसे, शक्तियोंकी प्रवृत्तिसे, कारणसे कार्यके विभाग होनेसे उसी प्रकार विचित्र विविध अविभागसे अव्यक्त—प्रधान सिद्ध होता है) [यह प्रधानसाधक तर्कों संग्राहक श्लोक है ।] इस कारिकाके 'समन्वयात्' इस लिङ्गका व्याख्यान हो गया है । शेषका व्याख्यान किया जाता है—पृथिवी आदि भेदोंका कारण अव्यक्त है, क्योंकि वे घट आदिके समान परिमित हैं। दृष्टान्तमें 'अव्यक्त कारण है' इस साध्यका अभाव है ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि घटकी उत्पत्तिके पूर्व अभिव्यक्त न हुए घट आदि रूप कार्य विशिष्टत्वसे

भाष्य

तत्र वदामः—यदि दृष्टान्तबलेनैवैतन्निरूप्येत नाऽचेतनं लोके चेतना-

भाष्यका अनुवाद

ऐसा पूर्वपक्ष होने पर सिद्धान्ती कहते हैं—यदि दृष्टान्तके बलसे ही इसका

रत्नप्रभा

महदादिकार्याणामपि कारणशक्तितः प्रवृत्तिः वाच्या, तच्छक्तिमत् कारणम् अव्यक्तम्। किञ्च, कारणात् कार्यस्य विभागो—जन्म दृश्यते। क्षितेः मृत्तिका जायते, ततो घट इति। एवमविभागः—प्रातिलोम्येन प्रलयो दृश्यते; घटस्य मृत्तिकायां लयः, तस्याः क्षितौ, क्षितेः अप्सु, अपां तेजसि इति एतौ विभागाविभागौ वैश्वरूप्यस्य—विचित्रस्य भावजातस्य दृश्यमानौ पृथक् पक्षीकृतौ क्वचित् कारणे विश्रान्तौ, विभागत्वाद् अविभागत्वाच्च, मृदि घटविभागाविभागवद् इत्यर्थः।

सिद्धान्तयति—तत्र वदाम इति। किम् अनुमानैः अचेतनप्रकृतिकत्वं जगतः साध्यते, स्वतन्त्राचेतनप्रकृतिकत्वं वा? आद्ये सिद्धसाधनता, अस्माभिः अनादित्रिगुणमायाङ्गीकारात्। द्वितीये घटादिदृष्टान्ते साध्याप्रसिद्धिः इत्याह—यदीति। स्वतन्त्रमचेतनं प्रकृतिरिति एतद्दृष्टान्तबलेन तदा निरूप्येत, यदि दृष्टान्तः क्वचित् स्यात्, न तु दृष्टः क्वचिद् इति अन्वयः। स्वतन्त्रपदार्थमाह—

रत्नप्रभाका अनुवाद

मृत्तिका भी अव्यक्त है इसी प्रकार घट आदि कार्योंकी कारणशक्तिसे प्रवृत्ति होनेसे महद् आदि कार्योंकी भी कारणशक्तिसे प्रवृत्ति कहनी चाहिए। वह शक्तियुक्त कारण अव्यक्त है। और कारणसे कार्यका जन्म दिखाई देता है। पृथिवीसे मिट्टी पैदा होती है, मिट्टीमें घट होता है। इसी प्रकार अविभाग अर्थात् उत्पत्तिसे उलटे क्रमसे प्रलय दिखाई देता है—घटका मिट्टीमें, मिट्टीका पृथिवीमें, पृथिवीका जलमें और जलका तेजमें लय होता है। इस प्रकार वैश्वरूपके—विचित्र पदार्थसमूहके ये विभाग और अविभाग जो देखे जाते हैं, वे दोनों पृथक् पृथक् पक्षरूपसे स्वीकृत हैं, वे दोनों किसी एक कारणमें विश्रान्त हैं, विभाग और अविभाग होनेसे मृत्तिकामें घटके विभाग और अविभागके समान ऐसा भावार्थ है।

इस प्रकार पूर्वपक्ष कहकर सिद्धान्त कहते हैं—"तत्र वदामः" इत्यादिसे। क्या अनुमानोंसे जगत् अचेतनप्रकृतिक है—जगत्की प्रकृति—उपादान कारण—अचेतन है, यह सिद्ध करते हो, या स्वतन्त्र अचेतन इस जगत्की प्रकृति है, ऐसा सिद्ध करते हो? प्रथम पक्ष यदि मानो, तो सिद्धसाधनता है—जो सिद्ध है उसीको सिद्ध करते हो, क्योंकि ईश्वरसे अधिष्ठित अनादि त्रिगुणात्मक मायाको जगत्की प्रकृतिरूपसे हम भी स्वीकार करते हैं। यदि द्वितीय पक्षका ग्रहण करो तो घट आदि दृष्टान्तोंमें साध्य अप्रसिद्ध है, ऐसा कहते हैं—"यदि" इत्यादिसे। स्वतन्त्र अचेतन प्रकृति है, इसका दृष्टान्तसे तभी निरूपण किया जा सकता है, जब कहीं दृष्टान्त हो परन्तु दृष्टान्त कहीं भी दिखाई नहीं देता, ऐसा

भाष्य

नधिष्ठितं स्वतन्त्रं किञ्चिद्विशिष्टपुरुषार्थनिर्वर्तनसमर्थान् विकारान् विरचयद् दृष्टम्। गेहप्रासादशयनासनविहारभूम्यादयो हि लोके प्रज्ञावद्भिः शिल्पिभिर्यथाकालं सुखदुःखप्राप्तिपरिहारयोग्या रचिता दृश्यन्ते, तथेदं जगदखिलं पृथिव्यादि नानाकर्मफलोपभोगयोग्यं बाह्यम्, आध्यात्मिकं च शरीरादि नानाजात्यन्वितं प्रतिनियतावयवविन्यासमनेककर्मफलानुभवाधिष्ठानं

भाष्यका अनुवाद

निरूपण किया जाय, तो लोकमें स्वतन्त्र—चेतनसे अनधिष्ठित अचेतन विशिष्ट पुरुषार्थके साधनमें समर्थ विकारों की रचना करता हुआ नहीं देखा जाता। घर, महल, शयन, आसन, विहारभूमि आदि कालके अनुसार सुखकी प्राप्ति और दुःखका परिहार करने योग्य पदार्थ बुद्धिमान् शिल्पियोंसे रचे गये देखनेमें आते हैं, वैसे भिन्न भिन्न कर्मफलके उपभोगके योग्य पृथिवी आदि बाह्य जगत् और भिन्न भिन्न जातियोंसे युक्त-असाधारण अवयवोंसे युक्त अनेक कर्मफलोंके

रत्नप्रभा

चेतनाधिष्ठितमिति। परकीयस्य साध्यस्य अप्रसिद्धिम् उक्त्वा सत्प्रतिपक्षं वक्तुं यद् विचित्ररचनात्मकं कार्यं तत् चेतनाधिष्ठिताचेतनप्रकृतिकम् इति व्याप्तिमाह—गेहेति। इदं जगत् चेतनाधिष्ठिताचेतनप्रकृतिकम्, कार्यत्वाद्, गेहवदिति प्रयोगः। विपक्षे विचित्ररचनानुपपत्तिरूपं सूत्रोक्तं बाधकतर्कं वक्तुं जगतो वैचित्र्यमाह—तथेति। बाह्यम्—पृथिव्यादि भोग्यम्, आध्यात्मिकम् शरीरादि च भोगाधिष्ठानमिति विभागः। प्रतिनियतः असाधारणः अवयवानां विन्यासो रचना यस्य तद् इत्यर्थः। इत्थं विचित्रं जगत् चेतनानधिष्ठिता जडप्रकृतिः कथं रचयेत् न कथमपि इत्यर्थः।

रत्नप्रभाका अनुवाद

अन्वय है। स्वतन्त्र पदका अर्थ कहते हैं—"चेतनानधिष्ठितम्" इत्यादिसे। सांख्यका साध्य अप्रसिद्ध है, ऐसा कहकर हेतुका सत्प्रतिपक्ष कहनेके लिए 'जो विचित्र रचनात्मक कार्य है, वह चेतनसे अधिष्ठित अचेतनप्रकृतिक है—उसकी प्रकृति चेतनाधिष्ठित अचेतन है, ऐसी व्याप्ति कहते हैं—"गेह" इत्यादिसे। यह जगत् चेतनाधिष्ठित अचेतनसे बना है, कार्य होनेसे, घरके समान' ऐसा अनुमानका प्रयोग है। विपक्षमें सूत्रमें कहा हुआ विचित्ररचनानुपपत्तिरूप बाधक तर्क कहनेके लिए जगत्का वैचित्र्य कहते हैं—"तथा" इत्यादिसे। जगत् दो प्रकारका है, बाह्य और आध्यात्मिक। बाह्य—पृथिवी आदि भोग्य है और आध्यात्मिक—शरीर आदि भोगका अधिष्ठान है—ऐसा विभाग है। प्रतिनियत—असाधारण है अवयवोंकी रचना जिसकी, उसे प्रतिनियतावयव विन्यास कहते हैं। ऐसे विचित्र जगत्की चेतनसे अधिष्ठित न हुई जड़ प्रकृति कैसे रचना कर सकती है। किसी प्रकार भी रचना नहीं कर सकती—ऐसा

भाष्य

दृश्यमानं प्रज्ञावद्भिः सम्भावितत्तमैः शिल्पिभिर्मनसाऽप्यालोचयितुमशक्यं सत् कथमचेतनं प्रधानं रचयेत् । लोष्टपाषाणादिष्वदृष्टत्वात् । मृदादिष्वपि कुम्भकाराद्यधिष्ठितेषु विशिष्टाकारा रचना दृश्यते, तद्वत् प्रधानस्यापि चेतनान्तराधिष्ठितत्वप्रसङ्गः । न च मृदाद्युपादानस्वरूपव्यपाश्रयेणैव धर्मेण

भाष्यका अनुवाद

अनुभवका अधिष्ठानरूप दृश्यमान शरीर आदि आध्यात्मिक जगत्, जिसकी आलोचना बड़े बड़े बुद्धिमान् शिल्पी मनसे भी नहीं कर सकते, उसकी रचना अचेतन प्रधान कैसे कर सकता है ? ढेले, पत्थर आदि अचेतनोंमें ऐसी शक्ति नहीं देखी जाती । हां, मृत्तिका आदिमें भी कुम्भकार आदिसे अधिष्ठित होनेपर विशिष्ट आकारवाली रचना देखी जाती है । इसी प्रकार प्रधानको भी अन्य चेतनसे अधिष्ठित मानना पड़ेगा । मृत्तिका आदि उपादानके स्वरूपका आश्रय

रत्नप्रभा

यत् चेतनानधिष्ठितम् अचेतनं तत् न कार्यकारि इति व्याप्तिम् उक्ततर्कमूलभूतामाह—लोष्टेति । चेतनाप्रेरितेषु लोष्टादिषु कार्यकारित्वादर्शनाद् इत्यर्थः । किञ्च, अनादि-जडप्रकृतिः चेतनाधिष्ठिता, परिणामित्वात्, मृदादिवद् इत्याह—मृदिति । ननु मृदादिदृष्टान्ते द्वयमपि अस्ति—अचेतनत्वं चेतनाधिष्ठितत्वं चेति । तत्र परिणा-मित्वहेतोः अचेतनत्वमेव व्यापकम् मृदादिस्वरूपत्वेन अन्तरङ्गत्वात्, न तु चेतनाधिष्ठितत्वं व्यापकम्, तस्य मृदादिबाह्यकुलालादिसापेक्षत्वेन बहिरङ्गत्वात्, तथा च परिणामित्वेऽपि मूलप्रकृतेः अचेतनत्वधर्मेणैव योगो न चेतनाधिष्ठितत्वेन इत्याशङ्क्य निषेधति—न चेति । महानसदृष्टान्तेऽन्तरङ्गस्यापि महानसस्वरूपस्य

रत्नप्रभाका अनुवाद

अर्थ है [जगत् स्वतन्त्र अचेतनका कार्य नहीं है, विचित्र कार्य होनेसे या विशिष्ट रचनात्मक होनेसे, विशिष्ट शिल्पीसे निर्माण किये हुए प्रासाद आदिके समान, ऐसा अनुमान है] जो अचेतन चेतनसे अधिष्ठित नहीं है, वह कार्यकारी नहीं है, उक्त तर्ककी मूलभूत इस व्याप्तिको कहते है—"लोष्ट" इत्यादिसे । आशय यह कि चेतनसे अधिष्ठित न हुए लोष्ट आदिमें कार्यकारित्व नहीं देखा जाता है । और 'अनादि' जड़ प्रकृति चेतनसे अधिष्ठित है, परिणामी होनेसे, मृत्तिका आदिके समान, ऐसा कहते हैं—"मृद्" इत्यादिसे । परन्तु मृत्तिका आदि दृष्टान्तोंमें अचेतनत्व और चेतनाधिष्ठितत्व दोनों हैं, उसमें परिणामित्व इस हेतुका अचेतनत्व ही व्यापक है, क्योंकि मृत्तिका आदिका स्वरूप होनेसे वह अन्तरंग है, चेतनाधिष्ठितत्व व्यापक नहीं है, क्योंकि उसको मृत्तिका आदिसे बाहर रहनेवाले कुलाल आदिकी अपेक्षा है, अतः वह बहिरंग है, इसलिए परिणामित्वमें भी मूल प्रकृतिका अचेतनत्व

भाष्य

मूलकारणमवधारणीयम्, न वाह्यकुम्भकारादिव्यपाश्रयेणेति किञ्चिन्नियामकमस्ति। न चैवं सति किञ्चिद् विरुध्यते, प्रत्युत श्रुतिरनुगृह्यते, चेतनकारणसमर्पणात्। अतो रचनानुपपत्तेश्च हेतोर्नाऽचेतनं जगत्कारणमनुमातव्यं भवति। अन्वयाद्यनुपपत्तेश्चेति चशब्देन हेतोरसिद्धिं समुचिनोति। नहि बाह्याध्यात्मिकानां भेदानां सुखदुःखमोहात्मकतयाऽन्वय उपपद्यते, सुखा-

भाष्यका अनुवाद

करके रहनेवाले धर्मसे ही मूल कारणका निश्चय करना चाहिए और बाह्य कुम्भकार आदिके आश्रित धर्मसे मूल कारणका निश्चय नहीं करना चाहिए, ऐसा कोई नियम नहीं है। और ऐसा होनेसे कुछ विरोध भी नहीं आता। चेतनको कारण मानने में उलटे श्रुति अनुगृहीत होती है, क्योंकि वह चेतन कारणका प्रतिपादन करती है। इसलिए रचनाकी अनुपपत्तिरूप हेतुसे अचेतन जगत् कारण है, ऐसा अनुमान करना उचित नहीं है। अन्वय आदिकी अनुपपत्ति होनेसे इस हेतुकी असिद्धिका चशब्दसे समुच्चय करते हैं, क्योंकि बाह्य और आध्यात्मिक विकारोंका सुखदुःखमोहात्मकताके साथ अन्वय उपपन्न नहीं होता,

---

रत्नप्रभा

धूमव्यापकत्वं नास्ति, तद्भिन्नस्य बहिरङ्गस्यापि वह्नेः तदस्तीति अन्तरङ्गत्वं व्यापकत्वे प्रयोजकं न भवतीति भावः। किञ्च, यद् अचेतनम् तत् चेतनाधिष्ठितमेव परिणमते इति अङ्गीकारे बाधकाभावात् प्रत्युत श्रुत्यनुग्रहाच्च तथा अङ्गीकार्यमित्याह—न चैवं सतीति। सुखदुःखमोहान्वयाद् इति हेतोः असिद्धिद्योतनार्थः सूत्रे चकार इत्याह—अन्वयाद्यनुपपत्तेश्चेति। न अनुमानं युक्तमित्यर्थः। आदिशब्दः परिमाणादिग्रहार्थः। शब्दादीनां बाह्यत्वानुभवाद् आन्तरसुखाद्या-

रत्नप्रभाका अनुवाद

धर्मसे ही योग है, चेतनाधिष्ठितत्वसे नहीं है, ऐसी आशंका करके उसका निषेध करते हैं—"न च" इत्यादिसे। महानसदृष्टान्तमें यद्यपि महानसका स्वरूप अन्तरंग है, तो भी वह धूमका व्यापक नहीं है और उससे भिन्न अग्नि बहिरंग है, तो भी वह धूमकी व्यापिका है, इसलिए अन्तरंगत्व व्यापकत्वमें प्रयोजकत्व नहीं है, यह भाव है। और जो अचेतन है वह चेतनाधिष्ठित होकर ही परिणत होता है, उसके अङ्गीकारमें बाधक नहीं है। उलटा श्रुतिका अनुग्रह होता है, इसलिए अंगीकार करना चाहिये, ऐसा कहते हैं—"न चैवं सति" इत्यादिसे। 'सुखदुःखमोहका अन्वय' इस हेतुकी असिद्धि सूचित करनेके लिये सूत्रमें चकार है, ऐसा कहते हैं—"अन्वयाद्यनुपपत्तेश्च" इत्यादिसे। अनुमान युक्त नहीं है, यह अर्थ है। आदि शब्दस

भाष्य

दीनां चान्तरत्वप्रतीतेः, शब्दादीनां चातद्रूपत्वप्रतीतेः, तन्निमित्तत्वप्रतीतेश्च। शब्दाद्यविशेषेऽपि च भावनाविशेषात् सुखादिविशेषोपलब्धेः। तथा परिमितानां भेदानां मूलाङ्कुरादीनां संसर्गपूर्वकत्वं दृष्ट्वा बाह्याध्यात्मि-

भाष्यका अनुवाद

क्योंकि सुख आदि आन्तर हैं, ऐसा प्रतीत होता है, और शब्द आदि अतद्रूप प्रतीत होते हैं, इसी प्रकार उनके निमित्तरूपसे प्रतीत होते हैं, और शब्द आदि विशेषके न होनेपर भी भावना विशेषसे सुख आदि विशेष प्राप्त होता है। इसी प्रकार मूलाङ्कुरादि परिमित विकार संसर्गपूर्वक हैं, ऐसा देख-

रत्नप्रभा

त्वकत्वम् असिद्धम् तन्निमित्तत्वात् च। नहि निमित्तनैमित्तिकयोः अभेदेन योगः अस्ति, दण्डघटयोः अदर्शनाद् इत्यर्थः। किञ्च, यदि घटे मृद्वत् सुखादिकं शब्दादौ अन्वितं स्यात् तर्हि सर्वैः अविशेषेण सुखादिकम् उपलभ्येत घटे मृद्वत्, न तथा उपलब्धिः अस्तीति योग्यानुपलब्ध्या हेत्वभावनिश्चय इत्याह—शब्दादीति। विषयस्य एकत्वे अपि पुरुषवासनावैचित्र्यात् कस्यचित् सुखबुद्धिः कस्यचित् दुःखबुद्धिः। कस्यचित् मोहबुद्धिः दृश्यते, अतो विषयाः सुखाद्यात्मका न भवन्ति इत्यर्थः। एवं समन्वयादिति हेतुं दूषयित्वा परिमाणादिहेतून् दूषयति—तथेति। बुद्ध्यादीनां परिमितत्वेन संसर्गपूर्वकत्वसिद्धौ संसृष्टानि अनेकानि सत्त्वरजस्तमांसि सिध्यन्ति एकस्मिन् संसर्गासम्भवात् न ब्रह्मसिद्धिः इति सांख्य-

रत्नप्रभाका अनुवाद

परिमाण आदिका ग्रहण करना चाहिए। शब्द आदि बाह्य हैं, ऐसा अनुभव होनेसे वे आन्तर सुख आदि स्वरूप हैं, यह असिद्ध है, उसी प्रकार शब्द आदि तो सुखादिके निमित्त है, निमित्त और नैमित्तिकका अभेदसे सम्बन्ध नहीं होता, क्योंकि दण्ड और घटमें अभेद दिखाई नहीं देता, ऐसा भावार्थ है। और घटमें मृत्तिकाके समान शब्द आदि सुखादि नित्य अन्वित होते तो सबको समान रीतिसे उनमें सुखादिकी प्राप्ति होती, जैसे कि घटमें मृत्तिकाकी सबको उपलब्धि होती है, वैसे ही यहाँ भी होती, परन्तु वैसी उपलब्धि नहीं होती। इस योग्य अनुपलब्धिसे हेतुके अभावका निश्चय होता है, ऐसा कहते हैं—"शब्दादि" इत्यादिसे। विषय यद्यपि एक ही है, तो भी पुरुषवासनाके वैचित्र्यसे किसीको उसमें सुखबुद्धि, किसीको दुःखबुद्धि और किसीको मोहबुद्धि देखी जाती है, इससे विषयसुख आदि स्वरूप नहीं है, ऐसा समझना चाहिए। इस प्रकार 'समन्वयात्' इस हेतुको दूषित करके परिणाम आदि हेतुओंको दूषित करते हैं—"तथा" इत्यादिसे। बुद्धि आदि परिमित होनेसे संसर्गपूर्वक हैं, ऐसा सिद्ध होनेपर संसृष्ट अनेक सत्त्व, रज और तम हैं, ऐसा सिद्ध होता है। एकमें संसर्ग न होनेसे

भाष्य

कानां भेदानां परिमितत्वात् संसर्गपूर्वकत्वमनुमिमानस्य सत्त्वरजस्तमसामपि संसर्गपूर्वकत्वप्रसङ्गः परिमितत्वाविशेषात्। कार्यकारणभावस्तु प्रेक्षा-

भाष्यका अनुवाद

कर बाह्य और आध्यात्मिक विकार परिमित होनेसे संसर्गपूर्वक हैं, ऐसा अनुमान करनेवालोंको सत्त्व, रज और तम भी संसर्गपूर्वक हैं, ऐसा मानना पड़ेगा, क्योंकि उनमें भी परिमितत्व समान है। अपेक्षापूर्वक निर्माण किये हुए

रत्नप्रभा

स्य भावः। किमिदं परिमितत्वम्? न तावद् देशतः परिच्छेदः, पक्षान्तर्गताकाशे तस्याभावेन भागासिद्धेः, नापि कालतः परिच्छेदः, सांख्यैः कालस्य अनङ्गीकारात्, अविद्यागुणसंसर्गेण सिद्धसाधनाच्च, नापि वस्तुतः परिच्छेदः, सत्त्वादीनां परस्परं भिन्नत्वे सत्यपि साध्याभावेन व्यभिचाराद् इत्याह—सत्त्वेति। यदुक्तं कार्यकारणविभागो यत्र समाप्यते तत् प्रधाननिति। तत् न, ब्रह्मणि मायायां वा समाप्तिसम्भवात्। न च यः कार्यस्य विभागः स चेतनानधिष्ठिते अचेतने समाप्तः इति व्याप्तिरस्ति सर्वत्र अचेतनेषु चेतनानधिष्ठानदर्शनाद् इत्याह—कार्येति। एतेन अविभागोऽपि व्याख्यातः। यत्तु यत् परिमितं तद् अव्यक्त-

रत्नप्रभाका अनुवाद

ब्रह्म असिद्ध है, ऐसा सांख्यका आशय है। यह परिमितत्व क्या है? परिमितत्वका देशसे परिच्छेद, ऐसा अर्थ तो हो नहीं सकता, क्योंकि पक्षमें अन्तर्गत हुए आकाशमें, ऐसे परिच्छेदका अभाव होनेसे हेतुमें भागासिद्ध दोष होगा। इसी प्रकार परिमितत्वका अर्थ कालसे परिच्छेद, ऐसा भी नहीं है, क्योंकि सांख्य कालका अङ्गीकार नहीं करता [पच्चीस तत्त्वोंसे अतिरिक्त कालका वह अङ्गीकार नहीं करता] अविद्यागुण संसर्गरूप उपाधिसे कालका अङ्गीकार किया है, ऐसा यदि कहो तो सिद्धसाधनता दोष होगा। उसी प्रकार वस्तुसे परिच्छेद भी परमितत्वका अर्थ नहीं है, क्योंकि सत्त्व, आदि परस्पर भिन्न हैं, तो भी साध्यके अभावसे व्यभिचार है, ऐसा कहते हैं—"सत्त्व" इत्यादिसे। और कार्यकारणभाव जिसमें समाप्त होता है, वह प्रधान है, ऐसा जो कहा गया है वह युक्त नहीं है, क्योंकि ब्रह्ममें या मायामें इस समाप्तिका सम्भव है। कार्यका विभाग चेतनसे अधिष्ठित न हुआ अचेतनमें समाप्त है, ऐसी व्याप्ति नहीं है, क्योंकि सर्वत्र अचेतनमें चेतनका अधिष्ठान देखा जाता है, ऐसा कहते हैं—"कार्य" इत्यादिसे। इससे सांख्यकारिकाके 'अविभाग' हेतुका भी प्रत्याख्यान हुआ समझना चाहिए।

१—इयत्ता, इतना प्रदेश।

२—"सब बाह्य और आध्यात्मिक भाव अविभक्त ऐसी एक वस्तु जिनकी प्रकृति है, ऐसे हैं, परिमित होनेसे, घट आदिके समान" इस अनुमानमें "सब बाह्य और आध्यात्मिक भाव" पक्ष है।

३—सब पक्षमें न रहे किन्तु पक्षके एक देशमें ही रहे वह हेतु भागासिद्ध है।

भाष्य

पूर्वकनिर्मितानां शयनासनादीनां दृष्ट इति न कार्यकारणभावाद् बाह्याध्यात्मिकानां भेदानामचेतनपूर्वकत्वं शक्यं कल्पयितुम् ॥१॥

भाष्यका अनुवाद

शयन, आसन, आदिका कार्य-कारणभाव देखनेमें आता है, कार्य-कारणभावसे बाह्य और आध्यात्मिक विकार अचेतनप्रकृतिक हैं, ऐसी कल्पना नहीं की जा सकती ॥ १ ॥

रत्नप्रभा

प्रकृतिपूर्वकम् इति व्याप्त्यन्तरं तस्यापि गुणेषु अनादिषु परिमितेषु व्यभिचारः। एतेन सदृशयोः एव प्रकृतिविकारभावाद् अचेतनविकाराणाम् अचेतनमेव प्रकृतिः इति निरस्तम्। चेतनाधिष्ठिताऽचेतनप्रकृतिकत्वेऽपि सादृश्योपपत्तेः। "न विलक्षणत्वाद्" (ब्र० सू० २।१।५) इत्यत्र सादृश्यनियमस्य निरस्तत्वाच्च। एवं चेतनाधीनकारणशक्तितः कार्यप्रवृत्तिसम्भवात् शक्तितः प्रवृत्तिलिङ्गम् अन्यथासिद्धम् इति भावः ॥ १ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

जो परिमित है, वह अव्यक्त—प्रधान प्रकृतिवाला है, यह जो दूसरी व्याप्ति सांख्यों द्वारा कही गई है, उसका भी अनादि परिमित गुणमें व्यभिचार है। इसलिए सदृशका ही प्रकृतिविकारभाव होनेसे अचेतन विकारोंकी अचेतन ही प्रकृति है, इस पक्षका निरसन हुआ समझना चाहिए, क्योंकि चेतनसे अधिष्ठित अचेतन प्रकृति लेनेसे भी सादृश्य उपपन्न होता है। "न विलक्षणत्वात्" इसमें सादृश्य नियमका निराकरण किया गया है। इस प्रकार चेतनके अधीन कारणशक्तिसे कार्यप्रवृत्तिका संभव होनेसे शक्तिसे प्रवृत्ति, यह लिङ्ग अन्यथासिद्ध है, ऐसा समझना चाहिए ॥१॥

प्रवृत्तेश्च ॥२॥

पदच्छेद—प्रवृत्तेः, च।

पदार्थोक्ति—प्रवृत्तेः—अचेतनस्य प्रधानस्य साम्यावस्थाप्रच्युतिरूपप्रवृत्तेः। [चेतनमन्तरेण] च—अनुपपत्तेः [न प्रधानं जगत्कारणम्]।

भाषार्थ—अचेतन प्रधानकी साम्यावस्थाप्रच्युतिरूप प्रवृत्तिकी चेतनके विना उपपत्ति नहीं हो सकती, इसलिए भी प्रधान जगत्का कारण नहीं हो सकता।

भाष्य

आस्तां तावदियं रचना, तत्सिद्ध्यर्था या प्रवृत्तिः साम्यावस्थानात् प्रच्युतिः सत्त्वरजस्तमसामङ्गाङ्गिभावरूपापत्तिर्विशिष्टकार्याभिमुखप्रवृत्तिता सापि नाऽचेतनस्य प्रधानस्य स्वतन्त्रस्योपपद्यते मृदादिष्वदर्शनाद् रथादिषु

भाष्यका अनुवाद

इस रचनाको रहने दो, उसकी सिद्धिके लिए जो प्रवृत्ति—सत्त्व, रज और तम—गुणोंकी साम्यावस्थासे च्युति, सत्त्व, रज और तमके अंगांगिभावकी आपत्ति, विशिष्ट कार्योंके उत्पादनमें जो प्रवृत्ति है, वह भी स्वतन्त्र अचेतन प्रधानमें नहीं घट सकती, क्योंकि मृत्तिका आदिमें और रथ आदिमें वह नहीं

रत्नप्रभा

स्वतन्त्रम् अचेतनं करणत्वेन न अनुमातव्यम्, तस्य सृष्ट्यर्थं प्रवृत्तेः अनुपपत्तेः इति चकारेण अनुपपत्तिपदम् अनुषज्य सूत्रं योजनीयम् । रचना-प्रवृत्त्योः को भेद इत्याशङ्क्य प्रवृत्तिस्वरूपमाह—साम्येति । गुणानां किल साम्यावस्था तत्त्वानां प्रलयः, तदा न किञ्चित् कार्यं भवति प्रलयाभावप्रसङ्गात्, किंतु आदौ साम्यप्रच्युतिरूपं वैषम्यं भवति ततः कस्यचिद् गुणस्य अङ्गित्वम् उद्भूतत्वेन प्राधान्यं, कस्यचिद् अङ्गत्वं शेषत्वमिति अङ्गाङ्गिभावो भवति, तस्मिन्सति महदादिकार्योत्पादनात्मिका प्रवृत्तिः, तया विविधकार्यविन्यासो रचना इति भेद इत्यर्थः । गुणानां प्रवृत्तिः चेतनाधिष्ठानपूर्विका, प्रवृत्तित्वाद्, रथादि-प्रवृत्तिवत् इत्याह—सापीति । विपक्षे स्वतन्त्रे प्रवृत्त्यनुपपत्तिः इत्यर्थः ।

रत्नप्रभाका अनुवाद

अचेतन-प्रधान स्वतन्त्ररूपसे कारण है ऐसा अनुमान नहीं करना चाहिए क्योंकि सृष्टिके लिए उसकी प्रवृत्ति उपपन्न नहीं होती है इस प्रकार चकारसे इस सूत्रमें पूर्वसूत्रसे 'अनुपपत्ति' पदकी अनुवृत्ति कर सूत्रकी योजना करनी चाहिए अर्थात् 'प्रवृत्तेश्चानुपपत्तेर्नानुमानं कारणम्' (प्रवृत्तिकी अनुपपत्तिसे प्रधान कारण नहीं है) ऐसी सूत्रकी योजना है। रचना और प्रवृत्तिमें क्या भेद है ऐसी आशंका करके प्रवृत्तिका स्वरूप कहते हैं—"साम्य" इत्यादिसे । गुणोंकी साम्यावस्था तत्त्वोंका प्रलय है, उस अवस्थामें कुछ भी कार्य नहीं होता । उस अवस्थामें यदि कोई कार्य होने लगे तो प्रलयका ही अभाव मानना पड़ेगा । आरम्भमें गुणोंकी साम्यप्रच्युति-रूप वैषम्य होता है । तदनन्तर उद्भूत होनेके कारण किसी एक गुणका प्राधान्य और तिरोभूत होनेके कारण अन्यगुणोंका अंगत्व—शेषत्व होता है इस तरह गुणोंका अङ्गाङ्गिभाव होता है । और ऐसा होनेपर महत्, अहङ्कार इत्यादि कार्योत्पादनरूप प्रवृत्ति होती है, उस प्रवृत्तिसे जो विविध कार्यविन्यास होता है वह रचना है । प्रवृत्ति और रचनामें ऐसा भेद है—ऐसा भाव है । गुणोंकी प्रवृत्ति चेतनाधिष्ठानपूर्वक है, प्रवृत्ति होनेसे, रथादिकी प्रवृत्तिके समान ऐसा कहते हैं—

भाष्य

च। नहि मृदादयो रथादयो वा स्वयमचेतनाः सन्तश्चेतनैः कुलालादिभिरश्वादिभिर्वाऽनधिष्ठिता विशिष्टकार्याभिमुखप्रवृत्तयो दृश्यन्ते, दृष्टाच्चाऽदृष्टसिद्धिः, अतः प्रवृत्त्यनुपपत्तेरपि हेतोर्नाऽचेतनं जगत्कारणमनुमातव्यं भवति। ननु चेतनस्यापि प्रवृत्तिः केवलस्य न दृष्टा। सत्यमेतत्, तथापि चेतन-

भाष्यका अनुवाद

देखी जाती। मृत्तिका आदि या रथ आदि स्वयं अचेतन होने से चेतन कुम्भकार आदि या अश्व आदिसे अधिष्ठित हुए बिना विशिष्ट कार्यकी ओर प्रवृत्तिवाले नहीं देखे जाते और दृष्टसे अदृष्टकी सिद्धि होती है। इसलिए प्रवृत्तिकी अनुपपत्तिरूप हेतुसे भी अचेतन प्रधान जगत्का कारण है, ऐसा अनुमान करना ठीक नहीं है। परन्तु केवल चेतनकी भी प्रवृत्ति नहीं दिखाई देती। यह ठीक है, तो भी

रत्नप्रभा

केचित्तु भेदानां प्रवृत्तिशक्तिमत्त्वात् चेतनानधिष्ठिताऽचेतनप्रकृतिकत्वमिति शक्तितः प्रवृत्तिः इति लिङ्गं व्याचक्षते। अस्य अपि गुणेषु व्यभिचारः। कार्यत्वविशेषणे च विरुद्धता, प्रवृत्तिशक्तिमत्त्वे सति कार्यत्वस्य घटादिषु चेतनाधिष्ठितप्रकृतिकत्वेन उक्तसाध्यविरुद्धेन व्याप्तिदर्शनाद् इति "प्रवृत्तेश्च" इति सूत्रेण ज्ञापितम्। ननु लोके स्वतन्त्राचेतनानां प्रवृत्त्यदर्शनेऽपि प्रधाने सा प्रवृत्तिः सिध्यतु, तत्र आह—दृष्टाच्चेति। अनुमानशरणस्य तव दृष्टान्तं विना अतीन्द्रियार्थसिद्ध्ययोगात् इति भावः। ननु प्रधानस्य प्रवृत्तिं खण्डयता चेतनस्य सृष्टौ प्रवृत्तिः वाच्या, सा न युक्ता इति सांख्यः शङ्कते—नन्विति। शुद्धचेतनस्य प्रवृत्त्ययोगम् अङ्गीकरोति—सत्यमिति। तर्हि केवलस्य अचेतनस्य

रत्नप्रभाका अनुवाद

"सापि" इत्यादिसे। अर्थात् परपक्षमें स्वतन्त्र अचेतन प्रधानमें प्रवृत्तिकी उपपत्ति नहीं है। कोई लोग पदार्थोंके शक्तिशाली होनेसे चेतनसे अनधिष्ठित अचेतनसे जगत् उत्पन्न हुआ है इसप्रकार 'शक्तितः प्रवृत्तिः' इस हेतुकी व्याख्या करते हैं। इसका भी गुणोंमें व्यभिचार है। 'कार्यत्व' विशेषण देनेपर विरोध आता है, क्योंकि प्रवृत्तिशक्तियुक्त कार्यताकी घट आदिमें उक्त व्याप्तिसे विरुद्ध चेतनसे अधिष्ठित प्रकृतिकत्वरूपसे व्याप्ति देखी जाती है ऐसा 'प्रवृत्तेश्च' इस सूत्रसे ज्ञापित होता है। यदि कोई कहे यद्यपि लोकमें अचेतन पदार्थोंमें स्वतन्त्ररूपसे प्रवृत्ति नहीं देखी जाती, तो भी प्रधानमें वह प्रवृत्ति सिद्ध हो? इसपर कहते हैं—"दृष्टाच्च" इत्यादिसे। तुम अनुमानशरण सांख्य हो दृष्टान्तके बिना तुम्हारे मतमें अतीन्द्रियवस्तुकी सिद्धि नहीं हो सकती ऐसा अभिप्राय है। प्रधानमें प्रवृत्तिका निषेध करनेवाले सिद्धान्तीको चेतनमें प्रवृत्ति कहनी चाहिए, वह युक्त नहीं है सांख्य ऐसी शङ्का करता है—"ननु" इत्यादिसे। केवल चेतनमें प्रवृत्ति नहीं

भाष्य

संयुक्तस्य रथादेरचेतनस्य प्रवृत्तिर्दृष्टा। न त्वचेतनसंयुक्तस्य चेतनस्य प्रवृत्तिर्दृष्टा। किं पुनरत्र युक्तम्? यस्मिन् प्रवृत्तिर्दृष्टा तस्य सेत यत्सं- प्रयुक्तस्य दृष्टा तस्य सेति।

ननु यस्मिन् दृश्यते प्रवृत्तिस्तस्यैव सेति युक्तम्, उभयोः प्रत्यक्षत्वात्,

भाष्यका अनुवाद

चेतनसंयुक्त रथ आदि अचेतनकी प्रवृत्ति देखनेमें आती है और अचेतनसंयुक्त चेतनमें प्रवृत्ति देखनेमें नहीं आती। परन्तु यहां क्या युक्त है? जिसमें प्रवृत्ति देखी जाती है, उसकी वह प्रवृत्ति है या जिसके संयोगसे अचेतनमें प्रवृत्ति देखी जाती है, उसकी है?

पूर्वपक्षी—जिसमें प्रवृत्ति दीखती है वह उसीकी है, ऐसा ही कहना ठीक है, क्योंकि प्रवृत्ति और उसका आश्रय दोनों प्रत्यक्ष हैं, परन्तु केवल चेतन रथ

रत्नप्रभा

प्रवृत्तिसिद्धिः अन्यथा सृष्ट्ययोगात्, तत्राह—तथापीति। केवलस्य चेतनस्य अप्रवृत्तौ अपि चेतनाऽचेतनयोः मिथः सम्बन्धात् सृष्टिप्रवृत्तिः इति भावः। इमं वेदान्तसिद्धान्तं सांख्यो दूषयति—न त्विति। सर्वा प्रवृत्तिः अचेतनाश्रयैव दृष्टा, न तु अचेतनसम्बन्धेनापि चेतनस्य क्वचित् प्रवृत्तिः दृष्टा, तस्मात् न चेतनात् सृष्टिः इत्यर्थः। मतद्वयं श्रुत्वा मध्यस्थः पृच्छति—किं पुनरिति। यस्मिन् अचेतने रथादौ प्रवृत्तिः दृष्टा तस्यैव सा, न चेतनः तत्र हेतुः इति किं सांख्यमतं साधु, उत येन चेतनेन अश्वादिना संयोगात् अचेतनस्य प्रवृत्तिः तत्प्रयुक्ता सेति वेदान्तिमतं वा साधु इति प्रश्नार्थः। सांख्य आह—नन्विति।

रत्नप्रभाका अनुवाद

देखी जाती यह स्वीकार करते हैं-"सत्यम्" इत्यादिसे। तो यद्यपि केवल अचेतनमें प्रवृत्ति सिद्ध होगी अन्यथा सृष्टि नहीं होगी? इसपर कहते हैं—"तथापि" इत्यादिसे। केवल चेतनमें प्रवृत्ति नहीं होती, तो भी चेतन और अचेतनके परस्पर सम्बन्धसे सृष्टिकी प्रवृत्ति होगी ऐसा अभिप्राय है। वेदान्तीके इस सिद्धान्तको सांख्य दूषित करता है—"न तु" इत्यादिसे। सब प्रवृत्ति अचेतनके ही आश्रित देखी गई है, परन्तु अचेतनके सबन्धसे भी चेतनमें कहीं भी प्रवृत्ति नहीं देखी जाती, इसलिए चेतनसे सृष्टि नहीं होती ऐसा सांख्यका अभिप्राय है। दोनों मतोंको सुनकर मध्यस्थ पूछता है—"किं पुनः" इत्यादिसे। अचेतन रथ आदिमें जो प्रवृत्ति देखी जाती है, वह उसीकी है, उसमें चेतन कारण नहीं है यह सांख्यमत अच्छा है अथवा जिस चेतन अश्व आदिके संयोगसे अचेतनकी प्रवृत्ति होती है उसकी है, यह वेदान्तमत अच्छा है यह प्रश्नका अर्थ है। सांख्य कहता है-"ननु" इत्यादिसे। उभयोः-दोनोंको अर्थात् प्रवृत्ति

भाष्य

न तु प्रवृत्त्याश्रयत्वेन केवलश्चेतनो रथादिवत् प्रत्यक्षः। प्रवृत्त्याश्रय-देहादिसंयुक्तस्यैव तु चेतनस्य सद्भावसिद्धिः केवलाचेतनरथादिवैलक्षण्यं जीवद्देहस्य दृष्टमिति। अत एव च प्रत्यक्षे देहे सति दर्शनात् असति

भाष्यका अनुवाद

आदिकी भाँति प्रवृत्तिके आश्रयरूपसे प्रत्यक्ष नहीं है, परन्तु प्रवृत्तिके आश्रय जो देह आदि हैं, उनसे संयुक्त होकर ही चेतनके अस्तित्वकी सिद्धि होती है, क्योंकि जीवित देहमें केवल अचेतन रथ आदिसे विलक्षणता दिखाई देती है। इसीसे

रत्नप्रभा

उभयोः प्रवृत्तितदाश्रययोः इत्यर्थः। दृष्टाश्रयेणैव प्रवृत्तेः उपपत्तौ, अदृष्टे चेतनप्रवृत्तिः न कल्प्या इति भावः। आत्मनोऽप्रत्यक्षत्वे कथं सिद्धिः तत्राह—प्रवृत्तीति। जीवद्देहस्य रथादिभ्यो वैलक्षण्यं प्राणादिमत्त्वं लिङ्गं दृष्टमिति कृत्वा चेतनस्य सिद्धिः इति अन्वयः। जीवद्देहः सात्मकः, प्राणादिमत्त्वाद्, व्यतिरेकेण रथादिवदिति आत्मसिद्धिः इत्यर्थः। देहप्रवृत्तिः स्वाश्रयाद् अन्येन ज्ञानवता सहभूता, प्रवृत्तित्वाद्, रथप्रवृत्तिवद्, इत्यनुमानान्तरसूचनाय प्रवृत्त्याश्रया इत्युक्तम्, सद्भावसिद्धिः एव न प्रवर्तकत्वम् इत्येवकारार्थः। अनुमितस्य सद्भावमात्रेण प्रवृत्तिहेतुत्वे सर्वत्र आकाशस्याऽपि हेतुत्वप्रसङ्गात् इति भावः। आत्मनः अप्रत्यक्षत्वे चार्वाकाणां भ्रमोऽपि लिङ्गम् इत्याह—अत एवेति। अप्रत्यक्षत्वादेव

रत्नप्रभाका अनुवाद

और उसके आश्रयका। जब प्रत्यक्ष दृष्ट आश्रयसे ही प्रवृत्तिकी उपपत्ति हो सकती है, तब अदृष्ट चेतनमें प्रवृत्तिकी कल्पना करना ठीक नहीं है ऐसा तात्पर्य है। आत्माके अप्रत्यक्ष होनेसे उसकी सिद्धि कैसे होती है? इसपर कहते हैं—"प्रवृत्ति" इत्यादिसे। जीवित देहमें रथ आदिसे वैलक्षण्य अर्थात् प्राणका अस्तित्वरूप हेतु दिखाई देता है इससे चेतनकी सिद्धि होती है ऐसा अन्वय है। जीवित देह आत्मासे युक्त है, प्राण आदिसे युक्त होनेसे, व्यतिरेकसे रथ आदिके समान, इस अनुमानसे आत्मा सिद्ध होता है यह तात्पर्य है। देहप्रवृत्ति अपने आश्रयसे—देहसे अन्य ज्ञानवान् आत्मासे युक्त है, प्रवृत्ति होनेसे, रथप्रवृत्तिके समान, ऐसे अन्य अनुमान को सूचित करनेके लिए प्रवृत्तिका आश्रय ऐसा कहा है। आत्माका सद्भाव ही सिद्ध होता है प्रवर्त्तकत्व सिद्ध नहीं होता—यह एवकारका अर्थ है। अनुमित आत्माके अस्तित्वमात्रसे यदि प्रवर्त्तकत्व सिद्ध हो तो सर्वव्यापक आकाश भी सर्वत्र प्रवर्तक होगा ऐसा तात्पर्य है। आत्मा प्रत्यक्ष है इसमें चार्वाक का भ्रम भी लिङ्ग है, ऐसा कहते हैं—"अत एव" इत्यादिसे। अत एव—

भाष्य

चाऽदर्शनाद् देहस्यैव चैतन्यमपीति लौकायतिकाः प्रतिपन्नाः । तस्माद-चेतनस्यैव प्रवृत्तिरिति ।

तदभिधीयते । न ब्रूमो यस्मिन्नचेतने प्रवृत्तिर्दृश्यते न तस्य सेति, भवतु तस्यैव, सा तु चेतनाद्भवतीति ब्रूमः । तद्भावे भावात् तदभावे चाभावात् । यथा काष्ठादिव्यपाश्रयाऽपि दाहप्रकाशलक्षणा विक्रियाऽनुपलभ्यमानापि च केवले ज्वलने ज्वलनादेव भवति, तत्संयोगे दर्शनात् तद्वियोगे चादर्शनात्, तद्वत् । लौकायतिकानामपि चेतन एव देहोऽचेतानानां रथादीनां प्रवर्तको दृष्ट इत्यविप्रतिपिद्धं

भाष्यका अनुवाद

जब देहका प्रत्यक्ष होता है, तब चैतन्य दीखता है और जब देहका प्रत्यक्ष नहीं होता, तब नहीं दीखता, इसलिए देह ही चेतन है, ऐसा लौकायतिक मानते हैं। इससे सिद्ध हुआ कि अचेतनकी प्रवृत्ति होती है।

सिद्धान्ती इसपर कहते हैं—जो अचेतनमें प्रवृत्ति दीखती है, वह उसकी नहीं है, ऐसा हम नहीं कहते, वह उसीकी हो परन्तु वह होती चेतनसे है, ऐसा हम कहते हैं, क्योंकि चेतनके अस्तित्वमें उसका अस्तित्व है और चेतनके अभावमें अभाव है, जैसे काष्ठ आदिमें रहनेवाली भी दाह और प्रकाशरूप विक्रिया केवल अग्निमें नहीं देखी जाती, तो भी होती है अग्नि ही से, क्योंकि अग्निका संयोग होनेपर वह दीखती है और वियोग होनेपर नहीं दीखती, उसी प्रकार चेतनके साथ संयोग होनेपर शरीरमें प्रवृत्ति दीखती है और उसके अभावमें नहीं दीखती। चार्वाकोंके मतमें भी चेतन देह ही अचेतन

रत्नप्रभा

इत्यर्थः । देहान्यात्मनः प्रत्यक्षत्वे भ्रमासम्भवात् इति भावः । दर्शनात्, प्रवृत्ति-चैतन्ययोः इति शेषः । प्रवृत्तिं प्रत्याश्रयत्वमचेतनस्यैव इति उक्तमङ्गीकृत्य चेतनस्य प्रयोजकत्वं सिद्धान्ती साधयति—तदभिधीयते इति । रथादिप्रवृत्तौ अश्वादिचेत-नस्य अन्वयव्यतिरेकौ स्फुटौ, ताभ्यां चेतनस्य प्रवर्तकत्वं बाह्यानामपि सम्मतम्

रत्नप्रभाका अनुवाद

आत्माके प्रत्यक्ष होनेसे ही। देहसे अन्य आत्मा प्रत्यक्ष हो तो चार्वाकके भ्रमका असंभव हो जायगा ऐसा अभिप्राय है। 'दर्शनात्'के पीछे चैतन्य और प्रवृत्तिका इतना शेष समझना चाहिए। अचेतन ही प्रवृत्ति का आश्रय है इस सांख्योक्त पक्षका अंगीकार करके चेतन प्रवर्तक है ऐसा सिद्धान्त करते हैं—"तदभिधीयते" इत्यादिसे। रथ आदिकी प्रवृत्तिमें अश्व आदि चेतनका अन्वय और व्यतिरेक स्पष्ट है और इस अन्वय व्यतिरेकसे चेतन प्रवर्तक है

भाष्य

चेतनस्य प्रवर्तकत्वम् । ननु तव देहादिसंयुक्तस्याऽप्यात्मनो विज्ञान-स्वरूपमात्रव्यतिरेकेण प्रवृत्त्यनुपपत्तेरप्रवर्तकत्वमिति चेत्, न; अयस्कान्तवद् रूपादिवच्च प्रवृत्तिरहितस्यापि प्रवर्तकत्वोपपत्तेः। यथाऽयस्कान्तो मणिः स्वयं प्रवृत्तिरहितोऽप्ययसः प्रवर्तको भवति, यथा वा रूपादयो विषयाः स्वयं प्रवृत्तिरहिता अपि चक्षुरादीनां प्रवर्तका भवन्ति, एवं प्रवृत्तिरहितोऽपीश्वरः सर्वगतः सर्वात्मा सर्वज्ञः सर्वशक्तिश्च सन् सर्वं प्रवर्तयेदित्युपपन्नम्। एकत्वात् प्रवर्त्याभावे प्रवर्तकत्वानुपपत्तिरिति चेत्, न;

भाष्यका अनुवाद

रथ आदिका प्रवर्तक माना गया है, इसलिए चेतनके प्रवर्तक होनेमें कोई विरोध नहीं है। परन्तु तुम्हारे मतमें देहसे संयुक्त भी आत्मा की विज्ञानस्वरूप-मात्रसे अतिरिक्त प्रवृत्तिके अनुपपन्न होनेसे प्रवर्त्तकत्व भी अनुपपन्न है ऐसा यदि कहो, तो ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि लोहचुम्बकके और रूप आदिके समान प्रवृत्तिरहित पदार्थोंमें भी प्रवर्त्तकता देखी जाती है। जैसे लोहचुम्बक स्वयं प्रवृत्तिरहित होनेपर भी लोहेका प्रवर्त्तक होता है अथवा जैसे रूप आदि विषय स्वयं प्रवृत्तिरहित होनेपर भी नेत्र आदिके प्रवर्त्तक होते हैं। इसी प्रकार प्रवृत्तिरहित होता हुआ भी ईश्वर, सर्वव्यापक, सर्वात्मा, सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् होनेसे सबको प्रवृत्त करे, यह युक्त है। एकत्वके कारण प्रवर्त्यका अभाव होनेसे

रत्नप्रभा

इत्याह—लौकायतिकानामपीति। यः प्रवर्तकः स स्वयं प्रवृत्तिमान् अश्वादिवदिति व्याप्तेः आत्मनि व्यापकाभावात् न प्रवर्तकत्वमिति कश्चित् शङ्कते—नन्विति। मण्यादौ व्यभिचारात् न व्याप्तिरिति परिहरति—नेति। वस्तुतः एकत्वेऽपि कल्पितं द्वैतं प्रवर्त्यम् अस्तीत्याह—नाविद्येति। अविद्यया कल्पिते नामरूपप्रपञ्चे

रत्नप्रभाका अनुवाद

ऐसा वाक्य—चार्वाकोंको भी अभीष्ट है, ऐसा कहते हैं—"लौकायतिकानाम्" इत्यादिसे। जो प्रवर्तक है वह स्वरूपसे प्रवृत्तिमान् है, अश्व आदिके समान, ऐसी व्याप्ति होनेसे आत्माके व्यापक न होनेके कारण आत्मा प्रवर्तक नहीं है ऐसी कोई शङ्का करता है—"ननु" इत्यादिसे। अयस्कान्तमणि आदिमें व्यभिचार है, अतः जो प्रवर्तक है, वह स्वरूपसे प्रवृत्तिमान् है ऐसी व्याप्ति नहीं है इस प्रकार शंका का परिहार करते हैं—"न" इत्यादि। वास्तवमें एकता होनेपर भी कल्पितद्वैत प्रवर्त्य है ऐसा कहते हैं—"न" इत्यादिसे। "अविद्या" अविद्या

भाष्य

अविद्याप्रत्युपस्थापितनामरूपमायावेशवशेनाऽसकृत् प्रत्युक्तत्वात् । तस्मात् संभवति प्रवृत्तिः सर्वज्ञकारणत्वे न त्वचेतनकारणत्वे ॥ २ ॥

भाष्यका अनुवाद

प्रवर्तकत्व अनुपपन्न है, ऐसा यदि कहो, तो यह नहीं कह सकते, क्योंकि अविद्यासे कल्पित नामरूपात्मक मायाके आवेशके बलसे उसमें ईश्वरभाव उपपन्न है। ऐसा अनेक बार निराकरण किया जा चुका है। इसलिए सर्वज्ञको कारण माननेमें प्रवृत्तिकी उपपत्ति हो सकती है, परन्तु अचेतनको कारण माननेमें नहीं हो सकती ॥ २ ॥

रत्नप्रभा

तयैव अविद्यारूपया मायया य आवेशः चिदात्मनः कल्पितः सम्बन्धः तस्य वशः सामर्थ्यं तेन अन्तर्यामित्वादिकमीश्वरस्य इत्युक्तत्वात् न चोद्यावसर इत्यर्थः ॥२॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

से कल्पित नामरूप प्रपञ्चमें उस अविद्यारूप मायासे जो आवेश—चिदात्माका काल्पित सम्बन्ध है, उसकी सामर्थ्यसे ईश्वरमें अन्तर्यामित्व आदि युक्त है, अतः आक्षेपका अवसर नहीं है ऐसा अर्थ है ॥ २ ॥

पयोऽम्बुवच्चेत्तत्रापि ॥ ३ ॥

पदच्छेद—पयोम्बुवत्, च, तत्र, अपि ।

पदार्थोक्ति—पयोम्बुवत्—यथा क्षीरं वत्सविवृद्ध्ये प्रवर्तते, यथा च जलं स्वयमेव स्यन्दते तद्वत् प्रधानमपि स्वयमेव प्रवर्तते इति चेत्, [न] तत्रापि—पयोऽम्बुनोश्च [परमात्मैव प्रेरकः श्रूयते, 'योऽप्सुतिष्ठन्' इत्यादिश्रुतेः, अत एव न प्रधानं जगत्कारणम्]।

भाषार्थ—जैसे दूध बछड़ेके पोषणके लिए स्वयं प्रवृत्त होता है और जैसे जल स्वयं बहता है, उसी प्रकार प्रधान भी स्वयं प्रवृत्त होता है ऐसा यदि कहो, तो ऐसा नहीं कह सकते क्योंकि 'योऽप्सु तिष्ठन्' (जो जलमें रहता हुआ) इत्यादि श्रुतियोंसे प्रतीत होता है कि जल आदिमें भी परमात्माही प्रेरक है। इसलिए प्रधान जगत्का कारण नहीं है।

भाष्य

स्यादेतत्, यथा क्षीरमचेतनं स्वभावेनैव वत्सविवृद्ध्यर्थं प्रवर्तते, यथा च जलमचेतनं स्वभावेनैव लोकोपकाराय स्यन्दत एवं प्रधानमचेतनं स्वभावेनैव पुरुषार्थसिद्धये प्रवर्तिष्यत इति।

नैतत् साधूच्यते। यतस्तत्रापि पयोम्बुनोश्चेतनाधिष्ठितयोरेव प्रवृत्तिरित्यनुमिमीमहे, उभयवादिप्रसिद्धे रथादावचेतने केवले प्रवृत्त्यदर्शनात्। शास्त्रं च 'योऽप्सु तिष्ठन्' 'योऽपोऽन्तरो यमयति' (बृ० ३।७।४) 'एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि प्राच्योऽन्या नद्यः स्यन्दन्ते' (बृ० ३।८।९) इत्येवंजातीयकं समस्तस्य लोकपरिस्पन्दितस्येश्वराधिष्ठिततां श्रावयति, तस्मात् साध्यपक्षनिक्षिप्तत्वात् पयोऽम्बुवदित्यनुपन्यासः।

भाष्यका अनुवाद

पूर्वपक्षी— ठीक है, जैसे अचेतन दूध स्वभावसे ही बछड़ेकी विवृद्धिके लिए प्रवृत्त होता है और जैसे अचेतन जल स्वभावसे ही लोकोंके उपकारके लिए बहता है, वैसे ही अचेतन प्रधानकी भी स्वभावसे ही पुरुषार्थकी सिद्धिके लिए प्रवृत्ति हो सकती है ?

सिद्धान्ती—नहीं, यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि उन—दूध और जलमें भी चेतनसे अधिष्ठित होकर ही प्रवृत्ति होती है, ऐसा हम अनुमान करते हैं, क्योंकि दोनों वादियोंसे सम्मत रथ आदि केवल—चेतनसे अनधिष्ठित अचेतनोंमें प्रवृत्ति नहीं दीखती। 'योऽप्सु तिष्ठन्' (जो जलमें रहता हुआ) 'योऽपोऽन्तरो यमयति' (जो जलमें रहनेवाली देवताका नियमन करता है) 'एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने०' (हे गार्गि, इस अविनाशीके प्रशासनमें पूर्वदिशाकी तरफकी अन्य नदियां बहती हैं) इत्यादि श्रुतियां ईश्वर समस्त लोकचेष्टितका अधिष्ठाता है, ऐसा कहती हैं। इसलिए साध्यवान् पक्षमें प्रविष्ट होनेसे 'पयोऽम्बुवत्'

रत्नप्रभा

अनादिजडस्य प्रवृत्तिः चेतनाधीना, प्रवृत्तित्वात्, रथादिप्रवृत्तिवत्, इति स्थितम्, तत्र क्षीरादौ व्यभिचारम् आशङ्क्य तस्यापि पक्षसमत्वेन उक्तानुमानात् आगमेन च साध्यसिद्धेः न व्यभिचार इति सूत्रं व्याचष्टे—स्यादेदितत्यादिना।

रत्नप्रभाका अनुवाद

अनादि जड़की प्रवृत्ति चेतनके अधीन है, प्रवृत्ति होनेसे, रथ आदिकी प्रवृत्तिके समान, ऐसी स्थिति है। उसमें दूध आदिमें व्यभिचारकी शङ्का करके उसके भी पक्षसम होनेसे उक्त अनुमान और आगमसे साध्यके सिद्ध होनेसे व्यभिचार नहीं है, ऐसा सूत्रका व्याख्यान करते

भाष्य

चेतनायाश्च धेन्वाः स्नेहेच्छया पयसः प्रवर्तकत्वोपपत्तेः, वत्सचोषणेन च पयस आकृष्यमाणत्वात् । न चाऽम्बुनोऽप्यत्यन्तमनपेक्षा, निम्नभूम्याद्यपेक्षत्वात् स्यन्दनस्य । चेतनापेक्षत्वं तु सर्वत्रोपदर्शितम् । 'उपसंहारदर्शनान्नेति चेन्न क्षीरवद्धि' (ब्र० सू० २।१।२४) इत्यत्र तु बाह्यनिमित्तनिरपेक्षमपि स्वाश्रयं कार्यं भवतीत्येतल्लोकदृष्ट्या निदर्शितम् । शास्त्रदृष्ट्या तु पुनः सर्वत्रैवेश्वरापेक्षत्वमापद्यमानं न पराणुद्यते ॥३॥

भाष्यका अनुवाद

(दूध और जलके समान) यह व्यभिचार स्थल नहीं है । और चेतन धेनुकी स्नेहेच्छासे दूध प्रवृत्त हो सकता है और बछड़ेके चूसनेसे दूध खिंच जाता है । और जलके बहनेमें किसीकी अपेक्षा नहीं है, ऐसा नहीं है, क्योंकि उसे बहनेके लिए नीची भूमि आदिकी अपेक्षा है । चेतनकी अपेक्षा तो सर्वत्र दिखलाई गई है । 'उपसंहारदर्शनान्नेति चेन्न क्षीरवद्धि' इस सूत्रमें तो बाह्य निमित्तकी अपेक्षाके विना भी स्वाश्रय कार्य होता है, ऐसा लोकदृष्टिसे दिखलाया गया है । शास्त्रदृष्टिसे तो सर्वत्र ईश्वरकी अपेक्षा होती है, इसका अपलाप नहीं किया जाता ॥ ३ ॥

रत्नप्रभा

साध्यपक्षेति । साध्यवता पक्षेण तुल्यत्वाद् इत्यर्थः । अनुपन्यासो—न व्यभिचारभूमिरिति यावत् । क्षीरे प्रवर्तकत्वेन धेन्वादेः सत्त्वाच्च न व्यभिचार इत्याह—चेतनायाश्चेति । उपर्शितम् अनुमानागमाभ्याम् इति शेषः । सूत्रकारस्य "क्षीरवद्धि" (ब्र० सू० २।१।२४) "तत्रापि" इति च वक्तुः पूर्वापरविरोधम् आशङ्क्य लोकदृष्ट्या शास्त्रदृष्ट्या च सूत्रद्वयमिति अविरोधमाह—उपसंहारेति॥३॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

है—"स्यादेतत्" इत्यादिसे । "साध्यपक्ष" इत्यादि । साध्यवाले पक्षके समान होनेसे, यह अर्थ है । "अनुपन्यासः"—व्यभिचारस्थल नहीं है, यह तात्पर्य है । और दूधमें धेनु आदिके प्रवर्त्तक होनेसे व्यभिचार नहीं है, ऐसा कहते हैं—"चेतनायाश्च" इत्यादिसे । "उपदर्शितम्"—शास्त्र और अनुमानसे इतना शेष है । "उपसंहारदर्शनान्नेति चेन्न क्षीरवद्धि" इसमें दधि आदिके रूपमें दूध परिणत होता है, उसमें बाह्य साधनकी अपेक्षा नहीं है, ऐसा कहा गया है और यहाँ तो कार्यमात्रसे उपादान स्वरूपसे बहिर्भूत अधिष्ठाताकी अपेक्षा है, ऐसा कहा गया है, इस प्रकार पूर्वापरविरोधकी आशंका करके लोकदृष्टिसे और शास्त्रदृष्टिसे ये दो सूत्र हैं, इसलिए अविरोध है, इस प्रकार शङ्काका समाधान करते हैं—"उपसंहार" इत्यादिसे ॥ ३ ॥

व्यतिरेकानवस्थितेश्चानपेक्षत्वात् ॥ ४ ॥

पदच्छेद—व्यतिरेकानवस्थितेः, च, अनपेक्षत्वात् ।

पदार्थोक्ति—च–अपि व्यतिरेकानवस्थितेः—साङ्ख्यमते गुणाः साम्येनावस्थिताः प्रधानं तद्व्यतिरेकेण सहकार्यन्तरस्यानवस्थितेः, अनपेक्षत्वात्—पुरुषस्य तु असंगोदासीनत्वेन प्रवृत्तौ निवृत्तौ वानपेक्षत्वाभ्युपगमात् [न प्रधानं जगत्कारणम्] ।

भाषार्थ—और सांख्यमतमें साम्यावस्थापन्न गुण ही प्रधान हैं उनसे अतिरिक्त कर्म आदि कोई सहकारी न होने और पुरुषके असंग तथा उदासीन होनेके कारण प्रवृत्ति या निवृत्तिमें अपेक्षाका स्वीकार न होनेसे अचेतन प्रधान जगत्कारण नहीं हो सकता ।

भाष्य

साङ्ख्यानां त्रयो गुणाः साम्येनावतिष्ठमानाः प्रधानम्, न तु तद्व्यतिरेकेण प्रधानस्य प्रवर्तकं निवर्तकं वा किंचिद् बाह्यमपेक्ष्यमवस्थितमस्ति, पुरुषस्तूदासीनो न प्रवर्तको न निवर्तक इत्यतोऽनपेक्षं प्रधानम्, अनपेक्षत्वाच्च कदाचित् प्रधानं महदाद्याकारेण परिणमते कदाचिन्न परिणमत

भाष्यका अनुवाद

सांख्योंके मतमें साम्यावस्थापन्न तीन गुण प्रधान हैं, परन्तु उनसे भिन्न प्रधानका प्रवर्त्तक या निवर्तक कुछ बाह्य अपेक्षणीय नहीं है, और पुरुष उदासीन है प्रवर्त्तक या निवर्त्तक नहीं है, इसलिए प्रधान अपेक्षारहित है और अपेक्षारहित होनेसे कभी प्रधान महद् आदि आकारोंमें परिणत होगा और कभी न होगा,

---

रत्नप्रभा

अस्तु प्रधानस्य अपि धर्मादि कर्म पुरुषो वा प्रवर्तकः इति आशङ्क्य सूत्रं प्रवृत्तम्, तद्व्याचष्टे–**सांख्यानामित्यादिना** । प्रधानव्यतिरेकेण कर्मणः अनवस्थितेः पुरुषस्य उदासीनत्वात् कदाचित् सृष्टिप्रवृत्तिः कदाचित् प्रलय इत्ययुक्तमित्यर्थः । कर्मणोऽपि प्रधानात्मकस्य अचेतनत्वात् सदासत्वाच्च, न कादाचित्कप्रवृत्तिनियामकत्वम् इति भावः ॥ ४ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

धर्म आदि कर्म या पुरुष प्रधानका प्रवर्तक हो, इस आशंकाको दूर करनेके लिए यह सूत्र प्रवृत्त हुआ है । उसका व्याख्यान करते हैं—"सांख्यानाम्" इत्यादिसे । प्रधानसे अतिरिक्त कर्मकी अवस्थिति नहीं है, और पुरुष उदासीन है इसलिए प्रधानकी कभी सृष्टिप्रवृत्ति हो और कभी प्रलय हो, यह संभव नहीं है, ऐसा अर्थ है और कर्म भी प्रधानात्मक होनेसे अचेतन है और सदा वर्तमान है, इससे वह कादाचित्क प्रवृत्तिका नियामक नहीं हो सकता, ऐसा तात्पर्य है ॥४॥

भाष्य

इत्येतदयुक्तम् । ईश्वरस्य तु सर्वज्ञत्वात् सर्वशक्तित्वान्महामायत्वाच्च प्रवृत्त्य-प्रवृत्ती न विरुध्येते ॥ ४ ॥

भाष्यका अनुवाद

यह अयुक्त है। ईश्वर तो सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् और महामायासे युक्त है, इस कारण उसकी प्रवृत्ति और निवृत्तिमें कोई विरोध नहीं होता ॥ ४ ॥

अन्यत्राभावाच्च न तृणादिवत् ॥ ५ ॥

पदच्छेद—अन्यत्र, अभावात्, च, न, तृणादिवत् ।

पदार्थोक्ति—च—अपि, तृणादिवत्—यथा तृणादिकं निमित्तान्तरनिरपेक्ष-मेव क्षीररूपेण परिणमते तथैव प्रधानस्यापि परिणामोऽस्तु [इति चेत्] न, [कुतः] अन्यत्राभावात्—धेन्वादेरन्यत्र बलीवर्दादौ तृणादेः क्षीरभावस्य अभावात् [अतस्तृणादेः क्षीरीभावेऽस्ति निमित्तम्] ।

भाषार्थ—और जैसे तृण आदि अन्य निमित्तोंकी अपेक्षाके बिना ही दूधके रूपमें परिणत होते हैं, वैसे ही बिना किसी निमित्तकी अपेक्षाके प्रधानका भी परिणाम होता है ऐसा यदि कहो, तो ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि गाय आदि को छोड़कर बैल आदिमें तृण आदिका दूधके रूपमें परिणत होना नहीं देखा जाता, अतएव तृण आदिके दूध होनेमें निमित्त अवश्य है ।

भाष्य

स्यादेतत्, यथा तृणपल्लवोदकादि निमित्तान्तरनिरपेक्षं स्वभावादेव क्षीराद्याकारेण परिणमत एवं प्रधानमपि महदाद्याकारेण परिणंस्यते इति ।

भाष्यका अनुवाद

पूर्वपक्षी—जैसे तृण, पल्लव, जल आदि अन्य निमित्तकी अपेक्षाके बिना स्वभावसे ही दूध आदिके रूपमें परिणत हो जाते हैं, वैसे ही प्रधान भी महद्

रत्नप्रभा

पुनरपि दृष्टान्तबलात् प्रधानस्य स्वत एव कादाचित्कप्रवृत्तिः इत्याशङ्क्य निषेधति सूत्रकारः—अन्यत्रेत्यादिना । पृच्छति—कथमिति । उत्तरं—

रत्नप्रभाका अनुवाद

और प्रधान अपने आप ही कभी प्रवृत्त होता है, दृष्टान्तबलसे पुनः ऐसी शंका करके सूत्रकार उसका निषेध करते हैं—"अन्यत्र" इत्यादिसे । पूछते हैं—"कथम्" इत्यादिसे । उत्तर कहते

भाष्य

कथं च निमित्तान्तरनिरपेक्षं तृणादीति गम्यते? निमित्तान्तरानुपलम्भात्। यदि हि किंचिन्निमित्तमुपलभेमहि ततो यथाकामं तेन तृणाद्युपादाय क्षीरं संपादयेमहि, न तु संपादयामहे। तस्मात् स्वाभाविकस्तृणादेः परिणामस्तथा प्रधानस्यापि स्यादिति।

अत्रोच्यते—भवेत् तृणादिवत् स्वाभाविकः प्रधानस्यापि परिणामो यदि तृणादेरपि स्वाभाविकः परिणामोऽभ्युपगम्येत, न त्वभ्युपगम्यते, निमित्तान्तरोपलब्धेः। कथं निमित्तान्तरोपलब्धिः? अन्यत्राभावात्, धेन्वैव ह्युपभुक्तं तृणादि क्षीरीभवति न प्रहीणमनडुहाद्युपभुक्तं वा। यदि हि निर्नि-

भाष्यका अनुवाद

आदिके रूपमें परिणत हो जायगा। और तृण आदि अन्य निमित्तकी अपेक्षा नहीं रखते, यह कैसे जानते हो? इससे कि अन्य निमित्तका दर्शन नहीं होता। यदि हम अन्य निमित्त प्राप्त कर सकते तो उसके द्वारा इच्छानुसार तृण आदि लेकर दूध आदिका सम्पादन कर सकते, परन्तु हम सम्पादन नहीं कर सकते, इसलिए तृण आदिका परिणाम स्वाभाविक है, उसी प्रकार प्रधान का भी परिणाम हो?

सिद्धान्ती—इसपर कहते हैं—यदि तृण आदिका स्वाभाविक परिणाम भी माना जाता, तो तृण आदिके समान प्रधानका भी स्वाभाविक परिणाम माना जाता। परन्तु तृण आदिका स्वाभाविक परिणाम नहीं माना जाता, क्योंकि अन्य निमित्त उपलब्ध है। अन्य निमित्त किस प्रकार उपलब्ध है? क्योंकि अन्यत्र अभाव है, कारण कि धेनुसे ही उपभुक्त तृण आदि दूधके रूपमें परिणत होते हैं, नष्ट हुए या बैल आदिसे उपभुक्त तृण दूधके रूपमें परिणत नहीं होते।

रत्नप्रभा

निमित्तान्तरेति। धेन्वादि निमित्तान्तरम् अस्तीति सिद्धान्तयति—अत्रोच्यत इति। प्रहीणं— नष्टम्। यदुक्तम्—क्षीरस्य स्वेच्छया सम्पादयितुम् अशक्यत्वात् स्वाभाविकत्वमिति तत्राह—न च यथाकाममिति॥ ५॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

हैं—"निमितान्तर" इत्यादिसे। धेनु आदि अन्य निमित्त हैं, ऐसा सिद्धान्त कहते हैं— "अत्रोच्यते" इत्यादिसे। प्रहीण—नष्ट। दूध स्वेच्छासे बनाया नहीं जा सकता इससे स्वाभाविक है, यह जो कहा है, उसपर कहते हैं—"न च यथाकामम्" इत्यादि॥ ५॥

भाष्य

मित्तमेतत् स्याद्धेनुशरीरसम्बन्धादन्यत्रापि तृणादि क्षीरीभवेत्। न च यथाकामं मानुषैर्न शक्यं सम्पादयितुमित्येतावता निर्निमित्तं भवति। भवति हि किंचित्कार्यं मानुषसम्पाद्यं किंचिद्दैवसम्पाद्यम्। मनुष्या अपि शक्नुवन्त्येवोचितेनोपायेन तृणाद्युपादाय क्षीरं सम्पादयितुम्, प्रभूतं हि क्षीरं कामयमानाः प्रभूतं घासं धेनुं चारयन्ति, ततश्च प्रभूतं क्षीरं लभन्ते। तस्मान्न तृणादिवत्स्वाभाविकः प्रधानस्य परिणामः॥ ५॥

भाष्यका अनुवाद

यदि इसमें कोई निमित्त न हो, तो धेनुके शरीरसंबन्धसे अन्यत्र भी तृण आदि दूध बन जायँ[1]। और मनुष्य अपनी इच्छानुसार उसको बना नहीं सकते, इतनेसे ही दूध निमित्तरहित नहीं होता, क्योंकि कितने ही कार्य मनुष्यसे सम्पादन किये जा सकते हैं और कितने ही दैवसे। मनुष्य भी उचित उपायसे तृण आदिका ग्रहणकरके दूधका सम्पादन कर ही सकते हैं, क्योंकि पुष्कल दूधकी कामनावाले पुरुष धेनुको पुष्कल घास चराते हैं और उससे पुष्कल दूध प्राप्त करते हैं। इसलिए तृण आदिके समान प्रधानका परिणाम स्वाभाविक नहीं है॥ ५॥

अभ्युपगमेऽप्यर्थाभावात्॥ ६॥

पदच्छेद—अभ्युगमे, अपि, अर्थाभावात्।

पदार्थोक्ति—अभ्युपगमेऽपि—प्रधानस्य स्वतः प्रवृत्त्यभ्युपगमेऽपि अर्थाभावात्—प्रयोजनाभावात्, [दोषस्तदवस्थः]।

भाषार्थ—प्रधानकी स्वतः प्रवृत्ति माननेपर भी प्रवृत्तिका कोई प्रयोजन न होनेसे दोष ज्योंका त्यों है।

---

(१) धेनुसे उपभुक्त तृण, पल्लव आदि स्वभावसे ही—चेतनकी अपेक्षाके बिना ही जैसे दूधभावमें परिणत होते हैं उसमें धेनुके चैतन्यकी अपेक्षा नहीं है, केवल उपयोगमें धेनुकी अपेक्षा है, वैसेही प्रधान भी स्वभावसे ही परिणत होगा चेतनका क्या प्रयोजन है? यह शंकाका तात्पर्य है। धेनुसे उपभुक्त तृण आदि दूधरूपमें परिणत होते हैं इसमें निमित्तमात्रका निषेध करते हैं या चेतन निमित्त का? निमित्त मात्रका निषेध तो नहीं हो सकता, क्योंकि धेनुकी देहमें रहनेवाली जाठराग्नि आदि निमित्तान्तरका संभव है। बुद्धिपूर्वक कार्य करनेवाला तो सर्वज्ञ ईश्वर वहाँ भी निमित्त है ऐसा परिहारका तात्पर्य है।

भाष्य

स्वाभाविकी प्रधानप्रवृत्तिर्न भवतीति स्थापितम्, अथापि नाम भवतः श्रद्धामनुरुध्यमानाः स्वाभाविकीमेव प्रधानस्य प्रवृत्तिमभ्युपगच्छेम तथापि दोषोऽनुषज्येतैव । कुतः ? अर्थाभावात् । यदि तावत् स्वाभाविकी प्रधानस्य प्रवृत्तिर्न किंचिदन्यदिहापेक्षत इत्युच्यते ततो यथैव सहकारि किंचिन्नापेक्षत एवं प्रयोजनमपि किंचिन्नापेक्षिष्यते, इत्यतः प्रधानं पुरुषस्यार्थं साधयितुं प्रवर्तत इतीयं प्रतिज्ञा हीयेत । स यदि ब्रूयात् सहकार्येव केवलं नापेक्षते न प्रयोजनमपीति, तथापि प्रधानप्रवृत्तेः प्रयोजनं विवेक्तव्यं भोगो वा स्या-

भाष्यका अनुवाद

प्रधानकी स्वाभाविक प्रवृत्ति नहीं होती, ऐसा स्थिर किया जा चुका है। परन्तु आपकी श्रद्धाके अनुसार हम प्रधानकी स्वाभाविक प्रवृत्ति मान भी लें, तो भी दोष आता है। किससे ? प्रयोजनका अभाव होनेसे। यदि प्रधानकी प्रवृत्ति स्वाभाविक है और उस प्रवृत्तिमें दूसरे किसीकी अपेक्षा नहीं है ऐसा कहो तो जिस प्रकार प्रधानको किसी सहकारीकी अपेक्षा नहीं है, उसी प्रकार किसी प्रयोजनकी भी अपेक्षा नहीं होगी, ऐसी अवस्थामें प्रधान पुरुषके भोग तथा मोक्षरूप अर्थकी सिद्धिके लिए प्रवृत्त होता है, इस प्रतिज्ञाकी हानि होगी। यदि वह ऐसा कहे कि प्रधान केवल सहकारीकी ही अपेक्षा नहीं रखता है, प्रयोजनकी अपेक्षा तो रखता ही है, तो भी प्रधानकी प्रवृत्तिके प्रयोजनका

रत्नप्रभा

अभ्युपगमेऽप्यर्थेति । प्रधानस्य न स्वतः प्रवृत्तिः, स्वतः प्रवृत्त्यभ्युपगमे पुरुषार्थस्य अपि अपेक्षाभावप्रसंगात् इति एकः अर्थः । तत्र इष्टापत्तिं निरस्यति— इत्यतः प्रधानमिति । उक्तप्रसंगस्य इष्टत्वे प्रतिज्ञाहानिः स्यात् इति अर्थः । अर्थासम्भवात् न स्वतः प्रवृत्तिः इति अर्थान्तरं शङ्कापूर्वकम् आह—स यदीत्या-

रत्नप्रभाका अनुवाद

"अभ्युपगमेऽप्यर्थे"। प्रधानकी स्वतः प्रवृत्ति नहीं है, यदि स्वतः प्रवृत्ति मानें, तो पुरुषार्थकी अपेक्षाके अभावका प्रसंग आवेगा, ऐसा एक अर्थ है, उसमें इष्टापत्तिका निरसन करते हैं—"इत्यतः प्रधानम्" इत्यादिसे। जो प्रसंग कहा, उसको इष्ट मानें, तो प्रतिज्ञाकी हानि होगी, ऐसा अर्थ है। 'पुरुषार्थाभावात्'का पुरुषार्थके असम्भवसे स्वतः प्रवृत्ति नहीं है, ऐसा दूसरा अर्थ शङ्कापूर्वक कहते हैं—"स यदि" इत्यादिसे। यदि प्रयोजनकी अपेक्षा हो,

भाष्य

दपवर्गो वोभयं वेति। भोगश्चेत् कीदृशोऽनाधेयातिशयस्य पुरुषस्य भोगो भवेत्, अनिर्मोक्षप्रसङ्गश्च। अपवर्गश्चेत् प्रागपि प्रवृत्तेरपवर्गस्य सिद्धत्वात् प्रवृत्तिरनर्थिका स्यात्, शब्दाद्यनुपलब्धिप्रसङ्गश्च। उभयार्थताभ्युपगमेऽपि भोक्तव्यानां प्रधानमात्राणामानन्त्यादनिर्मोक्षप्रसङ्ग एव। न चौत्सुक्य-निवृत्त्यर्था प्रवृत्तिः, नहि प्रधानस्याऽचेतनस्यौत्सुक्यं सम्भवति। न च पुरुष-

भाष्यका अनुवाद

विवेचन करना चाहिये कि भोग उसकी प्रवृत्तिका प्रयोजक है या अपवर्ग है अथवा भोग और मोक्ष दोनों हैं। यदि पुरुषका प्रवृत्तिमें भोग प्रयोजक हो तो सुख आदि अतिशयरहित पुरुषका भोग किस प्रकार होगा? और पुरुषके मोक्ष-का अभाव भी मानना पड़ेगा। यदि मोक्ष प्रयोजन हो, तो प्रवृत्तिके पूर्वमें भी मोक्षके सिद्ध होनेसे प्रवृत्ति निरर्थक हो जायगी और शब्द आदिकी अनुपलब्धिका प्रसंग आवेगा। प्रधानकी प्रवृत्ति भोग और अपवर्ग दोनोंके लिए है, ऐसा मानें, तो भी भोगयोग्य पदार्थों—प्रधानमात्राओंके अनन्त होनेसे मोक्षके ही अभावका प्रसंग आवेगा। औत्सुक्यनिवृत्ति करनेके लिए प्रवृत्ति है, ऐसा नहीं कहा जा सकता,

---

रत्नप्रभा

दिना। प्रयोजनम् अपेक्षितं चेद् वक्तव्यम् इति आह—तथापीति। कूटस्थे पुरुषे स्वतः सुखादिरूपस्य अतिशयस्य आधातुम् अशक्यत्वात् अध्यासानङ्गीका-राच्च भोगो न युक्तः। किञ्च, प्रधानप्रवृत्तेर्भोगार्थत्वे मोक्षहेतुविवेकख्यात्यभावादनिर्मो-क्षप्रसङ्गश्च, अपवर्गार्थत्वे स्वरूपावस्थानरूपमुक्तेः स्वतः सिद्धत्वात् प्रवृत्तिवैयर्थ्यम्, भोगाभावप्रसंगश्चेत्यर्थः। तृतीयं दूषयति—उभयार्थतेति। मीयन्ते भुज्यन्ते इति मात्राः—भोग्याः।

रत्नप्रभाका अनुवाद

तो वह कहना चाहिए, इसपर कहते हैं—"तथापि" इत्यादिसे। कूटस्थ नित्य पुरुषमें सुख आदि अतिशय का स्वतः आधान नहीं हो सकता और अध्यास का अङ्गीकार न होनेसे भोग युक्त नहीं है। [भोग सुखदुःख साक्षात्काररूप धर्म है, असंग पुरुषमें उसका सम्भव नहीं है।] और प्रधानप्रवृत्ति भोगार्थक मानें, तो प्रकृति पुरुषके विवेक ज्ञानके अभावसे अनिर्मोक्ष प्रसङ्ग आवेगा। यदि प्रधानप्रवृत्ति अपवर्गनिमित्तक है, ऐसा मानें तो स्वरूपावस्थानरूप मुक्तिके स्वतः सिद्ध होनेसे प्रवृत्ति व्यर्थ होगी और भोगके अभावका प्रसंग आवेगा, ऐसा अर्थ है। तीसरे प्रयोजनका निरसन करते हैं—"उभयार्थता" इत्यादिसे। मात्रा—मीयन्ते भुज्यन्ते इति

भाष्य

स्य निर्मलस्य निष्कलस्यौत्सुक्यम्। दृक्शक्तिसर्गशक्तिवयर्थ्यभयाच्चेत्प्रवृत्तिः, तर्हि दृक्शक्त्यनुच्छेदवत् सर्गशक्त्यनुच्छेदात् संसारानुच्छेदादनिर्मोक्षप्रसङ्ग एव। तस्मात् प्रधानस्य पुरुषार्था प्रवृत्तिरित्येतदयुक्तम् ॥ ६ ॥

भाष्यका अनुवाद

क्योंकि अचेतन प्रधानमें औत्सुक्य—इच्छाका सम्भव नहीं है, इसी प्रकार निर्मल एवं निष्कल पुरुषमें भी औत्सुक्य नहीं हो सकता है। प्रधानमें सर्गशक्ति और पुरुषमें दृक्शक्तिकी सार्थकताके लिए यदि प्रवृत्तिका स्वीकार करो, तो जैसे पुरुषकी दृक्शक्ति नित्य है, वैसे ही सर्गशक्तिके नित्य होनेसे तथा संसारका विनाश न होनेसे मोक्षका अभाव मानना पड़ेगा। इसलिए प्रधानकी प्रवृत्ति पुरुषके प्रयोजनके निमित्त है, यह कथन अयुक्त है ॥ ६ ॥

रत्नप्रभा

'औत्सुक्यनिवृत्त्यर्थं यथा क्रियासु प्रवर्तते लोकः।
पुरुषस्य विमोक्षार्थं प्रवर्तते तद्वदव्यक्तम्' ॥ (सां०का०श्लो० ५८)

इति कारिकोक्तं दूषयति—न चेति। औत्सुक्यम्—इच्छाविशेषः, केवलजडस्य आत्मनो वा न युक्त इत्यर्थः। अस्ति पुरुषस्य दृक्शक्तिः चिद्रूपत्वात्, अस्ति च प्रधानस्य सर्गशक्तिः त्रिगुणत्वात्, तयोः शक्त्योर्दृश्यसृष्टिं विना सार्थक्यायोगात् प्रधानस्य सृष्टौ प्रवृत्तिरिति चेत्। न शक्त्योर्नित्यत्वात् सृष्टिनित्यत्वापत्तिरित्याह—दृक्शक्तीति ॥ ६ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

मात्राः—जिसका भोग किया जाय वे मात्राएँ हैं, अर्थात् भोग्यपदार्थ "औत्सुक्यनिवृत्त्यर्थं यथा क्रियासु" (जैसे—औत्सुकी निवृत्तिके लिए लोक क्रियाओंमें प्रवृत्त होते हैं, वैसे ही पुरुषके मोक्षके लिए अव्यक्त—प्रधान प्रवृत्त होता है) इस कारिकामें कथित प्रवृत्तिके निमित्त को दूषित करते हैं—"न च" इत्यादिसे। औत्सुक्य-इच्छाविशेष। औत्सुक्य केवल जड़में या आत्मामें युक्त नहीं हैं, ऐसा अर्थ है। चिद्रूप होनेसे पुरुष में जो दृक्शक्ति है, वह दृश्य-सृष्टिके बिना निरर्थक हो जायगी, उसी प्रकार प्रधानमें जो सर्गशक्ति है, वह भी सृष्टिके बिना निरर्थक हो जायगी, अतः प्रधान की सृष्टिमें प्रवृत्ति है ऐसा यदि कहो तो ऐसा नहीं कह सकते, शक्तियोंके नित्य होनेसे सृष्टिको भी नित्य मानना पड़ेगा ऐसा कहते हैं—"दृक्शक्ति" इत्यादिसे ॥६॥

पुरुषाश्मवदिति चेत्तथापि ॥ ७ ॥

पदच्छेद—पुरुषाश्मवत्, इति, चेत्, तथापि ।

पदार्थोक्ति—पुरुषाश्मवत्—यथा लोके पङ्गुः पुरुषः स्वयमप्रवर्त्तमानोऽप्यन्यमन्धं प्रवृत्तिशक्तिमन्तं प्रवर्त्तयति, यथा वाऽयस्कान्तोऽश्मा सन्निधिमात्रेणाऽयः प्रवर्त्तयति [एवं पुरुषः प्रवर्तकः] इति, चेत्, तथापि—प्रधानस्य पुरुषप्रेर्यत्वेऽपि [स्वातन्त्र्याभ्युपगमविरोधः, पुरुषस्य प्रवर्त्तकत्वे कौटस्थ्यहानिरित्यादिदोषाणां तादवस्थ्यम्] ।

भाषार्थ—जैसे लोकमें लंगड़ा आदमी स्वयं चलने फिरने में असमर्थ होता हुआ भी गमनशक्तिसम्पन्न अन्धे आदमीको प्रवृत्त करता है और जैसे लोहचुम्बक सामीप्यमात्रसे लोहको प्रवृत्त करता है, उसी प्रकार पुरुष प्रधानका प्रवर्त्तक है यह यदि कहो तो प्रधानको पुरुष द्वारा संचालित होनेवाला मानने पर स्वीकृत प्रधानकी स्वतन्त्रताकी हानि और पुरुषकी असंगताकी हानि इत्यादि दोषोंसे छुटकारा नहीं होगा ।

भाष्य

स्यादेतत्, यथा कश्चित्पुरुषो दृक्शक्तिसंपन्नः प्रवृत्तिशक्तिविहीनः पङ्गुरपरं पुरुषं प्रवृत्तिशक्तिसंपन्नं दृक्शक्तिविहीनमन्धमधिष्ठाय प्रवर्तयति, यथा वाऽयस्कान्तोऽश्मा स्वयमप्रवर्तमानोऽप्ययः प्रवर्तयति, एवं पुरुषः प्रधानं प्रवर्तयिष्यतीति दृष्टान्तप्रत्ययेन पुनः प्रत्यवस्थानम् ।

भाष्यका अनुवाद

ऐसा हो सकता है। जैसे दर्शनशक्तिसम्पन्न किन्तु गमनशक्तिविहीन कोई पंगु पुरुष, गमनशक्तिसम्पन्न किन्तु दर्शनशक्तिरहित अन्य अन्ध पुरुषके कन्धेपर बैठकर उसे प्रवृत्त करता है और जैसे अयस्कान्तमणि—लोहचुम्बक स्वयं प्रवृत्त न होता हुआ भी लोहेको प्रवृत्त करता है, वैसे ही पुरुष प्रधानको प्रवृत्त करेगा, ऐसे दृष्टान्तबलसे सांख्य फिर खड़ा होता है। इसपर कहते हैं—तो

रत्नप्रभा

पुरुषस्य प्रवर्तकत्वं निरस्तमपि दृष्टान्तेन पुनराशङ्क्य निषेधति—पुरु-

रत्नप्रभाका अनुवाद

पुरुषके प्रवर्त्तकत्वका निरसन किया जा चुका है, तो भी दृष्टान्तसे फिर आशंका करके

भाष्य

अत्रोच्यते—तथापि नैव दोषान्निर्मोक्षोऽस्ति। अभ्युपेतहानं ताव-द्दोष आपतति प्रधानस्य स्वतन्त्रस्य प्रवृत्त्यभ्युपगमात्, पुरुषस्य च प्रवर्तकत्वानभ्युपगमात्। कथं चोदासीनः पुरुषः प्रधानं प्रवर्तयेत्। पङ्गु-रपि ह्यन्धं पुरुषं वागादिभिः प्रवर्तयति, नैवं पुरुषस्य कश्चिदपि प्रवर्तन-व्यापारोऽस्ति, निष्क्रियत्वान्निर्गुणत्वाच्च। नाऽप्ययस्कान्तवत् संनिधिमात्रेण प्रवर्तयेत्, संनिधिनित्यत्वेन प्रवृत्तिनित्यत्वप्रसङ्गात्। अयस्कान्तस्य त्वनित्य-संनिधेरस्ति स्वव्यापारः संनिधिः, परिमार्जनाद्यपेक्षा चाऽस्याऽस्तीत्यनुप-न्यासः पुरुषाश्मवदिति। तथा प्रधानस्याऽचैतन्यात् पुरुषस्य चौदासीन्यात्

भाष्यका अनुवाद

भी दोषसे मुक्ति नहीं है। एक तो स्वीकृत सिद्धान्तकी हानिरूप दोष आता है, क्योंकि स्वतन्त्र प्रधानकी प्रवृत्तिका स्वीकार किया है और पुरुषका प्रवर्त्तकत्व स्वीकार नहीं किया गया है। और उदासीन पुरुष प्रधानको किस प्रकार प्रवृत्त करेगा? क्योंकि पंगु भी अन्ध पुरुषको वाणीसे प्रवृत्त करता है। इस प्रकार पुरुषमें कुछ भी प्रवर्त्तन व्यापार नहीं है, क्योंकि वह निष्क्रिय और निर्गुण है। और लोह चुम्बकके समान सन्निधिमात्रसे भी प्रधानको प्रवृत्त नहीं कर सकता; क्योंकि उसके नित्य सन्निहित होनेसे प्रवृत्तिमें नित्यता प्राप्त होगी। [लोहचुम्बकका सामीप्य अनित्य है] अनित्य समीप्यवाले लोहचुम्बकका व्यापार तो अनित्य सन्निधि ही है। और उसको परिमार्जन—सीधा रखना आदिकी अपेक्षा होनेसे 'पुरुषाश्मवत्' (पुरुष और अश्मके समान) यह सम दृष्टान्तका उपन्यास

रत्नप्रभा

षाश्मवदिति। प्रधानस्य स्वातन्त्र्यं पुरुषस्यौदासीन्यं चाऽभ्युपेतं त्यज्यते इति वदन् तं सांख्यं प्रत्याह—कथञ्चेति। पुरुषस्य परिस्पन्दः प्रयत्नगुणो वा नास्तीति वक्तुं हेतु-द्वयम्। प्रधानपुरुषयोर्नित्यत्वाद् व्यापित्वाच्च नित्यः सन्निधिः, अश्मनस्तु परिमार्जन-मृजुत्वेन स्थापनमनित्यसन्निधिश्चेति व्यापारोऽस्तीत्यनुपन्यासः, समदृष्टान्तोपन्यासो

रत्नप्रभाका अनुवाद

उसका निषेध करते हैं—"पुरुषाश्मवदिति" इत्यादिसे। प्रधानकी स्वतन्त्रता और पुरुषकी उदासीनताका जो स्वीकार किया है, उसका त्याग देगा, ऐसा कहते हुए सांख्यके प्रति कहते हैं—"कथं च" इत्यादिसे। पुरुषमें परिस्पन्द या प्रयत्नगुण नहीं है, ऐसा कहनेके लिए दो हेतु कहते हैं। प्रधान और पुरुषके नित्य और व्यापक होनेसे उनकी सन्निधि नित्य है, लोहचुम्बककी तो परिमार्जन ऋजुरूपसे स्थापन और अनित्य सन्निधि व्यापार है,

भाष्य

तृतीयस्य च तयोः संबन्धयितुरभावात् संबन्धानुपपत्तिः। योग्यतानिमित्ते च संबन्धे योग्यतानुच्छेदादनिर्मोक्षप्रसङ्गः। पूर्ववच्चेहाऽप्यर्थाभावो विकल्पयितव्यः। परमात्मनस्तु स्वरूपव्यपाश्रयमौदासीन्यं मायाव्यपाश्रयं च प्रवर्तकत्वमित्यस्त्यतिशयः॥ ७॥

भाष्यका अनुवाद

नहीं है। उसी प्रकार प्रधान अचेतन है और पुरुष उदासीन है और उन दोनों का सम्बन्ध करानेवाला तीसरा कोई नहीं है, इसलिए संबन्ध अनुपपन्न हो जायगा और उनकी योग्यतानिमित्तक सम्बन्ध मानें, तो योग्यताके अनुच्छेदसे अनिर्मोक्षका प्रसङ्ग आवेगा। और पूर्वके समान यहां भी प्रयोजनके अभावके विकल्पोंका विचार करना चाहिए। परमात्मा तो स्वरूपके आश्रयसे उदासीन है और मायाके आश्रयसे प्रवर्त्तक है, ऐसा अतिशय है॥ ७॥

रत्नप्रभा

न भवतीत्यर्थः। ननु चिज्जडयोर्द्रष्टृदृश्यभावयोग्यताऽस्ति, तया तद्भावः सम्बन्ध इत्यत आह—योग्यतेति। चिज्जडत्वरूपाया योग्यताया नित्यत्वात् सम्बन्धनित्यत्वापत्तिरित्यर्थः। यथा स्वतन्त्रप्रधानप्रवृत्तिपक्षो भोगोऽपवर्गः उभयं वा फलमिति विकल्प्य दूषितः, एवं पुरुषाधीनप्रधानप्रवृत्तिपक्षोऽपि फलाभावेन दूषणीय इत्याह—पूर्ववच्चेति। सिद्धान्ते परमात्मन उदासीनस्य कथं प्रवर्तकत्वमित्याशङ्क्याह—परमात्मेति। सांख्यमते उभयं विरुद्धम्, सत्यत्वात्, अस्मन्मते कल्पिताकल्पितयोरविरोध इत्यतिशयः॥ ७॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

इसलिए समदृष्टान्तका उपन्यास नहीं है, ऐसा अर्थ है। यदि कोई शंका करे कि चित् और जड़में द्रष्टृभाव और दृश्यभावकी योग्यता है, [प्रधान अचेतन है, अतः उसमें दृश्यरूप योग्यता है और पुरुष चेतन है, अतः उसमें द्रष्टृरूप योग्यता है] इसलिए उक्त योग्यतानिमित्तक सम्बन्ध होगा, इसपर कहते हैं—"योग्यता" इत्यादिसे। चिद्रूप और जडत्वरूप योग्यताके नित्य होनेसे सम्बन्ध भी नित्य मानना पड़ेगा और उससे मोक्षके अभावका प्रसङ्ग आवेगा, यह अर्थ है। जैसे प्रधानकी प्रवृत्ति स्वतन्त्र है, इस पक्षको प्रवृत्तिका भोग, या अपवर्ग या उभय प्रयोजक है, ऐसा विकल्प करके दूषित किया है, वैसे ही पुरुषके अधीन प्रधानप्रवृत्ति है, यह पक्ष भी प्रयोजनके अभावसे दूषणीय है, ऐसा कहते हैं—"पूर्ववच्च" इत्यादिसे। परन्तु वेदान्तमें उदासीन परमात्मा प्रवर्त्तक कैसे है ? इसपर कहते हैं—"परमात्मा" इत्यादिसे। सांख्यमतमें उदासीनत्व और प्रवर्त्तकत्व दोनों सत्य होनेसे विरुद्ध हैं और हमारे मतमें—वेदान्तसिद्धान्तमें अकल्पित और कल्पित होनेसे विरोध नहीं है। 'अतिशय' है—'सांख्याभिमतपुरुषात्' इतना शेष समझना चाहिए। सांख्यके पुरुषसे वेदान्तीके पुरुषमें इस प्रकार विशेष है॥ ७॥

अङ्गित्वानुपपत्तेश्च ॥ ८ ॥

पदच्छेद—अङ्गित्वानुपपत्तेः, च ।

पदार्थोक्ति—च—अपि, अङ्गित्वानुपपत्तेः—परस्परानपेक्षणां गुणानां साम्यावस्थाप्रच्युत्यभावेनाङ्गाङ्गित्वानुपपत्तेः [न प्रधानस्य प्रवृत्तिः भवितुमर्हति)

भाषार्थ—एक दूसरेकी अपेक्षा न रखनेवाले गुणोंकी साम्यावस्थाके नाशके विना अङ्गाङ्गिभावकी उपपत्ति न होनेसे प्रधानकी प्रवृत्ति नहीं हो सकती ।

भाष्य

इतश्च न प्रधानस्य प्रवृत्तिरवकल्पते, यद्धि सत्त्वरजस्तमसामन्योन्यगुणप्रधानभावमुत्सृज्य साम्येन स्वरूपमात्रेणावस्थानं सा प्रधानावस्था; तस्यामवस्थायामनपेक्षस्वरूपाणां स्वरूपप्रणाशभयात् परस्परं प्रत्यङ्गाङ्गिभावानुपपत्तेः । बाह्यस्य च कस्यचित् क्षोभयितुरभावाद् गुणवैषम्यनिमित्तो महदाद्युत्पादो न स्यात् ॥ ८ ॥

भाष्यका अनुवाद

इससे भी प्रधानकी प्रवृत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण इन तीनों गुणोंकी परस्पर गुणप्रधानभावको छोड़कर साम्यसे—केवल स्वरूपमात्रसे जो स्थिति है वह प्रधानावस्था है । उस अवस्थामें परस्पर अपेक्षारहित सत्त्व आदि गुणोंके स्वरूपके नाश होनेके भयसे परस्पर अङ्गाङ्गिभाव नहीं बन सकता और उनमें क्षोभ उत्पन्न करनेवाले किसी बाह्य पदार्थका अभाव होनेसे गुणोंकी विषमतासे उत्पन्न होनेवाले महत् आदि की उत्पत्ति नहीं होगी ॥ ८ ॥

रत्नप्रभा

किं प्रधानावस्था कूटस्थवत् नित्या उत विकारिणी ? आद्ये दोषमाह—तस्यामिति । अङ्गाङ्गिभावे साम्यस्वरूपनाशः स्यात्, ततः कौटस्थ्यभङ्ग इति भयादङ्गाङ्गित्वानुपपत्तेः सृष्ट्यनुपपत्तिरित्यर्थः । द्वितीयं दूषयति—बाह्यस्येति । चिरकालस्थितस्य साम्यस्य च्युतौ निमित्तं वाच्यम्, तन्नास्तीत्यर्थः ॥ ८ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

क्या प्रधानकी अवस्था कूटस्थके समान नित्य है अथवा विकारशील है । प्रथम पक्षमें दोष कहते हैं—"तस्याम्" इत्यादिसे । अर्थात् अङ्गाङ्गिभाव होनेपर साम्यस्वरूप का नाश होगा और साम्यस्वरूपके नाश होनेसे कूटस्थताका भंग होगा इस भयसे अङ्गाङ्गिभावकी अनुपपत्ति होनेसे सृष्टिकी अनुपपत्ति हो जायगी । दूसरे पक्षको दूषित करते हैं—"बाह्यस्य" इत्यादिसे । चिरकालसे स्थित साम्यावस्थाके नाशके लिए कोई निमित्त कहना चाहिए, परन्तु वह कहा नहीं गया है, ऐसा भावार्थ है ॥ ७ ॥

अन्यथानुमितौ च ज्ञशक्तिवियोगात् ॥ ९ ॥

पदच्छेद—अन्यथा, अनुमितौ, च, ज्ञशक्तिवियोगात् ।

पदार्थोक्ति—[न वयमनपेक्षस्वभावान् गुणाननुमिमीमहे किन्तु] अन्यथा—प्रकारान्तरेण गुणानन्योन्यसापेक्षान् । अनुमितौ—एवमनुमाने सति [न प्रागुक्तदोषप्रसक्तिः इति चेत्, न,] ज्ञशक्तिवियोगात्—गुणानां ज्ञानशक्तिरहितत्वात्, [स्वतः प्रवृत्त्युभावेनाऽङ्गाङ्गित्वानुपपत्तेः कार्यानुदयस्तदवस्थः]।

भावार्थ—हम अनपेक्ष गुणोंका अनुमान नहीं करते, किन्तु प्रकारान्तरसे परस्पर सापेक्ष गुणोंका अनुमान करते हैं। ऐसा अनुमान करनेपर पूर्वोक्त दोष नहीं आता ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि वैसा अनुमान करनेपर भी गुणोंमें ज्ञानशक्तिके अभावसे अपने आप साम्यावस्थासे च्युति नहीं होनेसे परस्पर अङ्गाङ्गिभाव नहीं हो सकता ऐसी स्थितिमें कार्यकी उत्पत्ति नहीं हो सकती अतः पूर्वोक्त दोष ज्योंका त्यों है।

भाष्य

अथापि स्यादन्यथा वयमनुमिमीमहे यथा नायमनन्तरो दोषः प्रसज्येत । नह्यनपेक्षस्वभावाः कूटस्थाश्चाऽस्माभिर्गुणा अभ्युपगम्यन्ते, प्रमाणाभावात् । कार्यवशेन तु गुणानां स्वभावोऽभ्युपगम्यते, यथा यथा

भाष्यका अनुवाद

पूर्वपक्षी—जिस प्रकार यह पूर्वोक्त दोष प्राप्त न हो, उस प्रकार हम अनुमान करते हैं। हम गुणोंको निरपेक्षस्वभाव कूटस्थ नहीं मानते, क्योंकि वैसा माननेमें कोई प्रमाण नहीं है। कार्यके अनुसार गुणोंका स्वभाव माना जाता

रत्नप्रभा

गुणानां मिथोऽनपेक्षस्वभावत्वान्न स्वतो वैषम्यमित्युक्तम्, तत्र हेत्वसिद्धिमाशङ्क्य सूत्रकारः परिहरति—अन्यथेति । अनपेक्षस्वभावाद् अन्यथा सापेक्षत्वेन गुणानामनुमानात् पूर्वसूत्रोक्तो दोषो न प्रसज्यते । न चैवमपसिद्धान्तः कार्यानुसारेण

रत्नप्रभाका अनुवाद

सत्त्व आदि गुण परस्पर अपेक्षा नहीं रखते, अतः उनमें अपने आप विषमता—साम्यावस्थाका नाश नहीं होता ऐसा पीछे कहा जा चुका है। उसमें 'अनपेक्षस्वभावत्वात्' इस हेतुकी असिद्धिकी आशङ्का करके सूत्रकार उसका परिहार करते हैं—"अन्यथा" इत्यादिसे । अनपेक्ष-

भाष्य

कार्योत्पाद उपपद्यते तथा तथैषां स्वभावोऽभ्युपगम्यते, चलं गुणवृत्तमिति चास्त्यभ्युपगमः। तस्मात् साम्यावस्थायामपि वैषम्योपगमयोग्या एव गुणा अवतिष्ठन्ते इति ।

एवमपि प्रधानस्य ज्ञशक्तिवियोगाद्रचनानुपपत्त्यादयः पूर्वोक्ता दोषास्तदवस्था एव। ज्ञशक्तिमपि त्वनुमिमानः प्रतिवादित्वान्निवर्तेत, चेतनमेकमनेकप्रपञ्चस्य जगत उपादानमिति ब्रह्मवादप्रसङ्गात्। वैषम्योपगमयोग्या अपि गुणाः साम्यावस्थायां निमित्ताभावान्नैव वैषम्यं भजेरन्, भजमाना वा निमित्ताभावाविशेषात् सर्वदैव वैषम्यं भजेरन्निति प्रसज्यत एवायमनन्तरोऽपि दोषः ॥ ९ ॥

भाष्यका अनुवाद

है जैसे जैसे कार्योंकी उत्पत्ति की उपपत्ति होती है वैसे वैसे गुणोंका स्वभाव माना जाता है, गुणोंका स्वभाव चञ्चल है ऐसा स्वीकार किया गया है। इसलिए वे साम्यावस्थामें भी वैषम्यप्राप्तिके योग्य रहते हैं।

सिद्धान्ती—इस प्रकार अनुमान करनेपर भी प्रधानमें ज्ञानशक्तिका अभाव होनेसे रचनाकी अनुपपत्ति आदि पूर्वोक्त दोष ज्योंके त्यों ही रहते हैं, उनका परिहार नहीं होता। यदि सांख्य प्रधानमें ज्ञानशक्तिका भी अनुमान करे तो वह प्रतिपक्षितासे ही निवृत्त हो जायगा, क्योंकि एक चेतन अनेक प्रपञ्चरूप जगत्का उपादानकारण है इस ब्रह्मवादका प्रसङ्ग आवेगा। वैषम्यप्राप्तिके योग्य भी गुण साम्यावस्थामें निमित्तके अभावमें विषमताको नहीं प्राप्त होंगे। यदि वे वैषम्यके भाजन होने लगेंगे तो निमित्तके अभावकी तुल्यता होनेसे सर्वदा वैषम्यके भाजन होंगे, इस प्रकार पूर्वोक्त दोषकी प्राप्ति रह ही जाती है ॥९॥

रत्नप्रभा

गुणस्वभावस्वीकारादित्याह—चलं गुणवृत्तमिति। पूर्वसूत्रोक्ताङ्गित्वानुपपत्तिदोषाभावमङ्गीकृत्य परिहरति—एवमपीति। कार्यार्थं ज्ञानशक्तिकल्पने ब्रह्मवादः स्यादित्यर्थः। अङ्गीकारं त्यजति—वैषम्येति। ॥ ९ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

स्वभावसे अन्यथा—विपरीत अर्थात् सापेक्षरूपसे गुणोंका अनुमान करनेपर पूर्वसूत्रमें उक्त दोष नहीं आता। ऐसा अनुमान करनेपर सिद्धान्तकी हानि भी नहीं होती क्योंकि कार्यके अनुसार गुणस्वभावका अंगीकार किया गया है ऐसा कहते है—"चलं गुणवृत्तम्" इत्यादिसे। पूर्वसूत्रमें उक्त अङ्गाङ्गिभावकी अनुपपत्तिरूप दोषका अभाव जो वादीने दिखलाया है उसका एक क्षणभरके लिए स्वीकार कर परिहार करते हैं—"एवमपि" इत्यादिसे। तात्पर्य यह कि कार्यके लिए ज्ञानशक्तिकी कल्पना करनेपर ब्रह्मवादकी प्राप्ति हो जायगी। पूर्वोक्त अङ्गीकारका त्याग करते हैं—"वैषम्य" इत्यादिसे ॥ ९ ॥

विप्रतिषेधाच्चासमञ्जसम् ॥ १० ॥

पदच्छेद—विप्रतिषेधात्, च, असमञ्जसम् ।

पदार्थोक्ति—च—अपि, विप्रतिषेधात्—सांख्या हि कचित् महतः पञ्चतन्मात्रसृष्टिं प्रतिजानन्ति कचिदहङ्कारात्, कचिद् दशेन्द्रियाणि कचिद् ज्ञानेन्द्रियाणि त्वगिन्द्रियेऽन्तर्भाव्य सप्तेन्द्रियाणीति परस्परविरोधात्, असमञ्जसम्—सांख्यमतमसंगतम्, [तस्मात् सांख्यसिद्धान्तो भ्रान्तिमूल इति निर्विवादम्]।

भाषार्थ—सांख्यलोग कहीं महत्से पञ्चतन्मात्राओंकी सृष्टिकी प्रतिज्ञा करते हैं तो कहीं अहङ्कारसे, और कहीं दश इन्द्रियोंकी प्रतिज्ञा करते हैं तो कहीं ज्ञानेन्द्रियोंका त्वगिन्द्रियमें अन्तर्भाव करके सात इन्द्रियाँ हैं ऐसा कहते हैं, इस प्रकार विरोध होनेसे सांख्यमत सुसंगत नहीं है। इससे सिद्ध हुआ कि सांख्यसिद्धान्त भ्रान्तिमूलक है।

भाष्य

परस्परविरुद्धश्चायं सांख्यानामभ्युपगमः। कचित् सप्तेन्द्रियाण्यनुक्रामन्ति, कचिदेकादश, तथा कचिन्महतस्तन्मात्रसर्गमुपदिशन्ति, कचिदहङ्कारात्, तथा कचित् त्रीण्यन्तःकरणानि वर्णयन्ति कचिदेकमिति। प्रसिद्ध

भाष्यका अनुवाद

सांख्योंका मत परस्पर विरुद्ध है। वे कहीं सात इन्द्रियां गिनाते हैं कहीं ग्यारह, वैसे ही कहीं महत्से तन्मात्राओंकी उत्पत्तिका उपदेश करते हैं कहीं अहंकारसे, और कहीं अन्तःकरण तीन बताते हैं (मन, बुद्धि और अहंकार) और

रत्नप्रभा

सूत्रं व्याचष्टे—परस्परेति। त्वङ्मात्रमेव ज्ञानेन्द्रियमेकमनेकशब्दादिज्ञानकारणं पञ्च कर्मेन्द्रियाणि मनश्चेति सप्तेन्द्रियाणि, ज्ञानेन्द्रियाणि पञ्च कर्मेन्द्रियाणि पञ्च मनश्चेत्येकादश, बुद्धिरहङ्कारो मन इति त्रीणि, एकमिति बुद्धिरेव। एवं पूर्वा-

रत्नप्रभाका अनुवाद

"परस्पर" इत्यादिसे सूत्रका व्याख्यान करते हैं। [कहींपर] केवल एक त्वक्मात्र ही ज्ञानेन्द्रिय है उसीसे शब्द, स्पर्श आदिका ज्ञान होता है, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, और एक मन इस प्रकार कुल मिलाकर केवल सात इन्द्रियाँ मानी गई हैं, [कहींपर] पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ और मन इस प्रकार ग्यारह इन्द्रियाँ मानी गई हैं, [कहींपर] बुद्धि, अहंकार और मन ये तीन और [कहींपर] केवल बुद्धि ही मानी गई है। इस प्रकार पूर्वापर विरोध

भाष्य

एव तु श्रुत्येश्वरकारणवादिन्या विरोधस्तदनुवर्तिन्या च स्मृत्या। तस्माद-प्यसमञ्जसं सांख्यानां दर्शनमिति।

अत्राह—नन्वौपनिषदानामप्यसमञ्जसमेव दर्शनं तप्यतापकयो-र्जात्यन्तरभावानभ्युपगमात्। एकं हि ब्रह्म सर्वात्मकं सर्वस्य प्रपञ्चस्य कारणमभ्युपगच्छतामेकस्यैवाऽऽत्मनो विशेषौ तप्यतापकौ न जात्यन्तरभू-

भाष्यका अनुवाद

कहीं एक बुद्धि। ईश्वरको जगत्का कारण बतानेवाली श्रुतिसे और उसीका अनुकरण करनेवाली स्मृतिसे इनका विरोध तो प्रसिद्ध ही है। इसलिये भी सांख्योंका मत अयुक्त है।

पूर्वपक्षी—वेदान्तदर्शन भी अयोग्य है, क्योंकि उसमें भी तप्य अर्थात् दुःखका भोग करनेवाला जीव और तापक अर्थात् जीवको दुःख देनेवाला संसार इनमें भेदका स्वीकार नहीं किया है। वेदान्तमें एक ही ब्रह्म सबकी आत्मा है और सब प्रपञ्चका कारण है। इसके अनुसार तप्य और तापकरूप जो जीव और संसार हैं, वे एकही आत्माके विशेष होते हैं, इसलिए इनमें जातिका भेद

रत्नप्रभा

परविरोधादिति व्याख्याय श्रुतिस्मृतिविप्रतिषेधाच्चेत्यर्थान्तरमाह—प्रसिद्ध इति। तस्माद्–भ्रान्तिमूलत्वात् सांख्यशास्त्रस्य, तेन निर्दोषवेदान्तसमन्वयस्याऽविरोध इति सिद्धम्। स्वमताऽसामञ्जस्यमसहमानः सांख्यः प्रत्यवतिष्ठते—अत्राहेति। तप्यः—जीवः, तापकः—संसारः, तयोर्भेदानङ्गीकारात् लोकप्रसिद्धस्तप्यतापकभावो लुप्येत इत्यर्थः। विवृणोति—एकं हीति। तथा च भेदव्यवहारलोप इति असमञ्जमित्यर्थः। ननु तयोरुपादानैक्येऽपि मिथो भेदोऽस्त्येव, यथा एकवह्न्यात्मकयोरौष्ण्यप्रका-

रत्नप्रभाका अनुवाद

होनेसे [सांख्य सिद्धान्त ठीक नहीं है] ऐसी व्याख्या करके श्रुति और स्मृतिके विरोधसे भी [वह ठीक नहीं है] ऐसा अर्थान्तर कहते हैं—"प्रसिद्ध" इत्यादिसे। इससे सिद्ध हुआ कि सांख्यशास्त्र भ्रान्तिमूलक है, अतएव उससे निर्दोष वेदान्त समन्वयका विरोध नहीं है यह सिद्ध हुआ। अपने मतके असामञ्जस्यको सहन न करता हुआ सांख्य विरोध करता है—"अत्राह" इत्यादिसे। तप्य—जीव और तापक—संसार, इन दोनोंका भेद न माननेसे लोकप्रसिद्ध तप्य-तापकभाव ही लुप्त हो जायगा ऐसा भाव है। इसीका विवरण करते हैं—"एकं हि" इत्यादिसे ऐसा होनेसे भेद-व्यवहारका लोप हो जायगा, इसलिए यह ठीक नहीं है ऐसा आशय है।

भाष्य

तावित्यभ्युपगन्तव्यं स्यात् । यदि चैतौ तप्यतापकावेकस्यात्मनो विशेषौ स्यातां स ताभ्यां तप्यतापकाभ्यां न निर्मुच्यत इति तापोपशान्तये सम्यग्दर्शनमुपदिशच्छास्त्रमनर्थकं स्यात् । न ह्यौष्ण्यप्रकाशधर्मकस्य प्रदीपस्य तदवस्थस्यैव ताभ्यां निर्मोक्ष उपपद्यते । योऽपि जलतरङ्गवीचीफेनाद्युपन्यासः, तत्रापि जलात्मन एकस्य वीच्यादयो विशेषा आविर्भावतिरोभावरूपेण नित्या एवेति समानो जलात्मनो वीच्यादिभिरनिर्मोक्षः । प्रसिद्धश्चायं तप्यतापकयोर्जात्यन्तरभावो लोके । तथाहि—अर्थी चार्थश्चा-

भाष्यका अनुवाद

नहीं है, ऐसा मानना पड़ेगा। जीव और संसार यदि एक ही आत्माके विशेष हैं, तो इस अवस्थामें आत्माकी जीवभावसे और संसारभावसे निवृत्ति नहीं हो सकती इससे तापकी निवृत्तिके लिए सम्यग् ज्ञानका उपदेश देनेवाले शास्त्र व्यर्थ हो जायंगे; क्योंकि उष्णता और प्रकाश जो दीपकके धर्म हैं, उनसे वह दीपक कभी भी अलग नहीं हो सकता। जलके तरंग, लहरें, झाग आदिके उदाहरणोंमें भी एक ही जलके तरंग आदि विशेष कभी प्रगट और कभी विलीन रहनेके कारण नित्य ही हैं, इसलिए उनकी भी जलसे पृथक्ता नहीं होती। परन्तु जीव और संसारकी भिन्नता जगत्में

रत्नप्रभा

शयोः, अतो न व्यवहारलोप इत्याशङ्क्य वह्नेरिव ताभ्यामात्मनो मोक्षो न स्यादित्याह—यदि चेत्यादिना। ननु सत्यपि धर्मिणि स्वभावनाशो मोक्ष उपपद्यते, सत्येव जले वीच्यादिनाशदर्शनादित्याशङ्क्य दृष्टान्तासिद्धिमाह—योऽपीति । किञ्च, भेदाङ्गीकारेऽपसिद्धान्तः, अनङ्गीकारे लोकप्रसिद्धिबाध इत्याह—प्रसिद्धश्चेति । अर्थो ह्यर्जनाऽलाभादिना अर्थिनं तापयतीति तापकः

रत्नप्रभाका अनुवाद

उनके उपादानके ऐक्य होनेपर भी परस्पर भेद है ही। जैसे एक वह्निसे उत्पन्न हुए दाह और प्रकाशमें भेद है। इसलिए व्यवहारका लोप नहीं है ऐसी आशंका करके जैसे दाह और प्रकाशसे वह्निका छुटकारा नहीं होता वैसे ही आत्माका तप्यतापकभावसे मोक्ष नहीं होगा ऐसा कहते हैं—"यदि च" इत्यादिसे। धर्मीके रहते हुए भी स्वभावनाशरूप मोक्ष हो सकता है, जलके रहते हुए भी तरंग आदिका नाश देखा जाता है ऐसी आशंका करके दृष्टान्तकी असिद्धि कहते हैं—"योऽपि" इत्यादिसे। और भेदका स्वीकार करनेपर सिद्धान्तकी हानि होती है भेदका अंगीकार न करनेपर लोक प्रसिद्धिका बाध होता है ऐसा कहते हैं—"प्रसिद्धश्च" इत्यादिसे। अर्थ उपार्जन, अलाभ आदिसे अर्थीको सन्ताप देता है अतः तापक है। अर्थी

शाङ्करभाष्यरत्नप्रभाभाषानुवादसहित

ब्रह्मसूत्र

के प्रथमाध्यायकी विषय-सूची—

विषय पृ० पं०

शास्त्रयोनित्वाधिकरण १।१।३।३ [पृ० १२२–१३१]

समन्वयाधिकरण १।१।४।४ [पृ० १३२–२२३]

विषय पृष्ठ पंक्ति

अनुकृत्यधिकरण १।३।६।२२–२३ [पृ० ६४०–६४९]

चमसाधिकरण १।४।२।८—१० [पृ० ८१४–८२५]

संख्योपसंग्रहाधिकरण १।४।३।११–१३ [पृ० ८२६–८४५]

प्रकृत्यधिकरण १।४।७।२३–२७ [पृ० ९००–९१५]

प्रथमाध्यायके चतुर्थपादकी समाप्ति

इति

अच्युतग्रन्थमालासे प्रकाशित पुस्तकोंका सूचीपत्र

(क) विभाग

१–**भगवन्नामकौमुदी**—[भगवन्नामकी महिमाका प्रतिपादक अनुपम ग्रन्थ] मीमांसाके धुरन्धर विद्वान् श्रीलक्ष्मीधरकी कृति, अनन्तदेवरचित 'प्रकाश' टीकासहित। सम्पादक–आचार्यवर गोस्वामी दामोदर शास्त्री।

पृ० सं० १५०, मू.—आ. १०

२–**भक्तिरसायन**—[भक्तिस्वरूपका परिचायक अत्युत्तम ग्रन्थ] यतिवर श्रीमधुसूदन सरस्वतीरचित प्रथम उल्लासमें ग्रन्थकाररचित शेष दो उल्लासोंमें आचार्यवर गोस्वामी दामोदर शास्त्री रचित टीकासे विभूषित। सं०—आचार्यवर गोस्वामी दामोदर शास्त्री। पृ० सं० १७०, मू.–आ. १२

३–**शुल्वसूत्र**—[कात्यायनश्रौतसूत्रका परिशिष्ट अंश] वेदाचार्य पं० विद्याधर गौड़की बनाई हुई सरलवृत्तिसहित। सं०–वेदाचार्य विद्याधर गौड़।

पृ० सं० ६०, मू.—आ. ४

४–**कात्यायनश्रौतसूत्र**—[इसमें दर्शपूर्णमाससे लेकर अश्वमेध, पितृमेधपर्यन्त कितने ही यज्ञोंकी विधियां साङ्गोपाङ्ग वर्णित हैं] महर्षि कात्यायनप्रणीत, वेदाचार्य पं० विद्याधर गौड़ द्वारा रचित सुसरल वृत्तिसे अलंकृत। सं०–वेदाचार्य विद्याधर गौड़। पृ० सं० लगभग १०००, मू. –रु. ६

५–**प्रत्यक्तत्त्वचिन्तामणि**—(प्रथम भाग) [शाङ्करभाष्यानुसार वेदान्तका सुसरल पद्यमय ग्रन्थ] श्रीसदानन्द व्यासविरचित, ग्रन्थकाररचित सरल संस्कृत टीकासहित। सं०—साहित्याचार्य श्रीकृष्ण पन्त शास्त्री।

पृ० सं० ३४०, मू.–रु. २

६–**भक्तिरसामृतसिन्धु**—[भक्तिरससे परिपूर्ण यह ग्रन्थ सचमुच पीयूषसिन्धु है] श्रीरूप गोस्वामीप्रणीत, श्रीजीव गोस्वामीप्रणीत दुर्गमसङ्गमनी टीकासहित। सं०–आचार्यवर गोस्वामी दामोदर शास्त्री। पृ० सं० ६२५, मू०–रु० ३

७–**प्रत्यक्तत्त्वचिन्तामणि**—(द्वितीय भाग) पृ० सं० ४५० मू०–रु. २ आ. ४

८–**तिथ्यर्क**—[तिथियोंके निर्णय आदिपर अपूर्व एवं प्रामाणिक ग्रन्थ] श्रीदिवाकर विरचित। सं० साहित्याचार्य श्रीकृष्ण पन्त शास्त्री।

पृ० सं० ३४०, मू०–रु० १ आ० ८

९–**परमार्थसार**—[वेदान्तका अति प्राचीन ग्रन्थ] श्रीपतञ्जलि भगवान्की कृति, प्राचीन टीका तथा टिप्पणीसे विभूषित । सं०—न्यायव्याकरणाचार्य श्रीसूर्यनारायणशुक्ल । पृ० सं० १००, मू.—आ. ६

१०–**प्रेमपत्तन**—[श्रीकृष्णभक्तिसे सराबोर चैतन्य-सम्प्रदायका अपूर्व ग्रन्थ] भक्तवर रसिकोत्तंसकी कृति तथा अद्भुतप्रणीत टीकासे अलंकृत । सं०—साहित्याचार्य श्रीकृष्ण पन्त शास्त्री । पृ. सं. २३०, मू.—रु.१

(ख) विभाग

१–**खण्डनखण्डखाद्य**—कवितार्किकशिरोमणि श्रीहर्षरचित, पंडितवर श्रीचण्डीप्रसाद शुक्ल विरचित भाषानुवादसे विभूषित ।
पृ० सं० ४३५ (बड़ा आकार) मू.—रु. २ आ. १२

२–**काशी-केदार-माहात्म्य**—[ब्रह्मवैवर्तपुराणान्तर्गत] साहित्यरञ्जन पं० श्रीविजयानन्द त्रिपाठीद्वारा विरचित भाषानुवादसहित । सं०—साहित्याचार्य श्रीकृष्ण पन्त शास्त्री । पृ० सं० २६+६०४, मू.—रु. २ आ. ८

३–**सिद्धान्तबिन्दु**—(वेदान्तका प्रमेयबहुल अपूर्व ग्रन्थ) आचार्यप्रवर श्रीमधुसूदन सरस्वतीविरचित, भाषानुवाद तथा टिप्पणीसे विभूषित । सं०—साहित्याचार्य श्रीकृष्ण पन्त शास्त्री । पृ० सं २८०, मू. रु. १ आ. ६

५–**प्रकरणपञ्चक**—भगवान् शङ्कराचार्यके आत्मबोध, प्रौढानुभूति, तत्त्वोपदेश आदि ५ प्रकरण-ग्रन्थोंका भाषानुवादसहित संग्रह । सं०—साहित्याचार्य श्रीकृष्ण पन्त शास्त्री । पृ० सं० १३१, मू.—आ. ८

यन्त्रस्थ ग्रन्थ—

१ षट्सन्दर्भ, विविध टीकाओंसे विभूषित ।

मिलनेका पता—

(१) अच्युतग्रन्थमाला-कार्यालय, काशी ।
(२) गीताप्रेस, गोरखपुर ।

नोट—अच्युतग्रन्थमालाके स्थायी ग्राहकोंको उक्त सभी पुस्तकें पौन मूल्यपर दी जाती हैं । 'अच्युत' मासिक पत्रके स्थायी ग्राहक (ख) विभागके स्थायी ग्राहक समझे जायँगे ।

अच्युतके उद्देश्य और नियम

उद्देश्य—

सनातन-धर्मकी उन्नति करनेवाले उत्तमोत्तम प्राचीन संस्कृत-ग्रन्थोंका भाषानुवाद प्रकाशित कर जनतामें ज्ञान और भक्तिका प्रचार करना इसका उद्देश्य है।

प्रबन्ध-सम्बन्धी नियम—

(१) 'अच्युत' प्रतिमास पूर्णिमाको प्रकाशित होता है।

(२) इसका वार्षिक मूल्य भारत के लिये ६) रु० और विदेशके लिये ८) रु० है। एक संख्याका मूल्य ॥) है।

(३) ग्राहकोंको मनीआर्डरद्वारा रुपये भेजनेमें सुविधा होगी। वी० पी० द्वारा मंगानेसे रजिस्टरीका व्यय उनके जिम्मे अधिक पड़ जायगा।

(४) मनीआर्डरसें रुपये भेजनेवाले ग्राहक महाशयोंको कूपनपर रुपयोंकी तादाद, रुपये भेजनेका मतलब, अपना पूरा पता, नये ग्राहकोंको 'नये ग्राहक' और पुराने ग्राहकोंको अपना ग्राहक-नम्बर स्पष्ट अक्षरोंमें लिख देना चाहिये।

(५) उत्तरके लिये जवाबी पोस्टकार्ड या टिकट भेजना चाहिये।

(६) जिन महाशयोंको अपना पता बदलवाना हो, उन्हें कार्यालयको पता बदलवानेके विषयमें पत्र लिखते समय अपना पुराना पता तथा ग्राहक-नम्बर लिखना नहीं भूलना चाहिये।

व्यवस्थापक

अच्युत-ग्रन्थमाला-कार्यालय,

ललिताघाट, बनारस।

Regd. No. A. 2426

विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परासुव ।
यद्भद्रं तन्न आसुव ॥

Cover printed at the Indian Press, Ltd.,
Benares.